भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् की भूमिका सहित

धारावाही हिन्दी में सचित्र

एकादशोपनिषद्

(मूल तथा शब्दार्थ एवं व्याख्या सहित)

(ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय तथा छान्दोग्य)

प्रथम तथा द्वितीय भाग।

1 — 646 = 647 – 1036

लेखक

विद्यामार्तण्ड डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

अखिल-भारतीय-मंगलाप्रसाद-पारितोषिक-विजेता

(भूतपूर्व) संसद्-सदस्य तथा उपकुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

प्रकाशक

विजयकृष्ण लखनपाल,

W77 A, ग्रेटर कैलाश (1) नई दिल्ली—48

मिलने का पता
विजयकृष्ण लखनपाल
W-७७, ए ग्रेटर कैलाश (१)
नई दिल्ली –४८

वितरक :
विजय कुमार, गोविन्दराम हासानन्द
4408, नई सड़क, दिल्ली-6

मुंशीराम, मनोहरलाल
नई सड़क, दिल्ली-6

आर्य प्रकाशन
814 कुण्डेवालान,
अजमेरी गेट,

नवीन संशोधित संस्करण,_

Indian Rupees 170.00
US Dollars 12.00

मुद्रक :
स्पीडो ग्राफिक्स, पटपड़ गंज,
दिल्ली–११००९१
फोन : २२५६८३५

डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के ग्रन्थ

विषय-सूची

FOREWORD

By

Dr. S. RADHAKRISHNAN

Human progress is built on acts of faith The acts of faith on which our civilisation is based are to be found in the principal Upanishads When we are now setting out on a new era in the life of our country, we must go to the Upanishads for our inspiration They contain the principles which have moulded our history from its earliest dawn Where we have failed, our defeat is due to our infidelity to the teachings of the Upanishads It is, therefore essential for our generation to grasp the significance of the Upanishads and understand their relevance to our problems

The texts of the Upanishads are not to be read simply. They are meant for meditation Take for example, the very first verse with which this book opens

Ishavasyam idam sarvam
yat kim cha jagatyam jagat
tena tyaktena bhunjitha, ma gridhah
kasyasvid dhanam

(Know that) all this, whatever moves in this moving world, is enveloped by God Therefore find your enjoyment in renunciation, do not covet what belongs to others

It makes out that this world is a perpetual procession of events where everything supersedes another But this passing show is not all It is informed by the Supreme Spirit, enveloped by God We should not look at the world merely from the outside as a succession of events but perceive beneath it the burning intensity of significance which penetrates the succession Every occasion of the world is a means for transfiguring insight By renouncing everything we become the lords of everything When we feel that [illegible]
one with the [illegible]
in our veins [illegible]
perceived as sacred, there is no room for covetousness or self-assertion

I am pleased to find that Professor Satyavrata who was for some years the *Vice Chancellor of the Gurukul University*, Hardwar, and is well known as the author of many important works in Hindi on Ancient Indian Culture, Education etc, has now written an exhaustive account in Hindi of the Upanishads He gives the text and a commentary I have no doubt that this book will be widely read by students of Hindi for their own profit and pleasure

प्राथमिक शब्द

(श्री डाक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन द्वारा)

हमारी प्रगति का रूप हमारी प्राचीन सभ्यता है। यह सभ्यता श्रद्धा के जिन आधारों पर खड़ी है उनका सूत्र मुख्य-मुख्य उपनिषदों में पाया जाता है। आज जब कि हम अपने देश के जीवन में एक नवयुग का निर्माण करने जा रहे हैं, हमें अपने भीतर नव-जीवन का संचार करने के लिये उन्हीं उपनिषदों की तरफ़ जाना होगा। उपनिषदों में वे मूल-तत्त्व छिपे हुए हैं जिन्होंने आदि-युग के उषःकाल से अब तक हमारे इतिहास को ढाला है। जब-जब हमने ठोकरें खाई है, तब-तब कारण हमारा उपनिषदों की शिक्षा से विमुख हो जाना ही रहा है। इसलिये आज की सन्तति के उद्धार के लिये उपनिषदों के तत्त्वों को ग्रहण करना, और उन तत्त्वों का हमारी दिन-दिन की समस्याओं के साथ-जो सम्बन्ध है उसे समझ लेना आवश्यक है।

उपनिषदों के मूल-वाक्यों को पढ़ लेना ही काफ़ी नहीं है। उपनिषद् तो मनन का विषय हैं। उदाहरणार्थ, उपनिषद् की प्रथम पंक्ति में ही कितना मनन का विषय भरा पड़ा है। प्रथम उपनिषद् की प्रथम पंक्ति है :

ईशावास्यमिदं सर्वं, यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा, मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

इस पंक्ति में कितने महान् रहस्य का प्रतिपादन किया गया है। मन्त्र का कथन है कि यह सम्पूर्ण जगत् घटनाओं का एक निरन्तर प्रवाह है, इस प्रवाह में एक घटना दूसरी घटना से आगे बढ़ती चली जा रही है—सब जगह गति है, प्रवाह है। परन्तु क्या जगत् प्रवाह-मात्र है, प्रवाह के अतिरिक्ति यह कुछ नहीं? उपनिषद् का कहना है कि यह सम्पूर्ण प्रवाह पर-ब्रह्म से अनुप्राणित है, उससे आवासित है, उससे ढका हुआ है। हमें संसार को केवल बाहर से ही नहीं देखना, हमें बाहर से दिख रहे घटनाओं के अविरत प्रवाह के अन्तराल में जाज्वल्यमान प्रगाढ़ यथार्थ-सत्ता को देखना है जो इस प्रवाह के भीतर अनुप्रविष्ट है। जो व्यक्ति इस अन्तर्दृष्टि से हर वस्तु के बाह्य रूप को नहीं, उसके आन्तरिक रूप को देख लेता है, उसके लिये संसार साध्य नहीं, साधन हो जाता है, वह संसार की हर वस्तु का त्याग करके हर वस्तु का स्वामी बन जाता है। जब हम अनुभव कर लेते हैं कि पर-ब्रह्म संसार के अणु-अणु में व्यापक है, तब हम संसार की हर वस्तु से एकात्मता अनुभव करने लगते हैं। ट्रैहर्न के शब्दों में जब हम विश्व के साथ इस एकात्मता का अनुभव करते हैं तब—'समुद्र हमारी शिराओं में बहने लगता है...सितारे हमारे देह के आभूषण बन जाते हैं।' जो व्यक्ति ऐसा अनुभव करने लगता है उसके लिये हर वस्तु ब्रह्मानुप्राणित हो जाती है, और जिसके लिये हर वस्तु ब्रह्मानुप्राणित है, उसके लिये लालच को, छीना-झपटी को, या अहंमन्यता को स्थान कहाँ?

मुझे यह जान कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि प्रो० सत्यव्रत ने, जो कई वर्षों तक गुरुकुल विश्व-विद्यालय के उप-कुलपति रहे हैं, धारावाही हिन्दी में उपनिषदों का विस्तृत तथा गहन परिचयात्मक ग्रन्थ लिखा है जिस में उपनिषदों का शब्दार्थ सहित मूल तथा उसकी धारावाही स्वतन्त्र व्याख्या दी गई है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी-जगत् में इस ग्रन्थ का स्वागत होगा, विस्तृत-रूप में इस ग्रन्थ का अध्ययन होगा, सब का इससे भला होगा, और इसके द्वारा पाठकों को आध्यात्मिक प्रसाद प्राप्त होगा।

भूमिका

प्राचीन-भारत के नभोमडल की जाज्वल्यमान तारकावली मे उपनिषद् वे सितारे हैं जिनका प्रकाश जीवन-यात्रा की घटाटोप अन्धकारपूर्ण रात्रि मे हज़ारो सालो से बटोही का मार्ग-प्रदर्शन करता रहा है। मैं किधर जाऊ, मेरा सही रास्ता कौन-सा है, बीसियो पग-डडियो मे से किस पर चलने से मैं अपने लक्ष्य तक पहुचूगा —यह प्रश्न जैसे नचिकेता के हृदय मे उठा, जैसे मैत्रेयी के हृदय मे उठा, वैसे आज भी हर-एक युवक-युवति के हृदय मे उठता है, परन्तु आज के उत्तर से नचिकेता और मैत्रेयी को भिन्न उत्तर मिला था, और वे हमसे भिन्न मार्ग पर चले थे। यह नही कि वे उस मार्ग पर चल नही सकते थे जिस पर आज का भौतिकवादी-जगत् चलता चला जा रहा है। भौतिकवादी-मार्ग पर चलने की भी उन्हें खुली छूट थी, परन्तु उन्होंने इस मार्ग को यह कहकर छोड दिया था—'*न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः*'—*मनुष्य की धन-धान्य से अन्तिम तृप्ति नही हो सकती*—'*तवैव राजन् मानुषं वित्तम्*'—यह रुपया-पैसा मेरे अन्तरतम की बेचैनी को दूर नही कर सकता, यह अपने पास रख—'*अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन*'—वित्त से ससार के सुख-भोग मिल सकते हैं, आत्मा को जिस अमरता की तलाश है वह इससे नही प्राप्त होती। आत्मा की अमरता का यह सन्देश भौतिकवाद की दलदल मे फसे हुए हम लोगो के कानो मे भी पडता है, हमारे जीवन में भी समय आता है, जब हम इधर नही उधर देखने लगते हैं, प्रकृति की तरफ नही परमात्मा की तरफ मुह उठाकर अनित्य के स्थान में नित्य की तलाश करने लगते हैं, हम भी समझ जाते हैं—'*न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः*'—'*अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन*'—परन्तु हम बहुत देर मे समझते हैं, ऐसे समय समझते हैं जब इस तत्त्व को समझने का जीवन में हम कोई क्रियात्मक लाभ नही उठा सकते। कौन भौतिकवादी है जो ससार की चकाचौंध मे सारी आयु गुज़ार देने के बाद एक दिन यह नही देख लेता कि यह-सब धोखा था, इसमें से कुछ भी तो टिकनेवाला न था, परन्तु जब उसकी आखें खुली, तब उसके हाथ मे क्या रह गया था? इसको नित्य मानकर उसने झूठ बोला, दुराचार किया, अत्याचार किया, खून बहाया, अबाही-तबाही मचाई, परन्तु यह सब तो एक भूल-भुलय्या का गोरखधधा था, असली वस्तु, वह वस्तु जिसकी उसे तलाश थी, जिसे वह जन्म-जन्मान्तर से ढूढ रहा था, जो हाथ आती-आती उसके हाथ से निकल जाती थी, उसे तो वह छू तक न सका था। यह भावना हर मनुष्य के जीवन मे किसी-न-किसी समय साकार बनकर खडी हो जाती है, अध्यात्मवादी के जीवन मे बहुत पहले, भौतिकवादी के जीवन मे बहुत देर बाद, परन्तु देर मे या अबेर मे, यह कठोर, निष्ठुर सत्य, हम मानें, न मानें, किसी का पीछा नही छोडता, नही छोडता। इस आधार-भूत सचाई को जिन्होंने पकड लिया था, उन्होंने इस सचाई की दिग्दिगन्त मे घोषणा कर दी थी, उन्होंने ऐलान किया था—'*इह चेदवेदीत् अथ सत्यमस्ति, न चेदवेदीत् महती विनष्टिः*'—अगर

इसे यहां, इस जन्म में, पा लिया तो ठीक, नहीं तो महानाश ही महानाश है। ऐसी घोषणा करनेवाले प्राचीन-भारत के ऋषि-मुनियों ने जिस सत्य का दर्शन किया था, इस भौतिक-संसार को सत्य मानते हुए भी इसके पीछे छिपे हुए, इसके भी प्राण, इसके भी जीवन जिस सत्यों के सत्य, जिस तत्त्वों के तत्त्व के दर्शन किये थे, उसका नाम उन्होंने 'ब्रह्म' रखा था, और संसार-भर का ध्यान इससे उसकी तरफ़ खींचने के लिए जिस विद्या को उन्होंने जन्म दिया था, उसका नाम 'ब्रह्म-विद्या' रखा था, 'ब्रह्म-विद्या' का प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थों का नाम ही 'उपनिषद्' रखा था।

उपनिषदों को समझने के लिए उपनिषदों के ऋषियों के दृष्टि-कोण को समझना जरूरी है। जैसे आज हर बात भौतिक दृष्टि-कोण को सामने रखकर कही या लिखी जाती है, वैसे उपनिषत्कारों ने आध्यात्मिक दृष्टि-कोण को सामने रखकर सब-कुछ कहा तथा लिखा था। उनका कहना था कि सृष्टि सत् है, परन्तु इससे भी ज्यादा कोई दूसरी वस्तु सत् है, उस सत् की सत्ता से ही इस सृष्टि का रूप सत् दीखता है, अस्ली सत् यह नहीं वह है—वही ब्रह्म है, वही आत्मा है, उसी को जानकर मनुष्य अमृत होता है। उनका कहना था कि जो इस दृष्टि को पा लेता है, वह जैसे हम इस सृष्टि को प्रत्यक्ष देखते हैं, वैसे ब्रह्म को प्रत्यक्ष देखने लगता है। प्रत्यक्ष का यह मतलब नहीं कि इन स्थूल आंखों से प्रत्यक्ष देखने लगता है, इसका मतलब यह है कि इन आंखों से तो वह इस सृष्टि को ही देखता है, परन्तु इस सृष्टि की हर वस्तु को वह एक पर्दे के तौर पर देखता है, इस पर्दे के पीछे, इसकी ओट में वह पर्देवाले को, ओटवाले को भी देख लेता है। जैसे भौतिकवादी की यथार्थवादी दृष्टि है, वैसे उपनिषद् के ऋषियों की भी यथार्थवादी दृष्टि है। याज्ञवल्क्य ने बार-बार कहा है कि संसार है, परन्तु यह अन्त तक रहनेवाला नहीं है। संसार का यही अन्तिम सार है—यह है, इससे भी हम इन्कार नहीं कर सकते, यह अन्त तक रहनेवाला नहीं है, इससे भी हम इन्कार नहीं कर सकते। इस यथार्थवादी दृष्टि-कोण को लेकर ही जगह-जगह उपनिषद् में कहा है—यह सत् नहीं, वह सत् है, इन्द्रिय नहीं, मन-प्राण-आत्मा सत् है। इस बात से कौन इन्कार कर सकता है कि उपनिषद् का यह दृष्टि-कोण काल्पनिक नहीं यथार्थ दृष्टि-कोण है, ऐसा दृष्टि-कोण जिसके सामने भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी दोनों विचारकों को सिर झुकाना पड़ता है।

उपनिषद् के रहस्य को समझने के लिए एक बात और समझ लेनी ज़रूरी है। ऋषियों का कहना था कि ब्रह्म को ढूंढने के लिए कहीं दूर भटकने की ज़रूरत नहीं। जो-कुछ ब्रह्मांड में है, वही-कुछ पिंड में है। विज्ञान भी तो यही कहता है कि जो नियम परमाणु में काम कर रहे हैं, ठीक वही नियम सौर-मंडल में काम कर रहे हैं। इसी बात को उपनिषद् के ऋषि और आगे ले गये है। उनका कहना है कि जो नियम भौतिक में काम कर रहे हैं, वही आध्यात्मिक में काम कर रहे हैं। इस बात को प्रकट करने के लिए उपनिषद् में **'अथाधिदैवतम्'** तथा **'अथाध्यात्मम्'**—इन दो वाक्यों का प्रयोग किया गया है। 'अथाधिदैवतम्' का अभिप्राय है—देखो,

ब्रह्माड मे क्या नियम काम कर रहे हैं, 'अथाध्यात्मम्' का अभिप्राय है—देखो, वही नियम पिंड मे काम कर रहे हैं। अधिदैवत तथा अध्यात्म, ब्रह्माड (Macrocosm) तथा पिंड (Microcosm)—इन दोनो की एकात्मता को समझ लेना उपनिषद् के रहस्य को समझ लेना है। हमने इस एक गुर का सहारा लेकर कठिन-से-कठिन स्थलो को बडी आसानी से खुलते देखा है, और यह अनुभव किया है कि इस तत्त्व को गाठ बाध लिया जाय, तो उपनिषद् की कोई बात उलझी नही रहती।

उपनिषद् मे दो-तीन स्थल ऐसे है जिनके सम्बन्ध मे अक्सर वाद-विवाद रहा करता है। उनके विषय मे कुछ स्पष्टीकरण कर देना अप्रासगिक न होगा —

सबसे पहला विवाद तो यह चला करता है कि उपनिषदो का प्रतिपाद्य विषय एकत्व है, या द्वित्व ? एकत्ववादियो के लिए 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'—छान्दोग्य का 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'—'योऽसावादित्ये पुरुष सोऽहमस्मि' आदि वाक्य उनके मत का निश्चय करने के लिए पर्याप्त हैं, द्वित्ववादियो के लिए 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनेक वाक्य उनके मत का निश्चय करने के लिए पर्याप्त हैं। परन्तु अगर हम उपनिषदो का गहराई से अध्ययन करें, तो पता चलेगा कि उपनिषदो का प्रतिपाद्य विषय न एकत्व है, न द्वित्व। उपनिषद् दर्शन के, तर्क के ग्रन्थ नही अनुभूति के, साक्षात्कार के ग्रन्थ हैं। 'नैषा मतिस्तर्केणापनेया'—यह उपनिषदो का दृष्टि-कोण है। किसी ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय वह होता है जो सम्पूर्ण ग्रन्थ मे एक-समान दीख रहा हो, एक-एक अध्याय और एक-एक पृष्ठ पर उभर-उभर आता हो। इस दृष्टि से उपनिषदो का प्रतिपाद्य विषय सिर्फ यह है कि ब्रह्माड मे हम प्रकृति मे उलझे रहते हैं, पिंड मे हम शरीर मे उलझे रहते है, प्रकृति का जीवन ब्रह्म से है, शरीर का जीवन आत्मा से है, हमारे उलझने की असली वस्तु ब्रह्माड मे प्रकृति नही ब्रह्म है, पिंड मे शरीर नहीं आत्मा है। जैसे भौतिकवादी प्रकृति तथा शरीर को यथार्थ समझता है, वैसे उपनिषद् का ऋषि ब्रह्म तथा आत्मा को यथार्थ समझता है, जैसे भौतिकवादी का 'भौतिक-यथार्थवाद' (Physical realism) अनुभव के आधार पर खड़ा है, वैसे अध्यात्मवादी का 'आध्यात्मिक-यथार्थवाद' (Spiritual realism) भी अनुभव के आधार पर खड़ा है। उपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय 'एकत्व'-'द्वित्व' नही, 'आत्म-तत्त्व' उसका प्रतिपाद्य विषय है। उपनिषद् के ऋषि का कथन है कि यह युक्ति से सिद्ध करने की जरूरत नही कि ससार टिकनेवाली वस्तु नही है, यह तो हम सब का अनुभव है कि शरीर मे से जब प्राण निकलने लगता है, तब आख, नाक, कान सब इन्द्रिया भागने लगती हैं, फिर हम इसमे क्यो उलझे रहें, उस आत्म-तत्त्व को पाने का यत्न क्यो न करें जिसके कारण यह सब-कुछ है, और जिसके बिना यह सब-कुछ रहता हुआ भी नही रहता, होता हुआ भी क्षण भर में नहीं हो जाता है ? यह विचार उपनिषद् के पृष्ठ-पृष्ठ पर, पक्ति-पक्ति पर अंकित है। यही उपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय है। 'एकत्व' और 'द्वित्व' तो अवान्तर बातें

हैं। उपनिषत्कार दार्शनिक दृष्टि से नहीं, अनुभव की दृष्टि से सत्य की खोज में निकले हैं, वे जानना चाहते हैं कि जीवन को किस दिशा में ढाला जाय जिससे जिस सुख की तलाश में यह मनुष्य जन्म-जन्मान्तर से भटक रहा है वह उसे मिल जाय। उपनिषत्कार की दृष्टि दिमाग़ी उड़ान की दृष्टि नहीं, जीवन की सबसे मुख्य क्रियात्मक समस्या को हल करने की दृष्टि है। 'एकत्व' ठीक है, या 'द्वित्व' ठीक है—इसको जाननेवालों के जीवन पर इस बात का क्या असर पड़ता है? 'एकत्व' वाले भी उसी रास्ते पर भागे चले जा रहे हैं, जिसपर 'द्वित्व' वाले। उपनिषद् के दृष्टि-कोण को जाननेवाले का तो जीवन का रास्ता ही बदल जाता है। वह नचिकेता की तरह संसार के प्रलोभनों के मिलने पर भी उन्हें अनित्य समझकर छोड़ देता है, याज्ञवल्क्य की तरह आयु के एक भाग में आकर संसार से उपराम हो जाता है, अनित्यों में नित्य की, अध्रुवों में ध्रुव की तलाश करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि 'एकत्व' या 'द्वित्व' उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय नहीं है, यह दर्शन-शास्त्र का विषय है, इन बातों की उपनिषदों में कहीं-कहीं झलक दीख जाती है, आख़िर दार्शनिक तथा अनुभूति की दृष्टियां भी कहीं-कहीं पास-पास से गुज़रा करती हैं, परन्तु अनुभूति के ग्रन्थ में दार्शनिक-विवाद को खड़ा कर देना ग्रन्थ के मर्म को न समझना है। उपनिषद् के कुछ इने-गिने वाक्यों का भले ही कोई एकत्वपरक अर्थ करे, या द्वित्वपरक, ये ग्रन्थ एकत्ववाद या द्वित्ववाद को लक्ष्य में रखकर नहीं लिखे गये, और न ही ऐसे स्थलों की उपनिषदों में इतनी भरमार है कि इस समस्या को उपनिषदों की मुख्य समस्या बना लिया जाय।

दूसरा विवाद कुछ ऐसे स्थलों के विषय में है जो कुछ लोगों की दृष्टि में आपत्तिजनक हैं। आपत्ति-जनक स्थलों के विषय में एक स्थल तो बृहदारण्यक-उपनिषद् के षष्ठ अध्याय का चतुर्थ ब्राह्मण है जिसमें **गर्भाधान-विधि** का विस्तार-पूर्वक वर्णन है। मैक्समूलर ने इस स्थल को अश्लील कहकर इसका अंग्रेज़ी में अनुवाद करने के स्थान में इसलिए लैटिन में अनुवाद किया था ताकि थोड़े ही लोग इसे पढ़ सकें। भारत में 'गर्भाधान'-संस्कार सोलह संस्कारों में से एक मुख्य संस्कार समझा जाता था, और इसको उत्तम सन्तान उत्पन्न करने का साधन माना जाता था। आज भी सुप्रजनन-शास्त्र (Eugenics) की पुस्तकों में उत्तम सन्तान कैसे उत्पन्न हो—यह विचार किया जाता है। बृहदारण्यक-उपनिषद् के उक्त स्थल में यही चर्चा है कि वेदज्ञ, विद्वान्, धर्मनिष्ठ सन्तान कैसे उत्पन्न हो—इसमें गर्भाधान-विधि का भी वर्णन है, इतने से यह स्थल अश्लील कैसे हो सकता है? गर्भाधान के साथ इस स्थल में अन्य संस्कारों का भी वर्णन है। इसी प्रकरण में एक जगह (६–४–१८) यह वर्णन आता है कि जो माता-पिता चाहें कि उनका पुत्र सब वेदों का ज्ञाता हो, वे **'मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा।'** इसका अर्थ कई विद्वानों ने यह किया है कि माता-पिता मांस और चावल पकवाकर औक्ष से वा आर्षभ से घृत-सहित खायें, अर्थात् बैल का मांस खायें। इस अर्थ करने का कारण यह है कि 'मांसौदन' शब्द में 'मांस' शब्द

आया है। परन्तु इस सारे प्रकरण को आगे-पीछे देखने से क्या 'मांस' की बात ठीक जचती है? सारे प्रकरण को पढ़ जाय, तो तिल, चावल, घृत के सिवाय किसी और वस्तु का कहीं जिक्र नहीं, एकाएक 'मांस'-शब्द आ गया है। असल में, 'माष' की जगह किसी लेखक की गलती से 'मांस'-शब्द लिखा गया है। उस समय के लेखकों की ग़लतियां आजकल छापेखाने के भूतों की ग़लतियां (Printer's devil) कहलाती हैं। चावल के साथ माष अर्थात् उड़द की संगति तो स्पष्ट है, मांस की कोई संगति नहीं बैठती। शुभ-कार्यों में आजतक की परम्परा तिल-चावल-माष को मिलाने की है, तिल-चावल के साथ मांस मिलाने की तुक कहां बैठती है? उपनिषदों के लेखकों से कहीं-कहीं शब्दों की ग़लतियां कई जगह रह गई हैं, और जो गलती एक बार रह गई, वह रहती ही चली गई, उसमें सुधार का किसी ने प्रयत्न नहीं किया। तैत्तिरीय-उपनिषद् में 'शिक्षा' के स्थान में 'शीक्षा', 'तत्' के स्थान में 'त्यत्', 'निष्काम' के स्थान में 'नीकाम' चलता चला आ रहा है। छान्दोग्य ६-२-१ में 'तस्मादसतः सज्जायत'—यह वाक्य आता है। इसका शुद्ध-पाठ 'तस्मादसतः सज्जायेते' या 'तस्मादसत सदजायत इति'—यह होना चाहिए, परन्तु सब जगह छपी उपनिषदों में 'तस्मादसत सज्जायत'—यही पाठ पाया जाता है। एक बार ग़लत लिखा गया, सो लिखा गया। जिस स्थल के विषय में हम चर्चा कर रहे हैं उसका शुद्ध-पाठ 'मांसौदन' न होकर 'माषौदन' होना चाहिए, परन्तु एक बार कोई ग़लती से 'मांस' लिख गया, सो वैसा चलता चला गया। आगे के स्थल का अर्थ स्पष्ट है कि जो माता-पिता ऐसे भोजन का सेवन करेंगे, वे—'जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा'—शरीर में बैल के समान और ज्ञान में ऋषभ के समान पुत्र-रत्न को उत्पन्न करेंगे। बैल के मांस से ही मतलब होता तो 'औक्षेण' और 'आर्षभेण' में विकल्प क्यों कहा जाता? उक्षा और ऋषभ का बैल-विषयक तो एक ही अर्थ है। आगे-पीछे के प्रकरण को देखकर युक्ति-संगत अर्थ यही प्रतीत होता है कि जो चाहे शरीर की बलिष्ठ तथा ज्ञान की धनी (ऋषभ-श्रेष्ठ) सन्तान हो वह घी-मिश्रित चावल और उड़द का सेवन करे।

उपनिषदों के भाव की गहराई तक न जाने का परिणाम है कि कई विद्वान् उपनिषद् की विचार-परम्परा से बिल्कुल विपरीत अर्थ कर देते हैं। छान्दोग्य (४-२-५) में 'रैक्व' ऋषि की कथा आती है, जिसमें लिखा है कि राजा जानश्रुति ब्रह्म-विद्या के उपदेश के लिए रैक्व के पास गया, और साथ धन-धान्य, रथ तथा अपनी कन्या को भी लेता गया। ऋषि के विषय में लिखा है—'तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाच'। 'उपोद्गृह्णन्' का सीधा-सादा अर्थ है, मुख को ऊपर करके, परन्तु कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ कर दिया है—उस स्त्री के मुख को चूम कर। ऐसे अर्थ न प्रकरण में खपते हैं, न शब्दों से ही ऐसा-कोई अर्थ निकलता है। उपनिषद् में तो ऐसा-कोई अर्थ निकलता भी प्रतीत होता हो, तब भी सारे ग्रन्थ के विचार-क्रम को देखते हुए उससे मेल खानेवाला ही अर्थ करना चाहिए, दूसरा नहीं, क्योंकि हर ग्रन्थ के भाव को समझने का यही सही तरीका है।

उपनिषदों की विचार-धारा चित्त को इतने आग्रह से खींचती है कि इतनी पुरानी होने पर भी यह नित नई बनी हुई है। मुसलमान कई शताब्दियों तक भारत पर राज्य करते रहे, परन्तु उपनिषदों की उड़ान के सामने उन्होंने भी मस्तक नमा दिया। शाहजहां का ज्येष्ठ पुत्र, औरंगजेब का भाई **दारा शिकोह** उपनिषदों पर इतना लट्टू हो गया था कि काशी से कुछ पंडितों और संन्यासियों को बुला कर लगातार छः महीने तक उनकी कथा और व्याख्या सुनता रहा। वह उपनिषदों की विचार-धारा से इतना प्रभावित हुआ कि १६५६ ईस्वी में उसने इनका फ़ारसी में अनुवाद किया। कालान्तर में दारा शिकोह के इसी भाषान्तर को फ्रैंच विद्वान् **एन्क्विटिल ड्यू पेरों** (Anquetil Du Peron) ने पढ़ा, और उसे पढ़कर ही उसे प्राच्य शास्त्रों तथा संस्कृत ग्रन्थों को पढ़ने की रुचि हुई। उपनिषदों के फ़ारसी अनुवाद तथा मूल संस्कृत के आधार पर ही एन्क्विटिल ड्यू पैरों ने १८०१ ईस्वी में इनका लैटिन में अनुवाद किया। इस प्रकार दारा शिकोह द्वारा मुस्लिम तथा एन्क्विटिल ड्यू पेरों द्वारा ईसाई-जगत् में उपनिषदों की विचार-धारा ने इतना ज़बर्दस्त सिक्का जमाया कि पूर्व तथा पश्चिम—दोनों जगह के लोग इन ग्रन्थों को अत्यन्त श्रद्धा से पढ़ने लगे। इसके बाद **राजा राममोहन राय** ने १८१६–१८१९ में, **ई० रोअर** (E. Roer) ने १८४८–१८७४ में तथा **मैक्स मूलर** (Max Muller) ने १८७९–१८८४ में उपनिषदों का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। जर्मनी में **एफ़ मिशल** (F. Mischel) ने १८८२ में, **ओ० बोहटलिंक** (O. Bohtlink) ने १८८९ में तथा **पॉल डूसन** (Paul Deussen) ने १८९७ में इनका जर्मन में अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न भाषाओं में उपनिषदों के अनेक भाषान्तर हुए और संसार भर के विचारकों को उपनिषदों के अथाह समुद्र में से अनेक रत्न मिले। जर्मन विद्वान् **शोपनहार** ने तो लिखा कि अगर जीवन में मुझे किसी चीज़ से आत्मिक-शान्ति मिली है तो उपनिषदों से, और अगर मृत्यु के समय मुझे किसी चीज़ से शान्ति मिल सकती है तो उपनिषदों से!

भारत की भाषाओं में उपनिषदों के अनेक भाषान्तर हुए हैं। हिन्दी में ही कम-से-कम आधे दर्जन भाषान्तर हैं। इन सब ग्रन्थों के होते हुए हमें इस ग्रन्थ के लिखने की क्या आवश्यकता हुई? हमें इस ग्रन्थ के लिखने की तब प्रेरणा हुई जब हमने आजतक के हुए हिन्दी-संस्कृत-अंग्रेज़ी सब अनुवादों को पढ़ा। हमें प्रायः सभी ग्रन्थों में शब्द-जाल अधिक दिखाई दिया, भाव की प्रधानता कम दिखाई दी। इसका मुख्य कारण यह समझ में आया कि सब ने संस्कृत-भाग को प्रधानता देकर अपनी लेखनी उठाई है। हमें यह समझ पड़ा कि जिन भावों को उपनिषत्काल में संस्कृत भाषा में लिखा गया था, उन्हीं भावों को बिना शब्दों के जाल में उलझे सर्व-साधारण की भाषा में लिखने की ज़रूरत है। दूसरे शब्दों में, उपनिषदों को ऐसी भाषा में लिखने की ज़रूरत है जिससे ऐसा लगे कि यह मक्खी-पर-मक्खी नहीं मारी गई, शब्द-पर-शब्द नहीं रख दिया गया, शब्दों में से भाव निकाल कर

निखारा गया है। यह तभी हो सकता था जब उपनिषद् के भावो को धारावाही स्वतन्त्र भाषा मे लिखा जाय, बीच में किसी प्रकार का अटकाव न आने दिया जाय। उपनिषदो के समय वे लोग सस्कृत मे सोचते, बोलते और लिखते थे, आजकल हम हिन्दी मे सोचते, बोलते और लिखते हैं। हमने इस ग्रन्थ मे यह प्रयत्न किया है कि अगर उपनिषदो के ऋषि हमारे युग मे आ जाय, तो वे अपने विचारो को हिन्दी भाषा मे किस प्रकार, किन शब्दो मे व्यक्त करें। इसीलिये हमने मूल सस्कृत-भाग को हिन्दी से जुदा करके अलग दिया है, उसे हिन्दी के साथ मिलाया नही है। जो सिर्फ उपनिषद् के भाव को समझना चाहे, वह सिलसिलेवार हिन्दी-भाग को पढता चला जाय, उसे यह हिन्दी का एक स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ प्रतीत होगा, और सब बात परस्पर सम्बद्ध प्रतीत होगी। जो हिन्दी और सस्कृत का मिलान करना चाहे, वह नीचे मूल-सस्कृत को देखकर मिलान करता जाय। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ शब्द-प्रधान नही, भाव-प्रधान है। परन्तु इसका यह मतलब नही कि शब्दो का हमने ध्यान नही रखा। शब्दो का भी हमने इतना ध्यान रखा है कि उपनिषद् मे भिन्न-भिन्न स्थलो पर जो शब्द आये हैं, उन शब्दो की भी भाव की दृष्टि मे रखते हुए पूरी-पूरी मीमासा करने का प्रयत्न किया है। संभूति-असभूति क्या है, विद्या-अविद्या क्या है, त्रिणाचिकेत अग्नि क्या है, नचिकेता, यम, इन्द्र, वायु, यक्ष, उमा आदि का क्या अर्थ है, अधिदैवत तथा अध्यात्म क्या है, तप-दम-कर्म, तप-ब्रह्मचर्य-श्रद्धा---इन त्रिको का क्या अर्थ है, ऋत तथा सत्य का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है, अंगुष्ठमात्र से क्या अभिप्राय है, भू-भुव-स्व: के आधार मे क्या विचार-प्रक्रिया है, जहा अनेक शब्द इकट्ठे दिये गये हैं उनका एक-दूसरे से क्या रिश्ता है---इन सब का अपने-अपने स्थान मे हमने विवेचन किया है, इन शब्दो को ऐसा ही लिखकर नही छोड दिया गया, हर-एक शब्द मे से उसका भाव निकालने का प्रयत्न किया गया है। इस भाव-प्रधान ग्रन्थ की दूसरे शब्द-प्रधान ग्रन्थो से यही विशेषता है। दूसरे ग्रथ सिर्फ पडितो के लिए लिखे गये हैं, परन्तु आज क्योकि जनता का युग है, इसलिए यह ग्रन्थ पडितों तथा सर्व-साधारण जनता दोनो के दृष्टि-कोण से लिखा गया है।

इसके लिखने की प्रेरणा मुझे तब हुई जब मेरी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल ने मुझे उपनिषद् पढाने को कहा। वे स्वय मनोविज्ञान की पडिता हैं, उन्होंने स्वय उच्च-कोटि के ग्रन्थ लिखे हैं। उन्हें उपनिषद्-जैसे ग्रन्थ पढाने के लिए मुझे भी तपस्या करनी पडी। जितने भाष्य मिल सके सब इकट्ठे किये। दिन-रात उपनिषदो मे विचरने लगा। भाव स्पष्ट होते थे, परन्तु कही-कही बिल्कुल अस्पष्ट होते थे। कभी-कभी एक-एक स्थल को स्पष्ट करने मे कई दिन लग जाते थे। पति-पत्नी का ज्यो-ज्यो उपनिषद् पढने-पढाने का यह सिलसिला चला, त्यो-त्यो मैं सोचने लगा कि यह सब-कुछ लिखता क्यों न चला जाऊ ? बस, जो हम लोग मिल-कर पढ़ते थे, उसे लिखता चला गया। लिखते-लिखते यह ग्रन्थ तैयार हो गया। इसलिए इस ग्रन्थ को मेरे द्वारा लिखने का श्रेय मेरी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल को है।

मैंने यह जो-कुछ लिखा है, यह तो इस ग्रन्थ की सरसरी भूमिका है। उपनिषद् के आध्यात्मिक दृष्टि-कोण को निबन्धों के रूप में मैंने एक पृथक् ग्रन्थ में लिखा है जिसका नाम है—'वैदिक-संस्कृति के मूल-तत्त्व'। जो महानुभाव उपनिषद् की विचार-धारा को स्वतंत्र रूप से जानना चाहें उनके लिए वह ग्रन्थ उपनिषदों की भूमिका का काम करेगा। उस ग्रन्थ को पढ़ लेना उपनिषदों की आधारभूत विचार-धारा को समझ लेना है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में एक बड़ी आर्थिक कठिनाई आ खड़ी हुई थी। वह कठिनाई वैयक्तिक थी इसलिए उसके विवरण में जाने की आवश्यकता नहीं। इतना ही कह देना पर्याप्त है कि उस कठिनाई का हल न होता तो ग्रन्थ का प्रकाशन रुक जाता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए जिन महानुभावों ने योगदान दिया उनका आभारी हूं। योगदान देनेवालों के नाम निम्न हैं :

श्री देवदत्त लखनपाल द्वारा	२,५०० रु०
आर्य धर्म सेवा संघ ट्रस्ट द्वारा	२,००० रु०
राय बहादुर विस्सेसरमल मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट द्वारा	२,००० रु०
रघुमल चैरिटी ट्रस्ट द्वारा	१,००० रु०
श्री मेघराज जी, न्यू इंडिया प्रेस द्वारा	१,००० रु०
श्री परमेश्वरी देवी खेतान मैमोरियल ट्रस्ट द्वारा	५०० रु०
राय बहादुर चौ० प्रतापसिंह जी ट्रस्ट द्वारा	५०० रु०
श्री भुवालका जन-कल्याण ट्रस्ट द्वारा	५०० रु०
श्री अलकापुरी जन-कल्याण ट्रस्ट द्वारा	५०० रु०
	१०,५०० रु०

पुस्तक पर १८ हज़ार रु० के लगभग व्यय आया है जिसमें उक्त महानुभावों के योगदान से लेखक को पुस्तक के प्रकाशन में बड़ी सहायता मिली है। आशा है, जिन्होंने पुस्तक के प्रकाशन में हाथ बंटाया है वे इसकी रूप-रेखा, कलेवर तथा विषय को देखकर प्रसन्न होंगे कि उनका योगदान एक उत्तम कार्य के लिए हुआ है।

मेरे मित्र श्री पं० शान्तिस्वरूप जी वेदालंकार ने तो ग्रन्थ के निर्माण में मेरे जैसा ही हिस्सा लिया है। संस्कृत-भाग का लेखन ये न करते तो ग्रन्थ अधूरा रह जाता। उनके लिए यह ग्रन्थ उनके आत्मज के समान है क्योंकि यह जितना मेरा है उतना ही उनका है। उन्हें जितना धन्यवाद दूं, थोड़ा है।

आशा है, यह ग्रन्थ वर्तमान उदीयमान हिन्दी-संसार की थोड़ी-बहुत सेवा कर सकेगा, जितने अंश में यह हिन्दी-भाषी-जगत् की सेवा कर सकेगा उतने अंश में मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

विद्या-विहार, बलबीर ऐवेन्यू,
देहरादून

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

ॐ

ईशावास्योपनिषद्

इस जगती में जो जगत् है वह ईश द्वारा बसा हुआ है। इसलिये त्याग-पूर्वक भोग करो। किसी दूसरे के धन की आकांक्षा मत करो ॥१॥

('जगती' का अर्थ है 'गतिवाली', 'जगत्' का अर्थ है 'गतिमान्'। ससार का सभी-कुछ गतिमान् है। सूर्य, पृथिवी, चन्द्र, तारे मे गति है, इनके एक-एक अणु में गति है। तो क्या गति यू ही हो रही है ? नही, इस गति का कोई देने वाला है, कोई 'ईश' है, कोई स्वामी है। वह स्वामी कही अलग बैठा गति नही दे रहा, वह गति करने वाले एक-एक अणु मे बसा बैठा है। जब वह एक-एक अणु मे बसा हुआ है, और 'ईश'—स्वामी— की हैसियत से बसा हुआ है, तब तो यह सब उसी का है, हमारा क्या है ? मनुष्य अगर यह धारणा कर ले कि विश्व का स्वामी वही है, तो ससार का उपभोग वह किस बुद्धि से करेगा ? वह यही तो समझेगा कि मै उसका दिया खाता हू, उसका दिया पीता हू, उसका दिया काम में लाता हू। वह ससार के पदार्थों

ॐ ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

ओम्—ईश्वर (यह परमेश्वर का निज नाम है और प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ करते हुए इस नाम से ही भगवान् को आर्ष-साहित्य मे मगलाचरण के रूप मे स्मरण किया जाता है।), ईशा—ईश्वर से, वास्यम्—बसने या बसाने योग्य, बसा हुआ, इदम्—यह, सर्वम्—सब, यत्—जो, किंच—कुछ, जगत्याम्—गतिशील भगवान् की रचना अर्थात् कार्यरूपा प्रकृति में, जगत्—गतिमान्; तेन—उससे, उसने, उस कारण से; त्यक्तेन—दिये हुए से, त्यागभाव रखते हुए; भुञ्जीथाः—भोग करो; मा—मत, गृधः—लालसा करो, लालच मे पड़ो; कस्यस्वित्—किसी के; धनम्—धन को, अथवा धनम् कस्यस्विद् ?—धन किसका है ? ॥ १ ॥

का भोग करेगा, परन्तु यह समझ कर कि यह सब उसका है, मेरा नहीं; वह भोग करेगा परन्तु त्याग-बुद्धि से; वह काम करेगा, परन्तु निःसंग-भाव से। संसार की सब वस्तुएं उसकी हैं, अतः उसकी वस्तु को अपना समझना तो चोरी के समान है। जो अपने पास हैं, जब उसे भी अपना समझना चोरी है, तो जो दूसरे के पास है, उसे अपनाने का प्रयत्न करना तो उसकी दृष्टि में दोहरी चोरी है। जो यह समझ लेता है कि संसार गतिमान् है, गति कभी गति देने वाले के बिना आ नहीं सकती, गति अणु-अणु के भीतर है अतः गति देने वाला भी अणु-अणु में बसा हुआ है, वही इस सबका स्वामी है, फिर वह संसार में निर्लेप, निःसंग, त्यागपूर्वक भोग के अतिरिक्त किसी दूसरे दृष्टिकोण को अपने सम्मुख रख ही नहीं सकता।)

सब उसी का है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि सब काम छोड़-कर हाथ पर हाथ धरकर बैठा जाय। मनुष्य कर्म करे परन्तु निष्काम कर्म करे, और कर्म करते हुए ही इस संसार में सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इस प्रकार मनुष्य में कर्म का लेप नहीं होता। इसके बिना कोई रास्ता नहीं ॥२॥

(कर्म करेंगे तो कर्म का लेप अवश्य होगा। उपनिषत्कार का कहना है कि जीवन का ऐसा भी मार्ग है कि हम कर्म भी करें और कर्म का लेप भी न हो। कर्म के लेप से ही तो सुख-दुःख होते हैं। वह मार्ग क्या है? वह मार्ग यह है कि हम कर्म तो करें परन्तु

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

कुर्वन्—करता हुआ; **एव**—ही; **इह**—यहाँ, इस संसार में; **कर्माणि**—कर्म, कर्मों को; **जिजीविषेत्**—जीने की इच्छा करे, जीना चाहे; **शतम्**—सौ; **समाः**—वर्षों तक; अर्थात् (**शतं समाः**—सौ वर्ष तक, पूरी आयु भर); **एवम्**—इस प्रकार; **त्वयि**—तुझमें; **न**—नहीं; **अन्यथा**—इससे भिन्न; अन्य प्रकार से; **इतः**—यहाँ से, इससे; **अस्ति**—है; **न**—नहीं; **कर्म**—किया कर्म; **लिप्यते**—लेप होता है, आसक्ति पैदा करता है; **नरे**—(नर अर्थात् न रमण—न आसक्त होने वाले) मनुष्य में ॥ २ ॥

निःसगभाव से, निष्कामभाव से करे। परन्तु क्या निष्कामभाव सम्भव है? निष्कामभाव को सम्भव बनाने के लिए ही उपनिषत्कार कहते हैं कि तुम्हारा तो कुछ है ही नही—'ईशा वास्यमिद सर्वम्'—सब उसी का है। जब सब उसी का है, तुम्हारा कुछ नही, तब लिप्त होना, सकामता कैसी? यहाँ 'नर'-शब्द का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। 'नर'-शब्द 'न' और 'र' से बना है, जिसका अर्थ है 'न रमण करने वाला'—'नर' वही है जो रमा न रहे। निष्काम-भावना तभी आ सकती है जब रमण करने की भावना न रहे।)

जो मनुष्य आत्मा का हनन करते हैं वे मरकर गहरे अन्धकार से आवृत असुर्य लोको में जाते हैं (बृहदा० ४-४-११) ॥३॥

(इस उपनिषद् में कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। कर्म कैसा? आत्मा के जीवन का या आत्मा के मरण का? 'आत्मा के विकास के मार्ग पर चलना आत्मा का जीवन' है, आत्मा के ह्रास के मार्ग पर चलना 'आत्मा का हनन' है। जब-जब मनुष्य आत्म-ह्रास के मार्ग पर चलता है तब-तब ही दिन में अनेक बार आत्मा का हनन करता है। आत्मा तो नित्य है, परन्तु हिंसा-असत्य-स्तेय-अब्रह्मचर्य-परिग्रह ये आत्मा का हनन करने वाले हैं। आत्म-जीवन के मार्ग पर चलने से आत्मा म प्रकाश का, उत्साह का, आत्म-स्फुरण का सचार होता है, आत्म-हनन के मार्ग पर चलने से आत्मा में अन्धकार का, निरुत्साह का, आत्म-हीनता का सचार होता है। भोग की दृष्टि आत्मा के हनन की

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता।
तां स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना ॥३॥

असुर्या—असुर्य (आसुर भाव से युक्त), नाम—नाम वाले, ते—वे, लोका—लोक, स्थान, लोग, अन्धेन—घने, तमसा—अन्धकार से, आवृता—आच्छादित, घिरे हुए, तान्—उनको, ते—वे, प्रेत्य—मरकर, अभिगच्छन्ति—जाते हैं, प्राप्त होते है, ये—जो, के—कई, कोई, च—और, आत्म-हन—आत्मा (अपने-आप) का हनन करने वाले, आत्मा का ह्रास करने वाले, जना—मनुष्य ॥ ३ ॥

दृष्टि है; त्याग-पूर्वक भोग, निःसंगता, निष्कामता से कर्म करने की दृष्टि आत्मा के जीवन की दृष्टि है।)

वह परमात्मा कंपन तक नहीं करता परन्तु मन से भी अधिक वेगवान् है; इन्द्रियां उसे प्राप्त नहीं कर सकतीं परन्तु वह इन्द्रियों से भी पूर्व वर्तमान है; वह ठहरा हुआ ही अन्य दौड़ते हुओं को पीछे छोड़ देता है; उसी के कारण वायु, जो स्वयं हल्की है, अपने से भारी जल को उठा लेती है ॥४॥

वह चलता है, वह नहीं चलता; वह दूर है, वह निकट भी है; वह इस सबके अन्तर में है; वही इस सबके बाहर से वर्तमान है ॥५॥

(इस उपनिषद् के प्रारम्भ में कहा कि वही संसार के कण-कण में बसा हुआ है। अगर वह कण-कण में बसा है, और संसार का कण-कण गतिमान् है तो उसकी गति कैसी है? उसकी गति के विषय में उपनिषत्कार कहते हैं: कहने को तो वह हिलता तक नहीं परन्तु मन की गति से भी वह तीव्र गति वाला है, इन्द्रियां उस तक पहुंच नहीं पातीं कि वह पहले ही वहां पहुंचा होता है।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

अनेजद्—कम्पन न करता हुआ, गति न करता हुआ; **एकम्**—एक, इकला; **मनसः**—मन से; **जवीयः**—अधिक वेगवाला; **न**—नहीं; **एनद्**—इसको; **देवाः**—दिव्य गुण युक्त, इन्द्रियां; **आप्नुवन्**—प्राप्त कर सकीं; **पूर्वम्**—पहले ही; **अर्षत्**—पहुंच चुका, मौजूद; **तद्**—वह; **धावतः**—दौड़ते हुए; **अन्यान्**—दूसरों को; **अत्येति** (अति+एति)—लांघ जाता है, पीछे छोड़ देता है; **तिष्ठत्**—ठहरा हुआ, स्थिर; **तस्मिन्**—उसमें; **अपः**—जलों को, कर्मों को; **मातरिश्वा**—वायु, जीवात्मा; **दधाति**—धारण करता है ॥ ४ ॥

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

तद्—वह; **एजति**—गति करता है; **तद्**—वह; **न**—नहीं; **एजति**—गति करता है; **तद्**—वह; **दूरे**—दूर में, **तद्**—वह; **उ**—निश्चय से; **अन्तिके**—पास में; **तद्**—वह; **अन्तः**—अन्दर; **अस्य**—इसके; **सर्वस्य**—सब के; **तद् उ**—वह ही; **सर्वस्य**—सबके; **अस्य**—इसके; **बाह्यतः**—बाहर की ओर ॥५॥

ऐसे विशाल-कर्मी के सामने अपने को पाकर ही मनुष्य अपनी कामनाओं का त्याग कर निष्काम हो सकता है।)

देखना 'वीक्षण' है, गहराई से देखना—एक-एक वस्तु में अन्दर से देखना कि वह इसमें है या नहीं 'अनु-वीक्षण' है। जो इस प्रकार के 'अनु-वीक्षण' से सब भूतों को आत्मा में ही देखता है, और आत्मा को सब भूतों में देखता है वह इस अनु-वीक्षण के कारण पाप नहीं करता। क्योंकि उसे प्रत्येक वस्तु की ओट से वह झांकता नजर आता है (हम पाप तभी करते हैं जब समझते हैं कि कोई नहीं देख रहा) ॥६॥

जिस जानने वाले के ज्ञान में सब भूत आत्मवत् हो गये, इसलिये आत्मवत् हो गये क्योंकि कण-कण में ईश ही बसा हुआ है, फिर वहां भूतों के अनेकत्व में आत्मा के एकत्व का अनु-वीक्षण करने वाले के लिए मोह कैसा, और शोक कैसा? ॥७॥

('वीक्षण'—साधारण देखने—से संसार में 'अनेकता' दीखती है, 'अनु-वीक्षण' से—एक-एक वस्तु के अन्दर जाकर देखने से—तो इस अनेकता में छिपी 'एकता' दीख पड़ती है। एकता

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥६॥

यः—जो, तु—तो, सर्वाणि—सब, सारे, भूतानि—पांच जड़ भूतों को, चेतन प्राणियों को, आत्मनि—आत्मा में, अपने में, एव—ही, अनुपश्यति—गहराई से–बारीकी से देखता है, सर्वभूतेषु—सब भूतों या प्राणियों में, च—और, आत्मानम्—आत्मा को, अपने को, ततः—उससे, उस कारण से, उसके बाद, न—नहीं, विजुगुप्सते—पाप करता है, घृणा करता है, रक्षा की इच्छा करता है॥६॥

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥७॥

यस्मिन्—जिसमें, सर्वाणि—सारे, भूतानि—पंचभूत, प्राणी, आत्मा—आत्मा, स्वयं के समान, एव—ही, अभूत्—हुआ, हो गया, विजानतः—जानने वाले, ज्ञानी का; तत्र—वहां, उसमें; कः—क्या, कौन, मोहः—कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान न होना, मूर्च्छा, ममता; कः—क्या, कौन; शोकः—शोक, रंज, दुःख; एकत्वम्—एकता को; अनुपश्यतः—गहराई से देखने-जाननेवाले का ॥७॥

भी किस में ? भौतिक-जगत् एक होकर प्रकृति में, और प्रकृति अपने निमित्त-कारण आत्मा में लीन हो जाती है। जो द्रष्टा सब भूतों को इस प्रकार आत्मा में मिटते हुए देख लेता है फिर वह न मोहावस्था में जाता है, न शोकावस्था में। संसार में फंसकर दो ही अवस्थाओं में जीव धंस सकता है। विषय-सुख मिलता रहता है, तो इसके मोह में फंसा रहता है, विषय-सुख छूट जाता है, तो शोकावस्था में सिर धुनने लगता है। अगर संसार में न फंसे, आत्म-भाव में बना रहे, तो संसार में कर्म करता हुआ भी फंसता नहीं। पंच-भूतों में लिप्त हो जाने वाली अनात्म-दृष्टि से मोह और शोक होते हैं, निर्लिप्तता तथा निष्कामता की आत्म-दृष्टि से ये दोनों छूट जाते हैं।)

वह सब जगह गया हुआ है। वह शुद्धता की चरम-सीमा है, शुक्र है। उसकी काया नहीं, काया नहीं तो व्रण कहां, नस-नाड़ी कहां ? भौतिक-दृष्टि से हम उसे 'शुद्ध' कहते हैं, मानसिक-दृष्टि से 'पाप-रहित' कहते हैं। यह 'कवि' है, यह भौतिक-संसार उसका काव्य है। वह 'मनीषी' है, मानसिक-संसार का भी वही स्वामी है। वह 'परिभू' है—सब जगह मौजूद है परन्तु साथ ही वह 'स्वयं-भू' (Uncaused Cause) है—'अपने-आप' है—कोई उसे पैदा नहीं करता। शाश्वत-काल से जो यह सृष्टि चल रही है, निरन्तर सृष्टि का प्रवाह चलता

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

सः—वह परमात्मा; **पर्यगात्** (परि+अगात्)—सब ओर गया हुआ है, व्याप्त है; **शुक्रम्**—शुद्ध, दीप्त; **अकायम्**—शरीर से रहित; **अव्रणम्**—घावों से रहित; **अस्नाविरम्**—नाड़ी-संस्थान से रहित; **शुद्धम्**—सब मलों से रहित, पवित्र; **अपापविद्धम्**—पापों से रहित; **कविः**—क्रान्तदर्शी, भविष्यदर्शी, वेदरूप काव्य का निर्माता, ज्ञानी; **मनीषी**—मनन करनेवाला, ज्ञानी; **परिभूः**—सब ओर-सब जगह व्याप्त; **स्वयंभूः**—स्वयं सत्ता वाला (उसका कोई रचयिता नहीं); **याथातथ्यतः**—भली प्रकार, जैसा चाहिये वैसे ही; **अर्थान्**—पदार्थों को, सृष्टि को; **व्यदधात्** (वि+अदधात्)—करता है, रचता है, पैदा किया है; **शाश्वतीभ्यः**—निरन्तर, व्यवधान-शून्य, लगातार; **समाभ्यः**—वर्षों से, काल से ॥ ८ ॥

चला जा रहा है, उसके लिए ठीक-ठीक पदार्थों की व्यवस्था, जिस समय जो-कुछ होना चाहिए यह सारा प्रबन्ध, वही कर रहा है ॥८॥

जो 'अविद्या', अर्थात् 'भौतिकवाद' (Materialism) की उपासना करते हैं वे गहन अन्धकार में जा पहुचते हैं, और जो 'विद्या', अर्थात् 'अध्यात्मवाद' (Spiritualism) में रत रहने लगते हैं, भौतिक-जगत् की पर्वाह ही नहीं करते, वे उससे भी गहरे अन्धकार में जा पहुंचते हैं (बृहदा० ४-४-१०) ॥९॥

'विद्या' से अन्य ही कुछ, और 'अविद्या' से अन्य ही कुछ फल होता है। धीर लोगो ने विद्या और अविद्या की जो व्याख्या की है उससे ऐसा ही सुनते आये हैं ॥१०॥

'विद्या' तथा 'अविद्या'—इन दोनो को जो एक साथ जानते हैं, वे 'अविद्या', अर्थात् भौतिक-विज्ञान (Science) से 'मृत्यु' लाने वाले प्रवाहो को तर जाते हैं, और 'विद्या', अर्थात् अध्यात्म-ज्ञान से 'अमृत' को चखते हैं ॥११॥

अन्ध तम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता ॥९॥

अन्ध तम—गहरे अन्धकार को, प्रविशन्ति—प्राप्त होते हैं, ये—जो, अविद्याम्—विद्या (अध्यात्म ज्ञान) से भिन्न प्रकृति-वाद (भौतिक-वाद) को, उपासते—उपासना करते हैं, सेवन करते है, तत—उससे भूय—अधिक, इव—मानो, तरह, ते—वे, तम—अन्धकार को, ये—जो, उ—निश्चय से, विद्यायाम्—(केवल) अध्यात्म ज्ञान मे, रता—लगे हुए, आसक्त हैं ॥ ९ ॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणा ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

अन्यद्—दूसरा, एव—ही, आहु—कहते है, विद्यया—विद्या से, अध्यात्म ज्ञान से, अन्यद्—दूसरा, आहु—बताते हैं, अविद्यया—अविद्या से, भौतिक-वाद से, इति—यह, ऐसा, शुश्रुम—(हमने) सुना है, धीराणाम्—बुद्धिमान्-ज्ञानी मनुष्यो की (से), ये—जो, जिन्होने, न—हमें, हमको हमारा, तद्—वह, उसको, विचचक्षिरे—व्याख्यान किया है ॥ १० ॥

विद्या चाविद्या च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

विद्याम्—विद्या को, च—और, अविद्याम्—अविद्या को, च—और,

जो 'असंभूति' (अ+सं+भूति), अर्थात् व्यक्तिवाद (Individualism) की उपासना करते हैं वे गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं, और जो 'संभूति' (सं+भूति) अर्थात् समष्टिवाद (Collectivism) में ही रत हैं वे उससे भी गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं ॥१२॥

'संभव' (सं+भव) अर्थात् 'समष्टिवाद' का कुछ और फल है, 'असंभव' (अ+सं+भव) अर्थात् समष्टिरूप में न रहकर व्यक्ति को समाज में मुख्य मानकर 'व्यक्तिवाद' से चलने का कुछ और फल है। धीर लोगों ने इन दोनों की जो व्याख्या की है उससे ऐसा ही सुनते आये हैं ॥१३॥

जो 'संभूति', अर्थात् 'समष्टि-वाद' तथा 'असंभूति', अर्थात्

यः—जो; तद्—उस, उसको; वेद—जानता है; उभयम्—दोनों को (विद्या और अविद्या को); सह—साथ; अविद्यया—अविद्या से; मृत्युम्—मृत्यु को; तीर्त्वा—तर कर, पार करके; विद्यया—विद्या से; अमृतम्—अमर पद मोक्ष को; अश्नुते—भोगता है, व्याप्त होता है, प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याँ रताः ॥१२॥

अन्धं तमः—घने अन्धकार को; प्रविशन्ति—प्राप्त होते हैं; ये—जो; असम्भूतिम् (अ+सम्+भूतिम्=इकट्ठा न होना)—व्यक्तिवाद को, असंगठन को; उपासते—उपासना करते हैं, सेवन करते हैं, महत्त्व देते हैं; ततः—उससे; भूयः—अधिक; इव—मानो, तरह; ते—वे; तमः—अन्धकार को; ये—जो; उ—निश्चय से; संभूत्याम्—सम्भूति (सम्+भूति=समुदाय में बंधना, समष्टिवाद) में; रताः—लगे हुए, आसक्त, महत्त्व देनेवाले हैं ॥१२॥

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ।

अन्यद्—दूसरा; एव—ही; आहुः—कहते हैं, बताते हैं; सम्भवात्—सम्भूति से, समष्टिवाद से; अन्यद्—दूसरा; आहुः—कहते हैं; असम्भवात्—असंगठन से, व्यक्तिवाद से; इति—यह, ऐसा; शुश्रुम—सुनते आये हैं; धीराणाम्—बुद्धिमान्, ज्ञानी मनुष्यों की (से); ये—जो, जिन्होंने; नः—हमें; तद्—वह, उसको; विचचक्षिरे—व्याख्यान किया है ॥ १३ ॥

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

सम्भूतिम्—समष्टिवाद को; च—और; विनाशम्—असम्भूति=विगठन

'व्यक्तिवाद' इन दोनो को एक साथ जानते हैं, वे असंभूति (अपना भला देखने की दृष्टि) अर्थात् व्यक्तिवाद से मृत्यु के प्रवाह को तो तैर लेते हैं, परन्तु अमृत को संभूति (सबका भला देखने की दृष्टि) अर्थात् समष्टिवाद से चखते हैं। असंभूति अथवा व्यक्तिवाद (Individualism) विनाश-मूलक है इसलिये असभूति का दूसरा नाम 'विनाश' है ॥१४॥

(व्यक्तिवाद से क्या होता है ? व्यक्ति अपने लिये खाने-पीने आदि के साधन जुटाकर अपनी रक्षामात्र कर सकता है, परन्तु अगर यह स्वार्थ-भावना बढ जाय, अपने को ही मुख्य रखा जाय, अन्यो की पर्वाह न की जाय, तो इसका परिणाम विनाश के अतिरिक्त कुछ नही होता। यह स्वार्थ-भावना समाज में व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देती है और व्यक्तिवाद ही नष्ट हो जाता है—इसीलिये कहा कि व्यक्तिवाद से मृत्यु को तो तर लेते हैं, मरने से बच जाते हैं, परन्तु इससे अधिक इससे कुछ नही मिलता, इसमें ही फसे रहने से व्यक्तिवाद का ही विनाश हो जाता है।)

हिरण्मय चमक-दमकवाले ढकने से सत्य का मुख ढका हुआ है। हे पूषन् !—अपनी पुष्टि अर्थात् पोषण चाहने वाले उपासक !—अगर तू सत्य-धर्म को देखना चाहता है तो उस ढक्कन का, आवरण का अपवरण कर दे, उस ढक्कन को हटा दे, पर्दे को उठा दे ॥१५॥

को, व्यक्तिवाद को, च—और, यः—जो, तद्—उसको, वेद—जानता है, उभयम्—दोनों को, सह—एक साथ, विनाशेन—विगठन से, व्यक्तिवाद से, मृत्युम्—मृत्यु को, तीर्त्वा—तर कर, पार कर, सभूत्या—सगठन से, समष्टिवाद से, अमृतम्—अमर पद मोक्ष को, अश्नुते—भोगता है, प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्।
तत्त्व पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

हिरण्मयेन—सुवर्ण (अच्छा रग) से बने हुए, चमक-दमक वाले, आकर्षक, पात्रेण—वर्तन से, ढकने से, सत्यस्य—सत्य का, अपिहितम्—बन्द, ढका हुआ, मुखम्—मुख, तत्—उसको, त्वम्—तू (उपासक), पूषन् !—पोषण करनेवाले, पोषण चाहने वाले !, अपावृणु—दूर हटा दे, सत्यधर्माय—सत्य-धर्म के लिए, दृष्टये—देखने के लिए, जानने के लिए ॥ १५ ॥

(ऐसा ही भाव छान्दोग्य, ८-३-१ में—'त इमे सत्याः कामाः अनृतापिधानाः' इस स्थल में पाया जाता है।)

हे 'पूषन्'—पुष्टि देनेवाले! 'एकर्षे'—ऋषियों में एक—अनोखे! 'यम'—नियमन करनेवाले ! 'सूर्य'—प्रचण्ड प्रकाशमान ! 'प्राजा-



हे पूषन् ! सत्य के मुख पर पड़े पर्दे को हटा दे !

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

पूषन्—हे पुष्टि देनेवाले !; एकर्षे—हे अद्वितीय ऋषि (साक्षाद्-द्रष्टा); यम—हे चराचर को नियम में रखनेवाले; सूर्य—हे सबको प्रेरणा देनेवाले

पत्य'—प्रजाओ के पति ! आपकी रश्मियो का व्यूह चारो तरफ फैल रहा है । उन्हीं रश्मियों के कारण प्रकृति के नाना रूप प्रकाशमान हो रहे हैं । मैं यह प्रकाश आपका न समझकर प्रकृति का समझ रहा हूं, और इसीलिए प्रकृति को ही सब-कुछ समझ बैठा हूं । आप अपनी रश्मियों को समेटिये ताकि मैं आपके कल्याणतम तेजोमय रूप के दर्शन कर सकूं । अ-हा ! आपकी रश्मियो के, तेज के, प्रकाश के एक जगह सिमिट जाने से जो आपका कल्याणतम तेजस्वी पुरुष-रूप प्रकट हुआ, वह कितना ज्योतिर्मय है ! मैं भी वही हूं—मैं भी ज्योतिर्मय पुरुष हूं ॥१६॥

(जैसे ब्रह्माड मे ब्रह्म-पुरुष के प्रकाश से प्रकृति प्रकाशमान हो रही है, मैं ब्रह्म को भूलकर प्रकृति को सब-कुछ समझ बैठा हू, वैसे पिंड मे आत्म-पुरुष के प्रकाश से शरीर प्रकाशमान हो रहा है, मैं आत्म-तत्त्व को भूलकर शरीर को सब-कुछ समझ बैठा हू । ब्रह्माड मे जो-कुछ है वही पिंड मे है, जो पिंड में है वही ब्रह्माड में है—इस प्रकार वर्णन करना उपनिषदो की शैली है । इसी शैली के अनुसार यहा ब्रह्माड तथा पिंड दोनो मे 'पुरुष'-शब्द का प्रयोग करके वर्णन किया गया है ।)

प्राण-वायु शरीर में रहता है, वह मृत्यु के समय विश्व के अनिल, अर्थात्, विश्व के प्राण में लीन हो जाता है । यह शरीर नहीं, वह प्राण ही अमर है । शरीर तो जबतक भस्म नहीं हो जाता तभी तक है । हे कर्म करने वाले जीव ! 'क्रतु' (Future action) को—'प्रयत्न'

प्राजापत्य—हे प्रजाओ के पालक अधिष्ठाता, व्यूह—फैला दे, छितरा दे, रश्मीन्—किरणो को, ज्ञान-ज्योति को, समूह—समेट ले, इकट्ठा कर ले, तेजः—तेज, यत्—जो, ते—तेरा, रूपम्—स्वरूप, कल्याणतमम्—अत्यन्त कल्याणकारी, तत्—उसको, ते—तेरा, पश्यामि—देखता हूँ, जानता हूँ, यः—जो, असौ—यह, असौ—यह, पुरुषः—परमात्मा, स—वह, अहम्—मैं, अस्मि—हूँ ॥ १६ ॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥ १७ ॥

वायुः—प्राण, गति करनेवाला जीवात्मा; अनिलम्—वायु, अप्राकृत (प्रकृति का बना नही है), अमृतम्—अमर है, अथ—और, इदम्—यह;

को, जो तूने आगे कर्म करना है उसे स्मरण कर, और 'कृत' (Past action)—जो तू अबतक कर्म कर चुका है, उसे स्मरण कर ॥१७॥

हे अग्ने ! हे देव ! तुम सब प्रकार के कर्मों को जानते हो। तुम हमें उन्नति के लिये ऐसे मार्ग से ले चलो जो सुपथ हो। जो कुटिल पाप-मार्ग है उसे हमसे अन्तरात्मा का युद्ध कराकर पृथक् करो। हम बार-बार तुझे नमस्कार करते हैं (बृहदा० ५-१५) ॥१८॥

(इस उपनिषद् में द्वन्द्वों का समन्वय किया गया है। प्रकृति-पुरुष, भोग-त्याग, कर्म-निष्कर्म, व्यक्ति-समाज, अविद्या-विद्या, भौतिक-अध्यात्म, कर्म-ज्ञान, मृत्यु-जन्म, विनाश-उत्पत्ति, सगुण-निर्गुण ब्रह्म—इनका समन्वय ही यथार्थ-दृष्टि है। मानव-समाज की प्रवृत्ति एकांगी दिखाई देती है। कुछ लोग भोग के पीछे कुछ त्याग के पीछे, कुछ लोग इहलोक कुछ लोग परलोक, कुछ लोग अविद्या कुछ विद्या, कुछ व्यक्तिवाद कुछ समष्टिवाद के पीछे भागते हैं। उपनिषत्कार की दृष्टि समन्वयात्मक है। इसके साथ-साथ इस उपनिषद् में तीन और बातें बड़े महत्त्व की कही गई हैं। पहली महत्त्व की बात यह कही गई है कि इस संसार में हमें कर्म करते हुए जीना है परन्तु कर्म-फल से बंध नहीं जाना। कर्म तो करना ही है, कर्म के बग़ैर रह नहीं सकते, परन्तु

भस्मान्तम्—(मरने के बाद) अन्त में राख हो जाने वाला; **शरीरम्**—शरीर। **ॐ**—ईश्वर को; **क्रतो**—आगामी जीवन में कर्म करने वाले हे जीव; **स्मर**—याद कर; **कृतम्**—किये कर्म को; **स्मर**—याद कर; **क्रतो स्मर कृतम् स्मर**—हे कर्म करने वाले जीव भगवान् को याद कर और अपने कर्म को याद कर ॥ १७ ॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

अग्ने—हे ज्ञानस्वरूप भगवन्; **नय**—ले चल; **सुपथा**—शुभ मार्ग से; **राये**—ऐश्वर्य (अभ्युदय-उन्नति) के लिए; **अस्मान्**—हमको; **विश्वानि**—सारे; **देव**—हे भगवन्; **वयुनानि**—कर्मों को, घनों को; **विद्वान्**—जानने वाले हो; **युयोधि**—पृथक् करो, दूर करो; **अस्मत्**—हम से; **जुहुराणम्**—कुटिलता से भरा; **एनः**—पाप; **भूयिष्ठाम्**—बहुत अधिक, बार-बार; **ते**—तेरी; **नमः उक्तिम्**—नमस्कार वचन को; **विधेम**—करते हैं ॥ १८ ॥]

जीवन का एक ऐसा गुर है जिसको जीवन में उतार लेने से कर्म भी होता रहे और कर्म का लेप भी न हो। वह गुर है संसार के कण-कण में भगवान् के दर्शन करना। दीखने को तो यह भौतिक-जगत् दीखता है, परन्तु इसके कण-कण की ओट में वही छिपा बैठा है, वही इस सबका मालिक है। जब वही मालिक है तब तू कौन और मैं कौन ? मैं उसके घर में बैठकर उसके पदार्थों का मालिक कैसे ? यह सब उसी का है, मेरा नहीं—यह दृष्टि है जिससे जीवन का सारा मार्ग ही बदल जाता है। भारतीय संस्कृति का मूल आधार यही दृष्टि-कोण है, और इसी दृष्टिकोण को नींव में रखकर गीता का निर्माण हुआ है। दूसरी बात जो इस उपनिषद् में कही गई है यह है कि जिस 'भौतिक-विज्ञान' को आजकल के युग में 'विद्या' कहा जाता है, उसे इस उपनिषद् ने 'अविद्या' कहा है। उपनिषद् का कथन है कि 'भौतिक-विज्ञान', अर्थात् 'अविद्या' से केवल 'मृत्यु' को तर सकते हैं, 'अमृत' नहीं प्राप्त कर सकते। विज्ञान द्वारा मृत्यु से बचने के उपाय ही तो निकाले जा सकते हैं, स्वास्थ्य के नियमों अथवा औषधियों का पता लगाया जा सकता है, भूख (अशनाया—भोग) और प्यास (पिपासा—चाह) रूप मृत्यु को (बृहदा० १-२-१) हटाया जा सकता है, अमरता नहीं प्राप्त की जा सकती। 'अमरता' तो 'अध्यात्म-ज्ञान' से ही प्राप्त होती है, और वही वास्तव में 'विद्या' है। याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को उपदेश देते हुए तभी कहा है : 'अमृतस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन'—भौतिक-जगत् से वित्त मिल सकता है, अमृत नहीं मिल सकता। तीसरी महत्त्व की बात यहां यह कही गई है कि 'व्यक्तिवाद' से मनुष्य केवल मृत्यु से बच जाता है, खाना-पीना-पहनना-ओढ़ना मात्र कर लेता है, इससे आगे नहीं बढ़ सकता। अमरता प्राप्त करने के लिए इससे आगे बढ़ना होगा, समष्टि में अपने को मिटाना होगा। समाज को अपने लिये नहीं, परन्तु अपने को समाज के लिये साधन बनाना होगा।)

केनोपनिषद्

प्रथम खण्ड

किसकी प्रेरणा से मन मानो विषय पर टूटा पड़ता है ? किसके द्वारा नियुक्त किया हुआ प्राण जन्मते ही पहले-पहल गति करने लगता है ? किसकी प्रेरणा से इस वाणी को हम बोलते हैं ? चक्षु और श्रोत्र को कौन देव अपने-अपने विषयों में नियुक्त करता है ? ॥१॥

हे जिज्ञासु ! श्रोत्र का वही श्रोत्र है, मन का वही मन है, वाणी की वही वाणी है, प्राण का वही प्राण है, चक्षु का वही चक्षु है। यह जानकर धीर लोग इन्द्रियों के विषयों का संग छोड़ देते हैं, और मृत्यु के अनन्तर इस लोक से अमृत हो जाते हैं ॥२॥

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥१॥

ॐ—ईश्वर (मंगलाचरण के लिए ईश्वर-नाम स्मरण); केन—किससे, इषितम्—अभीष्ट, प्रेरित हुआ; पतति—गिरता है (आकृष्ट होता है); प्रेषितम्—भेजा हुआ, प्रेरित; मनः—मन; केन—किसके द्वारा; प्राणः—प्राण, नासिका; प्रथमः—पहला, मुख्य; प्रैति—भली प्रकार जाता है; युक्तः—नियुक्त किया हुआ, लगाया हुआ; केन—किससे; इषिताम्—अभीष्ट, प्रेरित; वाचम्—वाणी को; इमाम्—इस, इसको; वदन्ति—बोलते हैं; चक्षुः—आँख को; श्रोत्रम्—कर्णेन्द्रिय को; कः—कौन; उ—निश्चय से; देवः—देवता, दिव्य शक्ति; युनक्ति—नियुक्त करता है, कार्य में लगाता है ॥ १ ॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचँ स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥२॥

श्रोत्रस्य—कर्णेन्द्रिय का; श्रोत्रम्—कान; मनसः—मन का; मनः—मन; यद्—जो; वाचः—वाणी का, वाचम्—वाणी; सः—वह, उ—निश्चय ही; प्राणस्य—प्राण का; नासिका का; प्राणः—प्राण है; चक्षुषः—आँख का; चक्षुः—आँख; अतिमुच्य—(विषयों का संग) छोड़कर; धीराः—ज्ञानी पुरुष; प्रेत्य—मर कर, जाकर; अस्माद्—इस, इससे; लोकात्—लोक से; अमृताः—अमर; भवन्ति—होते हैं ॥ २ ॥

वहां आंख नहीं पहुंचती, न वाणी पहुंचती है, न मन पहुंचता है। उसका शिष्यों के प्रति उपदेश कैसे दिया जाय यह भी हम नहीं जानते, नहीं जानते। वह 'विदित' (Known) से भी अन्य है, 'अविदित' (Unknown) से भी अन्य है। 'विदित' वह है जिसे हम जानते हैं—उसे हम नहीं जानते, इसलिए वह विदित से अन्य है। 'अविदित' वह है जिसे हम नहीं जानते—उसे हम बिल्कुल नहीं जानते ऐसा भी नहीं है, इस विशाल संसार से उसका आभास तो नास्तिक-से-नास्तिक को भी हो ही जाता है, इसलिये वह अविदित से भी अन्य है। हमसे पूर्व जिन ऋषियों ने उसकी व्याख्या की है उनसे हम ऐसा ही सुनते चले आये हैं ॥३॥

वाणी जिसे प्रकट नहीं कर सकती, जिससे वाणी प्रकट होती है, उसी को तू 'ब्रह्म' जान, जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह नहीं ॥४॥

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्-
अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥३॥

न—नहीं, तत्र—वहां, चक्षु—आंख, गच्छति—जा पाती है, पहुंच पाती है, न—नहीं, वाग्—वाणी, गच्छति—पहुंच पाती है, नो—नहीं, मनः—मन, न—नहीं, विद्म—जानते हैं, न—नहीं, विजानीम—जानते हैं, विशेषतया जान पाते हैं, यथा—जैसे, जिस प्रकार, एतद्—इसको (का), अनुशिष्यात्—उपदेश किया जाय, बताया जाय, अन्यद्—दूसरा, भिन्न, पृथक्, एव—ही, तद्—वह, विदितात्—जाने हुए से, ज्ञात से, अथ उ—और, अविदितात्—अज्ञात से, अधि—के विषय में, इति—यह, ऐसा, शुश्रुम—सुना है, पूर्वेषाम्—(हम से) पहले होने वाले (ज्ञानियों) से, ये—जिन्होंने, नः—हमें, तद्—वह (उसकी), व्याचचक्षिरे—व्याख्या की थी, बताया था ॥ ३ ॥

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥४॥

यद्—जो, वाचा—वाणी से, अनभ्युदितम्—प्रकट नहीं किया जा सकता, अनिर्वचनीय, येन—जिससे, वाग्—वाणी, अभ्युद्यते—प्रकट की जाती है, भाव-प्रदर्शन में समर्थ होती है, तद्—उसको, एव—ही, ब्रह्म—ब्रह्म, त्वम्—तू, विद्धि—जान, न—नहीं, इदम्—यह, यद्—जो, जिसको, इदम्—यह, इसको (की); (यद् इदम्—जिस इसकी), उपासते—उपासना करते हैं ॥ ४ ॥

जो मन से मनन नहीं करता परन्तु जिसके द्वारा मन मनन करता हैं, उसी को तू 'ब्रह्म' जान, जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह नहीं ॥५॥

जो चक्षु से नहीं देखता, जिसके द्वारा चक्षु देखती है, उसी को तू 'ब्रह्म' जान, जिसको लोग उपासना करते हैं, वह नहीं ॥६॥

जो श्रोत्र से नहीं सुनता, जिसके द्वारा श्रोत्र सुनते हैं, उसी को तू 'ब्रह्म' जान, जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह नहीं ॥७॥

जो प्राण-वायु से सांस नहीं लेता, जिससे प्राण प्राणित हो रहा है, उसी को तू 'ब्रह्म' जान, जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह नहीं ॥८॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥५॥

यत्—जो, जिसको; **मनसा**—मन से; न—नहीं; **मनुते**—मनन करता है; येन—जिससे; आहुः—कहते हैं; **मनः**—मन; **मतम्**—मनन किया हुआ; **तद् एव ब्रह्म त्वं विद्धि न इदम् यद् इदम् उपासते**—उसको ही ब्रह्म तू जान, नहीं यह जिस इसकी (लोग) उपासना करते हैं॥ ५ ॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥६॥

यत्—जो, जिसको; **चक्षुषा**—आँख से, न—नहीं; **पश्यति**—देखता है; **येन**—जिससे; **चक्षूंषि**—आँखों को; **पश्यति**—देखता है; **तद् एव ब्रह्म त्वं विद्धि न इदम् यद् इदम् उपासते**—उसको ही ब्रह्म तू जान, नहीं यह (इसको) जिस इसकी (लोग) उपासना करते हैं॥ ६ ॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥७॥

यत्—जिसको; **श्रोत्रेण**—कान से; न—नहीं; **शृणोति**—सुनता है; **येन**—जिससे; **श्रोत्रम्**—कान; **इदम्**—यह; **श्रुतम्**—सुना जाता है; **तद् एव ब्रह्म त्वं विद्धि न इदम् यद् इदम् उपासते**—उसको ही ब्रह्म तू जान, नहीं इसको जिस इसकी (लोग) उपासना करते हैं॥ ७ ॥

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥८॥

यत्—जिसको; **प्राणेन**—प्राण से (घ्राण इन्द्रिय नासिका से); न—नहीं; **प्राणिति**—साँस लेता है; येन—जिससे; **प्राणः**—प्राण;, **प्रणीयते**—अन्दर लिया

(इस खंड में पांच बार इस वाक्य को दोहराया गया है कि जिसकी लोग उपासना कर रहे है, वह 'ब्रह्म' नही है, वास्तविक 'ब्रह्म' और ही है। हम इस संसार से परे कुछ न देखकर उसी को सब-कुछ समझे बैठे हैं, उसी मे रमे हुए हैं, उसी की उपासना करते हैं। ऋषि बार-बार दोहराते है, इस ससार की ही पूजा न करते रहो—विश्व की जो आधार-भूत संचालक शक्ति है वही ब्रह्म है—ससार में बृहत्ता, महानता उसी के द्वारा है अतः उसकी उपासना करो, इसकी नही, वही ब्रह्म है।)

द्वितीय खण्ड

यदि तू मानता है कि ब्रह्म के स्वरूप को तू जानता है तो तू उसके स्वरूप को बहुत थोड़ा ही जानता है। उस ब्रह्म के स्वरूप को जो तू जानता है, या देवताओं, अर्थात् विद्वानों में उसका जो स्वरूप प्रकट है, वह मीमांस्य ही है—स्पष्ट नहीं है, अनिर्णीत है ॥१॥

मैं नहीं मानता कि मैं उसे ठीक से जानता हूं, न यही कह सकता हूं कि मैं नहीं जानता, क्योंकि कुछ जानता भी हूं। जो हममें से यह

जाता है, तद् एव ब्रह्म त्वं विद्धि न इदम् यद् इदम् उपासते—उसको ही ब्रह्म तू जान, नहीं इसको जिस इसकी (लोग) उपासना करते हैं॥ ८ ॥

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥१॥

यदि—अगर, मन्यसे—मानता है, समझता है, सु—भली प्रकार; वेद—जानता हू, इति—ऐसे, दभ्रम्—तनिक भी, बहुत थोडा, एव—ही; अपि—भी, नूनम्—निश्चय से, त्वम्—तू, वेत्थ—जानता है, ब्रह्मणः—ब्रह्म का, रूपम्—स्वरूप, यद्—जो, अस्य—इसका, त्वम्—तू, यद्—जो; अस्य—इसका, च—और, देवेषु—देवो में, इन्द्रियो मे, विद्वानो मे, अथ—और, नु—निश्चय ही, मीमांस्यम्—विचार करने योग्य, ऊहापोह (तर्क-वितर्क) करने योग्य, अनिर्णीत, एव—ही, ते—तेरे लिए, तुझे, तेरा, वे, मन्ये—समझता हूँ, विदितम्—ज्ञात (जाने हुए) को॥ १॥

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥२॥

न—नही; अहम्—मैं, मन्ये—मानता हूँ; सु—भली प्रकार, वेद—जानता हूँ; इति—ऐसे; नो—नही; न—नही; वेद—जानता हूँ; इति—ऐसे

समझता है कि वह उसे जानता है, वह बस 'उतना-मात्र' अर्थात् बहुत थोड़ा ही जानता है, वह 'तद्वेद' है—अर्थात्, 'उतना-मात्र' जानता है, नहीं भी जानता, और जानता भी है ॥२॥

जो यह मान गया है कि वह उसे नहीं जान सका, उसने उसे जान लिया है, जिसने यह समझ लिया कि वह उसे जान गया है, उसने उसे नहीं जाना। जाननेवालों के लिये वह 'अविज्ञात' (Unknown) है, न जाननेवालों के लिए वह 'विज्ञात' (Known) है। क्योंकि उसके विषय में यही जाना जा सकता है कि उसे जाना ही नहीं जा सकता ॥३॥

'प्रतिबोध' से जब उसका ज्ञान हो तभी उसे जाना जा सकता है। इंद्रियां जब विषयों की तरफ़ जाकर उनका ज्ञान करती हैं तब 'बोध' होता है; विषयों से उल्टी जब अन्दर की तरफ़ लौटती हैं, तब जो ज्ञान होता है, वह 'प्रतिबोध' कहलाता है। इस 'प्रतिबोध' से ही मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त होता है। 'प्रतिबोध' की अवस्था तभी आती है जब मनुष्य वीर्यवान् हो, वीर्यहीन व्यक्ति को 'प्रतिबोध' की अवस्था

प्रकार; वेद—जानता हूँ; च—और; यः—जो, नः—हममें से; तद्—उसको; (यह समझता है कि वह) वेद—जानता है, वह; तद्वेद—तद्वेद है, अर्थात् बस 'तत्-मात्र'—उतना मात्र जानता है; नो—नहीं; न—नहीं; वेद—जानता है; इति—यह, ऐसे; वेद—जानता है; च—और ॥ २ ॥

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥३॥

यस्य—जिसका; अमतम्—नहीं ज्ञात (जाना-समझा हुआ); तस्य—उसका; मतम्—(वस्तुतः) जाना हुआ; मतम्—जाना हुआ; यस्य—जिसका; (मतम् यस्य=जो समझता है कि मैंने जान लिया है); न—नहीं; वेद—जानता है; सः—वह; अविज्ञातम्—न जाना हुआ; विजानताम्—ज्ञानियों का (जानने का अभिमान करने वालों का); विज्ञातम्—जाना हुआ; अविजानताम्—न जानने वालों के लिए (ब्रह्म को अज्ञेय समझने वालों के लिए) ॥ ३ ॥

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥४॥

प्रतिबोधः—अन्तर्मुख इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान; प्रतिबोधविदितम्—अन्तर्मुख इन्द्रियों से जाना हुआ ही; मतम्—ज्ञात, ज्ञान; अमृतत्वम्—अमरता को,

नहीं आती। इन्द्रियो के विषयो में फसने वाला व्यक्ति वीर्य-हीन हो जाता है, और वीर्य-हीन विषयो में अधिकाधिक फसता है। इस चक्र में से निकलने का, वीर्यवान् होने का, 'प्रतिबोध' के मार्ग पर चलने का उपाय तो यही है कि आत्म-शक्ति को जागृत किया जाय। ससार के साथ बधने से वीर्य नहीं प्राप्त होता, आत्मा से वीर्य मिलता है, शक्ति मिलती है। इन्द्रियो की तरफ से मुह मोडकर, उधर पीठ करके आत्मा की तरफ लौट आने से वीर्य—शक्ति—प्राप्त होती है। यही 'प्रतिबोध' की अवस्था है। विषयो की तरफ मुख होना 'बोध' है, आत्मा की तरफ मुख होना 'प्रतिबोध' है। 'बोध' अविद्या है, 'प्रतिबोध' विद्या है, वास्तविक-ज्ञान है—इस विद्या से अमृत प्राप्त होता है ॥४॥

अगर तूने उसे यहा—इस जन्म में—जान लिया तब तो ठीक है, अगर यहा नहीं जाना, तो विनाश-ही-विनाश है—महानाश है। धीर लोग ससार के एक-एक भूत, एक-एक पदार्थ—जड, चेतन—पर चिन्तन करके इसी परिणाम पर पहुचे है कि मूल-तत्त्व यही है। ऐसे धीर लोग मृत्यु के अनन्तर इस लोक से अमृत हो जाते हैं (कठ० ६-४, बृहदा० ४-४-१४) ॥५॥

मोक्ष को, हि—निश्चय से, विन्दते—प्राप्त करता है, आत्मना—आत्मा से, आत्म शक्ति से, विन्दते—प्राप्त करता है, वीर्यम्—शक्ति को, बल को, विद्यया—विद्या से, प्रतिबोध से अन्तर्मुख ज्ञान से, विन्दते—प्राप्त करता है, अमृतम्—अमर-पद मोक्ष को ॥४॥

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा: प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥५॥

इह—यहाँ, इसमें, इस लोक में इस जन्म में, चेत्—अगर अवेदीत्—जान लिया, अथ—तो, सत्यम्—सत्य, उचित ही, अस्ति—है, न—नहीं, चेत्—अगर, इह—इस जन्म में, अवेदीत्—जाना, महती—बडी, विनष्टि—क्षति, विनाश, हानि, भूतेषु-भूतेषु—(जगत के) जड चेतन पदार्थों में, विचित्य—भली प्रकार चिन्तन करके—जान कर, धीरा:—ज्ञानी पुरुष, प्रेत्य—मर कर, अस्मात्—इस, इससे, लोकात्—लोक से, जन्म से, अमृता—अमर, मुक्त, भवन्ति—होते हैं ॥५॥

(प्रथम खण्ड में कहा कि सृष्टि-चक्र स्वयं नहीं चल रहा, इसे चलाने वाली कोई अन्य ही शक्ति है। उस शक्ति को आंख देख नहीं सकती, उससे आंख देखती है, उसकी वाणी नहीं, वाणी सिर्फ़ उसका बखान कर सकती है। इस खण्ड में कहा कि फिर वह शक्ति क्या है, उसे कैसे जान सकते हैं? ऋषियों का कहना है कि उस शक्ति का संसार के हर पदार्थ से आभास ही मिल सकता है, हर किसी को आभास मिल सकता है, संसार की इतनी विशालता ही उसका आभास देने के लिए पर्याप्त है, परन्तु इस आभास से यह समझ लेना कि हमने उसे जान लिया भ्रम है। इस संसार को देखकर हमें उसका जो आभास होता है वह तो सब-किसी को होता है—यह तो 'बोध' है, उसके यथार्थ-स्वरूप को जानने के लिए 'प्रतिबोध' की आवश्यकता है, 'प्रतिबोध'—अर्थात् इंद्रियों के विषयों से मुक्त होकर भीतर को लौट पड़ने की अवस्था, उसी से उसकी अनुभूति होती है।)

तृतीय खण्ड

अग्नि, वायु, इन्द्र आदि देवताओं की संसार में धूम मची हुई है, चारों तरफ़ इनकी विजय का डंका पिट रहा है। (प्रश्न २-३; बृहदा० १-३; ३-१)। वास्तव में देवताओं के लिये यह विजय ब्रह्म ने ही प्राप्त की है। ब्रह्म के कारण देवताओं की विजय है, परन्तु देवता लोग इसे अपनी ही विजय समझकर अपनी महिमा समझने लगे, यह भूल गये कि हमारी महिमा का कारण 'ब्रह्म' है। वे ऐसे देखने लगे जैसे यह हमारी ही विजय है, हमारी ही महिमा है ॥१॥

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त।
त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥१॥

ब्रह्म—ब्रह्म ने; **ह**—निश्चय से; **देवेभ्यः**—देवताओं के लिए; **विजिग्ये**—विजय प्राप्त की; **तस्य**—उस (ब्रह्म) की; **ह**—निश्चय ही; **विजये**—विजय में; **देवाः**—इन्द्र, वरुण आदि देवता; **अमहीयन्त**—अपना बड़प्पन अनुभव करने लगे—अपने को बड़ा समझने लगे; **ते**—उन्होंने; **ऐक्षन्त**—देखा, विचारा; **अस्माकम्**—हमारी; **एव**—ही; **अयम्**—यह; **विजयः**—विजय, जीत (है);

देवताओ की इस बात को 'ब्रह्म' ने जान लिया। वह उनमें से निकल खड़ा हुआ—उसने अपनी शक्ति को उनमें से खींच लिया, और 'यक्ष' के रूप में उनके सामने आकाश में आ खड़ा हुआ। देवताओ को उसे देख समझ न पड़ा कि यह 'यक्ष' कौन है ? ॥२॥

वे अग्नि से कहने लगे, हे जातवेदस् ! इसका पता लगाओ, यह यक्ष कौन है ? अग्नि ने कहा, बहुत अच्छा ॥३॥

अग्नि यक्ष के सम्मुख दौड़कर आ पहुंचा। यक्ष ने पूछा—तू कौन है ? अग्नि ने कहा, 'मैं अग्नि हूं, मैं जातवेदस् हूं' ॥४॥

यक्ष ने पूछा, तुझमें क्या शक्ति है ? अग्नि ने उत्तर दिया,

अस्माकम्—हमारा, एव—ही, अयम्—यह, महिमा—बड़प्पन, महत्त्व (है), इति—इस प्रकार ॥ १ ॥

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ॥२॥

तद्—वह, उस (ब्रह्म) ने, ह—निश्चय ही, एषाम्—इनके (उस अभिमान को), विजज्ञौ—जान लिया, तेभ्य—उनके लिए (उनके सामने), ह—निश्चय से, प्रादुर्बभूव—प्रगट हुआ, तत्—उसको, न—नहीं, व्यजानत—(देवताओं ने) जाना, किम्—क्या, कौन, इदम्—यह यक्षम्—यक्ष, पूजनीय, महिमाशाली, इति—ऐसे ॥ २ ॥

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥३॥

ते—वे (देवता), अग्निम्—अग्नि (देव) को, अब्रुवन्—कहा, बोले, जातवेद—हे जातवेदस् (सब में विद्यमान, सब उत्पन्न पदार्थों को जानने वाले) अग्नि, एतद्—इसको, विजानीहि—जान, किम् एतद् यक्षम्—कौन यह यक्ष है ?, इति—यह, तथा इति—वैसे ही (इस बात को स्वीकार कर) ॥ ३ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा
अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥४॥

तद्—उस (यक्ष की), अभ्यद्रवत्—ओर वेग से गया, तम्—उस (अग्नि) को, अभ्यवदत्—(यक्ष ने) कहा, क—कौन, असि—तू है, इति—यह, अग्नि—अग्नि, वै—निश्चय से, अहम्—मैं, अस्मि—हूं, इति—यह, अब्रवीत्—कहा, जातवेदा—जातवेदस् (नामवाला), वै—निश्चय से, अहम् अस्मि—मैं हूं, इति—यह (भी कहा) ॥ ४ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥५॥

तस्मिन्—उस (जातवेदा अग्नि), त्वयि—तुझ में, किम्—क्या, वीर्यम्—बल, सामर्थ्य है, इति—यह, अपि—भी, इदम्—इस, सर्वम्—

पृथिवी में जो-कुछ है वह सब-कुछ मैं जला सकती हूं, राख कर सकती हूं ॥५॥

यक्ष ने अग्नि के सम्मुख एक तिनका रख दिया। कहा, इसे जलाओ तो! अग्नि अपने सम्पूर्ण बल से लपका किन्तु तिनके को न जला सका। बस, वहीं से वह लौट पड़ा। बोला, मैं नहीं जान सका, यह यक्ष कौन है? ॥६॥

अब देवताओं ने वायु से कहा, हे वायु! इसका पता लगाओ, यह यक्ष कौन है। वायु ने कहा, बहुत अच्छा ॥७॥

वायु यक्ष के सम्मुख दौड़कर आ पहुंचा। यक्ष ने पूछा—तू कौन है? वायु ने कहा, 'मैं वायु हूं, मातरिश्वा हूं!' ॥८॥

सारे को; **दहेयम्**—जला सकता हूँ; **यद् इदम्**—जो यह; **पृथिव्याम्**—पृथ्वी पर (है); **इति**—यह (बात अग्नि ने कही) ॥ ५ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं
स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥६॥

तस्मै—उसके लिए (उसके सामने); **तृणम्**—तिनके को; **निदधौ**—रक्खा; **एतद्**—इसको; **दह**—जला; **इति**—यह (यक्ष ने कहा); (अग्नि) **तद्**—उसके; **उप प्र इयाय**—पास गया; **सर्वजवेन**—पूरे (सारे) वेग (जोर) से; **तत्**—उस (तिनके) को; **न**—नहीं; **शशाक**—समर्थ हुआ; **दग्धुम्**—जलाने के लिए; **सः**—वह (अग्नि); **ततः**—वहां से; **एव**—ही; **निववृते**—लौट आया; **न**—नहीं; **एतद्**—इसको; **अशकम्**—समर्थ हुआ हूँ (सका हूँ); **विज्ञातुम्**—जानने के लिए; **यद्**—जो; **एतद्**—यह; **यक्षम्**—यक्ष (है); **इति**—ऐसे (उसने देवताओं से कहा) ॥ ६ ॥

अथ वायुमब्रुवन्वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥७॥

अथ—इसके बाद, फिर; **वायुम्**—वायु को; **अब्रुवन्**—कहा; **वायो**—हे वायु; **एतत्**—यह, इसको; **विजानीहि**—जान; **किम्**—क्या, कौन; **एतद्**—यह; **यक्षम्**—यक्ष (है); **इति**—यह; **तथा इति**—वैसा ही (करूँगा, यह बात कह कर) ॥ ७ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वा
अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥८॥

तद्—उस (यक्ष की); **अभ्यद्रवत्**—ओर गया; **तम्**—उस (वायु) को; **अभ्यवदत्**—(यक्ष ने) कहा; **कः**—कौन; **असि**—है; **इति**—यह; **वायुः**—वायु; **वै**—निश्चय ही; **अहम्**—मैं; **अस्मि**—हूँ; **इति**—यह (उत्तर वायु ने

यक्ष ने पूछा, तुझ में क्या शक्ति है ? वायु ने उत्तर दिया, पृथिवी में जो-कुछ है, चाहूं तो मैं सब-कुछ समेटकर उड़ा ले जाऊं ! ॥९॥

यक्ष ने वायु के सम्मुख एक तिनका रख दिया। कहा, इसे अपनी जगह से हिलाकर दिखाओ तो ! वायु अपने सम्पूर्ण बल से लपका परन्तु उस तिनके को न हिला सका। बस, वहीं से लौट पड़ा। बोला, मैं नहीं जान सका, यह यक्ष कौन है ? ॥१०॥

अब देवताओं ने इन्द्र से कहा, हे मघवन् ! इसका पता लगाओ, यह यक्ष कौन है ? इन्द्र ने कहा, बहुत अच्छा। इन्द्र यक्ष के सम्मुख दौड़कर पहुंचा, परन्तु यक्ष इन्द्र से तिरोहित हो गया, छिप गया ॥११॥

दिया और कहा कि), मातरिश्वा—मातरिश्वा (आकाश में बढ़ने-गति करने वाला), वै—निश्चय से, अहम् अस्मि—मैं हूँ, इति—यह ॥ ८ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति ॥९॥

तस्मिन्—उस (मातरिश्वा वायु), त्वयि—तुझ में, किम्—क्या, वीर्यम्—बल, सामर्थ्य (है), इति—यह (यक्ष ने पूछा), अपि—भी, इदम्—इस, सर्वम्—सारे को, सब को, आददीय—उड़ा कर ले जा सकता हूँ, यद् इदम्—जो यह, पृथिव्याम्—पृथ्वी पर (है), इति—यह (उत्तर वायु ने दिया) ॥ ९ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न
शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥१०॥

तस्मै—उसके लिए (उसके सामने), तृणम्—तिनके को, निदधौ—रखा, एतद्—इसको, आदत्स्व—उड़ा कर ले जा, इति—यह (यक्ष ने कहा), तद्—उस (के), उप प्र इयाय—पास गया, सर्वजवेन—सारी ताकत से, (जव.=वेग), तत्—उसको, न—नहीं, शशाक—समर्थ हुआ, सका, आदातुम्—उड़ा कर ले जाने के लिए, स—वह (वायु), ततः—वहां से, एव—ही, निववृते—लौट आया, न—नहीं, एतद्—इसको, अशकम्—समर्थ हुआ, सका, विज्ञातुम्—जानने के लिए, यद् एतद् यक्षम्—जो यह यक्ष (है), इति—यह (वायु ने देवताओं से कहा) ॥ १० ॥

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति ।
तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे ॥११॥

अथ—इसके बाद, फिर, इन्द्रम्—इन्द्र को, आत्मा को, अब्रुवन्—कहा, मघवन्—हे इन्द्र, एतद्—इसको, विजानीहि—जान, किम् एतद् यक्षम्—कौन यह यक्ष है ?, इति—यह, तथा इति—वैसा ही (करूंगा, यह बात कह

इन्द्र उस आकाश में 'यक्ष' को ढूंढने लगा। ढूंढते-ढूंढते उसे एक स्त्री दिखाई दी, अत्यन्त शोभायमान, सुवर्णालंकरणों से युक्त, हिम के समान शुभ्र---'उमा' उसका नाम। (उमा दो अक्षरों से बना है---'उ' तथा 'मा'। 'उ' का अर्थ है 'क्या' और 'मा' का अर्थ है 'नहीं'। उमा का अर्थ हुआ 'क्या नहीं'! 'क्या है या नहीं'---यह तर्क का, बुद्धि का काम है, इसलिये उमा का अर्थ है---'बुद्धि'। यक्ष के तिरोहित होने पर इन्द्र अर्थात् 'जीव' की उमा अर्थात् 'बुद्धि' से बातचीत हुई।) **इन्द्र ने उमा से पूछा---यह यक्ष कौन था।।१२।।**

('अग्नि' तथा 'वायु'---ये दोनों इस कथानक में भौतिक-शक्तियों के प्रतिनिधि-तत्त्व हैं। 'अग्नि' दृश्यमान भौतिक-तत्त्व (Perceptible physical element) है, 'वायु' अदृश्यमान भौतिक-तत्त्व (Imperceptible physical element) है। परन्तु दोनों अचेतन हैं, जड़ हैं। 'इन्द्र' का अर्थ है---जीवात्मा, अर्थात् चेतन-तत्त्व (Spiritual element)। 'अचेतन' तथा 'चेतन'-जगत् ब्रह्म की शक्ति के कारण ही महिमाशाली हैं---इस बात को 'अग्नि'-'वायु' तथा 'इन्द्र' ने, जो क्रमश: अचेतन तथा चेतन जगत् के प्रतिनिधि हैं, भुला दिया। अचेतन तो जड़ है इसलिये यक्ष ने एक तिनका सामने रखकर 'अग्नि' तथा 'वायु' के घमण्ड को शिथिल कर दिया, परन्तु चेतन को---जीवात्मा को---'इन्द्र' को यह समझाने के लिये कि उसकी विजय, उसकी महिमा भी ब्रह्म के ही कारण

कर); तद्---उस (यक्ष की), अभ्यद्रवत्---ओर गया; तस्मात्---उस (इन्द्र) से; तिरोदधे---(वह यक्ष) आंखों से ओझल हो गया, छिप गया ।। ११ ।।

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमाना-
मुमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद्यक्षमिति ।।१२।।

सः---वह (इन्द्र); **तस्मिन् एव**---उस ही; **आकाशे**---आकाश में; **स्त्रियम्**---महिला को (के पास); **आजगाम**---आया, पहुँचा; **बहुशोभमानाम्**---बहुत शोभायमान (सुन्दर); **उमाम्**---उमा (नामवाली) को, संशय मिटाने वाली बुद्धि को; **हैमवतीम्**---सुवर्ण भूषणों से युक्त या तुषार-धवला को; **ताम्**---उस (महिला) को; **ह**---निश्चय से; **उवाच**---बोला (पूछा); **किम् एतद् यक्षम्**---यह यक्ष कौन है? **इति**---यह ।। १२ ।।

है यक्ष उसके सामने से स्वयं तो हट गया, परन्तु 'उमा' को, अर्थात् 'बुद्धि' को भेज दिया। हृदय के आकाश में जो यक्ष तिरोहित हो गया था उसका पता उमा ने इन्द्र को, अर्थात् बुद्धि ने जीवात्मा को दिया।

(हम भूमिका में स्पष्ट कर आये हैं कि उपनिषदों का रहस्य समझने के लिए यह समझ लेना होगा कि उनकी दृष्टि में जो 'पिण्ड' में है वही 'ब्रह्माण्ड' में है। इसलिए उनकी वर्णन-शैली



इन्द्र, अग्नि, वायु, यक्ष, उमा

में भी जिस नियम को वे 'पिण्ड' में घटाते हैं उसी को 'ब्रह्माण्ड' में भी घटाकर दिखलाते जाते हैं। इस उपनिषद् के प्रथम खण्ड में 'पिण्ड' को लक्ष्य में रखकर कहा कि आंख, कान, मन आदि पिण्ड के अंग ब्रह्म नहीं हैं, ब्रह्म इनसे भिन्न है; इस खंड में 'ब्रह्माण्ड' को लक्ष्य में रखकर कहा कि ब्रह्माण्ड के अग्नि, वायु, इन्द्र आदि अंग ब्रह्म नहीं हैं, ब्रह्म इनसे भिन्न है। जैसे द्वितीय खण्ड में कहा कि आंख, कान, मन आदि से भिन्न पिंड की आधारभूत शक्ति को 'प्रतिबोध' से जाना जा सकता है, वैसे इस तृतीय खण्ड में कहा कि अग्नि, वायु, इन्द्र आदि से भिन्न ब्रह्माण्ड की आधारभूत शक्ति को 'उमा'—'बुद्धि'—से जाना जा सकता है। 'प्रतिबोध' तथा 'उमा' का एक ही अर्थ है।)

चतुर्थ खण्ड

उमा ने कहा—'यह यक्ष ब्रह्म था। जो विजय है, जो महिमा है, ब्रह्म की है, तुम्हारी नहीं—ऐसा समझो।' तब देवताओं को पता चला कि यह 'यक्ष' तो 'ब्रह्म' था ॥१॥

अग्नि, वायु, इन्द्र अन्य देवताओं की अपेक्षा बढ़े-चढ़े हैं, इसलिये बढ़े-चढ़े हैं क्योंकि इन्होंने मानो छूकर, अत्यन्त समीप से सबसे प्रथम जाना कि यह जो हमारे सामने था ब्रह्म है ॥२॥

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये
महीयध्वमिति ततो हैव विदांचकार ब्रह्मेति ॥१॥

सा—उस (उमा-बुद्धि) ने; **ब्रह्म**—(यह) ब्रह्म (है); **इति ह**—यह बात निश्चयपूर्वक; **उवाच**—कही, बताई; **ब्रह्मणः**—ब्रह्म की; **वै**—ही; **एतद्विजये**—इस विजय में; **महीयध्वम्**—अपना महत्त्व समझो; **ततः**—उसके बाद; **ह एव**—निश्चय ही; **विदाञ्चकार**—(इन्द्र ने) जान लिया; **ब्रह्म इति**—यह 'यक्ष' ब्रह्म है ॥ १ ॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान्यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते
ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति ॥२॥

तस्माद्—उस (समय) से, उस (कारण) से; **वै**—ही; **एते**—ये (अग्नि, वायु, इन्द्र—वाणी, प्राण और आत्मा); **देवाः**—देवता (दिव्य जड़-चेतन शक्तियां); **अतितराम्**—अधिक बढ़कर (हैं); **इव**—मानो; **अन्यान्**—

इन्द्र तो अग्नि तथा वायु की अपेक्षा भी बढ़ा-चढ़ा है क्योंकि उसने ब्रह्म को, मानो छूकर, बहुत निकट से, सबसे प्रथम जाना कि चेतन-जगत् भी ब्रह्म के कारण ही महिमाशाली है ॥३॥

(अग्नि तथा वायु दोनों जड-जगत् के प्रतिनिधि हैं । अग्नि दीखता है अत दृश्य जड-जगत् का प्रतिनिधि है, वायु नहीं दीखता, अत' अदृश्य जड-जगत् का प्रतिनिधि है । इन्द्र जीवात्मा का नाम है, अत वह चेतन-जगत् का प्रतिनिधि है । उपनिषद् के इस उपाख्यान का अभिप्राय यह है कि जड-चेतन की शक्ति ब्रह्म के कारण है । सबसे प्रथम अग्नि तथा वायु को दृश्य तथा अदृश्य शक्तियां हमें ब्रह्म का परिचय कराती हैं । कैसी हैं ये महान् शक्तियां ? अगर अग्नि तथा वायु की शक्ति इनकी अपनी नहीं, किसी दूसरे की है, तो जिससे इन्हें शक्ति मिलती है वह कितना महान् होगा ! अग्नि तथा वायु की महानता ही हमें ब्रह्म की सूचना नहीं देती, इनका द्वन्द्व होना भी ब्रह्म का सूचक है । अग्नि गर्मी को तथा वायु सर्दी को सूचित करती है । अग्नि-वायु, सर्दी-गर्मी, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व किसने उत्पन्न किये ? प्रारम्भ में तो द्वन्द्व नहीं था, सृष्टि के प्रारम्भ में तो एकता-ही-एकता थी । उस एकता से अनेकता उत्पन्न कैसे हुई ? एकता में अनेकता उत्पन्न

दूसरे, देवान्—देवताओं (से), यद्—जो, अग्नि—अग्नि, वायु—वायु, इन्द्र—इन्द्र (हैं), ते—वे, उन्होंने, हि—ही, एनत्—इस (यक्ष) को, नेदिष्ठम्—अत्यधिक समीपता से, पस्पर्शु—स्पर्श किया, छुआ, पास पहुँचे, ते हि एनत्—उन्होंने ही इसको, प्रथम—सबसे पहिले, विदांचकार—जाना, ब्रह्म इति—यह 'यक्ष' ब्रह्म (है) ॥ २ ॥

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठं
पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति ॥३॥

तस्माद् वै—उस कारण से ही, इन्द्र—इन्द्र, जीवात्मा, अतितराम्—बढ़कर (है), इव—मानो, अन्यान्—दूसरे, देवान्—देवताओं (से), स—उसने, हि—ही, एनत्—इस (यक्ष) को, नेदिष्ठम्—अति समीपता से, पस्पर्श—छुआ, पहुँचा, स हि—उसने ही, एनत्—इस (यक्ष) को, प्रथमः—(सबसे) पहले, विदांचकार—जाना, ब्रह्म इति—यह ब्रह्म है ॥ ३ ॥

ही नहीं हो सकती अगर उसे कोई उत्पन्न करने वाला न हो। एकता (Unity) से अनेकता (Diversity) का प्रारम्भ जब हुआ, तब पहले-पहल एक से दो पैदा हुए होंगे, और दो से अनेक, अतः 'द्वन्द्व' (Duality), अर्थात् द्वित्व, उस एक के अत्यन्त निकट है, क्योंकि एक के सबसे नजदीक दो है। इसीलिए उपनिषत्कार का कहना है कि अग्नि तथा वायु का द्वन्द्व, द्वन्द्व अर्थात् द्वित्व होने के कारण ब्रह्म के अत्यन्त निकट था, इसलिए निकट था क्योंकि एकता से द्वन्द्व को ब्रह्म ने ही तो प्रकट किया था। इन्द्र—जीवात्मा—तो ब्रह्म की ही तरह चेतन है, अतः वह सबकी अपेक्षा ब्रह्म के अत्यंत निकट है।)

उस ब्रह्म का आदेश—उसका बखान—तो ऐसे ही है जैसे विद्युत् चमकती है और छिप जाती है, जैसे आंख झपकी मारती है और इसी बीच में कुछ देख जाती है। वह दीखता ऐसे है जैसे विद्युत् की चमक—आई और ओझल हो गई; हम देखते ऐसे हैं जैसे आंख की झपक—खुली और बन्द हो गई। यक्ष भी तो ऐसे ही दीखा। सामने आया, और तिरोहित हो गया, इन्द्र ने देखा और फिर ढूंढने लगा। यह आधिदैविक उपाख्यान हुआ। 'आधिदैविक' का अर्थ है देवताओं के सम्बन्ध में। अग्नि, वायु, इन्द्र—ये देवता हैं—दिव्य गुणों वाली शक्तियां हैं, इन देवताओं को आधार बनाकर ब्रह्म की चर्चा हुई ॥४॥

अब 'अध्यात्म' उपाख्यान कहते हैं—अग्नि, वायु आदि भौतिक-जगत् के सम्बन्ध में नहीं, परन्तु अध्यात्म-जगत् के सम्बन्ध में, अर्थात्

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीन्न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम् ॥४॥

तस्य—उस (ब्रह्म) का; एषः—यह; आदेशः—उपदेश, व्याख्यान, उदाहरण, निर्देश (है); यद् एतद्—जो यह; विद्युतः—बिजली का; व्यद्युतद्—चमकी थी, कौंधी थी; आ ३ इति—सब ओर; इद्—ही; न्यमीमिषद् आ—सब ओर (चमककर) छिप गई थी; इति—यह (वर्णन, उदाहरण); अधिदैवतम्—आधिदैविक, जड़-देवताओं से सम्बन्ध रखने वाला, जड़-देवता सम्बन्धी है ॥ ४ ॥

अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं संकल्पः ॥५॥

अथ—अब, इसके आगे; अध्यात्मम्—आध्यात्मिक, चेतन-देवता सम्बन्धी (उदाहरण-निर्देश देते हैं); यद् एतद्—जो यह; गच्छति—जाता है; इव—

इस मनुष्य-शरीर के सम्बन्ध में उपाख्यान कहते हैं। ऐसा जो प्रतीत होता है कि मन जाता है, और दूर-दूर चला जाता है, हर क्षण या तो बीते हुए को 'स्मरण' करता है, या आगे के लिये नवीन 'संकल्प' करता है—इसका कारण भी ब्रह्म ही है ॥५॥

(उपनिषदों में 'आधिदैविक' का अर्थ 'सृष्टि', अर्थात् 'ब्रह्माण्ड' (Macrocosm) तथा 'अध्यात्म' का अर्थ 'पुरुष-शरीर', अर्थात् 'पिंड' (Microcosm) से है। आधिदैविक और अध्यात्म, ब्रह्माण्ड तथा पिंड—इन दोनों में एक ही नियम काम कर रहे हैं—इस बात को उपनिषदों में जगह-जगह कहा है। 'अध्यात्म'-शब्द का अर्थ उपनिषदों में आत्मा-सम्बन्धी नहीं, परन्तु आत्मा जिस शरीर में अधिष्ठित—'अधि+आत्म'—है, उस शरीर से—पिंड से—है। आधिदैविक (ब्रह्माण्ड) का वर्णन करते-करते अध्यात्म (पिंड) का, और अध्यात्म (पिंड) का वर्णन करते-करते आधिदैविक (ब्रह्माण्ड) का वर्णन करना उपनिषदों की अपनी ही शैली है।)

वह 'ब्रह्म' 'वन' है—वन अर्थात् भक्ति के योग्य। उसको 'वन'-नाम से या 'वन' में—एकांत जंगल में—उपासना करनी चाहिये। वह जो इस रूप में ब्रह्म को जानता है, उसे चाहता है, उसकी भक्ति करता है, सब उसे चाहने लगते हैं, उसके भक्त हो जाते हैं ॥६॥

मानो, तरह, मनः—मन, अनेन—इस (मन) से, च—और, एतद्—यह, उपस्मरति—स्मरण करता है, अभीक्ष्णम्—बार-बार, लगातार, संकल्पः—संकल्प करने वाला होता है ॥ ५ ॥

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं
वेदाऽभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥६॥

तद् ह—वह ही, तद्—वह, वनम्—पूजनीय, भक्ति के योग्य, नाम—नामवाला (है), तद्वनम् इति—वह भक्ति योग्य है, या वन अर्थात् जंगल के एकान्त में ज्ञातव्य है, अत; उपासितव्यम्—(उसकी) उपासना करनी चाहिये, सः यः एतद् एवम् वेद—वह जो इसको इस प्रकार जानता है; ह—निश्चय ही; एनम्—इस (उपासक) को; सर्वाणि भूतानि—सब प्राणी; अभि संवाञ्छन्ति—चाहने लगते हैं, उसकी ओर आकृष्ट होते हैं ॥ ६ ॥

शिष्य ने कहा, 'महाराज ! उपनिषद् का उपदेश दीजिये'। गुरु कहते हैं, 'तुझे हमने उपनिषद् का उपदेश कर दिया। हमने तुझे ब्रह्म-सम्बन्धी उपनिषद् का उपदेश दे दिया' ॥७॥

इस प्रकार जो ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करता है उसकी 'प्रतिष्ठा'—बुनियाद—तीन बातों पर होती है—'तप', 'दम' तथा 'कर्म'। मनुष्य में जो शक्ति है उसमें कुछ संभालकर रख ली जाती है, अपने नियन्त्रण में ले ली जाती है, काम में नहीं लायी जाती, कुछ काम में लायी जाती है। जो नियन्त्रण में ले ली जाती है, अर्थात् काम में नहीं लायी जाती है, वह या तो शारीरिक है, या मानसिक। शारीरिक नियन्त्रण (Physical Control) को 'तप' कहते हैं, मानसिक नियन्त्रण (Mental Control) को 'दम' कहते हैं। जो शक्ति काम में लायी जाती है उसे 'कर्म' कहते हैं। ब्रह्म-ज्ञान की प्रतिष्ठा, आधार-स्तम्भ, उसकी नींव ये तीन—तप-दम-कर्म—हैं। बातें ही बनाने का नाम 'ब्रह्म-ज्ञान' नहीं, कर्म उसका आवश्यक अंग है। जिस चीज़ की 'प्रतिष्ठा'—नींव—होती है, आधार (Foundation) होता है, उस पर 'आयतन'—इमारत (Structure) भी खड़ी होती है। वह आयतन है 'वेद', वेदों के सब 'अंग', और इन दोनों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होने वाला 'सत्य' ! 'तप', 'दम' और 'कर्म' की नींव से जो इमारत उठेगी उसका भव्य रूप होगा वेद अर्थात् 'ज्ञान' अर्थात् फ़िलासफ़ी, वेदांग अर्थात् 'विज्ञान' अर्थात् सायन्स—और इन दोनों के सम्मिश्रण से उत्पन्न 'सत्य' ॥८॥

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥७॥

उपनिषदम्—उपनिषद् (ब्रह्मज्ञान) को; भोः—हे; ब्रूहि—कह, व्याख्या कर, इति—इस प्रकार; उक्ता—कह दी; ते—तुझे, उपनिषद्—उपनिषद्; ब्राह्मीम्—ब्रह्म-सम्बन्धिनी; वाव—निश्चय से; ते—तुझे; उपनिषदम्—उपनिषद् (ब्रह्मज्ञान) को; अब्रूम—कह दिया, व्याख्या कर दी; इति—यह ॥ ७ ॥

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥८॥

तस्यै—उस (ब्रह्म विद्या) के लिए; तपः—शारीरिक नियंत्रण, पाँचों शौच आदि नियम; दमः—मन का निग्रह, पाँचों अहिंसा आदि यम; कर्म—कर्मरत रहना; प्रतिष्ठा—आधार, नींव, स्थिर रखने वाले; वेदाः—चारों वेद—ज्ञान,

जो 'ब्रह्म-विद्या' को इस रूप में जानता है वह पाप का अपहरण करके अनन्त उत्तम स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है, अवश्य प्रतिष्ठित होता है ॥९॥

(हमारे जीवन की नींव में 'तप', 'दम' और 'कर्म' हो, इस नींव पर जो इमारत खडी हो वह 'ज्ञान' तथा 'विज्ञान' के सम्मिश्रण से उत्पन्न होने वाले 'सत्य' की हो—यह 'ब्रह्म-विद्या' का यथार्थ-रूप है। 'ज्ञान' के लिए वर्तमान युग की परिभाषा में 'फिलासफी'-शब्द का प्रयोग किया जाय, 'विज्ञान' के लिए वर्तमान युग की परिभाषा मे 'सायन्स'-शब्द का प्रयोग किया जाय, और आज जैसे इनमें विरोध दीखता है, उस विरोध का परिहार कर यदि उनमें समन्वय कर दिया जाय, तो उसी को 'सत्य' कहेंगे। इस प्रकार का, ज्ञान तथा विज्ञान का, 'सत्य' में समन्वय ही ब्रह्म-विद्या का यथार्थ रूप हैं। पिछले तीन खंडो मे जिस ब्रह्म का बखान किया इस चतुर्थ खड मे उस ब्रह्म को सिर्फ बातें बनाने तक सीमित न रखकर 'कर्म' में—जीवन में—ला उतारने, उसे नींव बनाकर जीवन की सत्यमय इमारत को उस पर खडा करने का निर्देश दे दिया।)

फिलासफी; सर्वाङ्गानि—वेद के 'शिक्षा' आदि छै अग, सायन्स; सत्यम्—सत्य, अस्तित्व, स्वस्थता; आयतनम्—स्वरूप, शरीर, इमारत ॥ ८ ॥

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानम(न)न्ते
स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥९॥

यः—जो (उपासक); वै—निश्चय से, एताम्—इस ब्रह्म-विद्या को; एवम्—इस प्रकार; वेद—जानता है, अपहत्य—दूर हटा कर; पाप्मानम्—पाप को; अन्ते—अन्त मे (यहाँ 'अनन्ते' यह पाठ भेद है तब 'अनन्ते' यह 'लोके' का विशेषण होगा तब अर्थ होगा–अनन्ते=अन्तहीन, नाश रहित); स्वर्गे—आनन्दमय; लोके—लोक मे, स्थिति मे, स्वर्गे लोके—आनन्दमय अवस्था मे, मोक्ष मे; ज्येये—सर्वश्रेष्ठ; प्रतितिष्ठति—स्थिति को प्राप्त करता है, प्रतितिष्ठति—(अवश्य ही) प्रतिष्ठित होता है ॥ ९ ॥

कठोपनिषद्

प्रथमा वल्ली

(नचिकेता तथा मृत्यु का उपाख्यान)

वाजश्रवस नामक ऋषि को मुक्ति की कामना हुई। उन्होंने अपना सम्पूर्ण धन-धान्य दान कर दिया। उनका नचिकेता नामक पुत्र था ॥१॥

वह बालक ही था परन्तु दक्षिणा में जिस प्रकार की गौएं ले जाई जा रही थीं उन्हें देखकर उसके हृदय में श्रद्धा ने प्रवेश किया और उसने विचारा—॥२॥

ये गौएं किसी समय भरपेट जल पीती थीं, परन्तु अब स्वयं पानी तक नहीं पी सकतीं; कभी भरपेट घास खाती थीं, परन्तु अब घास तक नहीं चर सकतीं; जो अपना पूरा दूध दे चुकी हैं, जिनमें अब दूध

ॐ। उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥१॥

ओम्—सर्वरक्षक, आदि गुरु ब्रह्म का नाम स्मरण (ध्यान) करके; उशन्—(मुक्ति की) कामना करता हुआ; ह वै—निश्चय से; वाजश्रवसः—वाजश्रवस ने; सर्ववेदसम्—सर्व धन-धान्य; ददौ—दान कर दिया। तस्य—उसका; ह—निश्चय से; नचिकेताः—नचिकेता; नाम—नाम वाला; पुत्रः—पुत्र; आस—था ॥ १ ॥

तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥२॥

तम् ह—उसको; कुमारम्—कुमार, बालक; सन्तम्—होते हुए; दक्षिणासु—दक्षिणाओं में; नीयमानासु—ले जायी जाती हुई (गौओं को देखकर); श्रद्धा—सत्य विचार, श्रद्धा; आविवेश—प्रवेश किया, आया; सः—उसने; अमन्यत—विचारा ॥ २ ॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददद् ॥३॥

पीतोदकाः—जो पानी पी चुकी हैं (अब पानी पीने में असमर्थ हैं); जग्धतृणाः—जो तिनके (घास) खा चुकी हैं; दुग्धदोहाः—जिनका दूध दुहा जा चुका है (अब आगे दूध नहीं देंगी); निरिन्द्रियाः—शिथिल इन्द्रियों वाली (ऐसी

ही नहीं; जिनकी इन्द्रियां शिथिल हो चुकी हैं—ऐसी गौओं का दान देने वाला आनन्दरहित लोकों में जाता है ॥३॥

पिता को सब-कुछ दान में देते देखकर उसने अपने पिता से कहा, तात ! मुझे किसे दोगे ? पिता चुप रहा। फिर उसने दूसरी बार पूछा, तीसरी बार पूछा। पिता ने उत्तर दिया—तुझे 'मृत्यु' को दूंगा ॥४॥

नचिकेता सोचने लगा—"मैं अपने साथियों में से बहुतों में प्रथम रहता हूं, बहुतों में मध्यम रहता हूं, बिल्कुल निकम्मा तो हूं नहीं। 'यम' को—'मृत्यु' को—मुझसे आज क्या करना है ?" ॥५॥

मरने से जो भय उत्पन्न हुआ उसका वह स्वयं समाधान करता है—"जो तुझसे पहले हो चुके हैं उन्हें देख, जो तेरे पीछे होंगे उन्हें देख। यह 'मर्त्य'—मरने वाला मनुष्य—अन्न की तरह पैदा होता है, पकता है, नष्ट हो जाता है, और फिर उत्पन्न हो जाता है" ॥६॥

बूढ़ी गायों को), अनन्दा—आनन्द से शून्य, नाम—नाम वाले, ते—वे, लोका—लोक हैं, तान्—उन (लोकों) को, सः—वह, गच्छति—जाता है, प्राप्त होता है, ताः—उन (ऐसी गौओं को), ददत्—दान करने वाला ॥ ३ ॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति।
द्वितीयं तृतीयं तँ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥४॥

सः ह—उसने, उवाच—कहा, पितरम्—(अपने) पिता को, तत—हे तात पिताजी, कस्मै—किसको, माम्—मुझको, दास्यसि—दान करोगे, इति—ऐसे, द्वितीयम्—दोबारा, तृतीयम्—तीसरी बार तम्—उस (पिता) को, ह—निश्चयपूर्वक, उवाच—कहा, मृत्यवे—मृत्यु को, यम को, त्वा—तुझको, ददामि—देता हूं (दूंगा), इति—यह (पिता ने उत्तर दिया) ॥ ४ ॥

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किँ स्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥५॥

बहूनाम्—बहुतों (साथियों) में, एमि—जाता हूँ, प्रथमः—पहला, अग्रणी, बहूनाम्—बहुतों में, एमि—हूँ, मध्यमः—बीच की कोटि का, किस्विद्—क्या, यमस्य—यम (मृत्यु) का, कर्तव्यम्—करने योग्य कार्य है; यद्—जिस (काम) को, मया—मुझ से, मेरे द्वारा, अद्य—आज, करिष्यति—करेगा ॥ ५ ॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥६॥

अनुपश्य—विचार कर देख; यथा—जैसे; पूर्वे—पहले (उत्पन्न);



नचिकेता पिता से पूछता है, मुझे किसे दोगे ?

नचिकेता वैश्वानर—अग्नि—की भांति देदीप्यमान था, ब्राह्मण था। वह अतिथि के रूप में यमाचार्य के घरों में प्रवेश करता है।

प्रतिपश्य—देख; तथा—वैसे ही; अपरे—दूसरे (बाद में उत्पन्न); सस्यम् इव—अन्न की तरह; मर्त्यः—मरणशील मनुष्य; पच्यते—पकता है (नष्ट हो जाता है); सस्यम् इव—अन्न की तरह ही; आ जायते—पैदा हो जाता है; पुनः—फिर, दोबारा ॥ ६ ॥

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैता ँ् शान्ति कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥

वैश्वानरः—अग्नि (के समान देदीप्यमान); प्रविशति—प्रवेश करता है;

उन घरों में वैवस्वत—यमाचार्य के पुत्र आदि—जल आदि लाते हैं, पूछताछ करते हैं और उसे शान्त करते हैं ॥७॥

जिस छोटी बुद्धि वाले मनुष्य के घर में ब्राह्मण बिना भोजन के रहता है वह उसका सब-कुछ हर लेता है। जो बातें निश्चित हैं उनके पाने की मनुष्य को 'आशा' होती है, जो अनिश्चित हैं उनकी 'प्रतीक्षा' होती है। ऐसे व्यक्ति के आशा-प्रतीक्षा दोनों फल नष्ट हो जाते हैं। साधु पुरुषों की संगति और मीठी वाणी का फल भी नष्ट हो जाता है। 'इष्ट' अर्थात् जो यज्ञादि उसने किये हैं, और 'आपूर्त' अर्थात् जो कुएं, बावली, धर्मशाला आदि उसने बनवाए हैं इन सबका फल हरा जाता है। पुत्र और पशु—जो-कुछ उसका है सब बेकार जाता है ॥८॥

यमाचार्य जब आये तो उन्होंने कहा—"हे नमस्कार के योग्य ब्राह्मण, हे अतिथि, तीन रात तक बिना भोजन के तूने मेरे घर में वास

अतिथिः—अतिथि, ब्राह्मणः—ब्राह्मण, गृहान्—घरों को, तस्य—उसकी, एताम्—इस, शान्तिम्—शान्ति को, कुर्वन्ति—करते हैं, हर—ला, वैवस्वत—हे विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र यम, उदकम्—जल ॥ ७ ॥

आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान् ।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥८॥

आशा-प्रतीक्षे—आशा (निश्चित प्राप्य कामनाओं) और प्रतीक्षा (अनिश्चित अभीष्ट कामनाओं) को, संगतम्—मेल मिलाप को, सूनृताम्—मधुर प्रिय वाणी को, च—और, इष्ट+आपूर्ते—इष्ट (किये हुए यज्ञ) और आपूर्त (कूप, धर्मशाला निर्माण आदि धर्मार्थ कार्यों) को, पुत्र-पशून्—पुत्र (सन्तान) और पशु (गौ आदि) को, च—और, सर्वान्—सब ही को, एतद्—यह, वृङ्क्ते—खो देता है, से वंचित कर देता है, पुरुषस्य—मनुष्य के, अल्पमेधसः—थोड़ी बुद्धि वाले के, यस्य—जिसके, अनश्नन्—न भोजन पाता हुआ, वसति—रहता है, ब्राह्मणः—ब्राह्मण, गृहे—घर में ॥ ८ ॥

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥९॥

तिस्र—तीन, रात्रीः—रातें, यद्—जो, अवात्सीः—तू रहा, गृहे—घर में, मे—मेरे, अनश्नन्—न भोजन करते हुए, ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; अतिथिः—अतिथि, नमस्यः—नमस्कार के योग्य, नमः—नमस्कार, ते—तुझे; अस्तु—हो, ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण, स्वस्ति—कल्याण, मे—मेरा, अस्तु—होवे; तस्मात्—उस कारण से; प्रति—बदले में, त्रीन्—तीन; वरान्—वरों को; वृणीष्व—चुन ले, मांग ले ॥ ९ ॥

किया है, तुझे मेरा नमस्कार हो। तुम्हारी पूछ-ताछ की गई थी पर फिर भी तुमने स्वयं मेरी प्रतीक्षा में भोजन नहीं किया। तो भी मैं पाप का भागी न होऊं इसलिये भोजन न करने के बदले मुझसे तीन वर मांग लो" ॥९॥

('नचिकेता' का अर्थ है, 'न जानने वाला'—'जिज्ञासु'। 'यम' का अर्थ है—'मृत्यु'। आचार्य को आलंकारिक रूप में 'मृत्यु' तथा जिज्ञासु को 'नचिकेता' कल्पित करके यह संवाद चल रहा है। 'मृत्यु' प्राचीन काल के किसी आचार्य का, गुरु का नाम नहीं है,



यमाचार्य कह रहे हैं, हे नचिकेता, मुझसे तीन वर मांग लो

मृत्यु इस संवाद का एक पात्र है। वैदिक-साहित्य में आचार्य को प्रायः मृत्यु का नाम दिया गया है—ऋग्वेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त में कहा है—'आचार्यो मृत्युः'। आचार्य के सम्मुख अपनेपन को मिटा देना होता है, इसलिए आचार्य मृत्यु है। आचार्य मृत्यु ही नहीं, मृत्यु के साथ जैसे जन्म जुड़ा रहता है, वैसे आचार्य शिष्य के अपनेपन को मारकर उसे दूसरा जन्म देता है, इसलिये वैदिक-साहित्य में लिखा है कि आचार्य शिष्य को तीन दिन और तीन रात गर्भ में धारण करके उसे नया जन्म देता है—'तिस्रो रात्रीः गर्भे बिभर्ति'। नचिकेता भी तीन दिन-रात बिना खाये-पिये मृत्यु के यहां रहा, ऐसे ही रहा जैसे ब्रह्मचारी आचार्य के गर्भ में रहता है, अपने पिछले रूप को मारकर, और नये जन्म की तय्यारी में।)

नचिकेता का पहला वर—पिता शान्त हो

नचिकेता ने पहला वर मांगा—"हे! मृत्यो! मेरा पिता गौतम शान्त-संकल्प हो, प्रसन्न-मन हो, क्रोध-रहित हो, और जब मैं आपके पास से अपने पिता के पास लौटूं तो मुझ से प्रसन्न होकर बोले। तीनों वरों में से पहला वर तो मैं यह मांगता हूं" ॥१०॥

यमाचार्य ने वर देते हुए कहा—"तेरा पिता—उद्दालक या अरुण का पुत्र गौतम—मृत्यु के मुख से तुझे छुटा हुआ देखकर जैसे पहले

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे॥ १०॥

शान्तसंकल्पः—शान्तिमय विचारवाला (चिन्ताशून्य), सुमना—प्रसन्न मन वाला; यथा—जैसे, स्यात्—होवे, वीतमन्युः—क्रोधरहित, गौतमः—गौतम गोत्री (मेरा पिता), मा—मुझको, अभि—ओर, (मा+अभि=मेरे प्रति); मृत्यो—हे मृत्यु, त्वत्प्रसृष्टम्—तुझसे छोड़े हुए, तेरी अनुमति से लौटे हुए, मा—मुझको, अभिवदेत्—बोले, बात करे, प्रतीत—विश्वस्त, संशयशून्य होकर, एतत्—यह; त्रयाणाम्—तीनों मे से, प्रथमम्—पहले, वरम्—वर को, वृणे—चुनता हूं, मांगता हूं ॥ १० ॥

यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।
सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥

यथा—जैसे; पुरस्तात्—पहले; (यथा पुरस्तात्—पहले की तरह ही);

तुझ से प्रसन्न था वैसा ही प्रसन्न होगा। तुझे मृत्यु के मुख से छुटा हुआ देखकर क्रोधरहित होकर सुख की नींद सोयेगा" ॥११॥

नचिकेता का दूसरा वर—स्वर्ग-साधक अग्नि क्या है ?

अब नचिकेता दूसरा वर मांगता है—"स्वर्ग-लोक में किसी प्रकार का भय नहीं है, न वहां तू है, न जरावस्था—इन दो ही से तो मनुष्य डरता है, वहां मृत्यु से भी भय नहीं, वृद्धावस्था से भी भय नहीं। स्वर्ग-लोक में भूख-प्यास इन दोनों प्रवाहों को तर लेते हैं, द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाते हैं, शोक पीछे रह जाता है, आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है" ॥१२॥

"हे यमाचार्य ! आप उस स्वर्ग प्राप्त कराने वाली 'अग्नि' को जानते हैं। हे मृत्यो ! मैं श्रद्धा-पूर्वक पूछता हूं, आप मुझे उसका उपदेश दें। जो स्वर्गलोक में जाते हैं उन्हें अमृतत्व—अमरता—प्राप्त होती है इसलिये 'स्वर्ग-साधक अग्नि' का आप उपदेश दीजिए। द्वितीय वर से मैं यही मांगता हूं" ॥१३॥

भविता—होवेगा; **प्रतीतः**—विश्वासी, **औद्दालकिः**—उद्दालक का पुत्र; **आरुणिः**—अरुण का पुत्र; **मत्प्रसृष्टः**—मुझ से अनुमतिपूर्वक भेजा हुआ; **सुखम्**—सुखपूर्वक, निश्चिन्त; **रात्रीः**—रात्रियों में; **शयिता**—सोयगा; **वीतमन्युः**—क्रोधरहित; **त्वाम्**—तुझको; **ददृशिवान्**—देखने वाला; **मृत्युमुखात्**—मौत के मुख से; **प्रमुक्तम्**—छूटे हुए ॥ ११ ॥

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

स्वर्गे—स्वर्ग; **लोके**—लोक में; **न**—नहीं; **भयम्**—भय; **किंचन**—कुछ भी, तनिक भी; **अस्ति**—है; **न**—नहीं; **तत्र**—वहां, उसमें; **त्वम्**—तू (मृत्यु); **न**—नहीं; **जरया**—बुढ़ापे से; **बिभेति**—डरता है; **उभे**—दोनों; **तीर्त्वा**—पार कर के; **अशनाया-पिपासे**—भूख और प्यास को; **शोकातिगः** (शोक+अतिगः)—शोक से मुक्त; **मोदते**—आनन्द मनाता है; **स्वर्गलोके**—स्वर्ग-लोक में ॥ १२ ॥

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वं श्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

सः—वह; **त्वम्**—तू; **अग्निम्**—अग्नि को; **स्वर्ग्यम्**—स्वर्ग देने वाली; **अध्येषि**—जानते हो; **मृत्यो**—हे मृत्युः; **प्रब्रूहि**—प्रवचन कर, उपदेश दे,

यमाचार्य बोले—"हे नचिकेतः ! मैं उस 'स्वर्ग-साधक अग्नि' को जानता हूं। मैं कहूंगा, तू समझ। उसके द्वारा अनन्त-लोकों की प्राप्ति होती है, उन लोकों की वह आधार है। परन्तु हां, यह समझ ले कि वह 'अग्नि' गुहा में निहित है—उसका जानना-समझना एक रहस्य को समझने के समान है" ॥१४॥

यमाचार्य ने नचिकेता को लोक की, अर्थात् स्वर्गलोक की साधक उस 'आदि-अग्नि' का उपदेश दिया। उस अग्नि के लिये जो-जो ईंटें चाहियें, जितनी चाहियें, जिस प्रकार की चाहियें—सब कहा। नचिकेता ने भी आचार्य ने जो-कुछ कहा था वह ठीक-ठीक वैसे ही सुना दिया। नचिकेता की इस कुशाग्र-बुद्धि को देखकर आचार्य बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्होंने कहा—॥१५॥

ज्ञान करा; त्वम्—तू, श्रद्दधानाय—श्रद्धा से युक्त, मह्यम्—मुझ को, स्वर्गलोकाः—स्वर्गलोक में रहने वाले (पहुँचे हुए), अमृतत्वम्—अमरपद मोक्ष को, भजन्ते—सेवन करते हैं, प्राप्त करते हैं, एतद्—यह, द्वितीयेन—दूसरे, वृणे—मांगता हूँ, वरेण—वर से ॥ १३ ॥

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥ १४ ॥

ते—तुझे, प्र ब्रवीमि—उपदेश करता हूँ, तद् उ—उस (उपदेश) को, मे—मेरे, निबोध—भली प्रकार समझ, स्वर्ग्यम्—स्वर्ग देने वाली, अग्निम्—अग्नि को, नचिकेतः—हे नचिकेता, प्रजानन्—जानता हुआ, जानने वाला, अनन्तलोक+आप्तिम्—अनन्त लोकों को प्राप्त कराने वाली, अथो (अथ+उ)—और, प्रतिष्ठाम्—(लोकों की) आधारभूत, विद्धि—जान, त्वम्—तू, एतम्—इसको, निहितम्—रखी हुई है, गुहायाम्—गुप्त स्थान में, गुफा में, हृदय-प्रदेश में ॥ १४ ॥

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥ १५ ॥

लोकादिम्—लोकों में प्रमुख, स्वर्ग-लोक की साधक 'आदि-अग्नि', अग्निम्—अग्नि को; तम्—उसको, उवाच—उपदेश दिया, तस्मै—उस (नचिकेता) को; याः—जो; इष्टकाः—ईंटें, यावतीः—जितनी, वा—या, यथा—जैसी; वा—या, सः—उस (नचिकेता) ने, च—और, अपि—भी, तत्—उस; यथोक्तम् (यथा+उक्तम्)—जैसे कहा गया (उपदेश के अनुसार); प्रत्यवदत्—

महात्मा यम अत्यन्त प्रसन्न होकर नचिकेता को कहने लगे—"आज तुझे एक और वर देता हूं। यह 'अग्नि' तेरे ही नाम से प्रसिद्ध होगी। ले, अनेक रंगों वाली इस माला को ग्रहण कर।" यह कहकर आचार्य ने स्वर्ग-साधक अग्नि का नाम 'नाचिकेत-अग्नि' रख दिया और उसे एक माला दी ॥१६॥

जो 'त्रि-नाचिकेत' होगा, अर्थात् 'नाचिकेत-अग्नि' की ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ—इन तीन आश्रमों में उपासना करेगा, वह तीनों सन्धियों में से गुजर कर, तीनों कर्मों को करके, जन्म और मृत्यु को तर जायगा। ये तीन 'सन्धि' तथा तीन 'कर्म' क्या हैं? जब ब्रह्मचारी गृहस्थ में प्रवेश करता है तो इन दोनों आश्रमों के बीच की सन्धि में से गुजर जाता है; जब गृहस्थी वानप्रस्थ में प्रवेश करता है

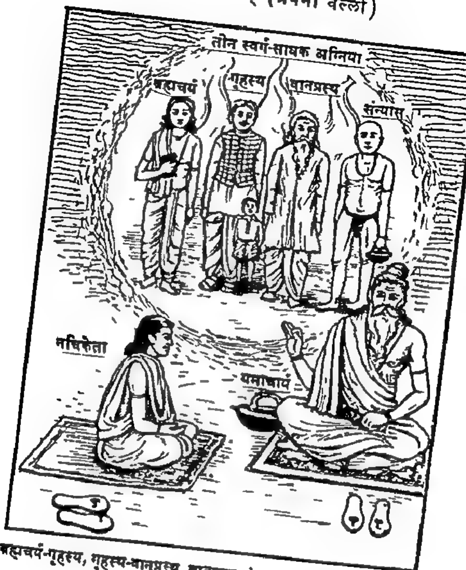
कह दिया, सुना दिया; अथ—इसके बाद; अस्य—इसका (को); मृत्युः—यम आचार्य ने; पुनः एव—फिर; आह—कहा; तुष्टः—प्रसन्न हुए-हुए ॥ १५ ॥

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥ १६ ॥

तम्—उस (नचिकेता) को; अब्रवीत्—कहा; प्रीयमाणः—प्रसन्न हुए; महात्मा—महात्मा (यम) ने; वरम्—वर को; त व—तेरा, तुझे; इह—यहाँ; अद्य—आज; ददामि—देता हूँ; भूयः—फिर, अधिक; तव एव—तेरे ही; नाम्ना—नाम से; भविता—होगी; अयम्—यह, अग्निः—अग्नि; सृङ्काम्—माला, जंजीर को; च—और, इमाम्—इस; अनेकरूपाम्—अनेक रूप (वर्ण) वाली; गृहाण—ले, स्वीकार कर ॥ १६ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मज(य)ज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेतः—तीन नाचिकेत (अग्नियों) को धारण करने वाला; त्रिभिः—तीन (अग्नियों) से; एत्य—पहुँच कर, प्राप्त कर; सन्धिम्—सन्धि (मिलना) स्थान को; त्रिकर्मकृत्—तीन कर्मों को करने वाला; तरति—पार कर लेता है; जन्ममृत्यू—जन्म और मरण को; ब्रह्मजज्ञम् अथवा ब्रह्मयज्ञम् (ब्रह्म+ज+ज्ञम्)—ब्रह्म से उत्पन्न ज्ञान (वेद) को जानने वाले या ब्रह्मयज्ञ को; देवम्—देव को; ईड्यम्—स्तुति के योग्य; विदित्वा—जानकर; निचाय्य—पूर्ण निश्चय कर; इमाम्—इस; शान्तिम्—शान्ति को; अत्यन्तम्—बहुत अधिक, अनन्त; एति—प्राप्त करता है ॥ १७ ॥



ब्रह्मचर्य-गृहस्थ, गृहस्थ-वानप्रस्थ, वानप्रस्थ-संन्यास—इन तीन सन्धियों से तीन स्वर्ग साधक अग्नियां उत्पन्न हो रही हैं

तब गृहस्थ तथा वानप्रस्थ की सन्धि में से गुजरता है; जब वानप्रस्थ से संन्यास में प्रवेश करता है तब वानप्रस्थ तथा संन्यास की सन्धि में से गुजरता है। इन तीन सन्धियों में से गुजरना, इन्हें पार कर जाना ही तीन कर्म है। जो इन तीन सन्धियों में से नहीं गुजरता वह किसी-न-किसी एक आश्रम में अटक जाता है। इस प्रकार प्रत्येक सन्धि में से गुजरने से एक-एक 'स्वर्ग-साधक-अग्नि' उत्पन्न होती है। अग्नि उत्पन्न ही सन्धि से—दो वस्तुओं के मेल से—होती है। एक-एक

सन्धि के बाद एक-एक 'नाचिकेत-अग्नि' प्रकट होती है जो मनुष्य को स्वर्ग, अर्थात् अमृत की ओर ले जाती है। इस प्रकार तीन सन्धियों में से गुज़र कर 'त्रि-नाचिकेत-अग्नि' की साधना होती है। इन तीन अग्नियों में से गुजर कर जो जीवन-क्रम बनता है वह 'ब्रह्म-यज्ञ' कहलाता है। जो व्यक्ति दिव्य गुणों से युक्त, स्तुति के योग्य 'ब्रह्म-यज्ञ' को जान जाता है, उसके विषय में निश्चय कर लेता है, वह अत्यन्त शांति को प्राप्त होता है ॥१७॥

(स्वर्ग की साधक कौन-सी अग्नि है ? क्या वह जिससे यज्ञ करते हैं, या कोई और ? यमाचार्य कहते हैं कि यज्ञ-याग आदि की अग्नि से स्वर्ग नहीं प्राप्त होता। स्वर्ग-साधक अग्नि वह है जो 'ब्रह्म-यज्ञ' की तरफ़ ले जाती है। 'ब्रह्म' का अर्थ है, महान् होना, बढ़ना, अपना विस्तार करना। वही मनुष्य 'ब्रह्म-यज्ञ' करता है जो अपना विस्तार करता है, अपने जीवन को संकुचित नहीं होने देता। यज्ञ में अग्नि होती है, तो इस 'ब्रह्म-यज्ञ' में, व्यक्ति के महान् होने में कौन-सी अग्नि है ? वह अग्नि तीन सन्धियों में से गुज़रने से उत्पन्न होती है, जिसे यमाचार्य ने 'त्रि-नाचिकेत-अग्नि' का नाम दिया है। सन्धि से, दो के संयोग से अग्नि उत्पन्न होती है, बिना सन्धि के अग्नि नहीं उत्पन्न होती। ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ का जहां मेल है, जहां सन्धि है, वहां से जो गुज़र गया उसने 'ब्रह्म-यज्ञ' की एक अग्नि सिद्ध कर ली। जीवन की वास्तविक कठिनाई सन्धि में से गुज़रना है। गृहस्थी विचार ही करता रह जाता है कि वानप्रस्थी बने, वानप्रस्थी विचार ही करता रह जाता है कि संन्यासी बने। जिसमें नचिकेता की आग है वही सन्धि को पार करता है, नहीं तो सन्धि के इधर या उधर ही रह जाता है। इस प्रकार जो तीन सन्धियों में से गुज़र जाता है वह तीन अग्नियों को सिद्ध कर लेता है, वह 'त्रि-नाचिकेत-अग्नि' को अर्थात् 'ब्रह्म-यज्ञ' को पूर्ण कर लेता है। चारों आश्रमों में से गुज़रना ही वास्तविक ब्रह्म-यज्ञ है, उसी से मनुष्य महान् होता है क्योंकि वह तीन अग्नियों में तप चुकता है। तीन प्रकार की सन्धियों को पार करके 'ब्रह्म-यज्ञ' की साधना होती है—यह उपदेश यमाचार्य ने नचिकेता

की जिज्ञासा के उत्तर मे नाचिकेता को दिया इसलिये यमाचार्य ने इस साधना का नाम ही 'त्रिनाचिकेत' रख दिया।)

तीनो नाचिकेत-अग्नियो को जो इस प्रकार जान जाता है, और नाचिकेत-अग्नि का चयन करता है, वह आगे से मृत्यु के पाशो को काटकर, शोक से पार होकर, स्वर्ग-लोक में आनन्द से रहता है ॥१८॥

हे नचिकेत ! स्वर्ग-साधक जिस अग्नि की तूने अपने दूसरे वर से जिज्ञासा की थी उसका तुझे उपदेश दे दिया। इस अग्नि को लोग तेरे ही नाम से कहा करेंगे। हे नचिकेत ! अब तू तीसरा वर माग ॥१९॥

नचिकेता का तीसरा वर—मृत्यु के अनन्तर क्या होता है ?

अब नचिकेता तीसरा वर मागता है—"मनुष्य के मर जाने पर जो जिज्ञासा रहती है, कोई कहते हैं मरने पर भी मनुष्य बना रहता

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १८ ॥

त्रिणाचिकेत—तीन अग्नियो का सेवन करने वाला, त्रयम्—तीनो को, एतद्—इसको, विदित्वा—जानकर, य—जो, एवम्—इस प्रकार, विद्वान्—जानने वाला, ज्ञानी, चिनुते—चयन करता है, नाचिकेतम्—अग्नि को, स—वह, मृत्युपाशान्—मृत्यु के बन्धनो को, पुरत—आगे से, पहले से, सामने विद्यमान, प्रणोद्य—हटा कर, शोकातिग—शोक रहित (होकर), मोदते—आनन्द भोगता है, स्वर्गलोके—स्वर्गलोक मे ॥ १८ ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेत स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

एष—यह, ते—तेरी, तुझे, अग्नि—अग्नि, नचिकेत—हे नचिकेता, स्वर्ग्य—स्वर्ग को देने वाली, यम्—जिसको, अवृणीथा—वर रूप में मांगा था, द्वितीयेन—दूसरे, वरेण—वर से, एतम्—इसको, अग्निम्—अग्नि को, तव—तेरा, एव—ही, प्रवक्ष्यन्ति—कहेंगे, जनास—मनुष्य, जनता, तृतीयम्—तीसरे, वरम्—वर को, नचिकेत—हे नचिकेता, वृणीष्व—मांग ॥ १९ ॥

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥

या—जो, इयम्—यह, प्रेते—(मनुष्य के) मर जाने पर, विचिकित्सा—उत्पन्न संशय की निवृत्ति की इच्छा (जिज्ञासा), मनुष्ये—मनुष्य मे, अस्ति—

है, कोई कहते हैं नहीं बना रहता—आपसे शिक्षा पाकर मैं इसका समाधान जानना चाहता हूं। मैंने जो वर मांगने हैं उनमें तीसरा वर यही है" ॥२०॥

यमाचार्य उत्तर देते हैं—"बड़े-बड़े विद्वानों ने भी इस विषय में पहले जिज्ञासा की है। इस बात का जानना आसान नहीं है। यह बड़ा अणु-धर्म है, सूक्ष्म-विषय है। हे नचिकेता, दूसरा ही कोई वर मांग। मुझे इस विषय में बाधित न कर, इस विषय को छोड़ दे ॥२१॥

नचिकेता कहने लगा—"यह सच है कि बड़े-बड़े विद्वानों ने भी इस विषय में जिज्ञासा की, और यह समस्या ऐसी है जिसे, हे मृत्यु! तू भी कह रहा है कि सुगमता से समझ नहीं पड़ सकती। मृत्यु के अनन्तर क्या होता है—इस प्रश्न का उत्तर स्वयं मृत्यु के अतिरिक्त कौन दे सकता है? इसलिये तेरे सिवाय इस प्रश्न का उत्तर भी कौन दे सकेगा? ऐसी अवस्था में इस वर के समान तो दूसरा कोई वर हो ही नहीं सकता" ॥२२॥

रहती है; इति—यह; एके—कई एक; न—नहीं; अयम्—यह; अस्ति—बना रहता है; इति—यह; च—और; एके—कई, कोई; एतद्—यह; विद्याम्—जानूं; अनुशिष्टः—शिक्षित; त्वया—तुझ से; अहम्—मैं; वराणाम्—तीनों वरों में से; एषः—यह; वरः—वर; तृतीयः—तीसरा है ॥ २० ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥

देवैः—देवताओं ने, विद्वानों ने; अत्र—इसमें, यहां; अपि—भी; विचिकित्सितम्—संदेह कर जिज्ञासा की थी; पुरा—पहिले; न हि—नहीं; सुविज्ञेयम्—आसानी से जानने योग्य; अणुः—सूक्ष्म; एषः—यह; धर्मः—धर्म, विषय; अन्यम्—दूसरे, इससे भिन्न; वरम्—वर को; नचिकेतः—हे नचिकेता; वृणीष्व—माँग; मा मा—मत मत; उपरोत्सीः—बाधित कर; मा—मुझको; अतिसृज—छोड़ दे; एनम्—इस (विषय) को, इस (वर) को ॥ २१ ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ २२ ॥

देवैः अत्र अपि विचिकित्सितम्—विद्वानों ने भी इस विषय में संशय-निवारणार्थ जिज्ञासा की थी; किल—निश्चय से; त्वम्—तू; च—और; मृत्यो—हे

यमाचार्य का कथन—यह वर मत माग, भोग-ऐश्वर्य मांग

यम ने कहा—"सौ-सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र-पौत्रों को मांग; अनेक पशुओं को मांग; हाथी, सुवर्ण, घोड़े मांग; बड़ी-बड़ी जमीनें, जायदादें मांग; जबतक जीना चाहे तबतक का जीवन मांग" ॥२३॥

अगर इस वर के बराबर तू कोई चीज समझता है—धन-धान्य, दीर्घ-जीवन—वह मांग। हे नचिकेता! तू पृथिवी के बड़े भाग पर शासन करना चाहे, तो वह मांग। जितनी कामनाएं हैं वे तेरी इच्छा-मात्र से पूर्ण हो जांय, ऐसा चाहे तो वह मांग" ॥२४॥

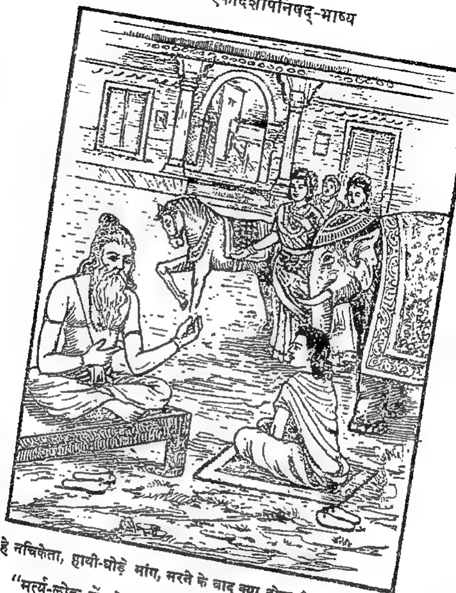
मृत्यु! हे आचार्य यम, यत्—जिसको, न—नहीं, सु विज्ञेयम्—सुगमता से जानने योग्य, आत्थ—कहते हो, वक्ता—प्रवचन करने वाला, उपदेष्टा, च—और, अस्य—इसका, त्वादृग्—तेरे जैसा, अन्यः—दूसरा, न—नहीं, लभ्यः—पाना संभव है, पाया जा सकता है, न—नहीं, अन्यः—दूसरा, वरः—वर, तुल्यः—समान, एतस्य—इसके, कश्चित्—कोई ॥ २२ ॥

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥ २३ ॥

शतायुषः—सौ वर्ष की (दीर्घ) आयु वाले, पुत्रपौत्रान्—बेटे-पोतों को; वृणीष्व—मांग ले, बहून्—बहुतसे, पशून्—गाय आदि पशुओं को, हस्ति-हिरण्यम्—हाथी और सोने को, अश्वान्—घोडों को, भूमेः—पृथ्वी के, महत्—बडे, आयतनम्—विस्तार को, क्षेत्र को, वृणीष्व—माग ले, स्वयम्—अपने आप, च—और, जीव—जीवित रह, शरदः—शरद् ऋतुएँ, वर्षों तक, यावद्—जितना, इच्छसि—चाहता है ॥ २३ ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥ २४ ॥

एतत्+तुल्यम्—इसके समान, यदि—अगर, मन्यसे—समझता है, वरम्—वर को, वृणीष्व—मांग ले; वित्तम्—धन को, चिरजीविकाम्—चिरस्थायी जीवन को, च—और, महाभूमौ—विस्तृत भूमि पर, नचिकेत—हे नचिकेता; त्वम्—तू, एधि—हो, रह, बढ, शासन कर, कामानाम्—सारी कामनाओं का; त्वा—तुझ को; कामभाजम्—(इच्छा मात्र से) कामनाओं से युक्त; करोमि—करता हू ॥ २४ ॥



हे नचिकेता, हाथी-घोड़े मांग, मरने के बाद क्या होता है—यह मत पूछ

"मर्त्य-लोक में जो भी दुर्लभ कामनाएं हैं सबको बेखटके मांग। ये स्त्रियां हैं, रथों सहित, गाजे-बाजे सहित। ऐसी स्त्रियां मनुष्यों

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥ २५॥

ये-ये—जो-जो; कामाः—कामनाएँ; दुर्लभाः—अप्राप्य:; मर्त्यलोके—इस पृथ्वी पर; सर्वान्—सारी; कामान्—कामनाओं को, छन्दतः—स्वेच्छा से, बेहिचक के; प्रार्थयस्व—माँग ले; इमाः—ये; रामाः—सुन्दर स्त्रियाँ;

को प्राप्त नहीं हो सकतीं। मैं इन्हें तुझे दूंगा। इनके साथ सुख भोग, परन्तु हे नचिकेता, 'मरण' के विषय में प्रश्न मत कर" ॥२५॥

नचिकेता का उत्तर—यही तो वास्तविक समस्या है

नचिकेता ने उत्तर दिया—"हे अन्तक ! हे मृत्यो ! ये सुख-भोग मनुष्य के लिये 'श्वोभाव' हैं—आज हैं, कल नहीं। ये इन्द्रियों के तेज को क्षीण कर देते हैं। इन भोगों को भोगने के लिये सारा-का-सारा जीवन भी बहुत-थोड़ा है। ये हाथी-घोड़े, यह नाचना-गाना अपने ही पास रख, ये मुझे नहीं चाहियें" ॥२६॥

"मनुष्य धन से तृप्त नहीं हो सकता। अगर हमने तेरा दर्शन कर लिया, तेरे रहस्य को समझ लिया, तो धन-धान्य सब प्राप्त हो जायगा। हे मृत्यु, जितना तू चाहेगा उतना ही तो हम जी सकेंगे—ज्यादा तो नहीं। मैं तो वही वर मांगता हूं" ॥२७॥

सरथाः—रथों (वाहनों) के साथ, सतूर्याः—गाजे-बाजे सहित, न हि—नहीं, ईदृशाः—ऐसी; लम्भनीयाः—प्राप्य, मनुष्यैः—मनुष्यों से, आभिः—इन, इनसे, मत्प्रत्ताभिः—मुझसे दी हुई, परिचारयस्व—सेवा करवा, नचिकेतः—हे नचिकेता, मरणम्—मृत्यु को, मृत्यु के विषय में, मा—मत, अनुप्राक्षीः—प्रश्न कर ॥ २५ ॥

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

श्वोभावाः—कलतक ही रहने वाले, क्षण-स्थायी, मर्त्यस्य—मरणधर्मा मनुष्य के; यद्—जो, अन्तक—हे यमराज, मृत्यु, एतद्—यह, सर्वेन्द्रियाणाम्—सब इन्द्रियों के; जरयन्ति—क्षीण कर देते हैं, तेजः—तेज को, अपि—भी; सर्वम्—सारा; जीवितम्—जीवन, अल्पम्—थोड़ा, छोटा, एव—ही, तव—तेरे, एव—ही, वाहाः—सवारी के हाथी-घोड़े, तव—तेरे, नृत्य-गीते—नाचना-गाना ॥ २६ ॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

न—नहीं, वित्तेन—धन से, तर्पणीयः—तृप्त किया जा सकता, मनुष्यः—मनुष्य, लप्स्यामहे—प्राप्त कर लेंगे; वित्तम्—धन को, अद्राक्ष्म—देख लिया; चेत्—अगर; त्वा—तुझको, जीविष्यामः—जियेंगे, यावत्—जितना, जबतक; ईशिष्यसि—प्रभु रहेगा, चाहेगा, त्वम्—तू; वरः—वर;

"अगर जीर्ण न होने वाली, अमृत-अवस्था को प्राप्त करके, इससे उल्टी, जीर्ण होने वाली, मरणावस्था को कोई जान-बूझकर प्राप्त करे, तो वह नीच नहीं तो क्या है ? इस विचार का ध्यान करके सौन्दर्य तथा रमण के आमोद-प्रमोद वाले दीर्घ-जीवन में भी किसका चित्त लग सकता है ?"॥२८॥

"हे मृत्यो ! जिस बात को जानने के लिये सब लोग जिज्ञासा करते हैं, जिसके लिये महान् 'साम्पराय'—परलोक-साधक यम-नियम आदि—किये जाते हैं, मृत्यु के बाद उस आत्मा का जो रूप है, यही हमें बताइये। मैंने जो वर मांगा है, जो हमारी बातचीत से अब और अधिक गूढ़ हो गया है, नचिकेता तो उससे अतिरिक्त अन्य कोई वर नहीं मांगता" ॥२९॥

तु—तो; मे—मेरा; वरणीयः—वरण करने योग्य, माँगने योग्य; सः—वह; एव—ही (है) ॥ २७ ॥

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

अजीर्यताम्—जीर्ण न होनेवाले; अमृतानाम्—अमर व्यक्तियों को, उपेत्य—प्राप्त करके; जीर्यन्—क्षीण होनेवाला; मर्त्यः—मनुष्य; क्वधःस्थः—पृथ्वी पर निम्न स्थान पर बैठा हुआ; प्रजानन्—ज्ञानी (हो कर); अभिध्यायन्—ध्यानपूर्वक विचार करता हुआ; वर्ण-रति-प्रमोदान्—सुन्दर रूप और भोग-विलासों का; अति दीर्घे—बहुत लम्बे; जीविते—जीवन में; कः—कौन; रमेत—प्रसन्न होवेगा; आनन्द मनायगा ॥ २८ ॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्सांपराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥

यस्मिन्—जिसमें; इदम्—यह; विचिकित्सन्ति—संशय करते हैं, जिज्ञासा करते हैं; मृत्यो—हे यम; यत्—जो; सांपराये—परलोक सम्बन्धी; महति—बड़े; ब्रूहि—कह, उपदेश कर; नः—हमें; तद्—वह; यः अयम् वरः—जो यह वर; गूढम्—रहस्यता को; अनुप्रविष्टः—प्रवेश कर गया है; (गूढम् अनुप्रविष्टः—अधिक रहस्यमय हो गया है); न—नहीं; अन्यम्—दूसरे (वर) को; तस्मात्—उससे; नचिकेताः—नचिकेता; वृणीते—माँगता है, चाहता है ॥ २९ ॥

द्वितीया वल्ली

यमाचार्य का नचिकेता को उत्तर—श्रेय तथा प्रेय में भेद

यमाचार्य ने कहना शुरु किया—'श्रेय'-मार्ग अन्य है, 'प्रेय'-मार्ग अन्य है। ये दोनों भिन्न-भिन्न प्रयोजनों से पुरुष को बांधते हैं। इनमें से 'श्रेय' को ग्रहण करने वाले का भला होता है, जो 'प्रेय' का वरण करता है वह लक्ष्य से हट जाता है ॥१॥

'श्रेय' तथा 'प्रेय'—ये दोनों भावनाएं मनुष्य के सामने आती हैं। धीर-पुरुष इन दोनों की परीक्षा करता है, छान-बीन करता है। धीर-पुरुष वह है जो कोई काम जल्दी में नहीं करता, तत्काल फल नहीं देखता। वह 'प्रेय' की अपेक्षा 'श्रेय' का ही वरण करता है। मन्द-बुद्धि व्यक्ति 'योग-क्षेम'—कुशल-मंगल—*सुख-चैन*—के लिये, आराम से जीवन बिताने के लिये 'प्रेय' का वरण करता है ॥२॥

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥

अन्यत्—दूसरा, श्रेयः—कल्याणकारी, अन्यत्—दूसरा, उत एव—ही, प्रेयः—प्रिय (अच्छा) लगनेवाला, ते—वे, उभे—दोनों, नाना+अर्थे—अनेक प्रयोजनों में, पुरुषम्—जीवात्मा को, सिनीतः—बाँधते हैं, फँसाते हैं; तयोः—उन दोनों में से, श्रेयः—कल्याणकारी को, आददानस्य—ग्रहण करने वाले का, साधु—भला, भवति—होता है, हीयते—वंचित हो जाता है, रहित हो जाता है, अर्थात्—(अपने) प्रयोजन से, ध्येय से, यः—जो, उ—निश्चय ही, प्रेयः—प्रिय वस्तु का, वृणीते—वरण करता है, ग्रहण करता है ॥ १ ॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योग-क्षेमाद् वृणीते ॥ २ ॥

श्रेयः—कल्याणकारी, च—और, प्रेयः—प्रिय (अच्छा) लगने वाला, च—और, मनुष्यम्—मनुष्य को, एत—प्राप्त होते हैं, सामने आते हैं, तौ—उन दोनों को, संपरीत्य—भली प्रकार मन से सोच कर, विविनक्ति—विवेक करता है, छान-बीन करता है, धीरः—ज्ञानी (समझदार) पुरुष; श्रेयः—कल्याणकारी को, हि—ही, धीरः—धैर्यशाली बुद्धिमान्, प्रेयसः—प्रिय वस्तु से (की अपेक्षा), अभिवृणीते—स्वीकार करता है, ग्रहण करता है; प्रेयः—प्रिय लगने वाली वस्तु को, मन्द—मूर्ख, योग-क्षेमात्—योग (अप्राप्त की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त की रक्षा) के कारण (का विचार कर), वृणीते—ग्रहण करता है ॥ २ ॥

हे नचिकेता, तूने खूब सोच-विचार कर, 'प्रिय' तथा 'प्रियरूप'—'मन' तथा 'इन्द्रिय' को खींचने वाली—कामनाओं को त्याग दिया है। सोने की इस सांकर में तू नहीं फंसा जिसमें बहुत से लोग तो जकड़े ही जाते हैं ॥३॥

ये दोनों—अविद्या तथा विद्या—एक दूसरे से दूर हैं, विपरीत हैं, उल्टे हैं, विलक्षण हैं। हे नचिकेता! मैं यह मान गया कि तू विद्या की चाहना करने वाला है, 'श्रेय-मार्ग' का पथिक है, तुझे तरह-तरह की कामनाएं ललचा नहीं सकीं, तूने 'प्रेय-मार्ग' पर चलना पसन्द नहीं किया ॥४॥

संसार के लोग अविद्या में फंसे हुए, सांसारिक भोगों में पड़े हुए, अपने को धीर और पंडित माने फिरते हैं। टेढ़े रास्तों से इधर-

---

स त्वं प्रियान्प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ ३ ॥

सः त्वम्—उस (धीर) तूने; **प्रियान्**—प्रिय; **प्रियरूपान्**—देखने में भी प्रिय—सुन्दर रूप वाले; **च**—और; **कामान्**—कामनाओं को, भोगों को, **अभिध्यायन्**—विचार करते हुए, सोच-विचार कर; **नचिकेतः**—हे नचिकेता; **अत्यस्राक्षीः**—छोड़ दिया, उनमें नहीं फँसा; **न एताम्**—नहीं इस; **सृङ्काम्**—जंजीर को, माला को; **वित्तमयीम्**—सुवर्णमयी; **अवाप्तः**—प्राप्त हुआ (लिया); **यस्याम्**—जिसमें; **मज्जन्ति**—डूब जाते हैं, फंस जाते हैं; **बहवः**—बहुत से; **मनुष्याः**—मनुष्य ॥ ३ ॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥ ४ ॥

दूरम्—दूर; **एते**—ये दोनों; **विपरीते**—उलटी, एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न; **विषूची**—नाना गति वाली; **अविद्या**—अविद्या, प्रेय; **या च**—और जो; **विद्या**—विद्या, श्रेय; **इति**—इस नाम से; **ज्ञाता**—जानी हुई, प्रसिद्ध; **विद्याभीप्सिनम्**—विद्या (श्रेय) की चाहनेवाला; **नचिकेतसम्**—नचिकेता को; **मन्ये**—समझता हूँ; **न**—नहीं; **त्वा**—तुझ को; **कामाः**—काम-भोगों ने; **बहवः**—बहुत से; **अलोलुपन्त**—लुप्त किया; पथ-भ्रष्ट किया, लुब्ध किया ॥ ४ ॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ५ ॥

अविद्यायाम्—अविद्या में, प्रेय में; **अन्तरे**—बीच में; **वर्तमानाः**—उपस्थित, पड़े हुए; **स्वयम्**—अपने आप ही; **धीराः**—ज्ञानी; **पण्डितंमन्यमानाः**—

उधर भटकते हुए ये मूढ ऐसे जा रहे हैं जैसे अन्धा अन्धे को रास्ता दिखा रहा हो ॥५॥

जो बड़ा होकर भी बुद्धि का बच्चा ही है, धन के मोह से जो दूसरी कोई बात सोच ही नहीं सकता, ऐसे प्रमादी को 'साम्पराय'—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—'यम-नियम'—पसन्द नहीं आते। वह यह मान बैठा है कि यही लोक है, परलोक नहीं है। ऐसा व्यक्ति बार-बार मेरे चंगुल में आ फंसता है, बार-बार मरता है, बार-बार पैदा होता है ॥६॥

बहुतों को तो वह सुनने को भी नहीं मिलता, बहुत-से लोग उसे सुनते हैं, पर फिर भी कुछ जान नहीं पाते, उसका कहने वाला विरला है, उसको पाने वाला कोई कुशल ही है, कुशल गुरु के उपदेश से कोई विरला ही उसे जान पाता है ॥७॥

अपने आपको पण्डित (चतुर, ज्ञानी) समझने वाले, दन्द्रम्यमाणा—टेढ़े मार्ग पर चलते हुए, परियन्ति—भटकते हैं, मूढा—मोहग्रस्त, मूर्ख, अन्धेन एव—अन्धे से ही, नीयमाना—ले जाये जाते हुए यथा अन्धा—जैसे अन्धे ॥ ५ ॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥

न—नहीं, साम्परायः—परलोक साधक यम नियम आदि प्रतिभाति—अच्छा लगता है, बालम्—बालकवत् अज्ञानी को, प्रमाद्यन्तम्—प्रमाद करने वाले, वित्तमोहेन—धन के मोह (लालसा) से, मूढम्—कर्तव्य ज्ञान से शून्य, अयम्—यह, लोकः—जीवन (ही है), न—नहीं, अस्ति—है, परः—दूसरा लोक (जन्म), इति—ऐसे, मानी—मानने वाला (परः न अस्ति इति मानी—परलोक नहीं है ऐसा मानने वाला—नास्तिक), पुनः पुनः—बार-बार, वशम्—वश में, आपद्यते—प्राप्त होता है आ गिरता है मे—मेरे (मुझ मृत्यु के) ॥ ६ ॥

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥

श्रवणाय—सुनने के लिए, अपि—भी, बहुभिः—बहुतों से (को), यः—जो, न—नहीं, लभ्यः—प्राप्य है, शृण्वन्तः—सुनते हुए, अपि—भी, बहवः—बहुत से, यम्—जिसको, न—नहीं, विद्युः—जान सकें, आश्चर्यः—

उसका कितना भी चिन्तन क्यों न करें, साधारण गुरु के उपदेश से उसे नहीं जान सकते। दूसरे के बतलाए बिना कोई उसके ज्ञान में आगे नहीं बढ़ सकता। वह अणु-प्रमाण है, सूक्ष्म है, इसलिये 'अणीयान्' और 'अतर्क्य' है—'इन्द्रियों से' देखा नहीं जा सकता, और 'तर्क से' जाना नहीं जा सकता ॥८॥

जो बुद्धि मैंने तुझे दी है वह तर्क-वितर्क से हटा मत देना। हे प्रिय शिष्य! उस ब्रह्म का ज्ञान तभी होता है जब कोई अन्य—कोई गुरु—उसका उपदेश देता है—तू धैर्य वाला है, सत्य का खोजने वाला है—इसलिये तुझे वह बुद्धि मिल गई है। हे नचिकेता! हमारे लिए तो कोई पूछने वाला हो, जिज्ञासु हो, तो तेरे जैसा हो ॥९॥

अद्भुत (विरला); **वक्ता**—उपदेष्टा; **कुशलः**—चतुर; **अस्य**—इसका; **लब्धा**—प्राप्त करने वाला; **आश्चर्यः**—विरला; **ज्ञाता**—जानने वाला; **कुशल+अनुशिष्टः**—कुशल (गुरु) द्वारा शिक्षित ॥ ७ ॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

न—नहीं; **नरेण**—मनुष्य के द्वारा; **अवरेण**—तुच्छ, साधारण; **प्रोक्तः**—उपदेश किया हुआ; **सुविज्ञेयः**—सुगमतया जानने योग्य; **बहुधा**—बहुत प्रकार से, बार-बार; **चिन्त्यमानः**—चिन्तन (विचार) किया हुआ (भी); **अनन्यप्रोक्ते**—दूसरे द्वारा न बताये जाने पर; **गतिः**—पहुँच, ज्ञान; **अत्र**—इस विषय में; **न अस्ति**—नहीं है; **अणीयान्**—अणु से भी बहुत सूक्ष्म; **हि**—ही; **अतर्क्यम्**—कल्पना या तर्क से भी अज्ञेय; **अणु-प्रमाणात्**—अणु के परिमाण से ॥ ८ ॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

न—नहीं; **एषा**—यह; **तर्केण**—तर्क (ऊहापोह या कल्पना) से; **मतिः**—बुद्धि, ज्ञान; **आपनेया**—हटाना, दूर करना; **प्रोक्ता**—बताई हुई; **अन्येन**—दूसरे (गुरु) से; **एव**—ही; **सुज्ञानाय**—भली प्रकार जान लेने के लिए; हे **प्रेष्ठ**—प्रियातिप्रिय नचिकेता; **याम्**—जिस (बुद्धि को); **त्वम्**—तू ने; **आपः**—प्राप्त किया है; **सत्यधृतिः**—सच्चे (स्थिर) धैर्य या धारणावती बुद्धि वाला; **बत**—निश्चय ही; **असि**—है; **त्वादृक्**—तेरे जैसा; **नः**—हमसे; **भूयात्**—होवे; **नचिकेतः**—हे नचिकेता; **प्रष्टा**—पूछने वाला, जिज्ञासु ॥ ९ ॥

मैं जानता हूं कि यह धन-सम्पत्ति अनित्य है। जो वस्तुएं स्वयं 'अध्रुव' हैं, अस्थिर हैं, उनसे वह 'ध्रुव', स्थिर ब्रह्म नहीं प्राप्त हो सकता। इसी कारण मैंने 'नाचिकेत-अग्नि' का चयन किया है, तीनों सन्धियों को पार किया है, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास-आश्रमों में से गुजरा हूं। इस प्रकार अनित्य द्रव्यों से ही नित्य को मैंने पा लिया है। वैसे तो अनित्य से नित्य की प्राप्ति नहीं हो सकती, परन्तु अगर 'नाचिकेत-अग्नि' का चयन किया जाय, नचिकेता में जो अग्नि जल उठी थी वह हम में भी प्रदीप्त हो उठे, और चारों आश्रमों में से प्रत्येक आश्रम के अनुभव से जो नवीन आत्म-ज्योति मिले उसे अपना पथ-प्रदर्शक बनाया जाय, तो अनित्य संसार से भी नित्य की प्राप्ति हो सकती है ॥१०॥

तूने कामनाओं को पूर्ण करने की उमंगों को (पुत्रैषणा को), धनी होने के कारण मिलने वाले सम्मान को (वित्तैषणा को), कभी समाप्त न होने वाले कर्म-कांड को (लोकैषणा को), निर्भीकता की सीमा को, चारों तरफ से उच्च-ध्वनि से होने वाले जय-जय नाद को—सब तरह की प्रतिष्ठा को, आंखों से देखकर, हे धीर नचिकेता, धीरता के साथ छोड़ दिया ॥११॥

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥ १० ॥

जानामि—जानता हूँ, अहम्—मैं, शेवधिः—खजाना, धन-सम्पत्ति, इति—यह बात, अनित्यम्—अनित्य, अस्थायी, न हि—नहीं, अध्रुवैः—अस्थिर (अस्थायी वस्तुओं) से, प्राप्यते—प्राप्त किया जाता है, हि—निश्चय से; ध्रुवम्—स्थिर, कूटस्थ, तत्—वह (ब्रह्म), ततः—उस कारण से, मया—मैंने, नचिकेतः—हे नचिकेता, चितः—चयन की, प्रज्वलित की, अग्निः—नाचिकेत अग्नि, स्वर्ग्य ज्ञानाग्नि, अनित्यैः—अनित्य, द्रव्यैः—वस्तुओं से, प्राप्तवान्—पाया है, जाना है, अस्मि—हूँ, (प्राप्तवान् अस्मि—जान पाया हूं), नित्यम्—नित्य (ब्रह्म) को ॥ १० ॥

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥ ११ ॥

कामस्य—भोग विलास की, आप्तिम्—प्राप्ति को (पुत्रैषणा को) जगतः—जगत् की (में होनेवाली), प्रतिष्ठाम्—यश को (लोकैषणा को);

उसके दर्शन कठिनता से होते हैं। वह गूढ़ से भी गूढ़ है। वह दुर्गम गुफ़ाओं में छिपा बैठा है। वह सबसे पुरातन है। उसे 'अध्यात्म-योग' से प्राप्त कर सकते हैं—'अध्यात्म-योग', अर्थात् इन्द्रियों का ऐसा चलन जिससे वे विषयों की तरफ़ जाने के बजाय आत्मा की तरफ़ चलें। उस देवता को जब मनुष्य मान जाता है, तब धीर हो जाता है, हर्ष तथा शोक दोनों को छोड़ देता है, द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाता है ॥१२॥

मैंने जो कुछ कहा है उसे 'श्रवण' करके, सुनने के बाद उसे ग्रहण अर्थात् 'मनन' करके, ग्रहण करने के बाद उसे बढ़ाकर—उतने तक ही सीमित न रहकर उसका 'निदिध्यासन' करके, वह 'अणु'—सूक्ष्म ब्रह्म—प्राप्त होता है, सब धर्मों का भी वही लक्ष्य है। उस आनन्द-

---

क्रतोः—कर्म की; आनन्त्यम्—अनन्तता (न अन्त होना) को (वित्तैषणा को); अभयस्य—निर्भीकता के; पारम्—सीमा को, पराकाष्ठा को; स्तोमम्—स्तुति-प्रशंसा को; महत्—बड़ी, महनीय; उरुगायम्—विस्तृत गान (जय-जय नाद) को; प्रतिष्ठाम्—प्रतिष्ठा को, यश को (या अपनी अभीष्ट स्थिति मोक्ष को); दृष्ट्वा—देख कर विचार कर; धृत्या—धैर्य से; धीरः—धैर्यशाली ज्ञानी (तूने); नचिकेतः—हे नचिकेता; अत्यस्राक्षीः—(उन तीनों एषणाओं को) छोड़ दिया ॥ ११ ॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥

तम्—उस; दुर्दर्शम्—कठिनता से जानने योग्य; गूढम्—छिपे हुए (अज्ञात); अनुप्रविष्टम्—विद्यमान; गुहाहितम्—गुफा (बुद्धि) में स्थित; गह्वरेष्ठम्—गहरी खाई (हृत्प्रदेश) में विद्यमान; पुराणम्—सनातन, आदि-अन्त से रहित; अध्यात्म-योग-अधिगमेन—आत्म-ज्ञान की ओर गति से (अन्तर्मुख वृत्ति से); देवम्—दिव्य गुणों से युक्त भगवान् को; मत्वा—जान कर; धीरः—धीर (बुद्धि वाला) ज्ञानी; हर्षशोकौ—हर्ष और शोक (सुख-दुःख, राग-द्वेष) को; जहाति—छोड़ देता है ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥ १३ ॥

एतत्—इस (ज्ञान-चर्चा) को; श्रुत्वा—सुन कर; संपरिगृह्य—ग्रहण कर, भली भांति मनन कर; मर्त्यः—मनुष्य; प्रवृह्य—उठाकर, निकाल कर

दायक 'ब्रह्म' को प्राप्त करके फिर आनन्द-ही-आनन्द मिलता है। हे नचिकेता, मैं समझता हूं कि तेरा द्वार खुल गया है—अब तेरे सम्मुख कोई रुकावट नहीं रही ॥१३॥

नचिकेता ने कहा—"धर्म से, अधर्म से; कृत से, अकृत से, भूत से, भव्य से—जो संसार की प्रत्येक वस्तु से भिन्न है, जिसे आप देखते हैं उसका आप मुझे उपदेश दीजिये" ॥१४॥

आचार्य ने कहा—"जिस पद (प्राप्तव्य, शब्द) का सब वेद बार-बार वर्णन करते हैं, सब तप जिसको पुकारते हैं, जिसकी चाहना में ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, संक्षेप में वह शब्द तुझे बतलाता हूं—वह शब्द 'ओ३म्'—यह है" ॥१५॥

(मुञ्जवत् असार में से सार लेकर), धर्म्यम्—धर्म से युक्त, धर्म के आधार, अणुम्—सूक्ष्मातिसूक्ष्म, एतम्—इस (ब्रह्म) को, आप्य—प्राप्त कर, सः—वह (ज्ञानी), मोदते—आनन्द-लाभ करता है, मोदनीयम्—आनन्द स्वरूप (ब्रह्म) को, हि—ही, लब्ध्वा—प्राप्त कर, विवृतम्—खुला, खुले (मोक्ष) द्वार वाला, सद्म—मोक्ष धाम, नचिकेतसम्—नचिकेता के प्रति, मन्ये—मैं समझता हूँ ॥ १३ ॥

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥

अन्यत्र—भिन्न, धर्मात्—धर्म से, अन्यत्र—भिन्न, अधर्मात्—अधर्म से, अन्यत्र—भिन्न, अस्मात्—इस (लोक में किये हुए), कृत+अकृतात्—कर्म और अकर्म से, अन्यत्र—भिन्न, भूतात्—भूतकाल से, च—और, भव्यात्—भविष्य से, च—और, यत्—जो (है), तत्—उसको, पश्यसि—तू देखता है, जानता है, तत्—उसको, वद—कह, बता, उपदेश कर ॥ १४ ॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥

सर्वे—सारे, वेदा—वेद, यत्—जिसको, पदम्—शब्द को, प्रापणीय (अभीष्ट) को, आमनन्ति—बार-बार कहते हैं, वर्णन करते हैं, तपांसि—तप, सर्वाणि—सारे, यद्—जिसको, वदन्ति—कहते हैं, यद्—जिसको, इच्छन्त—चाहते हुए, ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य व्रत का, चरन्ति—आचरण करते हैं, तत्—उस, ते—तुझे, पदम्—शब्द को, अभीष्ट वस्तु को, संग्रहेण—संक्षेप से, ब्रवीमि—उपदेश करता हूं, बताता हूँ, ओम्—वह शब्द 'ओम्' है या वह प्राप्तव्य 'ओम्'-वाच्य ब्रह्म है, इति—ऐसा, एतत्—यह ॥ १५ ॥

"यह 'ओ३म्' एक अक्षर है, परन्तु यही ब्रह्म है, यही सबसे परे है, इसी अक्षर को जानकर जो कोई कुछ चाहता है उसे वह प्राप्त हो जाता है" ॥१६॥

"इसी का सबसे श्रेष्ठ सहारा है, इसी का सबसे अन्तिम सहारा है। इसी सहारे को जानकर ब्रह्मलोक में मनुष्य महान् हो जाता है" ॥१७॥

ब्रह्म का वर्णन करने के बाद अब आत्मा का वर्णन करते हुए यमाचार्य कहते हैं—"यह चेतन जीव न उत्पन्न होता है, न मरता है, न यह किसी कारण से उत्पन्न हुआ है, न पहले कभी हुआ था। यह अजन्मा है, नित्य है, निरन्तर है, पुरातन है—शरीर के मरने पर भी यह नहीं मरता" ॥१८॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥

एतद्—यह 'ओम्' (पद वाच्य); हि—निश्चयपूर्वक; एव—ही; अक्षरम्—अविनाशी, अच्युत; ब्रह्म—ब्रह्म है; एतद् हि एव—यह (ओम्) ही; अक्षरम्—अविनाशी; परम्—सर्वश्रेष्ठ (है); एतत् हि एव—इस ही; अक्षरम्—अविनाशी 'ओम्' को; ज्ञात्वा—जानकर; यः—जो; यद्—जो कुछ; इच्छति—चाहता है; तस्य—उसको; तत्—वह (प्राप्त हो जाता है) ॥ १६ ॥

एतदालम्बनँ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनँ ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

एतत्—यह अविनाशी 'ओम्'; आलम्बनम्—सहारा, आश्रय; श्रेष्ठम्—सर्वोत्तम; एतद्—यह; आलम्बनम्—सहारा; परम्—सर्वोत्कृष्ट; एतद्—इस; आलम्बनम्—आश्रय को; ज्ञात्वा—जान कर; ब्रह्मलोके—ब्रह्मलोक में; महीयते—महान् बन जाता है ॥ १७ ॥

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥

न—नहीं; जायते—उत्पन्न होता है; म्रियते—मरता है; वा—या; विपश्चित्—चेतनस्वरूप, मेधावी; न—नहीं; अयम्—यह; कुतश्चित्—कहीं से, किसी उपादान कारण से; न—नहीं; बभूव—उत्पन्न हुआ; कश्चित्—कोई; अजः—अजन्मा; नित्यः—नित्य; शाश्वतः—हमेशा रहनेवाला; अयम्—यह; पुराणः—सनातन; न—नहीं; हन्यते—मारा जाता है, हन्यमाने—मारे जाने पर; शरीरे—शरीर के ॥ १८ ॥

"अगर कोई मारने वाला यह समझता है कि मैं मार रहा हूं, अगर कोई मरने वाला यह समझता है कि मैं मर गया हूं—वे दोनों नहीं जानते, न यह मारता है, न मरता है" ॥१९॥

ब्रह्म तथा आत्मा—ब्रह्मांड तथा पिंड—का वर्णन करने के बाद इनके आपस के सम्बन्ध के विषय में आचार्य कहते हैं—"जीवात्मा अणु है, सूक्ष्म है, परमात्मा अणु से भी अणु है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। सूक्ष्म में स्थूल नहीं रह सकता, स्थूल में सूक्ष्म रह सकता है। वह सब जगह है क्योंकि वह अणु से भी अणु, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि वह इतना छोटा है। वह तो महान् से भी महान् है। वह गुफा में रहता है, परन्तु पहाड़ की गुफा में नहीं, इसी जीव-रूपी जन्तु की हृदय-रूपी गुफा में छिपा बैठा है। उसे कर्मों के जाल में, दुनिया के गोरखधंधों में फंसा हुआ व्यक्ति नहीं देख सकता, निष्काम-कर्मवाला ही उसे देख सकता है, जो वीत-शोक हो, जिसे किसी प्रकार का दुःख न हो। परमात्मा की महिमा को उस 'धाता'—संसार के धारण करने वाले—के प्रसाद से ही, उस प्रभु की कृपा से ही जाना जा सकता है" ॥२०॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

हन्ता—मारनेवाला, चेत्—अगर, मन्यते—समझता है, हन्तुम्—मारने के लिए, हत—मारा हुआ, चेत्—अगर, मन्यते—समझता है, हतम्—(अपने आप को) मारा हुआ, उभौ—दोनों, तौ—वे, न—नहीं, विजानीतः—जानते हैं, न अयम्—नहीं यह, हन्ति—मारता है, न—नहीं, हन्यते—मारा जाता है ॥ १९ ॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥

अणोः—अणु से, अणीयान्—अति सूक्ष्म, महतः—बड़े से, महीयान्—अधिक बड़ा, आत्मा—परमात्मा, अस्य—इस, जन्तोः—जन्मधारी जीवात्मा के, निहितः—रखा हुआ, उपस्थित, विद्यमान, गुहायाम्—हृदय प्रदेश में, तम्—उसको, अक्रतुः—कर्म-जाल से मुक्त, पश्यति—देखता है, जानता है, वीतशोकः—शोक रहित, धातुः—जगद्-धर्ता भगवान् की, प्रसादात्—कृपा से, महिमानम्—बड़प्पन को, महिमा को, आत्मनः—परमात्मा की ॥ २० ॥

"वह एक जगह पर आसीन होता हुआ, एक जगह पर ठहरा हुआ भी दूर-से-दूर पहुंच जाता है; आसीन होने की बात छोड़ो, वह अगर सो भी रहा हो, तो भी सब जगह पहुंचा होता है; मस्त होते हुए भी मस्ती रहित उस देव को मेरे सिवा और कौन जान सकता है ?"॥२१॥

"शरीर-धारियों में जो बिना शरीर के मौजूद है, अस्थिर पदार्थों में जो स्थिर-रूप से वर्त्तमान है, जो महान् है, विभु है, आत्मा है—उसे मनन-पूर्वक जानकर धीर-पुरुष सोच-विचार में पड़कर दुःख नहीं मनाते" ॥२२॥

"आत्मा बड़े-बड़े भाषणों से नहीं मिलता, तर्क-वितर्क से नहीं मिलता, बहुत-कुछ पढ़ने-सुनने से नहीं मिलता। जिसको यह वर लेता है वही इसे प्राप्त कर सकता है, उसके सामने आत्मा अपने स्वरूप को खोलकर रख देता है" ॥२३॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥

आसीनः—बैठा हुआ; **दूरम्**—दूर; **व्रजति**—जाता है; **शयानः**—सोता हुआ; **याति**—जाता है; **सर्वतः**—सब ओर; **कः**—कौन; **तम्**—उस; **मदामदम्** (मद+अमदम्)—मद से मस्त होते हुए भी मदरहित; **देवम्**—परमात्मा को; **मदन्यः**—मुझ (ज्ञानी) से भिन्न (अज्ञानी); **ज्ञातुम् अर्हति**—जान सकता है ॥ २१ ॥

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ ॥

अशरीरम्—शरीर-रहित; **शरीरेषु**—शरीरों में; **अनवस्थेषु**—अस्थिर, चंचल; **अवस्थितम्**—स्थिर; **महान्तम्**—बड़े, महिमाशाली; **विभुम्**—व्यापक; **आत्मानम्**—परमात्मा को; **मत्वा**—जान कर; **धीरः**—ज्ञानी; **न**—नहीं; **शोचति**—शोक करता है ॥ २२ ॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥२३॥

न अयम्—नहीं यह; **आत्मा**—परमात्मा; **प्रवचनेन**—उपदेश से, भाषणों से; **लभ्यः**—पाया जा सकता है; **न**—नहीं; **मेधया**—धारणावती बुद्धि से; **न**—नहीं; **बहुना**—बहुत; **श्रुतेन**—शास्त्र-चर्चा से; **यम् एव एषः**—जिसको ही यह; **वृणुते**—अपना लेता है; **तेन**—उसके द्वारा; **लभ्यः**—प्राप्य (है);

"जो व्यक्ति दुराचार से हटा नहीं, जो अशान्त है, जो तर्क-वितर्क में उलझा हुआ है, जो चचल-चित्त वाला है, वह उसे प्राप्त नहीं कर सकता। उसे 'प्रज्ञान' द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है" ॥२४॥

यह है कहा ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं—"ससार दो शक्तियो का परिणाम है—'विधायक' (Constructive) तथा 'विनाशक' (Destructive)—बनाने वाली तथा तोडने वाली। विधायक-शक्तिया भी दो तरह की हैं—'आध्यात्मिक' (Spiritual) तथा 'भौतिक' (Physical)। 'आध्यात्मिक-विधायक-शक्ति' का नाम 'ब्रह्म' है, 'भौतिक-विधायक-शक्ति' का नाम 'क्षत्र' है। जिस आत्मा के सम्मुख विश्व की दोनो प्रकार की विधायक-शक्तिया—'ब्रह्म' तथा 'क्षत्र'—ओदन की तरह हैं, भात की तरह हैं, वह इन दोनो को एक ग्रास में निगल सकता है, उसके विषय में कौन जान सकता है कि वह कहा है ? इन दो विधायक-शक्तियो के अतिरिक्त विश्व में एक तीसरी विनाशक-शक्ति भी है, उसका नाम 'मृत्यु' है। जैसे भात में घी सींचा जाता है, और उसे मजे में चट किया जाता है, इसी तरह चट करने वाली मृत्यु को भी जो बडे स्वाद से चट कर जाता है उसके विषय में कौन जान सकता है कि वह कहा है ?" ॥२५॥

तस्य—उसके (लिए), एष—यह, आत्मा—परमात्मा, विवृणुते—प्रगट करता है, खोल देता है, तनूम्—शरीर को (स्वरूप को) स्वाम्—अपने ॥२३॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥२४॥

न—नही, अविरतः—न हटा हुआ (फँसा हुआ), दुश्चरितात्—दुराचरण (त्याज्य कर्मों) से, न—नहीं, अशान्तः—शान्तिशून्य, न—नही, असमाहितः—चचल (विषयो में फँसे) चित्तवाला अयोगी, न—नही, अशान्तमानसः—अस्थिर मननशक्ति वाला, वा—या, अपि—भी, प्रज्ञानेन—प्रकृष्ट ज्ञान से, एनम्—इसको, आप्नुयात्—पा सकता है ॥ २४ ॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥२५॥

यस्य—जिसके, ब्रह्म—ब्राह्मण, आध्यात्मिक शक्ति से युक्त, च—और, क्षत्रम्—क्षत्रिय, भौतिक शक्ति से सम्पन्न, च—और, उभे—दोनो, भवतः—होते हैं, ओदनः—भात, खाद्यवस्तु ग्रास, मृत्युः—मार, यस्य—

तृतीया वल्ली

यमाचार्य द्वारा कर्मकांड तथा ज्ञानकांड में भेद एवं ज्ञानकांड के स्वरूप का वर्णन

ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं कि 'पञ्चाग्नि', अर्थात् पांच यज्ञों को करने वाले 'कर्मकाण्डियों' तथा 'त्रि-नाचिकेत', अर्थात् यमाचार्य ने जिन तीन नाचिकेत-अग्नियों का उपदेश दिया है उनका सेवन करने वाले 'ज्ञानकाण्डियों' में छाया और आतप का-सा अन्तर है। जो सिर्फ़ बाह्य यज्ञों में लगा रहता है वह तो मानो छाया में लगा हुआ है, तीन नाचिकेत-अग्नियों का सेवन ही वास्तविक प्रकाश का सेवन है। ये दोनों अपने-अपने दृष्टिकोण से 'ऋत' (Absolute truth) का पान करते हैं। जिस तत्त्व को यथार्थ-ज्ञान समझे हुए हैं उसी में ये दोनों लगे रहते हैं, दोनों परम-श्रेष्ठ बुद्धिरूपी गुहा में प्रविष्ट हैं, परन्तु कर्मकांडी तथा ज्ञानकांडियों में भेद छाया और आतप का-सा है ॥१॥

(वैदिक साहित्य में 'ऋत' तथा 'सत्य'—ये दो शब्द पाये जाते हैं। 'ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'—तपोमय ब्रह्म से ऋत तथा सत्य प्रकट हुए। 'ऋत' का अर्थ है—निरपेक्ष सत्य (Absolute truth) तथा 'सत्य' का अर्थ है—सापेक्ष सत्य (Relative truth)—'सत्य' तो परिस्थिति के अनुसार बदल सकता है, 'ऋत' परिस्थिति पर आश्रित नहीं।)

जिसका; उपसेचनम्—खाद्य को अधिक स्वादिष्ट बनानेवाला पदार्थ (दाल आदि व्यंजन); कः—कौन; इत्था—निश्चित रूप से; वेद—जानता है; यत्र—जहाँ; सः—वह (है) ॥ २५ ॥

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥१॥

ऋतम्—सत्य (यथार्थ ज्ञान) को; **पिबन्तौ**—पीते हुए, भोगते हुए, जानते हुए; **सुकृतस्य**—पुण्य कर्म के; **लोके**—लोक में; (**सुकृतस्य लोके**—पुण्य कर्मों से प्राप्त मनुष्य जन्म में); **गुहाम्**—बुद्धि में; **प्रविष्टौ**—रहने वाले; **परमे**—श्रेष्ठ; **परार्धे**—हृदय-प्रदेश में; **छाया+आतपौ**—छाया और धूप (के समान); **ब्रह्मविदः**—ब्रह्मज्ञानी; **वदन्ति**—कहते हैं; **पञ्चाग्नयः**—पाँच (गार्हपत्य

जो लोग यज्ञ-याग आदि में इसलिये लगे हुए हैं कि भव-सागर को तर कर पार जाना चाहते हैं, अभय, परब्रह्म को पाना चाहते हैं, उनके लिये वास्तविक पुल तो कर्मकाड नहीं, परन्तु 'नाचिकेत-अग्नि' अर्थात् ज्ञानकाड ही है। उसे हम प्राप्त कर सकें ॥२॥

आत्मा रथी है, अर्थात् रथ का मालिक है, शरीर एक रथ है, बुद्धि सारथि है—साईस है, मन लगाम है ॥३॥

इन्द्रिय घोड़े हैं, इन्द्रियों के विषय वे मार्ग हैं जिन पर इन्द्रिय-रूपी घोड़े दौड़ते हैं। मनीषी लोग कहते हैं कि जब आत्मा, इन्द्रिया तथा मन मिलकर कोई काम करते हैं तब मनुष्य 'भोक्ता' कहलाता है ॥४॥

आदि) अग्नियों का सेवन करने वाले—गृहस्थ कर्म-काण्डी, ये च—और जो, त्रिणाचिकेता—तीन (स्वयं) ज्ञानाग्नियों का सेवन करने वाले—ज्ञान-काण्डी ॥१॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि ॥२॥

यः—जो, सेतु—पुल (पार जाने में साधन), ईजानानाम्—यज्ञ करने वालों का, अक्षरम्—अविनाशी, ब्रह्म—ब्रह्म, यत्—जो, परम्—सर्वश्रेष्ठ, अभयम्—निर्भय करने वाला, तितीर्षताम्—तैर कर पार जाने की कामना वाले, पारम्—पार, नाचिकेतम्—ज्ञानाग्नि को, शकेमहि—समर्थ होवें ॥२॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥

आत्मानम्—आत्मा को, रथिनम्—रथ का अधिपति (सवार), विद्धि—जान, शरीरम्—शरीर को, रथम्—रथ, एव—ही, तु—तो, बुद्धिम्—बुद्धि को, तु—तो, और, सारथिम्—सारथि, साईस, विद्धि—जान, मनः—मन को, प्रग्रहम्—रास, रस्सी, एव—ही, च—और ॥३॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥४॥

इन्द्रियाणि—इन्द्रियों को, हयान्—घोड़े, आहुः—कहते हैं, विषयान्—विषयों को, तेषु—उनमें, गोचरान्—गोचर भूमि (क्षेत्र) या मार्ग, आत्मा+इन्द्रिय-मनोयुक्तम्—आत्मा, इन्द्रिय और मन मिले हुए या इन्द्रिय और मन से समन्वित आत्मा, भोक्ता—भोग करने वाला, इति—ऐसे, आहुः—कहते हैं, मनीषिणः—मननशील ज्ञानी ॥४॥

जो विज्ञान-रहित है, उसका मन सदा आत्मा से अ-युक्त रहेगा। उसकी इन्द्रियां भी वश में नहीं रहतीं, जैसे दुष्ट घोड़े सारथि के वश में नहीं रहते ॥५॥

जो विज्ञान वाला है, जिसका मन आत्मा से जुड़ा रहता है, उसकी इन्द्रियां वश में रहती हैं, जैसे अच्छे घोड़े सारथि के वश में रहते हैं ॥६॥

जो विज्ञान-रहित है, जिसका मन आत्मा से युक्त नहीं, जो सदा अपवित्र विचारों को ही सोचता है, वह उस उच्च-पद को, जिसमें आत्मा मालिक बन कर रथ को चलाये, नहीं प्राप्त कर सकता। घोड़े ही उसके रथ के मालिक बन जाते हैं और उसे संसार में भटकाते फिरते हैं, वह जन्म-मरण के चक्कर में उलझा फिरता है ॥७॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥५॥

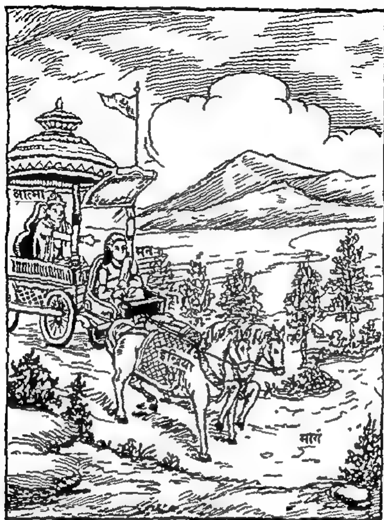
यः—जो; **तु**—तो; **अविज्ञानवान्**—विज्ञान से शून्य; **भवति**—होता है; **अयुक्तेन**—निग्रह (रोक) न माननेवाले, स्वच्छन्द; **मनसा**—मन से, **सदा**—हमेशा; **तस्य**—उसकी; **इन्द्रियाणि**—इन्द्रियाँ; **अवश्यानि**—वश में न आने वाली, बेकाबू; **दुष्ट+अश्वाः**—बुरे घोड़े; **इव**—तरह; **सारथेः**—साईस के ॥ ५ ॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥६॥

यः तु—जो तो; **विज्ञानवान्**—विशेष ज्ञानी; **भवति**—होता है; **युक्तेन**—निगृहीत; **मनसा**—मन से; **सदा**—हमेशा; **तस्य**—उसकी; **इन्द्रियाणि**—इन्द्रियाँ; **वश्यानि**—वश (काबू) में रहने वाली (होती हैं); **सदश्वाः**—अच्छे घोड़े; **इव**—तरह; **सारथेः**—साईस के ॥ ६ ॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥७॥

यः तु—जो तो; **अविज्ञानवान्**—अज्ञानी, बेसमझ; **भवति**—होता है; **अमनस्कः**—मन (मनन-शक्ति) से शून्य; **सदा**—हमेशा; **अशुचिः**—अपवित्र, शरीर-मन-बुद्धि को शुद्ध न रखने वाला; **न**—नहीं; **सः**—वह अज्ञानी; **तत्**—उस; **पदम्**—प्राप्य लक्ष्य (अभीष्ट) ब्रह्म को, स्थान को, मंजिल को; **आप्नोति**



आत्मा रथी है, इन्द्रिया घोड़े हैं, विषय मार्ग हैं

जो विज्ञान वाला है, जिसका आत्मा मन के साथ नहीं परन्तु मन आत्मा के साथ लगा है, जो पवित्र विचारों को सोचता है, वह उस उच्च-पद को प्राप्त कर लेता है जिससे फिर उत्पन्न नहीं होता ॥८॥

—प्राप्त करता है, संसारम्—संसार को, जन्म-मरण (आवागमन) को, च—और, अधिगच्छति—प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥८॥

यः तु—जो तो, विज्ञानवान् भवति—ज्ञानी (समझदार) होता है, समनस्कः—मनन शक्ति से सम्पन्न, सदा शुचिः—सदैव शुद्ध मन-वचन-कर्म

जिसका 'विज्ञान' सारथि है—कोचवान है, जो मनरूपी लगाम को अपने हाथ में रखता है, वह इस संसार-रूपी मार्ग का पार पा लेता है, वह विष्णु के परम पद को, परम धाम को प्राप्त कर लेता है, वह परमात्मा तक पहुंच जाता है ॥९॥

अन्तर्जगत्, अर्थात् 'पिंड' में इन्द्रियों की अपेक्षा उनके विषय—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द—दूर हैं। इन्द्रियां दीखती हैं, ये दीखते नहीं; इन्द्रियां स्थूल हैं, ये सूक्ष्म हैं। विषयों की अपेक्षा मन परे है। मन की अपेक्षा बुद्धि परे है। मन का काम 'संकल्प-विकल्प' करना है, बुद्धि का काम 'निश्चय' करना है। बुद्धि की अपेक्षा आत्मा महान् परे है, अत्यन्त दूर है ॥१०॥

बाह्य-जगत्, अर्थात् 'ब्रह्मांड' के दो रूप हैं—एक दृश्य, जो दीख रहा है, इसे 'व्यक्त' कहते हैं, 'महत्' कहते हैं, 'विकृति' कहते हैं;

वाला; सः तु—वह तो; तत् पदम्—उस लक्ष्य को; आप्नोति—पा लेता है; यस्मात्—जिस पद (लक्ष्य) से; भूयः—फिर; न—नहीं; जायते—पैदा होता है—आवागमन में पड़ता है ॥ ८ ॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु　　　मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥

विज्ञान-सारथिः—बुद्धिरूपी सारथिवाला; यः तु—जो तो (है); मनः-प्रग्रहवान्—मन रूपी रास (लगाम) हाथ में पकड़े हुए; नरः—मनुष्य; सः—वह; अध्वनः—मार्ग के (मोक्ष-मार्ग के); पारम्—पार; आप्नोति—पहुँच जाता है; तद्—वह ही; विष्णोः—सर्वव्यापक भगवान् का; परमम्—श्रेष्ठ; पदम्—स्थान (धाम) है ॥ ९ ॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥१०॥

इन्द्रियेभ्यः—इन्द्रियों से; पराः—परे, दूर, श्रेष्ठ, सूक्ष्म; हि—ही; अर्थाः—विषय; अर्थेभ्यः—विषयों से; च—और; परम्—परे, सूक्ष्म; मनः—मन; मनसः—मन (संकल्प-विकल्पात्मक) से; तु—तो; परा—श्रेष्ठ; बुद्धिः—निर्णायिका बुद्धि; बुद्धेः—बुद्धि से; आत्मा—सतत गति (क्रियाशील); महान्—महत् नामी (प्रकृतिका प्रथम विकार) तत्त्व; परः—परे, श्रेष्ठ (है) ॥ १० ॥

महतः　　परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः　　परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥

महतः—महत् (कार्य प्रकृति) से; परम्—सूक्ष्म; अव्यक्तम्—कारण

दूसरा अदृश्य, जो दृश्य से पहले था, जिसमें सत्त्व-रज-तम साम्यावस्था में थे, इसे 'अव्यक्त' कहते हैं, 'प्रकृति' कहते हैं। बाह्य-जगत् के 'महत्', अर्थात् 'व्यक्त' (विकृति) की अपेक्षा 'अव्यक्त' (प्रकृति) परे है, और 'अव्यक्त' की अपेक्षा 'पुरुष'—परमात्मा—और भी परे है। पुरुष से परे कुछ नहीं है—वह हद है, जाने की वह अन्तिम सीमा है (देखो गीता ३-४२—'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥') ॥११॥

परमात्मा इन सब भूतो में—अन्तर्जगत् तथा बाह्य-जगत् में—छिपा हुआ प्रकट नहीं होता। सूक्ष्मदर्शी लोग 'अग्र-बुद्धि' से—आगे-आगे चलने वाली सूक्ष्म बुद्धि से—उसका दर्शन करते है ॥१२॥

(यमाचार्य ने नचिकेता को बतलाया कि पिंड मे इन्द्रियो की डोर पकड कर आगे-आगे चले—'अग्र-बुद्धि' से काम ले, और 'ब्रह्माड मे' प्रकृति के पच महाभूतो की डोर पकड कर आगे-आगे चले—'अग्र-बुद्धि' से काम ले। जो इस पकार चलेगा उसे इन्द्रियो के पीछे छिपा हुआ 'आत्मा' और प्रकृति के पीछे छिपा हुआ 'परमात्मा' नजर आ जायगा। जीवन की यात्रा जिसमें आत्मा रथी है, शरीर रथ है, और इन्द्रिय घोडे है, पिंड मे आत्मा तक और ब्रह्माड मे परमात्मा तक पहुचने के लिये है। हम लोग तो अभी यात्रा के मार्ग पर ही नही चले। पिंड मे हम अभी इन्द्रियो में अटके हुए है—आत्मा तक कब पहुचेगे, ब्रह्माड में पच महाभूतो में अटके हुए है, इस जीवन-यात्रा मे परमात्मा तक कब पहुचेंगे ?)

रूप मूल प्रकृति, अव्यक्तात्—कारण प्रकृति से, पुरुष—परमात्मा, पर—परे, पुरुषात्—परमात्मा से, न—नही, परम्—सूक्ष्म, आगे, परे, किंचित्—कुछ भी, सा—वह ही, काष्ठा—सीमा, हद, सा—वह ही, परा—अन्तिम, गति—पहुंच, लक्ष्य (है) ॥ ११ ॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥

एष—यह परमात्मा, सर्वेषु—सब, भूतेषु—जड पच भूत और चेतन प्राणधारियो मे, गूढोत्मा—छिपे हुए स्वरूप वाला, न—नही, प्रकाशते—प्रगट हो रहा है, दृश्यते—देखा जाता है, जाना जा सकता है, तु—तो, अग्रयया—तीव्र, आगे-आगे बढ़ने वाली, बुद्धया—बुद्धि से, सूक्ष्मया—सूक्ष्म, सूक्ष्मदर्शिभिः—सूक्ष्म दृष्टि (विचार) वाले मनीषियों के द्वारा ॥ १२ ॥

ज्ञानी व्यक्ति को चाहिये कि वाणी आदि इन्द्रियों तथा मन को एकाग्र करे, और इन्हें 'ज्ञानात्मा' के साथ जोड़ दे, ज्ञानात्मा को 'महान्-आत्मा' के साथ जोड़ दे, महानात्मा को 'शान्तात्मा' के साथ जोड़ दे। 'ज्ञानात्मा'-'महानात्मा'-'शान्तात्मा' का क्या अर्थ हुआ? संसार में 'ज्ञान' भी है, 'अज्ञान' भी है। इन्द्रियां तथा मन 'ज्ञान' के साथ भी जुड़ सकते हैं, 'अज्ञान' के साथ भी। 'अज्ञान' के साथ जुड़ना 'अविद्या' की तरफ़ जाना, 'प्रेय' की तरफ़ जाना है। 'ज्ञान' के साथ जुड़ना 'विद्या' की तरफ़ जाना, 'श्रेय' की तरफ़ जाना है। मनुष्य उन्नति के मार्ग पर तभी चलने लगता है जब 'ज्ञान' के साथ अपने आत्मा का सम्बन्ध जोड़ता है, 'अज्ञान' के साथ नहीं। इसी का अर्थ 'ज्ञानात्मा' के साथ जुड़ना है। आत्मा के साथ 'ज्ञान' का सम्बन्ध हुआ, तो वह 'महान्' होने लगता है, महान् होने पर ही आत्मा में 'शान्ति' आती है—इसलिये 'ज्ञानात्मा', 'महानात्मा' तथा 'शान्तात्मा'—आत्मा के विकास के ये तीन क्रम हैं ॥१३॥

उठो, जागो, जिन शान्तात्मा महात्माओं को परमात्मा का वरदान मिल चुका है उनकी शरण में पहुंचो, और उनसे ब्रह्म-विद्या का बोध प्राप्त करो। यह मार्ग तेज़ किये हुए छुरे की धार के समान लांघना कठिन है। कवि लोग कहते हैं कि वह मार्ग दुर्गम है ॥१४॥

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१३॥

यच्छेत्—जोड़े, लय कर दे; **वाक्**—वाणी को; **मनसि**—मन में; **प्राज्ञः**—प्रकृष्ट ज्ञानी पुरुष; **तद्**—उस (मन) को; **यच्छेत्**—लगावे; **ज्ञाने**—ज्ञानमय; **आत्मनि**—आत्मा में; **ज्ञानम्**—ज्ञान को; **आत्मनि**—आत्मा में; **महति**—महान्; **नियच्छेत्**—नियमित करे; **तद्**—उस (महान् आत्मा) को; **यच्छेत्**—जोड़े; **शान्ते**—शान्ति (आनन्द) के भण्डार; **आत्मनि**—परमात्मा में ॥ १३ ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥१४॥

उत्तिष्ठत—उठो, तत्पर होओ; **जाग्रत**—जागो, चेतन होओ; **प्राप्य**—प्राप्त कर; **वरान्**—श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुषों को; **निबोधत**—भली प्रकार (भगवान् ब्रह्म को) जानो; **क्षुरस्य**—छुरे की; **धारा**—धार, अग्रभाग; **निशिता**—तेज़;

वहां शब्द नहीं, स्पर्श नहीं, रूप नहीं, रस नहीं, गन्ध नहीं, उत्पत्ति-विनाश नहीं। वह नित्य है, अनादि है, अनन्त है, महान् है, सबसे परे है, ध्रुव है—निश्चल है, एक-रस है। मनुष्य जब उसे निश्चित रूप में जान लेता है तब मृत्यु के मुख से छूट जाता है ॥१५॥

यह नचिकेता-सम्बन्धी सनातन उपाख्यान है। मृत्यु ने इसे कहा है। इसे जो मेधावी कहता है और सुनता है वह ब्रह्म-लोक में महिमा को प्राप्त करता है ॥१६॥

ब्रह्म-ज्ञानियों की सभा में जो इस परम-गुह्य कथानक को एकाग्र-चित्त होकर, स्वयं उनकी सभा में जाकर, या उन्हें श्रद्धा-

---

दुरत्यया—कठिनता से लांघी जा सकती है; दुर्गम्—कठिनाई से जाने योग्य, पथः—मार्ग का, मार्ग को, तत्—उसको, कवयः—ज्ञानी लोग, वदन्ति—कहते हैं ॥ १४ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥१५॥

अशब्दम्—शब्द गुण से रहित, अस्पर्शम्—स्पर्श से रहित, अरूपम्—रूप-शून्य, अव्ययम्—अविनाशी, अविकारी, तथा—और अरसम्—रस (स्वाद) गुण से हीन, नित्यम्—हमेशा रहने वाला, अगन्धवत्—गन्ध गुण से रहित, च—और, यत्—जो (ब्रह्म); अनादि—अनादि, अनन्तम्—अनन्त, महतः—कार्य प्रकृति से, परम्—आगे, सूक्ष्म, ध्रुवम्—स्थिर, कूटस्थ, निचाय्य—जान कर, तत्—उस (ब्रह्म) को, मृत्युमुखात्—मृत्यु (जन्म-मरण) के मुख से, प्रमुच्यते—छूट जाता है ॥ १५ ॥

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥१६॥

नाचिकेतम्—नचिकेता सम्बन्धी, उपाख्यानम्—कथा को, वर्णन को, मृत्युप्रोक्तम्—मृत्यु के द्वारा कहे हुए, सनातनम्—हमेशा रहनेवाले, उक्त्वा—कह कर, सुना कर, श्रुत्वा—सुन कर, च—और; मेधावी—ज्ञानी, ब्रह्मलोके—ब्रह्मलोक में, ज्ञानियों में; महीयते—महिमा को पाता है ॥१६॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति ॥१७॥

यः—जो; इमम्—इस (कथानक) को, परमम्—अत्यधिक; गुह्यम्—रहस्यपूर्ण, गुप्त; श्रावयेत्—सुनावे; ब्रह्म-संसदि—ज्ञानी ब्राह्मणों की सभा में;

पूर्वक अपने यहां निमन्त्रित करके सुनाता है, उसे अनन्त फल प्राप्त होता है, अनन्त फल प्राप्त होता है ॥१७॥

चतुर्थी वल्ली

अन्तर्मुख होते ही ब्रह्म के दर्शन होते हैं---'एतत् वै तत्'---'यह वह रहा'---ऐसा भासने लगता है

स्वयंभू, अर्थात् परमात्मा ने इन्द्रियों को बाहर की तरफ़ जाने वाला बनाया है, इसीलिये मनुष्य बाहर की तरफ़ देखता है, अन्दर---आत्मा---की तरफ़ नहीं। अमृत को चाहने वाला कोई धीर पुरुष ही होता है जो विषयों से आंखें मूंद लेता है और मुड़ कर आत्मा को देखता है ॥१॥

भोले लोग बाहर फैली हुई कामनाओं के पीछे दौड़ते हैं, वे आगे-आगे जाती हैं, हाथ नहीं आतीं, ये पीछे-पीछे भागते हैं, पकड़ नहीं पाते। कामनाओं को तो ये क्या पाते, मृत्यु का जाल चारों तरफ़

प्रयतः---संयमी; श्राद्धकाले---श्रद्धापूर्वक किये कार्य के अवसर पर; वा---या; तवा---तब; आनन्त्याय---अनन्त पद या फल की प्राप्ति में; कल्पते---समर्थ होता है; तदा आनन्त्याय कल्पते---तब अनन्त पद या अनन्त फल पाता है ॥ १७ ॥

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥१॥

पराञ्चि---बहिर्मुख, बाह्य जगत् को देखने वाली; खानि---इन्द्रियों को; व्यतृणत्---काटा, बनाया; स्वयंभूः---परमात्मा ने; तस्मात्---उस कारण से; पराङ---बहिर्जगत् को, बाहर की ओर; पश्यति---ज्ञान प्राप्त करता है; न---नहीं; अन्तरात्मन्---अन्दर की ओर आत्मा में; कश्चित्---कोई; धीरः---धैर्य सम्पन्न ज्ञानी; प्रत्यग्---अन्दर की ओर; आत्मानम्---आत्मा को; ऐक्षत्---देखता है; आवृत्तचक्षुः---चक्षु आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों से लौटाने वाला---रोकने वाला; अमृतत्वम्---अमरता---मोक्ष को; इच्छन्---चाहता हुआ ॥ १ ॥

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥२॥

पराचः---बाहर की ओर विद्यमान; कामान्---कामनाओं---विषय-भोगों के; अनुयन्ति---पीछे-पीछे चलते हैं; बालाः---बालक-सदृश अज्ञानी; ते---वे;

फैला पड़ा है, उसी में जा उलझते हैं। धीर लोग अमृतत्व को जानकर अध्रुवों में, अर्थात् अस्थिर वस्तुओं में, ध्रुव को, अर्थात् स्थिर को याचना नहीं करते ॥२॥

रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, मैथुन—इनकी स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं है। वह जो इन सबको चला रहा है, अगर इनमें से अपना हाथ खींच ले, तो इनका तो ज्ञान भी नहीं हो सकता। उसी के कारण इनका ज्ञान होता है। वह न रहे, तो क्या कुछ भी बच रहता है? अस्ल में वही 'वास्तविक'-सत्ता (Ultimate reality) है ॥३॥

सोने के बाद जब मनुष्य जागता है, तो कैसे समझता है कि मैं वही हूं, जो सोया था? जागने के बाद जब वह सोने लगता है, तो कैसे समझता है कि मैं सोकर उठने पर वही-का-वही रहूंगा? इन दोनों ओर-छोर को जैसे मनुष्य देख लेता है, इसी से, आत्मा की महानता को, विभुता को पा लेता है। जो धीर आत्मा की महानता को जान जाता है वह शोक में नहीं पड़ता क्योंकि क्षुद्रता ही दु:ख का, शोक का कारण है, महानता में दु:ख नहीं, शोक नहीं ॥४॥

मृत्यो:—मृत्यु के, यन्ति—प्राप्त होते हैं, विततस्य—सर्वत्र फैली, विस्तृत, पाशम्—बन्धन को, अथ—किन्तु, धीरा—धीर ज्ञानी, अमृतत्वम्—अमर-पद के स्वरूप को, विदित्वा—जानकर, ध्रुवम्—स्थायी, कूटस्थ, अध्रुवेषु—अस्थिर भोगों पर, इह—इस संसार में, न—नहीं, प्रार्थयन्ते—याचना करते हैं, कामना करते हैं ॥ २ ॥

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते, एतद्वै तत् ॥३॥

येन—जिसके द्वारा, रूपम्—रूप को, रसम्—रस (स्वाद) को, गन्धम्—सुगन्ध-दुर्गन्ध को, शब्दान्—शब्दों को, च—और, मैथुनान्—रति-जन्य सुखों को, एतेन—इससे, एव—ही, विजानाति—जानता है, किम्—क्या (कुछ भी नहीं), अत्र—यहाँ, परिशिष्यते—शेष रहता है, बचता है, एतद्—यह प्रेरक ही, वै—निश्चय से, तत्—वह (ब्रह्म ही है) ॥ ३ ॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥४॥

स्वप्नान्तम्—स्वप्न के अन्त (ओर छोर, रहस्य) को, जागरितान्तम्—जाग्रद्-अवस्था के अन्त को, च—और, उभौ—दोनों को, येन—जिससे,

यह जीवात्मा मधु को चखने वाला है। यह मिठास की तरफ़ जाता है। विषयों की मिठास के पीछे कटुता छिपी है, ब्रह्म की मिठास उत्तरोत्तर मीठी होती जाती है। जीवात्मा के इस स्वभाव को जो निकट से जान जाता है, वह अपने भूत और भविष्यत् का स्वामी हो जाता है, और फिर उसे आत्म-ग्लानि नहीं होती। अस्ल में यथार्थ-सत्ता इन्द्रियों की नहीं, आत्मा की है ॥५॥

आत्मा का वर्णन करने के अनन्तर परमात्मा का वर्णन करते हैं—संसार की रचना 'तप' से हुई। 'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तप-सोऽध्यजायत'—'ऋत' (Absolute law) तथा 'सत्य' (Relative law) भी पहले-पहल 'तप' से ही हुए। जब भी कोई कार्य करना होता है, तब 'तप' की आवश्यकता होती है। बिना 'तप' के—यूं ही, आसानी से—कुछ नहीं होता। क्रिया का उग्र-रूप ही 'तप' है। सृष्टि की जब रचना हुई, तब एक 'क्रिया' ही तो हुई। जैसा हमने अभी कहा, तीव्र-क्रिया का नाम ही 'तप' है, अतः 'तप' सृष्टि की रचना में सबसे प्रथम था, परन्तु वह ब्रह्म तो 'तप' से भी पूर्व था। क्योंकि उसी ने तो सृष्टि रचना की 'क्रिया' की, अर्थात् 'तप' किया।

अनुपश्यति—जानता है; **महान्तम्**—बड़े; **विभुम्**—व्यापक; **आत्मानम्**—परमात्मा को; **मत्वा**—समझ कर, जान कर; **धीरः**—धीर ज्ञानी; **न**—नहीं; **शोचति**—शोक करता है, दुःखी होता है ॥ ४ ॥

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते, एतद्वै तत् ॥५॥

यः—जो; **इमम्**—इस; **मध्वदम्** (मधु+अदम्)—मीठे को खाने वाले, आनन्द को भोगने वाले को; **वेद**—जानता है; **आत्मानम् जीवम्**—जीव आत्मा को; **अन्तिकात्**—पास से, भली प्रकार; **ईशानम्**—प्रभु, समर्थ, स्वामी को; **भूत-भव्यस्य**—भूत और भविष्यत् के; **न**—नहीं; **ततः**—उसके बाद; **विजुगुप्सते** ग्लानि को अनुभव करता है; **एतद् वै तत्**—निश्चय से यह सब वह ब्रह्म ही है ॥ ५ ॥

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत, एतद्वै तत् ॥६॥

यः—जो; **पूर्वम्**—पहले; **तपसः**—तप (तीव्र क्रिया) से; **जातम्**—उत्पन्न हुआ; **अद्भ्यः**—जलों से; **पूर्वम्**—पहले; **अजायत**—उत्पन्न हुआ,

'तप' के बाद जब 'ऋत' (Absolute law—निरपेक्ष नियम) तथा 'सत्य' (Relative law—सापेक्ष नियम) द्वारा सृष्टि बनी, तब पहले वायवीय (Gaseous) अवस्था थी, उसमें जीवन-तत्त्व नहीं रह सकता था। उसके बाद आग्नेय (Ignitious) अवस्था आयी, उसमें भी जीवन-तत्त्व नहीं रह सकता था। तदनन्तर जलीय (Acqueous) अवस्था आई, उसमें जीवन-तत्त्व रह सकता था। 'तप' से 'जड़' जगत् का—वायवीय तथा आग्नेय जगत् का—विकास हुआ। ब्रह्म 'तप' से भी पहले था। विकास होते-होते जब जल बना तब 'चेतन' जगत् के उत्पन्न होने का समय आया, क्योंकि जल में जीवन रह सकता था, परन्तु वह ब्रह्म उस 'जल' से भी पूर्व था जिसमें जीवन-तत्त्व अपना विकास पा सकता था। अतः वह 'तप' तथा 'जल' दोनों से पूर्व था, वह जड़-चेतन सबसे पहले था। वह पञ्च-भूतों के साथ गुहा में घुसा बैठा है। वह कहीं दूर नहीं बैठा, यहीं हमारे सामने—जो-कुछ इन्द्रियों से दीख पड़ता है वही उसकी गुफा है, उसी में छिपा बैठा है, हमसे मानो आंख-मिचौनी खेल रहा है, हमारी दौड़-धूप का मजा ले रहा है। इन पञ्च-भूतों की उसने ओट ले रखी है, बैठा तो वह इन्हीं के साथ है, यही उसकी गुफाएं हैं—इस प्रकार जो देख लेता है, वह कह उठता है, अरे, वह तो यह बैठा—'एतत् वै तत्'—है ॥६॥

संसार में 'पुरुष' तथा 'स्त्री' ये दो तत्त्व हैं। पुरुष-रूप में ब्रह्म का वर्णन करने के बाद स्त्री-रूप में उसका वर्णन करते हैं। वह देवता-मयी ब्रह्म-शक्ति अदिति है, मातृ-तुल्य है। वह प्राणायाम से प्रकट होती

विद्यमान था, गुहाम्—गुफा, छिपने का स्थान, बुद्धि या हृदय, प्रविश्य—प्रवेश करके, तिष्ठन्तम्—ठहरे हुए को, विद्यमान को, यः—जो, भूतेभिः—पञ्चभूतों के द्वारा, व्यपश्यत—देखता है, एतद् वै तत्—यह सब निश्चय से ब्रह्म ही है॥ ६॥

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत, एतद्वै तत् ॥७॥

या—जो; प्राणेन—प्राण से, प्राणों के संयम से; संभवति—पैदा होती है; अदितिः—अदीन, देवमाता, प्रकृति; देवतामयी—देवता (पञ्चभूतों) के

है। प्राणायाम एकाग्रता का सबसे बड़ा साधन है। प्राणायाम से ही इन्द्रियों को मन के साथ, और मन को आत्मा के साथ नियुक्त किया जा सकता है। बिना प्राणायाम के इन्द्रियां दुष्ट घोड़ों की तरह इधर-उधर भागने लगती हैं। प्राणायाम करते समय कोई व्यक्ति दुश्चिन्तन नहीं कर सकता। प्राणायाम 'मन' को 'आत्मा' के साथ बांधने वाली रस्सी है। वह भगवती इन पञ्च-महाभूतों के साथ उन्हीं को गुहा बनाकर छिपी बैठी है। उसने इनकी ओट ले रखी है, बैठी वह यहीं है, हमारे सामने ही, कहीं दूर नहीं, हमारे सामने बैठी हमसे आंख-मिचौनी खेल रही है। जो उसे भूतों में छिपा देख लेता है, वह कह उठता है, अरे वह तो यह—'एतत् वै तत्'—रहा ॥७॥

जैसे अरणियों में अग्नि होती है, दीखती नहीं, और उसे प्रकट करने के लिए उनका रगड़ना जरूरी है, जैसे गर्भिणी का गर्भ सुरक्षित होता है, वह दीखता नहीं परन्तु गर्भिणी का ध्यान सदा उसी की तरफ़ लगा रहता है, इसी प्रकार जागरूक मनुष्य प्रतिदिन स्तुति के योग्य ब्रह्माग्नि को इन पञ्च-महाभूतों की रगड़ से ही पैदा करते रहते हैं, और सदा उसी की तरफ़ ध्यान लगाये रहते हैं। ऐसे लोग 'हविष्मान्' होते हैं। उनके पास जो-कुछ होता है उसे वे 'हवि' समझते हैं, जो-कुछ हाथ में होता है उसे 'हवि' की तरह छोड़ने के लिए हर समय तैयार रहते हैं, किसी चीज से चिपटते नहीं। जैसे यज्ञाग्नि में सब-कुछ 'स्वाहा' कहकर डाल दिया जाता है, वैसे ब्रह्माग्नि में वे सब-कुछ समर्पित करने को उद्यत रहते हैं। जिसका ध्यान करके वे ऐसा करते हैं वही—'एतत् वै तत्'—'ब्रह्म' है ॥८॥

रूप वाली; **गुहाम्**—ओट, रहस्य; **प्रविश्य**—घुस कर; **तिष्ठन्तीम्**—ठहरी हुई, विद्यमान; **या**—जो; **भूतेभिः**—भूतों के द्वारा; **व्यजायत**—उत्पन्न होती है, देखी (जानी) जाती है; **एतद् वै तत्**—यह ही वह (ब्रह्म) है ॥ ७ ॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः, एतद्वै तत् ॥८॥

अरण्योः—अरणी नामक दो लकड़ियों में; **निहितः**—छिपा हुआ, रखा, विद्यमान; **जातवेदाः**—अग्नि; **गर्भः**—गर्भ; **इव**—तरह; **सुभृतः**—सुरक्षित; **गर्भिणीभिः**—गर्भवती स्त्रियों से; **दिवे दिवे**—प्रति दिन; **ईड्यः**—स्तुति के

हमारे लिये सबसे महान शक्ति सूर्य है। इसका उदय उसी से होता है, इसका अन्त भी उसी में हो जाता है। वही इसको पैदा करता है, वही इसे समाप्त कर देता है। सूर्य का प्रतिदिन का उदयास्त होना भी उसी के द्वारा होता है। सब देवताओ ने उसी के चरणो में सिर झुकाया हुआ है—सब उसी के सामने अर्पित है। उससे बढकर कोई नहीं है। वही—एतत् वै तत्—'ब्रह्म' है ॥९॥

जो शक्ति यहा काम कर रही है, वही वहा भी काम कर रही है, जो वहा काम कर रही है, वही यहा भी काम कर रही है। ससार में दूर-से-दूर कहीं भी चले जाओ सब जगह एक ही हाथ की छाप है, सब जगह उसी का सिक्का चल रहा है। जो व्यक्ति ससार की एकता को नहीं समझता, जो यह समझता है कि संसार में कहीं कोई शक्ति काम कर रही है, कहीं कोई—जो इस प्रकार नाना-भाव की कल्पना करता है—वह मृत्यु के मुह में कदम रख देता है ॥१०॥

योग्य, जागृवद्भि—जागते हुए, सावधान, हविष्मदभि—सर्वस्व अर्पण (दान) करने को उद्यत, प्राकृतिक भागो से ऊपर उठे हुए, मनुष्येभि—मनुष्या से, अग्नि—ज्ञान स्वरूप ब्रह्म (है), एतद् वै तत्—यह ही वह (ब्रह्म) है ॥ ८ ॥

यतश्चोदेति सूर्योऽस्त यत्र च गच्छति।
त देवा सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत् ॥९॥

यत—जिससे, जहाँ से, च—और, उदेति—उदय होता है सूर्य—सूर्य, अस्तम्—अस्त होना, छिपना, यत्र—जहाँ, जिसमे, च—और, गच्छति—जाता है, (अस्तम् गच्छति—छिप जाता है), तम्—उसको (म), देवा—देवता, ज्ञानी पुरुष, सर्वे—सारे, अर्पिता—लीन है मग्न हैं, तद्—उसको, उ—निश्चय मे, न—नहीं, अत्येति—लाँघता है, बढकर है, आगे है, कश्चन—कोई भी, एतद् वै तत्—यह ही वह (ब्रह्म) है ॥ ९ ॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०॥

यद्—जो, एव—ही, इह—यहाँ, इस सृष्टि मे, तद्—वह ही, अमुत्र—परलोक मे, सृष्टि से बाहर, यद्—जो, अमुत्र—परलोक मे, दृश्यमान सृष्टि से परे, तद्—वह ही, अनु इह—यहाँ भी है, मृत्यो—मृत्यु से, स—वह, मृत्युम्—मृत्यु को, आप्नोति—प्राप्त करता है, य—जो, इह—इसमे (इस विषय

मन के द्वारा उस एक-तत्त्व की प्रतीति होती है, इन्द्रियों द्वारा नहीं। इन्द्रियों से जो 'नानात्व'—अनेकता—दिखाई देती है वह यथार्थ नहीं है। एकता का दर्शन ही जीवन है, अनेकता का दर्शन ही मृत्यु है। जो नानात्व ही देखता है, एकत्व नहीं देखता, वह मृत्यु के मुंह में कदम रख देता है (बृहदा० ४-४-१९) ॥११॥

आत्मा के मध्य में परमात्मा बैठा है। कैसे ?—'अंगुष्ठमात्र', अर्थात् अंगूठे की तरह! जैसे मुट्ठी में चारों तरफ़ से घिरा हुआ अंगूठा। अथवा 'अंगुष्ठमात्र'—अर्थात्, अंगूठे जितना। आत्मा में सारा-का-सारा परमात्मा कैसे समा जायगा ? हम अपने आत्मा में परमात्मा के जितने स्वरूप को जान पाते हैं वह इतना है मानो हम ने उसका अंगूठा पकड़ लिया। ठीक ऐसे जैसे बालक अपने पिता की उंगली पकड़ कर समझता है कि उसने अपने पिता को—सम्पूर्ण पिता को—पकड़ रखा है। वही भूत और भविष्यत् का स्वामी है। उसे जानकर फिर मनुष्य को ग्लानि नहीं होती। संसार के तो हर-एक पदार्थ से किसी-न-किसी समय ग्लानि हो ही जाती है। जिसके ज्ञान से ग्लानि नहीं होती वही—'एतत् वै तत्'—'ब्रह्म' है ॥१२॥

में); नाना—अनेक प्रकार का (दोनों जगह नियामक शक्तियों में भेदभाव को); इव—तरह; पश्यति—देखता है, जानता है ॥ १० ॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति यह इह नानेव पश्यति ॥११॥

मनसा—मन से, मनन से, चिन्तन से; **एव**—ही; **इदम्**—यह (रहस्य); **आप्तव्यम्**—जाना जा सकता है, प्राप्त किया जा सकता है; **इह नाना अस्ति**—नहीं, इस विषय में (एक तत्त्व की विद्यमानता में) अनेकरूपता है; **किंचन**—कुछ भी; **मृत्योः**—मृत्यु से; **सः**—वह; **मृत्युम्**—मौत को; **गच्छति**—प्राप्त होता है (सर्वनाश हो जाता है); **य इह नाना इव पश्यति**—जो इसमें अनेकरूपता (नानात्व) को देखता है ॥ ११ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते, एतद्वै तत् ॥१२॥

अंगुष्ठमात्रः—अंगूठे जितना; **पुरुषः**—परमात्मा; **मध्ये आत्मनि**—जीवात्मा के अन्दर; **तिष्ठति**—(व्याप्य-व्यापक भाव से) विद्यमान है; **ईशानः**—स्वामी; **भूतभव्यस्य**—भूत और भविष्यत् काल का (सब काल में); **न**—नहीं;

वही ब्रह्म सब जगह है, यहां भी, वहां भी—सब जगह वही है। जब सब जगह वही है, तो अंगुष्ठ-मात्र अर्थात् थोड़ा-सा भी उसका ज्ञान सम्पूर्ण का ही ज्ञान है। वह एक ज्योति के समान है—ऐसी ज्योति जिसमें कहीं धूंआ नहीं, विकार नहीं। वह भूत और भव्य का स्वामी है, वही आज है, वही कल है, वही सदा है। यही—'एतत् वै तत्'—'ब्रह्म' है ॥१३॥

(पर्वत की ऊंची चोटियों पर बरसा हुआ पानी जैसे पर्वत के भिन्न-भिन्न भागों में नाले बन कर दौड़ने लगता है, एक ही पानी अनेक धाराओं में वह निकलता है, और लोग यह समझने लगते हैं कि ये जल एक नहीं अनेक हैं, इसी प्रकार इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न धर्मों को देखकर मनुष्य समझने लगता है कि संसार में एकता नहीं, अनेकता है, और उस अनेकता को पाने के लिये उनके पीछे दौड़ने लगता है)॥१४॥

ततः—उसके बाद (जिस ज्ञान के बाद), विजुगुप्सते—ग्लानि होती है, एतद्—इस प्रकार वर्णित ही, वै—निश्चय से, तद्—वह (ब्रह्म है) ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः, एतद्वै तत् ॥१३॥

अङ्गुष्ठमात्रः—अंगूठे जितना (हृदय में विद्यमान जीव के अन्दर समाया हुआ), पुरुषः—परमात्मा, ज्योतिः—प्रकाश, अग्नि, इव—तरह, अधूमकः—धूएं से रहित, प्रज्वलित, ईशानः—स्वामी, भूतभव्यस्य—भूत-भविष्यत् काल का, सः—वह, एव—ही, अद्य—आज, सः—वह, उ—ही, श्वः—(आने वाला) कल का दिन (काल की मर्यादा से मुक्त), एतद् वै तद्—इस प्रकार वर्णित ही वह ब्रह्म है ॥ १३ ॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥१४॥

यथा—जैसे, उदकम्—(एक ही) जल, दुर्गे—दुर्गम स्थान में, वृष्टम्—बरसा हुआ, पर्वतेषु—पर्वतों में, विधावति—अनेक प्रकार से (भिन्न-भिन्न धाराओं के रूप में) दौड़ता है—बहता है, एवं—इस ही प्रकार, धर्मान्—(आत्मा के) धर्मों को, गुणों को, पृथक्—भिन्न-भिन्न, अलग, पश्यन्—देखता हुआ, तान्—उनको, एव—ही, अनु—पीछे, विधावति—अनेकधा दौड़ता है, अनुसरण करता है ॥ १४ ॥

जैसे शुद्ध जल को शुद्ध जल में डाल दें, तो वह शुद्ध रहता है, अशुद्ध में डाल दें, तो अशुद्ध हो जाता है, इसी प्रकार शुद्ध आत्मा शुद्ध-स्वरूप परमात्मा के साथ मिल जाय, तो शुद्ध-स्वरूप हो जाता है, अशुद्ध संसार में मिल जाय, तो अशुद्ध-स्वरूप हो जाता है। हे गौतम ! आत्मा की ऐसी ही गति है ॥१५॥

पञ्चमी वल्ली

यमाचार्य द्वारा जीव और ब्रह्म के रूप का वर्णन

जो अजन्मा साधु-पुरुष शरीर को एक ऐसी नगरी समझता है जिसमें दो आंख, दो कान, दो नाक, एक मुख, एक तालु, एक नाभि, एक मल त्यागने की इन्द्रिय, और एक मूत्रेन्द्रिय—ये ग्यारह द्वार हैं, जिनसे विषयों की तरफ़ बाहर ही नहीं, आत्मा की तरफ़ अन्दर भी जा सकते हैं, वह अपने अनुष्ठान से इस संसार में शोक में नहीं पड़ता, और जब शरीर छोड़ता है तब शोक से सदा के लिये मुक्त हो जाता है। 'एतत् वै तत्'—आत्मा का यही रूप है ॥१॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥१५॥

यथा—जैसे; **उदकम्**—जल; **शुद्धे**—निर्मल (जल) में; **शुद्धम्**—निर्मल; **आसिक्तम्**—डाला हुआ; **तादृग्**—वैसा; **एव**—ही; **भवति**—हो जाता है; **एवम्**—इस ही प्रकार; **मुनेः**—मननशील; **विजानतः**—ज्ञानी का; **आत्मा**—जीवात्मा; **भवति**—होता है; **गौतम**—हे गौतम-कुलोत्पन्न नचिकेता ॥ १५ ॥

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते, एतद्वै तत् ॥१॥

पुरम्—नगरी को (में); **एकादशद्वारम्**—ग्यारह (इन्द्रिय-छिद्र रूपी) दरवाजे (आने-जाने के मार्ग) वाली; **अजस्य**—अजन्मा; **अवक्रचेतसः**—सरल (निष्पाप) चित्तवाले (आत्मा का); **अनुष्ठाय**—(पुण्य कर्मों का) अनुष्ठान करके या भगवान् का ध्यान-चिन्तन करके; **न**—नहीं; **शोचति**—शोक करता है, दुःख-रहित हो जाता है; **विमुक्तश्च**—शरीर से छुटा हुआ (मरणोपरान्त); **विमुच्यते**—मोक्ष को प्राप्त हो जाता है; **एतद्**—यह (जिसको जीवात्मा प्राप्त होता है); **वै**—निश्चय से; **तत्**—वह ब्रह्म है ॥ १ ॥

जीवात्मा 'हंस' है, 'वसु' है, 'होता' है, 'अतिथि' है। 'हंस' जिस प्रकार शुद्ध, पवित्र स्थान में रहता है, वैसे हंस-रूप जीव शुद्ध-ब्रह्म में निवास करता है। 'वसु' जैसे अन्तरिक्ष में निवास करते हैं, वैसे वसु-रूप जीव हृदय के अन्तरिक्ष में निवास करता है। 'होता' जैसे वेदी के सामने बैठकर अग्निहोत्र करता है, वैसे होतृ-रूप जीव तीनों नाचिकेत-अग्नियों का चयन करता है। 'अतिथि' जैसे दुरोण को—आश्रम की कुटिया को—अपना समझकर नहीं बैठ जाता, अतिथि के रूप में रहता है और चल देता है वैसे ही अतिथि-रूप जीव इस नर-देह को सदा के लिये अपना समझकर नहीं बैठ रहता। जो जीवात्मा अपने को 'हंस', 'वसु', 'होता' और 'अतिथि' समझकर जीवन बिताता है वह उत्तरोत्तर विकास करता जाता है। वह 'नर-देह' में वास करता है, नर से अच्छे 'वर-देह' में वास करता है, उससे भी अच्छे 'ऋत-देह' में वास करता है, और 'ऋत-देह' से भी उत्कृष्ट देह 'व्योम-देह' में वास करता है। जीव-जन्तु जल में उत्पन्न होते हैं, पृथिवी पर उत्पन्न होते हैं, अन्तरिक्ष के जल में उत्पन्न होते हैं, पर्वतों पर उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार जन्तुओं में विकास-क्रम है, ऊंचा, उससे ऊंचा, और उससे भी ऊंचा—यह क्रम है, वैसे मनुष्यों में भी 'नर-देह', 'वर-देह', 'ऋत-देह' और 'व्योम-देह' यह विकास-क्रम है। यह विशाल नियम सम्पूर्ण विश्व में काम कर रहा है ॥२॥

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥२॥

हंसः—(हंस की तरह) विवेकी (जीवात्मा), शुचिषद्—पवित्र (स्थान) में रहने वाला; वसुः—वास करने-कराने वाला, अन्तरिक्षसद्—आकाश (हृदयाकाश) में रहने वाला; होता—ज्ञानाग्नि का हवन करनेवाला; वेदिषद्—यज्ञ-वेदी के पास बैठने वाला; अतिथिः—अतिथि (सतत क्रियाशील); दुरोण-सद्—घर में रहने वाला, नृषद्—नर-देह में स्थित, वरसद्—अच्छे स्थान में रहने वाला; ऋतसद्—ऋत (सत्य) में रहने वाला, व्योमसद्—आकाश (ब्रह्म) में बैठने वाला; गोजा—पृथिवी पर उत्पन्न होनेवाला; ऋतजा—सत्य में उत्पन्न होनेवाला, अद्रिजा—पर्वत पर उत्पन्न होने वाला; ऋतम्—सत्य; बृहत्—महान् ॥ २ ॥

विशेष—इस मन्त्र में 'हंस-शुचिषद्' 'वसु-अन्तरिक्षसद्', 'होता-वेदिषद्', 'अतिथिः-दुरोणसद्'—इन चार पद-युग्मों में विरोधाभास अलंकार की स्पष्ट झलक है, जिसका उन्नयन और परिहार विज्ञ पाठक स्वयं कर अर्थ-गाम्भीर्य को जानें।

(जीवन में 'हंस' की तरह रहने का, हंस जैसे पानी में रह कर पानी में नहीं भीगता, उस तरह का अभ्यास करने वाले को कहा जा सकता है कि यह 'नर-देह' में वास कर रहा है, इससे नीचा तो पशु-समान है। यह ब्रह्मचर्य की अवस्था है। इसके बाद दूसरी अवस्था आती है जब मनुष्य 'वसु' की तरह जीवन में वास करता है। वसु अन्तरिक्ष के उस तारक-मंडल को कहते हैं जिनमें प्राणियों का वास कहा जाता है। जो वसु की तरह रहता है, बसता ही नहीं, बसाता भी है, दूसरों का भी ध्यान करता है, वह मानो नर-देह से उत्तम शरीर में वास करता है, और उसी को 'वर-देह' कहा है। यह 'गृहस्थ' की अवस्था है। तीसरी अवस्था 'होता' की आती है। इस अवस्था में मनुष्य अपने जीवन को हवि के समान समझने लगता है। प्रत्येक वस्तु को त्याग देता है, भगवान् के अर्पण कर देता है। यह 'ऋत-देह' है। 'ऋत', अर्थात् 'निरपेक्ष सत्य'। इस अवस्था में वह समझ जाता है कि 'विषय' ऋत नहीं, 'ब्रह्म' ही ऋत है, निरपेक्ष सत्य है। यह 'वान-प्रस्थ' की अवस्था है। अन्त में वह संसार में 'अतिथि' की तरह रहने लगता है। इस चौथी अवस्था में वह 'व्योम-देह' कहलाता है। 'व्योम', अर्थात् अन्तरिक्ष के समान ऊंचा और अपने पास कुछ न रखने वाला। वह अत्यन्त ऊंचा उठ जाता है। यह 'संन्यास' की अवस्था है। इस प्रकार जो आत्मा को रथी और शरीर को रथ समझ कर, और जीवन को आश्रमों की यात्रा मान कर इस यात्रा को निभाता है, वह 'ज्ञानात्मा' से 'महानात्मा' और 'महानात्मा' से 'शांतात्मा' हो जाता है। उसी में तीनों नाचिकेत-अग्नियां प्रदीप्त होती हैं, और वही 'ब्रह्म-यज्ञ' के वास्तविक अर्थ को समझता है।)

लोग समझते हैं कि जीवन प्राण ही है, परन्तु इस 'प्राण' को भी वही, अर्थात् आत्मा ही ऊपर की तरफ़, और 'अपान' को नीचे की

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥३॥

ऊर्ध्वम्—ऊपर; प्राणम्—प्राण को; उन्नयति—ले जाता है, उठाता है; अपानम्—अपान को; प्रत्यग्—नीचे; अस्यति—फेंकता है, निकालता है;

तरफ धकेलता है। इनके बीच में वह सुन्दर जीवात्मा वर्तमान है। सब इंद्रियां उसी की उपासना करती है ॥३॥

शरीर में रहने वाला 'देही'—जीवात्मा—जब सरकने लगे, देह में से जब निकलने लगे, तो शरीर में क्या बच रहता है ? यही जो बच रहता है—'एतत वै तत' वही तो आत्मा है ॥४॥

शरीर में 'प्राण' तथा 'अपान' दो शक्तियां हैं। प्राण का काम 'संचय' (Anabolism) तथा अपान का काम 'विचय' (Ketabolism) करना है। प्राण तथा अपान से कोई नहीं जी रहा। किसी और ही शक्ति से मनुष्य जीता है—ऐसी शक्ति जिसके ये दोनों आश्रित है, वही आत्मा है ॥५॥

हे नचिकेता ! मैं तुझे गुप्त, महान् सनातन रहस्य को बतलाता हूं कि मरने के बाद आत्मा की क्या गति होती है ॥६॥

मध्ये—बीच मे (हृदय-प्रदेश मे), वामनम्—सुन्दर या सूक्ष्म, आसीनम्—बैठे हुए, विराजमान; विश्वे—सारे, देवाः—इन्द्रियाँ, उपासते—पास बैठती हैं, स्व-स्व भोगो द्वारा सेवा करती हैं ॥ ३ ॥

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते, एतद्वै तत् ॥४॥

अस्य—इस; विस्रंसमानस्य—(शरीर से) च्युत होते हुए, निकलते हुए, शरीरस्थस्य—शरीर मे ठहरे हुए, देहिनः—देहाधिपति आत्मा का, देहात्—शरीर से, विमुच्यमानस्य—मुक्त होते हुए का, किम्—क्या, अत्र—इस शरीर में, परिशिष्यते—शेष रहता है, बच रहता है, एतत्—यह, वै—ही, तद्—वह (आत्मा) है ॥ ४ ॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥५॥

न—नही, प्राणेन—प्राण से (सचय शक्ति से), न—नहीं, अपानेन—अपान से (विचय-शक्ति से), मर्त्यः—मरण-धर्मा मनुष्य, जीवति—जीता है, जीवित कहलाता है, कश्चन—कोई भी, इतरेण—(इनसे) भिन्न (जीवात्मा) से; तु—तो; जीवन्ति—जीते हैं, यस्मिन्—जिसमे, जिसके आधार पर, एतौ—ये दोनों (प्राण और अपान), उपाश्रितौ—आश्रित हैं, सहारे पर टिके हैं ॥ ५ ॥

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥६॥

हन्त—हे, अब !; ते—तुझे; इदम्—यह; प्रवक्ष्यामि—बताऊंगा;

जिसका जैसा कर्म होता है, जिसका जैसा 'ज्ञान' होता है, उसके अनुसार कोई किसी 'जीव'-योनि में जाकर शरीर धारण कर लेता है, कोई 'स्थाणु'-योनि में चला जाता है ॥७॥

'जीवात्मा'-सम्बन्धी रहस्य बतलाकर यमाचार्य 'परमात्मा के सम्बन्ध में कहते हैं--सब सोये हुओं में जो जागता है, और जो वस्तु जैसी होनी चाहिये उसे वैसा ही हर समय निर्माण कर रहा है, वही 'शुक्र' है, वही 'ब्रह्म' है, वही 'अमृत' कहलाता है। सब लोक उसी में आश्रित हैं। उससे कोई बढ़-चढ़कर नहीं है। बस--'एतत् वै तत्'---यही ब्रह्म है ॥८॥

गुह्यम्—अति रहस्यमय, गूढ़; ब्रह्म—ब्रह्म को, ज्ञान को; सनातनम्—सनातन; यथा च—और जैसे; मरणम्—मृत्यु को; प्राप्य—पा कर; आत्मा—जीवात्मा; भवति—होता है, गति (अवस्था) होती है; गौतम—हे गोतम-कुलोत्पन्न नचिकेता ॥ ६ ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥७॥

योनिम्—योनि को; अन्ये—कोई एक; प्रपद्यन्ते—प्राप्त करते हैं; शरीरत्वाय—शरीर धारण करने के लिए; देहिनः—देह धारी जीवात्मा; स्थाणुम्—वृक्ष आदि स्थावर योनि को; अन्ये—दूसरे; अनुसंयन्ति—अनुगमन करते हैं; यथाकर्म—कर्मों के अनुसार; यथाश्रुतम्—प्राप्त ज्ञान के अनुसार ॥ ७ ॥

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत् ॥८॥

यः—जो; एषः—यह; सुप्तेषु—सब के सोने पर; जागर्ति—जाग रहा है; कामम्—इच्छा के अनुसार; कामम्—भोग-साधनों को; पुरुषः—परमात्मा; निर्मिमाणः—निर्माण कर रहा है; तद् एव—वह ही; शुक्रम्—शुभ्र, ज्योतिःस्वरूप; तद्—वह ही; ब्रह्म—ब्रह्म है; तद् एव—वह ही; अमृतम्—अमर, अविनाशी; उच्यते—कहा जाता है; तस्मिन्—उस (व्यापक ब्रह्म) में; लोकाः—पृथिवी आदि लोक; श्रिताः—आश्रित हैं; सर्वे—सारे; तद् उ—उसको; न—नहीं; अत्येति—लाँघता है, बढ़ कर है; कश्चन—कोई भी; एतद्—यह; वै—ही; तद्—वह (ब्रह्म है) ॥ ८ ॥

जैसे अग्नि प्रत्येक वस्तु के भीतर वर्तमान है परन्तु फिर भी उसने प्रत्येक रूप के अनुरूप अपना रूप बना लिया है, इसी प्रकार सब भूतों का अन्तरात्मा एक ही है जो भीतर से और बाहर से प्रत्येक रूप के अनुरूप हुआ-हुआ है ॥९॥

जैसे वायु प्रत्येक वस्तु के भीतर वर्तमान है परन्तु फिर भी उसने प्रत्येक रूप के अनुरूप अपना रूप बना लिया है, इसी प्रकार सब भूतों का अन्तरात्मा एक ही है जो भीतर से और बाहर से प्रत्येक रूप के अनुरूप हुआ-हुआ है ॥१०॥

सूर्य संसार की आंख है। हमारी आंखों के दोषों से उसमें कोई लेप नहीं आता। संसार के सब भूतों की अन्तरात्मा वही एक ब्रह्म

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥९॥

अग्निः—अग्नि; यथा—जैसे; एकः—एक; भुवनम्—जगत् के उत्पन्न पदार्थ (मे); प्रविष्टः—प्रवेश कर रही है, (सब मे) विद्यमान है; रूपम् रूपम्—प्रत्येक दृश्य के स्वरूप के; प्रतिरूपः—अनुरूप स्वरूप वाला; बभूव—हुआ है, होता है, एकः—एक ही; तथा—वैसे; सर्वभूतान्तरात्मा—सब भूतों (जड-चेतन) के अन्दर व्यापक, अन्तर्यामी परमात्मा, रूपम् रूपम् प्रतिरूपः—उन-उन भूतों के अनुरूप स्वरूप वाला (उनमे व्याप्त) है; बहिः—(उस जगत् से) बाहर; च—और ॥ ९ ॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१०॥

वायुः—वायु; यथा एकः—जैसे एक ही; भुवनम् प्रविष्टः—सब उत्पन्न पदार्थ मे प्रविष्ट, रूपम् रूपम् प्रतिरूपः बभूव—उन-उन पदार्थों के रूप के अनुसार स्वरूप वाला है; एकः तथा सर्वभूतान्तरात्मा—वैसे सब भूतो के अन्दर विद्यमान परमात्मा एक ही; रूपम् रूपम् प्रतिरूपः बहिः च—उन-उन भूतों के अनुरूप स्वरूप वाला (उनमें व्याप्त) है और उनसे बाहर भी है ॥ १० ॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥११॥

सूर्यः—सूर्य; यथा—जैसे; सर्वलोकस्य—सब लोको का; चक्षुः—प्रकाशक है; न—नही; लिप्यते—लिप्त होता है (उसे लगते हैं); चाक्षुषैः—नेत्र सम्बन्धी, नेत्र से उत्पन्न; बाह्य-दोषैः—बाहर के दोषों से; एकः—एक,

है। अन्दर भी वही, बाहर भी वही है। आंख के दोष से जैसे सूर्य निर्लेप रहता है, भूतों के दुःखों से वैसे ही ब्रह्म निर्लेप रहता है ॥११॥

संसार स्वच्छन्द नहीं, किसी के वश में दीखता है। वही एक 'वशी' है, संसार को वश में करने वाला है। सब भूतों का अन्तरात्मा वही है। एक-रूप को अनेक-रूप बनाने वाला वही है। आत्मा के भीतर उसका वास है, वह 'आत्मस्थ' है। आत्मा में बैठे हुए उस ब्रह्म को जो धीर पुरुष देख लेते हैं, उन्हें निरन्तर सुख प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं ॥१२॥

नित्यों में वही एकमात्र नित्य है, चेतनों में वही एकमात्र चेतन है, अनेकों में वही एक है, संसार की कामनाएं भी तो उसी की रचना हैं। उसका वास आत्मा के भीतर है। उसे जो धीर पुरुष देख पाते हैं उन्हीं को निरन्तर शांति प्राप्त होती है, दूसरों को नहीं ॥१३॥

अद्वितीय; तथा—वैसे; सर्वभूतान्तरात्मा—सब भूतों में अन्तर्यामी (ब्रह्म); न—नहीं; लिप्यते—लिप्त होता है; लोकदुःखेन—प्राणियों के दुःख से; बाह्यः—(वह ब्रह्म) बाहर है, पृथक् है ॥ ११ ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।१२।।

एकः—एक; वशी—सब को वश में रखने वाला, सब का नियन्ता; सर्वभूतान्तरात्मा—सब भूतों में व्याप्त, अन्तर्यामी; एकम्—एक; रूपम्—रूप को; एकम् रूपम्—(निमित्त कारण होकर) एक अनादि कारण रूप प्रकृति को; बहुधा—अनेक प्रकार से, अनेक प्रकार का, अनेक स्वरूप वाला; यः—जो; करोति—करता है; तम्—उसको; आत्मस्थम्—आत्मा में ठहरे हुए (व्याप्त); ये—जो; अनुपश्यन्ति—गहराई से देखते हैं, जानते हैं; धीराः—वीर ज्ञानी; तेषाम्—उनका (को) ही; सुखम्—सुख, आनन्द; शाश्वतम्—निरन्तर रहने वाला; न—नहीं; इतरेषाम्—दूसरों को (अज्ञानियों को) ॥ १२ ॥

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शांतिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१३॥

नित्यः—नित्य; अनित्यानाम्—अनित्य वस्तुओं में; चेतनः—चेतन, ज्ञानदाता; चेतनानाम्—चेतन (आत्माओं) का; एकः—एक; बहूनाम्—

वह ब्रह्म 'अनिर्देश्य' है, नहीं कहा जा सकता कि वह 'यह' रहा, परन्तु अगर कुछ कहा जा सकता है तो वही-कुछ कहा जा सकता है जो ऊपर कहा है। उसे हम कैसे जानें? वह कुछ-कुछ तो सभी को भासता है। हा, कभी-कभी उसका विशेष भास होने लगता है ॥१४॥

हमें उसका भास क्या होगा? वह तो इतना भासमान है कि वहा सूर्य का प्रकाश फीका पड जाता है। वहा चन्द्र और तारे प्रकाश-हीन हो जाते हैं, विद्युत् भी उसके प्रकाश के सामने फीकी है, फिर इस अग्नि का तो कहना ही क्या? उसी की आभा से, उसी के प्रकाश से सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत् तथा अग्नि प्रकाश देते हैं, उसी के प्रकाश से स्वय प्रकाशित हो रहे हैं ॥१५॥

अनेको के, य:—जो, विदधाति—सम्पन्न (पूर्ण) करता है, कामान्—काम-नाओं को, भोग-सामग्री को, तम् आत्मस्थम् ये अनुपश्यन्ति धीरा:—उस जीवात्मा के अन्दर विद्यमान (ब्रह्म) को जो धीर ज्ञानी जान लेते हैं, तेषाम् शान्ति: शाश्वती न इतरेषाम्—उनको ही चिरस्थायी शान्ति प्राप्त होती है, इतर अज्ञानियो को नही ॥ १३ ॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्य परम सुखम्।
कथ नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१४॥

तद्—वह, एतद्—यह इसको, इति—ऐसे, मन्यन्ते—समझते हैं, जानते हैं, अनिर्देश्यम्—जिसका निर्देश (बताना) न किया जा सके, परमम्—परम, सर्वोत्तम, सुखम्—सुख, कथम् नु—किस प्रकार, तद्—उसको, विजानीयाम्—जानू, किम् उ—क्या, भाति—प्रकाशित होता है, विभाति—विशेष कर दीप्त होता है, वा—या ॥ १४ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिद विभाति ॥१५॥

न—नही, तत्र—वहा, सूर्य—सूर्य, भाति—चमकता है, न—नही, चन्द्रतारकम्—चन्द्रमा और तारे, न—नही, इमा:—ये, विद्युत:—बिजलियाँ, भान्ति—चमकती हैं, कुत:—कैसे, क्योकर, अयम्—यह, अग्नि:—अग्नि, तम्—उसको (के), एव—ही, भान्तम्—चमकने पर, अनुभाति—उसका प्रकाश लेकर चमकता है, सर्वम्—सब कुछ, तस्य—उस (ब्रह्म) की, भासा—चमक से, प्रकाश से, सर्वम्—सारा, इदम्—यह, विभाति—चमकता है ॥ १५ ॥

षष्ठी वल्ली

यमाचार्य द्वारा आत्मा तथा ब्रह्म का वर्णन

यह मनुष्य का शरीर तो एक सनातन 'अश्वत्थ' है—(अ=नहीं, श्व:=कल, स्थ=स्थायी) आज है, कल नहीं। यह उल्टा टंगा हुआ वृक्ष है। अगर मनुष्य को उल्टा लटका दिया जाय तो सिर की जटाएं जड़ की तरह और हाथ-पैर वृक्ष की शाखाओं की तरह फैल जाते हैं। इस शरीर में क्यों रमता है, इस देह को तो पेड़ की तरह जड़ समझ—वास्तविक-सत्ता यह नहीं, वह है। वही 'शुक्र' है, वही 'ब्रह्म' है, वही 'अमृत' कहलाता है। सब लोक उसी में आश्रित हैं। उससे बढ़कर कोई नहीं। यही—'एतत् वै तत्'—ब्रह्म है ॥१॥

यह संसार यूं ही नहीं आ टपका, कहीं से निकला है। इसमें गति दिखलाई देती है। शरीर में जीवन की गति, जगत् में भौतिक-गति। यह सब गति प्राण के कारण है। यह 'प्राण-शक्ति' न हो तो शरीर तथा जगत् दोनों जड़ हैं। प्राण भी स्वयं गति नहीं करता,

---

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत् ॥१॥

ऊर्ध्वमूलः—ऊपर की ओर जड़ वाला; अवाक्शाखः—नीचे की ओर शाखावाला; एषः—यह; अश्वत्थः—पीपल का पेड़, कार्य रूप में कल न रहने वाला (अ+श्वः+स्थः=कल न रहने वाला—अनित्य); सनातनः—(कारण प्रकृति रूप में) सदा रहने वाला; तद्—वह (ब्रह्म); एव—ही; शुक्रम्—शुद्ध, निर्मल; तद्—वह; ब्रह्म—ब्रह्म; तद् एव—वह ही; अमृतम्—अमृत, अमर; उच्यते—कहा जाता है; तस्मिन्—उसमें; लोकाः—सब लोक; श्रिताः—आश्रित हैं; सर्वे—सब; तद् उ—उसको; न—नहीं; अत्येति—लाँघता है, बढ़कर है; कश्चन—कोई भी; एतद्—यह वर्णित; वै—निश्चय से; तद्—वह (ब्रह्म है) ॥ १ ॥

यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२॥

यद्—जो; इदम्—यह; किंच—कुछ भी; जगत्—जगत्; सर्वम्—सारा; प्राणे—प्राण-शक्ति, जीवनदात्री-शक्ति (ब्रह्म) में या प्राणः—जीवन-शक्ति; एजति—काँपता है, गति करता है; निःसृतम्—निकला हुआ, उत्पन्न; महद्—

उसे भी कोई गति देता है। इस प्राण के सिर पर भी कोई भयानक शक्ति मानो वज्र लेकर खड़ी है। इस प्रकार जो ब्रह्म को वज्र-रूप जानते हैं वे अमृत हो जाते हैं ॥२॥

उसी के भय से अग्नि तपती है, उसी के भय से सूर्य तपता है, इन्द्र, वायु उसी के भय से काम करते हैं। मृत्यु भी उसी के भय से भागा फिरता है ॥३॥

शरीर के छूट जाने से पहले—इस जन्म में—अगर उसे जान लिया, तो इस सृष्टि के बाद नये सिरे से जब सृष्टि उत्पन्न होगी तभी जीवात्मा शरीर धारण करता है, पहले नहीं; अथवा 'सर्ग-लोक'—'स्वर्ग-लोक'—में शरीर धारण करता है, इसमें नहीं (केन २-५, बृहदा० ४-४-१४) ॥४॥

खड़ा, उग्र, भयम्—भय, भयप्रद, वज्रम्—वज्र (वज्र के समान भयप्रद एवं नियामक), उद्यतम्—ऊपर खड़ा है, ये—जो, एतत्—इस (वज्ररूप ब्रह्म) को, विदुः—जान जाते हैं, अमृता—अमर, ते—वे, भवन्ति— हो जाते हैं ॥ २ ॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥३॥

भयात्—भय से, अस्य—इसके, अग्निः—अग्नि, तपति—प्रज्वलित होती है, भयात्—भय से, तपति—तपता है, प्रकाशमान है, सूर्यः—सूर्य, भयात्—भय से, इन्द्रः—इन्द्र, जीवात्मा, च—और, वायुः—वायु, जीवनाधार प्राण, च—और, मृत्युः—मृत्यु, प्रलय, धावति—दौड़ती है, अपना काम करती है, पञ्चमः—पाँचवाँ ॥ ३ ॥

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥४॥

इह—इस (जन्म) में, चेद्—अगर, अशकत्—समर्थ हुआ, बोद्धुम्—(ब्रह्म को) जानने के लिए, प्राक्—पहले, शरीरस्य—शरीर के, विस्रसः—छूटने से, (शरीरस्य विस्रसः प्राक्—शरीर के छूटने—मौत—से पहिले ही), ततः—उसके बाद, सर्गेषु—सृष्टि करने में समर्थ, लोकेषु—पृथिवी आदि लोकों में, (सर्गेषु लोकेषु—प्रलय के बाद उत्पन्न होने वाले लोकों में—फलतः वर्तमान सृष्टि में जन्म नहीं लेता और अगली सृष्टि तक मोक्ष सुख को भोगता है); शरीरत्वाय—शरीर धारण के लिए, कल्पते—समर्थ या योग्य होता है ॥ ४ ॥

ब्रह्म के दर्शन 'आत्म-लोक' में, 'पितृ-लोक' में, 'गन्धर्व-लोक' और 'ब्रह्म-लोक' में होते हैं। अपने आत्मा में, अर्थात् 'आत्म-लोक' में उसके दर्शन ऐसे होते हैं जैसे दर्पण में कोई प्रतिबिम्ब देखता है। पितृ-लोक अपने बड़ों-बूढ़ों-बुजुर्गों का लोक है। 'पितृ-लोक' में, अर्थात् बड़े-बूढ़ों के सहारे उसके दर्शन ऐसे होते हैं जैसे कोई स्वप्न में किसी वस्तु को देखता है। गन्धर्व-लोक ज्ञानियों का लोक है। 'गन्धर्व-लोक' में, अर्थात् ज्ञानी-पुरुषों के सहारे उसके दर्शन ऐसे होते हैं जैसे जल की लहर में कोई चीज भिन्न-भिन्न प्रकार से दीखती है। ब्रह्म-लोक ध्यानियों का लोक है। 'ब्रह्म-लोक' में, अर्थात् ध्यानी-पुरुषों की सहायता से ब्रह्म के दर्शन ऐसे होते हैं जैसे धूप और छांह को कोई अलग-अलग देख लेता है, वह जगत् और ब्रह्म को छाया और आतप की तरह बिल्कुल स्पष्ट—साफ़-साफ़—देखने लगता है ॥५॥

आत्मा उत्पन्न नहीं होता, इन्द्रियां आत्मा से पृथक् उत्पन्न हुई हैं। इन्द्रियों का उदय होता है, अस्त होता है, आत्मा का नहीं। इस प्रकार जो इन्द्रियों को आत्मा नहीं समझता, इन्द्रियों को आत्मा से पृथक् समझता है, वह धीर पुरुष शोकाकुल नहीं होता ॥६॥

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥५॥

यथा—जैसे; आदर्शे—दर्पण में; तथा—वैसे; आत्मनि—(अपने) आत्मा में; यथा—जैसे; स्वप्ने—स्वप्न में; तथा—वैसे; पितृलोके—पितरों (बड़े-बूढ़ों-बाप-दादा) के लोक में; यथा—जैसे; अप्सु—जलों में; इव—तरह; परि ददृशे—(सब तरफ भिन्न-भिन्न) दिखाई देता है; तथा—वैसे; गन्धर्वलोके—वाणी का धारण करने वाले—वाक्चतुर—प्रवचन में कुशल पुरुषों की मण्डली में; छाया+आतपयोः—(स्पष्ट दीखने या प्रगट होने वाली) छाया और धूप की; इव—तरह; ब्रह्मलोके—भगवान् के सान्निध्य में या ब्रह्म-विद् ज्ञानी-ध्यानी पुरुषों की संगति में ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥६॥

इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों के (शरीर मात्र के); पृथग्भावम्—चेतन आत्मा से भिन्नता (अलग सत्ता) को; उदय+अस्तमयौ—(इस शरीर के) उदय और अस्त—उत्पत्ति और विनाश को; च—और, यत्—जो; पृथक्—अलग ही;

इन्द्रियों से मन उत्तम है, मन से बुद्धि उत्तम है, बुद्धि से महत्-तत्त्व उत्तम है, महत्-तत्त्व से अव्यक्त, अर्थात् प्रकृति उत्तम है ॥७॥

अव्यक्त से पुरुष, अर्थात् 'ब्रह्म' उत्तम है, वह व्यापक है, अलिंग है। उसे जानकर यह जन्तु दुःख से मुक्त हो जाता है, और अमृतत्व प्राप्त कर लेता है ॥८॥

आंखों से देखने के लिए उसका रूप ठहरता नहीं। आंख उसी के रूप पर टिकना चाहती है, परन्तु टिकते ही जिसपर वह टिक रही होती है वह उसका रूप नहीं होता। आंख उस पर टिकते-टिकते नहीं टिक पाती, हाथ उसे पकड़ते-पकड़ते नहीं पकड़ पाते। मनीषी लोग आंख से और हाथ से नहीं, हृदय से और मन से उसे पकड़ पाते हैं। जो यह बात जान जाते हैं वे अमृत हो जाते हैं ॥९॥

उत्पद्यमानानाम्—उत्पन्न होते हुओं को, मत्वा—समझ कर; धीरः—धीर ज्ञानी; न शोचति—शोक नहीं करता—दुःख से मुक्त हो जाता है ॥ ६ ॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥७॥

इन्द्रियेभ्यः—इन्द्रियों से, पार्थिव शरीर से; परम्—श्रेष्ठ, उत्तम; मनः—(मनुष्य का) मन; मनसः—मन से, सत्त्वम्—बुद्धि या सत्त्व गुण, सत्त्वात्—बुद्धि से; अधि—अधिक, श्रेष्ठ; महान्—महत्-तत्त्व; आत्मा—सतत क्रियाशील; (आत्मा महान्—सतत क्रियाशील महत्तत्त्व); महतः—महत्-तत्त्व (प्रकृति के सर्वप्रथम विकार) से, अव्यक्तम्—मूल कारण—प्रकृति; उत्तमम्—उत्तम है ॥ ७ ॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥८॥

अव्यक्तात्—अव्यक्त (अज्ञेय) प्रकृति से; तु—तो; परः—श्रेष्ठ; पुरुषः—ब्रह्म; व्यापकः—(चेतन जीव और जड़ प्रकृति में) व्यापक, अलिङ्गः—कारण-शून्य, अजन्मा, अज्ञेय, अनिर्वचनीय, एव—ही, च—और, यम्—जिसको; ज्ञात्वा—जान कर, साक्षात् करके; मुच्यते—(जन्म-मरण के चक्र से) छूट जाता है; जन्तुः—जन्म-धारी जीवात्मा; अमृतत्वम्—अमर पद को, मोक्ष को; च—और; गच्छति—प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषी मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥९॥

न—नहीं; सन्दृशे—देख सकने के लिए; तिष्ठति—विद्यमान है;

जब पांचों ज्ञानेन्द्रियां मन के साथ स्थिर हो जाती हैं, भागती नहीं फिरतीं, ठहर जाती हैं, और मन निश्चल बुद्धि के साथ आ मिलता है, उस अवस्था को 'परम-गति' कहते हैं ॥१०॥

इन्द्रियों की स्थिर धारणा को 'योग' कहते हैं—'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः'। जिसकी इन्द्रियां स्थिर हो जाती हैं वह अप्रमत्त हो जाता है, प्रमादहीन हो जाता है—सावधान हो जाता है। योग का अभि-प्राय है—'प्रभव' तथा 'अप्यय'। शुभ संस्कारों की उत्पत्ति होना 'प्रभव' कहलाता है, तथा अशुभ संस्कारों का नाश 'अप्यय' कहलाता है ॥११॥

रूपम्—(इन्द्रिय गोचर) स्वरूप; **अस्य**—इस (ब्रह्म) का; **न**—नहीं; **चक्षुषा**—नेत्र से, ज्ञान-साधन इन्द्रियों से; **पश्यति**—देखता है, जानता है; **कश्चन**—कोई भी; **एनम्**—इस पुरुष (ब्रह्म) को; **हृदा**—हृदय से (प्रेममय भक्ति से); **मनीषी**—मन को वश में रखने वाला ज्ञानी; **मनसा**—मन से, मनन-शक्ति (ज्ञान) से; **अभिक्लृप्तः**—समर्थ, युक्त; **ये**—जो; **एतद्**—इसको, **विदुः**—जान जाते हैं; **अमृताः**—अमर; **ते**—वे; **भवन्ति**—हो जाते हैं ॥ ९ ॥

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥

यदा—जब; **पञ्च**—पाँच; **अवतिष्ठन्ते**—स्थिर (चंचलताशून्य) हो जाती हैं, निरुद्ध हो जाती हैं; **ज्ञानानि**—ज्ञान-साधन इन्द्रियाँ; **मनसा**—मन के; **सह**—साथ; **बुद्धिः**—बुद्धि; **च**—और; **न विचेष्टति**—निश्चल (चेष्टा-शून्य) हो जाती है; **ताम्**—उसको (ही); **आहुः**—कहते हैं; **परमाम्**—श्रेष्ठ; **गतिम्**—अवस्था, (मनुष्य की) स्थिति ॥ १० ॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११॥

ताम्—उस (परम गति) को ही; **योगम्**—योग, शास्त्रोक्त चित्त-वृत्ति-निरोध; **इति**—यह; **मन्यन्ते**—मानते हैं, समझते हैं; **स्थिराम्**—स्थिर, अवि-चल; **इन्द्रिय-धारणाम्**—इन्द्रियों के स्थिर होने, चंचल न होने को; **अप्रमत्तः**—प्रमाद (गफ़लत, उपेक्षा) से रहित, सावधान; **तदा**—तब; **भवति**—हो जाता है; **योगः**—योग; **हि**—क्योंकि; **प्रभव+अप्ययौ**—प्रभव (उत्पत्ति-बढ़ती) और अप्यय (नाश) है ॥ ११ ॥

वह वाणी से, मन से, आंखों से नहीं पाया जा सकता। 'अस्ति इति'—'वह है'—इसके सिवाय उसे कैसे पाया जा सकता है?॥१२॥

'वह है' या 'नहीं है'—इन दोनों की तात्त्विक-विवेचना करके 'अस्ति इति'—'वह है'—यह कहकर ही उसे पाया जाता है। जिसने 'अस्ति'—'वह है'—इस प्रकार उसे प्राप्त कर लिया है, उसका तात्त्विक-विवेचन शुद्ध विवेचन है॥१३॥

मनुष्य के हृदय में जो कामनाएं हैं वे जब छूट जाती हैं तब 'मर्त्य' 'अमृत' हो जाता है और यहीं, इस जन्म में, ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है॥१४॥

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥१२॥

न एव—न ही, वाचा—वाणी से, प्रवचन से, न—नहीं, मनसा—मन से, प्राप्तुम् शक्य—पाया जा सकता है, न—नहीं, चक्षुषा—आंख से, अस्ति—है, इति—यह, ब्रुवत—कहने वाले से (के), अन्यत्र—अलावा (भिन्न), (अस्ति इति ब्रुवत अन्यत्र—वह ब्रह्म है इस कथन—आस्तिक-भावना—के सिवाय), कथम्—कैसे, तद्—वह, उपलभ्यते—पाया जा सकता है॥१२॥

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥१३॥

अस्ति इति एव—(वह ब्रह्म) है यह (आस्तिक बुद्धि) ही, उपलब्धव्य—प्राप्त करनी चाहिए (परमात्मा की सत्ता का अनुभव करना चाहिए), तत्त्व-भावेन—तात्त्विक विवेचना से, वास्तविक स्वरूप के ज्ञान से, च—और, उभयो—दोनों (ब्रह्म है और ब्रह्म नहीं है इन दोनों) के, अस्ति इति एव उप-लब्धस्य—वह ब्रह्म है यह जिसने जान लिया उस तत्त्ववेत्ता का ही, तत्त्वभाव—विवेचन, प्रसीदति—निर्मल होता है, फलप्रद होता है॥ १३॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥१४॥

यदा—जब, सर्वे—सारे, प्रमुच्यन्ते—छूट जाते हैं, कामा—कामनाएँ—तीनों एषणाएँ, ये—जो, अस्य—इसके, हृदि—हृदय में, श्रिता—विद्यमान हैं, अथ—इसके बाद, मर्त्य—मरणधर्मा मनुष्य, अमृत—अमर, भवति—हो जाता है, अत्र—इस अवस्था में, ब्रह्म—ब्रह्म को, समश्नुते—प्राप्त कर लेता है, ब्रह्म के आनन्द का रस लेता है॥ १४॥

मनुष्य के हृदय में जो गांठें हैं, वे जब टूट जाती हैं, तब 'मर्त्य' 'अमृत' हो जाता है, यह मरण-धर्मा अमर हो जाता है—यही शास्त्रों का उपदेश है ॥१५॥

हृदय की एक-सौ-एक नाड़ियां हैं, उनमें से एक मूर्धा—सिर—की ओर निकल गई है। मृत्यु के समय उस नाड़ी से जो ऊपर को उत्क्रमण करता है वह अमृतत्व को प्राप्त करता है, बाकी की अन्य नाड़ियां साधारण व्यक्तियों के उत्क्रमण के समय काम आती हैं। ब्रह्म-निष्ठ व्यक्ति के प्राण मूर्धा से निकलते हैं, दूसरों के अन्य मार्गों से। (प्रश्न ३-६,७; छा० ८,६; बृहदा० ४-२-३) ॥१६॥

प्राणिमात्र के हृदय में आत्मा है, उस आत्मा के भीतर 'पुरुष'—ब्रह्म—छिपा बैठा है, वह आत्मा का भी 'अन्तरात्मा' है। वह अंगुष्ठ-

---

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥१५॥

यदा—जब; सर्वे—सारी; प्रभिद्यन्ते—टूट जाती हैं; हृदयस्य—हृदय की; इह—इस (अवस्था) में, इस जन्म में; ग्रन्थयः—(संशय की) गांठें (उलझन); अथ—तब; मर्त्यः अमृतः भवति—मरणधर्मा मनुष्य अमर (मुक्त) हो जाता है; एतावद्—इतना; हि—ही; अनुशासनम्—शास्त्रोक्त उपदेश है ॥ १५ ॥

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥१६॥

शतम्, च एका—सौ और एक—एक-सौ-एक; हृदयस्य—हृदय की; नाड्यः—नाड़ियाँ (हैं); तासाम्—उनमें की; मूर्धानम्—सिर, कपाल-मस्तिष्क की; अभि—ओर; निःसृता—निकल कर गई है; एका—एक (सुषुम्णा नामक); तया—उस (सुषुम्णा नाड़ी) से; ऊर्ध्वम्—ऊपर की ओर; आयन्—आता हुआ (आत्मा); अमृतत्वम्—अमरता को; एति—प्राप्त होता है; विष्वङ्—नाना गति वाली; अन्याः—दूसरी (सौ नाड़ियाँ); उत्क्रमणे—आत्मा के शरीर से बाहर निकलने पर, अन्तकाल में; भवन्ति—होती हैं ॥१६॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥१७॥

अङ्गुष्ठमात्रः—(अंगूठे के परिमाण वाले हृदय में विद्यमान होने से) अंगूठे के परिमाण वाला; पुरुषः—परमात्मा; अन्तरात्मा—आत्मा के अन्दर

मात्र है, मानो वह सिर्फ ब्रह्म का अंगूठा है। जैसे अंगूठे से पकड़कर किसी को बाहर खींचा जाता है, वैसे हमारी भीतरी गुफा में छिपकर बैठे ब्रह्म को खींचकर बाहर ले आये, ठीक ऐसे जैसे मूंज में दबी सींक को खींचकर बाहर निकाला जाता है। वही 'शुक्र' है, वही 'अमृत' है, वही 'शुक्र' है, वही 'अमृत' है ॥१७॥

मृत्यु ने नचिकेता को जिस 'विद्या' तथा सम्पूर्ण 'योगविधि' का उपदेश दिया उसे पाकर नचिकेता ब्रह्म-युक्त तथा मल-विहीन हो गया, मृत्यु से रहित हो गया। दूसरा भी जो कोई इस अध्यात्म-विद्या को जानेगा वह नचिकेता के सदृश ही हो जायगा ॥१८॥

रहने वाला; सदा—हमेशा ही; जनानाम्—जन्मधारी मनुष्यों के; हृदये—हृदय मे, संनिविष्टः—बैठा है, उपस्थित रहता है; तम्—उस परमात्मा को; स्वात्—अपने; शरीरात्—शरीर से; प्रवृहेत्—(ज्ञान-ध्यान से) बाहर निकाले (प्रत्यक्ष करे); मुञ्जात्—मुज से; इव—तरह; इषीकाम्—सींक को; धैर्येण—धैर्य से, सतत प्रयत्न से; तम्—उसको; विद्यात्—जाने; शुक्रम्—शुद्ध, ज्योतिः-स्वरूप; अमृतम्—अमर; तम् विद्यात् शुक्रम् अमृतम् इति—शुद्ध-बुद्ध अमर उस परमात्मा को जाने (द्विरुक्ति ग्रन्थ समाप्ति-प्रदर्शन के लिए है) ॥ १७ ॥

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥१८॥

मृत्यु-प्रोक्ताम्—मृत्यु से कही (उपदिष्ट) हुई; नचिकेतः—नचिकेता; अथ—इसके बाद; लब्ध्वा—प्राप्त कर; विद्याम्—विद्या को; एताम्—इस; योग-विधिम्—योग की प्रक्रिया को; च—और, कृत्स्नम्—सम्पूर्ण; ब्रह्मप्राप्तः—ब्रह्म को प्राप्त हुआ-हुआ; विरजः—रजोगुण (मलों) से विमुक्त, निर्मल, निर्दोष; अभूत्—हो गया; विमृत्युः—मरण (जन्म-मरण) से मुक्त; अन्यः—दूसरा; अपि—भी; एवम्—इस प्रकार; यः—जो; विद्—जानने वाला; अध्यात्मम्—आत्मा-परमात्मासम्बन्धी विषय को; एव—ही, निश्चय से ॥१८॥

प्रश्नोपनिषद्

प्रथम प्रश्न

तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, रयि, प्राण, दक्षिणायन, उत्तरायण, पितृयाण, देवयान, कृष्णपक्ष, शुक्लपक्ष

(तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा)

भरद्वाज के गोत्र में उत्पन्न सुकेशा, शिबि का पुत्र सत्यकाम, सौर्य का पुत्र गार्ग्य, अश्वल का पुत्र कौशल्य, भृगुगोत्र में उत्पन्न वैदर्भि तथा कत्य का पुत्र कबन्धी—ये छः जिज्ञासु थे। उन्होंने यह तो समझ लिया था कि संसार में अन्तिम सत्ता ब्रह्म ही है—अर्थात्, वे 'ब्रह्म-पर' थे; इसीलिये उनकी ब्रह्म में निष्ठा थी, उसे पाने की उत्कंठा थी—अर्थात्, वे 'ब्रह्म-निष्ठ' भी थे, परन्तु अभी उनके हृदय में कुछ शंकाएं थीं। वे हाथ में समिधा लेकर ब्रह्म की खोज में प्रसिद्ध आचार्य पिप्पलाद के पास पहुंचे ॥१॥

**ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः
कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते
ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं
वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥१॥**

ओम्—सर्वरक्षक, सर्वव्यापक आदिगुरु भगवान् का स्मरण कर; **सुकेशा**—सुकेशा (नामक); **च**—और; **भारद्वाजः**—भरद्वाज गोत्री; **शैब्यः**—शिबि का पुत्र; **च**—और; **सत्यकामः**—सत्यकाम (नामवाला); **सौर्यायणी**—सूर्य का पौत्र या सौर्य का पुत्र; **च**—और; **गार्ग्यः**—गर्ग गोत्री; **कौशल्यः**—कौशल्य (नामी); **च**—और; **आश्वलायनः**—अश्वल का पुत्र; **भार्गवः**—भृगु-गोत्री; **वैदर्भिः**—वैदर्भि (नामवाला); **कबन्धी**—कबन्धी (नामक); **कात्यायनः**—कत्य का पुत्र; **ते**—वे; **ह**—निश्चय से; **एते**—ये; **ब्रह्मपराः**—ब्रह्म को ही श्रेष्ठ समझने वाले या ब्रह्म—वेद के ज्ञान में कुशल (वेदज्ञ); **ब्रह्मनिष्ठाः**—ब्रह्म-ज्ञान या ब्रह्म-प्राप्ति की धारणा (निश्चय) वाले; ब्रह्म-ज्ञान के लिए उत्सुक; **परम् ब्रह्म**—परमात्मा को; **अन्वेषमाणाः**—खोज करते हुए, जिज्ञासु; **एषः**—यह; **ह**—ही, अवश्य; **वै**—निश्चय से; **तत् सर्वम्**—उस सारे (रहस्य) को; **वक्ष्यति**—कहेगा, उपदेश करेगा; **इति**—इस कारण से; **ते**—वे; **ह**—निश्चय



छः जिज्ञासु ब्रह्म की खोज में पिप्पलाद के पास पहुँचे

उन्हें पिप्पलाद ऋषि ने कहा—तुम लोग तपस्वी तो हो, परन्तु एक साल और 'तप', 'ब्रह्मचर्य' और 'श्रद्धा'-पूर्वक मेरे समीप निवास

से; समित्पाणयः—समिधा (भेंट रूप में) हाथ में लेकर; भगवन्तम्—आदरणीय; पिप्पलादम्—पिप्पलाद-नामक ऋषि के; उपसन्नाः—पास पहुँचे ॥ १ ॥

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं
संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत
यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥२॥

तान्—उनको; ह—निश्चय से; सः—उस; ऋषिः—ऋषि ने; उवाच—कहा; भूयः—फिर, और अधिक; एव—ही; तपसा—तप (शरीर-

करो। उसके बाद अपनी-अपनी इच्छा अनुसार प्रश्न करना। अगर हम उन प्रश्नों का उत्तर जानते होंगे तो सब-कुछ बतला देंगे ॥२॥

(शरीर की साधना का नाम 'तप' है; मन की साधना का नाम 'ब्रह्मचर्य' है। मन या तो संकल्प-विकल्प में उलझा रहता है, या इनमें से निकल कर किसी सत्य-निश्चय पर पहुंच जाता है। संकल्प-विकल्प में से, तर्क की उलझन में से निकल कर सत्य की खोज के लिये डट जाने को 'श्रद्धा' कहा जाता है। पिप्पलाद ऋषि ने ब्रह्म-ज्ञान के लिये 'तप', 'ब्रह्मचर्य' तथा 'श्रद्धा'—इन तीन को आवश्यक बतलाया है। केन-उपनिषद् में ब्रह्म-ज्ञान की प्रतिष्ठा 'तप', 'दम' तथा 'कर्म'—ये तीन कहे गये हैं। 'तप' शारीरिक-साधना है, 'दम' मानसिक-साधना है। 'ब्रह्मचर्य' भी तो मानसिक-साधना का नाम है। इसलिये 'तप' और 'दम' कहना या 'तप' और 'ब्रह्मचर्य' कहना एक ही बात है। इसीलिये ब्रह्मचारी के लिये कहा गया है कि वह तप करे—अर्थात् मानसिक-साधना के साथ-साथ शारीरिक-साधना करे। 'ब्रह्म-ज्ञानी' के आधार 'तप', 'दम' और 'कर्म' हैं; 'ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु' के आधार 'तप', 'ब्रह्मचर्य' और 'श्रद्धा' हैं। 'जिज्ञासु' श्रद्धा को लेकर आता है; 'ब्रह्म-ज्ञानी' को 'श्रद्धा' की आवश्यकता नहीं रहती—वह 'कर्म' करने लगता है। 'श्रद्धा' की परिणति 'कर्म' में होती है।)

(रयि तथा प्राण)

साल बीत जाने पर कत्य का पुत्र कबन्धी ऋषि के समीप आया और उसने पूछा—"भगवन्! सृष्टि के प्रारंभ में प्रजा—अर्थात् जो कुछ भी उत्पन्न हुआ-हुआ दीखता है—किससे उत्पन्न होता है?" ॥३॥

साधना) से (पूर्वक); **ब्रह्मचर्येण**—ब्रह्मचर्य (मन की साधना—इन्द्रिय-दमन) पूर्वक; **श्रद्धया**—सत्य की धारणा से (पूर्वक); **संवत्सरम्**—एक वर्ष तक; **संवत्स्यथ**—तुम रहोगे,रहो; **यथाकामम्**—इच्छानुसार; **प्रश्नान्**—प्रश्नों को; **पृच्छत**—पूछो; **यदि**—अगर; **विज्ञास्यामः**—हम जानते होंगे; **सर्वम्, ह**—सब को ही; **वः**—तुम्हें, **वक्ष्यामः**—उपदेश करेंगे; **इति**—यह (कहा) ॥ २ ॥

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ भगवन्
कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥३॥

ऋषि ने उत्तर दिया—"चराचर-जगत् के स्वामी प्रजापति को जब प्रजा की उत्पत्ति की कामना हुई, तो उसने 'तप' किया। तप करने के बाद उसने 'मिथुन' को—जोड़े को—उत्पन्न किया। ये मिथुन हैं—'रयि' तथा 'प्राण'। उसने कहा कि मेरी भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रजा को 'रयि' तथा 'प्राण' ही उत्पन्न करेंगे ॥४॥

(ब्रह्म ने जब सृष्टि की रचना प्रारम्भ की तब पहले-पहल क्रिया (Activity) शुरू हुई होगी। यह 'क्रिया' जब अपने उग्र-रूप (Climax) पर आई, उस समय की अवस्था का नाम 'तप' है। इसीलिये कहा कि प्रजापति ने 'तप' किया। 'तप' के बाद 'मिथुन' हुआ इसका क्या अर्थ है? सृष्टि में अनेकता (Multiplicity) है। इस अनेकता का प्रारम्भ 'द्वित्व' (Duality) के बिना नहीं आ सकता, क्योंकि एक से दो और दो से अनेक होंगे। यह द्वित्व ही 'मिथुन' कहलाता है। अतः सृष्टि का प्रारम्भ 'द्वित्व' अर्थात् 'मिथुन' से हुआ, और यह 'मिथुन' 'तप' या सृष्टि के उत्पादन की उग्र-क्रिया के बाद हुआ। उस 'द्वित्व' में दो जो शक्तियां हैं, वे हैं 'रयि' तथा 'प्राण'। 'प्राण' धन-शक्ति (Positive) है, 'रयि' ऋण-शक्ति (Negative) है, 'प्राण' भोक्तृ-शक्ति है, 'रयि' भोग्य-शक्ति है; 'प्राण' कर्तृत्व-शक्ति (Active) है, 'रयि' कर्म-शक्ति (Passive) है। यह कथन इस बात से और अधिक स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत में 'प्राण' पुंल्लिंग शब्द है, 'रयि' स्त्रीलिंगी शब्द है।)

कबन्धी ने, उपेत्य—पास आकर, पप्रच्छ—पूछा, भगवन्—हे पूजनीय, कुतः—कहाँ से, किससे; ह वै—निश्चय रूप से, इमाः—ये, प्रजा—प्रजाएँ, उत्पन्न जड़-चेतन; प्रजायन्ते—उत्पन्न होती हैं ॥ ३ ॥

> तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः
> स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते।
> रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥४॥

तस्मै—उस (कबन्धी) को, सः ह—उस (ऋषि) ने, उवाच—कहा; प्रजाकामः—प्रजा उत्पन्न करने के अभिलाषी (हुआ); वै—निश्चय से; प्रजापतिः—चराचर जगत् के स्वामी (अधिष्ठाता); सः—उस (प्रजापति) ने; तपः—तप, उग्र क्रिया; अतप्यत—तप किया, क्रिया की; सः—उसने, तपः—

आदित्य प्राण-शक्ति है, चन्द्रमा रयि-शक्ति है। भोक्तृ-शक्ति को बढ़ाने वाला सूर्य है, भोग्य-शक्ति को बढ़ाने वाला चन्द्रमा है। सूर्य तथा चन्द्रमा प्राण तथा रयि हैं, और इन्हीं के संयोग से विविध प्रकार की सृष्टि होती है। प्राण एक सूक्ष्म तत्त्व है, उसी का साक्षात् रूप सूर्य है; रयि भी एक सूक्ष्म तत्त्व है, उसी का साक्षात् रूप चन्द्र है। अथवा, यह जो-कुछ 'मूर्त' तथा 'अमूर्त' संसार में दीखता है, यह-सब 'रयि' ही है, भोग्य ही है, इस-सबकी तुलना में 'प्राण' तो वह 'ब्रह्म' ही है, क्योंकि ब्रह्म (प्राण) ही इस मूर्त-अमूर्त-रूप जगत् (रयि) का भोक्ता है, उसके लिये यह सब भोग्य है। ब्रह्म 'प्राण' है; मूर्त तथा अमूर्त जगत् 'रयि' है। जो-कुछ मूर्तिमान् है सब रयि है। इस दृष्टि से सूर्य भी 'रयि' है। सूर्य संसार में भोक्तृ-शक्ति उत्पन्न करता है, इसलिये 'प्राण' है, परन्तु ब्रह्म के सम्मुख सूर्य भी भोग्य हो जाता है, ब्रह्म उसका भोक्ता है, इस दृष्टि से सूर्य जो 'प्राण' है, ब्रह्म के लिये मानो 'रयि' हो जाता है ॥५॥

('प्राण' तथा 'रयि' ये दोनों सापेक्षिक शब्द हैं। 'सूर्य' प्राण है, परन्तु इसे भी तो रचा गया है, रचनहार की दृष्टि से यह 'रयि' है। 'चन्द्र' रयि है, परन्तु यह भी तो अपनी सृष्टि रचता है, इस दृष्टि से यह 'प्राण' है। प्रत्येक वस्तु में 'प्राण' तथा

तप; तप्त्वा—तप करके; सः—वह; मिथुनम्—जोड़े को, युगल को; उत्पादयते—उत्पन्न करता है; रयिम्—रयि (भोग्य-शक्ति या अन्न) को; च—और; प्राणम्—प्राण (भोक्तृ-शक्ति या अत्ता—भोक्ता) को; च—और; इति—यह; एतौ—ये दोनों (रयि और प्राण); मे—मेरी, मेरे लिए; बहुधा—बहुत सी, भिन्न-भिन्न प्रकार की; प्रजाः—प्रजाओं को; करिष्येते—करेंगे; इति—यह ॥ ४ ॥

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा
एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥५॥

आदित्यः ह वै—सूर्य ही; प्राणः—भोक्ता, अत्ता; रयिः एव—भोग्य-शक्ति, अन्न; चन्द्रमाः—चन्द्रमा (है); रयिः वै—रयि (भोग्य-शक्ति) ही; एतत्—यह; सर्वम्—सब कुछ है; यत्—जो; मूर्तम्—शरीरधारी, स्थूल; च—और; अमूर्तम्—सूक्ष्म; च—और; तस्मात्—उससे (उस ब्रह्म की दृष्टि से तो); मूर्तिः—शरीरधारी, सब स्थूल जगत्; एव—ही; रयिः—रयि (कहलाता है) ॥ ५ ॥

'रयि' का सम्मिश्रण है। सपूर्ण ससार भोग्य होने के कारण 'रयि' है, ब्रह्म इस संसार का भोक्ता होने के कारण 'प्राण' है।)

सूर्य उदय होने पर पूर्व दिशा में प्रवेश करता है। पूर्व दिशा में सूर्य की जो 'प्राण-शक्ति' है उसे वह अपनी किरणों में डाल देता है। इसी प्रकार दक्षिण दिशा में, पश्चिम दिशा में, उत्तर दिशा में, नीचे-ऊपर, इन दिशाओं के बीच की दिशाओ में—अपनी जिस 'प्राण-शक्ति' से सूर्य सब-कुछ प्रकाशित करता है उस सारी प्राण-शक्ति को वह अपनी किरणों में डाल देता है। सूर्य अपनी प्राण-शक्ति को किरणों में डाल देता है, और किरणें विश्व के कोने-कोने में पहुंचकर प्राण-शक्ति का सर्वत्र वितरण करती हैं ॥६॥

उदय होने वाला सूर्य एक अग्नि है, परन्तु यह अग्नि 'प्राण'-शक्ति है। यह प्राण-शक्ति सम्पूर्ण विश्व को अपने-अपने काम में चलने की प्रेरणा देती है, यह प्राण-शक्ति विश्वरूप है, सम्पूर्ण विश्व का रूप हो रही है, इस प्राण-शक्ति से ही विश्व का रूप बना हुआ है। ऋचाओं ने भी ऐसा ही कहा है ॥७॥

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु
संनिधत्ते यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा
दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥६॥

अथ—और, आदित्य—सूर्य, उदयन्—उदय होता हुआ, यत्—जो, प्राचीम्—पूर्व; दिशम्—दिशा को (में); प्रविशति—प्रवेश करता है, तेन—उस (उदय) से; प्राच्यान्—पूर्व दिशा मे होने वाले, प्राणान्—प्राणो को, भोक्तृ-शक्ति को, रश्मिषु—किरणो मे, संनिधत्ते—रखता है, डालता है, यत्—जो; दक्षिणाम्—दक्षिण दिशा मे, यत्—जो; प्रतीचीम्—पश्चिम दिशा मे, यत्—जो, उदीचीम्—उत्तर दिशा मे, यद्—जो, अधः—नीचे की ओर, यत्—जो, ऊर्ध्वम्—ऊपर की ओर, यद्—जो, अन्तरा—मध्य भाग मे, दिशः—दिशाओं के, (दिशः अन्तरा—वायव्य-नैर्ऋत आदि अवान्तर दिशाओं मे); यत्—जिस; सर्वम्—सब कुछ को, प्रकाशयति—(वह सूर्य) प्रकाशित करता है; तेन—उस (प्रकाशन) से, सर्वान्—सब ही, प्राणान्—प्राण-शक्तियो (भोक्तृ-शक्तियों) को; रश्मिषु—(अपनी) किरणों मे, संनिधत्ते—रखता है, डालता है ॥ ६ ॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥७॥

सः—वह; एषः—यह; वैश्वानरः—सब मनुष्यो मे व्याप्त (सर्वात्मा);

सूर्य 'विश्वरूप' है—संसार में जो रूप है सूर्य की प्राण-प्रद किरणों के ही कारण है; वह 'हरिण' है—किरणों वाला है; 'जातवेदस्' है—प्रत्येक उत्पन्न हुए पदार्थ में विद्यमान है क्योंकि उसी की प्राणदातृ-किरणों से सब बना है; 'परायण' है—प्राणियों का परम आश्रय है; एकमात्र ज्योति है; तप रहा है; सहस्र रश्मियों वाला, है; सैकड़ों प्रकार से वर्तमान है—उसी से ईंट पकती है, उसी से अंकुर फूटता है, पौदा जमता है, अनाज तथा फल पकता है; सूर्य प्रजाओं का प्राण बनकर उदय होता है ॥८॥

(दक्षिणायन, उत्तरायण, पितृयाण, देवयान)

सूर्य द्वारा ही संवत्सर का, काल का विभाग होता है। यह काल मानो प्रजापति है। काल ही में तो सब जीते-मरते हैं। संवत्सर के

सब जगत् को कार्य के लिए प्रेरक; **विश्वरूपः**—सब दृश्य जगत् में व्यापक होने से सर्वरूप धारी, विश्वात्मा; **प्राणः**—भोक्तृ-शक्ति का प्रदाता; **अग्निः**—तेजःस्वरूप अग्नि (भोक्ता); **उदयते**—उदित होता है; **तद् एतद्**—वह यह बात; **ऋचा**—वेद-वाक्य (मंत्र) ने भी; **अभि+उक्तम्**—कही है॥ ७॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥८॥

विश्वरूपम्—सर्व रूपधारी (सब में ओत-प्रोत); **हरिणम्**—'हरतीति हरिणम्'—सूर्य की किरणें जल का हरण करती हैं इसलिए किरणों को हरिण कहते हैं, किरण वाले; **जातवेदसम्**—प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान या जानने वाला; **परायणम्**—सब का परम (अन्तिम) आश्रय (सहारा); **ज्योतिः**—प्रकाशक; **एकम्**—अद्वितीय; **तपन्तम्**—तपते हुए को (ज्ञानियों ने जाना कि वह ही); **सहस्ररश्मिः**—असंख्य किरणों वाला; **शतधा**—अनेक प्रकार से, अनेक रूप में; **वर्तमानः**—विद्यमान; **प्राणः**—जीवनदाता; **प्रजानाम्**—उत्पन्न चराचर जगत् का; **उदयति**—उग रहा है; **एषः**—यह; **सूर्यः**—सब का प्रेरक सूर्य॥ ८॥

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च।
तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव
लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेते ऋषयः
प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः॥९॥

संवत्सरः—एक वर्ष; **वै**—वस्तुतः; **प्रजापतिः**—प्रजाओं का अधिपति; **तस्य**—उस प्रजापति रूप वर्ष के; **अयने**—गति, मार्ग; **दक्षिणम्**—दक्षिण; **च**—

दो भाग हैं। छः मास तक सूर्य दक्षिण दिशा की तरफ जाता है, इस समय को 'दक्षिणायन' कहते हैं, छः मास तक वह उत्तर दिशा की तरफ जाता है, इस समय को 'उत्तरायण' कहते हैं। जो लोग 'इष्ट-आपूर्त' (यज्ञ-यागादि 'इष्ट' है, कुआ-बावडी-अनाथालयादि बनवाना 'आपूर्त' है) को ही अपना कृत्य या लक्ष्य समझते हैं, यह सब-कुछ करके जो फल-लाभ की इच्छा रखते हैं, वे चन्द्र-लोक को जीत लेते हैं, भोग्य-पदार्थों की उनके पास बहुतायत होती है क्योंकि चन्द्र भोग्य-पदार्थों का प्रतिनिधि है। इस प्रकार संसार के भोगों में चित्त रखने वाले बार-बार जन्म-मरण के चक्र में चक्कर लगाते हैं। उनको पुत्र-पौत्रों के लिये इच्छा बनी रहती है। उनका मार्ग 'दक्षिणायन' मार्ग है, इसे 'रयि-मार्ग' भी कह सकते हैं, यह 'पितृयाण' मार्ग है। सूर्य जब दक्षिण दिशा में जाता है तब मनुष्य में भोग की प्रवृत्ति की भावना प्रबल हो जाती है, उस समय संसार में बादल उमड़ने लगते हैं, अंधेरा छा जाता है, वर्षा होने लगती है। परन्तु जब सूर्य उत्तर की तरफ जाता है तब मनुष्य में त्याग की, निवृत्ति की भावना प्रबल हो जाती है, यह 'देवयान', अर्थात् दिव्यभाव उत्पन्न कर देवता बनने का मार्ग है। उस समय आकाश स्वच्छ हो जाता है, सूर्य का प्रकाश चारों तरफ चमकने लगता है। दक्षिणायन तथा उत्तरायण तो छः-छः मास रहते ही हैं, परन्तु अपने हृदय में उत्तरायण को हर समय बनाये रखना ही मनुष्य का लक्ष्य है। जो इस प्रकार नहीं कर सकते उनके जीवन में दक्षिणायन की अवस्था छा जाती है, वे रयि-मार्ग पर, प्रवृत्ति-मार्ग पर चल देते हैं, उनके हृदय में घर-गृहस्थी बसाकर, पुत्र-पौत्र उत्पन्न करने की इच्छा प्रबल होती है, उनका मार्ग 'पितृ-याण' अर्थात् पिता-पितामह बनने का मार्ग है ॥९॥

और, उत्तरम्—उत्तर, च—और (दक्षिणायन और उत्तरायण), तत्—तो, ये—जो, ह वै—निश्चय से, तत्—उस (श्रौत कर्म) को, इष्ट+आपूर्त—स्वर्ग-साधक यज्ञ-याग आदि 'इष्ट' और कूप-वापी-तडाग-धर्मशाला आदि परोपकारी कार्य 'आपूर्त' को, कृतम्—कर्म या लक्ष्य, इति—ऐसा मान कर, उपासते—उपासना करते हैं, अनुष्ठान करते हैं, ते—वे, चान्द्रमसम्—चन्द्रमा सम्बन्धी, रयि-सम्बन्धी, भोग्य-सम्बन्धी, एव—ही, लोकम्—लोक को,

जो दक्षिणायन को छोड़कर उत्तरायण-मार्ग से चलते हैं, जो प्रवृत्ति-मार्ग को छोड़कर निवृत्ति-मार्ग का आश्रय लेते हैं, वे 'तप', 'ब्रह्मचर्य', 'श्रद्धा' और 'विद्या' के सहारे आत्मा को ढूंढ लेते हैं। जैसे 'इष्टापूर्त' के पीछे दौड़ने वाले 'चन्द्र-लोक' को जीत लेते हैं, वैसे 'आत्मा' को ढूंढने वाले 'आदित्य-लोक' को जीत लेते हैं। चन्द्र-लोक रयि-प्रधान है; आदित्य-लोक प्राण-प्रधान है। चन्द्र-लोक दक्षिणायन (Rightists)-मार्ग है; आदित्य-लोक उत्तरायण (Leftists)-मार्ग है। चन्द्र-लोक का जीवन सकाम-जीवन है, प्रेय-मार्ग है; आदित्य-लोक का जीवन निष्काम-जीवन है, श्रेय-मार्ग है। आदित्य-लोक, उत्तरायण या आत्मा को ढूंढने का मार्ग ही वह मार्ग है जिधर प्राण-शक्ति मनुष्य को खींचती है, चाहे वह उधर चले चाहे न चले, यह अमृत-मार्ग है, अभय-मार्ग है, यही परम-मार्ग है, अन्य मार्ग भटकाने वाले हैं। इस सीधे रास्ते पर जो चल देता है वह लौटकर नहीं आता, अन्य मार्गों पर चलने वाले भटक जाते हैं अतः लौट-लौटकर इसी मार्ग पर फिर-फिर आते हैं, जो भटक जायगा वही तो लौटेगा। यह मार्ग 'निरोध-मार्ग है' इस पर चलने वाला आगे चलकर रुक जाता है, उसे फिर चलने की जरूरत नहीं रहती। ठीक मार्ग पर चलने वाले का ही

अवस्थिति को; **अभिजयन्ते**—जीत लेते हैं, पूर्णतया प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं; **ते**—वे; **एव**—ही; **पुनः**—फिर; **आवर्तन्ते**—लौट आते हैं; जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहते हैं; **तस्मात्**—उस कारण से; **एते**—ये; **ऋषयः**—द्रष्टा, ज्ञानी; **प्रजाकामाः**—प्रजा (पुत्र-पौत्र, धन-भोग) की कामना वाले; **दक्षिणम्**—दक्षिण (चातुर्य और शक्ति से सम्पन्न अयन-मार्ग) को; **प्रतिपद्यन्ते**—स्वीकार करते हैं; **एषः**—यह; **ह वै**—ही; **रयिः**—भोग-प्रधान 'रयि' (मार्ग) है; **यः**—जो; **पितृयाणः**—पितरों (बाप-दादा बनने वालों) का मार्ग है ॥ ९ ॥

> **अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मान-**
> **मन्विष्यादित्यमभिजयन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभय-**
> **मेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः ॥१०॥**

अथ—और; **उत्तरेण**—उत्तर (उत्कृष्टतम) अयन (मार्ग) से; **तपसा**—तप (शरीर-नियन्त्रण) से; **ब्रह्मचर्येण**—ब्रह्मचर्य (मनोनिग्रह) से; **श्रद्धया**—सत्य पर धारणा से, सत्य-आग्रह से; **विद्यया**—ज्ञान (श्रेयो मार्ग) से; **आत्मानम्**—अपने स्वरूप को, जीवात्मा को; **अन्विष्य**—ढूंढ कर; जान कर;

चलना रुक सकता है, जो ठीक मार्ग पर नहीं चला वह तो चलता ही रहेगा, उसके चलने का 'निरोध' कभी नहीं होगा क्योंकि वह लक्ष्य पर कभी नहीं पहुंचेगा। सूर्य अथवा संवत्सर प्रजापति है, उसके विषय में किसी ने एक श्लोक कहा है वह यह है—॥१०॥

संवत्सर (सूर्य) एक पितर है। पांच ऋतु उसके पांच पांव हैं, बारह मास बारह आकृतियां हैं, द्यु-लोक का परला आधा हिस्सा ही उसकी पुरी है, नगरी है—वहां वह शयन कर रहा है। वह 'विचक्षण'—सबको ऊपर से देखने वाला पितर—सात चक्रों वाले, छः अरों वाले रथ पर बैठा है—ऐसा ये, वे और अन्य लोग कहते हैं। रथ के सात चक्र सूर्य की सात रंगों वाली किरणें हैं। जैसे एक-एक चक्र में अनेक अरे होते हैं वैसे एक-एक किरण में छः अरे कहे गये हैं, किरण के ये छः अरे एक-एक किरण की छः-छः सहायक किरणें हैं ॥११॥

आदित्यम्—(जीवात्मा में विद्यमान) परमात्मा को, ब्रह्मलोक को, अभिजयन्ते—जीत लेते हैं प्राप्त कर लेते हैं। एतद्—यह (ब्रह्म, लोक या स्थिति) वै—ही, प्राणानाम्—जीवनप्रद शक्तियों का, आयतनम्—आधार, भण्डार (है), एतद्—यह ही, अमृतम्—अमर, अभयम्—भय से शून्य, एतत्—यह ही, परायणम्—सब का परम लक्ष्य (गति मार्ग) है एतस्मात्—इससे (इसको प्राप्त कर लेने पर), न—नहीं, पुनः—फिर, आवर्तन्ते—लौटते हैं (जन्म-मरण के चक्कर में पड़ते हैं), इति एषः—यह ही, निरोधः—रोक, विराम की स्थिति है, (इस विषय में) तद्—तो, एषः—यह (अधोनिर्दिष्ट), श्लोकः—श्लोक, उक्ति (है) ॥ १० ॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति ॥११॥

पञ्चपादम्—पांच (हेमन्त शिशिर को एक करके) ऋतुरूपी पाद (अवयव) वाले, पितरम्—सब का पालन करने वाले द्वादशाकृतिम्—बारह मास या राशि रूप आकृति (स्वरूप) वाले, दिवः—द्युलोक के आहुः—बताते हैं, परे—परे, सबसे ऊपर, अर्धे—स्थान में, आधे भाग में, पुरीषिणम्—इस परार्धरूपी पुरी में शयन करने वाले, विद्यमान, अथ—किन्तु, इमे—ये, अन्ये—दूसरे (विचारक), उ—निश्चय से परे—श्रेष्ठ, सब से परे, विचक्षणम्—निपुण, द्रष्टा को, सप्तचक्रे—सतरंगी किरणरूप चक्र वाले, षडरे—छः ऋतु-रूपी अरों वाले, आहुः—बताते हैं, अर्पितम्—विराजमान, युक्त ॥ ११ ॥

(कृष्णपक्ष, शुक्लपक्ष)

प्रजापति ने सृष्टि उत्पन्न की और 'प्राण' तथा 'रयि' को उत्पन्न किया। प्रजापति कोई व्यक्ति-विशेष नहीं है। जहां-जहां प्रजोत्पत्ति है वहां-वहां प्रजापति का ही रूप है, और वहां-वहां 'प्राण' तथा 'रयि' हैं। संवत्सर (सूर्य) प्रजापति है, मास भी प्रजापति है क्योंकि संवत्सर तथा मास दोनों में प्रजा की उत्पत्ति होती है। मास में कृष्ण-पक्ष है, शुक्ल-पक्ष है। कृष्ण-पक्ष 'रयि' है, शुक्ल-पक्ष 'प्राण' है। इसीलिए ऋषि लोग शुक्ल-पक्ष में ही यज्ञ-याग आदि करते हैं, क्योंकि शुक्ल-पक्ष 'प्राण' का प्रतिनिधि है, दूसरे लोगों के काम कृष्ण-पक्ष में होते हैं जो 'रयि' का प्रतिनिधि है। 'प्राण' का उपासक अपने जीवन में हर समय शुक्ल-पक्ष बनाये रखता है; 'रयि' का उपासक हर समय कृष्ण-पक्ष में रहता है ॥१२॥

दिन-रात भी प्रजापति के ही रूप हैं इसलिये इसमें भी 'प्राण' तथा 'रयि' हैं। दिन 'प्राण' है, रात 'रयि' है। दिन में जो रति करते हैं उनके प्राण सूख जाते हैं; रात में जो रति करते हैं वे मानो ब्रह्मचर्यपूर्वक ही रहते हैं क्योंकि रात्रि 'रयि' है, और रति तो 'रयि' है ही—रयि के रयि के साथ मेल से हानि नहीं होती ॥१३॥

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः।
शुक्लः प्राणस्तस्मादेते ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥१२॥

मासः वै प्रजापतिः—मास ही प्रजापति है; तस्य—उस (मास) का; कृष्णपक्षः—कृष्ण पक्ष; एव—ही; रयिः—भोग्य-शक्ति है; शुक्लः—शुक्लपक्ष; प्राणः—प्राणरूप, भोक्ता, जीवनदाता (है); तस्माद्—उस कारण से; एते—ये; ऋषयः—ज्ञानी द्रष्टा लोग; शुक्ले—शुक्ल पक्ष में, जीवन-प्रद समय में; इष्टम्—अभीष्ट कर्म को, यज्ञ को; कुर्वन्ति—करते हैं; इतरे—दूसरे (अज्ञानी, वेसमझ); इतरस्मिन्—दूसरे (कृष्णपक्ष—अननुकूल समय) में ॥ १२ ॥

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव
रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते
ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥१३॥

अहोरात्रो वै प्रजापतिः—वस्तुतः अहोरात्र (दिन रात) ही प्रजापति है; तस्य—उस (दिन-रात) का; अहः—दिन; एव—ही; प्राणः—प्राण-शक्ति है;

अन्न भी प्रजापति का ही रूप है। अन्न से ही वीर्य उत्पन्न होता है। उसी से प्रजा उत्पन्न होती है ॥१४॥

जो प्रजापति-व्रत करते हैं वे पुत्र-पुत्री अर्थात् सन्तानोत्पत्ति करते हैं। वे दक्षिणायन, रयि-मार्ग, पितृयाण, प्रवृत्ति-मार्ग के पथिक हैं। ब्रह्म-लोक तो उनका है जो 'तप', 'ब्रह्मचर्य' तथा 'सत्य' में निष्ठ हैं। वे उत्तरायण, प्राण-मार्ग, देवयान, निवृत्ति-मार्ग के पथिक हैं ॥१५॥

शुद्ध, निर्मल ब्रह्म-लोक तो उनका है जिनमें कुटिलता नहीं, अनृत नहीं, माया नहीं ॥१६॥

रात्रिः एव—रात ही, रयिः—भोग्य शक्ति, प्राणम्—प्राण (जीवन-शक्ति) को, वै—निश्चय से; एते—ये लोग, प्रस्कन्दन्ति—गिरा देते हैं, क्षीण करते हैं; ये—जो; दिवा—दिन में; रत्या—रति (मैथुन-कर्म) से; संयुज्यन्ते—संलग्न होते हैं; (रत्या संयुज्यते—मैथुन-कर्म करते हैं); ब्रह्मचर्यम् एव—ब्रह्मचर्य ही (है); तद्—वह; यद्—जो, रात्रौ—रात्रि में, रत्या संयुज्यन्ते—मैथुन-कर्म करते हैं ॥ १३ ॥

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥१४॥

अन्नम् वै प्रजापतिः—अन्न ही प्रजापति है, ततः—उस अन्न से, ह वै—ही, तद्—वह, रेतः—वीर्य (बनता) है, तस्माद्—उस (वीर्य) से; इमाः—ये, प्रजाः—चर सृष्टि, प्राणधारी, प्रजायन्ते—उत्पन्न होते हैं, इति—यह ॥१४॥

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते।
तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

तद्—तो; ये—जो, ह वै—ही, तत्—उस (पूर्वोक्त), प्रजापति-व्रतम्—प्रजापति (संवत्सर, मास, अहोरात्र एवं अन्न रूप) के व्रत का, चरन्ति—आचरण करते हैं, पालन करते हैं, ते—वे (गृहस्थ), मिथुनम्—पुत्र-पुत्रीरूप युग्म को, उत्पादयन्ते—उत्पन्न करते हैं, (परन्तु) तेषाम्—उनका, एव—ही, एषः—यह, ब्रह्मलोकः—ब्रह्म-धाम, मोक्ष, येषाम्—जिनका (में), तपः—तप, ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य (इन्द्रिय एवं मन का निग्रह) है; येषु—जिनमें; सत्यम्—सत्य; प्रतिष्ठितम्—प्रतिष्ठा पाता है, (सत्यं प्रतिष्ठितम्—सत्य-प्रतिष्ठा—श्रद्धा है) ॥ १५ ॥

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥१६॥

तेषाम्—उनका (ही); असौ—यह, विरजः—रजोगुण से रहित, निर्मल, शुद्ध, ब्रह्मलोकः—ब्रह्म-धाम, मोक्ष (है); न—नहीं; येषु—जिनमें; जिह्मम्—

द्वितीय प्रश्न

सृष्टि का 'धारण'-'प्रकाशन' करने वाली 'मुख्य-शक्ति' प्राण ही है

कत्य के पुत्र कबन्धी के प्रश्न के बाद भृगु-गोत्र में उत्पन्न वैदर्भि पिप्पलाद ऋषि से पूछने लगा—"भगवन् ! प्रजा किससे 'उत्पन्न' होती है, इस प्रश्न का तो आपने उत्तर दे दिया। अब कृपा करके यह बतलाइये कि उत्पन्न होने के बाद इस प्रजा का कौन देव 'धारण' करते हैं, कौन इस प्रजा को 'प्रकाशित' करते हैं, इन देवों में कौन सबसे 'मुख्य' है ? सृष्टि का 'धारण' किस शक्ति से है, किस शक्ति के कारण यह सृष्टि टिकी हुई है ? सृष्टि का 'प्रकाशन' किस शक्ति से है, किस शक्ति के कारण यह सृष्टि अपने वर्तमान विकसित स्वरूप में पहुंची है ? अगर इस प्रकार की अनेक शक्तियां हैं तो उनमें 'मुख्य' कौन-सी है ?" ॥१॥

पिप्पलाद ऋषि ने उत्तर दिया—सृष्टि दो प्रकार की है—जड़ और चेतन। इन दोनों को 'प्राण' कहा जाता है। 'प्राण' का अर्थ है,

---

कुटिलता; अनृतम्—असत्य; न—नहीं; माया—माया—छल-प्रपंच, मिथ्याचार; च—और; इति—यह ॥ १६ ॥

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ, भगवन्कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते, कतर एतत्प्रकाशयन्ते, कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥१॥

अथ—इसके बाद; ह—निश्चय से; एनम्—इस (पिप्पलाद ऋषि) को; भार्गवः—भृगुकुलोत्पन्न; वैदर्भिः—वैदर्भि ने; पप्रच्छ—पूछा; भगवन्—हे पूजनीय महर्षे !; कति—कितने; एव—ही; देवाः—देवता, दिव्य गुण वाली शक्तियाँ; प्रजाम्—उत्पन्न जगत् को; विधारयन्ते—धारण करते हैं; कतरे—कौन-से; एतत्—इसको; प्रकाशयन्ते—प्रकाशित करते हैं, इसका ज्ञान कराते हैं; कः—कौन, पुनः—फिर; एषाम्—इनका (में); वरिष्ठः—मुख्य, श्रेष्ठ (है); इति—यह (पूछा) ॥ १ ॥

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥२॥

तस्मै—उस (वैदर्भि) को; सः ह—उस (पिप्पलाद ऋषि) ने; उवाच—कहा; आकाशः—आकाश; ह वै—निश्चय से; एषः—यह (जगत् का धर्ता);

वा+अन' अर्थात् जिसका जीवन निश्चित न हो, जो है, और न भी रहे। संस्कृत में 'अन' का अर्थ है—'प्राण'; 'वा' का अर्थ है—'शायद'। इस वाण-रूप जड़-चेतन सृष्टि को कोई इस प्रकार धारण करता है जैसे छप्पर को नीचे से गिरने से एक बल्ली रोके रहती है, अपने ऊपर टिकाये रखती है। 'ब्रह्मांड' के जड़-जगत् के विषय में आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी एक-दूसरे से झगड़ने लगे और कहने लगे कि हम इसका धारण कर रहे हैं; 'पिंड' के चेतन-जगत् के विषय में वाणी, मन, चक्षु तथा श्रोत्र झगड़ने लगे, और जोर-जोर से कहने लगे कि हम इसका धारण कर रहे हैं ॥२॥

इन्हें झगड़ते देखकर सर्व-श्रेष्ठ 'प्राण' ने कहा—मूर्खता में मत पड़ो। मैं अपने को पांच भागों में विभक्त करके 'वाण' रूप जड़-चेतन जगत् को जैसे छप्पर को बल्ली धारण करती है वैसे धारण कर रहा हूं (केन ३, बृहदा० १-३, ३-१) ॥३॥

देवः—देव; वायुः—वायु, अग्निः—अग्नि, आपः—जल, पृथिवी—पृथिवी (ये पंच महाभूत जगत् का धारण कर रहे हैं), वाङ्—वाणी, रसना, मन—मन, अन्तःकरण, चक्षुः—आँख, श्रोत्रम्—कान, च—और (ये ज्ञान-कर्म-इन्द्रियाँ दस और ग्यारहवाँ मन इस जगत् के प्रकाशक हैं), ते—वे देवता, प्रकाश्य—(जगत् को) प्रकाशित करके, अभिवदन्ति—आपस में कहते हैं, झगड़ने लगे, वयम्—हम, एतद्—इस, बाणम्—उत्पन्न जगत् रूपी छप्पर को, अवष्टभ्य—सहारा देकर, थाम कर, विधारयामः—धारण करते हैं ॥२॥

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच, मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति। तेऽश्रद्दधाना बभूवुः ॥३॥

तान्—उन (इन्द्रियों) को, वरिष्ठः—उनसे मुख्य, प्राणः—प्राण ने, उवाच—कहा, मा—मत, मोहम्—अज्ञान को, मूर्खतामय अभिमान को, आपद्यथ—प्राप्त हो, पड़ो, अहम्—मैं, एव—ही, एतद्—इस को, पञ्चधा—पाँच प्रकार से (रूप में), आत्मानम्—अपने आपको, प्रविभज्य—विभक्त करके, एतद्—इस, बाणम्—छप्पर को, अवष्टभ्य—थाम कर, विधारयामि—धारण करता हूं, इति—यह (बात कही), ते—वे (इन्द्रियादि), अश्रद्दधाना—अविश्वासी, बभूवुः—हुए, (अश्रद्दधाना बभूवुः—विश्वास न किया, बात न मानी) ॥३॥

'ब्रह्मांड' के जड़-जगत् के पृथिवी-जल आदि पांचों महाभूतों ने और 'पिंड' के चेतन-जगत् की पांचों इन्द्रियों ने 'प्राण' की इस बात में अश्रद्धा प्रकट की, मानने से हिचकिचाहट दिखलाई। प्राण भी अपना अभिमान रोक न सका। वह उत्क्रमण करने ही लगा, निकलने ही लगा कि दूसरे सब भी निकलते नजर आने लगे, वह ठहर गया तो दूसरे भी सब ठहर गये। जैसे शहद की मक्खियों की रानी-मक्खी (Queen bee) के उड़ जाने पर सब मक्खियां उड़ जाती हैं उसके बैठ जाने पर सब बैठ जाती हैं, इसी प्रकार 'ब्रह्मांड' के पांचों महा-भूत तथा 'पिंड' की पांचों इन्द्रियां प्रीति-पूर्वक प्राण की स्तुति करने लगीं ॥४॥

प्राण ही अग्नि के रूप में ताप दे रहा है, प्राण ही सूर्य के रूप में प्रकाश दे रहा है, प्राण ही बादल के रूप में जल बरसा रहा है,

---

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥४॥

सः—वह (प्राण); **अभिमानात्**—आत्माभिमान के कारण; **ऊर्ध्वम्**—ऊपर; **उत्क्रमते**—उछलता है, निकलता है; **इव**—मानो; **तस्मिन् उत्क्रामति**—उसके निकलने पर; **अथ**—फिर; **इतरे**—दूसरे; **सर्वे**—सारे (देव); **एव**—ही; **उत्क्रामन्ते**—बाहर निकल जाते हैं; **तस्मिन्**—उसमें (के); **च**—और; **प्रतिष्ठमाने**—प्रतिष्ठित होने पर, पुनः आ जाने पर; **सर्वे एव**—सारे ही; **प्रातिष्ठन्ते**—ठहर जाते हैं; **तत्**—तो; **यथा**—जैसे; **मक्षिकाः**—मक्खियाँ; **मधुकरराजानम्**—शहद की रानी मक्खी के; **उत्क्रामन्तम्**—उड़ जाती हुई को (देखकर); **सर्वाः एव**—सारी ही; **उत्क्रामन्ते**—उड़ जाती हैं; **तस्मिन् च प्रतिष्ठमाने**—और उस (रानी-मक्खी) के बैठ जाने पर; **सर्वाः एव**—सारी ही; **प्रातिष्ठन्ते**—बैठ जाती हैं; **एवम्**—इस ही प्रकार; **वाक्**—वाणी; **मनः**—मन; **चक्षुः**—आँख; **श्रोत्रम्**—कान; **च**—और; **प्रीताः**—प्रसन्न हुए-हुए; **प्राणम्**—प्राण को (की); **स्तुन्वन्ति**—स्तुति करते हैं ॥४॥

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष
वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥५॥

एषः—यह प्राण ही; **अग्निः**—आग (रूप में); **तपति**—ताप रहा है;

प्राण ही घन के रूप में दान दे रहा है, प्राण ही वायु के रूप में जीवन दे रहा है, प्राण ही पृथिवी के रूप में आश्रय दे रहा है, प्राण ही रयि के रूप में भोग्य-जगत् को उत्पन्न कर रहा है। संसार में जो मरण-धर्मा 'सत्-असत्' है, जो अमरण-धर्मा 'अमृत' है—सब प्राण है ॥५॥

(इस दृष्टि से 'प्राण' ही के सहारे 'रयि' टिकी हुई है। रयि में जो भोग्य-शक्ति है वह प्राण द्वारा ही निहित है। भोग्य न हो, तो भोक्ता हो सकता है, भोक्ता न हो, तो भोग्य नहीं हो सकता, 'रयि' न हो, तो 'प्राण' रह सकता है, 'प्राण' न हो, तो 'रयि' नहीं रह सकती। भोक्ता की ही यथार्थ सत्ता है, भोग्य की नहीं। प्रथम प्रश्न में 'प्राण' तथा 'रयि' की स्थापना करने के बाद इस प्रश्न में ऋषि कहते हैं कि इन दोनों में मुख्यता 'रयि' की नहीं, 'प्राण' की, अर्थात् भोक्ता की है।)

रथ के चक्र की नाभि में जैसे अरे जुड़े रहते हैं, वैसे प्राण में सब स्थित है। ऋक्, यजु, साम—अर्थात् सम्पूर्ण 'ज्ञान-कांड' एवं यज्ञ—अर्थात् सम्पूर्ण 'कर्म-कांड' प्राण की साधना के लिये ही है। संसार को थामने वाली भौतिक-शक्ति 'क्षत्र' है, आत्मिक-शक्ति 'ब्रह्म' है। ये दोनों भी प्राण-शक्ति पर ही आश्रित हैं ॥६॥

एषः—यह, सूर्यः—सूर्य (रूप में,) एष—यह, पर्जन्यः—बादल (रूप में), मघवान्—धनदाता, इन्द्र, एषः—यह, वायुः—वायु (रूप में), एष—यह, पृथिवी—पृथ्वी (रूप में), रयिः—भोग्य-जगत् (रूप में), देव—देव, सत्—सत्तावान् (अविनाशी), असद्—विनाशी, च—और, अमृतम्—अमर, च—और; यत्—जो कुछ (भी है सब प्राण ही है) ॥५॥

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥६॥

अरा—अरे (की); इव—तरह, रथनाभौ—रथ के पहिये की नाभि में, प्राणे—प्राण में; सर्वम्—सब कुछ, प्रतिष्ठितम्—प्रतिष्ठित है, स्थित है, ऋच—ऋग्वेद; यजूंषि—यजुर्वेद; सामानि—सामवेद, यज्ञः—शुभ कर्म; क्षत्रम्—क्षात्र भाव (भौतिक शक्ति), ब्रह्म—ज्ञान (आत्मिक-शक्ति); च—और ॥६॥

हे प्राण ! तू प्रजापति का रूप है। गर्भ में तू ही विचरण करता है, उत्पन्न होने पर तू ही उत्पन्न होता है। हे प्राण ! सम्पूर्ण प्रजाएं उपहार ला-लाकर तेरे ही चरणों में रखती हैं। तू ही अपनी भिन्न-भिन्न प्राण-शक्तियों के द्वारा जड़-चेतन-जगत् को थामे हुए है ॥७॥

हे प्राण ! 'देवों' (गुणों से बड़ों) में तू अग्नि से भी अधिक दिव्य-गुणों वाला है; 'पितरों' (आयु से बड़ों) में किसी पिता के सन्तान उत्पन्न होने पर उसे जो पहला उल्लास होता है वह तू ही है; अथर्वांगिरस् 'ऋषियों' (गुण तथा आयु दोनों से बड़ों) का जो सत्य-चरित है वह भी तू ही है ॥८॥

हे प्राण ! अपने तेज से तू ही 'इन्द्र' है; अपने रक्षण से तू ही 'रुद्र' है; तू ही संसार की ज्योतियों के स्वामी 'सूर्य' के रूप में अन्तरिक्ष में विचरण कर रहा है ॥९॥

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे।
तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥७॥

प्रजापतिः—प्रजापति (के रूप में); **चरसि**—विचरण करता है; **गर्भे**—गर्भ में; **त्वम् एव**—तू ही; **प्रतिजायसे**—(माता-पिता का) प्रतिरूप उत्पन्न होता है; **तुभ्यम्**—तुझे; **प्राण**—हे प्राण; **प्रजाः**—प्रजाएं; **तु**—तो; **इमाः**—ये; **बलिम्**—उपहार; **हरन्ति**—लाती हैं (भेंट करती हैं); **यः**—जो (तू); **प्राणैः**—प्राण-शक्तियों द्वारा; **प्रतितिष्ठसि**—प्रतिष्ठित हो रहा है ॥७॥

देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥८॥

देवानाम्—देवताओं (गुण-वृद्ध या ज्ञान-वृद्ध) में; **वह्नितमः**—वाहक (प्रापक) अग्नि (देव) से बढ़ कर है; **पितॄणाम्**—पितरों (आयु-वृद्ध) जनों में; **प्रथमा**—प्रथम, मुख्य; **स्वधा**—उल्लास; आत्मनिर्भरता, अन्न; **ऋषीणाम्**—क्रान्तद्रष्टा, दूरदर्शी, गुण-आयु दोनों से वृद्ध (युक्त); **चरितम्**— आचरण, सदाचार; **सत्यम्**—सत्य-चरित, समीचीन; **अथर्वाङ्गिरसाम्**—अथर्व (निश्चल, अपने ध्येय पर दृढ़) और अङ्गिरस् (ज्ञान-सम्पादन में तत्पर); **असि**—है ॥८॥

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥९॥

इन्द्रः—सकलैश्वर्यसम्पन्न, प्रभु; **त्वम्**—तू; **प्राण**—हे प्राण; **तेजसा**—तेज से; **रुद्रः**—रुद्र; **असि**—है; **परिरक्षिता**—रक्षा करनेवाला; **त्वम्**—तू;

हे प्राण ! जब तू वर्षा करता है तब आनन्द से विभोर तेरी प्रजाएं सब-तरफ खड़ी मन-ही-मन कह उठती हैं, अब भरपूर अन्न होगा ॥१०॥

हे प्राण ! नीच-से-नीच पुरुष—'व्रात्य'—तेरा ही रूप है, उच्च-से-उच्च—एकमात्र 'ऋषि'—भी तेरा ही रूप है; तू संसार का 'अत्ता' है, भोक्ता है, हम तेरे 'आद्य' को, भोग्य को पहुंचाने वाले हैं—तू भोक्ता और हम भोग्य हैं; तू विश्व का पति है; प्राण-रूप दीखने वाली वायु का भी तू ही पिता है ॥११॥

हे प्राण ! तेरा जो रूप वाणी में जाकर ठहरा हुआ है, जो श्रोत्र और जो चक्षु में है, तेरा जो रूप मन में फैल रहा है, उसे कल्याणकारी बना, उत्क्रमण मत कर—मेरी प्राण-शक्ति का किसी अंग में ह्रास न हो ॥१२॥

अन्तरिक्षे—आकाश में, चरसि—विचरण कर रहा है, सूर्यः—सूर्य, त्वम्=तू, ज्योतिषाम्—प्रकाशकों—नक्षत्र-अग्नि-विद्युत्—का, पतिः—स्वामी ॥९॥

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥१०॥

यदा—जब, त्वम्—तू, अभिवर्षसि—वर्षा करता है, अथ—तो, इमाः—ये, प्राण—हे प्राण ! ते—तेरी, प्रजाः—प्रजाएं (जड़-चेतन उत्पन्न भूत), आनन्दरूपाः—आनन्दमग्न, तिष्ठन्ति—हो जाती हैं, स्थिर (निश्चिन्त) हो जाती हैं; कामाय—यथेच्छ, प्रभूत, अन्नम्—अन्न, भविष्यति—होगा, इति—यह (सोचकर) ॥१०॥

व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ॥११॥

व्रात्यः—पतित, संस्काररहीन, त्वम्—तू, प्राण—हे प्राण !, एकऋषिः—अद्वितीय ज्ञानी (सस्कारक), अत्ता—भोक्ता या प्रलयकर्ता, विश्वस्य—सब का, जगत् का, सत्पतिः—श्रेष्ठ या सर्वदा विद्यमान पति—भरण करने वाला, वयम्—हम, आद्यस्य—भक्ष्य के, भोग्य के, दातारः—देनेवाले, पहुंचानेवाले, पिता—पालक, त्वम्—तू, मातरिश्वनः—वायु का ॥११॥

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥१२॥

या—जो, ते—तेरा, तनूः—शरीर, रूप, वाचि—वाणी में, प्रतिष्ठिता—स्थित है, या—जो, श्रोत्रे—कान में, या—जो; च—और, चक्षुषि

पृथिवी, द्यु तथा अन्तरिक्ष—इन तीनों लोको में जो-कुछ भी स्थित है, सब प्राण के ही बस में हैं। हे प्राण! जैसे माता पुत्र की रक्षा करती है, ऐसे ही तू हमारी रक्षा कर। हमें 'श्री'—भौतिक-ऐश्वर्य—तथा 'प्रज्ञा'—मानसिक तथा आत्मिक ऐश्वर्य—का प्रदान कर ॥१३॥

तृतीय प्रश्न

प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान का पिंड तथा ब्रह्मांड में रूप

द्वितीय प्रश्न में यह बताया कि प्रजा, अर्थात् जो-कुछ उत्पन्न हुआ है, उसे 'रयि' नहीं, 'प्राण' धारण करता है, उसका प्राण ही प्रकाशन करता है, प्राण ही सब में मुख्य है। यह सुनने के बाद अश्वल का पुत्र कौशल्य पिप्पलाद ऋषि से पूछने लगा—"भगवन्! यह 'प्राण' जो सब उत्पन्न हुए पदार्थों को धारण करता है, स्वयं कहां से उत्पन्न होता है? इस शरीर में यह किस प्रकार आता है? अपने भिन्न-

—आँख में; या च—और जो; मनसि—मन में; संतता—फैला है; शिवाम्—कल्याणकारी, शान्त, मंगलरूप; ताम्—उसको; कुरु—कर; मा—मत; उत्क्रमीः—(हमें छोड़ कर) बाहर निकल ॥१२॥

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥१३॥

प्राणस्य—प्राण के; इदम्—यह; वशे—वश में, अधीन; सर्वम्—सब-कुछ; त्रिदिवे—तीनों लोकों में, स्वर्ग में, अन्तरिक्ष में; यत्—जो; प्रतिष्ठितम्—स्थित है; माता+इव—माता की तरह; पुत्रान्—पुत्रों की; रक्षस्व—रक्षा कर; श्रीः—लक्ष्मी, शोभा, कान्ति; च—और; प्रज्ञाम्—बुद्धि को, ज्ञान-सामर्थ्य को; च—और; विधेहि—सम्पादन कर, दे; नः—हमें; इति—यह (स्तुति देवताओं—इन्द्रियों—ने की) ॥१३॥

अथ हैनं कौशल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ। भगवन्कुत एष प्राणो
जायते कथमायात्यस्मिञ्छरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं
प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥१॥

अथ ह—इसके बाद; एनम्—इसको (से); कौशल्यः—कौशल्य ने; च—और; आश्वलायनः—अश्वल के पुत्र; पपच्छ—पूछा; भगवन्—हे आदरणीय;

भिन्न विभाग करके शरीर में किस प्रकार स्थित है ? किस प्रकार यह शरीर में से निकलता है ? बाह्य-संसार को यह प्राण किस प्रकार धारण करता है, और आत्मा को इस शरीर में यह किस प्रकार धारण करता है ?" ॥१॥

ऋषि ने उत्तर दिया—बड़े प्रश्न पूछ डाले तूने, खैर, तू ब्रह्मिष्ठ है, इसलिए तेरे प्रश्नों का उत्तर देता हूं ॥२॥

जिस प्राण के विषय में तूने पूछा उसकी उत्पत्ति 'आत्मा' से होती है। जैसे पुरुष के साथ छाया लगी है इसी प्रकार 'आत्मा' के साथ 'प्राण' लगा है। पुरुष से छाया की उत्पत्ति है, आत्मा से प्राण की उत्पत्ति है। मन के किये से वह इस शरीर में आता है। मन की वासनाएं ही रस्सी बनकर आत्मा को शरीर में खींच लाती है, आत्मा शरीर में आया नहीं कि प्राण चलने लगा ॥३॥

कुत—कहां से, किससे, एष—यह (पूर्ववर्णित), प्राण—प्राण, जायते—उत्पन्न होता है, कथम्—कैसे, आयाति—आता है, अस्मिन्—इस, शरीरे—शरीर में, आत्मानम्—अपने आपको, वा—या, प्रविभज्य—विभक्त करके, कथम्—कैसे, प्रातिष्ठते—स्थित होना है, केन—किस प्रकार, उत्क्रमते—निकलता है, कथम्—कैसे, बाह्यम्—बाहर होने वाले अधिभूत और अधिदैवत को, अभिधत्ते—धारण करता है या कहता है (प्रकाशित करता है), कथम्—किस प्रकार, अध्यात्मम्—आत्मा को, इति—यह (पूछा) ॥१॥

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥२॥

तस्मै—उस (कौशल्य) को, स ह—उसने, उवाच—कहा, अतिप्रश्नान्—बहुत से प्रश्नों को अथवा प्रश्न-कोटि में न आने वाले (केवल अनुभव के विषय) प्रश्नों को, पृच्छसि—तू पूछ रहा है, ब्रह्मिष्ठ—ब्रह्मज्ञान में तत्पर, ब्रह्मज्ञानी, असि—तू है, इति—अतः, तस्मात्—उस कारण से, ते—तुझे, अहम्—मैं, ब्रवीमि—उपदेश करता हूं, उत्तर देता हूं ॥२॥

आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे
छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे ॥३॥

आत्मन—आत्मा से, एष—यह, प्राण—प्राण, जायते—उत्पन्न होता है, यथा—जैसे, पुरुषे—पुरुष में (के साथ रहने वाली), छाया—छाया, एतस्मिन्—इस (आत्मा) में, एतद्—यह (प्राणतत्त्व), आततम्—फैला,

जैसे सम्राट् अपने अधीन कर्मचारियों को अपने-अपने काम में नियुक्त करता है, किसी को इस तथा किसी को उस ग्राम में अधिष्ठाता बनाता है, इसी प्रकार यह प्राण अन्य प्राणों को पृथक्-पृथक् अपने-अपने काम में नियुक्त करता है ।।४।।

गुदा तथा उपस्थ भाग में 'अपान'—'अप+आन'—नीचे की तरफ़ जीवन—(Alimentary system); चक्षु-श्रोत्र-मुख-नासिका में स्वयं 'प्राण'—'प्र+आन'—(Respiratory system); शरीर के मध्य भाग में 'समान'—'सम+आन'—(Digestive system) प्रतिष्ठित होता है । समान द्वारा ही शरीर में आहुति के रूप में पड़ा हुआ अन्न

साथ लगा; **मनोकृतेन**—मन द्वारा (मन की प्रेरणा से) किये हुए कर्म से; **आयाति**—आता है; **अस्मिन्**—इस; **शरीरे**—शरीर में ।।३।।

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रामानेतान्ग्रामान-
धितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते ।।४।।

यथा—जैसे; **सम्राट्**—चक्रवर्ती राजा; **अधिकृतान्**—अपने अधीन कर्मचारियों को; **विनियुङ्क्ते**—नियुक्त करता है; **एतान्**—इन; **ग्रामान्**—ग्रामों को; **एतान्**—इन; **ग्रामान्**—ग्रामों को; **अधितिष्ठस्व**—अधिकार में रक्खो, अधिष्ठाता (अध्यक्ष-प्रबन्धक) बनो; **इति**—ऐसे; **एवम् एव**—ऐसे ही; **एषः**—यह; **प्राणः**—प्राण; **इतरान्**—दूसरे; **प्राणान्**—(अपान आदि) प्राणों को; **पृथक् पृथग् एव**—पृथक्-पृथक् ही (यथास्थान); **संनिधत्ते**—रखता है, नियुक्त करता है ।।४।।

पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु
समानः । एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ।।५।।

पायूपस्थे—गुदा और मूत्रेन्द्रिय में; **अपानम्**—अपान को; **चक्षुःश्रोत्रे**—आँख और कान; **मुख-नासिकाभ्याम्**—मुख और नासिका द्वारा (में); **प्राणः**—(समाड् रूपी) प्राण; **स्वयम्**—खुद, अपने आप; **प्रातिष्ठते**—स्थित है; **मध्ये तु**—(पायूपस्थ और चक्षुःश्रोत्र के) बीच में तो; **समानः**—'समान' नामक तीसरा प्राणभेद; **एषः**—यह 'समान' प्राण; **हि**—ही; **हुतम्**—ग्रहण किये हुए (जठराग्नि में डाले हुए); **अन्नम्**—खान-पान को; **समम्**—समान, एक बराबर; **नयति**—ले जाता है; (**समं नयति**—सब को समान रूप से बांटता है); **तस्मात्**—उस कारण से ही; **एताः**—ये; **सप्त**—सात (दो आँख, दो कान, दो नाक और एक मुख या जिह्वा); **अर्चिषः**—प्रदीप्त ज्वालाएं; अपने कार्य में समर्थ; **भवन्ति**—होती हैं ।।५।।

सम करके—एक-रस बनाकर—सब जगह पहुंचाया जाता है जिससे शरीर में सात ज्योतियां जग उठती हैं। दो आंख, दो नाक, दो कान तथा एक मुख—ये सात शरीर को ज्योतियां हैं जिन्हें समान द्वारा रस मिलता है ॥५॥





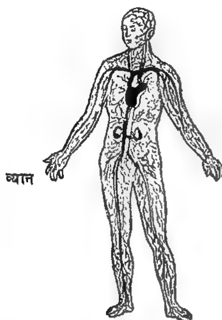


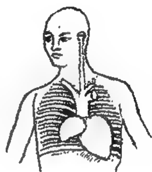
आत्मा का निवास हृदय में है। इस हृदय के साथ मुख्य-मुख्य १०१ नाड़ियां हैं। इनमें से एक-एक से सौ-सौ शाखाएं फूटी हैं। उन शाखाओं से भी एक-एक से बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखाएं फूटी हैं। हृदय से लेकर इस सम्पूर्ण 'रक्त-संचारिणी-संस्थान' (Circulatory system) में 'व्यान'—'वि+आन'—विचरता है (कठ ६-१६, छान्दोग्य ८-६, बृहदा० २-१-१९, ४-२-३, ४-३-२०, ४-४-२) ॥६॥

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्या द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥६॥

हृदि हि—हृदय में ही, एषः आत्मा—यह आत्मा (जीव) स्थित है; अत्र—इस हृदय में ही, एतद्—यह, एकशतम्—एकोत्तर शत (एक सौ एक), नाडीनाम्—नाड़ियों की (संख्या है), तासाम्—उन (एक सौ एक) की, शतम् शतम्—सौ-सौ, एकैकस्याम्—एक-एक (मूल) नाड़ी में (शाखा होती हैं); द्वा-सप्ततिः द्वासप्ततिः—बहत्तर-बहत्तर; प्रतिशाखानाडी-सहस्राणि—प्रत्येक शाखा (नाड़ी को) एक हजार, (द्वासप्ततिः द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि—प्रत्येक शाखा नाड़ी में बहत्तर हजार प्रतिशाखा-नाड़ियां); भवन्ति—होती हैं; आसु—इनमें; व्यान—'व्यान' नामक प्राण-भेद; चरति—विचरण करता है, फिरता है ॥६॥

(अनेक अध्यात्मशास्त्रियों का कथन है कि उपनिषद् में 'नाड़ी' का अर्थ 'नर्व' या 'आर्टरी' आदि न होकर सूक्ष्म-शरीर की अदृश्य नाड़ियों से है जिनका संबंध चक्रों से है। इन चक्रों का वर्णन तांत्रिक ग्रन्थों में पाया जाता है।)


व्यान


उदान

हृदय से एक नाड़ी (Carotid artery) ऊर्ध्व-देश को, मस्तिष्क को जाती है। उसमें 'उदान'–'उद्+आन'–ऊपर या नीचे की तरफ़ जीवन—रहता है। पुण्य कार्य करने से हृदय में बैठे हुए आत्मा को उदान 'पुण्य-लोक' में ले जाता है, पाप-कर्म करने से आत्मा को उदान

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति
पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥७॥

अथ—और; **एकया**—एक (ऊपर मस्तिष्क की ओर जाने वाली 'सुषुम्णा' नाड़ी) से; **ऊर्ध्वः**—ऊपर उठता हुआ; **उदानः**—'उदान' नामक प्राण-भेद; **पुण्येन**—पुण्य (सुकृत) कर्म करने से; **पुण्यम्**—पुण्य (श्रेष्ठ-उच्च); **लोकम्**—लोक को, स्थान को, गति को, योनि को; **नयति**—प्राप्त कराता है; **पापेन**—पाप (दुष्कृत) कर्म करने से; **पापम्**—नीच, अधम (योनि) को; **उभाभ्याम्**—दोनों (पुण्य-पापमय) कर्मों के करने से; **एव**—ही; **मनुष्य-लोकम्**—मनुष्य-योनि को (प्राप्त कराता है) ॥७॥

'पाप-लोक' में ले जाता है, दोनों प्रकार के कर्म करने से आत्मा को उदान 'मनुष्य-लोक' में ले जाता है (तैत्तिरीय १-६, ऐतरेय १-३-१२) ॥७॥

('आन' अन प्राणने धातु से घञ् प्रत्यय लगने पर सिद्ध होता है—'आन' का अर्थ हुआ 'जीवन-क्रिया'।)

'पिंड' में प्राणापान आदि का वर्णन करने के अनन्तर अब 'ब्रह्माड' में प्राणापान आदि का वर्णन करते हैं। बाह्य-जगत में प्राण ही आदित्य-रूप होकर उदय होता है। आदित्य की प्राण-शक्ति ही चक्षु की प्राण-शक्ति को अनुगृहीत करती हैं। चक्षु का प्राण पिंड का प्राण है, आदित्य का प्राण ब्रह्माड का प्राण है। चक्षु इस पिंड का सूर्य है, सूर्य इस ब्रह्माण्ड का चक्षु है—दोनों में तादात्म्य है, पृथ्वी नीचे है, वैसे प्राण ऊपर और अपान नीचे है। सूर्य के साथ 'प्राण' का सम्बन्ध है, पृथिवी के साथ 'अपान' का। पृथिवी में जो देवता है वह पुरुष में अपान है। पृथिवी का देवता कौन है ? जो इसे नीचे की तरफ खींचता है, वही तो इसका देवता है, उसी से तो पृथिवी टिकी हुई है, नहीं तो सूर्य के खिंचाव से उसी से जा टकराती। बाह्य-जगत् में अपान ही गुरुत्व-रूप होकर स्थिति का कारण है। पृथिवी की अपान-शक्ति ही शरीर की अपान-शक्ति की प्रतिनिधि है। सूर्य तथा पृथिवी के बीच जो अन्तर है, इन दोनों के बीच जो आकाश है, वही समान है। वायु व्यान है ॥८॥

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं
प्राणमनुगृह्णानः । पृथिव्यां या देवता सैषा
पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥ ८ ॥

आदित्यः—सूर्य, ह वै—निश्चयपूर्वक, बाह्यः—(पिण्ड से) बाहर का (अधिदैवत), प्राणः—प्राण है, उदयति—उदित होता है, एषः—यह (आदित्य रूप प्राण), हि—ही, एनम्—इस, चाक्षुषम्—नेत्र में होने वाले (विद्यमान), प्राणम्—(शरीर-वर्ती) प्राण को, अनुगृह्णानः—अनुगृहीत करता है, प्राण शक्ति देने की कृपा करता है, पृथिव्याम्—पृथिवी में, या—जो, देवता—दिव्य शक्ति (नीचे की ओर ले आने वाली गुरुत्व शक्ति), सा एषा—वह यह (पृथिवी की गुरुता) ही, पुरुषस्य—पुरुष के, मनुष्य शरीर के,

शरीर म जैसे उदान है वैसे बाह्य-जगत् में तेज है। पिंड तथा ब्रह्मांड के पांचों प्राणों का वर्णन करने के बाद फिर पिंड की तरफ़ आते हुए ऋषि कहते हैं कि उदान द्वारा आत्मा शरीर से निकलता है। जब तक शरीर में तेज रहता है तब तक आत्मा उदान की सहायता से शरीर में ही रहता है। जब शरीर का तेज शांत हो जाता है तब इन्द्रियां बाहर फिरना छोड़कर मन में जा टिकती हैं और मनुष्य पुनर्जन्म की तय्यारी करने लगता है। शरीर का 'उदान' बाह्य-जगत् के 'तेज' का प्रतिनिधि है। जो प्राण-शक्ति शरीर में उदान का काम करती है, वही बाह्य-जगत् में तेज का काम करती है। जैसे बाह्य-जगत् में जब तेज अस्त होने लगता है तब सारी सृष्टि मानो मर कर नये दिन की तय्यारी करने लगती है, वैसे शरीर का तेज जब शांत हो जाता है तब उदान की सहायता से आत्मा पुण्य-कर्मों के कारण पुण्य-लोक में, पाप-कर्मों के कारण पाप-लोक में, उभय-कर्मों के कारण मनुष्य-लोक में जाता है ॥९॥

मृत्यु के समय जिस प्रकार का 'चित्त' होता है, उसी प्रकार का चित्त 'प्राण' के पास पहुंचता है। प्राण अपने तेज के साथ

अपानम्—अपान को; अवष्टभ्य—थाम कर, गुरुत्व शक्ति देकर; (अनुगृह्णाना—अनुग्रह कर रही है—शक्ति प्रदान कर रही है); अन्तरा—(सूर्य और पृथिवी के) बीच में; यत्—जो; आकाशः—आकाश है; सः—वह ही; समानः—'समान'-नामी प्राण-भेद का अनुग्रहकर्ता है; वायुः—(बाह्य जगत् में) वायु ही; व्यानः—'व्यान'-नामी प्राण-भेद का अनुग्रहीता है ॥८॥

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः।
पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः ॥९॥

तेजः—(बाह्य जगत् का) तेज (उष्णता, गर्मी); ह वै—ही; उदानः—'उदान' नामक प्राण का अनुग्रहीता है। तस्माद्—उस कारण से; उपशान्ततेजाः—जिसका तेज (गर्मी) शान्त (समाप्त) हो गया है, वह; पुनर्भवम्—पुनर्जन्म (पुनः जन्म धारण करने की स्थिति) को (प्राप्त होता है); (तब) इन्द्रियैः—इन्द्रियों द्वारा; मनसि—मन में; संपद्यमानैः—लीन होती हुई ॥९॥

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः
सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥१०॥

यच्चित्तः—जैसे चित्त (संकल्प-विकल्प) वाला (होता है); तेन—उस

आत्मा के पास पहुंचता है। 'प्राण' ही 'तेज', 'चित्त' और 'आत्मा' को अपने 'संकल्पों' के अनुसार के लोक में ले जाता है। ये 'तेज'-'चित्त'-'आत्मा' क्या है? इन तीनों का 'प्राण' के साथ क्या सम्बन्ध है? प्राण की दो शक्तियां हैं—शारीरिक तथा मानसिक। प्राण की शारीरिक-शक्ति उसका 'तेज' है, प्राण के तेज से ही तो शरीर क्रिया करता है। प्राण की मानसिक-शक्ति उसका 'चित्त' है, इस चित्त के द्वारा ही संकल्प-विकल्प होता है। शरीर से कूच करते समय प्राण अपने 'तेज' और 'चित्त' को साथ लेकर चलता है, परन्तु इस शरीर में रहते हुए इसका जैसा तेज और चित्त हो चुका होता है वैसे ही लोक में जा सकता है। चलते समय आत्मा भी कूच करता है क्योंकि आत्मा और प्राण तो साथ-साथ ही रहते हैं। इस प्रकार प्राण शरीर से कूच करते हुए अपने शारीरिक (तेज), मानसिक (चित्त) तथा आत्मिक (आत्मा)—इन तीनों आधारों को साथ लेकर चल देता है। आत्मा शरीर में से निकलता जिस मार्ग से है उसे उपनिषत्कार ने 'उदान'-मार्ग कहा है। यह वह मार्ग है जो हृदय की उस नाड़ी से चलता है जो मस्तिष्क में जाकर खुलती है और जिसे 'कैरोटिड आर्टरी' कहते हैं ॥१०॥

जो विद्वान् प्राण के संबंध में यह सब-कुछ जानता है, वह मृत्यु के बाद भी अमर हो जाता है, उसका वंशोच्छेद नहीं होता ॥११॥

चित्त के साथ, एष—यह जीवात्मा, प्राणम्—प्राण-शक्ति को, आयाति—प्राप्त करता है, पहुँचता है, (तब) प्राणः—प्राण, तेजसा—तेजस्स्वरूप उदान (उत्क्रमण-गति) से, युक्तः—युक्त होकर, सह आत्मना—जीवात्मा के साथ, यथासंकल्पितम्—चित्त के तत्कालीन संकल्प के अनुसार, लोकम्—(पाप-पुण्य-मय) योनि को, नयति—ले जाता है ॥१०॥

य एवं विद्वान्प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥११॥

यः—जो, एवम्—इस प्रकार, विद्वान्—जानने वाला, प्राणम्—प्राण को, वेद—जानता है, न—नहीं, ह—निश्चय से, अस्य—इसकी, प्रजा—प्रजा (सन्तति), हीयते—क्षीण होती है, (न ह अस्य प्रजा हीयते—इसका वंश-उच्छेद नहीं होता, वंश-परम्परा चलती रहती है); अमृतः भवति—स्वयम्

प्राण के विषय में जो यह जानता है कि इसकी उत्पत्ति कहां से होती है, इसके भिन्न-भिन्न पांच स्थान कौन-कौन से हैं, यह किस प्रकार संसार में सब जगह व्याप रहा है, यह शरीर में तथा बाह्य-जगत् में, अर्थात् पिंड तथा ब्रह्मांड में किस प्रकार तादात्म्य स्थापित किये हुए है—वह अमृत को चख लेता है, अमृत को चख लेता है ॥१२॥

चतुर्थ प्रश्न

प्राण, मन, आत्मा, ब्रह्म का उत्तरोत्तर महत्त्व

प्राण कहां से उत्पन्न होता है, शरीर में कहां-कहां स्थित है, कैसे आता है, कैसे जाता है, इसका मनुष्य-शरीर तथा बाह्य-जगत् से क्या सम्बन्ध है—इन प्रश्नों के उत्तर सुनने के बाद सौर्य का पुत्र गार्ग्य पूछने लगा—"भगवन् ! कौन सोता है, कौन जागता है, कौन स्वप्न देखता है, किसे सुख होता है, यह सब किसमें प्रतिष्ठित है, कौन इन सब का आधार है ?" ॥१॥

अमर हो जाता है; तद्—तो (इस विषय में); एषः—यह; श्लोकः—सूक्ति (भी है) ॥११॥

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा ।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति ॥१२॥

उत्पत्तिम्—(प्राण की) उत्पत्ति को; **आयतिम्**—(इसके शरीर में) आगमन को; **स्थानम्**—स्थिति (प्रतिष्ठा) को; **विभुत्वम्**—(शरीर में) व्यापकता को; **च+एव**—और ही; **पञ्चधा**—(इस प्राण के) पाँच प्रकार (के विभाग) को; **अध्यात्मम्**—शरीर के अन्दर आत्मा के साथ सम्बन्ध को, आत्मा में; **च एव**—और ही (अधिदैवत—ब्रह्माण्ड में प्राण की उत्पत्ति-स्थिति आदि को); **प्राणस्य**—प्राण की; **विज्ञाय**—जान कर; **अमृतम् अश्नुते**—अमरता को प्राप्त करता है—भोगता है; **विज्ञाय अमृतम् अश्नुते**—जान कर अमरता को पाता है; **इति**—यह (श्लोक है) ॥१२॥

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ । भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति, कान्यस्मिन् जाग्रति, कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति, कस्यैतत्सुखं भवति, कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥१॥

अथ ह—इसके बाद; **एनम्**—इसको (से); **सौर्यायणी**—सौर्य के पुत्र; **गार्ग्यः**—गर्ग गोत्री ने; **पप्रच्छ**—पूछा; **भगवन्**—हे पूजनीय ऋषे ! ; **एतस्मिन्**—इस; **पुरुषे**—मनुष्य (देह) में; **कानि**—कौन; **स्वपन्ति**—सोते हैं;

पिप्पलाद ऋषि ने उत्तर दिया—सूर्य जब अस्त होने लगता है, तो सब किरणें उस तेजोमडल में सिमिट कर एक हो जाती हैं, जब वह फिर उदय होता है, वे भी दिग्दिगन्त में चल पड़ती हैं। इसी प्रकार, यह सब-कुछ, उस परम-देव, अर्थात् इन्द्रियों का जो मुखिया है—हमारा 'मन'—उसमें एक हो जाता है। मनरूपी सूर्य की इन्द्रियां किरणें हैं। मन के अस्त होने, अर्थात् सोने के समय, ये सिमिट कर एक हो जाती हैं, और इसी से, सोते समय पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूंघता है, न चखता है, न छूता है, न बोलता है, न पकड़ता है, न आनन्द लेता है, न मल-मूत्र त्यागता है, न चलता है। ऐसी अवस्था में हम कहते हैं कि वह सो रहा है ॥२॥

कानि—कौन, अस्मिन्—इसमें, जाग्रति—जागते हैं, कतर—कौन-सा, एष—यह, देव—देव, स्वप्नान्—सपनों को, पश्यति—देखता है, कस्य—किस को, एतत्—यह, सुखम्—सुख, भवति—होता है, कस्मिन्—किसमें, नु—प्रश्न अर्थ में, सर्वे—सारे, सम्प्रतिष्ठिता—प्रतिष्ठित, भली प्रकार स्थित, भवन्ति—होते हैं, इति—यह (प्रश्न पूछा) ॥१॥

तस्मै स होवाच, यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छत सर्वा
एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति ता पुन पुनरुदयत प्रचरन्त्येव
ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति । तेन तर्ह्येष पुरुषो न
शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते
नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ॥२॥

तस्मै—उस (सौर्यायणी गार्ग्य) को, स ह—उसने, उवाच—कहा, उत्तर दिया, यथा—जैसे, गार्ग्य—हे गार्ग्य, मरीचय—किरणें अर्कस्य—सूर्य के, अस्तम् गच्छत—अस्त होते हुए, सर्वा—सारी, एतस्मिन्—इस, तेजोमण्डले—तेज के गोले (बिम्ब) में, एकीभवन्ति—एक (एकत्र) हो जाती हैं, ता—वे (किरण) ही, पुन—फिर, पुन उदयत—फिर (दोबारा) उदय होते हुए सूर्य से, प्रचरन्ति—चल निकलती हैं, फैल पड़ती हैं, एवम्—इस प्रकार, ह वै—ही, तत् सर्वम्—वह (इन्द्रिय आदि) सब कुछ, परे—श्रेष्ठ, देवे—(विषयों के ज्ञापक) देव में, मनसि—मन में, एकीभवति—एक (एकत्र) हो जाता है, तेन—उस कारण से ही, तर्हि—तब, एष पुरुष—यह पुरुष (जीवात्मा), न शृणोति—नहीं सुनता, न पश्यति—नहीं देखता, न जिघ्रति—नहीं सूंघता, न रसयते—न रस (स्वाद) लेता, न स्पृशते—नहीं छूता (छू कर जानता), न अभिवदते—नहीं बातचीत करता, न आदत्ते—

कौन जागता है ? जैसे नगर में पांच अग्नियां सदा जला करती हैं, वैसे इस शरीर-रूपी नगरी में, पांचों प्राण-रूपी अग्नियां सदा जगती रहती हैं। सोते समय भी पांचों प्राण नहीं सोते, वे चला ही करते हैं। बाह्य-जगत् में जैसे 'गार्हपत्य' आदि पांच अग्नियां हैं, वैसे शरीर में कौन-सी अग्नियां हैं ? 'गार्हपत्य-अग्नि' सबकी आधार है, यह शरीर के आधार-रूप निम्न-भाग में स्थित मानो 'अपान' है; 'अन्वाहार्य-पचन-अग्नि' वह अग्नि है जो गार्हपत्य से रसोईघर में भोजन पकाने के लिये लाई जाती है, यह मानो 'व्यान' है; 'आहवनीय-अग्नि' वह अग्नि है जो गार्हपत्य से अग्निहोत्र के लिये प्रणीत होती है, यह प्रणयन के कारण मानो 'प्राण' है ॥३॥

जिस प्रकार यज्ञ में एक-दूसरे के पीछे आहुति पर 'आहुति' पड़ती है, इसी प्रकार शरीर में 'समान' का काम उच्छ्वास तथा निःश्वास-रूपी आहुतियों को डालकर शरीर में समता रखना है। जिस प्रकार

नहीं (कुछ) ग्रहण करता (पकड़ता); **न आनन्दयते**—नहीं आनन्द लेता, **न विसृजते**—नहीं मलों को बाहर फेंकता है; **न इयायते**—नहीं चलता-फिरता है; (तब ही) **स्वपिति**—(यह जीवात्मा) सोता है; **इति**—यह (बात); **आचक्षते**—(लोग) कहते हैं ॥२॥

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद् गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥३॥

प्राण+अग्नयः—पाँच प्राण रूप अग्नियाँ; **एतस्मिन्**—इस; **पुरे**—(पुरुष जीवात्मा के) नगर में; **जाग्रति**—जागते हैं; **गार्हपत्यः**—गार्हपत्य अग्नि; **ह वै**—ही; **एषः अपानः**—यह अपान (प्राण-भेद) है; **व्यानः**—व्यान (प्राण-भेद); **अन्वाहार्यपचनः**—अन्वाहार्यपचन-नामक अग्नि (है); **यत्**—जो, क्योंकि; **गार्हपत्यात्**—गार्हपत्य अग्नि से; **प्रणीयते**—ले जाई जाती है, प्रदीप्त की जाती है; **प्रणयनात्**—(इस) प्रणयन (ले जाना रूप क्रिया) के कारण ही; **आहवनीयः**—आहवनीय अग्नि; **प्राणः**—स्वयं (प्राण) है ॥३॥

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः।
मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः
स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥४॥

यद्—जो, यतः; **उच्छ्वास-निःश्वासौ**—साँस का अन्दर आना व बाहर जाना; **एतौ**—इन दोनों; **आहुती**—आहुतियों को; **समम्**—समभाव से, लगा-

यज्ञ में 'यजमान' यज्ञ करता है, इसी प्रकार शरीर में 'मन' यजमान है। जिस प्रकार यज्ञ का 'इष्ट-फल' होता है, यह इष्ट-फल ही शरीर में मानो 'उदान' है। उदान ही तो आत्मा को पुण्य-लोक, पाप-लोक या मनुष्य-लोक में ले जाता है (प्रश्न ३-७)। ये ही इष्ट है। यह उदान मन-रूपी यजमान को दिन-दिन ब्रह्म की तरफ ले जाता है ॥४॥

(पाचों अग्नियों तथा पाच प्राणों की समता दिखाते-दिखाते ऋषि ने तीन अग्नियों तथा तीन प्राणों की—गार्हपत्य, अन्वाहार्यपचन, आहवनीय की अपान, व्यान तथा प्राण के साथ समता दिखाई, परन्तु यह दिखाते-दिखाते उनका ध्यान शरीर तथा यज्ञ की समता की तरफ चला गया। इसलिए 'समान' तथा 'उदान' की समता उन्होंने अग्नियों मे करने के स्थान मे यज्ञ से कर दी। शरीर मानो एक यज्ञ हो रहा है, निरन्तर यज्ञ-जिसमे यजमान, आहुति, इष्ट-फल सभी हैं। बाहर के यज्ञ की अपेक्षा अन्दर का यज्ञ महान् है।)

कौन स्वप्न देखता है? स्वप्न में यह विभु-गुणवाला मन ही महिमा का अनुभव करता है, यह मन ही स्वप्न देखता है। जो जागते समय देखा है उसे सोते समय भी ऐसे देखता है जैसे प्रत्यक्ष देख रहा हो, जो जागते समय सुना है उसे सोते समय भी ऐसे सुनता है जैसे

तार, नयति—ले जाता है (करता है), इति—इस कारण से, समान—'समान' नामक प्राण-भेद कहलाता है, मनः—मन, वाव—ही, यजमान—यज्ञ का अनुष्ठाता (है), इष्टफलम्—अभीष्ट फल-प्राप्ति, एव—ही, उदानः—उदान है, सः—वह उदान, एनम्—इस, यजमानम्—यज्ञकर्ता (मन) को, अहरहः—प्रतिदिन, ब्रह्म—ब्रह्म को, गमयति—प्राप्त कराता है, (ब्रह्म गमयति—ब्रह्म की ओर ले जाता है) ॥४॥

> अत्रैष देव स्वप्ने महिमानमनुभवति, यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति,
> श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति, देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः
> पुनः प्रत्यनुभवति, दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं
> चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥५॥

अत्र—यहां ही, इसमे ही, एषः—यह; देवः—दिव्यगुण युक्त मन, स्वप्ने—स्वप्न मे, महिमानम्—बड़प्पन का, अनुभवति—अनुभव करता है; यत्—जो, दृष्टम्—देखा है; दृष्टम्—(उस) देखे पदार्थ को; अनुपश्यति—

जागते हुए ही सुन रहा हो, देश-देशान्तर में जो अनुभव किया है, उसे बार-बार स्वप्न में अनुभव करता है। जो देखा है, जो नहीं भी देखा, जो सुना है, जो नहीं भी सुना, जो अनुभव किया है, जो नहीं भी अनुभव किया---सत्-असत्---वह मन सब देखता है, और मनुष्य ही नहीं सभी प्राणी देखते हैं ॥५॥

किसे सुख होता है ? निद्रा की दशा में जीवात्मा सत्त्व, रज, तम---इन तीनों में से किसी एक से अभिभूत हो सकता है, कोई एक अवस्था प्रबल हो सकती है। जब निद्रा की अवस्था में सत्त्वगुण प्रधान होता है तब जीवात्मा तेज से अभिभूत होता है। उस समय वह स्वप्न नहीं देखता। उस समय इस शरीर में ही उसे सुख हो रहा होता है। तभी तो सात्त्विक-निद्रा के पीछे मनुष्य तरोताजा हो जाता है, वह

स्वप्न में तदनुरूप देखता है; **श्रुतम्**---(जो) सुना है; **श्रुतम्**---(उस) सुने; **एव**---ही; **अर्थम्**---बात को, चीज़ को; **अनुशृणोति**---स्वप्न में तदनुरूप सुनता है; **देश-दिगन्तरैः**---भिन्न-भिन्न देश और दिशाओं से; **च**---और; **प्रत्यनुभूतम्**---अनुभव में आये (अर्थों) को; **पुनः पुनः**---बार-बार; **प्रत्यनुभवति**---स्वप्न में तदनुरूप अनुभव करता है; **दृष्टम्**---देखे हुए को; **च**---और; **अदृष्टम्**---(कई बार) पहले न देखे हुए को; **च**---और, भी; **श्रुतम् च अश्रुतम् च**---सुने हुए और (कभी-कभी) पहले न सुने हुए को भी; **अनुभूतम् च अननुभूतम् च**; और पहले अनुभव किये पदार्थ को और (कभी-कभी) पहले न अनुभव में आये पदार्थ को भी; **सत् च असत् च**---सच्ची और झूठी, विद्यमान और अविद्यमान, होने वाली और न होने वाली, संभव और असम्भव दोनों को; **सर्वम्**---सब को ही; **पश्यति**---(स्वप्न में) देखता है; **सर्वः**---सब मन आदि इन्द्रियों का अधिष्ठाता आत्मा या मन ही; **पश्यति**---देखता है ॥५॥

स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वप्नान्न
पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्छरीर एतत्सुखं भवति ॥६॥

सः---वह (मन-देव); **यदा**---जब; **तेजसा**---प्रकाश से, सत्त्व गुण से; **अभिभूतः**---व्याप्त, अधिकृत; **भवति**---होता है; (तो) **अत्र**---इस अवस्था में, सुषुप्ति में; **एषः देवः**---यह देव मन; **स्वप्नान्**---स्वप्नों को; **न पश्यति**---नहीं देखता; **अथ**---और; **तदा**---तब; **एतस्मिन् शरीरे**---इस शरीर में; **एतत्**---यह (मन); **सुखम्**---सुख वाला या 'सु'=अच्छी+'ख'=इन्द्रियों वाला---स्वस्थ; **भवति**---होता है ॥६॥

कहता है, बड़े सुख से सोया। अगर निद्रा में रजोगुण प्रधान हो जाय, तो वह सोकर उठने पर अपने को दुःखी अनुभव करता है, हृदय धड़कता है, बेचैनी होती है। अगर निद्रा में तमोगुण प्रधान हो, तो उठने पर शरीर हल्का होने के बजाय भारी हो जाता है, चित्त में ग्लानि होती है, सोने पर भी ऐसा लगता है मानो एक क्षण को नहीं सोया। ये सब अवस्थाएं आत्मा की नहीं, शरीर की ही होती हैं ॥६॥

('सुषुप्ति' तथा 'समाधि' दोनों अवस्थाओं में जीव तथा ब्रह्म एक-दूसरे के सम्पर्क में आ जाते हैं। 'सुषुप्ति' दशा इस प्रकार की है जैसे कोई राजा के पास बैठा हो परन्तु सो रहा हो, उसे राजा के पास बैठे होने का कोई ज्ञान न हो। 'समाधि' दशा ऐसी है जैसे कोई राजा के पास बैठा जाग रहा हो, उसे यह अनुभव हो कि वह राजा के पास बैठा है। कितना भेद है इन दोनों अवस्थाओं में, परन्तु यह भेद मानसिक-अनुभूति का है, बाह्य-दृष्टि से तो दोनों दशाएं एक-सी हैं।)

यह सब किस में प्रतिष्ठित है? हे सोम्य! जैसे पक्षी वृक्ष में वास बना लेते हैं, उसमें प्रतिष्ठित रहते हैं, इसी प्रकार इन्द्रियां, मन, प्राण आदि सब आत्मा में प्रतिष्ठित हैं ॥७॥

स्थूल-पृथिवी, सूक्ष्म-पृथिवी, स्थूल-जल, सूक्ष्म-जल, स्थूल-तेज, सूक्ष्म-तेज, स्थूल-वायु, सूक्ष्म-वायु, स्थूल-आकाश, सूक्ष्म-आकाश—अर्थात् सम्पूर्ण 'भौतिक-जगत'—या 'ब्रह्मांड'; आंख, आंख के विषय, श्रोत्र, श्रोत्र के विषय, घ्राण, घ्राण के विषय, रस, रस के विषय, त्वचा,

---

स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते
एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥७॥

सः—वह, यथा—जैसे, सोम्य—हे वत्स! प्रिय गार्ग्य!; वयांसि—पक्षी (सायंकाल में); वासोवृक्षम्—घोंसले के वृक्ष को, संप्रतिष्ठन्ते—प्रस्थान करते हैं, उसमें जा बैठते हैं; एवम् ह वै—इस ही प्रकार से; तत् सर्वम्—वह (विस्तृत) सब कुछ; परे आत्मनि—परमात्मा में; संप्रतिष्ठते—स्थिति-लाभ करता है, लीन हो जाता है ॥७॥

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च
वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं

त्वचा के विषय, वाणी, वाणी के विषय, हाथ, हाथ के विषय, उपस्थ, उपस्थ के विषय, पायु, पायु के विषय, पांव, पाँव के विषय, मन, मन के विषय, बुद्धि, बुद्धि के विषय, अहंकार, अहंकार के विषय, चित्त, चित्त के विषय, शरीर का तेज और जो-कुछ चमकता है, प्राण और प्राण द्वारा जो-कुछ धारण होता है—अर्थात् सम्पूर्ण 'आध्यत्मिक जगत्'—या 'पिंड' ॥८॥

च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्द-यितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहंकारश्चाहंकर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥८॥

पृथिवी—स्थूल भूत कार्य पृथिवी; **च**—और; **पृथिवीमात्रा**—सूक्ष्म कारण पृथिवी; **च**—और; **आपः च अपोमात्रा च**—जल और जलमात्रा; **तेजः च तेजोमात्रा च**—स्थूल तेज और कारण सूक्ष्म तेज; **वायुः च वायुमात्रा च**—स्थूल वायु और सूक्ष्म वायु; **आकाशः च आकाशमात्रा च**—स्थूल कार्य आकाश और सूक्ष्म कारण आकाश; **चक्षुः च**—और आँख; **द्रष्टव्यम् च**—आँख का विषय रूप; **श्रोत्रम् च श्रोतव्यम् च**—कान और कान का विषय शब्द; **घ्राणम् च घ्रातव्यम् च**—नासिका और नासिका का विषय गन्ध; **रसः च रसयितव्यम् च**—जिह्वा और जिह्वा का विषय रस; **त्वक् च स्पर्शयितव्यम् च**—त्वचा और त्वचा का विषय (ज्ञेय) स्पर्श; **वाक् च वक्तव्यम् च**—(कर्मेन्द्रिय) वाणी और उसका कर्म जो-कुछ बोलना, **हस्तौ च आदातव्यम् च**—कर्मेन्द्रिय हाथ और उनका कर्म ग्रहण करना (ग्राह्य पदार्थ); **उपस्थः च आनन्दयितव्यम् च**—उपस्थ कर्म-इन्द्रिय और उसका कम आनन्द-भोग; **पायुः च विसर्जयितव्यम् च**—पायु (गुदा) कर्मेन्द्रिय और उसका कर्म मल-विसर्ग; **पादौ च गन्तव्यम् च**—दोनों पाँव कर्मेन्द्रिय और उनका कर्म जाना; **मनः च मन्तव्यम् च**—ज्ञान-कर्म-इन्द्रियों का अधिष्ठाता मन और उसका विषय मनन; **बुद्धिः च बोद्धव्यम् च**—अन्तःकरण बुद्धि और उसका विषय ज्ञेय (जानने योग्य); **अहंकारः च अहंकर्तव्यम् च**—अन्तः करण अहंकार और अहंकार करने योग्य विषय (वस्तु); **चित्तम् च चेतयितव्यम् च**—अन्तःकरण चित्त और उसका विषय चेतना; **तेजः च विद्योतयितव्यम् च**—प्रकाशक और उसका क्षेत्र प्रकाश्य; **प्राणः च विधारयितव्यम् च**—प्राण-शक्ति, जीवन-शक्ति—आधार और आधेय; (यह सब ही कार्य-कारण रूप जगत् उस परमात्मा में ही स्थित है, स्थिति पाता है) ॥८॥

इन सबका वही पुरुष, विज्ञानमय (Super-Consciousness) आत्मा द्रष्टा है, श्रोता है, स्प्रष्टा है, घ्राता है, रसयिता है, मन्ता है, बोद्धा है, कर्ता है। वह विज्ञानात्मा (Super-Consciousness) परम अक्षर आत्मा (Eternal Principle) में प्रतिष्ठित होता है ॥९॥

हे सोम्य ! जो छाया-रहित, शरीर-रहित, रुधिर-रहित, शुभ्र, अक्षर को जान लेता है वह उस परम, अक्षर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। वह पूर्ण हो जाता है, सर्वज्ञ हो जाता है। कहा भी है—॥१०॥

हे सोम्य ! जो विज्ञानमय आत्मा उस अक्षर ब्रह्म (Super-Conscious Eternal Principle) को जान लेता है जिसमें सब

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा
कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ॥९॥

एष—यह, हि—ही, द्रष्टा—देखनेवाला, स्प्रष्टा—स्पर्श का अनुभव करने वाला, श्रोता—श्रवण करने वाला, घ्राता—गन्ध का भोक्ता; रसयिता—रस (स्वाद) का ज्ञाता, मन्ता—मनन करने वाला, बोद्धा—ज्ञाता, बुद्धि से काम लेने वाला, कर्ता—क्रिया का सचालक, विज्ञानात्मा—सत्-चित्स्वरूप, पुरुषः—शरीर रूपी नगरी का अधिष्ठाता (जीवात्मा) ही है। सः—वह भी, परे—परम, अक्षरे—अविनाशी, आत्मनि—आत्मा में, (परे आत्मनि—परमात्मा में); संप्रतिष्ठते—स्थित एव स्थिर होता है ॥९॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं
वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वो भवति। तदेष श्लोकः ॥१०॥

परम्—परम, एव—ही, अक्षरम्—अविनाशी (ब्रह्म) को, प्रतिपद्यते—प्राप्त कर लेता है, सः य ह वै—सो जो ही, तद्—उस, अच्छायम्—छाया (सूक्ष्म कारण-शरीर) से रहित, अशरीरम्—अकाय, शरीर-रहित, अलोहितम्—रुधिर-शून्य या रजोगुण-रहित—निर्मल, शुभ्रम्—शुद्ध, अक्षरम्—अविनाशी, वेदयते—जानता है, यः तु—जो तो, सोम्य—हे प्रिय वत्स !, सः—वह, सर्वज्ञः—(उस ब्रह्म के जान लेने पर) सब कुछ का जानने वाला, सर्वः—पूर्ण, कामना-शून्य; भवति—हो जाता है, तद् एषः श्लोकः—(इसकी पुष्टि में ही) यह प्रसिद्ध सूक्ति है ॥१०॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥११॥

विज्ञानात्मा—(जब) जीवात्मा; सह—साथ; देवैः—देवगण, सूक्ष्म-स्थूलभूतों के; च—और; सर्वैः—सारे; प्राणाः—प्राण व इन्द्रियाँ; भूतानि—

इन्द्रियां, सब प्राण और सब महाभूत प्रतिष्ठित हैं, ठहरे हुए हैं, वह सर्वज्ञ हो जाता है, और पूर्ण ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है ।।११।।

('रयि' तथा 'प्राण' से इस उपनिषद् को प्रारम्भ किया । 'रयि' की अपेक्षा 'प्राण' के महत्त्व को बतलाया । अब इस प्रश्न में प्राण की अपेक्षा भी 'मन', आत्मा' तथा 'ब्रह्म' के महत्त्व को दिखा दिया ।)

पंचम प्रश्न

ओंकार की उपासना का महत्त्व

कौन सोता है, कौन जागता है, कौन स्वप्न देखता है, किसे सुख होता है, यह सब-कुछ किसमें प्रतिष्ठित है—ये सब पूछने के बाद शिबि का पुत्र सत्यकाम पूछने लगा—"हे भगवन् ! जो व्यक्ति जीवन-भर ओंकार का ध्यान करे वह ऐसे ध्यान से किस लोक को जीत लेता है ?" ।।१।।

प्राणिमात्र; **सम्प्रतिष्ठन्ति**—स्थिति पाते हैं, स्थिर होते हैं; **यत्र**—जिसमें; **तद् अक्षरम्**—उस अविनाशी को; **वेदयते**—जान लेता है; **यः तु**—जो तो; **सोम्य**—हे प्रिय वत्स ! ; **सः**—वह; **सर्वज्ञः**—सब कुछ का जानने वाला; **सर्वम् एव**—सर्वमय पूर्ण ब्रह्म को; **आविवेश**—प्रवेश करता है, प्राप्त कर लेता है; **इति**—यह (श्लोक है) ।।११।।

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ । स यो ह वैतद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ।।१।।

अथ ह—इसके बाद; **एनम्**—इस पिप्पलाद ऋषि से; **शैब्यः**—शिबि के पुत्र; **सत्यकामः**—सत्यकाम ने; **पप्रच्छ**—पूछा; **सः**—वह; **यः**—जो; **ह वा**—निश्चय से; **एतद्**—इस; **भगवन्**—हे आदरणीय ऋषे ! ; **मनुष्येषु**—मनुष्यों में; **प्रायणान्तम्**—मृत्यु प्राप्त होने तक, जीवन भर; **ओंकारम्**—(ईश्वर के वाचक) 'ओम्' पद का; **अभिध्यायीत**—ध्यान करे, जप करे; **कतमम्**—कौन-से; **वा व**—ही; **सः**—वह; **तेन**—उस (ध्यान-जप) से; **लोकम्**—लोक को, स्थिति को, योनि को; **जयति**—जीतता है, अधिकारी होता है; **इति**—यह (प्रश्न किया) ।।१।।

पिप्पलाद ऋषि ने उत्तर दिया--हे सत्यकाम ! ब्रह्म के दो रूप हैं--एक 'पर-ब्रह्म' दूसरा 'अपर-ब्रह्म' ! योगी लोग जो इस संसार के विषयों से परे हैं, उस--पर--की उपासना करते हैं, वे 'पर-ब्रह्म' के उपासक हैं; संसारी लोग संसार के विषयों के भीतर--अपर--की उपासना करते हैं, सांसारिक सुखों की इच्छा से पूजा-पाठ, यज्ञ-याग आदि करते हैं, वे 'अपर-ब्रह्म' के उपासक हैं। 'पर-ब्रह्म' तथा 'अपर-ब्रह्म' दोनों का समन्वय 'ओंकार' में हो जाता है--ओंकार की उपासना ही 'पर' तथा 'अपर' ब्रह्म की उपासना है। विद्वान् पुरुष 'ओंकार' को ही साधन बनाकर 'पर' या 'अपर' दोनों में से ब्रह्म के किसी एक रूप को प्राप्त कर लेता है। ॥२॥

('पर-ब्रह्म' की उपासना उपनिषदों का ज्ञान-काण्ड है, 'अपर-ब्रह्म' की उपासना ब्राह्मण ग्रंथों का कर्म-काण्ड है।)

अगर भक्त-पुरुष 'ओंकार' की एक मात्रा का भी ध्यान करे, अर्थात् ओंकार में थोड़ा-सा भी चित्त लगाये, तो वह उतने से ही सचेत हो जाता है, उसका आत्मा जाग उठता है, और वह संसार में बड़ी ही जल्दी जगत् की सुख-सामग्री का सम्पादन कर लेता है।

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च
ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥२॥

तस्मै--उस (सत्यकाम) को; सः ह--उस (ऋषि) ने, उवाच--कहा, उत्तर दिया, एतत् वै--यह ही, सत्यकाम--हे सत्यकाम!, परम्--परम, ध्यानगम्य, योग-साधना से ज्ञेय, च--और, अपरम्--अपर, सृष्टि रचयिता के रूप में साधारण जनों से अनुमेय, सृष्टि-रचना में जिसकी सत्ता जानी जाय, च--और; ब्रह्म--ब्रह्म है, यद्--जो, ओंकारः--ओम्पदवाच्य है, तस्माद्--उस कारण से, विद्वान्--ज्ञानी; एतेन एव--इस ही, आयतनेन--सहारे से, प्रयत्न से, एकतरम्--किसी एक (पर ब्रह्म या अपर ब्रह्म) को; अनु एति--अनुगमन करता है, ध्यान के बाद प्राप्त कर लेता है ॥२॥

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव
जगत्यामभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र
तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति ॥३॥

सः--वह, यदि--अगर, एकमात्रम्--एक मात्रा वाले (ओंकार) का, एक मात्रा भर, तिहाई, थोड़ा, कुछ-कुछ, अभिध्यायीत--ध्यान-जप करे;

ओंकार की एक मात्रा का ध्यान ऋग्वेद का ज्ञान है। एक मात्रा का ज्ञान, अर्थात् ऋक्-ज्ञान उसे 'मनुष्य-लोक' में ले जाता है जहां वह 'तप', 'ब्रह्मचर्य' और 'श्रद्धा' से युक्त होकर परमात्मा की महिमा का अनुभव करता है ॥३॥

(संसार में उन्नति करने के लिए, मनुष्य-लोक में संसार का सुख लेने के लिए भी ओंकार का थोड़ा-बहुत ध्यान, जिसे ऋषि अपने ढंग से एक मात्रा का ध्यान कहते हैं, आवश्यक है। साथ ही 'तप' शारीरिक-साधना—'ब्रह्मचर्य'—मानसिक-साधना—'श्रद्धा'—आत्मिक-साधना—ये तीनों भी आवश्यक हैं।)

अगर भक्त-पुरुष 'ओंकार' की दो मात्राओं का ध्यान करता है, अर्थात् ओंकार में और अधिक चित्त लगाता है, वह उससे मानसिक-जगत् की सम्पूर्ण सुख-शांति का सम्पादन कर लेता है। पार्थिव-जगत् के सुख-भोग मिलने पर भी मानसिक-शांति नहीं मिलती, धनी भी दुःखी तथा अशांत हो सकता है। सुख तथा शांति के लिये, मन के राज्य का सम्पादन करने के लिये 'द्विमात्र' ओंकार की 'साधना' करनी चाहिये। द्वि-मात्र का ध्यान मानो ऋक् के साथ यजुर्वेद का भी ध्यान है। इस प्रकार जो ध्यान करता है वह अन्तरिक्ष में—'सोम-लोक' में—जा पहुंचता है। वह सोम-लोक की विभूति का अनुभव करके फिर यहां लौट आता है ॥४॥

सः—वह; **तेन**—उस (एक मात्रा वाले ओम् के जप) से; **एव**—ही; **संवेदितः**—ज्ञानी हुआ, प्राप्त-ज्ञान; **तूर्णम्**—शीघ्र; **एव**—ही; **जगत्याम्**—जंगमशील सृष्टि में; **अभिसंपद्यते**—(संपन्न)हो जाता है; **तम्**—उस (ज्ञानी) को; **ऋचः**—ऋग्वेद (ज्ञान); **मनुष्यलोकम्**—मनुष्य-लोक (पृथिवी) को; **उपनयन्ते**—पहुँचा देती हैं, प्राप्त कराती हैं; **सः**—वह (ज्ञानी); **तत्र**—वहां, उस (मनुष्य-जन्म) में; **तपसा**—(शरीर-साधनामय) तप से; **ब्रह्मचर्येण**—ब्रह्मचर्य (मानसिक-साधना, इन्द्रिय-दमन) से; **श्रद्धया**—सत्य में आस्था (धारणा) से; **संपन्नः**—समृद्ध, युक्त; **महिमानम्**—महिमा को, बड़प्पन को, प्रतिष्ठा को; **अनुभवति**—अनुभव करता है ॥३॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥४॥

अथ—और; **यदि**—अगर; **द्विमात्रेण**—दो मात्राओं से; दो हिस्से भर,

('सोम-लोक' मानसिक-शान्ति का लोक है। कहीं दूर नहीं, यहीं, इसी भूमि पर, इसी शरीर में। जब-जब हमें मानसिक-शान्ति प्राप्त होती है, हममें सौम्यता आती है, तब-तब हम सोम-लोक में जा पहुंचते हैं, और उसमें निकलते ही इस लोक में आ पहुंचते हैं। इस अवस्था को पाने के लिए द्वि-मात्र ओंकार का ध्यान करना चाहिये। एक-मात्र का अर्थ है—कुछ-कुछ, द्वि-मात्र का अर्थ है—बहुत-कुछ।)

और, जो भक्त-पुरुष त्रिमात्र 'ओंकार', अर्थात् कुछ-कुछ नहीं, बहुत-कुछ भी नहीं, परन्तु ब्रह्म-ही-ब्रह्म की उपासना करता है, जो ओंकार की तीनों मात्राओं से, तीनों अक्षरों से, अ उ म् से परम-पुरुष का, ब्रह्म का ध्यान करता है, उसीमें चित्त रखता है, अन्य सब जगह से अपने को हटा लेता है, उसमें तेज उत्पन्न हो जाता है, वह सूर्य

बहुत कुछ, मनसि—मन में, मनन में, सम्पद्यते—युक्त होता है, तत्पर होता है, सः—वह, अन्तरिक्षम्—अन्तरिक्ष लोक को यजुर्भिः—यजुर्वेद से (यौत कर्मों से), उन्नीयते—उपर ले जाया जाता है उन्नति को पाता है सः—वह, सोम-लोकम्—चन्द्र-लोक, सौम्यता (मानसिक शान्ति की अवस्था) की स्थिति को, सः—वह, सोमलोके—चन्द्र-लोक में, विभूतिम्—ऐश्वर्य को, योग-साधना से प्राप्त सिद्धियों को, अनुभूय—अनुभव कर, भोग कर पुनः—फिर, आवर्तते—लौट आता है (उस स्थिति से च्युत हो कर पूर्व स्थिति मनुष्य-लोक को या जन्म-मरण चक्र को फिर प्राप्त हो जाता है) ॥४॥

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीव-घनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥५॥

यः पुनः—जो फिर, एतम्—इस (ब्रह्म) का,, त्रिमात्रेण—तीन मात्रा वाले, सम्पूर्ण, ओम् इति—'ओम्', एतेन—इस (पूर्ण), एव—ही, अक्षरेण—पद से, परम् पुरुषम्—परम पुरुष, परमात्मा का, अभिध्यायीत—ध्यान करे, सः—वह, तेजसि—तेजोमय, सूर्ये—सूर्य (आदित्य) लोक में, सम्पन्नः—युक्त, प्राप्त होता है, यथा—जैसे, पादोदरः—सर्प, त्वचा—केंचुली से, विनिर्मुच्यते—अनायास और पूर्णतया मुक्त हो जाता है, एवम्—इस प्रकार, ह वै—ही, सः—वह (आदित्य लोक में वर्तमान), पाप्मना—पाप से, मल से, विनिर्मुक्तः

के समान तेज का सम्पादन कर लेता है। जैसे सांप केंचली को छोड़ देता है वैसे वह पाप को छोड़ देता है। त्रिमात्र का ध्यान मानो ऋक्, यजु के साथ साम का ध्यान है। वह सामवेद से 'ब्रह्म-लोक' में जा पहुंचता है। वह जीव के इसी शरीर से परे-से-परे संसार की महान् पुरी में शयन कर रहे पुरुष को, पर-ब्रह्म को देख लेता है। किसी ने ये दो श्लोक कहे हैं ॥५॥

(ओंकार की एक-मात्रा के ध्यान से यह पार्थिव-जगत्, अर्थात् 'पृथिवी-लोक' तथा इसके भोग-ऐश्वर्य, द्वि-मात्रा के ध्यान से सोम-लोक, अर्थात् 'चन्द्र-लोक' तथा उसकी सौम्यता, त्रि-मात्रा के ध्यान से 'सूर्य-लोक' तथा उसका तेज इसी मनुष्य-शरीर में प्राप्त हो जाते हैं। पृथिवी का ऐश्वर्य, चन्द्र की सौम्यता, सूर्य का तेज ओंकार के ध्यान से, ऋक्, यजु, साम से प्राप्त होते हैं—यह इस सबका आशय है।)

ओंकार की तीन मात्राएं हैं, तीन हिस्से हैं। तुम उसका कितना ध्यान करते हो ? थोड़ा-बहुत करते हो, तब तो वह एक मात्रा का ध्यान है ! बहुत-कुछ करते हो, तब वह द्वि-मात्रा का ध्यान है ! उसी के ध्यान में रहते हो, तब त्रि-मात्रा का ध्यान है ! इन मात्राओं का ध्यान, 'मृत्युमान्' है। जिस मात्रा में, अर्थात् जिस अंश तक उसका ध्यान होता है उसी मात्रा में, उसी अंश तक, संसार ध्यानी

मुक्त; **सः**—वह; **सामभिः**—सामवेद (उपासना) से; **उन्नीयते**—ऊपर ले जाया जाता है; **ब्रह्मलोकम्**—ब्रह्मलोक को; **सः**—वह; **एतस्मात्**—इस; **जीवघनात्**—(शरीरधारी) जीव के शरीर से; **परात् परम्**—श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ (सर्वश्रेष्ठ), परम; **पुरिशयम्**—कारण-कार्य रूप प्रकृतिरूपी नगरी में सोने वाले (सर्वत्र व्यापक); **पुरुषम्**—परमात्मा को; **ईक्षते**—देखता है, जान लेता है, दर्शन करता है; **तत्**—तो (इस विषय में); **एतौ**—ये दो; **श्लोकौ**—श्लोक; **भवतः**—हैं ॥५॥

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥६॥

तिस्रः—तीन; **मात्राः**—'अ-उ-म्' रूप 'ओम्' की तीन मात्राएँ, अंश; **मृत्युमत्यः**—मरणधर्मा, विनाशी; **प्रयुक्ताः**—उपयोग में लाई हुई; **अन्योन्य-सक्ताः**—एक-दूसरी में गुंथी हुई, परस्पर सम्बद्ध; **अनविप्रयुक्ताः**—विशेषकर

के लिये मर जाता है। इन मात्राओ का प्रयोग ही ऐसा करना चाहिये जिससे संसार का जो रूप हमारे लिये मर जाना चाहिये वह वास्तव में मर जाय। आत्मा के एक तरफ ससार के विषय हैं, दूसरी तरफ ब्रह्म है। अभी तक हमारे लिये संसार जीवित है, ब्रह्म मृत है। ओकार की मात्रा का ध्यान ससार को हमारे लिये मृत बना देता है, ब्रह्म को जीवित बना देता है। ये मात्राएं एक-दूसरे से सटी हुई हैं। एक मात्रा के ध्यान से अगली मात्रा पर भक्त स्वयं पहुच जाता है, ये एक-दूसरे से अलग हो ही नहीं सकतीं। जो ज्ञानी अपनी बाह्य, आभ्यन्तर तथा मध्यम क्रियाओ में 'त्रिमात्र-ओंकार' का सम्यक् प्रयोग करता है वह कंपमान नही होता, अपने मार्ग से विचलित नहीं होता ॥६॥

(बाह्य-क्रियाएं शरीर की क्रियाएं हैं, आभ्यन्तर-क्रियाएं मन की क्रियाएं हैं, मध्यम क्रियाएं वे हैं जो मन तथा शरीर के बीच की हैं, कुछ मानसिक हैं, कुछ शारीरिक। क्रिया की इन तीनों अवस्थाओ मे ज्ञानी तथा ध्यानी को त्रि-मात्रा की ही उपासना में रहना चाहिए।)

ऋक् से 'पृथिवी' के भोग-ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं, यजु से अन्तरिक्ष के 'चन्द्र'-लोक वाले सौम्य-गुण प्राप्त होते हैं, साम से कवि लोग कहते हैं कि 'सूर्य' का तेज प्राप्त होता है। अगर कोई 'ओंकार' को साधन बनाये, तो ऋक्, यजु, साम की सहायता के बिना, 'ओंकार' की उपासना से ही ये-सब प्राप्त हो जाते हैं। 'ओंकार' की उपासना

एव ही विषय पर प्रयुक्त होनेवाली, क्रियासु—ध्यान-कर्मों के, बाह्य-आभ्यन्तर-मध्यमासु—बाह्य, आन्तर और उभयवर्ती, सम्यक्—भली प्रकार, विधिपूर्वक प्रयोग म लाने पर, न—नहीं, कम्पते—कांपता है, लक्ष्य से विचलित होता है, ज्ञ—ज्ञाता आत्मा ॥६॥

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥७॥

ऋग्भि—ऋचाओं (ज्ञान) से, एतम्—इस मनुष्य लोक को, यजुर्भि—यजुर्वेद (कर्मों) से, अन्तरिक्षम्—अन्तरिक्ष मे विद्यमान 'सोम लोक' को, सामभि—सामवेद (उपासना) से, यत्—जिस लोक को, तद्—उस (ब्रह्मलोक) को,

से उपासक उस 'शांत', 'अजर', 'अमृत', 'अभय', 'पर'-ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥७॥

षष्ठ प्रश्न

ब्रह्म की सोलह कलाएँ

ओंकार के ध्यान से 'पृथिवी', 'चन्द्र' तथा 'सूर्य'—इन तीनों लोकों को जीत सकते हैं, यह सुनने के बाद भरद्वाज के गोत्र में उत्पन्न सुकेशा पूछने लगा—"भगवन् ! एक समय हिरण्यनाभ नामक कोसलदेश के राजकुमार ने मुझ से आकर पूछा, सोलह कलाओं वाले पुरुष को जानते हो ? कुमार को मैंने कहा, मैं उसे नहीं जानता, जानता होता तो तुझे क्यों न बतला देता । जो व्यक्ति असत्य बोलता है वह समूल सूख जाता है, इसलिये मैं झूठ नहीं बोल सकता । मेरा कथन सुनकर वह राजकुमार चुपचाप रथ पर चढ़कर चल दिया । हे भगवन् ! मैं वही प्रश्न आप से पूछता हूं । वह सोलह कलाओं वाला पुरुष कहां है ?" ॥१॥

कवयः—ज्ञानी पुरुष; **वेदयन्ते**—बताते हैं, कहते हैं; **तम्**—उस (ब्रह्मलोक) को; **ओंकारेण**—'ओम्' पद के; **आयतनेन**—सहारे से, साधन से; **अन्वेति**—प्राप्त करता है; **विद्वान्**—ज्ञानी; **यत् तद्**—जो वह (ब्रह्म); **शान्तम्**—अविचल; **अजरम्**—जरा (क्षय) से रहित, अक्षर; **अमृतम्**—अमर; **अभयम्**—स्वयं भयशून्य परन्तु औरों को अभय-प्रदाता; **परम्**—परम (आत्मा) है; **च**—और; **इति**—ये (वे श्लोक हैं) ॥७॥

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ । भगवन्हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत । षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ, तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद । यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति । समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम् । स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज । तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥१॥

अथ ह—इसके बाद; **एनम्**—इस ऋषि से; **सुकेशा**—सुकेशा ने; **भारद्वाजः**—भरद्वाज-गोत्री; **पप्रच्छ**—पूछा; **भगवन्**—हे आदरणीय महर्षे ! ; **हिरण्यनाभः**—हिरण्यनाभ नामक; **कौसल्यः**—कोसल देश के; **राजपुत्रः**—राजकुमार ने; **माम् उपेत्य**—मेरे समीप आकर; **एतम् प्रश्नम्**—इस प्रश्न को; **अपृच्छत**—पूछा; **षोडशकलम्**—सोलह कला (अंग, अवयव) से युक्त; **भारद्वाज**—हे भारद्वाज ! ; **पुरुषम्**—पुरुष (जीवात्मा) को; **वेत्थ**—तू जानता है;

पिप्पलाद ऋषि ने कहा—हे सोम्य ! वह पुरुष जिसमें सोलह कलाओं का प्रादुर्भाव होता है इसी शरीर के भीतर है ॥२॥

(सोलहों कलाओं वाला भगवान् कहीं बाहर नहीं, हमारे ही अन्दर बैठा है । उपनिषद् में बार-बार इस बात को दोहराया गया है कि भगवान् का वास बाहर नहीं, अन्दर है—हमारे ही अन्दर—'अंगुष्ठमात्र पुरुषो मध्ये आत्मनि तिष्ठति' ।)

ब्रह्म कलामय है। सोलहों कला उसकी हैं। ब्रह्म की अगर पुरुष के रूप में कल्पना करें तो उस पुरुष-रूप ब्रह्म की सोलहों कलाओं से ही मनुष्य-शरीर बना है । जीवात्मा ने चिंतन किया कि किसके

तम्—उस, **अहम्**—मैंने, **कुमारम्**—राजकुमार को, **अब्रुवम्**—कहा, **न**—नहीं, **अहम्**—मैं, **इमम्**—इसको, **वेद**—जानता हूँ, **यदि**—अगर, **अहम्**—मैं, **इमम्**—इस (सोलह कला वाले पुरुष) को, **अवेदिषम्**—जानता होता, **कथम्**—तो क्यों, **ते**—तुझे **न अवक्ष्यम्**—न बताता, **इति**—यह (बात कही), **समूल**—जड़ सहित, **सर्वात्मना**, **वै**—ही, **एष**—यह, **परिशुष्यति**—सूख जाता है, नष्ट हो जाता है, **य**—जो, **अनृतम्**—असत्य वचन, **अभिवदति**—बोलता है, **तस्मात्**—उस कारण से, **न**—नहीं **अर्हामि**—मुझे उचित है, **अनृतम्**—असत्य, **वक्तुम्**—बोलना, **स**—वह राजकुमार, **तूष्णीम्**—चुपचाप, बिना कुछ कहे, **रथम् आरुह्य**—रथ पर चढ़ कर, **प्रवव्राज**—चला गया, **तम्**—उस (प्रश्न) को, **त्वा**—तुमसे, **पृच्छामि**—पूछता हूँ, **क्व**—कहाँ, किस स्थान में, **असौ**—यह (सोलह कला वाला), **पुरुष**—पुरुष (जीवात्मा रहता है), **इति**—यह (पूछा) ॥१॥

तस्मै स होवाच । इहैवान्तःशरीरे सोम्य स
पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति ॥२॥

तस्मै—उस सुकेशा को, **स ह**—उस ऋषि ने, **उवाच**—कहा, उत्तर दिया, **इह एव**—यहाँ ही, **अन्तःशरीरे**—शरीर के अन्दर, **सोम्य**—हे प्रियवत्स !, **स**—वह, **पुरुष**—पुरुष (है), **यस्मिन्**—जिसमें, **एता**—ये, **षोडश**—सोलह, **कला**—कलाएँ, **प्रभवन्ति**—उत्पन्न होती हैं, **इति**—यह ॥२॥

स ईक्षांचक्रे । कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो
भविष्यामि, कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥३॥

स—उस (शरीरस्थ पुरुष) ने, **ईक्षांचक्रे**—विचार किया, **कस्मिन्**—किसमें (के), **अहम्**—मैं, **उत्क्रांते**—निकल जाने पर, **उत्क्रान्त**—बहिर्गत, निकला हुआ, **भविष्यामि**—होऊंगा, **कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते**—या किसके

निकल जाने से मैं शरीर में से निकल जाऊंगा, किसके शरीर में प्रतिष्ठित होने से प्रतिष्ठित होऊंगा? पुरुष-रूप ब्रह्म की सोलहों कलाओं के निकल जाने से, जिनसे यह मनुष्य-शरीर बना है, मैं भी इस शरीर में नहीं रह सकता, यह उसे ज्ञात हुआ, इसलिये जैसे जीवात्मा इस शरीर में रहता है, वैसे ही सोलहों कलाओं वाला पुरुष—ब्रह्म—भी इसी शरीर में वास करता है ॥३॥

वे सोलह कलाएं कौन-सी हैं? पुरुष ने पहले-पहल प्राण का सर्जन किया। प्राण द्वारा श्रद्धा, पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, इन्द्रियां, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम—इन १६ कलाओं का सर्जन किया, उन सोलहों कलाओं का जिनसे 'ब्रह्मांड' तथा 'पिंड' का निर्माण होता है। (क्योंकि इन सोलहों से 'ब्रह्मांड' तथा 'पिंड' का निर्माण होता है अतः कल्पना की गई है कि मानो ये सोलहों कलाएं उसी ब्रह्म का शरीर हैं। इन कलाओं वाला वह ब्रह्म कहीं बाहर थोड़े-ही रहता है—इसी मनुष्य के देह ही में तो अपनी सोलहों कलाओं के सहित वह वास कर रहा है। फिर उसे बाहर क्यों ढूंढना?) ॥४॥

(पुरुष-रूप ब्रह्म की, जो इसी मनुष्य-शरीर में विद्यमान है, ऊपर कही गई सोलह कलाएं हैं। कला का अर्थ है—'अंश'।

(शरीर में) प्रतिष्ठित होने पर; **प्रतिष्ठास्यामि**—मैं प्रतिष्ठित रहूंगा; **इति**—यह (विचार किया) ॥३॥

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं
मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च ॥४॥

सः—उस (पुरुष) ने; **प्राणम्**—(छाया के समान रहने वाले, सहानुवर्ती) प्राण (सूक्ष्म शरीर) को; **असृजत**—रचा, प्रगट किया; **प्राणात्**—प्राण से; **श्रद्धाम्**—सत्य पर आस्था को; **खम्**—आकाश को; **वायुः**—वायु; **ज्योतिः**—तेज; **आपः**—जल; **पृथिवी**—पृथिवी (ये पाँचो स्थूल भूत—शरीर-रचना में सहायक); **इन्द्रियम्**—ज्ञान-कर्मेन्द्रियों को; **मनः**—मन (अन्तःकरण) को; **अन्नम्**—अन्न को; **अन्नाद्**—अन्न से; **वीर्यम्**—वीर्य (रेतस्) को; **तपः**—शरीर-साधना; **मन्त्राः**—मनन (मानसिक चेष्टा); **कर्म**—प्रयत्न; **लोकाः**—रूप, आकृति; **लोकेषु**—रूप में; **च**—और; **नाम**—संज्ञा; **च**—और (इन सोलह कलाओं को उत्पन्न किया) ॥४॥

ब्रह्म की अगर एक पुरुष के रूप में कल्पना करे, तो ये उसके १६ अंग है। इनका क्रमपूर्वक वर्णन नही किया गया, सोलह अशो का परिगणन-मात्र कर दिया गया है। ये हो, तो पुरुष-रूप में कल्पित ब्रह्म का शरीर बनता है, न हो, तो नही बनता। ब्रह्म भोक्ता है, इसलिये सबसे पहले तो भोक्तृ-रूप 'प्राण' को उत्पन्न किया ही, परन्तु फिर उन सबको उत्पन्न किया जिनका प्राण ने भोग करना है। यह सब उत्पत्ति 'तप' के बिना नही हो सकती क्योकि तप का अर्थ ही 'उग्र-क्रिया' है। तभी जहा-जहा सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन आया है, वहा-वहा यह भी कहा है, उसने 'तप' किया। बिना तप के कुछ नही होता। तप के साथ सृष्टि में 'श्रद्धा' भी है। श्रद्धा का अर्थ है, सत्य मे धारणा—'श्रत्' अर्थात् 'सत्य', 'धा' अर्थात् 'धारण करना'। ससार की प्रत्येक वस्तु का विकास सत्य की तरफ है। अगर कही असत्य प्रबल भी दीखता है तो सामयिक है, वह अपनी प्रतिक्रिया को उत्पन्न कर रहा होता है। इसलिये सृष्टि की आधार-भूत कला, वह कला जो ब्रह्म के शरीर का अश है, 'श्रद्धा' है। 'श्रद्धा' का अर्थ है यह विश्वास कि ससार के प्रवाह की दिशा 'सत्य' की तरफ है, असत्य की तरफ नही। 'प्राण', 'तप' और 'श्रद्धा' के बाद पच-महाभूतो की उत्पत्ति हुई। एक-एक महाभूत एक-एक 'इद्रिय' के साथ सम्बद्ध है, अतः महाभूतो की उत्पत्ति के बाद 'इन्द्रियो' की उत्पत्ति हुई। इन्द्रियो का जीवन मानसिक-दृष्टि से मन पर और शारी-रिक-दृष्टि से अन्न पर निर्भर है। अत 'मन' तथा 'अन्न' की भी उत्पत्ति हुई। अन्न का वास्तविक-तत्त्व 'वीर्य' है क्योकि अन्न का बहुत-सा हिस्सा तो मल-मूत्र बन कर फेंक ही दिया जाता है, अत अन्न से बनने वाला अन्न का मूल-तत्त्व वीर्य भी पुरुष की सोलह कलाओ में से एक है। शरीर की रचना के बाद मनुष्य शारीरिक तथा मानसिक कार्य करता है—शारीरिक-कार्य 'कर्म' है, मानसिक-कार्य 'मन्त्र' है। कर्म तथा मन्त्र के अतिरिक्त सृष्टि मे नाम-रूप (Name and form) भी है, रूप को ऋषि ने 'लोक'

शब्द से कहा है, नाम को 'नाम' शब्द से ही। इस प्रकार इन सोलह कलाओं (प्राण, तप, श्रद्धा, पंच महाभूत, इन्द्रियां, मन, अन्न, वीर्य, कर्म, मन्त्र, लोक, नाम) से ब्रह्म की पुरुष के रूप में कल्पना की गई है। यह पुरुष अन्य कहीं नहीं, इस मनुष्य-देह के भीतर ही है, इसे पाने के लिये दूर-दूर भटकने की आवश्यकता नहीं।)

जैसे ये नदियां बह रही हैं, समुद्र की तरफ़ जा रही हैं, समुद्र तक पहुंचकर अस्त हो जाती हैं, उनका नाम-रूप छिन्न-भिन्न हो जाता है, बस इतना ही कहा जाता है कि यह समुद्र है, ऐसे ही उस द्रष्टा ब्रह्म की ये सोलह कलाएं हैं, ये पुरुष-रूप ब्रह्म की तरफ़ ही जा रही हैं, उस तक पहुंचकर ये अस्त हो जाती हैं, इनका नाम-रूप छिन्न-भिन्न हो जाता है, पुरुष-मात्र रह जाता है। ये सोलह कलाएं उसी से उत्पन्न हुई हैं, परन्तु वह स्वयं कला-रहित है, अमृत है। जब ये कलाएं उसमें अस्त हो जाती हैं, तो कलाओं वाला 'सकल' (स+कल) कलाओं से रहित 'अकल' (अ+कल) हो जाता है, अमृत हो जाता है ॥५॥

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नाम-रूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति। तदेष श्लोकः ॥५॥

सः—वह (दृष्टान्त है); **यथा**—जैसे; **इमाः**—ये; **नद्यः**—नदियां; **स्यन्दमानाः**—बहती हुईं; **समुद्रायणाः**—समुद्र की ओर गतिवाली, समुद्र जिनका आधार है; **समुद्रम्**—समुद्र को; **प्राप्य**—पा कर, पहुंच कर; **अस्तम् गच्छन्ति**—छिप जाती हैं, मिट जाती हैं; **भिद्येते**—नष्ट हो जाते हैं; **तासाम्**—उनके; **नामरूपे**—नाम और रूप; **समुद्रः इति**—समुद्र ही है; **एवम्**—इस प्रकार; **प्रोच्यते**—कहा जाता है; **एवम् एव**—इस प्रकार ही; **अस्य**—इस; **परिद्रष्टुः**—साक्षी; ज्ञाता (जीवात्मा) की; **षोडश कलाः**—सोलहों कलाएँ, अवयव; **पुरुषायणाः**—पुरुष (जीवात्मा) के आधार वाली (उसके लिये ही प्रादुर्भूत); **पुरुषम्**—जीवात्मा को; **प्राप्य**—उसमें स्थिति कर; **अस्तं गच्छन्ति**—अस्त (छिप) जाती हैं, अपनी सत्ता खो देती हैं; **भिद्यते**—लुप्त हो जाते हैं; **च**—और; **आसाम्**—इन (सोलह कलाओं, अवयवों) के; **नामरूपे**—नाम और रूप (आकृति); **पुरुषः इति**—(सब को मिला कर) यह पुरुष ही है; **एवम्**—इस प्रकार; **प्रोच्यते**—कहा जाता है; **सः एषः**—वह यह पुरुष (जीवात्मा);

जैसे रथ की नाभि में अरे लगे होते हैं, ऐसे ही जिस ब्रह्म में कलाएं प्रतिष्ठित हैं, उस जानने योग्य पुरुष का ज्ञान प्राप्त करो, तभी तुम्हें मृत्यु किसी प्रकार की व्यथा नहीं देगी ॥६॥

पिप्पलाद ऋषि उन छहों जिज्ञासुओं को सम्बोधित करके कहने लगे—"मैं उस 'पर-ब्रह्म' के विषय में इतना ही जानता हूं। इससे परे वह है भी नहीं" ॥७॥

वे जिज्ञासु ऋषि की स्तुति करने लगे और कहने लगे कि आप हमारे पिता हैं, आप ही हमें अविद्या-रूपी नदी के परले किनारे लगाने वाले हैं। आप परम ऋषि हैं, आपको बार-बार नमस्कार हो, बार-बार नमस्कार हो ॥८॥

अकल:—(वस्तुत प्राण आदि सोलह) कलाओं से विहीन, **अमृतः**—अमर; **भवति**—है, **तद्**—तो (इसकी पुष्टि में), **एषः श्लोकः**—यह श्लोक (सूक्ति) भी है ॥५॥

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥६॥

अराः इव—अरों की तरह, **रथनाभौ**—रथ के पहिये की नाभि में, **कलाः**—(प्राण आदि सोलह) कलाएं, **यस्मिन्**—जिसमें, **प्रतिष्ठिताः**—स्थित हैं, **तम्**—उस, **वेद्यम्**—जानने योग्य, ज्ञेय, **पुरुषम्**—जीवात्मा को, **वेद**—जानो, पहिचानो, **यथा**—जैसे, मत, **मा**—मत, **वः**—तुम को, **मृत्युः**—मौत, **परिव्यथाः**—पीडित करे, सतावे, **इति**—यह (वह श्लोक है) ॥६॥

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति ॥७॥

तान् ह—उन (छहों शिष्यों) को; **उवाच**—(ऋषि पिप्पलाद ने) कहा; **एतावद्**—इतना; **एव**—ही, **अहम्**—मैं; **एतत्**—इस, **परम्**—परम (सर्व-श्रेष्ठ, सर्वोत्कृष्ट), **ब्रह्म**—ब्रह्म को, **वेद**—जानता हूँ, **न**—नहीं, **अतः**—इस ब्रह्म से, **परम्**—श्रेष्ठ, **अस्ति**—है, या **न अतः परम् अस्ति**—इससे आगे कुछ वक्तव्य नहीं है, **इति**—यह ॥७॥

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं
पारं तारयसीति। नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥८॥

ते—उन शिष्यों ने, **तम्**—उस गुरु (को); **अर्चयन्तः**—पूजा-अर्चना करते हुए (कहा कि); **त्वम् हि नः पिता**—गुरुदेव! तुम ही हमारे पिता हो; **यः**—जो आप; **अस्माकम्**—हम को, **अविद्यायाः**—अविद्या के, अविद्या-जन्य भवसागर के; **परम् पारम्**—परले पार, **तारयसि**—तारते हो, पार करते हो; **इति**—यह (वचन कहा); **नमः परमऋषिभ्य**—परम तत्त्वज्ञानी ऋषियों को हमारा प्रणाम है; **नमः परमऋषिभ्यः**—तत्त्वज्ञान-प्रदाता ऋषियों को हमारा नमस्कार है ॥८॥

मुण्डकोपनिषद्

(ब्रह्म-विद्या का उपदेश)

प्रथम-मुण्डक—(प्रथम-खण्ड)

अपरा-विद्या अर्थात् भौतिक-विज्ञान तथा परा-विद्या अर्थात् अध्यात्म-विज्ञान

ब्रह्मा देवताओं में सबसे पहले कभी हुआ था, विश्व के (सामाजिक संगठन को) करने वाला, देवताओं के द्वारा ही संसार के (सामाजिक संगठन की) रक्षा करने वाला। उसने सब विद्याओं की आधार 'ब्रह्म-विद्या' का अपने ज्येष्ठ पुत्र 'अथर्वा' को उपदेश दिया ॥१॥

ब्रह्मा ने जिस 'ब्रह्म-विद्या' का अथर्वा को उपदेश दिया, अथर्वा ने प्राचीन-काल में उसका अंगिर्-नामक ऋषि को उपदेश दिया। अंगिर् ने उसका भरद्वाज-गोत्री सत्यवाह को उपदेश दिया। पिछला अगले को जो उपदेश देता गया उसी उपदेश को भारद्वाज ने अंगिरा को दिया ॥२॥

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥

ओम्—ग्रन्थारम्भ में ओम्पदवाच्य ब्रह्म का स्मरण कर आरम्भ करते हैं। **ब्रह्मा**—ब्रह्मानामी (आदि पुरुष); **देवानाम्**—देवताओं में; **प्रथमः**—सब से पहले, मुख्य, प्रसिद्ध; **सम्बभूव**—हुआ था; **विश्वस्य**—जगत् का; **कर्ता**—रच-यिता; **भुवनस्य**—लोकों का; **गोप्ता**—रक्षक; **सः**—उस (ब्रह्मा) ने; **ब्रह्म-विद्याम्**—ब्रह्म-विषयक ज्ञान को या वेद-विद्या को; **सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्**—सब विद्याओं की आधार (जिसमें अन्य सब विद्याएँ भी विद्यमान हैं); **अथर्वाय**—अथर्व नामी; **ज्येष्ठपुत्राय**—(अपने) बड़े पुत्र को; **प्राह**—उपदेश दिया ॥१॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचांगिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥२॥

अथर्वणे—अथर्वा को; **याम्**—जिस; **प्रवदेत**—उपदेश दिया; **ब्रह्मा**—ब्रह्मा ने; **अथर्वा**—अथर्वा ने; **ताम्**—उस वेद विद्या को; **पुरा**—अब से बहुत पहले; **उवाच**—उपदेश दिया; **अंगिरे**—अंगिर् नामक को; **ब्रह्मविद्याम्**—

कालान्तर में शौनक नाम का एक जिज्ञासु हुआ। उसकी बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएं थीं। वह अंगिरा के पास शिष्टाचार-पूर्वक पहुंचा और पूछने लगा, हे भगवन्! किस के जानने से यह सब-कुछ जाना जाता है ॥३॥

अंगिरा ने शौनक से कहा—ब्रह्मवित् लोग यह कहते रहे हैं कि दो विद्याओं को जानना चाहिए—'परा' तथा 'अपरा' ॥४॥

इनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष का ज्ञान 'अपरा' विद्या (Scientific Knowledge) है, जिस विद्या से उस अक्षर ब्रह्म का ज्ञान हो वह 'परा' विद्या (Spiritual Knowledge) है। ('अपरा-विद्या'—Scientific

---

ब्रह्म विद्या को, स—उस (अंगिर्) ने, भारद्वाजाय—भरद्वाजगोत्री, सत्यवाहाय—सत्यवाह को, प्राह—उपदेश दिया, भारद्वाज—भारद्वाज ने, अंगिरसे—अंगिरस को, परावराम्—परम्परा प्राप्त या परा-अपरा विषयक विद्या को ॥२॥

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥३॥

शौनक—शौनक, ह वै—ही, महाशाल—बड़ी-बड़ी इमारतों वाला, महागृहस्थ, अंगिरसम्—अंगिरा ऋषि को (के पास), विधिवत्—विधिपूर्वक, उपसन्न—उपस्थित हुआ, पप्रच्छ—पूछा, कस्मिन्—किसमें (के), नु—प्रश्नार्थ में, भगव—हे भगवन्, विज्ञाते—जान लेने पर, सर्वम्—सब कुछ, इदम्—यह, विज्ञातम्—ज्ञात, भवति—हो जाता है, इति—यह (पूछा) ॥३॥

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म
यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च ॥४॥

तस्मै—उस (शौनक) को, स ह—उस (अंगिरा) ने, उवाच—कहा, द्वे—दो, विद्ये—विद्याएं, वेदितव्ये—जानने योग्य हैं, जाननी चाहियें, इति ह स्म—इस प्रकार, यद्—जो, ब्रह्मविद—ब्रह्मज्ञानी, वेदवक्ता, वदन्ति—कहते हैं, परा—परा विद्या, च—और, एव—ही, अपरा च—और अपरा-विद्या ॥४॥

तत्रापरा, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं
निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते ॥५॥

तत्र—उन (दोनों) में, अपरा—अपरा (विज्ञान प्रधान) विद्या, ऋग्वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद—यजुर्वेद, सामवेद—सामवेद, अथर्ववेद—अथर्ववेद,

Knowledge—को, ईशोपनिषद् में भी 'अविद्या', तथा 'परा-विद्या' —Spiritual Knowledge—को 'विद्या' कहा गया है।) ॥५॥

'परा'-विद्या से जिस अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है वह देखा नहीं जा सकता, ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसका कोई वंश नहीं, वर्ण नहीं, उसके आंख-कान नहीं, हाथ-पांव नहीं। वह नित्य है, विभु है, सब जगह पहुँचा हुआ है किंतु सूक्ष्म है, अव्यय है, सब भूतों का कारण है। धीर-लोग 'परा'-विद्या से उस ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं ॥६॥

जैसे मकड़ी अपने शरीर के भीतर से जाले का सृजन करती है और फिर उसे समेट लेती है, जैसे पृथिवी में ओषधियां उत्पन्न होती हैं, जैसे जीवित पुरुष के शरीर से केश-लोम निकलते हैं, इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म (के प्रकृति-रूपी शरीर) से विश्व हो जाता है ॥७॥

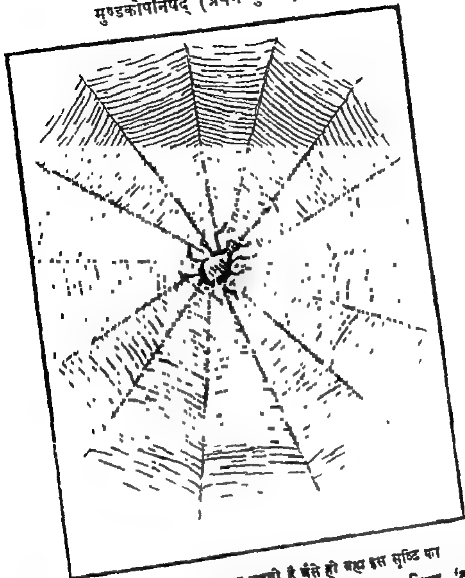
शिक्षा—शिक्षा; **कल्पः**—कल्प (श्रौत सूत्र); **व्याकरणम्**—व्याकरण; **निरुक्तम्**—निरुक्त; **छन्दः**—छन्दशास्त्र; **ज्योतिषम्**—ज्योतिषशास्त्र—ये छः अंग; **इति**—यह (अपरा विद्याएँ हैं); **अथ**—और; **परा**—परा (अध्यात्म-विद्या); **यया**—जिससे; **तद्**—वह; **अक्षरम्**—अविनाशी (ब्रह्म); **अधिगम्यते**—जाना जाता है, प्राप्त किया जा सकता है ॥५॥

यत्तदद्रे(दृ)श्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥६॥

यत् तद्—जो वह; **अद्रे(दृ)श्यम्**—ज्ञानेन्द्रियों से अज्ञेय; **अग्राह्यम्**—ग्रहण नहीं किया जा सकता (कर्मेन्द्रियों का विषय नहीं); **अगोत्रम्**—गोत्र (वंश-परम्परा) से रहित; **अवर्णम्**—रंग-रूप से शून्य या वर्णनातीत; **अचक्षुःश्रोत्रम्**—आँख आदि ज्ञानेन्द्रियों से रहित; **तद्**—वह; **अपाणिपादम्**—हाथ-पांव (आदि कर्मेन्द्रियों) से रहित; **नित्यम्**—त्रिकाल में रहने वाला, सनातन; **विभुम्**—व्यापक; **सर्वगतम्**—सर्वव्यापक; **सुसूक्ष्मम्**—सूक्ष्मातिसूक्ष्म; **तद्**—वह ब्रह्म; **अव्ययम्**—अविनाशी; **यद्**—जिसको; **भूतयोनिम्**—सब चराचर भूतों का निमित्तकारण या सब भूतों का आश्रय; **परिपश्यन्ति**—साक्षात्कार करते हैं; **धीराः**—धीर ज्ञानी ॥६॥

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम् ॥७॥

यथा—जैसे; **ऊर्णनाभिः**—मकड़ी; **सृजते**—(जाले की) रचना करती है; **गृह्णते च**—और (जाले को) ले लेती है, समेट लेती है; **यथा**—जैसे; **पृथिव्याम्**



जैसे मकड़ी जाले का सृजन करती है वैसे ही ब्रह्म इस सृष्टि का

अक्षर ब्रह्म से यह विश्व कैसे हुआ ? ब्रह्म ने तप किया, 'तप' अर्थात् 'उग्र-क्रिया' (Activity in Climax) से ब्रह्म बढ़ने लगा,

---

—पृथिवी पर, **ओषधयः**—ओषधियाँ, वनस्पति, **संभवन्ति**—उत्पन्न होती हैं; **यथा**—जैसे, **सतः**—सत्तावान्, जीवित, **पुरुषात्**—पुरुष-देह से, **केश-लोमानि**—बाल और रोम (निकलते हैं); **तथा**—वैसे ही, **अक्षरात्**—अव्यय-अविनाशी (ब्रह्म के शरीर के समान प्रकृति) से, **संभवति**—होता है, **इह**—इस (ब्रह्माण्ड) में; **विश्वम्**—सम्पूर्ण संसार ॥७॥

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥८॥

तपसा—तप से; **चीयते**—बढ़ता है; **ब्रह्म**—परमात्मा, ज्ञान; **ततः**—

विश्व के रूप में विकसित होने लगा। विकसित होते-होते 'अन्न' तक उसका विकास हो गया। ब्रह्म के विश्व-रूप में विकास का आदि 'तप' है, अन्त 'अन्न' है। अन्न ऐसी वस्तु है जो प्राण, मन, सत्य, लोक, कर्म और कर्म में रहने वाले अमृत, अर्थात् ऐसा कर्म जिसमें अमृत निहित है—इन सब को उत्पन्न करता है। अन्न से ही सब चलता है ॥८॥

वह सर्वज्ञ है। वह सब जगह पहुंचा हुआ है। उसका 'तप' क्या है? 'ज्ञान' ही उसका तप है। हमारा तप कैसे प्रकट होता है?—'क्रिया' के रूप में। उसका 'तप' कैसे प्रकट होता है?—'ज्ञान' के रूप में। इसलिये उसके लिये 'ज्ञान' ही 'तप' है। उसी के विकास से यह बृहत्, नाम-रूपवाला जगत्, और यह अन्न जिससे सब व्यवहार चल रहा है, उत्पन्न होता है ॥९॥

प्रथम-मुंडक—(द्वितीय खण्ड)

अपरा-विद्या अर्थात् कर्म-कांड की निरर्थकता

'अपरा-विद्या' का अर्थ है 'कर्म-कांड', अथवा 'रूढ़िवाद'। 'परा-विद्या' का अर्थ है 'ज्ञान-कांड', अथवा 'प्रगतिवाद'। 'अपरा-

उससे; अन्नम्—अन्न; अभिजायते—उत्पन्न होता है; अन्नात्—अन्न से; प्राणः—प्राण; मनः—मन; सत्यम्—सत्यम्, अस्तित्व; लोकाः—लोक; कर्मसु—कर्मों में; च—और; अमृतम्—अमरता, कर्म-फल ॥८॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥९॥

यः—जो; सर्वज्ञः—सर्वज्ञाता; सर्वविद्—सब में पहुँचा हुआ, सर्वव्यापक; यस्य—जिसका; ज्ञानमयम्—ज्ञान-स्वरूप या बुद्धिपूर्वक; तपः—कर्म; तस्मात्—उस (तप) से; एतद्—यह; ब्रह्म—ब्रह्म, वेद-ज्ञान; नाम—नाम; रूपम्—रूप (आकृति); अन्नम्—अन्न; च—और; जायते—उत्पन्न होता है, प्रगट होता है ॥९॥

तदेतत्सत्यं मंत्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि।
तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥१॥

तद्—वह; एतत्—यह; सत्यम्—सत्य है; मन्त्रेषु—वेदमन्त्रों में; कर्माणि—कर्मों को; कवयः—क्रान्तदर्शी, मनीषियों ने; यानि—जिन; अपश्यन्

विद्या' के अनुयायी कर्म-काडी, यज्ञ-याग आदि करने वाले, ब्रह्म को प्राप्त करने का साधन यज्ञों को, रूढियों को बतलाते हैं। इस संबंध में अंगिरा ने शौनक को कहा—

कर्म-काडियो का कहना है कि ऋषि लोगों ने वेद-मन्त्रों में जिन कर्मों, अर्थात् यज्ञों का बखान किया है, वे ही सत्य-मार्ग हैं। त्रेता-युग में उन्हीं कर्मों का विस्तार होता था। हे सत्य-सकल्प वालो! उन्हीं के अनुसार दृढता से आचरण करो। तुम अपने पुरुषार्थ से जिस लोक का निर्माण करना चाहते हो, उसमें तुम्हारा यही रास्ता है, इसी सत्य-मार्ग पर दृढता से कदम बढाये चलो ॥१॥

जब हव्य का वाहन करने वाली अग्नि प्रदीप्त हो उठती है, ज्वालाएं लपटें मारने लगती हैं, तब बीच में, श्रद्धा से आज्यभागाहुती नाम की दो आहुतियां डाली जाती हैं ॥२॥

अगर अग्निहोत्र उक्त प्रकार का न हो—न अग्नि ही प्रदीप्त हो, न श्रद्धा पूर्वक आहुतियां ही दी जाय—अगर अग्निहोत्र दर्शेष्टि-रहित हो, पौर्णमासेष्टि-रहित हो, चातुर्मास्येष्टि-रहित हो, नवान्नेष्टि-

---

—देखा, जाना, तानि—वे कर्म, त्रेतायाम्—त्रेता-युग में, बहुधा—बहुत प्रकार से, सततानि—विस्तृत हुए फैले, तानि—उन (वेद विहित कर्मों) का, आचरथ—आचरण करो, अनुष्ठान करो, नियतम्—निश्चित ही, अवश्य ही, सत्यकामा—हे सच्चे सकल्प वालो, दृढ निश्चयी, एष—यह ही व—तुम्हारा, पन्था—मार्ग है, सुकृतस्य—पुण्य (सत्कर्म) के लोके—लोक में ॥१॥

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेच्छ्रद्धया हुतम् ॥२॥

यदा—जब, लेलायते—लपलपाती है, हि—ही, अर्चि—अग्नि की लपट, समिद्धे—प्रदीप्त होने पर, हव्यवाहने—अग्नि के तदा—तब, आज्य-भागौ—आज्यभाग नाम की, अन्तरेण—बीच में, आहुती—आहुतियां का प्रतिपादयेत्—करे, डाले, श्रद्धया—श्रद्धा से, हुतम्—होम करके ॥२॥

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति ॥३॥

यस्य—जिस (कर्मकाण्डी) का, अग्निहोत्रम्—अग्निहोत्र, अदर्शम्—अमावस्या-इष्टि के बिना, अपौर्णमासम्—पौर्णमासेष्टि के बिना, अचातुर्मास्यम्—

रहित हो, अतिथि-पूजा-रहित हो, आहुति-रहित हो, वैश्वदेव-यज्ञ-रहित हो, अर्थात् विधि-रहित हो, तो उक्त सातों प्रकार की विधियों से रहित होने के कारण वह उसके सात लोकों के पुण्य को समाप्त कर देता है, उस यज्ञ से कोई पुण्य-फल नहीं मिलता ॥३॥

लपटें मारती हुई 'यज्ञाग्नि-रूपी' देवी की सात जिह्वाएं हैं, वे जिह्वाएं हैं, 'काली', 'कराली', मन के समान वेग से उठने वाली 'मनोजवा', रक्त-वर्ण वाली 'सुलोहिता', धूम्रयुक्त 'सुधूम्रवर्णा', चिनगारियों वाली 'स्फुलिंगिनी', भिन्न-भिन्न रूपों वाली 'विश्व-रुची' ॥४॥

भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्——ये सात लोक हैं। जीव अपने प्राण द्वारा भूः लोक से क्रमिक लोकों में से होता हुआ सत्य लोक तक पहुंचता है। जीव का प्राण जब भूः लोक में होता है तब तथा अन्य लोकों में जब जाता है तब की अवस्था को यज्ञ कहा जाता है। उस अवस्था में प्राण की अग्नि उत्पन्न होती है। भूः लोक में प्राण की अग्नि का नाम काली, भुवः लोक की अग्नि का नाम कराली, स्वः लोक की अग्नि का नाम मनोजवा आदि है। इसी प्रकार यह सिलसिला आगे चलता चला जाता

चातुर्मास्य-इष्टि के बिना; **अनाग्रयणम्**——शरत्कालीन नव-सस्येष्टि के बिना; **अतिथिवर्जितम्**——अतिथि-यज्ञ–अतिथि-पूजा के बिना; **च**——और; **अहुतम्**——अग्निहोत्र किया ही न जाय; **अवैश्वदेवम्**——वैश्वदेव यज्ञ के बिना; **अविधिना हुतम्**——उचित विधान से न किया हुआ (अग्निहोत्र); **तस्य**——उसके; **आसप्तमान् लोकान्**——सातवें लोक (सात कर्म-फलों) तक; **हिनस्ति**——नष्ट कर देता है; निष्फल कर देता है ॥ ३ ॥

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिंगिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥४॥

काली——काले वर्णवाली; **कराली**——भयावह; **मनोजवा**——मन के समान वेगवाली, अति चंचल; **सुलोहिता**——बहुत लाल रंग की; **या च**——और जो; **सुधूम्रवर्णा**——गहरे धुएं के रंगवाली; **स्फुलिंगिनी**——चिनगारी वाली; **विश्वरुची**——भिन्न-भिन्न कान्ति (रंग) वाली, बहुरंगी; **च**——और; **देवी**——प्रकाशवती; **लेलायमानाः**——लपलपाती हुई; **इति**——ये; **सप्त**——सात, सात प्रकार की; **जिह्वाः**——(अग्नि की) लपटें हैं ॥४॥

हैं। जीव अपने प्राण द्वारा जिस लोक मे जाता है उस लोक की अग्नि उसमे प्रदीप्त हो जाती है। प्रश्न है कि ये लोक क्या हैं? ये लोक शरीर मे भिन्न-भिन्न चक्र हैं। मूलाधार चक्र भू लोक है और ब्रह्म-रध्र सत्य लोक है। बीच के चक्र बीच के लोक है। जब तक कुडलिनी जागृत नही होती तब तक मनुष्य भू लोक मे, अर्थात भौतिक-जगत मे रमा रहता है, जब कुडलिनी साधना से जागृत हो जाती है तब वह इन सातों लोकों के क्रम पर चल पडता है। इस यात्रा म भू लोक के बाद भुव आदि के क्रम से विकास करता हुआ अन्त में सत्य लोक म पहुच जाता है जहा प्राण में 'विश्वरुची' अग्नि प्रकट होती है।)

जो याज्ञिक ठीक-ठीक समय पर यज्ञाग्नि की इन दीप्त जिह्वा-रूप-ज्वालाओ में आहुतिया देता रहता है, उसे सूर्य की रश्मिया उस लोक में ले जाती हैं जहा देवताओ के पति का एकमात्र अधि-वास है ॥५॥

तेजोमय आहुतिया सूर्य की रश्मियो के साथ यजमान को 'आइये'-'आइये'—ऐसी मीठी वाणी बोलती हुई, उसकी स्तुति करती हुई, उसे वहन करके ले जाती है, और कहती है, तुम्हारे सुकृत मे यह पुण्य 'ब्रह्म-लोक' तुम्हें प्राप्त हुआ है ॥६॥

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकाल चाहुतयो ह्याददायन्।
तन्नयन्त्येता सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवाना पतिरेकोऽधिवास ॥५॥

एतेषु—इन (अग्नि की लपटो) म, य—जो, चरते—अग्निहोत्र आदि करता है, भ्राजमानेषु—चमकती, प्रदीप्त, यथाकालम्—नियत समय पर, समयानुसार, च—और, आहुतय—आहुतियाँ, हि—हो, आददायन्—लेता हुआ, होमता हुआ, तम्—उसको, नयन्ति—ले जाती है पहुँचा देती हैं, एता—ये, सूर्यस्य—सूर्य की, रश्मय—किरणें, यत्र—जहा, देवानाम्—देवताओ का, पति—रक्षक, अध्यक्ष, राजा, एक—एक, अधिवास—रहता है ॥५॥

एह्येहीति तमाहुतय सुवर्चस सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमान वहन्ति।
प्रिया वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष व पुण्य सुकृतो ब्रह्मलोक ॥६॥

एहि-एहि—आ-आ, इति—इस प्रकार से, तम्—उसको, आहुतय—प्रदत्त आहुतियाँ, सुवर्चस—दीप्तिमती, प्रदीप्त, सूर्यस्य—सूर्य की, रश्मिभि—

यज्ञ के विषय में याज्ञिक लोग, ऊपर जो-कुछ कहा गया है, यह सब-कुछ कहते हैं, परन्तु अंगिरा ऋषि का कथन है कि भव-सागर को पार करने के लिये ये यज्ञ-रूप प्लव, ये यज्ञ-याग आदि के बेड़े, अदृढ़ हैं, बिल्कुल ढीले हैं। ये 'अपरा-विद्या' हैं, विद्या क्या, ये अविद्या हैं। इनमें १८ प्रकार के कर्म कहे गये हैं, परन्तु ये सब कर्म 'अवर' हैं, श्रेष्ठ नहीं हैं। जो मूढ़ व्यक्ति इन यज्ञीय-कर्मों को श्रेय मानकर आनन्द मनाते फिरते हैं, वे बार-बार जरा तथा मृत्यु के बन्धन में फंसते हैं ॥७॥

(यज्ञ में १८ प्रकार के 'कर्म' कौन-से हैं ? ब्रह्मा-उद्गाता-अध्वर्यु-होता—ये चार यज्ञ कराते हैं, इनके सहयोगी प्रत्येक के तीन-तीन होते हैं, इस प्रकार चार-चार के जोड़े से १६ कर्म करने वाले हुए। इन १६ के अतिरिक्त यजमान और यजमान-पत्नी दो हुए। कुल १८ कर्म करने वाले हो गये। बाह्य-यज्ञ के ये १८ कर्म हैं—यह ब्रह्मांड की चर्चा हुई। ऋषि का कहना है कि वास्तविक यज्ञ तो पिंड में, अध्यात्म में हो रहा प्राण-यज्ञ है। उस प्राण-यज्ञ में ब्रह्मा के स्थान में 'मन' है, अध्वर्यु के स्थान में 'वाणी' है—देखो छान्दोग्य ४-१५।)

किरणों के द्वारा; **यजमानम्**—यज्ञ-कर्ता को; **वहन्ति**—ले जाती हैं, पहुँचाती हैं; **प्रियाम्**—प्रिय, मधुर; **वाचम्**—वाणी को; **अभिवदन्त्यः**—बोलती हुई; **अर्चयन्त्यः**—पूजा-अर्चना करती हुई; **एषः**—यह ही; **वः**—तुम्हारा; **सुकृतः**—पुण्यमय; **ब्रह्मलोकः**—वृद्धि (फलने व फूलने) का यज्ञ-फल है ॥६॥

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥७॥

प्लवाः—बेड़े, नाव; **हि**—निश्चयपूर्वक; **एते**—ये; **अदृढाः**—कमजोर, समय पर धोखा देने वाले; **यज्ञरूपाः**—यज्ञरूपी; **अष्टादश**—अठारह प्रकार का; **उक्तम्**—कहा गया है, बताया गया है; **अवरम्**—हीन; **येषु**—जिनमें; **कर्म**—विधियाँ; **एतत्**—इसको; **श्रेयः**—कल्याणकारी, मोक्ष साधन; **ये**—जो; **अभिनन्दन्ति**—(मानकर) प्रसन्न होते हैं या (इनका) आदर करते हैं; **मूढाः**—अज्ञानी; **जरामृत्युम्**—बुढ़ापा और मौत को, जन्म-मरण को; **ते**—वे; **पुनः एव**—फिर भी; **अपियन्ति**—प्राप्त होते हैं (आवागमन के चक्र से नहीं छूटते) ॥७॥

अविद्या में पड़े हुए, अपने को धीर और पंडित मानते हुए मूर्ख लोग ऐसे फिरते हैं जैसे अन्धे को अन्धा रास्ता दिखा रहा हो, और ठोकरें खा रहा हो ॥८॥

भिन्न-भिन्न प्रकार से अविद्या में पड़े हुए, बड़े होकर भी बालक-की-सी बुद्धि रखने वाले लोग, अपने को कृतार्थ मानकर अभिमान से फूले फिरते हैं। जिस काम में लगे होते हैं उसमें इतने अनुरक्त हो जाते हैं कि यह नहीं जान पाते कि कर क्या रहे हैं। उसी से दुःख में आतुर होकर दीन-दुनिया से हाथ धो बैठते हैं, और सब तरह से नीचे जा गिरते हैं ॥९॥

मूढ़-लोग इष्टापूर्त को, यज्ञ-याग आदि तथा दान आदि को सब-कुछ समझ बैठते हैं। कहते हैं, हमने सब अच्छे काम कर लिये, वे इससे

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥८॥

अविद्यायाम्—अविद्या में, प्रेयोमार्ग में; अन्तरे—बीच में; वर्तमानाः—विद्यमान; स्वयम्—स्वय ही; धीराः—ज्ञानी; (स्वयं धीराः—तथा-कथित ज्ञानी); पण्डितंमन्यमानाः—अपने को पण्डित (चतुर, समझदार) समझने वाले; जंघन्यमानाः—ठोकरें खाते हुए, परियन्ति—इधर-उधर फिरते हैं, भटकते हैं; मूढाः—मूर्ख, अविद्याग्रस्त; अन्धेन—अन्धे से, एव—ही, नीयमानाः—ले जाये जाते हुए, यथा—जैसे; अन्धाः—अन्धे ॥८॥

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥९॥

अविद्यायाम्—अज्ञान में, प्रेयोमार्ग में; बहुधा—भिन्न-भिन्न रूप से; वर्तमानाः—विद्यमान, पड़े हुए; वयम्—हम; कृतार्थाः—पूर्णकाम, सफल मनोरथ (हो गये हैं); इति—इस प्रकार से; अभिमन्यन्ति—अभिमान करते हैं; बालाः—बालक समान अज्ञानी, यत्—क्योंकि; कर्मिणः—सकाम कर्म करने वाले; न—नहीं; प्रवेदयन्ति—तत्त्व (असली स्थिति) को जानते हैं; रागात्—सुखाभिलाषा से; तेन—उस कारण से; आतुराः—(बदले में) दुःखी हुए; क्षीणलोकाः—जिनके कर्मफल (भोगने के पश्चात्) समाप्त हो गये हैं, वे; च्यवन्ते—(उस सुख की स्थिति से) गिर जाते हैं, पतित हो जाते हैं ॥९॥

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥१०॥

इष्ट+आपूर्तम्—इष्ट (श्रौत यज्ञ-याग) और आपूर्त (धर्मार्थ बनाये

अन्य कुछ श्रेय जानते ही नहीं। सुकृत से जो सुख प्राप्त होता है, उसकी तो मानो वे पीठ को ही छू पाते हैं, और इस हीनतर लोक में आ पहुंचते हैं, क्योंकि यज्ञ-याग आदि वास्तविक 'सुकृत' नहीं हैं ॥१०॥

वास्तविक 'सुकृत' कौन करता है ? जो शांत-चित्त, विद्वान् जंगल में भिक्षा-वृत्ति से जीवन-निर्वाह करते हुए 'तप' (शारीरिक-साधना) और 'श्रद्धा' (आत्मिक-साधना)-पूर्वक रहते हैं, वे सब मलों से शुद्ध होकर सूर्य-द्वार से वहां पहुंचते हैं जहां अमृत, अव्ययात्मा पुरुष है ॥११॥

(सूर्य शुद्धता का प्रतिनिधि है। अन्य किसी भी वस्तु में अशुद्धता की सम्भावना हो सकती है, सूर्य में नहीं। जो शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक-दृष्टि से सर्वथा शुद्ध हो जाते हैं, वे सूर्य के, अर्थात् विलक्षण-शुद्धता के मार्ग पर चल देते हैं। इस सूर्य-मार्ग द्वारा ही वे परमात्मा को पाते हैं। संसार की किसी वस्तु में उनकी आसक्ति नहीं होती (जो यज्ञ-यागादि, दान-पुण्यादि में अनुरक्त रहते हैं, वे कर्मफल के बन्धन में बंधे रहते हैं, शुद्ध नहीं हो पाते, 'संसार'।

वापी-कूप-तडाग-धर्मशाला आदि) कर्मों को; **मन्यमानाः**—समझते हुए; **वरिष्ठम्**—सबसे बढ़कर; **न**—नहीं; **अन्यत्**—(इष्टापूर्त से) भिन्न दूसरा; **श्रेयः**—कल्याणकर, मोक्ष-साधन को; **वेदयन्ते**—जानते हैं; **प्रमूढाः**—मूर्ख लोग; **नाकस्य**—दुःखशून्य स्वर्ग के; **पृष्ठे**—छत पर, शिखर पर; **ते**—वे; **सुकृते**—पुण्यकर्म से सम्पादित; **अनुभूत्वा**—(उनका) अनुभव करके; **इमम्**—इस; **लोकम्**—लोक को, अवस्था को; **हीनतरम्**—बहुत ही निकृष्ट; **वा**—फिर; **विशन्ति**—घुसते हैं, प्राप्त करते हैं ॥१०॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥११॥

तपः श्रद्धे—तप और श्रद्धा (सत्य-धारणा) को; **ये हि**—जो तो; **उपवसन्ति**—सेवन करते हैं, अनुष्ठान करते हैं; **अरण्ये**—वन में; **शान्ताः**—शान्त, उद्वेग शून्य; **विद्वांसः**—ज्ञानी; **भैक्ष्यचर्याम्**—भिक्षा-वृत्ति को; **चरन्तः**—करते हुए; **सूर्यद्वारेण**—सूर्य-द्वार से, उदान द्वारा सुषुम्णा मार्ग से (प्राण छोड़ कर); **ते**—वे; **विरजाः**—मल-दोषों से रहित, शुद्ध; **प्रयान्ति**—पहुँच जाते हैं; **यत्र**—जहाँ; **अमृतः**—अमर; **सः**—वह; **पुरुषः**—सर्व व्यापक ब्रह्म; **हि**—ही; **अव्यय+आत्मा**—अविनाशी (अक्षर) स्वरूप वाला (है) ॥११॥

को तो पा जाते हैं, 'अमृत' को नहीं पा सकते। इस प्रकरण में सूर्य-मार्ग का अर्थ उत्तरायण-मार्ग भी हो सकता है। छान्दोग्य—४-१५, ५-१०—में देवयान तथा पितृयाण मार्गों का वर्णन है। देवयान सूर्य-मार्ग है, यही उत्तरायण-मार्ग है। ब्रह्मज्ञानियों का कहना है कि ब्रह्म-लोक पृथिवी के उत्तर में है। जब सूर्य भी पृथिवी के उत्तर में आ जाता है, उस समय—उत्तरायण-काल में—प्राण त्यागने से जीव सूर्य के द्वार से होता हुआ सीधा ब्रह्म-लोक पहुंच जाता है। 'उपवसन्ति अरण्ये'—इसका अर्थ आध्यात्मिक लोग जंगल में जा बसना न करके मस्तिष्क के सहस्रार में अर तथा ण्य नामक शक्ति के दो केन्द्रों में ध्यान जमाना—यह करते हैं। उपनिषद् ने स्वयं भी—छान्दोग्य, ८-५-३—'अरण्यायन' का अर्थ 'अर' तथा 'ण्य' ये दो समुद्र किया है।)

यज्ञ-याग, दान-पुण्य—इन कर्मों से, अर्थात् सकाम-भावना से किये गये कर्मों से जो सुख-ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं, इनकी परीक्षा करके ब्राह्मण-वृत्ति के मनुष्य के हृदय में संसारी विषयों से उदासीनता आ जाती है, और वह समझ जाता है कि 'अकृत' को 'कृत' से नहीं पाया जा सकता। यज्ञ-याग आदि सब 'कृत' हैं, तभी इन्हें 'क्रतु' कहा गया है। 'कृत' से 'कृत' ही पाया जा सकता है, जिसकी उत्पत्ति है और विनाश है वही मिल सकता है। 'कृत' से 'अकृत' नहीं मिलता। ब्रह्म तो 'अकृत' है, उसकी उत्पत्ति नहीं, विनाश नहीं। 'अकृत' को 'अक्रतु' ही पा सकता है—'तमक्रतुः पश्यति'। उस 'अकृत' को जानने के लिये समित्पाणि होकर, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के चरणों में उपस्थित होना आवश्यक है।।१२।।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।१२।।

परीक्ष्य—परीक्षा करके; लोकान्—लोकों को, भोगों को, कर्म-फलों को, कर्म-चितान्—कर्मों से संचित (अर्जित), ब्राह्मणः—ब्रह्मज्ञान का इच्छुक, निर्वेदम्—(सकाम कर्मों से) विरक्ति—वैराग्य को, आयात्—प्राप्त होवे, (क्योंकि) न+अस्ति—नहीं प्राप्त होता है, अकृत—नित्य, सनातन, जिसकी उत्पत्ति नहीं; कृतेन—अनित्य कर्मों से; तद्—उसके; विज्ञानार्थम्—

इस प्रकार श्रद्धा-पूर्वक जब कोई जिज्ञासु चित्त में शांति लेकर, इन्द्रियों को कल्याण-मार्ग पर लगाकर गुरु के निकट पहुंचता है, तब वह विद्वान्, जिस 'ब्रह्म-विद्या' द्वारा अक्षर पुरुष का तात्त्विक-ज्ञान हो सकता है, उस ब्रह्म-विद्या का सत्य उपदेश दे देता है ॥१३॥

द्वितीय-मुण्डक—(प्रथम-खण्ड)

विराट्-पुरुष से ही सब कुछ उत्पन्न है

वह सत्य उपदेश यह है। जैसे प्रचण्ड, प्रदीप्त अग्नि से एक ही प्रकार की सहस्रों चिनगारियां पैदा होती हैं, हे सोम्य! इसी प्रकार अक्षर से विविध 'भाव', अर्थात् अस्त्यात्मक 'चेतन' और 'जड़'-जगत्, सत्तारूप जगत् (भावाः—Substances) उत्पन्न होता है, उसी में फिर लौट जाता है ॥१॥

ज्ञान के लिये; **सः**—वह (जिज्ञासु); **गुरुम्**—गरिमामय उपदेष्टा के; **एव**—ही; **अभिगच्छेत्**—पास जावे; **समित्पाणिः**—(उपहार भूत) समिधाएँ (यज्ञ-सामग्री) हाथ में लेकर; **श्रोत्रियम्**—श्रुति (वेद) के तत्त्वार्थ को जानने वाले; **ब्रह्मनिष्ठम्**—स्वयं ब्रह्म में निष्ठा (अविचल स्थिति) रखने वाले; ('**कृत**' जो किया जा सके–'अनित्य'; '**अकृत**' जो न किया जा सके–'नित्य') ॥१२॥

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥१३॥

तस्मै—उस (जिज्ञासु) को; **सः**—वह गुरु; **उपसन्नाय**—पास में आये हुए–बैठे हुए; **सम्यक्**—पूर्णतया; **प्रशान्तचित्ताय**—प्रशान्त चित्त वाले, चित्त-विक्षेपों से मुक्त; **शमान्विताय**—बाह्य इन्द्रियों के निग्रह से युक्त, इन्द्रियजयी; **येन**—जिस प्रकार; **अक्षरम् पुरुषम्**—अविनाशी परमात्मा को; **वेद**—जान जाये; **सत्यम्**—सत्यस्वरूप ब्रह्म को या ठीक-ठीक-सच्चा, सही रूप में (क्रिया विशेषण); **प्रोवाच**—कहा, उपदेश करे; **ताम्**—उस; **तत्त्वतः**—यथार्थता से; **ब्रह्मविद्याम्**—ब्रह्मज्ञान (परा विद्या) को ॥१३॥

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥१॥

तद् एतद् सत्यम्—वह सत्य यह है; **यथा**—जैसे; **सुदीप्तात्**—भली प्रकार प्रज्वलित; **पावकाद्**—अग्नि से; **विस्फुलिंगाः**—चिनगारियाँ; **सहस्रशः**—हज़ारों; **प्रभवन्ते**—उत्पन्न होती हैं; **सरूपाः**—समान रूप वाली, एक सी;

भावात्मक, अर्थात् सत्तात्मक-जगत् में जो भी सत्ताएं हैं, वे या तो चेतन हैं या जड़। 'जड़' की व्याख्या करने की आवश्यकता न समझ कर ऋषि 'चेतन' सत्ताओं की भी मूर्धन्य सत्ता, पुरुषों के भी पुरुष—विराट्-पुरुष की—व्याख्या करते हुए कहते हैं—वह चेतन सत्तारूप विराट् 'पुरुष' दिव्य-आभायुक्त होता हुआ भी अमूर्त है; बाहर होता हुआ भी अन्दर है; संसार को उत्पन्न करता हुआ भी स्वयं उत्पन्न नहीं होता; प्राण का संचार करते हुए भी स्वयं अप्राण है; सब मनों को प्रेरणा देते हुए भी उसका अपना मन नहीं; वह अक्षर है परन्तु उसका शुभ्र रूप तो अक्षर से भी परे-से-भी-परे है ॥२॥

प्राण, मन, सब इन्द्रियां, आकाश, वायु, ज्योति, जल, विश्व का धारण करने वाली पृथिवी उसी से उत्पन्न होती है ॥३॥

तथा—वैसे ही; अक्षरात्—अविनाशी प्रकृति से या अविनाशी (निमित्त कारण) ब्रह्म से; विविधाः—अनेक प्रकार की; भावाः—सत्ताएँ, पदार्थ; प्रजायन्ते—उत्पन्न होते हैं; तत्र च—और उस (उपादान कारण प्रकृति या निमित्त कारण ब्रह्म) में; एव—ही; अपियन्ति—प्रलीन हो जाते हैं ॥१॥

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥२॥

दिव्यः—दिव्य, हि—ही, अमूर्तः—अशरीरी, अरूप; पुरुषः—पुरुष (कार्य-कारण प्रकृति में व्यापक); सः—वह ब्रह्म, बाह्य+आभ्यन्तरः—इस रचना के बाहर भी है और इसके अन्दर भी रमा हुआ है; हि—ही; अजः—अजन्मा; अप्राणः—प्राण-शून्य; हि—ही; अमनाः—मन से रहित, शुभ्रः—कान्तिमान्, स्वच्छ, निर्मल; हि—ही; अक्षरात्—अविनाशी अव्यक्त प्रकृति से भी, परतः परः—सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अधिक श्रेष्ठ है, उससे बढ़कर है ॥२॥

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥३॥

एतस्मात्—इससे ही, जायते—उत्पन्न होता है; प्राणः—प्राण; मनः—मन; सर्वेन्द्रियाणि च—और सारी इन्द्रियाँ; खम्—आकाश; वायुः—वायु, ज्योतिः—तेज; आपः—जल; पृथिवी—पृथिवी; विश्वस्य—सब का; धारिणी—धारण करने वाली ॥३॥

जैसे मनुष्य-शरीर में आत्मा है, वैसे पंच-महाभूतों में परमात्मा का वास है, वह सब भूतों का अन्तरात्मा है। यह संसार उस विराट्-पुरुष का शरीर है। अग्नि उसका मूर्धा है, मस्तिष्क है। जैसे मस्तिष्क द्वारा ज्ञान होता है, वैसे अग्नि द्वारा जहां चाहें वहीं हम अन्धकार को दूर कर सकते हैं। सूर्य अपने निश्चित समय पर उदित-अस्त होता है, परन्तु अग्नि का उपयोग अन्धकार को दूर करने के लिये हर समय किया जा सकता है। चन्द्र तथा सूर्य उसकी दो आंखें हैं। दिशाएं उसके श्रोत्र हैं। विस्तृत ज्ञान-रूपी वेद उसकी वाणी हैं। वायु प्राण है। विश्व उसका हृदय है। पृथिवी पांव है ॥४॥

जिस विराट्-पुरुष के लिये सूर्य समिधा-रूप है, अर्थात् जैसे समिधा प्रदीप्त नहीं होतीं, वैसे जिस तेज के पुंज भगवान् के सम्मुख सूर्य जैसा दीप्तिमान् तेज का पुंज समिधा की तरह तेज-हीन है, उसी विराट्-पुरुष से अग्नि उत्पन्न हुई है। चन्द्र जैसे पृथिवी में वर्षा का सिंचन करता है और उससे ओषधियां उत्पन्न होती हैं, पुरुष जैसे स्त्री में वीर्य का सिंचन करता है और उससे प्रजा उत्पन्न होती है, इसी तरह विराट्-पुरुष से ही सब-कुछ प्रसूत हुआ है ॥५॥

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥४॥

(इस विराट्-पुरुष ब्रह्म का) **अग्निः**—अग्नि, तेज; **मूर्धा**—सिर (शिरः स्थानीय है); **चक्षुषी**—(इसकी) आँखें; **चन्द्र-सूर्यौ**—चन्द्र और सूर्य हैं; **दिशः**—दिशाएँ (आकाश); **श्रोत्रे**—(इसके) कान हैं; **वाग्**—(इसकी) वाणी; **विवृताः**—विवरण सहित (सांगोपांग); **च**—और; **वेदाः**—वेद हैं; **वायुः**—वायु; **प्राणः**—(इसका) प्राण (श्वास-प्रश्वास) है; **हृदयम्**—हृदय; **विश्वम्**—सारा ब्रह्माण्ड; **अस्य**—इसका; **पद्भ्याम्**—पाँवों से (पाद स्थानीय); **पृथिवी**—पृथिवी है; **हि**—निश्चय से; **एषः**—यह ब्रह्म ही; **सर्वान्तिरात्मा**—सब का अन्तर्वर्त्ती आत्मा है या यह सर्वान्तर्यामी है ॥४॥

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् ।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्संप्रसूताः ॥५॥

तस्माद्—उससे; **अग्निः**—अग्नि, तेज; **समिधः**—समिधाएँ, प्रकाशक; **यस्य**—जिसका; **सूर्यः**—सूर्य; **सोमात्**—सोम से, स्रष्टा से; **पर्जन्यः**—मेघ; **ओषधयः**—वनस्पतियाँ; **पृथिव्याम्**—पृथिवी पर; **पुमान्**—पुरुष (पुंलिङ्ग

उसी विराट्-पुरुष से ऋक्, यजु, साम प्रकट होते हैं। इन तीनों वेदों में 'दीक्षा' लेकर, 'यजमान' 'संवत्सर' तक अर्थात् संवत्सर-पर्यन्त 'यज्ञ' तथा अन्य सब 'ऋतु' अर्थात् कर्म करता है, और 'दक्षिणा' देकर उन 'लोकों' को प्राप्त होता है जिनमें 'सोम' और 'सूर्य' अपना प्रकाश देते हैं। ये दीक्षा, यजमान, संवत्सर, यज्ञ, सब ऋतु, दक्षिणा, लोक, सोम, सूर्य—सब उसी विराट्-पुरुष से उत्पन्न हुए हैं ('सोम और सूर्य प्रकाश देते हैं' का अभिप्राय 'सोम' से दक्षिणायन तथा 'सूर्य' से उत्तरायण—मुंडक १-२-११ तथा छान्दोग्य ५-१० से है।) ॥६॥

देव, साध्य तथा मनुष्य—ये तीन कोटि के उच्च-जीव हैं। जो पिछले जन्म में साधना कर चुकने के कारण दिव्य गुणों को पाकर उत्पन्न हुए हैं, वे 'देव', जिन्होंने साधना द्वारा इस जन्म में दिव्य-गुण प्राप्त किये हैं, वे 'साध्य' जो साधारण गुणों वाले हैं, वे 'मनुष्य'। ये तीनों उसी विराट्-पुरुष से उत्पन्न हुए हैं। पशु, पक्षी भी उसी से उत्पन्न हुए हैं। प्राण, अपान, व्रीहि, यव; तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य, और इनकी विधि—सब उसी से हैं ॥७॥

प्राणी), रेतः—वीर्य को, सिञ्चति—सींचना है डालता है, योषितायाम्—स्त्री (स्त्रीलिंग प्राणियों) में, बह्वीः—बहुत, अनेक, प्रजाः—प्रजाएँ, सन्तति, पुरुषात्—विराट्-पुरुष से, सम्प्रसूताः—उत्पन्न हुई हैं ॥५॥

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥६॥

तस्माद्—उस (विराट्-पुरुष) से, ऋचः—ऋचाएँ, ऋग्वेद, साम—सामवेद, यजूंषि—यजुर्वेद, दीक्षा—(कर्म में) अधिकार-स्वीकृति, यज्ञाः—यज्ञ (शुभ कर्म), च—और, सर्वे—सब, क्रतवः—(सकाम) यज्ञ-कर्म, दक्षिणाः—दक्षिणा, कर्म फल, च—और, संवत्सरः—वर्ष (काल-परिमाण), च—और, यजमानः—यज्ञ-कर्ता, च—और, लोकाः—लोक, कर्म-फल के भोग के स्थान (स्थिति-अवस्था), सोमः—चन्द्र, यत्र—जिन (लोकों) में, पवते—पवित्र करता है, (सूर्य-पक्ष में) तपता है, यत्र—जहाँ, सूर्यः—सूर्य ॥६॥

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥७॥

तस्मात् च—और उससे, देवाः—विद्वान्, (सर्वश्रेष्ठ) मनुष्य, बहुधा

मनुष्य-शरीर में दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख—ये सात लोक हैं, जो मानो सात गुफ़ाएं हैं। इन गुफ़ाओं में प्रविष्ट हुए प्राण विचरते हैं। एक-एक में एक-एक प्राण है, अतः सातों में सात-सात प्राण हैं। ये सातों प्राण उसी से उत्पन्न होते हैं। इन सातों गुफ़ाओं में प्राण-यज्ञ हो रहा है, सात होम हो रहे हैं, जिनमें विषय-रूपी सात समिधाएं पड़ रही हैं, और इन समिधाओं के जलने से ज्ञान-रूपी सात अग्नियां ज्योति दे रही हैं। ये सब उसी विराट्-पुरुष से हैं ॥८॥

इसी से समुद्र, पर्वत हैं; इसी से छोटे-बड़े सिन्धु, नदी-नाले बह रहे हैं; इसी से ओषधियां; इसी से ओषधियों का रस उत्पन्न होता है। यह जगत् पांच महाभूतों के साथ विराजमान है। इन सबका अन्तरात्मा वही है ॥९॥

—अनेक; **संप्रसूताः**—उत्पन्न हुए; **साध्याः**—सिद्धि-प्राप्त जन; **मनुष्याः**—साधारण जन; **पशवः**—पशु (स्थल-चर); **वयांसि**—पक्षी (नभ-चर); **प्राण+अपानौ**—प्राण और अपान; **व्रीहि-यवौ**—धान व जौ (अन्न); **तपः**—तप; **च**—और; **श्रद्धा**—सत्य में दृढ़ आस्था; **सत्यम्**—सत्य; **ब्रह्मचर्यम्**—मनोनिग्रह; **विधिः**—कर्म-विधान (उचित-व्यवस्था); **च**—और ॥७॥

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥८॥

सप्त—सात (शिरःस्थानीय); **प्राणाः**—इन्द्रियां; **प्रभवन्ति**—उत्पन्न होती हैं; **तस्मात्**—उस (विराट्-पुरुष) से; **सप्त**—सात; **अर्चिषः**—अग्नि-ज्वाला (ज्ञान-ग्रहण-शक्तियां); (**सप्त**) **समिधः**—समिधायें, ईंधन (इन्द्रियों के रूप आदि विषय); **सप्त**—सात; **होमाः**—हवन (ज्ञान); **सप्त**—सात; **इमे**—ये; **लोकाः**—स्थान (इन्द्रिय-गोलक); **येषु**—जिनमें; **चरन्ति**—विचरते हैं, गति करते हैं; **प्राणाः**—सात इन्द्रियां (ज्ञान-शक्ति); **गुहाशयाः**—गुहा (शरीर या हृदय के सुरक्षित स्थान) में रहने वाले; **निहिताः**—स्थापित; **सप्त-सप्त**—सात-सात या उनंचास (४९) वायु ॥८॥

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥९॥

अतः—इस (विराट्पुरुष या हिरण्यगर्भ) से; **समुद्राः**—समुद्र; **गिरयः**—पर्वत; **च**—और; **सर्वे**—सारे; **अस्मात्**—इससे; **स्यन्दन्ते**—प्रवाहित होते

हे सोम्य ! यह विश्व उसी पुरुष में है। कर्म, तप, ब्रह्म और परम अमृत सब उसी में हैं, और उसी से है। गुहा में छिपे हुए उसको जो जान लेता है वह अविद्या की गांठ को, जिसने हमें बांध रखा है, काट डालता है—'अविद्याग्रन्थि विकिरति' ॥१०॥

द्वितीय-मुण्डक—(द्वितीय-खण्ड)

प्रणव द्वारा उसी को जानो

वह गुहा में छिपा है, परन्तु फिर भी प्रकट रूप में हमारे सामने ही पड़ा है; कहते हैं वह महान् है, परन्तु हमारे आत्म-समर्पण के लिये उसके पांव तो यहीं हमारे सामने इस पृथिवी के रूप में समर्पित हैं। हे जड़-चेतन-जगत् ! तुम यह जान लो कि वह विज्ञान से परे है, सत्-असत् दोनों से वरेण्य है, अर्थात् बेहतर है, प्रजाओं में वह वरिष्ठ, अर्थात् सबसे बड़ा-चढ़ा है ॥१॥

हैं; सिन्धवः—नदियां; सर्वरूपाः—सब प्रकार की (छोटी-बड़ी); अतः च—और इससे ही; सर्वाः—सारी; ओषधयः—वनस्पतियां, हरियाली; रसः—स्वाद, छहों रस; च—और; येन—जिससे, यत्; एषः—यह; भूतैः—पंच-भूतों से; तिष्ठते—विद्यमान है; हि—ही; अन्तरात्मा—अन्तरात्मा (अन्दर रहने वाला) शरीरी जीव या सर्वव्यापक ब्रह्म ॥९॥

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीह सोम्य ॥१०॥

पुरुषे—पुरुष (ब्रह्म) में; एव—ही; इदम्—यह, विश्वम्—संसार, ब्रह्माण्ड; कर्म—कर्म, तपः—तप, ब्रह्म—ज्ञान, वेद (जिसके लिए ब्रह्मचर्य किया जाता है); पर+अमृतम्—परम-मोक्ष स्थान, एतद्—यह, इसको; यः—जो; वेद—जानता है; निहितम्—स्थापित, विद्यमान; गुहायाम्—हृदयाकाश में; सः—वह, अविद्या-ग्रन्थिम्—अविद्या (अज्ञान, प्रेय की ओर झुकाव, सकाम कर्म) की गांठ (बन्धन) को, विकिरति—बखेर देता है, तोड़ देता है; इह—यहां, इस जन्म में ही; सोम्य !—हे प्रियवत्स शौनक ! ॥१०॥

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्।
एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥१॥

आविः—प्रगट, प्रत्यक्ष; संनिहितम्—(हृदय में) विद्यमान है; गुहा-चरम्—(इसलिए ही वह हृदय-गुहा में विद्यमान होने से) गुहाचर; नाम—नाम वाला है; महत्—महान्; पदम्—प्राप्तव्य, लक्ष्य, सब का आश्रय (वह ही है);

हे सोम्य ! जो प्रकाशमान है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, परन्तु जिसमें स्थूल से भी स्थूल लोक निहित हैं; इन लोकों में जिनका वास है वे प्राणी भी जिसमें निहित हैं, वही अक्षर ब्रह्म है, वही प्राण है, वही वाणी है, वही मन है, वही सत्य है, वही अमृत है, हे सोम्य ! यह जान ले कि वही तेरा लक्ष्य है, उसी को तूने बींधना है ॥२॥

हे सोम्य ! 'उपनिषद्'-रूप महान् अस्त्र-रूपी धनुष को ग्रहण करके, 'उपासना'-रूप तेज शर का सन्धान करके, 'भगवान्'-रूप लक्ष्य

अत्र—इस (ब्रह्म) में; **एतत्**—यह (दृश्यमान जगत्); **समर्पितम्**—सौंपा हुआ, प्रविष्ट, स्थित, आश्रित है; **एजत्**—काँपता हुआ, गतिमान्; **प्राणत्**—साँस लेता, प्राणधारी; **निमिषत्**—आँख की पलकें मारने वाला; **च**—और भी; **यत्**—जो कुछ (है सो उसमें ही आश्रित है); **एतत्**—इसको; **जानथ**—(हे शिष्यो !) जानो, जानने का प्रयत्न करो; **सत्**—स्वयं सत्ता वाला; **असद्**—(अन्य) सत् (जीव-प्रकृति) से भिन्न; **वरेण्यम्**—वरण करने योग्य, ज्ञेय, प्रार्थनीय; या (**सदसद्वरेण्यम्**—जगत् की सब सत् (नित्य) और असत् (अनित्य) वस्तुओं से श्रेष्ठ); **परम् विज्ञानात्**—विज्ञान (अपरा विद्या-लौकिक ज्ञान) से परे, अपरा विद्या से अज्ञेय; **यद्**—जो; **वरिष्ठम्**—सर्वोत्कृष्ट; **प्रजानाम्**— उत्पन्न (अनित्य-विनाशी) पदार्थों में (से) ॥१॥

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिल्लोका निहिता लोकिनश्च ।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः ।
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥२॥

यद्—जो; **अर्चिमद्**—ज्योतिष्मान्, प्रकाशस्वरूप है; **यद्**—जो; **अणुभ्यः अणु**—अणुओं से भी अधिक सूक्ष्म; **च**—और; **यस्मिन्**—जिसमें; **लोकाः**—लोक-लोकान्तर; **निहिताः**—समर्पित, आश्रित; **लोकिनः**—लोकों में विद्यमान जड़-चेतन, लोकवासी; **च**—और; **तद्**—वह (सर्वाश्रय); **एतद्**—यह; **अक्षरम्**—अविनाशी; **ब्रह्म**—ब्रह्म (है); **सः**—वह ही (उसके सहारे ही); **प्राणः**—प्राण; **तद् उ**—वह ही; **वाङ् मनः**—वाणी और मन, सब ज्ञान-कर्म इन्द्रियाँ व अन्तःकरण (है); **तद् एतत्**—वह यह ही; **सत्यम्**—परम सत्तावाला; **तद्**—वह; **अमृतम्**—अमर; **तद्**—उसको ही, वह ही; **वेद्धव्यम्**—बींधने योग्य, (ज्ञान का) लक्ष्य; **सोम्य**—प्रिय शौनक !; **विद्धि**—जान ॥२॥

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संधयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥३॥

धनुः—धनुष को; **गृहीत्वा**—हाथ में लेकर; **औपनिषदम्**—उपनिषद्



प्रणव धनुष है—ब्रह्म लक्ष्य है, उसी को तूने बींधना है

में लगे चित्त से धनुष को खींचकर, 'अक्षर'-रूप लक्ष्य का वेध कर डाल ॥३॥

(परा-विद्या और गुरु-सन्निधि) में प्रतिपादित, प्रसिद्ध, महास्त्रम्—कृत्यकारी महान् अस्त्र (साधन) को; शरम्—बाण को, हि—और, उपासानिशितम्—उपासना—सतत ध्यान-भक्ति से तेज (उग्र) हुए, संधयीत (संदधीत)—सन्धान कर, आयम्य—(अपनी ओर) खूब खींच कर; तद्भावगतेन—उसमें ही लीन, तत्त्वभाव (यथार्थ-ज्ञान) को प्राप्त, चेतसा—चित्त से, लक्ष्यम्—वेद्धव्य लक्ष्य (पद); तद् एव—उस ही; अक्षरम्—अविनाशी ब्रह्म को; सोम्य—प्रिय शौनक; विद्धि—जान ॥३॥

प्रणव धनुष है, आत्मा शर है, ब्रह्म लक्ष्य है। अप्रमत्त होकर इस लक्ष्य का वेध करे, फिर जैसे शर लक्ष्यमय हो जाता है, वैसे आत्मा ब्रह्ममय हो जायगा ॥४॥

द्यु, पृथिवी, अन्तरिक्ष—अर्थात् यह विशाल 'ब्रह्मांड', एवं मन तथा सभी प्राण—अर्थात् यह छोटा 'पिंड', उसी ब्रह्म में ताने-बाने की तरह ओत-प्रोत हैं। उसी एक आत्मा को पहिचानो—'तम् एव एकं जानथ', अन्य बातें करना छोड़ दो—'अन्या वाचो विमुञ्चथ'। दुःखमय भव-सागर से पार होकर अमृत तक पहुंचने का यही पुल है—'अमृतस्य एष सेतुः' ॥५॥

जैसे भिन्न-भिन्न अरे रथ की नाभि में जड़े होते हैं, जैसे भिन्न-भिन्न नाड़ियां हृदय में संहत हो जाती हैं, वैसे ही अनेक रूपों में प्रकट

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥४॥

प्रणवः—(ब्रह्म वाचक) ओम् (पद) ही; **धनुः**—धनुष; **शरः हि**—और बाण; **आत्मा**—(तेरा चेतन) आत्मा; **ब्रह्म**—परमात्मा ही; **तत्-लक्ष्यम्**—उस जीवात्मा का लक्ष्य; **उच्यते**—कहा जाता है; **अप्रमत्तेन**—प्रमादरहित, सावधान (अन्तर्मुख) होकर; **वेद्धव्यम्**—बींधना चाहिये; **शरवत्**—बाण की तरह; **तन्मयः**—उस लक्ष्य में लीन (लक्ष्य में प्रविष्ट); **भवेत्**—होवे ॥४॥

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुंचथामृतस्यैष सेतुः ॥५॥

यस्मिन्—जिस (ब्रह्म) में; **द्यौः**—द्युलोक; **पृथिवी**—पृथिवी; **च**—और; **अन्तरिक्षम्**—अन्तरिक्ष-तीनों लोक (सारा ब्रह्माण्ड); **ओतम्**—व्याप्त है; **मनः**—मन; **सह प्राणैः**—प्राणों (इन्द्रियों) के साथ; **च**—और; **सर्वैः**—सारे; **तम् एव एकम्**—उस ही एक को; **जानथ**—जानो; **आत्मानम्**—परमात्मा को; **अन्याः**—दूसरी; **वाचः**—वाणियों को; **विमुंचथ**—छोड दो, चर्चा मत करो; **अमृतस्य**—अमर-पद मोक्ष का (के लिये); **एषः**—यह (आत्म-ज्ञान); **सेतुः**—पुल, (भव-सागर से) पार ले जाने वाला है ॥५॥

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः।
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥६॥

अराः—अरों के; **इव**—समान; **रथनाभौ**—रथ के पहिये की नाभ में; **संहताः**—इकट्ठी हुई, लगी हुई; **यत्र**—जिसमें; **नाड्यः**—नाड़ियाँ (देहमात्र);

होने वाला यह विराट्-पुरुष हमारे हृदय के भीतर ही विचरता है। उस आत्मा का ओंकार के रूप में ध्यान करो, तुम्हारा कल्याण होगा, गाढान्धकार के भी परले पार ले जाने का यही साधन है॥६॥

जो सर्वज्ञ है, सर्ववित् है—सब जगह विद्यमान है, जिसकी महिमा भू-लोक में तथा दिव्य ब्रह्मपुर—ब्रह्म की नगरी—व्योम-लोक में हो रही है, जो आत्मा इन सब स्थानों में प्रतिष्ठित है, जो मनोमय है, जो प्राण और शरीर का नेता है, जो अन्न में भी प्रतिष्ठित है, धीर लोग हृदय (Emotion) तथा मस्तिष्क (Intelligence) के मेल से उसका दर्शन करते हैं। सृष्टि में जो आनन्द की, अमृत की झलक है—'आनन्दरूपम् अमृतं यद्विभाति'—यह उसी की झलक दीख रही है ॥७॥

सः—वह, एषः—यह (आत्मा), अन्तः—अन्दर, चरते—विचरता है, गति करता है, बहुधा—बहुत प्रकार से, जायमानः—प्रगट होता हुआ, ओम् इति—यह ही है 'ओम्', एवं—इस प्रकार (रूप में), ध्यायथ—ध्यान करो, आत्मानम्—आत्मा का, स्वस्ति—कल्याणपूर्वक, वः—तुम्हारे (अपने), पाराय—पार होने के लिए, तमसः—अन्धकार, अज्ञान से, परस्तात्—बहुत परे॥६॥

> यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि।
> दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः।
> मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
> तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥७॥

यः—जो, सर्वज्ञः—सर्वज्ञाता, सर्ववित्—सब जगह विद्यमान यस्य—जिसकी, एषः—यह, महिमा—प्रतिष्ठा, महत्त्व, बड़ाई, भुवि—पृथिवी पर, दिव्ये—दिव्य, असाधारण, ब्रह्मपुरे—ब्रह्मलोक (हृदय) में, हि—ही, एषः—यह परमात्मा, व्योम्नि—हृदयाकाश में, प्रतिष्ठितः—प्रतिष्ठा पा रहा है, मनोमयः—मनोगम्य, मन में रमा हुआ, प्राण-शरीरनेता—प्राण और शरीर का सञ्चालक, प्रतिष्ठितः—स्थित, अन्ने—अन्न में, भोग्य में, हृदयम्—हृदय को, सन्निधाय—स्थापित कर, तद्विज्ञानेन—उसके जानने से ही, परिपश्यन्ति—साक्षात् करते हैं, धीराः—धीर ज्ञानी, आनन्दरूपम्—आनन्दस्वरूप, अमृतम्—अमर, यत्—जो, विभाति—प्रकाशित हो रहा है ॥७॥

'हृदय' की सब गांठें (Emotional Complexes) टूट जाती हैं, मस्तिष्क के सब संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, मनुष्य जिन नाना कर्मों में व्याकुलता से भागा फिरता है वे छूट जाते हैं, जब उसका पर और अवर---ओर-छोर---दीख जाता है ॥८॥

हिरण्मय कोश---सोने का खजाना---जो तुम्हें दीखता है, इससे दूर एक आध्यात्मिक सुवर्ण का खजाना है। दुनिया के खजाने का सिक्का मैला है, कलदार है, उस खजाने का सिक्का निर्मल है, निष्कल है। तुम इस सोने की चमक से चकाचौंध हो रहे हो, उसे देखो, जो शुभ्र है, ज्योतियों की ज्योति है। संसार में रमने वाले इन खजानों के गीत गाते हैं, आत्मा को जानने वाले उस खजाने को जानते हैं जिसकी चमक के बराबर दुनिया में कोई चमक ही नहीं ॥९॥

उसकी ज्योति के सम्मुख सूर्य की ज्योति क्षीण हो जाती है; चन्द्र, तारे, विद्युत् वहां तेजोहीन हो जाते हैं; इस आग का तो कहना

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥८॥

भिद्यते—टूट जाती है; **हृदयग्रन्थिः**—हृदय में पड़ी अभिलाषाओं (काम) की गांठ; **छिद्यन्ते**—कट (मिट) जाते हैं, दूर हो जाते हैं; **सर्वसंशयाः**—सारे संशय; **क्षीयन्ते**—क्षीण (नष्ट) हो जाते हैं; **च**—और; **अस्य**—इसके; **कर्माणि**—योगक्षेम या प्रेयःप्राप्ति के लिए किये जानेवाले कर्म; **तस्मिन्**—उसके; **दृष्टे**—दीखने पर; **परावरे**—वार-पार, ओर-छोर (सीमा) के ॥८॥

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥९॥

हिरण्मये—सोने के बने; **परे**—श्रेष्ठ, उत्तम; **कोशे**—खज़ाने में, मियान में; **विरजम्**—मलरहित; **ब्रह्म**—ब्रह्म; **निष्कलम्**—निरवयव, प्राण आदि कलाओं से रहित; **तत्**—वह; **शुभ्रम्**—शुद्ध; **ज्योतिषां ज्योतिः**—प्रकाशकों (सूर्य-नक्षत्र आदि) का भी प्रकाशक; **तद्**—वह है; **यद्**—जिसको; **आत्मविदः**—(पूर्ववर्ती) आत्मज्ञानी (जीवात्मा के स्वरूप को जानने वाले) ही; **विदुः**—जानते हैं ॥९॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१०॥

न—नहीं; **तत्र**—उसमें; **सूर्यः**—सूर्य; **भाति**—प्रकाशित होता है; **न**—नहीं; **चन्द्र-तारकम्**—चन्द्र और तारे; **न**—नहीं; **इमाः**—ये; **विद्युतः**—

ही क्या ? उसकी ज्योति के पीछे ही सब प्रकाशित होते हैं, उसके प्रकाश से ही यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित हो रहा है ॥१०॥

अमृत ब्रह्म ही सामने है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दक्षिण में है, ब्रह्म ही उत्तर में है, नीचे ब्रह्म है, ऊपर ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण विश्व—संसार में जो-कुछ भी वरिष्ठ है, सब ब्रह्म-ही-ब्रह्म का प्रसार है, उसी का विस्तार है ॥११॥

तृतीय-मुण्डक—(प्रथम-खण्ड)

संसार-वृक्ष के दो पक्षी—एक द्रष्टा, दूसरा भोक्ता

दो पक्षी हैं, सुन्दर पंखों वाले, साथ-साथ जुड़े हुए, एक-दूसरे के सखा। एक ही वृक्ष को सब ओर से घेरे हुए हैं वे। उनमें से एक वृक्ष के फल को बड़े स्वाद से चख रहा है, दूसरा बिना चखे सब-कुछ देख रहा है। जीवात्मा तथा परमात्मा ही दो पक्षी हैं, प्रकृति ही वृक्ष है, कर्मफल ही वृक्ष का फल है। जीवात्मा को कर्मफल मिलता है, परमात्मा प्रकृति में सक्त हुए बिना सम्पूर्ण विश्व का द्रष्टा है (श्वेताश्वतर ४।६ में भी यही भाव है।) ॥१॥

बिजलियाँ; भान्ति—चमकती हैं; कुतः—कैसे, अयम्—यह, अग्निः—आग; तम् एव भान्तम् अनु भाति सर्वम्—उसके चमकने के बाद ही यह सब चमकता है, तस्य—उसकी, भासा—दीप्ति से, सर्वम् इदम्—सब कुछ यह, विभाति—चमकता है, प्रकाशित हो रहा है ॥१०॥

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥

ब्रह्म—ब्रह्म, एव—ही, इदम्—यह, अमृतम्—अमर, जरा-मरण रहित; पुरस्तात्—आगे, सामने; ब्रह्म—ब्रह्म ही, पश्चात्—पीछे की ओर, ब्रह्म—ब्रह्म; दक्षिणतः—दक्षिण की ओर, च—और, उत्तरेण—उत्तर की ओर; अधः—नीचे, च—और; ऊर्ध्वम्—ऊपर, च—और, प्रसृतम्—फैला है; ब्रह्म एव—ब्रह्म ही; इदम्—यह, विश्वम्—ब्रह्माण्ड, इदम्—यह, वरिष्ठम्—सर्वोत्कृष्ट ॥११॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखायः समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥१॥

द्वा—दो; सुपर्णा—अच्छे पंखों वाले, सयुजा—साथ-साथ जुड़े हुए, मिले हुए, अविच्छिन्न; सखाया—समान ख्याति (गुण) वाले; समानम्—

प्रकृति-रूपी वृक्ष तो दोनों के लिये समान ही है, परन्तु जीवात्मा तो उसके फल को देखकर बेबस हो जाता है, सामर्थ्यहीन हो जाता है, उसी के खाने में निमग्न हो जाता है, और पीछे अपनी मूर्खता पर पछताने लगता है। और परमात्मा? परमात्मा प्रकृति-रूपी वृक्ष के फल को नहीं खाता, और फिर भी भोक्ता बना हुआ है, सम्पूर्ण प्रकृति उसी की उपासना में लीन है। जीवात्मा जब परमात्मा की इस महिमा को देख लेता है, तब शोक करना, पछताना छोड़ देता है ॥२॥

जब जीवात्मा द्रष्टा बनकर, बृहत् विश्व के कारण, इसके स्वामी, इसके कर्ता, प्रकाश-स्वरूप पुरुष को देख लेता है, तब वह विद्वान्

एक ही; **वृक्षम्**—शरीर रूप या प्रकृति रूप वृक्ष को; **परिषस्वजाते**—चिपट रहे हैं, में व्याप्त हैं; **तयोः**—उन दोनों में से; **अन्यः**—एक (जीवात्मा); **पिप्पलम्**—पीपलीरूप कर्म-फल को, भोग को; **स्वादु**—स्वादपूर्वक; **अत्ति**—खाता है, भोगता है; **अनश्नन्**—न भोग करता हुआ (साक्षी रूप में); **अन्यः**—दूसरा (परमात्मा); **अभिचाकशीति**—दोनों (जीव और प्रकृति) को देख रहा है ॥१॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥२॥

समाने—एक ही; **वृक्षे**—शरीर-रूप वृक्ष में; **पुरुषः**—शरीरधारी जीवात्मा; **निमग्नः**—लीन, डूबा हुआ, फंसा हुआ; **अनीशया**—(भोग-तृप्ति में) असामर्थ्य से, दीन भाव से; **शोचति**—शोकाकुल हो जाता है; **मुह्यमानः**—मोह (अज्ञान) में पड़ा; **जुष्टम्**—शान्तिपूर्वक (क्रिया विशेषण) या भक्तों से सेवित (विशेषण); **यदा**—जब; **पश्यति**—(शरीर-वृक्ष के मोह को छोड़कर) देखता है; **अन्यम्**—दूसरे (अपने सखा-मित्र) को; **ईशम्**—समर्थ, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र (परमात्मा) को; **अस्य**—इसकी; **महिमानम्**—महिमा को; **इति**—तब, अतः; **वीतशोकः**—शोक रहित (हो जाता है) ॥२॥

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥३॥

यदा—जब; **पश्यः**—द्रष्टा (जीवात्मा); **पश्यते**—देखता है; **रुक्म-वर्णम्**—सुन्दर ज्योतिःस्वरूप; **कर्त्तारम्**—(निज शरीर-वृक्ष के) रचयिता को; **ईशम्**—प्रभु; **पुरुषम्**—प्रकृति-पुरी में व्याप्त; **ब्रह्म-योनिम्**—ब्रह्म (वेद) के



जीव प्रकृति का भोग करता है, ब्रह्म साक्षी-चेता है

होकर पुण्य-पाप को छोड़कर, शोक, मोह, राग, द्वेष से अलग होकर,
परम समता को प्राप्त कर लेता है ॥३॥

आधार या कारण, उपदेष्टा, आदि-गुरु को या सकल सृष्टि के रचयिता को, तदा —तब, विद्वान्—सत्य-ज्ञानी, पुण्य-पापे—पुण्य और पाप को (तज्जन्य सुख-दुःखों को), विधूय—झटक कर, हटा कर, निरञ्जन—निर्दोष, निष्कलंक, शुद्ध, परमम्—परम; साम्यम्—समता को, स्वस्थता को, शान्ति को, उपैति—प्राप्त होता है—शान्ति-लाभ करता है ॥३॥

विद्वान् पुरुष यह जान लेता है कि सृष्टि में जो पंच-महाभूतों की आभा छिटक रही है, यह वास्तव में उस ब्रह्म की उत्पन्न की हुई प्राण-शक्ति ही अठखेलियां कर रही है—यह सोचकर वह अधिक नहीं बोलता। उसकी क्रीड़ा का क्षेत्र प्रकृति नहीं रहती, आत्मा हो जाता है,—वह 'आत्म-क्रीड' हो जाता है; उसकी रति प्रकृति में नहीं, आत्मा में,—वह 'आत्म-रति' हो जाता है; आत्म-ज्ञान में लग जाने से वह क्रिया-हीन नहीं हो जाता, पहले से अधिक क्रियावान् हो जाता है। ब्रह्मवादियों में ऐसा व्यक्ति उच्च-कोटि का माना जाता है ॥४॥

वह आत्मा नित्य के 'सत्य' से, 'तप' से, 'सम्यक्-ज्ञान' से और 'ब्रह्मचर्य' से पाया जा सकता है। शरीर के भीतर ही वह शुभ्र ज्योतिर्मय रूप में विद्यमान है। यति लोग राग-द्वेष आदि दोषों का क्षय करके उसे देख पाते हैं ॥५॥

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥४॥

प्राणः—जीवन-दाता (ब्रह्म); हि—ही; एषः—यह है; यः—जो; सर्वभूतैः—सब भूतों के द्वारा; विभाति—प्रकाशित हो रहा है (सब जड़-चेतन उस ही का बखान कर रहे हैं); (यह बात) विजानन्—जानने वाला; विद्वान्—धीर ज्ञानी; भवते—होता है; न—नहीं; अतिवादी—बहुत बोलने वाला; आत्म-क्रीडः—अपने आत्मा में ही दिल बहलाव करने वाला (अन्तर्मुख); आत्म-रतिः—अपने आत्म-स्वरूप में रमने वाला; क्रियावान्—कर्म करने में तत्पर (हो जाता है); एषः—यह (कर्म-तत्पर) ज्ञानी ही; ब्रह्मविदाम्—ब्रह्म-ज्ञानियों में; वरिष्ठः—सर्वोत्कृष्ट है ॥४॥

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥५॥

सत्येन—सत्य से; लभ्यः—पाया जा सकता है; तपसा—तप (शरीर-साधना) से; हि—निश्चय रूप से; एषः—यह; आत्मा—ब्रह्म; सम्यग्ज्ञानेन—सही ज्ञान से; ब्रह्मचर्येण—ब्रह्मचर्य से; नित्यम्—लगातार, अव्याहत; अन्तः शरीरे—शरीर के अन्दर; ज्योतिर्मयः—प्रकाश का पुंज; हि—ही; शुभ्रः—निर्मल; यम्—जिसको; पश्यन्ति—साक्षात् करते हैं; यतयः—संयमी; क्षीण-दोषाः—जिनके शरीर-मन-बुद्धि-आत्मा के मल नष्ट हो गये हैं, वे ॥५॥

सत्य का ही विजय होता है, अनृत का नहीं। 'देवयान-पन्था'—देव की तरफ जाने वाला मार्ग सत्य से बना है। आप्तकाम-ऋषि जिस मार्ग से चलते हैं, जहां पहुंचते हैं, वह सत्य का ही परम-धाम है ॥६॥

वह स्वयं महान् है, दिव्य है, अचिन्त्य-रूप है, परन्तु सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वस्तु में भी प्रकाशित हो रहा है। वह दूर-से-दूर है, परन्तु देखने वालों के लिये निकट-से-निकट अन्तरात्मा की गुफा में मौजूद है ॥७॥

वह आंख से नहीं देखा जा सकता, दूसरे की वाणी के उपदेश से वह नहीं मिलता, अन्य इन्द्रियों से भी उसका ग्रहण नहीं होता, तपों से और भिन्न-भिन्न प्रकार के क्रिया-कर्मों से भी वह हाथ नहीं आता। क्या ज्ञान से वह मिल सकता है? ज्ञान से तो नहीं, परन्तु ज्ञान के प्रसाद से शुद्ध अन्तःकरण वाला व्यक्ति निष्कल ब्रह्म का ध्यान करता हुआ उसे देख पाता है ॥८॥

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥६॥

सत्यम् एव जयति—सत्य की ही विजय होती है, न अनृतम्—असत्य की नहीं, सत्येन—सत्य से, पन्थाः—मार्ग, विततः—विस्तृत होता है, निष्कण्टक होता है,—येन—जिस (मार्ग) से, आक्रमन्ति—चलते हैं, ऋषयः—द्रष्टा, हि—ही, आप्तकामाः—सफल-मनोरथ, कृतकृत्य, यत्र—जहां, तत्—वह सत्यस्य—सत्य का, परमम्—उत्कृष्ट, निधानम्—निधि, आधार, धाम ॥६॥

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥७॥

बृहत्—बड़ा ब्रह्म, च—और, तद्—वह, दिव्यम्—दिव्य, अचिन्त्य-रूपम्—जिसका रूप कल्पना का भी विषय नहीं, सूक्ष्मात् च तत् सूक्ष्मतरम्—और वह सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, विभाति—प्रकाशित हो रहा है, दूरात्—दूर से, सुदूरे—अति दूर, तद्—वह, इह—यहाँ, अन्तिके—पास में, च—और, पश्यत्सु—देखनेवाले (जिज्ञासुओं) में, इह एव—यहाँ ही, निहितम्—स्थित, विद्यमान, गुहायाम्—हृदय प्रदेश में ॥७॥

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥८॥

न—नहीं, चक्षुषा—आँख से, गृह्यते—ग्रहण किया जाता है, न अपि—ना ही, वाचा—वाणी से, न—नहीं, अन्यैः—दूसरे, देवैः—इन्द्रिया

('ज्ञान' और 'ज्ञान के प्रसाद' में क्या भेद है? 'ज्ञान' मनुष्य को मार्ग दिखाता है, एक मार्ग नहीं अनेक, परन्तु 'ज्ञान का प्रसाद' तब मिलता है, जब अनेक मार्ग देखकर मनुष्य एक मार्ग को ज्ञान-पूर्वक चुन लेता है, नहीं तो ज्ञान ही मनुष्य के लिये शान्ति के बजाय अशांति का कारण हो जाता है। ज्ञान-प्रसाद से 'निष्कल' ब्रह्म दीख जाता है। ब्रह्म को 'निष्कल' कहा है। कला का अर्थ है—भाग, हिस्सा। चन्द्र की कलाएं होती हैं, उसके भाग होते हैं। भाग या हिस्सा उसी वस्तु का होता है, जो सीमित हो, परिमित हो। ब्रह्म सीमित नहीं, परिमित नहीं, इसलिये उसकी कला भी नहीं, वह निष्कल है।)

आत्मा स्थूल नहीं, अणु है, सूक्ष्म है, अतः उसका ज्ञान इन्द्रियों से नहीं, चित्त से ही हो सकता है, परन्तु कठिनाई यह है कि चित्त में प्राण अपने पांच रूपों को लेकर आ घुसा है, और चित्त को आत्मा की तरफ़ नहीं जाने देता, अपनी तरफ़, जिस शरीर में पांचों प्राणों का भोग चल रहा है, उस शरीर की तरफ़ खींचता है। प्रभु की सम्पूर्ण प्रजा का चित्त-रूपी मनका प्राणों के धागे में ओत है, अर्थात् पिरोया हुआ है। आत्मा की तरफ़ जाने के बजाय, चित्त, प्राणों की तरफ़,

---

से; **तपसा**—तप से; **कर्मणा**—कर्म से; **वा**—या; **ज्ञान-प्रसादेन**—ज्ञान की निर्मलता से, सम्यग्ज्ञान से; **विशुद्धसत्त्वः**—पवित्र बुद्धि (अन्तःकरण) वाला; **ततः**—उस (बुद्धि की निर्मलता) से; **तु**—तो; **तम्**—उसको; **पश्यते**—साक्षात् करता है; **निष्कलम्**—षोडश कलाओं (अवयवों) से रहित; **ध्यायमानः**—ध्यान-चिन्तन करता हुआ ॥८॥

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥९॥

एषः—यह; **अणुः**—अणु-परिमाण, सूक्ष्म; **आत्मा**—आत्मा (जीव); **चेतसा**—चित्त से; **वेदितव्यः**—जानने योग्य है; **यस्मिन्**—जिस (चित्त) में; **प्राणः**—प्राण वायु; **पंचधा**—पाँच (अपान आदि) रूप में; **संविवेश**—प्रविष्ट हुआ है; **प्राणैः**—इन पाँचों प्राणों से; **चित्तम्**—चित्त; **सर्वम्**—सारा ही; **ओतम्**—व्याप्त है; **प्रजानाम्**—सब प्राणधारियों का; **यस्मिन् विशुद्धे**—जिसके निर्मल हो जाने पर; **विभवति**—अपने को विशेषकर प्रकाशित करता है या वैभव (सामर्थ्य) से सम्पन्न होता है; **एषः**—यह; **आत्मा**—जीवात्मा ॥९॥

शरीर के भोगों की तरफ चल रहा है। चित्त-रूपी मनके को प्राणों के धागे में से निकालकर आत्मा के धागे में पिरोने की आवश्यकता है। आत्मा के धागे में पिरोये जाने पर चित्त शुद्ध हो जाता है, निर्मल हो जाता है, और प्राणों की तरफ़ खिचने के स्थान में दर्पण की तरह विशुद्ध हो जाता है, चित्त के विशुद्ध हो जाने पर उसमें आत्मा की आभा दीख पड़ती है ॥९॥

संसारी लोग भोगों की तरफ़ भाग रहे हैं, परन्तु अगर संसार की विभूतियों की ही कामना हो, तो भी ब्रह्म-ज्ञानी के चरणों में ही जाने की आवश्यकता है, क्योंकि अन्तःकरण शुद्ध हो जाने के पश्चात् आत्मज्ञ जिस-जिस लोक में जाने का मानस-संकल्प करता है, या जो-जो कामना करता है, उसी-उसी लोक में वह पहुंच जाता है, और उसकी वही-वही कामना पूर्ण हो जाती है ॥१०॥

तृतीय-मुण्डक—(द्वितीय खण्ड)

ब्रह्म-ज्ञान से मनुष्य की क्या अवस्था हो जाती है ?

जिस ब्रह्म-ज्ञानी का अभी वर्णन किया वह ब्रह्म के परम-धाम को जानता है। ब्रह्म के उस परम-धाम के कारण ही यह विश्व शुभ्र

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥१०॥

यम्-यम्—जिस-जिस; लोकम्—लोक को, स्थिति को; मनसा—मन से; संविभाति—प्रकाशित करता है, संकल्प करता है; विशुद्धसत्त्वः—शुद्ध अन्तःकरण (बुद्धि) वाला; कामयते—चाहना करता है; यान्+च—और जिन; कामान्—काम-भोगों की; तम्-तम्—उस-उस; लोकम्—लोक को, जयते—जीत लेता है; प्राप्त कर लेता है; तान्+च—और उन, कामान्—काम-भोगों को; तस्मात्—उस कारण से; आत्मज्ञम्—आत्म-ज्ञानी की, हि—अवश्य; अर्चयेत्—पूजा करे, मान करे, भूतिकामः—ऐश्वर्य (कल्याण) का इच्छुक ॥१०॥

स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥१॥

सः—वह; वेद—जानता है; एतत्—इस; परमम्—श्रेष्ठ; ब्रह्म-धाम—ब्रह्म लोक को; यत्र—जिसमें; विश्वम्—सकल जगत्; निहितम्—

रूप में भास रहा है। इस विश्व का तेज उस ब्रह्म का ही तेज है। जो धीर, कामना-रहित होकर उस पुरुष-रूप ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे योनि से योनि में चक्कर लगाने के मार्ग को लांघ जाते हैं ॥१॥

जो व्यक्ति कामनाओं को ही सब-कुछ माने बैठा है, उन्हीं की आराधना करता है, वह उन कामनाओं से भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न होता है। जिस व्यक्ति के लिये कामनाएं पर्याप्त हो चुकी हैं, बहुत हो चुकी हैं, अब उनमें वह नहीं फंसा हुआ, वह 'कृतात्मा' हो जाता है, उसका सब ध्यान 'आत्मा' में लग जाता है, और उसकी सब कामनाएं यहीं लीन हो जाती हैं। कामनाएं बनी रहें, लीन न हों, इसीलिये तो भिन्न-भिन्न योनियों का द्वार देखना पड़ता है ॥२॥

आत्मा बड़े-बड़े भाषणों से नहीं मिलता, तर्क-वितर्क से नहीं मिलता, बहुत-कुछ पढ़ने-सुनने से नहीं मिलता। जिसको यह वर लेता है, वही इसे प्राप्त कर सकता है, उसके सामने आत्मा अपने स्वरूप को खोलकर रख देता है ॥३॥

स्थित; **भाति**—प्रतीत होता है; **शुभ्रम्**—शोभा-संपन्न; **उपासते**—उपासना करते हैं; **पुरुषम्**—पुरुष की; **ये**—जो; **हि**—ही; **अकामाः**—कामना से रहित होकर; **ते**—वे; **शुक्रम्**—वीर्य को, वीर्य से उत्पत्ति को, जन्म-मरण को; **अतिवर्तन्ति**—लाँघ जाते हैं; **धीराः**—धीर ज्ञानी ॥१॥

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥२॥

कामान्—काम-भोगों को; **यः**—जो; **कामयते**—चाहना करता है; **मन्यमानः**—जानता-बूझता भी; **सः**—वह; **कामभिः**—इन कामनाओं के प्रभाव से; **जायते**—जन्म लेता है; **तत्र-तत्र**—वहाँ-वहाँ ही; **पर्याप्तकामस्य**—सफल मनोरथ (कामना-शून्य); **कृतात्मनः**—कृती—कृतकृत्य, आत्म-जयी के; **तु**—तो; **इह एव**—यहाँ ही; **सर्वे**—सारी; **प्रविलीयन्ति**—नष्ट हो जाती हैं; **कामाः**—कामनाएँ ॥२॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥३॥

न अयम् आत्मा—नहीं यह आत्मा; **प्रवचनेन**—शास्त्रोपदेश से, भाषणों से; **लभ्यः**—पाया जा सकता है; **न मेधया**—न अधिक बुद्धि-विकास से; **न बहुना श्रुतेन**—न ही बहुत अधिक शास्त्राध्ययन से; **यम् एव एषः**—जिसको ही

आत्मा को शारीरिक बल से हीन व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकता, मानसिक प्रमाद में पड़ा हुआ व्यक्ति भी इसे प्राप्त नहीं कर सकता, अलिंग-'तप'—प्रयोजन-हीन-तपस्या—करने वाला भी इसे प्राप्त नहीं कर सकता। जो यह सब-कुछ जानता-बूझता इन उपायों से उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, उसे आत्मा तो प्राप्त क्या होना था, आत्मा उससे पीठ फेरकर अपने ब्रह्म-धाम में जा छिपता है; उसके सामने प्रकट ही नहीं होता ॥४॥

ज्ञान से तृप्त, आत्माराधन में दिन-रात लगे हुए, वीतराग, प्रशांत ऋषि, आत्मा को प्राप्त करके, अपने आत्मा को परमात्मा से जोड़ देते हैं। परमात्मा सब जगह पहुंचने वाला है, वे अपने को परमात्मा के साथ सब ओर से जोड़ लेते हैं, फिर परमात्मा के साथ-साथ जहां वह पहुंचता है, वहां आत्मा भी जा पहुंचता है। जब पल्ला उसके साथ बांध दिया तब उससे छुड़ा कौन सकता है? ॥५॥

यह (आत्मा); वृणुते—वरण करता है, अधिकारी समझता है; तेन लभ्यः—वह ही पा सकता है; तस्य—उसके लिए, एषः आत्मा—यह आत्मा; विवृणुते—उद्घाटित कर देता है, प्रगट कर देता है; तनुम्—स्वरूप को, स्वाम्—अपने ॥३॥

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥४॥

न अयम् आत्मा—नहीं यह आत्मा; बलहीनेन—(शारीरिक-मानसिक-बौद्धिक-आत्मिक) बल से वंचित, लभ्यः—पाया जा सकता, ज्ञेय है, न च—और नहीं; प्रमादात्—प्रमाद से, चित्त के व्यवस्थित न होने से, तपसः—तप से; वा अपि—या भी, अलिङ्गात्—लिङ्ग (प्रयोजन, उद्देश्य) से हीन; निष्कारण, व्यर्थ; एतैः—इन; उपायैः—उपायों से, साधनों से; यतते—(जानने का) प्रयत्न करता है, यः—जो; तु—तो; विद्वान्—जानकार, समझदार; तस्य—उसका ही; एषः आत्मा—यह जीवात्मा; विशते—प्राप्त करता है, ब्रह्म-धाम—ब्रह्म-लोक को, (विशते ब्रह्मधाम—ब्रह्मलोक में प्रवेश पाता है, ब्रह्म को जान लेता है) ॥४॥

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥५॥

संप्राप्य—प्राप्त कर; एनम्—इस परमात्मा को; ऋषयः—ज्ञानी ऋषि;

जो 'वेदान्त' (Religion) और 'विज्ञान' (Science) से जीवन के लक्ष्य को निश्चित-रूप से जान गये हैं, जो संसार में 'संन्यास' (Detachment) और 'योग' (Attachment) से यति हो गये हैं, जो शुद्धान्तःकरण हैं, वे परम-'अन्तकाल' में परम-'अमृत' होकर ब्रह्म-लोक में चले जाते हैं, और बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं ॥६॥

उनकी पन्द्रहों कलाएं (पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां तथा पांच प्राण) समाप्त हो जाती हैं, सोलहवां निष्कल आत्मा रह जाता है, उनकी इन्द्रियां अपने कारणों में लीन हो जाती हैं, उनके कर्म भी निःशेष हो जाते हैं, और विज्ञानमय 'आत्मा' (Super-Consciousness) अव्यय 'परमात्मा' (Eternal Principle) में जा पहुंचता है। उस अव्यय-ब्रह्म में सब एक हो जाते हैं ॥७॥

ज्ञानतृप्ताः—ब्रह्म-ज्ञान से पूर्ण सन्तुष्ट (छके हुए); कृतात्मानः—आत्म-ज्ञान में तत्पर, आत्म-जयी; वीतरागाः—राग-द्वेष से मुक्त, कामना-शून्य; प्रशान्ताः—शान्त चित्तवाले; ते—वे (ऋषि); सर्वगम्—सब में विद्यमान; सर्वतः—सब ओर से, पूर्णतया; प्राप्य—प्राप्त कर, धीराः—धीर ज्ञानी; युक्तात्मानः—समाहित चित्तवाले, समाधि अवस्था को प्राप्त; सर्वम्—सर्वरूप, सर्वान्तर्यामी भगवान् में; एव—ही; आविशन्ति—प्रविष्ट हो जाते हैं, उसे प्राप्त कर लेते हैं ॥५॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥६॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः—वेदान्त (वेद के सिद्धान्त, धर्म) और विज्ञान (साइन्स) से जिन्होंने अपने लक्ष्य को निश्चित कर लिया है या वेदान्त (ब्रह्मविद्या) के ज्ञान से अपने लक्ष्य को स्थिरता से निश्चय करने वाले; संन्यास-योगात्—(एषणाओं—सांसारिक भोगों के) त्याग और (आत्मा के साथ) योग (समाहित-चित्तता) से; यतयः—संयमी या प्रयत्नशील; शुद्धसत्त्वाः—शुद्ध अन्तःकरण वाले; ते—वे; ब्रह्मलोकेषु—ब्रह्म-धाम में, मोक्ष में; परान्तकाले—परम (श्रेष्ठ) अन्तकाल में (मृत्यु होने पर); पर+अमृताः—परम अमर हुए; परिमुच्यन्ति—मुक्त हो जाते हैं; सर्वे—सारे ही ॥६॥

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥७॥

गताः—चली जाती हैं; कलाः—प्राण आदि कलाएँ; पञ्चदश—पन्द्रह; प्रतिष्ठाः—अपने कारण भूत आधार में; देवाः च—और (देहाश्रय) चक्षु आदि इन्द्रियाँ; सर्वे—सारी; प्रति (गताः)—(कारणभूत देवताओं) की ओर;

जैसे नदियां बहती हैं, और बहते-बहते अपना-अपना पृथक् नाम और रूप छोडकर समुद्र में अस्त हो जाती हैं, इसी प्रकार विद्वान् पुरुष नाम-रूप से छूटकर परे-से-परे दिव्य-पुरुष के निकट पहुंच जाता है ॥८॥

जो उस परम-ब्रह्म को जान जाता है, वह मानो ब्रह्म ही हो जाता है, उसके कुल में भी कोई ब्रह्म को न जानने वाला नहीं रहता। हृदय तथा मस्तिष्क की भीतरी गुफाओं में जो ग्रन्थियां (Complexes) पड़ी रहती हैं, उनसे छूटकर वह अमृत हो जाता है, शोक को तर जाता है, पाप को तर जाता है ॥९॥

देवतासु—सूर्य आदि देवताओं में (लीन हो जाती हैं), कर्माणि—किये (शुभ) कर्म, विज्ञानमय च—और ज्ञानस्वरूप (चित्स्वरूप), आत्मा—जीवात्मा, परे अव्यये—सब से परे अविनाशी ब्रह्म में, सर्वे—सारे ही, एकीभवन्ति—एक हो जाते हैं ॥७॥

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥८॥

यथा—जैसे, नद्यः—नदियां, स्यन्दमानाः—बहती हुई, समुद्रे—समुद्र में, अस्तं गच्छन्ति—लीन हो जाती हैं, नामरूपे—अपने नाम और आकृति को, विहाय—छोडकर, तथा—वैसे ही, विद्वान्—ब्रह्मज्ञानी, नामरूपाद्—नाम और आकृति से, विमुक्तः—मुक्त हुआ, परात्परम्—सर्वोत्कृष्ट, परे-से-परे, पुरुषम्—प्रकृति में व्याप्त ब्रह्म के, उपैति—समीप पहुंच जाता है, दिव्यम्—दिव्य, अलौकिक ॥८॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥९॥

सः—वह, यः—जो, ह वै—निश्चय से, तत्—उस, परमम्—सब से उत्कृष्ट, ब्रह्म—ब्रह्म को, वेद—जान लेता है, ब्रह्म—ब्रह्म, एव—ही, भवति—हो जाता है, (ब्रह्म एव भवति—ब्रह्म के समान सत् चिद्-आनन्द स्वरूप वाला हो जाता है), न—नहीं, अस्य—इसके, अब्रह्मवित्—ब्रह्म को न जानने वाला, कुले—खानदान में, भवति—होता है, तरति—पार कर जाता है, शोकम्—शोक को, (तरति शोकम्—शोक से मुक्त—वीतशोक—हो जाता है), तरति पाप्मानम्—पाप से रहित (निष्पाप) हो जाता है, गुहा-ग्रन्थिभ्यः—(हृदय-बुद्धि की) रहस्यपूर्ण उलझनों से, विमुक्तः—मुक्त, अमृतः—अमर, मुक्त, भवति—हो जाता है ॥९॥

ऋचाओं में भी कहा है—ब्रह्मनिष्ठ क्रियाशील श्रोत्रिय जगह-जगह न भटक कर श्रद्धा-पूर्वक स्वयं किसी एक ब्रह्म-ज्ञानी ऋषि के चरणों में उपस्थित होते हैं। इस प्रकार ऋषि के पास जो जिज्ञासु स्वयं पहुंचते हैं, जो विधि-पूर्वक इस व्रत को अपने सिर पर ही लेते हैं, दूसरों का सहारा नहीं लेते, उन्हें 'ब्रह्म-विद्या' का उपदेश दे ॥१०॥

किसी पुरातन-काल में अंगिरा ऋषि ने उक्त तथ्यों का उपदेश दिया था। संकल्प-शक्ति-हीन व्यक्ति इस पाठ को नहीं पढ़ सकता। उन परम ऋषियों को नमस्कार हो, नमस्कार हो ॥११॥

(इस उपनिषद् में 'परा' तथा 'अपरा' विद्या का वर्णन करते हुए यह बतलाया है कि यज्ञ-याग आदि 'कर्मकांड' अपरा-विद्या है—इनसे पर-ब्रह्म प्राप्त नहीं होता, ईश्वर-प्रणिधान आदि 'ज्ञान-कांड' परा-विद्या है—इसी से ब्रह्म प्राप्त होता है। और, वास्तव में 'अपरा' तो अविद्या है, परा ही यथार्थ में विद्या है—क्योंकि परा

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्।
क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥१०॥

तद् एतत्—वह यह बात; ऋचा—ऋचा (मंत्र) ने भी; अभ्युक्तम्—कही है; क्रियावन्तः—कर्मशील; श्रोत्रियाः—श्रुति (वेद) के मर्मज्ञ; ब्रह्मनिष्ठाः—ब्रह्म-ध्यान में मग्न; स्वयम्—स्वयम्; जुह्वते—स्वीकार करते हैं, पास जाते हैं; एकर्षिम्—अद्वितीय नामी ज्ञानी को; श्रद्धयन्तः—श्रद्धा रखते हुए, तेषाम्—उनको; एव—ही; एताम्—इस; ब्रह्मविद्याम्—ब्रह्मज्ञान (परा विद्या) को; वदेत—कहे; उपदेश करे; शिरोव्रतम्—मुख्य व्रत को; विधिवत्—विधि-पूर्वक; यैः—जिन्होंने; तु—तो; चीर्णम्—आचरण किया है ॥१०॥

तदेतत्सत्यमृषिरंगिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते।
नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥११॥

तद् एतत् सत्यम्—उस इस सत्य को; ऋषिः अंगिराः—अंगिरा ऋषि ने; पुरा—पुरातन काल में; उवाच—कहा था; न—नहीं; एतद्—इसको; अचीर्णव्रतः—व्रत का आचरण न करने वाला; अधीते—अध्ययन करता है, सीखता है; नमः परमऋषिभ्यः—परम ऋषियों को हमारा प्रणाम है; नमः परमऋषिभ्यः—परम ऋषियों को हमारा पुनः प्रणाम है ॥११॥

से ही ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त होता है। ब्रह्म से ही जगत् का विस्तार होता है—इसका क्या अर्थ ? । यह विस्तार कैसे होता है ? इसमें दृष्टांत दिया है—जैसे मकड़ी अपने में से जाला बना डालती है, और फिर समेट लेती है ! वेदान्ती इसका अर्थ अद्वैत-परक करते है, द्वैत-वादी द्वैत-परक । मकडी अपने में से जो जाला निकालती है, वह अपने शरीर में से ही तो निकालती है, अपने ही में से, अपने आत्म-तत्त्व में से तो नही निकालती । ब्रह्म भी अपने शरीर मे से, और प्रकृति ही उसका शरीर है, इस विश्व की रचना कर डालता है। इसी द्वैतभाव के आधार पर दो पक्षी है, जो प्रकृति-रूपी वृक्ष पर रहते है—यह विचार, जो इसी उपनिषद् में है, समझ में आ सकता है।)

माण्डूक्योपनिषद् में वर्णित शरीर में 'जीव' तथा प्रकृति में 'ब्रह्म' के स्वरूप का चित्र में वर्णन

प्रथम 'अवस्था' या 'स्थान'—जाग्रत्	द्वितीय 'अवस्था' या 'स्थान'—स्वप्न	तृतीय 'अवस्था' या 'स्थान'—सुषुप्ति	चतुर्थ 'अवस्था'—तुरीय
शरीर तथा प्रकृति की जो 'जागृतावस्था' है वह जीव तथा ब्रह्म का 'जाग्रत्-स्थान' है।	शरीर तथा प्रकृति की जो 'स्वप्नावस्था' है वह जीव तथा ब्रह्म का 'स्वप्न-स्थान' है।	शरीर तथा प्रकृति की जो 'सुषुप्तावस्था' है वह जीव तथा ब्रह्म का 'सुषुप्त-स्थान' है।	अदृष्ट
जाग्रत्-स्थान में जीव तथा ब्रह्म दोनों 'बहिःप्रज्ञ' (Extrovert) होते हैं।	स्वप्न-स्थान में जीव तथा ब्रह्म दोनों 'अन्तःप्रज्ञ' (Introvert) होते हैं।	सुषुप्त-स्थान में जीव 'प्रज्ञ' (Consciousness) तथा ब्रह्म 'प्रज्ञानघन' (Concentric Consciousness) है।	अचिन्त्य
जाग्रत्-स्थान में जीव तथा ब्रह्म का शरीर 'वैश्वानर' है। (क) जीव का शरीर 'वैश्वानर' है, अर्थात् उसमें 'व्यक्तित्व' (Individuality) पैदा हो जाता है, (ख) ब्रह्म का शरीर 'वैश्वानर' है, अर्थात् उसके शरीर—'प्रकृति'—में 'व्यक्तत्व' (Definiteness) आ जाता है।	स्वप्न-स्थान में जीव तथा ब्रह्म का शरीर 'तैजस' है। (क) जीव का शरीर 'तैजस' है, अर्थात् स्वप्न में तेजोमय-मन (Sub-conscious) जाग उठता है। (ख) ब्रह्म का शरीर 'तैजस' है, अर्थात् इस समय प्रकृति 'हिरण्यगर्भ' (Nebular) अवस्था में है।	सुषुप्त-स्थान में जीव तथा ब्रह्म का शरीर 'प्राज्ञ' है। (क) जीव का शरीर प्राज्ञ=प्र+अज्ञ (Unconscious) है। (ख) ब्रह्म का शरीर—प्रकृति—प्राज्ञ—अज्ञानावस्था में (Indefinite) है।	अव्यवहार्य अग्राह्य अव्यपदेश्य
जाग्रत्-स्थान में जीव शरीर द्वारा और ब्रह्म प्रकृति द्वारा 'स्थूल-भुक्' कहलाता है।	स्वप्न-स्थान में जीव शरीर द्वारा और ब्रह्म प्रकृति द्वारा 'प्रविविक्त-भुक्' कहलाता है।	सुषुप्त-स्थान में जीव शरीर द्वारा तथा ब्रह्म प्रकृति द्वारा 'आनन्द-भुक्' कहलाता है।	निर्गुण
जाग्रत्-स्थान में जीव तथा ब्रह्म दोनों 'सप्तांग' तथा 'एकोनविंशति मुख' हैं।	स्वप्न-स्थान में जीव तथा ब्रह्म दोनों 'सप्तांग' तथा 'एकोनविंशति मुख' हैं।	सुषुप्त-स्थान में जीव तथा ब्रह्म दोनों 'चेतोमुख' हैं।	नेति, नेति
अ (प्रथम पाद)	उ (द्वितीय पाद)	म् (तृतीय पाद)	अमात्र (चतुर्थ पाद)
'अ'-'उ'-'म्'—यह 'जीव' तथा 'ब्रह्म' का त्रिमात्र-रूप, सगुण-रूप, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति का रूप है।			जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिसे परे जीव तथा ब्रह्म का तुरीय, अमात्र, निर्गुण रूप है।

माण्डूक्योपनिषद्

'ओम्'—यह एक छोटा-सा अक्षर है, परन्तु निखिल संसार इसी एक अक्षर की व्याख्या है, भूत-वर्तमान-भविष्यत्—सब ओंकार का ही विस्तार है। जो भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्—इन तीनों कालों में नहीं समाता, जो त्रिकालातीत है, वह भी ओंकार का ही प्रसार है ॥१॥

यह सम्पूर्ण विश्व—'ब्रह्मांड'—ब्रह्म है, अर्थात् ब्रह्म का विस्तार है; इसी प्रकार हम-सबका यह 'पिंड' भी ब्रह्म है, अर्थात् जैसे ब्रह्मांड में ब्रह्म का विस्तार विश्व है, वैसे ब्रह्म की भांति पिंड में जीव का विस्तार शरीर है। 'आत्मा' के, अर्थात् ब्रह्मांड में 'ब्रह्म' तथा पिंड में 'जीवात्मा' के चार पाद हैं, अर्थात् इन दोनों की अनुभूति के चार स्थान हैं, चार जगह हैं, जहां इन्हें पाया जा सकता है ॥२॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ॥१॥

ओम्—ओमपदवाच्य ब्रह्म या 'ओम्' यह पद, इति एतद्—यह ही, अक्षरम्—अविनाशी या वर्ण-समूह, इदम्—यह (दृश्यमान), सर्वम्—सब (जगत्), तस्य—उस (अक्षर) का, उपव्याख्यानम्—व्याख्या करने वाला, स्पष्ट (प्रकट-ज्ञात) कराने वाला है, भूतम्—जो पहिले उत्पन्न हो चुका है, भवद्—जो उत्पन्न हो रहा है, भविष्यत्—जो आगे उत्पन्न होगा, इति—यह, सर्वम्—सब कुछ, ओंकारः—ओंकार, एव—ही (है) अथवा ओंकारे एव—ओंकार (ब्रह्म) में ही है, ईश से आवास्य (ईशावास्यम्) है, यत् च—और जो, अन्यत्—दूसरा (इस ब्रह्म या दृश्यमान जगत् से भिन्न) है, त्रिकाल+अतीतम्—तीनों कालों की मर्यादा से मुक्त (जीवात्मा या प्रकृति), तद् अपि—वह भी, ओंकारे एव—ओम्पद वाच्य ब्रह्म में ही है ॥१॥

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥२॥

सर्वम् हि एतद्—यह सब कुछ ही, ब्रह्म—ब्रह्म है, अयम्—यह, आत्मा—आत्मा भी, ब्रह्म—ब्रह्म है, स—वह, अयम्—यह, आत्मा—आत्मा, चतुष्पात्—चार पाँव (स्थान-अवस्थिति) वाला या चार प्रकार से प्राप्तव्य है ॥२॥

'आत्मा', अर्थात् 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' का प्रथम-पाद, प्रथम-स्थान वह है जिसे हम 'शरीर' तथा 'प्रकृति' की जागृतावस्था कहते हैं। जब चेतना अन्दर से बाहर आती है तब शरीर की जागृतावस्था होती है। 'जागृतावस्था' में 'चेतना' भीतर से निकलकर 'जाग्रत्-स्थान' में आ जाती है। कौन-सी चेतना ? 'जीव' की चेतना शरीर में, और 'ब्रह्म' की चेतना विश्व में, प्रत्यक्ष-रूप में आ बैठती है। जागती हुई अवस्था में, 'जीव' के लिये 'शरीर' तथा 'ब्रह्म' के लिये 'प्रकृति' ही, उसका स्थान है, जगह है, यहीं इन्हें ढूंढा जा सकता है, पाया जा सकता है। मानो उस समय ब्रह्म, जीव की तरह, अन्दर से बाहर आ बैठता है। उस अवस्था में जीव अपना कार्य-क्षेत्र शरीर को बना लेता है, ब्रह्म इस विशाल प्रकृति को। फिर जहां कोई काम कर रहा होगा, वहीं तो उससे मिला जा सकेगा। शरीर में हम झट जीवात्मा को पा लेंगे, प्रकृति में ब्रह्म को। शरीर 'जागृतावस्था' में तभी तो आता है, जब जीवात्मा 'जाग्रत्-स्थान' में आ बैठता है, तब शरीर की ओट हटा देने से ही जीवात्मा मानो नज़र आ जाता है। प्रकृति भी तो इस सुन्दर रूप में तभी प्रकट होती है, जब विश्वकर्मा के रूप में ब्रह्म हमारे सामने आ बैठता है। वह हमारे इतना निकट आ बैठता है कि प्रकृति की ओट हटाते ही वह मानो हमें दीखने लगता है। जैसे 'जीवात्मा' जब जाग्रत्-'स्थान' में आ बैठता है तब 'बहिःप्रज्ञ' होता है, अन्दर की तरफ़ नहीं बाहर की तरफ़ उसका ध्यान होता है, वैसे 'ब्रह्म' जब सृष्टि को रचकर उसमें मानो आ बैठता है तब, उस अवस्था में, वह भी 'बहिःप्रज्ञ' है। ब्रह्म तत्त्वतः प्रज्ञा-रूप है।

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशति-
मुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥३॥

जागरितस्थानः—जाग्रद्-अवस्थावाला; बहिःप्रज्ञः—बाहर की ओर प्रज्ञा (ज्ञान) वाला, बहिर्मुख; सप्तांगः—सात (इन्द्रिय रूप) अंगों वाला; एकोनविंशतिमुखः—उन्नीस (१० ज्ञान-कर्म इन्द्रिय, ५ प्राण, ४ अन्तःकरण) मुखों से भोगनेवाला; स्थूलभुक्—स्थूल वस्तुओं का भोक्ता (ज्ञाता); वैश्वानरः—सब (करणों) का नेता, सब नरों (प्राणियों) में रहने वाला, अग्नि; प्रथमः—पहला; पादः—ज्ञान का स्थान (क्षेत्र) है ॥३॥

प्रज्ञा जब विकास की तरफ चल पड़ती है तब अन्दर से बाहर की ओर चलती है, अतः विकसित सृष्टि के रूप में वह 'बहि-प्रज्ञ' कहलाता है। जैसे 'जीवात्मा' के जाग्रत्-स्थान में आ बैठने पर सिर, आंख, कान, वाणी, फेफड़े, हृदय तथा पांव—ये सात अंग हैं, वैसे 'ब्रह्म' के विकसित सृष्टि के रूप में प्रकट होने पर—'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ, दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः, वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य, पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा' (मुण्डक)—अग्नि सिर है, सूर्य-चन्द्र आंखें हैं, दिशाएं कान हैं, वेद वाणी हैं, वायु फेफड़े हैं, विश्व हृदय है, पृथिवी पांव है। 'जीवात्मा' की तरह 'ब्रह्म' के भी बहि.प्रज्ञावस्था में ये सात अंग हैं, अत. जाग्रत्-स्थान में जीव तथा ब्रह्म दोनों को 'सप्तांग' कहा है। अंगों का काम संसार का भोग करना है, भोग का प्रतिनिधि मुख है, जिससे खाया जाता है। जीवात्मा के पास भोग के १९ साधन हैं, इसके १९ मुख हैं जिनसे यह संसार को भोगता है। ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ प्राण ये १५ 'बाह्य-करण' तथा ४ 'अन्तः-करण' (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार)—ये १९ मुख हैं जिनसे जीवात्मा संसार का भोग करता है। ब्रह्म भी, संसार के सम्पूर्ण प्राणियों के इन १९ मुखों से 'जाग्रत्-स्थान' में बैठकर 'बहि प्रज्ञावस्था' में, जीवात्मा की तरह इन प्राणियों द्वारा स्थूल-संसार का भोग कर रहा है—इसलिये वह भी 'स्थूल-भुक्' है। जाग्रत्-स्थान में बैठा हुआ जीवात्मा विश्व के व्यष्टि-रूप, अर्थात् एक-एक व्यक्तिरूप नर-नारी (Individuality) के रूप में है, इसलिये जीवात्मा की यह अवस्था 'वैश्वानर' कहलाती है; ब्रह्म भी बहिःप्रज्ञावस्था में समष्टिरूप नर-नारायण के रूप में ही प्रकट होता है, अर्थात्, सब नर-नारियों के अलग-अलग शरीर मिलकर उसका एक विश्व-शरीर बनता है जो 'वैश्वानर' है, अतः ब्रह्म की इस अवस्था को भी 'वैश्वानर' ही कहा जाता है ॥३॥

(जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएं हैं जिनका सभी को अनुभव है। अवस्थाएं शरीर की हैं, जीवात्मा की नहीं। जीवात्मा की तो सदा एक ही अवस्था रहती है, शरीर की अवस्थाएं बदलती रहती हैं। 'जागृतावस्था' शरीर की है, 'जाग्रत्-स्थान'

जीवात्मा का है। 'अवस्था' तथा 'स्थान' में भेद है। जब शरीर 'जागृत-अवस्था' में होता है, तब जीवात्मा 'जाग्रत्-स्थान' में होता है, जब शरीर 'स्वप्नावस्था' में होता है, तब जीवात्मा 'स्वप्न-स्थान' में होता है, जब शरीर 'सुषुप्तावस्था' में होता है, तब जीवात्मा का 'सुषुप्त-स्थान' है। सृष्टि की भी विकृति के रूप में कार्य-रूप सृष्टि (जागृतावस्था), महत्-अहंकार-पंचतन्मात्र के रूप में कारण-रूप सृष्टि (स्वप्नावस्था), सत्त्व-रज-तम की साम्या-वस्था-रूप सृष्टि (सुषुप्तावस्था)—ये तीन अवस्थाएं हैं, और इन अवस्थाओं के कारण ब्रह्म के भी जाग्रत्-स्थान, स्वप्न-स्थान तथा सुषुप्त-स्थान—ये तीन 'स्थान' हैं। 'जीवात्मा' की तथा 'ब्रह्म' की 'अवस्था' तो एक ही रहती है, परन्तु इनकी क्रिया-शक्ति के स्थान बदलते रहते हैं। जिस स्थान में इनकी क्रिया (Function) हो रही है, वही इनका स्थान है। जीवात्मा की जब जाग्रत्-स्थान में क्रिया हो रही है, तब इसका जाग्रत्-स्थान है, जब स्वप्न-स्थान में क्रिया हो रही है, तब इसका स्वप्न-स्थान है, जब सुषुप्त-स्थान में क्रिया हो रही है, तब इसका सुषुप्त-स्थान है। इसी प्रकार ब्रह्म की जब सृष्टि की रचना में क्रिया हो रही है, तब उसका जाग्रत्-स्थान है, जब सृष्टि के निर्माण का आयोजन (Planning) हो रहा है, तब उसका स्वप्न-स्थान है, जब सृष्टि विलीन हो गई है, तब उसका सुषुप्त-स्थान है। इन तीनों स्थानों से निकलकर जीवात्मा तथा ब्रह्म जब अपने स्वरूप में होते हैं, तब वह तुरीय-स्थान है। शरीर की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन अवस्थाओं के कारण जैसे 'जीवात्मा' तीन स्थानों में रहता है, और इन तीनों में से निकल जाने के बाद अपने शुद्ध चौथे स्थान में आ पहुंचता है, वैसे ही 'ब्रह्म' प्रकृति की तीन अवस्थाओं के कारण जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्त—इन तीन स्थानों में रहता है, और इन तीनों में से निकल जाने के बाद अपने शुद्ध चौथे स्थान में आ पहुंचता है। ब्रह्म का तीन स्थानों का रूप 'सगुण' है, चौथे स्थान का रूप 'निर्गुण' है। 'सगुण' रूपों में से जाग्रत्-स्थान के उसके रूप का ध्यान सबसे आसान है क्योंकि सृष्टि

के चमत्कार को देखकर ब्रह्म की महिमा का कौन वर्णन नही करेगा? परन्तु जाग्रत्-स्थान के 'बहि प्रज्ञ', 'स्थूल-भुक्', 'सप्तांग', 'एकोनविंशति-मुख' ब्रह्म का बखान उसके सिर्फ चतुर्थांश का, एक पाद का वर्णन है। अपने आत्मा के सम्बन्ध में क्योंकि सबको अपने भीतर प्रतिदिन जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्त-स्थानो का अनुभव होता है, अत. उस अनुभव के आधार पर ऋषि ने ब्रह्म-ज्ञान का अनुभव जिज्ञासु को दिया है।)

'आत्मा', अर्थात् 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' का द्वितीय-पाद, द्वितीय-स्थान वह है जिसे हम 'शरीर' तथा 'प्रकृति' की स्वप्नावस्था कहते है। शरीर की स्वप्नावस्था तभी होती है जब जीवात्मा जाग्रत्-स्थान से हटकर, वहां क्रिया (Function) न करके, स्वप्न-'स्थान' में क्रियाशील हो जाता है। शरीर की जब 'स्वप्नावस्था' होती है, तब जीवात्मा का 'स्वप्न-स्थान' होता है। उस समय जीवात्मा 'बहिःप्रज्ञ' (Extrovert) से हटकर 'अन्त.प्रज्ञ' (Introvert) हो जाता है, बाहर से उसका ध्यान हटकर अन्दर की तरफ चला जाता है। बहिःप्रज्ञावस्था में वह अपने 'सप्तांग' शरीर से—सिर, आंख, कान, वाणी, फेफड़े, हृदय, पांव से—और 'एकोनविंशति' मुख से—भोग के साधन १९ उपकरणों से—संसार का भोग करता था, स्वप्न-स्थान में, अन्तःप्रज्ञावस्था में भी उसके 'सप्तांग-शरीर' तथा 'एकोनविंशति मुख' बने रहते है, भेद इतना आ जाता है कि जहां जाग्रत्-स्थान में बैठकर जीवात्मा स्थूल-शरीर से और स्थूल-इन्द्रियो से भोग करता था वहां स्वप्न-स्थान में आकर सूक्ष्म-शरीर से और सूक्ष्म-शरीर की इन्द्रियो से भोग करता है। यह भोग स्थूल-जगत् का भोग नहीं है, विचार-

---

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः
प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥४॥

स्वप्नस्थान—निद्रा (उपरति) की अवस्था वाला, अन्तःप्रज्ञ—अन्तर्मुख; सप्तांगः—सात अंगो वाला, एकोनविंशतिमुख—उन्नीस मुखो से भोगने वाला, प्रविविक्तभुक्—विवेकपूर्वक (कुछ हो) सूक्ष्म (वासनामय ज्ञान) का भोक्ता, तैजस—तेज प्रधान, द्वितीय—दूसरा; पाद—(ज्ञान का) स्थान (क्षेत्र) है ॥४॥

मय-जगत् का भोग है, विवेक के जगत् का, इसलिये इस स्थान में आत्मा 'स्थूल-भुक्' न होकर, 'प्रविविक्त-भुक्' कहलाता है। इस अवस्था में बाह्य संसार विचार के संसार में आ बैठता है। जैसे जाग्रत्-स्थान में जीवात्मा का शरीर 'वैश्वानर' (Individuality) है, भिन्न-भिन्न नरों के शरीर ही आत्मा के शरीर हैं, वैसे स्वप्न-स्थान में जीवात्मा का शरीर 'तैजस' है, तेज से बना हुआ (Astral) है। जीवात्मा का जाग्रत्-स्थान में 'स्थूल-शरीर' है, इसे 'वैश्वानर' कहते हैं; स्वप्न-स्थान में 'सूक्ष्म-शरीर' है, इसे 'तैजस' कहते हैं। 'तैजस' इसलिये कहते हैं क्योंकि शरीर जब सो जाता है, स्वप्नावस्था में चला जाता है, तब जीवात्मा का यथार्थ तेजोमय रूप जो शरीर के अन्धकारमय आवरण से ढका हुआ था, चमक उठता है। सुषुप्त-स्थान में जीवात्मा का 'कारण-शरीर' है, इसे 'प्राज्ञ' कहते हैं, इसे 'प्राज्ञ' क्यों कहते हैं—इसका आगे वर्णन आयेगा। वास्तव में ये शरीर जीवात्मा के नहीं हैं, इन शरीरों में क्रिया करने के कारण ये उसके शरीर कहलाते हैं, जब जीवात्मा इन तीनों में से हट जाता है तब वह अपने शुद्ध रूप में आता है, वह उसका तुरीय-स्थान है। जैसे जीवात्मा का जाग्रत्-स्थान से हट आने पर स्वप्न-स्थान है, वैसे ब्रह्म का कार्य-रूप सृष्टि से हटकर कारण-रूप सृष्टि में क्रिया करते समय स्वप्न-स्थान है। जब ब्रह्म स्वप्न-स्थान में होता है तब सम्पूर्ण स्थूल-सृष्टि सूक्ष्म-रूप में उसके विचार में होती है, अग्नि, सूर्य-चन्द्र, दिशाएं, वेद, वायु, विश्व, पृथिवी—ये सातों अंग जैसे स्थूल-जगत् में ब्रह्म के अंग हैं, वैसे बीज-रूप में भी ब्रह्म के अंग बने होते हैं, और वह विवेक में, विचार में, इन अंगों द्वारा विश्व का उपभोग कर रहा होता है। जैसे मकान बनाने वाला मकान बनाने से पहले सम्पूर्ण रचना को मन में बना लेता है, ईंट-पत्थर का मकान बनने से पहले नक्शे का मकान, विचार का मकान मानो बन चुका होता है, मकान बनाने वाला अपने विवेक में ही, विचार में ही बने मकान का आनन्द भोग चुका होता है, वैसे ही ब्रह्म संसार की रचना करने से पूर्व स्वप्न-स्थान में बैठकर अपने विचार में, विवेक में, बिना विश्व की रचना किये विश्व-रचना का

आनन्द भोग लेता है, इसलिये उसे भी जीवात्मा की तरह 'प्रविविक्तभुक्' अर्थात् 'विचार या विवेक में जिसने भोग लिया'—यह कहा है। स्वप्न-स्थान में जीवात्मा की तरह ब्रह्म का शरीर तैजस है, तेज से बना है। इसी को वेद में 'हिरण्यगर्भ' कहा है। सृष्टि के प्रारम्भ में, जब कार्यावस्था में सृष्टि नहीं आई थी, साम्यावस्था से तो आगे चल पड़ी थी परन्तु अभी कारणावस्था में ही थी, उस समय सबसे प्रथम 'हिरण्यगर्भ' उत्पन्न हुआ—'हिरण्यगर्भः समवर्ततामे'। कारणावस्था में सृष्टि का जो रूप था उसी को 'हिरण्यगर्भ' कहा गया है। यह 'हिरण्यगर्भ' (Nebula) तेजोमय पिंड था, इसीका नाम महत्, अहंकार, पंचतन्मात्र है, यही ब्रह्म का स्वप्नावस्था का तैजस शरीर था। स्वप्न-स्थान के इस 'अन्तःप्रज्ञ', 'तैजस', 'प्रविविक्त-भुक्', 'सप्तांग', 'एकोनविंशति-मुख' ब्रह्म का बखान उसके द्वितीय पाद का, दूसरे चतुर्थांश का वर्णन है ॥४॥

'आत्मा', अर्थात् 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' का तृतीय-पाद, तृतीय-स्थान वह है जिसे हम 'शरीर' तथा 'प्रकृति' की सुषुप्तावस्था कहते हैं। शरीर की सुषुप्तावस्था तभी होती है जब जीवात्मा जाग्रत-स्थान से हटकर, वहां क्रिया (Function) न करके, सुषुप्ति-'स्थान' में क्रियाशील हो जाता है। शरीर की जब 'सुषुप्त-अवस्था' होती है,

> यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं
> पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन
> एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥५॥

यत्र—जिस (अवस्था) में; सुप्त—सोया हुआ; न—नहीं; कंचन—किसी, कामम्—कामना को, भोग को; कामयते—चाहना करता है; न कंचन स्वप्नम्—नहीं किसी स्वप्न को, पश्यति—देखता है (गाढ निद्रा में सोता है); तत्—वह; सुषुप्तम्—सुषुप्ति की अवस्था है; सुषुप्तस्थानः—सुषुप्ति की अवस्थावाला, एकीभूतः—एकाग्र हुआ; प्रज्ञानघनः—घने (केन्द्रीभूत, स्थिर) ज्ञानवाला; एव—ही; आनन्दमयः—आनन्द (सुख-दुःख से शून्य) स्वरूप; हि—ही; आनन्दभुक्—आनन्द का भोग करने वाला; चेतोमुखः—केवल चित्त से ही भोगनेवाला; प्राज्ञः—(प्र+अज्ञ) कुछ भी (बाह्य सूक्ष्म-स्थूल पदार्थों को) न जानने वाला या अत्यधिक चेतना वाला; तृतीयः—तीसरा; पादः—(ज्ञान का) स्थान (क्षेत्र) है ॥५॥

तब जीवात्मा का 'सुषुप्त-स्थान' होता है। उस सोयी हुई अवस्था में शरीर किसी प्रकार की कामना नहीं करता, किसी प्रकार का स्वप्न भी नहीं देखता। उपनिषत्कार ने शरीर की उस अवस्था को 'प्राज्ञ'-अवस्था कहा है। 'प्राज्ञ' का अर्थ है 'प्र+अज्ञ', अर्थात् 'अत्यन्त अज्ञान की अवस्था'। सुषुप्तावस्था में शरीर जड़ हो जाता है, अत्यन्त अज्ञानावस्था में होता है, शरीर और जीवात्मा का सम्बन्ध होता हुआ भी एक प्रकार से टूट जाता है। शरीर में जितनी चेतनता है, ज्ञान है, सब जीवात्मा के कारण है, अतः सुषुप्तावस्था में जब शरीर से सम्बन्ध तोड़कर, जीवात्मा अपनी शक्ति को बाहर बखेरने के स्थान में अपने अन्दर खींच लेता है, अपनी शक्तियों को 'एकीभूत' कर लेता है, शरीर से मानो अलग-सा कर लेता है, तब जीवात्मा तो 'प्रज्ञानघन', अर्थात् ज्ञान की घनावस्था में आ पहुंचता है, और शरीर 'प्राज्ञ' (प्र+अज्ञ), अर्थात् अत्यन्त अज्ञान की अवस्था में आ पहुंचता है। जागृतावस्था में शरीर को 'वैश्वानर' कहा गया है, स्वप्नावस्था में 'तैजस', और सुषुप्तावस्था में 'प्राज्ञ' कहा गया है। शरीर के विपरीत जीवात्मा का यथार्थ-रूप तो 'प्रज्ञ' (प्र+ज्ञ) अर्थात् विशेषरूप से ज्ञान वाला है, वह ज्ञानरूप है, चेतनारूप है। शरीर की जागृतावस्था में प्रज्ञा बाहर भ्रमण कर रही होती है, अतः उस समय जीवात्मा 'बहिःप्रज्ञ' (Extrovert) कहलाता है, शरीर की स्वप्नावस्था में प्रज्ञा अन्दर भ्रमण करती है, अतः उस समय जीवात्मा 'अन्तःप्रज्ञ' (Introvert) कहलाता है। शरीर की सुषुप्तावस्था में प्रज्ञा एकीभूत हो जाती है, घनीभूत हो जाती है, अतः उस समय जीवात्मा 'प्रज्ञान-घन' (Concentric Consciousness) कहलाता है। जाग्रत्-स्थान में बैठे हुए जीवात्मा के भोग के साधन 'सप्तांग' और 'एकोनविंशति' मुख थे, स्वप्न-स्थान में भी जीवात्मा इन्हीं अंगों और मुखों से संस्कारों के रूप में वह भोग करता है, परन्तु सुषुप्त-स्थान में आकर तो उसके संस्कार तक शांत हो जाते हैं। उस समय जीवात्मा के भोग का साधन अपनी 'चेतना'-मात्र रह जाती है, अतः सुषुप्त-स्थान में आने पर जीवात्मा को 'चेतोमुखः', अर्थात् 'चेतना ही जिसके भोग का साधन है, और कोई अंग नहीं'—ऐसा कहा है। सुषुप्तावस्था में

शरीर तो ज्ञान-रहित हो जाता है, परन्तु जीवात्मा सुषुप्त-स्थान में आकर अपने रूप में समा जाता है, ज्ञानरूप हो जाता है, आनन्दमय हो जाता है, आनन्द का ही उपभोग करता है, अतः उस समय जीवात्मा को 'आनन्द-भुक्' कहते हैं। तभी सुषुप्तावस्था से निकलकर मनुष्य कहता है, बड़े आनन्द से सोया। शरीर की सुषुप्तावस्था में जीवात्मा को जो आनन्द प्राप्त होता है, उसी का जागने पर मनुष्य स्मरण-सा करता है, और कहता है, ऐसी आनन्दमय निद्रा तो कभी आई ही नहीं! यह आनन्द कौन-सा है? जीव ने सुषुप्ति में कोई काम तो किया नहीं, कोई भोग भोगा नहीं, जिसे स्मरण करके यह कह रहा हो कि आनन्द आया। हां, शरीर की सुषुप्तावस्था में एक बात हुई। जीवात्मा का शरीर से सम्बन्ध छूट गया, शरीर ही नहीं, मन से भी सम्बन्ध छूट गया। शरीर तथा मन से जो सम्बन्ध छूटा, उस समय यह अपने आपे में, अपने रूप में आया—उसी अपनेपन का स्मरण कर यह आनन्द का अनुभव करता है। शरीर के साथ सम्बन्ध जोड़ने में जो सुख-दुःख होता है, वह शरीर का सुख-दुःख है, जीवात्मा का अपना नहीं, शरीर से सम्बन्ध छूटने में केवल सुख-ही-सुख है, वह जीवात्मा का अपने स्वरूप में आने का सुख है। जागने पर उसी को यह स्मरण करता है। जीवात्मा की तरह ब्रह्म भी इन तीनों स्थानों में समय-समय पर क्रिया (Function) करता है। रची हुई सृष्टि उसका जाग्रत-'स्थान' है, सृष्टि-रचना का सम्पूर्ण आयोजन उसका स्वप्न-'स्थान' है, और जब ब्रह्म सृष्टि में से अपनी रचना-रूप शक्ति को खींच लेता है वह प्रलयावस्था उसका सुषुप्ति-'स्थान' है। 'स्थूल-सृष्टि', 'सूक्ष्म-सृष्टि', 'प्रलय'—ये तीनों, प्रकृति की जागृत-'अवस्था', स्वप्न-'अवस्था', सुषुप्त-'अवस्था' है। प्रकृति की इन तीनों अवस्थाओं में ब्रह्म अपनी 'स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया' से काम करता है। जब प्रकृति की जागृतावस्था में वह कार्य करता है तब ब्रह्म का जाग्रत्-'स्थान' है, जब प्रकृति की स्वप्नावस्था में वह कार्य करता है तब ब्रह्म का स्वप्न-'स्थान' है, जब प्रकृति की सुषुप्तावस्था में वह कार्य करता है तब ब्रह्म का सुषुप्त-'स्थान' है। ये तीनों उसके 'सगुण' रूप हैं। जब हम उसके उस रूप का ध्यान करते हैं, जो प्रकृति की

तीनों अवस्थाओं से पृथक् है, वह उसका चतुर्थ-रूप है, तुरीय-रूप है, निर्गुण-रूप है। जैसे जीवात्मा 'प्रज्ञ' (प्र+ज्ञ) तथा 'प्रज्ञानघन' है, शरीर 'प्राज्ञ' (प्र+अज्ञ) है, वैसे ब्रह्म भी 'प्रज्ञ' तथा 'प्रज्ञानघन' (प्र+ज्ञान+घन) है, प्रकृति 'प्राज्ञ' (प्र+अज्ञ) है—प्रकृति भी सुषुप्तावस्था के मनुष्य-शरीर की तरह ज्ञान अर्थात् चेतना से रहित है। ज्ञान में और चेतना में आधारभूत कोई भेद नहीं है। 'ज्ञान' जब क्रिया करने लगता है, प्रकट होने लगता है, तब 'चेतना' कहलाता है। चेतना-हीन होने का 'ज्ञान अथवा अनुभव न होना'—यही तो अर्थ होता है। 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म'—ये दोनों 'प्रज्ञ' हैं, अर्थात् ज्ञान वाले हैं, अर्थात् चेतनावाले हैं; 'शरीर' तथा 'प्रकृति'—ये दोनों 'प्राज्ञ' हैं, 'प्र+अज्ञ' हैं, ज्ञान वाले नहीं हैं, अर्थात् चेतना वाले नहीं हैं। सुषुप्ति-स्थान में आकर ब्रह्म अपने 'प्रज्ञानघन', अर्थात् घनीभूत चेतना के रूप में, अर्थात् 'चेतोमुख'-रूप में आ जाता है, 'बहिःप्रज्ञ' से 'अन्तःप्रज्ञ', और 'अन्तःप्रज्ञ' से 'प्रज्ञानघन'-रूप में एकीभूत हो जाता है। उस समय वह आनन्दमय होता है, आनन्द का ही भोग करता है, 'आनन्द-भुक्' हो जाता है। सुषुप्त-स्थान के इस 'एकीभूत', 'प्रज्ञानघन', 'चेतोमुख', 'आनन्दमय', 'आनन्दभुक्' ब्रह्म का बखान उसके तृतीय-पाद का, तीसरे चतुर्थांश का वर्णन है ॥५॥

उक्त तीन स्थानों में निवास करने वाले जिस ब्रह्म का वर्णन किया गया है, वह 'सर्वेश्वर' है, 'सर्वज्ञ' है, 'सर्वान्तर्यामी' है, सबका कारण है, भूतों की उत्पत्ति तथा प्रलय उसी से होती है। इन तीन स्थानों में रहने वाला ब्रह्म 'सगुण' ब्रह्म है ॥६॥

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष
योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

एषः—यह (आत्मा); **सर्वेश्वरः**—सब ऐश्वर्य (प्रभुत्व) से सम्पन्न; **एषः**—यह; **सर्वज्ञः**—सर्वज्ञाता; **एषः**—यह; **अन्तर्यामी**—सारे शरीर या प्रकृति के अन्दर रहकर उनका नियन्ता या सर्वव्यापक; **एषः**—यह; **योनिः**—कारण, आधार; **सर्वस्य**—सब का; **प्रभव+अप्ययौ**—प्रभव (उत्पत्ति-कर्ता) और अप्यय (अपने में लीन करने वाला) या उत्पत्ति और विनाश का कर्ता; **हि**—ही; **भूतानाम्**—चर-अचर भूतों का ॥६॥

'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' के तीन 'सगुण' रूपों के अतिरिक्त चौथा 'निर्गुण' रूप भी है, यह चतुर्थ-पाद है, जीवात्मा तथा ब्रह्म का तुरीय-स्थान है। इस रूप में वह अन्तःप्रज्ञ नहीं होता, बहिःप्रज्ञ नहीं होता, उभय-प्रज्ञ नहीं होता, प्रज्ञानघन नहीं होता, प्रज्ञ नहीं होता, अप्रज्ञ भी नहीं होता। जीवात्मा को शरीर में और ब्रह्म को प्रकृति में क्रिया करते समय ही तो ये अवस्थाएं होती हैं। जब जीवात्मा को शरीर को, और ब्रह्म को प्रकृति की तीनों अवस्थाओं से अलग करके उसके शुद्ध स्वरूप में देखें, तो 'ज्ञान' को आधार बनाकर अप्रज्ञ, प्रज्ञ, प्रज्ञानघन, उभयप्रज्ञ, अन्तःप्रज्ञ, बहिःप्रज्ञ—ये अवस्थाएं न जीवात्मा को रहती हैं, न ब्रह्म को। जीवात्मा के शरीर के साथ, और ब्रह्म के प्रकृति के साथ संयोग से ही ये अवस्थाएं प्रकट होती हैं, अन्यथा नहीं। जीवात्मा तथा ब्रह्म का चतुर्थ-पाद इन सब अवस्थाओं से पृथक् है। वह अदृष्ट है, अव्यवहार्य है, अग्राह्य है, उसका लक्षण नहीं हो सकता, चिन्तन नहीं हो सकता, निर्देश नहीं हो सकता। तो क्या उसका कुछ वर्णन हो भी सकता है? हां, इतना कहा जा सकता है कि वहां संसार का सब प्रपंच उपशम हो जाता है, वह शान्त अवस्था है, शिव अवस्था है, अद्वैत अवस्था है, प्रपंच के उपशम के कारण उस अवस्था में केवल 'आत्मा' की सत्ता ही सार रूप में रह जाती है। शरीर के प्रपंच के पीछे 'जीवात्मा' ही सार वस्तु है, संसार के प्रपंच के पीछे 'ब्रह्म' ही सार वस्तु है। 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' ही आत्म-तत्त्व है, उसे ही जानना चाहिए ॥७॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।
अदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं
प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥७॥

न—नहीं; अन्तःप्रज्ञम्—अन्तर्मुख वृत्तिवाला, न—नहीं; बहिःप्रज्ञम्—बहिर्मुख वृत्तिवाला, न—नहीं; उभयतःप्रज्ञम्—दोनों (अन्तर्मुख और बहिर्मुख) वृत्ति वाला; न—नहीं; प्रज्ञानघनम्—केन्द्रीभूत ज्ञानवाला; न—नहीं; प्रज्ञम्—ज्ञाता, प्रज्ञा से युक्त; न—नहीं; अप्रज्ञम्—कुछ न जाननेवाला, प्रज्ञा से शून्य, अदृश्यम्—(इन्द्रियों से) अज्ञेय, अव्यवहार्यम्—किसी भी व्यवहार (कार्य) में न आने योग्य; अग्राह्यम्—पकड़ में न आने योग्य, कर्मेन्द्रियों का विषय

अक्षरों और मात्राओं में उस आत्म-तत्त्व का वर्णन किया जाय, तो उसे 'ओंकार' कहते हैं। अक्षर और मात्रा में कोई खास भेद नहीं है। अक्षर ही मात्रा है, मात्रा ही अक्षर है। वे अक्षर वा मात्राएं 'अकार', 'उकार' तथा 'मकार' हैं ॥८॥

'अकार' प्रथम मात्रा है। यह 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' के जाग्रत्-स्थान की, जिसका 'वैश्वानर'-शरीर कहा गया है, प्रतिनिधि है। जो जाग्रत्-स्थान वाले जीवात्मा को तथा ब्रह्म को जानता है, उसकी उपासना करता है, वह सब कामनाओं को 'आप्नोति', अर्थात् प्राप्त कर लेता है। 'आप्नोति' का 'अ' ओंकार का 'अकार' है। वह सब

नहीं; अलक्षणम्—उसका कोई ज्ञापक चिह्न या परिभाषा नहीं; अनुमान का विषय नहीं; अचिन्त्यम्—चिन्तन का विषय नहीं; अव्यपदेश्यम्—शब्दों से—वाणी से बताया नहीं जा सकता; एकात्मप्रत्ययसारम्—(उस समय उसे) केवल आत्मा (अपने स्वरूप) का भान होता है; प्रपञ्चोपशमम्—उसमें सब प्रपंच (जगत् के त्रिगुणात्मक स्वरूप) की शान्ति (लय) हो जाती है; शान्तम्—अविचल, निर्द्वन्द्व; शिवम्—कल्याणमय; अद्वैतम्—अद्वितीय, (अपने से भिन्न) दूसरे का भान न करने वाला या लासानी; चतुर्थम्—(इस पूर्वोक्त स्थिति को ब्रह्म का) चौथा पाद (ज्ञान-क्षेत्र); मन्यन्ते—(ब्रह्मविद्) मानते, समझते (कहते) हैं; सः—वह (पूर्ववर्णित स्वरूप वाला) ही; आत्मा—आत्मा (का स्वरूप) है; सः—वह ही; विज्ञेयः—जानने योग्य है, उसे ही जानना चाहिये ॥७॥

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा
मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥८॥

सः अयम् आत्मा—वह यह आत्मा; अध्यक्षरम्—अक्षरों (वर्णों) का आधार लेने पर; ओङ्कारः—'ओम्' यह पद है; अधिमात्रम्—मात्राओं के आधार से; पादाः—पाद ही; मात्राः—मात्रा (कहलाते हैं), मात्राः च पादाः—और मात्राएँ पाद कहलाती हैं (दोनों शब्दों का एक ही अभिप्राय है); अकारः, उकारः, मकारः—(वे तीन पाद या मात्राएँ) अ-उ-म्; इति—इस प्रकार हैं ॥८॥

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वा-
द्वाप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥९॥

जागतरिस्थानः वैश्वानरः—(पूर्ववर्णित) जागरित स्थान वैश्वानर ही; अकारः ('ओम्' का) 'अ'; प्रथमा मात्रा—प्रथम मात्रा (पाद) है; आप्तेः—(यह

स्थानों में 'आदि'-स्थान, मुख्य-स्थान, प्राप्त करता है। 'आदि' का 'अ' ओंकार का 'अकार' है। 'ओंकार' की 'अकार'-मात्रा का ध्यान जाग्रत्-स्थान के जीवात्मा तथा ब्रह्म का ध्यान है ॥९॥

'उकार' द्वितीय मात्रा है। यह 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' के स्वप्न-स्थान को, जिसका 'तैजस'-शरीर कहा गया है, प्रतिनिधि है। जो स्वप्न-स्थान वाले जीवात्मा तथा ब्रह्म को जानता है, उसकी उपासना करता है, उसका 'उत्कर्ष' होता है, वह अपने कुल में तथा समाज में ज्ञान का विस्तार करता है। 'उत्कर्ष' का 'उ' ओंकार का 'उकार' है। वह 'उभय'-स्थिति प्राप्त करता है, जहां दो पक्ष हों वहां वह दोनों पक्षों में आदर प्राप्त करता है, उसकी दोनों पक्षों के लिए 'समान' स्थिति हो जाती है। 'उभय' का 'उ' ओंकार का 'उकार' है। 'ओंकार' की 'उकार'-मात्रा का ध्यान स्वप्न-स्थान के जीवात्मा तथा ब्रह्म का ध्यान है। जो इस प्रकार 'उकार' की उपासना करता है उसके कुल में 'अब्रह्मवित्'—'ब्रह्म को न जानने वाला'—नहीं होता ॥१०॥

'अ' मात्रा) व्याप्ति-अर्थक आप्लृ धातु से निष्पन्न है या इसका अर्थ व्यापक है; आदिमत्त्वाद् वा—या आदिमान् (प्रथम–मुख्य) होने के कारण 'अ' (कहलाती है); आप्नोति—(इस 'अ'-मात्रा का ज्ञाता) प्राप्त करता है, ह वै—निश्चय से; सर्वान् कामान्—सब कामनाओं–भोगों को, आदिः च भवति—और सबसे मुख्य (प्रथम) होता है, यः एवं वेद—जो इस प्रकार जानता है ॥९॥

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥१०॥

स्वप्नस्थानः तैजसः—(उपरिवर्णित) स्वप्नस्थान तैजस ही, उकारः द्वितीया मात्रा—('ओम्' का) 'उ' अक्षर दूसरी मात्रा (पाद) है, उत्कर्षात्—उत्कर्ष के कारण, उभयत्वात् वा—या दोनों में होने के कारण, (दोनों–उत्कर्ष और उभय का आदि अक्षर 'उ' लेकर इस मात्रा का निर्वचन होता है); उत्कर्षति—ऊपर उठाता, उन्नत करता है, ह वै—निश्चय से; ज्ञानसंततिम्—ज्ञान के विस्तार (परम्परा) को या ज्ञान-संतति–शिष्य-परम्परा को; समानः च—और सब के लिए समान (एकभाव) रखने वाला या सब का आदरणीय (स+मान.); भवति—होता है; न अस्य—नहीं इसके; अब्रह्मवित्—ब्रह्म को न जानने वाला; कुले—वंश में; भवति—होता है; यः एवम् वेद—जो इस प्रकार (इस 'उ' मात्रा को) जानता है ॥१०॥

'मकार' तृतीय मात्रा है। यह 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' के सुषुप्त-स्थान की, जिसको 'प्राज्ञ'-शरीर कहा गया है, प्रतिनिधि है। जो सुषुप्त-स्थान वाले जीवात्मा तथा ब्रह्म को जानता है, उसकी उपासना करता है, वह सम्पूर्ण विश्व को 'मिनोति'—उसे माप लेता है—उसकी थाह पा जाता है। 'मिनोति' का 'म्' ओंकार का 'मकार' है। वह विश्व की 'इति'—इसका अन्त—भी पा लेता है। जैसे 'म्' स्पर्श-व्यंजनों का अन्तिम अक्षर है वैसे सुषुप्तावस्था प्रकृति की 'इति', अर्थात् अन्तिम अवस्था है। जो इस प्रकार 'मकार' की उपासना करता है वह सम्पूर्ण संसार की थाह पा लेता है, अन्त पा लेता है ॥११॥

मात्रा-रहित 'ओंकार' चतुर्थ है। जैसे शरीर की जागृतावस्था, स्वप्नावस्था तथा सुषुप्तावस्था में से निकलकर जीवात्मा अपने चतुर्थ रूप में आ जाता है, जैसे प्रकृति की जागृतावस्था, स्वप्नावस्था तथा सुषुप्तावस्था में से निकलकर ब्रह्म अपनी तुरीयावस्था में आ जाता है, वैसे अ, उ, म्—इन जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्त अवस्थाओं की प्रतिनिधि तीन मात्राओं से पृथक् ओंकार का अमात्र रूप भी है। वह

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा
मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥११॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञः—(उपरिवर्णित) सुषुप्तस्थान प्राज्ञ ही; **मकारः तृतीया मात्रा**—('ओम्' का) 'म्' अक्षर तीसरी मात्रा (पाद) है; **मितेः**—ज्ञानार्थक या परिमापार्थक 'मा' धातु से निष्पन्न 'मिति' (प्रमाण या परिमाप) से; **अपीतेः वा**—या अपीति (लय, समाप्ति) से ('म्' मात्रा का निर्वचन होता है); **मिनोति**—जान लेता है, माप लेता है; **ह वै**—निश्चय से; **इदम् सर्वम्**—इस सब जगत् को; **अपीतिः**—अपीति (विषयों की, दुःखों की, अज्ञान की समाप्ति—या जगत् की अपीति—लय); **भवति**—हो जाती है; **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥११॥

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार
आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥१२॥

अमात्रः—मात्राओं से रहित, अखण्ड, पूर्ण 'ओम्' ब्रह्म; **चतुर्थः**—चौथा (पाद—ज्ञान-क्षेत्र); **अव्यवहार्यः**—जो व्यवहार के अयोग्य है; **प्रपञ्चोपशमः**—जिसमें सब प्रपंच की उपरति (लय) हो जाती है; **शिवः**—सर्वकल्याणकारी;

रूप व्यवहार में नहीं आता, वह शिव है, अद्वैत है, वहा संसार के प्रपंच का उपशमन हो जाता है। ओंकार का यह अमात्र रूप, 'आत्मा' का—अर्थात् 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' का—तात्त्विक रूप है, इस रूप में ओंकार मानो आत्मा ही है। जो ओंकार के इस रूप को जानता है, वह बाहर न भटककर आत्मज्ञान द्वारा अन्तरात्मा में प्रवेश कर जाता है ॥१२॥

(जिस वस्तु को हम नही जानते उसके जानने का एक ही उपाय है। वह उपाय यह है कि 'ज्ञात' द्वारा हम 'अज्ञात' को जानें। जो बालक नदी को नही जानता उसे एक छोटा-सा नाला दिखाकर कहा जा सकता है कि यह नाला अगर बहुत बडा हो जाय, तो उसे नदी कहा जाता है। इस उपनिषद् में ब्रह्म को जानने के लिये भी 'ज्ञात' से 'अज्ञात' (From known to unknown) का आश्रय लिया गया है। हम अपने विषय मे कुछ जानते है—यह 'ज्ञात' है। जो पिंड मे है, वही ब्रह्माड में है—इस प्रकार 'अज्ञात' को हम अपने पिंड के ज्ञान से जान जाते है। अर्थात् 'जीवात्मा' के ज्ञान से 'ब्रह्म' का ज्ञान हो सकता है—यह उपनिषत्कार का कथन है।

'ज्ञात' से 'अज्ञात' को जाना जा सकता है, तो हम 'पिंड' से 'ब्रह्माड' को, 'जीव' से 'ब्रह्म' को कैसे जानें? वह उपाय क्या है? हम किसी वस्तु के तात्त्विक-रूप को तभी जान सकते हैं जब उसकी 'रचना' (Structure) तथा उसके 'कार्य' (Function) का हमें ज्ञान हो। ऋषि ने जीवात्मा की 'रचना तथा 'कार्य' का माण्डूक्य

अद्वैत—अद्वितीय, लासानी, अप्रतिम, एवम्—इस प्रकार उपव्याख्यान से, ओंकारे—'ओम्'—पद वाच्य ब्रह्म मे, आत्मा—जीवात्मा, एव—ही, संविशति—प्रवेश पाता है, प्राप्त करता है, सो जाता है, आनन्द भोगता है, आत्मना—निज (कर्मशील) आत्मा (जीवात्मा) से, आत्मानम्—सतत (ज्ञान शील) परमात्मा को, य—जो, एवम्—इस प्रकार, वेद—जानता है, य एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है (वाक्य की द्विरुक्ति ग्रन्थ समाप्ति की सूचना के लिए है) ॥१२॥

में वर्णन किया है, और जीवात्मा की 'रचना' तथा उसके 'कार्य' के वर्णन से 'ब्रह्म' की रचना तथा उसके 'कार्य' का निर्देश दिया है।

जीवात्मा तथा ब्रह्म की तात्त्विक-रचना का तो कुछ पता नहीं। वह रूप अदृष्ट है, अचिन्त्य है, अव्यवहार्य है, निर्गुण है। उस रूप की तो 'नेति-नेति' से ही चर्चा हो सकती है, वहां तो गुरु मौन हो जाता है, और मौन में ही सब-कुछ कह जाता है। परन्तु उस अदृष्ट, अचिन्त्य, अव्यवहार्य तथा निर्गुण रूप के अलावा उसका दृष्ट, चिन्त्य, व्यवहार्य तथा सगुण रूप भी है। वह रूप, वह 'रचना' (Structure) क्या है? ऋषि का कहना है कि इस रूप में, इस 'रचना' में, ब्रह्म 'प्रज्ञानघन' (Concentric Consciousness) है। इस अवस्था से विकासोन्मुख ब्रह्म पहले 'अन्तःप्रज्ञ' (Introvert) तथा फिर 'बहिःप्रज्ञ' (Extrovert) इन दो अवस्थाओं में जाता है, ठीक इस तरह जैसे जीवात्मा। 'प्रज्ञानघन' ब्रह्म अपने शुद्ध रूप से बाहर की तरफ़ जाता हुआ सृष्टि की रचना करता है, अन्दर की तरफ़ लौटता हुआ अपने रूप में प्रतिष्ठित होता है; अपने सगुण रूप में बाहर की तरफ़ जाता हुआ सुषुप्त-स्थान से स्वप्न-स्थान में, और स्वप्न-स्थान से जाग्रत्-स्थान में जाता है, अन्दर की तरफ़ लौटता हुआ जाग्रत् से स्वप्न और स्वप्न से सुषुप्त-स्थान में लौट आता है। सुषुप्त-स्थान में आकर उसका प्रकृति से ऐसा सम्पर्क रह जाता है, जैसे सुषुप्त-अवस्था में जीवात्मा का शरीर से। जीवात्मा के हम जितने रूप देख पाते हैं सब शरीर से किसी-न-किसी तरह रले-मिले हैं, इसी प्रकार ब्रह्म के भी हम जितने रूप देख पाते हैं सब प्रकृति से रले-मिले हैं। केवल सुषुप्तावस्था में कुछ ऐसा रूप भास-सा जाता है, जो शरीर के साथ रहते हुए भी शरीर से अलग-सा है। जागृत तथा स्वप्नावस्था में तो शरीर तथा जीवात्मा का बन्धन ऐसा जकड़ा-हुआ-सा रहता है कि इन दोनों को अलग किया ही नहीं जा सकता। केवल सुषुप्तावस्था ऐसी अवस्था है जब इन दोनों का बन्धन, इन दोनों की जकड़न शिथिल-सी हो जाती है। तब शरीर तथा जीवात्मा साथ-साथ रहते हुए भी जरा एक दूसरे से अलग-से हो जाते हैं। इस अवस्था

में शरीर का असली रूप प्रकट हो जाता है। वह बोल नहीं सकता, सुन नहीं सकता, हिल नहीं सकता, अनुभव नहीं कर सकता, जड़ पड़ा रहता है। इस समय जीवात्मा का क्या रूप है? इस अवस्था से लौट आने पर हम कहते हैं, बड़ा आनन्द आया। यह आनन्द किसे आया? शरीर तो जड़ पड़ा हुआ था, उसे तो कोई अनुभव था ही नहीं। मानना पड़ेगा कि सुषुप्तावस्था के समय जीवात्मा के शरीर से अलग-से होने पर उसे अपने आनन्दमय रूप का ज्ञान हुआ था, उसी की अब स्मृति हो रही है। इस अलग-से रूप को बिल्कुल अलग कर लिया जाय, तो आत्मा का शुद्ध रूप झलकने लगता है। ब्रह्म के ज्ञान का भी यही मार्ग है। प्रकृति की जागृतावस्था में, कार्य-रूप-सृष्टि में तो ब्रह्म तथा प्रकृति रले-मिले रहते हैं, ठीक ऐसे जैसे जागृतावस्था में शरीर तथा जीवात्मा, परन्तु सुषुप्तावस्था मे ब्रह्म प्रकृति के साथ रहता हुआ भी अलग-सा होता है, उसे बिल्कुल अलग करके देखा जाय, तो वही उसका तात्त्विक रूप है।

यह तो 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' की 'सूक्ष्म-रचना' (Fine structure) है—ये दोनों 'प्रज्ञ' या 'प्रज्ञानघन' हैं, अर्थात् सुषुप्ति से हमें पता चलता है कि जब शरीर से जीवात्मा और प्रकृति से ब्रह्म अलग हो जाते हैं, तब उनकी सूक्ष्म-रचना का आधार-भूत तत्त्व 'प्रज्ञ' (Consciousness) दीख पड़ने लगता है। परन्तु इनकी 'स्थूल-रचना' (Grosser structure) क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्थूल-रचना 'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' की नहीं है, 'शरीर' तथा 'प्रकृति' की है, परन्तु क्योंकि शरीर तथा प्रकृति की स्थूल-रचना के करने वाले क्रमशः जीवात्मा तथा ब्रह्म है, अतः इस स्थूल-रचना को जीवात्मा तथा ब्रह्म की ही रचना कह दिया गया है। सूक्ष्म-रचना के समय सुषुप्तावस्था में जीवात्मा की रचना तो 'प्रज्ञ' (प्र+ज्ञ—Consciousness) है, शरीर की रचना 'प्राज्ञ' (प्र+अज्ञ—Unconscious) है। इस 'प्राज्ञ' (प्र+अज्ञ—Unconscious) का वर्णन वर्तमान मनोविश्लेषणवाद के प्रवर्तक फ्रॉयड ने बहुत विस्तार से किया है। इस प्राज्ञ (Unconscious) को

सम्मुख रखकर 'अज्ञात-चेतना के मनोविज्ञान' (Psychology of the Unconscious) का जन्म हुआ है। यह स्मरण रहे कि 'अज्ञात-चेतना' (Unconscious) का वर्णन आत्मा का वर्णन नहीं है, यह शरीर का ही वर्णन है, मनुष्य के स्नायु-तंतुओं (Nervous System) में अज्ञात-रूप से जो क्रिया-कलाप चलता है, उसका वर्णन है। जीवात्मा 'प्रज्ञ'=प्र+ज्ञ (Conscious) तथा 'शरीर' 'प्राज्ञ'=प्र+अज्ञ (Unconscious) है; एक चेतन दूसरा जड़; एक ज्ञान-मय, दूसरा अज्ञानमय; एक विद्या, दूसरा अविद्या—इन दोनों के संयोग से विश्व विकास के मार्ग पर चलता है। सूक्ष्म-रचना से स्थूल-रचना में आते समय सुषुप्तावस्था से जब शरीर स्वप्नावस्था में आता है तब जीवात्मा 'अन्तःप्रज्ञ' तथा शरीर 'तैजस' हो जाता है। जीवात्मा का 'प्रज्ञ' रूप 'अन्तःप्रज्ञ' रूप में बदल जाता है, शरीर का 'अज्ञ' रूप 'तैजस' रूप में बदल जाता है; कुछ ज्ञान न होने के स्थान में, कुछ प्रकाश न होने के स्थान में, ज्ञान होने लगता है, प्रकाश होने लगता है, परन्तु इस प्रकाश में स्पष्टता नहीं होती। इसी प्रकाश को 'तैजस' कहा है। स्वप्नावस्था से जब शरीर जागृतावस्था में आता है तब जीवात्मा 'अन्तःप्रज्ञ' से 'बहिःप्रज्ञ' हो जाता है, और शरीर 'तैजस' से 'वैश्वानर' हो जाता है, भिन्न-भिन्न नरों के रूपों में दीख पड़ता है। आत्मा के कारण जैसे शरीर की ये तीन स्थूल-रचनाएं (Grosser Structures) हैं, वैसे परमात्मा के कारण प्रकृति की भी सुषुप्तावस्था में 'अज्ञ' (Indefinite), स्वप्नावस्था में 'तैजस' अथवा 'हिरण्यगर्भ' (Nebular) तथा जागृतावस्था में 'वैश्वानर' (Definite)—ये तीन स्थूल-रचनाएं हैं।

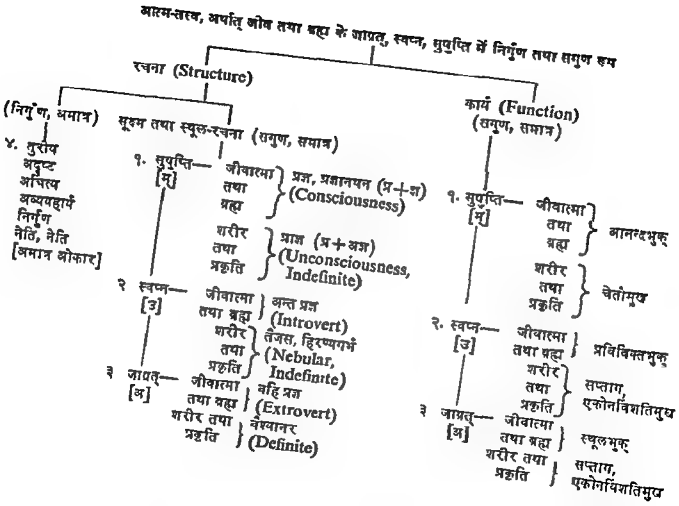
'जीवात्मा' तथा 'ब्रह्म' की सूक्ष्म-'रचना' तथा स्थूल-'रचना' (Finer and Grosser Structure) के बाद इन दोनों के 'कार्य' (Function) का जानना आवश्यक है। 'जीव' तथा 'ब्रह्म' की 'रचना' (Structure) क्या है? सूक्ष्म-रचना 'प्रज्ञानघन', तथा स्थूल-रचना, जो वास्तव में शरीर तथा प्रकृति की है, परन्तु जीव तथा ब्रह्म में आरोपित हो जाती है, जाग्रत् में 'वैश्वानर', स्वप्न

में 'तैजस', सुषुप्ति में 'प्र+अज्ञ' हैं। 'जीव' तथा 'ब्रह्म' के 'कार्य' (Function) हैं—जाग्रत् में 'स्थूल-भुक्', स्वप्न में 'प्रविविक्त-भुक्', सुषुप्ति में 'आनन्द-भुक्'। जागृतावस्था में जीवात्मा तथा ब्रह्म का कार्य स्थूल-जगत् में है, अतः ऋषि ने इन दोनों की उस अवस्था को 'स्थूल-भुक्' कहा है। स्वप्नावस्था वह है जब बाहर से ध्यान टूटकर अन्दर चला जाता है—चाहे वह अवस्था इच्छा-पूर्वक (Voluntary) हो, चाहे अनिच्छा-पूर्वक (Involuntary)। अनिच्छा-पूर्वक स्वप्नावस्था में स्वप्न आते हैं, उनमें सिलसिला नहीं होता, तरतीब नहीं होती, परन्तु अगर इच्छा-पूर्वक बाहर से ध्यान खींचकर अन्दर की तरफ ले जाय, तो मनुष्य विचार-मग्न हो जाता है, सिलसिलेवार, तरतीबवार विचार कर सकता है। असल में ध्यान की उसी अवस्था में वह अपने कार्यों का आयोजन (Planning) करता है। यह अवस्था भी 'स्वप्नावस्था' है, इस अवस्था को ऋषि ने 'प्रविविक्त-भुक्' कहा है। 'विविक्त' शब्द 'विवेक' से बना है। इस अवस्था में स्थूल रूप से संसार का भोग करने के स्थान में विवेक द्वारा, विचार-मय जगत् में संसार का भोग होता है। स्वप्नावस्था के बाद सुषुप्तावस्था में जीवात्मा तथा ब्रह्म 'आनन्द-भुक्' कहे गये हैं। सुषुप्तावस्था में जीवात्मा का शरीर से, और ब्रह्म का प्रकृति से सम्बन्ध होते हुए भी टूट-सा जाता है। सुषुप्ति से उठकर मनुष्य कहता है, आनन्द से सोया। सुषुप्ति में शरीर और आत्मा के सम्बन्ध के टूटने से जो आनन्द की अनुभूति होती है, उसी का जागने पर स्मरण-सा रह जाता है। यह आनन्द 'निषेधात्मक' (Negative) है। शरीर से जीवात्मा के सम्बन्ध के ढीला होते ही आनन्द का अनुभव होता है। अगर शरीर से ढीलापन बढ़ता जाय, और जीवात्मा शरीर से अलग होकर ब्रह्म के साथ वैसा सम्बन्ध स्थापित कर ले जैसा शरीर के साथ स्थापित किया था, तब तो 'निश्चयात्मक' (Positive) आनन्द प्राप्त होगा—यही ब्रह्मानन्द है। सुषुप्तावस्था से जागने पर अनुभव होने वाला आनन्द ब्रह्म के उस आनन्दमय रूप की तरफ संकेत करता है, जो सुषुप्तावस्था में जीवात्मा के शरीर के साथ

सम्बन्ध के टूटने के समय प्रादुर्भूत होता है। यह आनन्द जीवात्मा के शरीर के साथ सम्बन्ध टूटने से उत्पन्न हुआ, इसीलिये यह 'निषेधात्मक' है। अगर शरीर के साथ सम्बन्ध टूटने के बाद जीवात्मा का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध जुड़ जाय, तो 'निषेधात्मक'-आनन्द 'निश्चयात्मक'-आनन्द में बदल जायगा।

इस प्रकार जीवात्मा द्वारा ब्रह्म के 'रचना' (Structure) तथा 'कार्य' (Function) का ज्ञान कराने के बाद ऋषि ने उसे ओंकार की अ-उ-म् इन तीन मात्राओं पर घटा दिया है। ओंकार की अ-उ-म्--इन तीन मात्राओं द्वारा ब्रह्म के 'सगुण' तथा ओंकार के अमात्र द्वारा उसके 'निर्गुण' रूप की उपासना करनी चाहिये।)

माण्डूक्योपनिषद् में 'आत्म-तत्त्व', अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मा की जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुरीय--इन चार अवस्थाओं का वर्णन छन्दोग्य ('इन्द्र-विरोचन' कथानक, ८-१२) तथा बृहदारण्यकोपनिषद् (४-२, ३ तथा २-१) में वर्णित अवस्थाओं के अनुसार ही पाया जाता है। माण्डूक्य के वर्णन को चित्र में इस उपनिषद् के शुरू में दिया गया है। अभी हमने जो व्याख्या की उसके अनुसार एक दूसरा चित्र यों भी बनाया जा सकता है :--


आत्म-तत्त्व, अर्थात् जीव तथा ब्रह्म के जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में निर्गुण तथा सगुण रूप
रचना (Structure)
(निर्गुण, अमात्र)
४. तुरीय
अदृष्ट
अचिन्त्य
अव्यवहार्य
निर्गुण
नेति, नेति
[अमात्र ओंकार]
सूक्ष्म तथा स्थूल-रचना (सगुण, समात्र)
१. सुषुप्ति—
[म्]
जीवात्मा तथा ब्रह्म
प्रज्ञ, प्रज्ञानघन (प्र+ज्ञ)
(Consciousness)
शरीर तथा प्रकृति
प्राज्ञ (प्र+अज्ञ)
(Unconsciousness, Indefinite)
२ स्वप्न—
[उ]
जीवात्मा तथा ब्रह्म
अन्त प्रज्ञ
(Introvert)
शरीर तथा प्रकृति
तैजस, हिरण्यगर्भ
(Nebular, Indefinite)
३ जाग्रत्—
[अ]
जीवात्मा तथा ब्रह्म
वहि प्रज्ञ
(Extrovert)
शरीर तथा प्रकृति
वैश्वानर
(Definite)
कार्य (Function)
(सगुण, समात्र)
१. सुषुप्ति—
[म्]
जीवात्मा तथा ब्रह्म
आनन्दभुक्
शरीर तथा प्रकृति
चेतोमुख
२. स्वप्न—
[उ]
जीवात्मा तथा ब्रह्म
प्रविविक्तभुक्
शरीर तथा प्रकृति
सप्तांग, एकोनविंशतिमुख
३ जाग्रत्—
[अ]
जीवात्मा तथा ब्रह्म
स्थूलभुक्
शरीर तथा प्रकृति
सप्तांग, एकोनविंशतिमुख

तैत्तिरीय-उपनिषद्

(शिक्षाध्याय-वल्ली)

शिक्षाध्याय-वल्ली का प्रथम अनुवाक

मित्र, वरुण, अर्यमा हमारे लिये कल्याणकारी हों; इंद्र, बृहस्पति, महा-पराक्रमी विष्णु हमारे लिये कल्याणकारी हों। ब्रह्म को नमस्कार हो, हे वायु, तुझे नमस्कार हो, तू मानो प्रत्यक्ष, साक्षात् ब्रह्म है। मैं तुझे ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा, ऋत कहूंगा, सत्य कहूंगा। हे वायु-रूप प्रत्यक्ष ब्रह्म! मेरी रक्षा करो, मुझे उपदेश देने वाले मेरे गुरु की रक्षा करो, मेरी रक्षा करो, ब्रह्म का निर्वचन करने वाले गुरु की रक्षा करो।

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः॥

ओम्—हे परमात्मन्!; शम्—कल्याणकारी, शान्तिदायक; नः—हमारे लिए; मित्रः—मित्र; शम्—कल्याणप्रद; वरुणः—वरुण; शम् नः भवतु अर्यमा—अर्यमा हमारे लिए कल्याणकारी, शान्तिदाता हो; शम् नः इन्द्रः बृहस्पतिः—इन्द्र और बृहस्पति हमारे लिये शान्तिप्रद हों; शम् नः विष्णुः उरुक्रमः—महापराक्रमी विष्णु हमें शान्ति दे; नमः ब्रह्मणे—ब्रह्म को नमस्कार है; नमः ते वायो—हे वायु तुझे प्रणाम है; त्वम् एव प्रत्यक्षम् ब्रह्म असि—तू ही साक्षात् ब्रह्म है; त्वाम् एव—तुझको ही; प्रत्यक्षम् ब्रह्म—साक्षात् ब्रह्म; वदिष्यामि—मैं कहूंगा, उपदेश करूंगा; ऋतम् वदिष्यामि—ऋत (यथार्थ) कहूंगा; सत्यम् वदिष्यामि—सत्य कहूंगा; तत्—वह; माम्—मुझे; अवतु—रक्षा करे; तद् वक्तारम् अवतु—वह वक्ता की रक्षा करे; अवतु माम्—मेरी रक्षा करे; अवतु वक्तारम्—वक्ता (उपदेष्टा) की रक्षा करे; ओम्—हे परमात्मन्; शान्तिः—(आध्यात्मिक) शान्ति हो; शान्तिः—(आधिभौतिक) शान्ति हो; शान्तिः—(आधिदैविक) शान्ति हो॥

शिक्षाध्याय-वल्ली का द्वितीय अनुवाक
वर्ण, स्वर, मात्रा, बल और इनके मेल से शब्द-सन्तान या संहिता

अब 'शिक्षा' की व्याख्या करेंगे। शिक्षा 'शब्दों' द्वारा दी जाती है, शब्दों की उत्पत्ति 'वर्णों' से होती है। अ, आ, इ, ई तथा क, ख, ग, घ आदि 'वर्ण' हैं। वर्णों के ज्ञान के बाद 'स्वर', अर्थात् उच्चारण का ज्ञान होना आवश्यक है। 'वर्ण-ज्ञान' का अर्थ है अक्षरों का ज्ञान, 'स्वर-ज्ञान' का अर्थ है कौन-सा वर्ण कैसे बोला जाता है—इसका ज्ञान स्वर-ज्ञान है। कई बालक 'स' को 'फ' और 'त' को 'ट' बोलने लगते हैं। उनका स्वर ठीक नहीं होता। जैसे 'वर्ण' का ज्ञान कराना आवश्यक है, वैसे 'स्वर' का ज्ञान कराना भी उतना ही आवश्यक है। वर्ण तथा स्वर-ज्ञान के बाद 'मात्रा' का ज्ञान कराया जाता है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत—इन मात्राओं का ज्ञान शब्दोच्चारण में सहायक होता है। कई बालक ह्रस्व की जगह दीर्घ और दीर्घ की जगह ह्रस्व मात्रा का प्रयोग कर देते हैं। वर्ण, स्वर, मात्रा के ज्ञान के बाद मात्राओं का 'बल' जानना आवश्यक है। संस्कृत के ज्ञान में मात्राओं का अपना-अपना बल है। 'आ' की मात्रा का बल शब्द को स्त्री-लिंगी बना देता है—जैसे 'सः' का अर्थ है 'वह पुरुष', 'सा' का अर्थ है, 'वह स्त्री'; 'औ' की मात्रा का बल एक वस्तु को दो बना देता है—जैसे 'तौ' का अर्थ है 'वे दोनों'। 'आः' की मात्रा का बल एक को अनेक बना देता है—जैसे 'गताः' का अर्थ है—'वे सब गये'।

ॐ शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्।
साम संतानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः ॥१॥

ओम्—ईश्वर का स्मरण कर; शीक्षाम्—शिक्षा-वर्णोच्चारण की शिक्षा की; व्याख्यास्यामः—व्याख्या—विशेष विवरण करेंगे, वर्णः—वर्ण (अ से लेकर ह पर्यन्त अक्षर); स्वरः—उच्चारण-विधि (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित), मात्रा—उच्चारण काल (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत); बलम्—(बाह्य और आभ्यन्तर) प्रयत्न; साम—(उच्चारण में) समता, संतानः—(पद-शब्द-वाक्य में वर्णों का) विस्तार या वृद्धि; इति—इस प्रकार से; उक्तः—कह दिया है; शीक्षाध्याय—शिक्षा के अध्ययन का स्वरूप ॥१॥

इसके बाद 'शब्द-ज्ञान' में 'साम'—अर्थात् समता (Harmony) से उच्चारण करना आना चाहिये, ऊंचे-नीचे बोलने का ढंग आना चाहिये। वर्ण, स्वर, मात्रा, बल और साम के ज्ञान के अनन्तर शब्दों का 'सन्तान' प्रारम्भ हो जाता है, शब्दों से वाक्य और वाक्यों से ग्रन्थ बन जाते हैं। यही शब्दों का सन्तान है, फैलाव है। इस प्रकार वर्णों से प्रारंभ करके वर्णों की सन्तान तक पहुंच जाने में ही सब शिक्षा समा जाती है ॥१॥

शिक्षाध्याय-वल्ली का तृतीय अनुवाक

अक्षराभ्यास की संहिता जीवन में महासंहिता बन जानी चाहिये

शब्द-ज्ञान कराकर गुरु-शिष्य दोनों मिलकर कहते हैं—'सह नौ यशः सह नौ ब्रह्मवर्चसम्'—हम दोनों का यश एक-साथ बढ़े, हम दोनों का ब्रह्म-तेज एक-साथ बढ़े।

अभी कहा कि 'वर्णों' से प्रारम्भ करके 'वर्णों की सन्तान' तक पहुंच जाना ही शिक्षा है। 'वर्णों की सन्तान' का अर्थ है, वर्णों का आपस में मिलना-जुलना। वर्णों के इस मेल-जोल को ही 'संहिता' कहते हैं। जैसे माता-पिता के मेल से सन्तान होती है, वैसे वर्णों के मेल से, उनकी 'संहिता' से 'शिक्षा' प्रारम्भ होती है।

'संहिता' से 'ज्ञान' का उदय होता है, पांच 'महा-संहिता' से 'उपनिषद्-ज्ञान' का उदय होता है। कठ-उपनिषद् में यम ने भी नचिकेता को सन्धि में से गुजरने का उपदेश दिया है। 'संहिता', यह 'सन्धि' का ही दूसरा नाम है। इन महा-संहिताओं का पांच प्रकार से वर्णन किया जा सकता है—अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज तथा अध्यात्म। जैसे वर्णों की सन्धि होती है, संहिता होती

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पंचस्वधिकरणेषु। अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। ता महासंहिता इत्याचक्षते ॥१॥

सह—एक साथ, युगपद्; नौ—हम दोनों (गुरु-शिष्य) का; यशः—कीर्ति; सह—साथ ही; नौ—हम दोनों का; ब्रह्मवर्चसम्—ब्रह्म-तेज, वेद-ज्ञान

है, वैसे इन पाच-स्थानो में, पाच अधिकरणो में महासन्धि, महा-संहिता होती है। जैसे वर्णों की सन्धि से ज्ञान का उदय होता है, वैसे लोक में, ज्योतिष में, विद्या में, प्रजा में तथा आत्मा में जो महा-सन्धिया होती है, उनसे ब्रह्म-ज्ञान का उदय होता है ॥१॥

— लोक में महा-सन्धिया क्या है? जैसे वर्णों में एक 'पूर्व' वर्ण होता है, एक 'उत्तर' वर्ण होता है, इन वर्णों में अवकाश अर्थात् 'सन्धि' हो सकती है, और यह अवकाश किसी अक्षर से पुर कर दिया जाता है, जिसे 'सन्धान' कहते है, वैसे लोको में 'पृथिवी' पूर्व-रूप है, 'द्यौ' उत्तर-रूप है, 'आकाश' सन्धि है, 'वायु' सन्धान है, पृथिवी और द्यु को मिलाने वाला है, इनकी संहिता करने वाला है। वर्णों की संहिता की तरह यह लोको की महा-संहिता है। ये लोक मानो एक-एक वर्ण है। जैसे भिन्न-भिन्न वर्णों की सन्धि से एक अभिन्न शब्द उत्पन्न होता है, वैसे इन भिन्न-भिन्न लोक-रूपी वर्णों की महासन्धि से अभिन्न ब्रह्म-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥२॥

का उत्कर्ष हो, अथ—अब, अत—इसके आगे संहिताया—संहिता (संधि, समन्वय, मेल) की, उपनिषदम्—दर्शन ज्ञान; व्याख्यास्याम—व्याख्या करेंगे (करते हैं), पचसु—पांच, अधिकरणेषु—आधारो में (सहारे से), अधिलोकम्—लोक के आधार पर, अधिज्यौतिषम्—ज्योतिष के आधार पर, अधिविद्यम्—विद्या को आधार बना कर, अधिप्रजम्—प्रजा का आधार बना कर, अध्यात्मम्—आत्मा के शरीर को आधार बनाकर, ता—उनको ही, महासंहिता—महासंहिता (बडी संधियां या गहरे मेल-जोल), इति—इस (नाम से), आचक्षते—कहते हैं ॥१॥

अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्।
आकाश संधि। वायु संधानम्। इत्यधिलोकम् ॥२॥

अथ—अब, अधिलोकम्—लोक के आधार पर (संहिता का निरूपण करते हैं), पृथिवी—पृथ्वी, पूर्वरूपम्—पूर्वरूप (पहले वर्ण के समान), द्यौ—द्युलोक, उत्तररूपम्—उत्तर रूप (बाद म—परे होनेवाले वर्ण के समान), आकाश—आकाश, संधि—संधि (मेल), वायु—वायु, संधानम्—मिलाने वाला है, इति अधिलोकम्—यह लोक के रूप में संहिता का वर्णन है ॥२॥

ज्यौतिष में महा-सन्धियां क्या हैं? प्रकाश का आदि-कारण 'अग्नि' है, प्रकाश की चरम-सीमा 'आदित्य' है, अतः 'अग्नि' पूर्व-रूप है, 'आदित्य' उत्तर-रूप है। अग्नि और आदित्य जब तपते हैं, तो इनके मेल से जल उत्पन्न होता है, तभी घोर ग्रीष्म के बाद वर्षा आती है, इसलिये 'जल' सन्धि है। जल की अभिव्यक्ति विद्युत् से होती है, अतः 'विद्युत्' सन्धान है। वर्णों की संहिता की तरह यह ज्योतिर्मय पिंडों की महा-संहिता है। ये ज्यौतिष-पिण्ड मानो एक-एक वर्ण हैं, जैसे भिन्न-भिन्न वर्णों की सन्धि से एक अभिन्न अक्षर उत्पन्न होता है, वैसे अग्नि, आदित्य, जल, विद्युत्—इन भिन्न-भिन्न पिंडों की सन्धि से, इनकी महा-संहिता से अभिन्न ब्रह्म-ज्ञान उत्पन्न होता है ॥३॥

विद्या में महा-सन्धियां क्या हैं? विद्या का उद्‌गम-स्थान 'आचार्य' है, विद्या का लक्ष्य शिष्य है, 'अन्तेवासी' है, अतः 'आचार्य' पूर्व-रूप है, 'अन्तेवासी', अर्थात् शिष्य उत्तर-रूप है। गुरु-शिष्य का मेल विद्या द्वारा होता है, अतः 'विद्या' सन्धि है, विद्या की अभि-व्यक्ति 'प्रवचन' से होती है, अतः 'प्रवचन' सन्धान है। वर्णों की संहिता की तरह यह विद्या की महा-संहिता है। विद्या के क्षेत्र आचार्य, अन्तेवासी, विद्या तथा प्रवचन मानो एक-एक वर्ण हैं। जैसे भिन्न-

---

अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्।
आपः संधिः। वैद्युतः संधानम्। इत्यधिज्यौतिषम् ॥३॥

अथ अधिज्यौतिषम्—अब ज्यौतिष के आधार पर वर्णन यह है; अग्निः पूर्वरूपम्—अग्नि पूर्वरूप है; आदित्यः—सूर्य; उत्तररूपम्—उत्तर रूप है; आपः—जल; संधि (सिद्ध रूप) है; वैद्युतः—विद्युत् की ज्योति (प्रकाश); संधानम्—संधान है; इति अधिज्यौतिषम्—यह ज्यौतिष के आधार पर संहिता है ॥३॥

अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्।
विद्या संधिः। प्रवचनं संधानम्। इत्यधिविद्यम् ॥४॥

अथ अधिविद्यम्—अब विद्या के आधार पर संहिता यह है; आचार्यः पूर्वरूपम्—आचार्य पूर्वरूप; अन्तेवासी—शिष्य; उत्तररूपम्—उत्तर रूप; विद्या—विद्याप्राप्ति ही; संधिः—सिद्ध वस्तु है; प्रवचनम्—उपदेश; संधानम्—धान है; इति अधिविद्यम्—यह विद्याश्रित संहिता का वर्णन हुआ ॥४॥

भिन्न वर्णों की सन्धि से एक अभिन्न अक्षर उत्पन्न होता है, वैसे आचार्य, अन्तेवासी, विद्या तथा प्रवचन को महा-सन्धि से, महा-संहिता से ब्रह्म-ज्ञान उत्पन्न होता है ॥४॥

प्रजा में महा-सन्धियां क्या है ? 'माता' पूर्व-रूप है, 'पिता' उत्तर-रूप है, 'प्रजा' सन्धि है, 'प्रजनन' सन्धान है। ये महा-संहिताएं सब-की-सब ब्रह्मज्ञान का ही उपदेश कर रही है ॥५॥

अपने आत्मा में अपने शरीर में महा-सन्धियां क्या है ? 'कर्मेन्द्रियां' पूर्व-रूप है, 'ज्ञानेन्द्रियां' उत्तर-रूप है, कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों के बीच में 'वाणी' है, यह सन्धि है, जिह्वा द्वारा वाणी अभिव्यक्त होती है, अतः 'जिह्वा' सन्धान है। ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, वाणी तथा जिह्वा का समन्वय, इनकी महा-संहिता (Great co-ordination) ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश कर रही है ॥६॥

संसार में सब जगह 'संहिता' है, समन्वय है, हर-एक वस्तु ऐसा मेल-जोल है जैसे वे एक-दूसरे के लिये ही गढ़ी गई है। ...

अथाधिप्रजम् । माता पूर्वरूपम् । पितोत्तररूपम् । प्रजा संधिः । प्रजननं संधानम् । इत्यधिप्रजम् ॥५॥

अथ अधिप्रजम्—अब प्रजा को लक्ष्य मे रख कर संहिता इस प्रका... माता पूर्वरूपम्—माता पूर्वरूप, पिता उत्तररूपम्—पिता उत्तर रूप, प्र... संतति होना, संधि—सिद्ध संहिता का रूप है, प्रजननम्—मैथुन कर्म, क्रिया, संधानम्—संधान है, इति अधिप्रजम्—यह प्रजा (संतति) ... संहिता है ॥५॥

अथाध्यात्मम् । अधरा हनुः पूर्वरूपम् । उत्तरा हनुरुत्तररूपम् । वाक् संधिः । जिह्वा संधानम् । इत्यध्यात्मम् ॥६॥

अथ अध्यात्मम्—यह आत्मा (शरीर) के आधार पर संहिता ... अधरा हनुः—जबडे का निचला भाग या कर्मेन्द्रिय, पूर्वरूपम्—... उत्तरा हनुः—जबडे का ऊपरला भाग या ज्ञानेन्द्रियाँ, उत्तररूपम्—... है; वाक्—वाणी, संधि—सन्धि है, जिह्वा संधानम्—जिह्वा... इति अध्यात्मम्—यह शरीराश्रित संहिता का निरूपण है ॥६॥

इतीमा महासंहिताः । य एवमेता महासंहिता व्याख्याता... संधीयते प्रजया पशुभिः । ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्ग्येण ... महासंहिता—महा संहिताएं ... —महासंहिताओं ...

समन्वय (Co-ordination; Adjustment) अक्षरों तथा शब्दों में ही नहीं, विश्व की सभी रचनाओं में, पृथिवी और द्यु में, अग्नि और सूर्य में, आचार्य और शिष्य में, माता और पिता में, शरीर की उभयविध इन्द्रियों में, सभी जगह पाया जाता है। जो इस महा-संहिता को, विश्व के महान् समन्वय को जानता है वह प्रजा, पशु, ब्रह्म-तेज, अन्न, स्वर्गलोक—सभी से समन्वित हो जाता है ॥७॥

(इस उपनिषद् में कहा गया है कि 'समन्वय' ही सबसे बड़ी शिक्षा है। संसार में सब जगह 'समन्वय' है। आचार्य ने शिष्य को जिस 'महासंहिता'—Great Adjustment—का उपदेश दिया है, उसे चित्ररूप में यों प्रकट कर सकते हैं :—

अधिकरण	पूर्व-रूप	उत्तर-रूप	सन्धि	सन्धान
अधिलोक	पृथिवी	द्यौ	आकाश	वायु
अधिज्यौतिष	अग्नि	सूर्य	जल	विद्युत्
अधिविद्य	आचार्य	शिष्य	विद्या	प्रवचन
अधिप्रज	माता	पिता	प्रजा	प्रजनन
अध्यात्म	कर्मेन्द्रिय	ज्ञानेन्द्रिय	वाणी	जिह्वा

इन पांचों में से एक-एक को लेकर विचार करें, तो उनमें जो महासंहिता का भाव दीख पड़ता है, एक-दूसरे के साथ ऐसा सम्बन्ध दीख पड़ता है कि मानो वे गढ़-गढ़कर एक-दूसरे के लिये रची गई हैं। यही उपनिषद् का महान् ब्रह्म-ज्ञान है। संसार का इतना महान् समन्वय (Adjustment, Co-ordination), इतनी 'महान्-संहिता' नास्तिक-से-नास्तिक को 'ब्रह्म'-ज्ञान करा देती है। इस उपनिषद् में वर्ण, स्वर, मात्रा की 'संहिता' को जीवन की 'महा-संहिता' के रूप में दर्शा कर यह बतलाया गया है कि पुस्तकों की शिक्षा में जो संहिता है वह तभी सफल हो सकती है जब वह संहिता जीवन में 'महा-संहिता' का रूप धारण कर ले।)

—व्याख्या की गई; **वेद**—जानता है; **संधीयते**—युक्त हो जाता है; **प्रजया**—प्रजा (सन्तान) से; **पशुभिः**—पशुओं से; **ब्रह्मवर्चसेन**—ब्रह्मतेज से; **अन्नाद्येन**—खाद्यान्न से; **सुवर्ग्येण**—अच्छे वर्ग (श्रेणी) वाले; **लोकेन**—स्थिति से, प्रतिष्ठा से ॥७॥

शिक्षाध्याय-वल्ली का चतुर्थ अनुवाक

जो छन्दों में ऋषभ-छन्द की भांति विश्वरूप है, जैसे सब छन्द ऋषभ-छन्द में समा जाते हैं वैसे सब रूप जिसके रूप में समा जाते हैं, जो छन्दों में से झरे हुए अमृत में से आविर्भूत होता है, वह इन्द्र, मेधा से मेरा पालन करे। मैं अमृत के दिव्य गुणों को धारण करूं। मेरा शरीर बलवान् हो। मेरी जिह्वा मधु में सनी हो। कानों से मैं खूब सुनूं। हे इन्द्र! तू ज्ञान का कोश है, खजाना है, मेधा से चारों तरफ से घिरा हुआ है। मैं जो-कुछ सुनूं उसकी मैं रक्षा भी कर सकूं—ऐसी मुझे शक्ति दे ॥१॥

मेरी मेधा नवीन ज्ञान का आवाहन करती रहे, उसका विस्तार करती रहे, अपने को शीघ्र-शीघ्र बढ़ाती रहे। मुझे वस्त्र, गाय आदि

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय ॥१॥

यः—जो; छन्दसाम्—छन्दों का, वेदों का, ऋषभः—उपदेष्टा, आदि-गुरु; ऋषभ स्वर, उत्पादक, विश्वरूपः—विश्व ही जिसका रूप (द्योतक-प्रकाशक) है, सर्वात्मा, छन्दोभ्यः—वेदों से, अमृतात्—अमृत से (वेदान्त-ज्ञान से), अधि संबभूव—उत्पन्न हुआ, प्रगट-व्यक्त होकर जाना जाता है, सः—वह, मा—मुझ को, इन्द्रः—इन्द्र (आत्मा-ब्रह्म), मेधया—धारणावती बुद्धि से; स्पृणोतु—बढ़ावे, युक्त करे, अमृतस्य—अमरत्व का, देव—हे देव, इन्द्र!, धारणः—धर्ता, भूयासम्—होऊँ, शरीरम्—शरीर, मे—मेरा, विचर्षणम्—शक्ति-सपन्न, बलयुक्त, योग्य (होवे), जिह्वा—वाणी, मे—मेरी; मधुमत्तमा—मीठी, मधुरभाषिणी (हो), कर्णाभ्याम्—कानों से, भूरि—बहुत, उत्कृष्ट बात को, विश्रुवम्—सुनूं, ब्रह्मणः—ब्रह्म का, वेद का, ज्ञान का, कोशः—भण्डार, असि—है, मेधया—बुद्धि से, पिहितः—बन्द, ढका हुआ, श्रुतम्—सुने ज्ञान को, मे—मेरे, गोपाय—रक्षा कर ॥१॥

आवहन्ती वितन्वाना। कुर्वाणाऽचीरमात्मनः। वासांसि मम गावश्च। अन्नपाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा। आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। वि मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्र मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा ॥२॥

आवहन्ती—प्राप्त कराती हुई, वितन्वाना—बढ़ाती हुई, कुर्वाणा—

पशु तथा अन्न-पान सदा प्राप्त रहे। इन सब वस्तुओं से मैं श्रीमान् रहूं। मुझे लोमश पशु भी प्राप्त हों, परन्तु इन सब धन-धान्यों को पाकर भी मैं सब-कुछ ब्रह्मार्पण कर दूं। मैं जो-कुछ पाऊं, उसे देश के युवकों की पालना में लुटा दूं। चारों तरफ़ से ब्रह्मचारी लोग मुझे घेर लें,—'आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः', विशेषकर ब्रह्मचारी ही मुझे घेरें, खूब घेरें। इन्द्रियों का दमन करने वाले, अन्तःकरण को शांत रखने वाले ब्रह्मचारी मुझे प्राप्त हों ॥२॥

ब्रह्मचारियों में ही नहीं, जन-समुदाय में भी मैं यश-रूप हो जाऊं, धनी पुरुषों में मैं श्रेष्ठ माना जाऊं। हे ऐश्वर्यरूप भगवन्! मैं तुझ में समा जाऊं, तू मुझ में समा जाय। तू सहस्र शाखाओं वाला है, यह विश्व मानो विशाल वृक्ष है, एक-एक वस्तु उसकी शाखा-

सम्पादित करती हुई; अचीरम् (अचिरम्)—तुरन्त ही; आत्मनः—मुझ आत्मा की (के लिये); वासांसि—वस्त्रों को; मम—मेरी; गावः—गौएँ; च—और; अन्नपाने—खाद्य और पेय पदार्थ; च—और; सर्वदा—हमेशा; ततः—उससे, उसके बाद; मे—मुझे, मेरी; श्रियम्—लक्ष्मी को, शोभा को, सौन्दर्य को; आवह—प्राप्त करा; लोमशाम्—रोम वाले भेड़ आदि से युक्त; पशुभिः—पशुओं के; सह—साथ; स्वाहा—यह वचन (प्रार्थना) समीचीन हो, मुझ में त्याग-बुद्धि बनी रहे; मा—मुझको; आ यन्तु—प्राप्त हों; ब्रह्मचारिणः—ब्रह्मचर्यव्रती शिष्य; स्वाहा—स्वाहा; मा वि यन्तु ब्रह्मचारिणः—मुझको ब्रह्मचारी घेरे रहें; मा प्र यन्तु ब्रह्मचारिणः—मुझे उत्कृष्ट ब्रह्मचारी मिलें; दमायन्तु ब्रह्मचारिणः—मेरे ब्रह्मचारी इन्द्रिय-निग्रही हों; शमायन्तु ब्रह्मचारिणः—मेरे ब्रह्मचारी शान्त-शीलवान् हों; स्वाहा—स्वाहा (यह 'स्वाहा' शब्द आहुति देने के लिए तथा वाक्य-परिसमाप्ति के लिए यहाँ १२ वाक्यों के अन्त में प्रयुक्त हुआ है) ॥२॥

यशो जनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा।
तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा।
तस्मिन् सहस्रशाखे। नि भगाहं त्वयि मृजे स्वाहा।
यथापः प्रवता यन्ति। यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणः।
धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व ॥३॥

यशः—यशस्वी; जने—जनता में; असानि—होऊँ; श्रेयान्—कल्याणकारी, श्रेष्ठ; वस्यसः—वास देने वाला, वसुओं से बढ़कर; असानि—होऊँ; तम्—उस; त्वा—तुझको (मैं); भग—हे ऐश्वर्यरूप इन्द्र!; प्रविशानि—

प्रशाखा हैं, ये सब तेरे नाना रूप हैं। मैं तेरे इन रूपों में से किसी में भी समा जाऊं और इस प्रकार तुझ में समाकर अपने को शुद्ध करूं। हे धाता! जैसे जल नीचे को वेग से बहते रहते हैं, जैसे मास वर्षों में वेग से विलीन होते जाते हैं, ऐसे ही चारों तरफ से ब्रह्मचारी मेरी तरफ उमड़ पड़ें। हे भगवन्! आप विश्राम के स्थान हैं, जो भी प्राणी जीवन के मार्ग पर चल रहा है उसे पहुंचना आप तक ही है, इसलिये मुझे प्रकाश दीजिये ताकि अन्धकार के कारण मैं भटक न जाऊं, आप मुझे प्राप्त हों, अगर मैं भटक भी जाऊं, तो भी आप मुझे ठीक रास्ते पर डाल दें ॥३॥

शिक्षाध्याय-वल्ली का पचम अनुवाक

'भूः'–'भुवः'–'सुवः'—ये तीन व्याहृतियां हैं। महाचमस ऋषि के पुत्र को एक चौथी व्याहृति का ज्ञान था, वह व्याहृति है, 'महः'। 'महः' ब्रह्म है, आत्मा है, अन्य देवता 'महः' के अंग हैं। 'भूः' का

प्रवेश करूं, प्राप्त होऊं, सः—वह (तू), मा—मुझ को (मेें), भग—हे ऐश्वर्य-प्रदाता!, प्रविश—प्रविष्ट हो, मुझे मत विसरा, तस्मिन्—उस, सहस्रशाखे—अनन्त शाखा (विस्तार) वाले, भग—हे ऐश्वर्यवन्! अहम्—मैं, त्वयि—तुझ में (प्रविष्ट–लीन होकर), नि मृजे—(अपने आपको) शुद्ध (पापों से रहित) करता हूँ, यथा—जैसे, आपः—जल, प्रवता—निम्नगा नदियां को, यथा—जैसे, मासा—महीने, अहर्जरम्—संवत्सर (वर्ष) को प्राप्त होते हैं, एवम्—इस ही प्रकार माम्—मुझ को, ब्रह्मचारिण—ब्रह्मचारी वर्ग धातः—हे धाता (जगत के धारयिता), आ यन्तु—आवें, प्राप्त हों, सर्वतः—चारों दिशाओं से, स्वाहा—यह ही मेरा 'स्व' या 'आहा' त्याग (आत्म-समर्पण) है, प्रतिवेशः असि—तू ही (सब का) विश्राम भूमि है, मा—मुझको, प्र भाहि—(ज्ञानी) कर, मा—मुझको, प्र पद्यस्व—प्राप्त हो (मैं तुझे पा जाऊं) ॥३॥

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थीम्।
माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। तद्ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः।
भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः।
मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते ॥१॥

भूः, भुवः, स्वः—भूः, भुवः, स्वः, इति वै एताः—प्रसिद्ध ये, तिस्रः—तीन, व्याहृतयः—व्याहृतियां हैं, तासाम्—उनकी, उ ह—निश्चय ही, एताम्—

अर्थ है, यह लोक; 'भुवः' का अर्थ है, अन्तरिक्ष-लोक; 'सुवः' का अर्थ है, अन्तरिक्ष से ऊपर का लोक; 'महः' का अर्थ है, आदित्य-लोक। आदित्य से ही अन्य तीनों लोक प्रकाशित होते हैं ॥१॥

'भूः' अग्नि है; 'भुवः' वायु है; 'सुवः' आदित्य है; 'महः' चन्द्र है। चन्द्र की ज्योति से ही सब ज्योतियों की महिमा है, अन्य ज्योतियों में उष्णता है, चन्द्र की ज्योति में शीतलता है, इसलिए चन्द्र की ज्योति से सब ज्योतियों की महिमा है।

इस; चतुर्थीम्—चौथी (व्याहृति) को; माहाचमस्यः—महाचमस का पुत्र; प्रवेदयते स्म—बताया करता था, जानता था; महः इति—'महः' इस नाम वाली; तद्—वह 'महः' (महान् होने से); ब्रह्म—ब्रह्म ही है; सः आत्मा—वह ही आत्मा है; अंगानि—अंग हैं; अन्याः—दूसरे; देवताः—दिव्य ('भूः-भुवः-स्वः' व्याहृतियों से वाच्य तत्त्व); भूः इति—'भूः' यह; वै—ही; अयम् लोकः—यह पृथिवी लोक है; भुवः इति अन्तरिक्षम्—'भुवः' यह अन्तरिक्ष लोक है; सुवः इति—'स्वः' यह; असौ—यह (दूरवर्ती); लोकः—लोक (द्युलोक) है; महः इति आदित्यः—'महः' यह आदित्य (सूर्य) का नाम है; आदित्येन—सूर्य से; वा व—ही; सर्वे—सारे (भू आदि); लोकाः—लोक; महीयन्ते—प्रकाशित होते हैं, वृद्धि को प्राप्त होते हैं, महान् हैं ॥१॥

भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः।
मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते ॥२॥

भूः इति वै अग्निः—'भूः' यह अग्नि का नाम है; भुवः इति वायुः—'भुवः' यह वायु का नाम है; सुवः इति आदित्यः—'स्वः' यह सूर्य का नाम है; महः इति चन्द्रमाः—'महः' चन्द्रमा है; चन्द्रमसा—चन्द्रमा से; वा व—ही; सर्वाणि—सारी; ज्योतींषि—ज्योतियाँ; महीयन्ते—महत्त्व वाली हैं ॥२॥

भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूंषि। मह इति
ब्रह्म। ब्रह्मणा वा व सर्वे वेदा महीयन्ते। भूरिति वै प्राणः। भुव
इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा
महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः।
ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥३॥

भूः इति वै ऋचः—'भूः' यह ऋचाओं—छन्दों का नाम है; भुवः इति सामानि—'भुवः' यह साम-वेद है; सुवः इति यजूंषि—'स्वः' यह यजुर्वेद का नाम है; महः—'महः' इति—यह; ब्रह्म—ब्रह्म (आदि-गुरु ईश्वर) है; ब्रह्मणा—

'भूः' ऋक् है; 'भुवः' साम है; 'सुवः' यजु है; 'महः' ब्रह्म है। ब्रह्म से ही सब वेदों की महिमा है। 'भूः' प्राण है; 'भुवः' अपान है; 'सुवः' व्यान है; 'महः' अन्न है। अन्न से ही सब प्राणों की महिमा बनी रहती है, अन्न की कमी से प्राण सूखने लगते हैं। इस प्रकार चारों व्याहृतियों के चार प्रकार से अर्थ हैं, अर्थात् चारों व्याहृतियों के चार-चार अर्थ हैं। जो इन सोलहों को जानता है, वह ब्रह्म को जानता है; सब देवता ऐसे ज्ञानी के सम्मुख भक्ति के उपहार लाते हैं ॥३॥

चारों व्याहृतियों के चार-चार अर्थ निम्न चित्र से स्पष्ट हो जायेंगे। इनमें 'महाचमस' ऋषि को 'महः'-व्याहृति का ज्ञान और उसका जो अर्थ ज्ञात हुआ उसे उपनिषत्कार ने विशेष माना है :—

	अधिलोक	अधिज्योतिष	अधिविद्य	अध्यात्म
भूः	पृथिवी	अग्नि	ऋक्	प्राण
भुवः	अन्तरिक्ष	वायु	साम	अपान
सुवः	द्युलोक	आदित्य	यजु	व्यान
महः	आदित्य	चन्द्रमा	ब्रह्म	अन्न

ब्रह्म (ईश्वर) से, वा व—ही, सर्वे वेदा महीयन्ते—सारे वेद महिमा (प्रतिष्ठा) पाते हैं।

भूः इति प्राणः—'भूः' यह (शरीर में) प्राण का नाम है, भुवः इति अपानः—'भुवः' यह अपान का नाम है, सुवः इति व्यानः—'स्वः' यह व्यान है; महः इति अन्नम्—'महः' यह अन्नवाची है, अन्नेन वा व—अन्न से ही, सर्वे—सारे, प्राणाः—प्राण, महीयन्ते—बढ़ते हैं, ताः वै—वे ही, एताः—ये; चतस्रः—चारों व्याहृतियाँ; चतुर्धा—(लोक, ज्योति, वेद और प्राण के भेद से) चार प्रकार की हैं; चतस्रः चतस्रः—(कुल मिला कर चार व्याहृतियाँ चार प्रकार की) सोलह, व्याहृतयः—व्याहृतियाँ हैं, ताः—उन सोलहों को, यः वेद—जो जानता है; सः—वह, वेद—जान सकता है, ब्रह्म—परमात्मा को, वेद को, सर्वे—सारे, अस्मै—इस (व्याहृति-ज्ञाता) को, देवाः—विद्वान् लोग, या दिव्य शक्तियाँ; बलिम्—पूजा-सत्कार रूप में उपहार; आवहन्ति—लाते हैं ॥३॥

शिक्षाध्याय-वल्ली का षष्ठ अनुवाक

हृदय के भीतर जो आकाश है, उसमें पुरुष का निवास है। वह पुरुष मनोमय है, अमृत है, हिरण्मय है। तालु के भीतर स्तन की तरह जो लटकता है, वह इन्द्र अर्थात् जीवात्मा की योनि है। यह जीव, केशों का जहां अन्त है, वहां तक जीवन पहुंचाता है—वहां तक बरतता है। जिस प्रकार योनि गर्भ के निकलने का मार्ग है, उसी प्रकार मुक्तात्मा के लिये सुषुम्णा नाड़ी, जो काकु (Uvula) में से गुज़र कर, कपाल को भेद कर, बालों का जहां अन्त है वहां से जाती है, वह सुषुम्णा नाड़ी आत्मा के शरीर में से निकलने का मार्ग है (ऐतरेय १-३-१२; प्रश्न ३-७, छान्दोग्य ८-६) ॥१॥

इस प्रकार जो मुक्त होता है, वह कपालों को भेदकर, पिछले अनुवाक में जिन 'भूः'-'भुवः'-'स्वः'-'महः'—इन चार व्याहृतियों का

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः।
अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते।
सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले ॥१॥

सः—वह; **यः**—जो; **अन्तर्हृदये**—हृदय के अन्दर; **आकाशः**—आकाश है; **तस्मिन्**—उस (आकाश में); **अयम्**—यह; **पुरुषः**—(शरीर का अधिष्ठाता) जीवात्मा (रहता है); **मनोमयः**—मन (अन्तःकरणों) से युक्त; **अमृतः**—अमर; **हिरण्मयः**—ज्योतिर्मय; **अन्तरेण तालुके**—दोनों तालुओं के बीच में; **यः एषः**—जो यह; **स्तनः इव**—स्तन की तरह (मांस-खण्ड—काकु); **अवलम्बते**—लटक रहा है; **सा**—वह; **इन्द्रयोनिः**—इन्द्र (जीवात्मा) के (मरने पर निकलने का) मार्ग है; **यत्र**—जहाँ; **असौ**—यह; **केशान्तः**—बालों की जड़-मूल है; **विवर्तते**—विशिष्टतया वर्तमान है, बरतता है; रूप बदलता है, शरीर बदलता है, शरीर से बाहर होता है; **व्यपोह्य**—फाड़ कर, उपेक्षा कर; **शीर्षकपाले**—सिर की खोपड़ी में, या सिर के दोनों कपालों को ॥१॥

भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ। सुवरित्यादित्ये।
मह इति ब्रह्मणि। आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति
मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः।
एतत्ततो भवति। आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्मप्राणारामं
मन आनन्दम्। शान्तिसमृद्धममृतम्। इति प्राचीनयोग्योपास्स्व ॥२॥

(मरने पर) **भूः इति**—पूर्ववर्णित शरीर का प्राण या अग्नि तत्त्व; **अग्नौ**—कारण अग्नि तत्त्व में; **प्रतितिष्ठति**—लीन हो जाता है; **भुवः इति**—(शरीर का)

वर्णन किया गया है—उनका ही रूप हो जाता है। यह शरीर तत्त्वो का बना है। मरने पर तत्त्व तत्त्वो में मिल जाते हैं। 'भू', अर्थात् उसके पिंड की अग्नि ब्रह्मांड की अग्नि में मिल गई; 'भुव.', अर्थात् उसके पिंड की प्राण-वायु ब्रह्मांड की वायु में मिल गई; 'स्व.', अर्थात् उसके पिंड का आदित्य—चक्षु आदि इन्द्रियां—ब्रह्मांड के आदित्य में मिल गईं; 'मह.', अर्थात् उसकी पिंड की महत्ता, उसका व्यक्तित्व विश्व की, ब्रह्मांड की महान् विभूति में समा गया। अथवा, 'भू', 'भुव.', 'सुवः' 'महः'—इन चार व्याहृतियो का जो उसे ज्ञान प्राप्त हो गया था, उसके फल-स्वरुप वह 'अग्नि', 'वायु', 'आदित्य' और 'ब्रह्म' में जाकर प्रतिष्ठित हो जाता है। पंचम अनुवाक में दर्शाया गया है कि 'भू.' का सम्बन्ध 'अग्नि' से है। 'भू' व्याहृति को जिसने जीवन में आत्मसात् कर लिया है, वह मृत्यु के समय, इसके फलस्वरूप, 'अग्नि-रूप' हो जाता है, अर्थात् तेजस्वी हो जाता है। 'भुव' का सम्बन्ध 'वायु' से है। 'भुव.' व्याहृति को जिसने जीवन में आत्मसात् कर लिया है, वह मृत्यु के समय, इसके फलस्वरूप, 'वायु-रूप' हो जाता है, अर्थात् बन्धन-रहित हो जाता है। 'सुव' का सम्बन्ध 'आदित्य' से है। 'सुव' व्याहृति को जिसने जीवन में आत्मसात् कर लिया है, वह मृत्यु के समय, इसके फलस्वरूप, 'आदित्य-रूप' हो जाता है, अर्थात्

अपान या वायु तत्व, वायौ—वायु तत्त्व मे सुव. इति—(शरीर का) व्यान या चक्षु इत्यादि इन्द्रियां, आदित्ये—सूर्य मे, मह इति—(शरीर का) अन्न या महिमा, ब्रह्मणि—महान् ब्रह्म मे (लीन हो जाता है), (वह जीवात्मा स्वय) आप्नोति—पा लेता है, स्वाराज्यम्—अपनी इन्द्रियो पर आधिपत्य को, आप्नोति—पा लेता है, मनसस्पतिम्—मन के शासन को, (वह) वाक्पति—वाणी का स्वामी, चक्षुष्पति—आंख का स्वामी, श्रोत्रपति—कान का पति, विज्ञानपति—बुद्धि का अधिष्ठाता, एतत्—यह सब ही कुछ, तत—उसके बाद, भवति—हो जाता है, आकाशशरीरम्—आकाशरूपी शरीर वाले, ब्रह्म—ब्रह्म को, सत्यात्म-प्राणारामम्—सत्य रूप आत्मा वाले और प्राणो मे ही विश्राम अनुभव करने वाले, मन आनन्दम्—आनन्दमय मनवाले, शान्ति-समृद्धम्—अत्यधिक शान्ति से सम्पन्न, अमृतम्—जरा-मरण से रहित ब्रह्म को, इति—इस रूप में; प्राचीनयोग्य—हे चिर-सहचारी शिष्य! उपास्स्व—तू उपासना कर, भक्ति कर ॥२॥

महान् तेजस्वी हो जाता है। 'महः' का सम्बन्ध 'ब्रह्म' से है। 'महः' व्याहृति को जिसने जीवन में आत्मसात् कर लिया है, वह मृत्यु के समय, इसके फल-स्वरूप, 'ब्रह्म-रूप' हो जाता है, अर्थात् सब तरह से महान्-ही-महान् हो जाता है। अबतक वह बंधा हुआ था, दूसरों की महानता से महत्ता प्राप्त करता था, अब अपनी महत्ता से महान् कहलाता है, अब उसे अपना राज्य—स्वराज्य—प्राप्त हो जाता है। उसे मन का स्वामित्व, वाणी, चक्षु, श्रोत्र, विज्ञान का प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है। अब तक जो उसका क्षुद्र रूप था उसे छोड़कर वह अग्नि, वायु, आदित्य—यह ब्रह्म का विशाल रूप धारण कर लेता है। अबतक हृदय के आकाश में उसका वास था, अब भू-लोक के महान् आकाश को वह अपना शरीर बना लेता है, सत्य उसका आत्मा हो जाता है, प्राण हो जाता है, विश्राम-स्थान हो जाता है। आनन्द ही उसका मन हो जाता है, शांति ही उसकी सम्पत्ति हो जाती है, वह अमृत हो जाता है। चार व्याहृतियों के अनुष्ठान द्वारा क्षुद्र जीवन से महान् जीवन में परिणत होने की यह प्रक्रिया है। हे प्राचीन-योग्य! प्राचीन-काल से, जन्म-जन्मान्तर से योग्यता वाले संस्कारी शिष्य! इस प्रकार के जीवन की उपासना कर ॥२॥

शिक्षाध्याय-वल्ली का सप्तम अनुवाक

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः, दिशाएं, अवान्तर दिशाएं—यह एक पंचक, अर्थात् पांच का समुदाय है। अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्र—यह दूसरा पंचक है। जल, ओषधि, वनस्पति, आकाश,

---

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशाः। अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्। अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्। चर्म मा्ँसँ स्नावास्थि मज्जा। एतदधिविधाय ऋषिरवोचत्। पाङ्क्तं वा इदँ सर्वम्। पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तँ स्पृणोतीति ॥१॥

पृथिवी, अन्तरिक्षम्, द्यौः, दिशः, अवान्तरदिशाः—पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाएँ, अवान्तर (दिशाओंके मध्य या कोण की) दिशाएँ (इनका एक 'पंचक' है); अग्निः, वायुः, आदित्यः, चन्द्रमाः, नक्षत्राणि—अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र (इनका एक 'पंचक' है); आपः, ओषधयः, वनस्पतयः, आकाशः,

आत्मा—यह तीसरा पंचक है। ये तीनों पंचक ब्रह्मांड में हैं, अतः ये 'अधिभूत'-पंचक कहलाते हैं। इसी प्रकार पिंड में भी पंचक हैं, और मनुष्य-शरीर में होने के कारण वे 'अध्यात्म'-पंचक कहलाते हैं। प्राण, व्यान, अपान, उदान, समान—यह एक पंचक है। चक्षु, श्रोत्र, मन, वाक्, त्वक्—यह दूसरा पंचक है। चर्म, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा—यह तीसरा पंचक है। ब्रह्मांड तथा पिंड के इन तीन-तीन पंचकों की गणना करके ऋषि ने कहा—ये सब पांच-पांच ही हैं। एक पंचक से दूसरे पंचक को पालना होती है, ब्रह्मांड का तथा पिंड का आपस में सम्बन्ध है। इस सृष्टि में 'ब्रह्मांड' (Macrocosm) तथा 'पिंड' (Microcosm) का एक-दूसरे से समन्वय है ॥१॥

शिक्षाध्याय-वल्ली का अष्टम अनुवाक

'ओम्' ही ब्रह्म है, 'ओम्' ही यह सब-कुछ है, संसार 'ओम्' की ही अनुकृति है, गुरु शिष्य को पाठ सुनाने के लिये जब कहता है,

---

आत्मा—जल, ओषधियाँ, बड़े वृक्ष, आकाश और आत्मा (इनका एक 'पंचक' है), इति—ये तीनों पंचक, अधिभूतम्—भूत (ब्रह्माण्ड) सम्बन्धी 'पंचक' हैं, अथ—अब, अध्यात्मम्—आत्मा (पिंड) सम्बन्धी पंचक कहते हैं, प्राण, व्यान, अपान:, उदान:, समान:—प्राण, व्यान, अपान, उदान, समान (इनका एक 'पंचक' है), चक्षु, श्रोत्रम्, मन, वाक्, त्वक्—आँख, कान, मन, वाणी, त्वचा (इनका एक 'पंचक' है), चर्म, मांसम्, स्नावा, अस्थि, मज्जा—चमड़ा, मांस, नस-नाड़ी, हड्डियाँ, मज्जा (इनका एक 'पंचक' है और ये तीनों पंचक 'अध्यात्म-पंचक' कहलाते हैं), एतत्—यह (इसके), अधिविधाय—आधार पर कल्पना या गणना करके, ऋषि:—उपनिषद्वेत्ता, ब्रह्मविद् ज्ञानी ने, अवोचत्—कहा था, पांक्तम्—पंचकमय, (समूहमय, संगठित), वै—ही, इदम्—यह, सर्वम्—सारा विश्व (है), पांक्तेन—एक पंचक से (द्वारा), एव—ही, पांक्तम्—दूसरे पंचक को, स्पृणोति—विस्तृत करता है, बढ़ाता है, पालन करता है ॥१॥

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्। ओमित्येतदनुकृति ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओं शोमिति शस्त्राणि शंसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥१॥

ओम् इति—'ओम्' यह ही, ब्रह्म—सब से बड़ा परमात्मा (ओम्पद का

तब शिष्य 'ओम्' कहकर ही पाठ सुनाता है, 'ओम्' कहकर साम का गान करता है। शस्त्र-पाठ 'ओम्' से, और समाप्ति 'शमोम्'—'शोम्'—से होती है। अध्वर्यु 'ओम्' कहकर यजुर्वेद का पाठ करता है, ब्रह्मा 'ओम्' से परमात्मा की स्तुति करता है, और 'ओम्' कहकर ही अग्निहोत्र प्रारम्भ करने की अनुज्ञा देता है। ब्राह्मण प्रवचन करते समय 'ओम्' का प्रयोग करता है, और कहता है कि मैं ब्रह्म को प्राप्त करूं, इस प्रकार वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥१॥

शिक्षाध्याय-वल्ली का नवम अनुवाक

'ऋत' का पालन करे, परन्तु स्वाध्याय और प्रवचन को न भूले; 'सत्य' का पालन करे, परन्तु स्वाध्याय और प्रवचन को न छोड़े;

वाच्य) है; ओम् इति—ओंवाच्य ब्रह्म ही; इदम् सर्वम्—यह सब कुछ है (सब विश्व में व्याप्त है); ओम् इति—ओम् इस ही की; एतद्—यह विश्व; अनुकृति—अनुकरण, व्यक्त रूप है; ह स्म वै—यह प्रसिद्ध है कि; ओम्—ओम् कहकर; श्रावय—सुनाओ; इति—ऐसा करने पर ही; आश्रावयन्ति—सुनाते हैं, प्रवचन करते हैं; ओम् इति—ओम् का (उच्चारण कर); सामानि—साम-मन्त्रों को (का); गायन्ति—गान करते हैं; ओं शोम् इति—ओम् से आरम्भ कर शोम् (शम्+ओम्) से समाप्ति कर; शस्त्राणि—स्तुति-प्रशंसापरक मंत्रों का; शंसन्ति—पाठ करते हैं; ओम् इति—ओम् ऐसा कहकर ही; अध्वर्युः—अध्वर्यु ऋत्विग्; प्रतिगरम्—यजुर्वेद के विशिष्ट मंत्रों का; प्रतिगृणाति—पाठ करता है; ओम् इति—ओम् का उच्चारण कर; ब्रह्मा—ब्रह्मा (ऋत्विग्); प्रसौति—यज्ञ का आरम्भ करता है; ओम् इति—ओम् कहकर ही; अग्निहोत्रम्—अग्निहोत्र की; अनुजानाति—अनुज्ञा देता है; ओम् इति—ओम् ऐसा कहकर ही; ब्राह्मणः—ब्राह्मण; प्रवक्ष्यन्—प्रवचन करने से पूर्व; आह—कहता है; ब्रह्म—(ओम्पद वाच्य) ब्रह्म को; उपाप्नवानि—मैं प्राप्त कर लूं; इति—और; ब्रह्म एव उपाप्नोति—ब्रह्म को ही प्राप्त कर लेता है ॥१॥

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥१॥

ऋतम् च स्वाध्यायप्रवचने च—ऋत (की साधना करे) और अध्ययन

'तप' करे, परन्तु स्वाध्याय और प्रवचन को भी साथ रखे; दम-शम-अग्न्याधान-अग्निहोत्र-अतिथिसेवा-मनुष्यसेवा-प्रजापालन-संतानोत्पत्ति-पुत्र-पौत्र का पालन—सभी कुछ करे, परन्तु स्वाध्याय तथा प्रवचन का त्याग कभी न करे।

'सत्य' ही सब-कुछ है, यह सत्यवाक् रथीतर के पुत्र का कहना है, 'तप' ही सब-कुछ है, यह तपस्वी पुरुशिष्ट के पुत्र का कथन है, 'स्वाध्याय तथा प्रवचन' ही सब-कुछ है, यह मुद्गल के पुत्र नाक का कथन है—वह कहता था कि स्वाध्याय ही तप है, प्रवचन ही तप है, परन्तु ऋत, सत्य, तप, दम आदि के साथ स्वाध्याय और प्रवचन को कभी नहीं छोड़ना चाहिये। ('स्वाध्याय' का अर्थ है—'स्व' का स्वयं अध्ययन करना, और 'प्रवचन' का अर्थ है—स्वाध्याय किये हुए का दूसरों को उपदेश देना।) ॥१॥

शिक्षाध्याय-वल्ली का दशम अनुवाक

कठ (६-१) में कहा है कि यह शरीर 'उल्टा टंगा हुआ वृक्ष' है—'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः'। मैं इस शरीर-रूपी वृक्ष को ढोये-ढोये फिरता

और अध्यापन (साथ-साथ करता रहे), सत्यम् च—सत्य पालन के साथ स्वाध्याय प्रवचन भी करता रहे, दमः—इन्द्रिय-मन का निग्रह; शमः—मन की शान्ति, अग्नयः—अग्न्याधान, अग्निहोत्रम्—दैनिक अग्निहोत्र; अतिथयः—अतिथि-पूजा-सत्कार, मानुषम्—मनुष्य-सेवा, पितृ-यज्ञ, प्रजा—सन्तति-पालन; प्रजनः—सन्तानोत्पत्तिकर्म, प्रजातिः—वंश-वृद्धि (पुत्र के विवाह द्वारा)—इन सब के साथ-साथ अध्ययन-अध्यापन जारी रहना चाहिए।

सत्यम्—सत्य का ही पालन करना चाहिये, सत्य-वचन ही मुख्य है; इति—यह मत; सत्यवचाः—सत्यवक्ता या सत्यवचानामक, राथीतरः—रथीतर के सगोत्री (का है); तपः—तप ही मुख्य है; इति—यह मत; तपोनित्यः—नित्य (अनवरत) तप करने वाले; पौरुशिष्टिः—पुरुशिष्ट के पुत्र (आचार्य का है); स्वाध्याय-प्रवचने एव—केवल अध्ययन-अध्यापन ही मुख्य हैं, इति—यह मत; नाकः—नाक-नामक, मौद्गल्यः—मुद्गल गोत्री (आचार्य का है); तद् हि तपः—वह ही तप है; तद् हि तपः—वह ही परम तप है ॥१॥

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो
वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणं सुवर्चसम्। सुमेधा
अमृतोक्षितः। इति त्रिशंकोर्वेदानुवचनम् ॥१॥

अहम्—मैं (जीवात्मा); वृक्षस्य—शरीर-रूपी वृक्ष के; रेः—प्रेरयिता के; इवा—समान हूँ; कीर्तिः—(मेरा) यश; पृष्ठम्—ऊपरी सतह, शिखर;

हूं। में इससे पृथक् हूं। मेरी कीर्ति इतनी फैले जितनी फैली हुई पहाड़ की पीठ होती है। पर्वत की चोटी पर जैसे पवित्र हिम होती है, उसी प्रकार पवित्रता को लेकर में ऊंचा उठूं। मेरे उठने में अपवित्रता नहीं, हिम की-सी पवित्रता सहायक हो। अन्नों में मैं अमृत की भांति होऊं, धनों में वर्चस्वी धन की भांति होऊं, बुद्धि में क्षीण न होने वाली अमर मेधा की भांति होऊं। त्रिशंकु ऋषि के ये वेद को आधार लेकर कहे हुए वचन हैं ॥१॥

शिक्षाध्याय-वल्ली का एकादश अनुवाक

वेद पढ़ चुकने के अनन्तर दिया गया दीक्षान्त-भाषण

वेद-विद्या पढ़ा चुकने के अनन्तर आचार्य अन्तेवासी को, शिष्य को अनुशासन करता है, और दीक्षान्त-भाषण (Convocation address) देता हुआ कहता है—सत्य बोलना। धर्माचरण करना। स्वाध्याय से प्रमाद मत करना। आचार्य को जो प्रिय हो वह दक्षिणारूप में उसे देकर ब्रह्मचर्याश्रम के अनन्तर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना, और प्रजा के सूत्र को मत तोड़ना। सत्य बोलने से प्रमाद न करना; धर्माचरण से प्रमाद न करना; जिस बात से तुम्हारा भला

गिरेः—पर्वत की; इव—तरह (शुभ्र और विस्तृत है); ऊर्ध्वपवित्रः—उन्नत, ऊपर उठा हुआ, उच्च और पवित्र; वाजिनि—अन्न और ज्ञान वाले में; इव—तरह; सु अमृतम् अस्मि—मैं अत्यधिक अमृत हूँ; (मेरा) द्रविणम्—धन-सम्पत्ति; सुवर्चसम्—तेजोयुक्त (हो, तेजोहानि करने वाला न हो); सुमेधा—अच्छी बुद्धि वाला (मैं); अमृत+उक्षितः—अमृत (अमरत्व) से सिंचित (युक्त) होऊँ; इति—यह; त्रिशंकोः—त्रिशंकु ऋषि का; वेदानुवचनम्—वेदानुसारी उपदेश (है) ॥ १॥

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥१॥

वेदम्—वेद का; अनूच्य—उपदेश करके; आचार्यः—आचार्य; अन्तेवासिनम्—सदा साथ संरक्षा में रहने वाले शिष्य को (गुरुकुल छोड़ घर जाते समय); अनुशास्ति—उपदेश करता है; सत्यम् वद—सत्य बोलना; धर्मम्—

हो उससे प्रमाद मत करना, अपनी विभूति बढाने में प्रमाद मत करना, स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद मत करना ॥१॥

संसार में जो 'देव' हैं, तुमसे 'गुणों' में बढ़े-चढ़े हैं, और जो 'पितर' हैं, 'आयु' में बड़े हैं, उनके प्रति अपने कर्तव्य के पालन में प्रमाद मत करना। माता को देवी समझना। पिता, आचार्य, अतिथि इन्हें देव मानना। हमारे जो अनिन्दित कर्म हैं उन्हीं का सेवन करना, दूसरों का नहीं। जो हमारे सुचरित हैं उन्हीं को उपास्य समझना, दूसरों को नहीं ॥२॥

चर—धर्म का आचरण करना, स्वाध्यायाद् मा प्रमदः—स्वाध्याय से मत विमुख होना (प्रमाद करना), आचार्याय—आचार्य के लिये, प्रियम—उनके अभीष्ट, धनम्—धन को, आहृत्य—लाकर (समावर्तन विधि कर), प्रजातन्तुम्—वंश-परम्परा को, मा—मत, व्यवच्छेत्सी—काटना (उसे आगे बढाना), (इस द्वितीय आश्रम में भी) सत्यात्—सत्य-कथन से, धर्मात्—धर्म से, कुशलात्—(अपने) कुशल-क्षेमसाधक कार्यों से, भूत्यै—ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए (में), स्वाध्याय-प्रवचनाभ्याम्—अध्ययन और अध्यापन से, न—नहीं, प्रमदितव्यम्—प्रमाद करना चाहिए ॥१॥

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव।
आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि,
तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि,
तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥२॥

देव-पितृकार्याभ्याम् न प्रमदितव्यम्—देव-कार्य (ब्रह्मयज्ञ-संध्या, देवयज्ञ-दैनिक अग्निहोत्र) से और पितृ-कार्य (बड़े बूढ़ों, माता-पिता आदि की सेवा-पितृ-यज्ञ) में प्रमाद नहीं करना चाहिए, मातृदेव भव—माता को देवता जान सेवा करना, पितृदेव—पिता को देवता के समान समझने वाला, भव—हो, आचार्यदेव, अतिथिदेव—आचार्य और अतिथि को देव-समान जान उनकी सेवा में तत्पर, भव—हो, यानि—जो, अनवद्यानि—अनिन्दित, शिष्ट-सम्मत, कर्माणि—कार्य हैं, तानि—उनको (का), सेवितव्यानि—सेवन कर, आचरण कर, नो—नहीं, इतराणि—इनसे भिन्न (निन्दित) कर्मों का, यानि—जो, अस्माकम्—हमारे, सुचरितानि—अच्छे आचरण हैं, तानि—वे ही, त्वया—तूने, उपास्यानि—आचरण करने चाहियें, नो—नहीं, इतराणि—इनसे उलटे दुश्चरित्र ॥२॥

हमसे श्रेष्ठ विद्वान् जहां बैठे हों वहां उनके उपदेश को ध्यान से सुनना, वाद-विवाद में मत पड़ना। श्रद्धा से देना; अश्रद्धा से भी देना। अपनी बढ़ती श्री में से देना; श्री न बढ़ रही हो, तो भी लोक-लाज से देना। भय से देना, प्रेम से भी देना ॥३॥

ऐसा करते हुए भी अगर किसी काम में सन्देह उत्पन्न हो जाय, यह समझ न पड़े कि 'धर्माचार' क्या है अथवा किस स्थिति में कैसे बरतना है, 'लोकाचार' क्या है—यह सन्देह खड़ा हो जाय, तो तुम्हारे आस-पास के धर्म-कार्य में स्वतः प्रवृत्त, प्रेरणावश प्रवृत्त, अरूक्ष-स्वभाव के, सब पहलुओं पर विचार करने वाले ब्राह्मण जैसे बरते वैसे बरतना। 'विवादास्पद' विषयों में भी युक्त, आयुक्त, अरूक्ष, धर्म-काम, संमर्शी ब्राह्मणों के पीछे ही चलना। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेद और उपनिषद् का सार है, यही हमारा अनुशासन है, ऐसा ही आचरण करना, ऐसा ही अनुष्ठान करना ॥४॥

ये के चास्मच्छ्रेयाँसो ब्राह्मणाः, तेषां त्वयाऽऽसनेन
प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्।
ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम् ॥३॥

ये के च—और जो कोई; **अस्मत्**—हमसे; **श्रेयांसः**—श्रेष्ठ, बढ़कर; **ब्राह्मणाः**—ज्ञानी ब्राह्मण हों; **तेषाम्**—उनकी; **त्वया**—तूने; **आसनेन**—पूजार्थ आसन देने आदि से; **प्रश्वसितव्यम्**—संतुष्टि करनी चाहिये, उन्हें प्रसन्न रखना; (दान के विषय में) **श्रद्धया**—श्रद्धापूर्वक; **अश्रद्धया**—श्रद्धा न होने पर भी; **श्रिया**—(अपने पास) लक्ष्मी होने के कारण; **ह्रिया**—लोक-लाज के कारण; **भिया**—भय के कारण (निस्तार पाने के लिए); **संविदा**—ठहराव के कारण या मित्र-कार्य (प्रेमवश) से; **देयम्**—दान अवश्य करना चाहिए ॥३॥

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम् ॥४॥

अथ—और, **यदि**—अगर; **ते**—तेरी; **कर्म-विचिकित्सा**—किसी कार्य कर्म में संशय; **वा**—या; **वृत्तविचिकित्सा**—आचार में संदेह; **वा**—या; **स्यात्**

शिक्षाध्याय-वल्ली का द्वादश अनुवाक

मित्र, वरुण, अर्यमा हमारे लिये कल्याणकारी हों; इन्द्र, बृहस्पति, महान् पराक्रम वाला विष्णु हमारे लिये कल्याणकारी हो। हे ब्रह्म, तुझे नमस्कार है। हे वायु! तुझे नमस्कार है। हे वायु! तू ही प्रत्यक्ष-ब्रह्म है। तुझे ही अपने अध्ययन-काल में मैंने प्रत्यक्ष-ब्रह्म कहा, ऋत कहा, सत्य कहा। हे वायु-रूप प्रत्यक्ष-ब्रह्म! मेरी रक्षा कर, मेरे उपदेष्टा आचार्य की रक्षा कर, मेरी रक्षा कर, मेरे आचार्य की रक्षा कर। ओ३म् शांतिः शांतिः शांतिः ॥१॥

—उत्पन्न हो जाय, (तो); ये—जो; तत्र—वहाँ; ब्राह्मणाः—ज्ञानी ब्राह्मण, सम्मर्शिनः—विचारशील, परामर्श देने में समर्थ, युक्ताः—स्वयं (उस कार्य में) लगे हुए; आयुक्ताः—किसी से नियुक्त या प्रेरित; अलूक्षाः—स्वभाव में रूखे न हों, स्नेहमय हों; धर्मकामाः—धर्म-वृद्धि चाहने वाले; स्युः—होवें; यथा—जैसे; ते—वे; तत्र—वहां या उन संदिग्ध कार्यों में; वर्तेरन्—वर्ताव करें, व्यवहार करें, तथा—वैसे ही; तत्र—वहाँ, उन कार्यों में, वर्तेथाः—तू वरतना, व्यवहार करना, अथ—और, अभ्याख्यातेषु—(तेरे मन में सन्देह न रहने पर भी जिन कर्म या आचार में) विवादमय दोष लगाया गया हो, विवादास्पद विषयों में; ये तत्र ब्राह्मणाः .... वर्तेथाः—जो वहाँ ज्ञानी ब्राह्मण विचारशील, स्वयं प्रवृत्त या पर-प्रेरित, स्नेहमय, धर्म-वृद्धि चाहने वाले हों जैसे वे उन (विवादास्पद बातों) में व्यवहार करें, वैसे ही तू भी व्यवहार करना, एषः आदेशः—यह ही (हमारी) आज्ञा है, एषः उपदेशः—यह ही (हमारा तुम्हें) उपदेश (परामर्श) है, एषा—यह ही; वेदोपनिषद्—वेद का रहस्य (सार) है; एतद्—यह ही; अनुशासनम्—पुन उपदेश है, एवम्—इस प्रकार ही; उपासितव्यम्—करना चाहिये; एवम्—इस प्रकार, उ—निश्चय से, अवश्यमेव; च—और; एतद्—इसका, उपास्यम्—आचरण करना चाहिए ॥४॥

शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥१॥

शम् नो मित्रः.... प्रत्यक्षम् ब्रह्म असि—हे परमात्मन् हमारे लिये मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति और महापराक्रमी विष्णु—सब ही कल्याणकारी शान्ति प्रदाता हों, ब्रह्म और वायु को नमस्कार हो, हे ओम् तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है; त्वाम् एव—तुझ को ही; प्रत्यक्षम् ब्रह्म—प्रत्यक्ष ब्रह्म; अवादिषम्—(इस

[ब्रह्मानन्द-वल्ली]

ब्रह्मानन्द-वल्ली का प्रथम अनुवाक

हम दोनों, अर्थात् गुरु तथा शिष्य को परमात्मा साथ-साथ रक्षा करे, हम दोनों साथ-साथ भोजन करें, हम दोनों साथ-साथ अपने बल की वृद्धि करें, हम दोनों का पढ़ा-पढ़ाया तेजस्वी हो, हम आपस में कभी द्वेष न करें। ओ३म् शांतिः शांतिः शांतिः।

ब्रह्म का वेत्ता, अन्य व्यक्तियों के लिये जो-कुछ भी परे हैं, निकट नहीं दूर हैं, उसे प्राप्त कर लेता है। कहा भी है—ब्रह्म 'सत्य' है, 'ज्ञान' है, 'अनन्त' है। वह हृदय की गुहा में छिपा हुआ है, परन्तु साथ

प्रवचन में, इस सन्दर्भ में) मैंने कहा है; **ऋतम् अवादिषम्**—ऋत ही कहा है; **सत्यम् अवादिषम्**—सत्य ही का उपदेश किया है; **तत्**—उस प्रवचन ने; **माम्**—मुझ को (मेरी); **आवीत्**—रक्षा की है; **तद् वक्तारम् आवीत्**—उसने ही मुझ उपदेष्टा की रक्षा की है; **आवीत् माम्**—मेरी रक्षा की; **आवीद् वक्तारम्**—वक्ता की रक्षा की; **ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः**—हे परमात्मन् हमें शारीरिक, मानसिक, आत्मिक या आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त हो ॥१॥

> **ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।**
> **तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥**

ओम्—हे परमात्मन्; **सह**—एक साथ ही; **नौ**—हम दोनों (आचार्य-शिष्य) की; **अवतु**—रक्षा करो; **सह नौ**—साथ ही हम दोनों को; **भुनक्तु**—पालन (भरण-पोषण) करो; **सह**—(हम दोनों) साथ ही; **वीर्यम्**—बल को; **करवावहै**—करें, बढ़ावें; **तेजस्वि**—तेजोयुक्त, प्रभावजनक; **नौ**—हम दोनों का; **अधीतम्**—पढ़ना-स्वाध्याय; **अस्तु**—हो; **मा**—मत, नहीं; **विद्विषावहै**—द्वेष करें, एक-दूसरे का अहित सोचें; **ओं... शान्तिः**—हे प्रभु हम दोनों को त्रिविध शान्ति प्राप्त हो।

> **ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाऽभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।**

ओम्—ईश्वर स्मरण रूप मंगलाचरण करके; **ब्रह्मविद्**—ब्रह्म को जानने वाला; **आप्नोति**—प्राप्त कर लेता है, पहुँच जाता है; **परम्**—परम ब्रह्म को या परम स्थान (लक्ष्य) को; **तद्**—तो, उस ब्रह्म के विषय में; **एषा**—यह (वचन); **अभि+उक्ता**—कहा गया है; **सत्यम्**—सत्यस्वरूप, सदा सत्ता

हो परम-व्योम में, अन्तरिक्ष-मंडल में वही स्पष्ट दीख रहा है। उसे जो जान लेता है वह सर्वज्ञ ब्रह्म का साथी हो जाता है, और साथी होने के कारण जैसे ब्रह्म के लिये कोई कामना अपूर्ण नहीं रह जाती, सब प्रकार से वह तृप्त होता है, वैसे ब्रह्म का साथी होने के कारण उसके लिये भी कोई कामना अपूर्ण नहीं रह जाती, वह सब प्रकार से तृप्त हो जाता है।

उसी ब्रह्म से आकाश हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियां, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष। यह शरीर, अन्न तथा अन्न के रस के अतिरिक्त क्या है? इस शरीर का स्थूल रूप हमें क्या दिखाई देता है? सबसे ऊपर सिर है, दायां भाग है, बायां भाग है, धड़ है, पूंछ है, जहां से प्राणी बैठता है। यह स्थूल-शरीर प्राणी का 'अन्नमय-कोष' है। कहा भी है—॥(क)॥

ज्ञाता, ज्ञानम्—ज्ञानमय, चित्स्वरूप, अनन्तम्—अनन्त, सर्वव्यापक, आदि-अन्त से रहित, ब्रह्म—परमात्मा को, य—जो, वेद—जानता है, निहितम्—स्थित, गुहायाम्—हृत्प्रदेश में (के), परमे—परमसूक्ष्म, व्योमन्—आकाश में, स—वह, अश्नुते—भोगता है, पा लेता है, सर्वान्—सब, कामान्—कामनाओं-भोगों को, सह—साथ, ब्रह्मणा—ब्रह्म (परमात्मा) के, (ब्रह्मणा-सह—ब्रह्म के साथ रहता हुआ, मुक्त हुआ), विपश्चिता—ज्ञानी, सर्वज्ञ, इति—यह (वचन कहा गया है)।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूत। आकाशाद्वायु। वायोरग्निः। अग्नेराप। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधय। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतस पुरुष। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय। तस्येदमेव शिरः। अय दक्षिण पक्ष। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इद पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति ॥(क)॥

तस्माद्—उस (पूर्वोक्त), वै—ही, एतस्माद्—इस, आत्मन—(निमित्त कारण) परमात्मा से (की प्रेरणा से) या सतत गति (परिवर्तन) शील—आत्मा महान् (महत्-तत्त्व उपादान कारण) से, आकाश—आकाश, संभूत—उत्पन्न हुआ, आकाशात्—आकाश से, वायु—वायु, वायो—वायु से, अग्नि—अग्नि, तेज, अग्ने—अग्नि—तेज से, आप—जल, अद्भ्य—जल से, पृथिवी—पृथिवी, पृथिव्या—पृथिवी से, ओषधय—वनस्पतियां, ओषधीभ्य—ओषधियों से, अन्नम्—अन्न, अन्नात्—अन्न से, रेत—वीर्य,

ब्रह्मानन्द-वल्ली का द्वितीय अनुवाक

पांच कोशों का वर्णन

सब प्रजाओं की अन्न से ही उत्पत्ति होती है। जो कोई भी प्राणी पृथिवी पर आश्रित हैं वे अन्न से ही जीवित रहते हैं, अन्त में अन्न में ही लीन हो जाते हैं, क्योंकि पंच-महाभूतों का श्रेष्ठतम रूप अन्न ही है। अन्न को 'सर्वौषध' कहा जाता है, सब ओषधियों का सार अन्न में है। जो अन्न को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करते हैं वे अन्न से, भोग्य-पदार्थों से जो-कुछ मिल सकता है, उसे पा लेते हैं। अन्न सब भूतों में श्रेष्ठ है, तभी इसे 'सर्वौषध' कहा गया है। अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद अन्न से ही बढ़ते हैं। अन्न खाया जाता है, परन्तु यह खा भी जाता है। संसार भोगा तो जाता ही है, परन्तु जो भोगों का दास हो जाता है, उसे भोग ही भोग लेते हैं, उसे अन्न ही खा जाता है। अन्न को यही

रेतसः—वीर्य से; पुरुषः—शरीर-सहित जीवात्मा; सः वै एषः—वह यह; पुरुषः—शरीरी आत्मा; अन्नरसमयः—अन्न के सार (वीर्य) से युक्त या बना हुआ; तस्य—उस आत्मा का; इदम् एव शिरः—यह ही सिर है; अयम्—यह; दक्षिणः—दायां; पक्षः—पार्श्व, पासा, भाग; अयम् उत्तरः पक्षः—यह उत्तर (बायां) पार्श्व है; अयम् आत्मा—यह (शरीर-नियन्ता) आत्मा है; इदम्—यह; पुच्छम्—पूंछ (मध्यवर्ती पृष्ठभाग); प्रतिष्ठा—सहारा देने वाला है; तदपि—तो (इस विषय में); एषः—यह; श्लोकः भवति—श्लोक (पद्य) है॥(क)॥

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीं श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्नं ब्रह्मोपासते। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद् भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यत इति। तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥(ख)॥

अन्नाद् वै—अन्न से ही; प्रजाः—जीवधारी प्राणी; प्रजायन्ते—उत्पन्न होते हैं; याः काः च—और जो कोई भी, जितनी भी; पृथिवीम्—पृथिवी को

ख्यास्या है—'अद्यते अत्ति च भूतानि'—यह खाया जाता है, परन्तु खा भी जाता है। इस 'अन्न-रस-मय-कोश' को, इस शरीर को सब-कुछ मत समझो। इससे भिन्न, किन्तु इसी के भीतर, इस शरीर का आत्मा, एक अन्य शरीर है, जिसे 'प्राणमय-कोश' कहते हैं। 'अन्नमय-कोश' में 'प्राणमय-कोश' है। जैसे 'अन्नमय-कोश' पुरुष के आकार का है, वैसे 'प्राणमय-कोश' भी पुरुष के ही आकार का है। इस 'प्राणमय-कोश' का सिर प्राण है, दक्षिण-भाग व्यान है, उत्तर-भाग अपान है, धड़ आकाश है, पूंछ पृथिवी है—प्राणी के बैठने का स्थान है। कहा भी है—॥(ख)॥

(हैं), श्रिताः—आश्रित हैं, (पृथिवीं श्रिता—पृथ्वी पर विद्यमान हैं), अथ उ—और, अन्नेन एव—अन्न से ही, जीवन्ति—जीवित रहते हैं, अथ—और, एतत्—इसको (में), अपि यन्ति—लीन हो जाते हैं, अन्न ही इन्हें खा जाता है; अन्ततः—अन्त में, मृत्यु होने पर, अन्नम् हि—अन्न ही, भूतानाम्—उत्पन्न पदार्थों में; ज्येष्ठम्—सबसे बड़ा, श्रेष्ठ है, तस्मात्—उस कारण से, सर्वौषधम्—सब (भूख आदि) का औषध या सब ओषधियों से निष्पन्न, उच्यते—कहा जाता है, सर्वम् वै—सब ही, सारे ही, ते—वे, अन्नम्—अन्न को, आप्नुवन्ति—प्राप्त कर लेते हैं, ये—जो, अन्नम्—अन्न को, ब्रह्म—सब से बड़ा, उपासते—उपासना करते हैं, तदनुसार आचरण करते हैं, अन्नम् हि भूतानाम् ज्येष्ठम्—अन्न ही सब उत्पन्न पदार्थों में श्रेष्ठ है, तस्मात् सर्व+औषधम् उच्यते—उस कारण से ही सब की औषधि कहा जाता है, अन्नाद्—अन्न से; भूतानि—शरीरधारी, जायन्ते—उत्पन्न होते हैं, जातानि—उत्पन्न हुए, अन्नेन—अन्न से, वर्धन्ते—बढ़ते हैं, अद्यते—खाया जाता है (प्राणी इसे खाते हैं); अत्ति—खाता है (अपने में लय कर लेता है), च—और, भूतानि—प्राणियों को, तस्मात्—उस कारण से, अत्र, अन्नम्—अन्न, तद्—वह (उसको), उच्यते—कहा जाता है (कहते हैं), इति—यह, तस्माद् वै एतस्मात्—उस इस, अन्नरसमयात्—अन्न के रस (सार-वीर्य) से बने हुए से, अन्य—दूसरा, भिन्न; अन्तरः—अन्तर्वर्ती, आत्मा—आत्मा है, प्राणमयः—(जो) प्राण से उत्पन्न या प्राणस्वरूप है, तेन—उस (प्राणमय) से, एषः—यह (शरीर युक्त अन्नरसमय आत्मा), पूर्णः—पूर्ण (व्याप्त—भरा हुआ) है, स वै एषः—वह यह प्राणमय; पुरुषविध एव—आत्मा के शरीर जैसा ही है, तस्य—उसकी; पुरुषविधताम् अनु—पुरुष-शरीर के स्वरूप के अनुरूप ही, अयम्—यह (प्राणमय आत्मा); पुरुषविधः—मनुष्य के स्वरूप वाला है; तस्य—उस

ब्रह्मानन्द-वल्ली का तृतीय अनुवाक

देव, मनुष्य, पशु—सभी प्राण से ही अनुप्राणित हो रहे हैं। प्राण ही सब भूतों की आयु है, इसलिये इसे 'सर्वायु' कहा जाता है। जो प्राण को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करते हैं, वे अपनी सारी आयु को प्राप्त कर लेते हैं। प्राण ही सब भूतों की आयु है, इसलिये उसे 'सर्वायु' कहा गया है। 'प्राणमय-कोश' का वही आत्मा है, जो 'अन्नमय-कोश' का है। इस 'प्राणमय-कोश' से भिन्न, किन्तु इसी के भीतर, इस 'प्राणमय-कोश' का आत्मा एक अन्य शरीर है, जिसे 'मनोमय-कोश' कहते हैं। 'प्राणमय-कोश' में 'मनोमय-कोश' पूर्ण है। जैसे 'प्राणमय-कोश' पुरुष के आकार का है, वैसे 'मनोमय-कोश' भी पुरुष के आकार का है। इस 'मनोमय-कोश' का सिर यजुः है, दक्षिण-भाग ऋक् है, उत्तर-भाग साम है, धड़ आदेश है, पूंछ अथर्व है। कहा भी है—॥(ग)॥

(प्राणमय आत्मा) का; प्राणः एव शिरः—प्राण ही सिर है; व्यानः—व्यान (प्राण-भेद); दक्षिणः पक्षः—दायां पार्श्व (भाग) है; अपानः—अपान नामी प्राण-भेद; उत्तरः पक्षः—बायां अंग है; आकाशः आत्मा—आकाश ही आत्मा है; पृथिवी पुच्छम् प्रतिष्ठा—पृथिवी ही पूंछ और आश्रय है; तद् अपि एषः श्लोकः भवति—उस विषय में यह श्लोक है ॥(ख)॥

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति। ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। ■ वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग् दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति। ॥(ग)॥

प्राणम्—प्राण को (से); देवाः—देव योनि या इन्द्रियाँ; अनुप्राणन्ति—अनुप्राणित हो रहे हैं—जीवन ग्रहण कर रहे हैं; मनुष्याः—मनुष्य; पशवः—पशु; च—और; ये—जो; प्राणः हि—प्राण ही; भूतानाम्—चर प्राणियों की; आयुः—जीवन का समय (निर्धारक); तस्मात्—अत एव; सर्वायुषम्—सब की आयु (जीवन-अवधि); उच्यते—कहा जाता है; सर्वम्—सारी, पूर्ण; एव—ही; ते—वे; आयुः—आयु को; यन्ति—प्राप्त होते हैं; ये—जो; प्राणम्—प्राण

ब्रह्मानन्द-वल्ली का चतुर्थ अनुवाक

वाणी जहा से लौट आती है, मन जिसे प्राप्त नहीं कर सकता, उस आनन्द-रूप ब्रह्म को जो जान लेता है, वह कभी भयभीत नहीं होता। अन्न, प्राण और मन को ब्रह्म मानकर इनकी उपासना करने वाला ब्रह्म को नहीं पा सकता, भोग्य पदार्थों को पा लेता है, प्राण-शक्ति को पा लेता है, मानसिक-शक्ति को प्राप्त कर लेता है, जहा से वाणी और मन भी लौट आते हैं, वहा से ब्रह्म का ज्ञान प्रारम्भ होता है।

को, ब्रह्म—बड़ा, मुख्य (जानकर), उपासते—उपासना करते है, उसकी रक्षा का ध्यान रखते हैं, प्राण हि भूतानाम् आयु तस्मात् सर्वायुषम् उच्यते—प्राण ही भूतो की आयु है अतएव यह प्राण सब की आयु कहलाता है, तस्य—उस (प्राणमय कोष का), एष—यह, एव—ही, शारीर—शरीरी, आत्मा—आत्मा है, य—जो, पूर्वस्य—पहले (अन्नमय कोश) का है, तस्माद वै एतस्मात्—उस इस, प्राणमयात्—प्राणमय से प्राण-युक्त से, अन्य—दूसरा अन्तर—मध्यवर्ती, आत्मा—आत्मा, मनोमय—मनन शक्ति वाला है तेन—उस (मनोमय) से, एष—यह (प्राणमय कोश) पूर्ण—पूण (व्याप्त भरा हुआ) है, स वै एष पुरुषविध एव—वह यह (मनोमय कोश) शरीरधारी पुरुष की आकृति के अनुरूप ही है, तस्य—उस (प्राणमय कोश) की, पुरुषविधताम् अनु अयम् पुरुषविध—पुरुषानुरूप आकृति के अनुसार यह भी पुरुषानुरूप है, तस्य—उस (मनोमय कोष) का, यजु एव शिर—यजुर्वेद ही शिरस्थानीय है, ऋक्—ऋग्वेद, दक्षिण पक्ष—दाहिना पासा (भाग है), साम उत्तर पक्ष—सामवेद ही बायां भाग है, आदेश—आज्ञा, विधिवाक्य, आत्मा—ढांचा (स्वरूप) है, अथर्वाङ्गिरस—अथर्ववेद, पुच्छम् प्रतिष्ठा—पूछ और आश्रय है, तद् अपि एष श्लोक भवति—इसकी पुष्टि में यह श्लोक भी है॥(ग)॥

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। य पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय। तेनैष पूर्ण। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वय पुरुषविध। तस्य श्रद्धैव शिर। ऋत दक्षिण पक्ष। सत्यमुत्तर पक्ष। योग आत्मा। मह पुच्छ प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥(घ)॥

यत—जहां से, जिसके पास से, वाच निवर्तन्ते—वाणियां लौट आती हैं (जो वाणी का विषय नहीं), अप्राप्य—न पाकर, मनसा सह—मन के साथ

'मनोमय-कोश' का वही आत्मा है, जो 'प्राणमय-कोश' का है। इस 'मनोमय-कोश' से भिन्न, किन्तु इसी के भीतर, इसका आत्मा, एक अन्य शरीर है, जिसे 'विज्ञानमय-कोश' कहते हैं। 'मनोमय-कोश' में 'विज्ञानमय-कोश' पूर्ण है। जैसे 'मनोमय-कोश' पुरुष के आकार का है, वैसे 'विज्ञानमय-कोश' भी पुरुष के आकार का है। इस 'विज्ञानमय-कोश' का सिर श्रद्धा है, दक्षिण-भाग ऋत है, उत्तर-भाग सत्य है, धड़ योग है, पूंछ महः है—महानता में 'विज्ञानमय-कोश' की प्रतिष्ठा है। कहा भी है—॥(घ)॥

ब्रह्मानन्द-वल्ली का पंचम अनुवाक

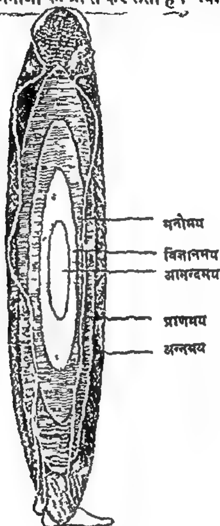
'यज्ञ', अर्थात् आध्यात्मिक-कार्य, 'कर्म' अर्थात् लौकिक-कार्य—ये दोनों विज्ञान से ही विस्तार पाते हैं। सब विद्वान् लोग 'विज्ञान'

(जो मन का भी विषय नहीं); **आनन्दम्**—आनन्द (स्वरूप) को; **ब्रह्मणः**—ब्रह्म के; **विद्वान्**—जानने वाला; **न**—नहीं; **बिभेति**—डरता है; **कदाचन**—कभी भी; **तस्य**—उस (मनोमय कोश) का, **एषः एव शारीरः आत्मा यः पूर्वस्य**—यह ही शरीरी आत्मा है जो पहिले (प्राणमय कोश) का है; **तस्माद् वै एतस्मात्**—उस इस; **मनोमयात्**—मनोमय (कोश) से; **अन्यः अन्तरः आत्मा**—भिन्न अन्तर्वर्त्ती आत्मा; **विज्ञानमयः**—विज्ञान स्वरूप है; **तेन**—उस (विज्ञानमय) से; **एषः**—यह (मनोमय कोष); **पूर्णः**—पूर्ण है; **सः वै एषः पुरुषविधः एव**—वह यह विज्ञानमय कोश भी पुरुष के अनुरूप आकृति वाला ही है; **तस्य पुरुषविधताम् अनु अयम् पुरुषविधः**—उस (मनोमय कोश) की पुरुषानुरूप आकृति के अनुसार ही यह (विज्ञानमय) भी पुरुषानुकृति है; **तस्य**—उस (विज्ञानमय कोश) की; **श्रद्धा एव शिरः**—श्रद्धा ही सिर है; **ऋतम् दक्षिणः पक्षः**—ऋत ही दक्षिण पक्ष है; **सत्यम् उत्तरः पक्षः**—सत्य ही बायाँ भाग है; **योगः**—चित्त की समाधि (एकाग्रता); **आत्मा**—स्वरूप या ढांचा है; **महः**—महत्त्व (महिमा); **पुच्छम् प्रतिष्ठा**—पूंछ और प्रतिष्ठा है; **तद् अपि एषः श्लोकः भवति**—इसकी पुष्टि में यह वचन भी है॥(घ)॥

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान्कामान्समश्नुत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥(ङ)॥

विज्ञानम्—विज्ञान ही; **यज्ञम्**—शुभ कर्म को; आध्यात्मिक कर्म को;

को ही ज्येष्ठ ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करते हैं। जो 'विज्ञान' को ब्रह्म मानकर उससे प्रमाद नहीं करता, वह शरीर के सब पापों को छोड़कर सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। 'विज्ञानमय-कोश'



पांच कोश

का वही आत्मा है, जो 'मनोमय-कोश' का है। इस 'विज्ञानमय-कोश' से भिन्न, किन्तु इसके भीतर, इसका आत्मा, एक अन्य शरीर

तनुते—[illegible] है [illegible] कर्माणि—(सामान्य-दैनिक) कर्मों [illegible] तनुते—[illegible] है, अपि च—और विज्ञानम्—विज्ञान [illegible] देवा सर्वे—[illegible] (विद्वान्), ब्रह्म—[illegible], ज्येष्ठम्—[illegible], उपासते—

है, जिसे 'आनन्दमय-कोश' कहते हैं। 'विज्ञानमय-कोश' में 'आनन्द-मय-कोश' पूर्ण है। जैसे 'विज्ञानमय-कोश' पुरुष के आकार का है, वैसे 'आनन्दमय-कोश' भी पुरुष के आकार का है। इस 'आनन्दमय-कोश' का सिर प्रिय है, दक्षिण-भाग मोद है, उत्तर-भाग प्रमोद है, धड़ आनन्द है, पूंछ ब्रह्म है। 'आनन्दमय-कोश' में विचरने वाला 'ब्रह्म' को ही अपना आधार बना लेता है। कहा भी है--॥(ङ)॥

पांच कोशों का चित्र

सं०	नाम कोश	कोश का सिर	दक्षिण भाग	वाम भाग	धड़	आश्रय स्थान	शरीर विशेष
१	अन्नमय कोश	सिर	दांया	बांया	धड़	पूंछ	स्थूल शरीर
२	प्राणमय कोश	प्राण	व्यान	अपान	आकाश	पृथिवी	सूक्ष्म शरीर
३	मनोमय कोश	यजुः	ऋक्	साम	आदेश	अथर्व	
४	विज्ञानमय कोश	श्रद्धा	ऋत	सत्य	योग	महः	
५	आनन्दमय कोश	प्रिय	मोद	प्रमोद	आनन्द	ब्रह्म	कारण शरीर

(पांच कोशों में पहला कोश 'अन्नमय-कोश' है। यह शरीर ही 'अन्नमय-कोश' है, और पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश--इन पांच

उपासना करते हैं; **विज्ञानम्**—विज्ञान को; **ब्रह्म**—बड़ा, मुख्य; **चेद्**—अगर; **वेद**—जानता है; **तस्मात् चेत् न प्रमाद्यति**—उससे (उसकी प्राप्ति में) अगर नहीं प्रमाद करता है; **शरीरे**—शरीर में (इस जीवन में); **पाप्मनः**—पापों को, त्रुटियों को; **हित्वा**—छोड़ कर; **सर्वान्**—सब; **कामान्**—कामनाओं को, भोगों को; **समश्नुते**—प्राप्त कर लेता है; भोगता है; **तस्य**—उस (विज्ञानमय कोश) का; **एषः एव शारीरः आत्मा**—यह ही शरीरी आत्मा है; **यः**—जो;

महाभूतों से बना है। परन्तु यह कोश तो सबसे निचला है, अन्य चार कोश हैं, जो इससे ऊपर हैं। 'अन्नमय-कोष' से ऊंचा, परन्तु इसी के भीतर 'प्राणमय-कोश' है। जैसे 'अन्नमय' पांच महाभूतों से बना है, वैसे 'प्राणमय' किससे बना है? उपनिषदों के अनुसार 'प्राणमय' की रचना 'प्राण-तत्त्व' से हुई है। अगर 'आकाश' को वर्तमान परिभाषा में 'ईथर' माना जाय, तो कहना होगा कि उपनिषदों के ऋषि 'ईथर' से भी एक सूक्ष्म 'तत्त्व' (Substance) को मानते थे, जिसका नाम 'प्राण-तत्त्व' (Life Substance) था। 'ईथर' की तरह यह 'प्राण-तत्त्व' भी विश्वभर में व्याप्त हो रहा है, और उसी से हमारा 'प्राणमय-कोश' बना है। 'स्वर्णमय' का अर्थ है स्वर्ण से बना, 'काष्ठमय' का अर्थ है काष्ठ से बना, इसी प्रकार 'प्राणमय' का अर्थ है प्राण से बना। अथर्ववेद में भी 'प्राण' को ऐसा ही एक तत्त्व माना है, तभी कहा है—'या ते प्राण प्रिया तनू' (११-४-५३)। इस 'प्राण-तत्त्व' का स्रोत सूर्य को माना गया है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है—'आदित्यो ह वै प्राण'। 'प्राण-तत्त्व' में सूक्ष्म 'मनस्-तत्त्व' माना गया है, यह भी 'प्राण' से सूक्ष्म होता हुआ सब जगह व्याप्त है, और प्राण की तरह एक 'तत्त्व' (Substance) है। वैशेषिक-दर्शन ने 'पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशो कालो दिगात्मा मनासि द्रव्याणि'—इस सूत्र में 'मन'

पूर्वस्य—पहिले (मनोमय-कोश) का, तस्माद् वै एतस्माद् विज्ञानमयात्—उस इस विज्ञानमय कोश से, अन्यः अन्तरः आत्मा—दूसरा अन्तर्वर्ती आत्मा, आनन्दमयः—आनन्दमय है, तेन—उस (विज्ञानमय कोश) से, एष—यह (आनन्दमय कोश), पूर्ण—पूर्ण है, स वै एषः—वह यह, पुरुषविध—पुरुष की तरह का है, तस्य—उस (विज्ञानमय कोश) की, पुरुषविधताम् अनु अयम् पुरुषविधः—पुरुषानुरूप आकृति के समान यह (आनन्दमय कोश) भी पुरुषानुरूप है, तस्य—उस (आनन्दमय कोश) का, प्रियम् एव—प्रिय होना ही, शिरः—सिर है, मोदः—प्रसन्नता, दक्षिणः पक्ष—दाहिना भाग है, प्रमोद—विशेष हर्ष, उत्तरः पक्षः—बायाँ भाग है, आनन्दः आत्मा—आनन्द ही इसका आत्मा (स्वरूप, ढांचा, धड़) है, ब्रह्म—परमात्मा, पुच्छम् प्रतिष्ठा—पूछ और आश्रय स्थान है, तद् अपि एषः श्लोकः भवति—इसमें यह श्लोक (सूक्ति) भी है ॥(८)॥

को 'द्रव्य' (Substance) माना है। क्योंकि 'मनस्-तत्त्व' प्रकृति के अन्य तत्त्वों की तरह सूक्ष्म है, और सब जगह व्याप रहा है, इसीलिये मन की गति शब्द से भी प्रबल है। उपनिषदों के इस विचार को कि 'ईथर' की तरह 'प्राण' और 'मनस्' भी तत्त्व हैं, वर्तमान-युग के वैज्ञानिक सर आलिवर लाज भी मानते थे। उनका कथन था—"My doctrine is that Life exists in space, that Mind is a higher development of that, and I presume that Spirit is a higher development still, but they all exist in space"—अर्थात् 'प्राण' (Life) विश्व में व्याप रहा है, 'मन' (Mind) उससे विकसित हुआ है, 'आत्मा' (Spirit) मन से भी अधिक विकसित है, और ये तीनों सब जगह वर्तमान हैं। उपनिषदों की परिभाषा में पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश——प्रकृति के ये पांच ही तत्त्व नहीं हैं, अपितु आकाश से सूक्ष्म 'प्राण-तत्त्व' है, जिससे 'प्राणमय-कोश' बना है, प्राण से सूक्ष्म 'मनस्-तत्त्व' है, जिससे 'मनोमय-कोश' बना है, मनस् से सूक्ष्म 'विज्ञान-तत्त्व' है, जिससे 'विज्ञानमय-कोश' बना है, विज्ञान से सूक्ष्म 'आनन्द-तत्त्व' है, जिससे 'आनन्दमय-कोश' बना है। सांख्य में प्रकृति का जो विकास-क्रम दिया है, उसके साथ इन का समन्वय स्पष्ट है। 'सत्त्व-रज-तम की साम्यावस्था' ही 'आनन्द-तत्त्व' है, जिससे 'आनन्दमय-कोश' हुआ; 'प्रकृति' से 'महान्' हुआ, यह 'महत्-तत्त्व' ही 'विज्ञान-तत्त्व' है, जिससे 'विज्ञानमय-कोश' हुआ; 'महत्' से 'अहंकार' हुआ, यह 'अहंकार-तत्त्व' ही 'मनस्-तत्त्व' है, जिससे 'मनोमय-कोश' हुआ; 'अहंकार' से 'पंचतन्मात्रा हुई, ये' पंचतन्मात्राएं' ही 'प्राण-तत्त्व' हैं, जिनसे 'प्राणमय-कोश' हुआ; 'पंचतन्मात्राओं' से स्थूल 'पंच-महाभूत' हुए, ये पांचों महाभूत ही 'अन्न-तत्त्व' हैं, जिनसे 'अन्नमय-कोश' हुआ। इन पांचों कोशों का अपना-अपना 'लोक' (Plane) है। 'अन्नमय-कोश' से इस 'भूः-लोक' में व्यवहार हो सकता है, अन्य लोकों में नहीं; 'प्राणमय-कोश' से 'भुवर्लोक' में—प्राण-लोक में—व्यवहार हो सकता है; 'मनोमय-कोश' से 'स्वर्लोक' (Plane) में व्यवहार हो सकता है। यही क्रम सब लोकों में है। इसी उपनिषद्

की 'भृगु-वल्ली' में बताया गया है कि मनुष्य अपने कोशों से जिस-जिस लोक में व्यवहार करता है, उसी को 'ब्रह्म' समझने लगता है, अस्ल में 'ब्रह्म' इन सब 'लोकों' (Planes) से ऊपर है, परे है।)

ब्रह्मानन्द-वल्ली का षष्ठ अनुवाक

जो ब्रह्म को 'असत्' कहता है, ब्रह्म तो क्या असत् होना है, वह स्वयं 'असत्' हो जाता है। जो ब्रह्म को 'सत्' समझता है, वह ब्रह्म की सत्ता से स्वयं 'सत्' हो जाता है। सब सत्ता उसी से है। 'आनन्द-मय-कोश' का वही आत्मा है, जो 'विज्ञानमय-कोश' का है।

ऊपर जो-कुछ कहा गया है, उसे समझ लेने के अनन्तर, ये प्रश्न तो साधारण से ही प्रश्न रह जाते हैं। कौन-से प्रश्न ? यह प्रश्न कि मरने के बाद 'अविद्वान्' ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है या नहीं, अथवा यह प्रश्न कि मरने के बाद 'विद्वान्' ब्रह्म-लोक को प्राप्त होता है या नहीं ? इन प्रश्नों का उत्तर कोशों को समझ लेने के बाद स्वयं मिल जाता है।

असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। अथातोऽनुप्रश्नाः। उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चन गच्छती ३। आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चित्समश्नुता ३ उ।

असन्—न होता हुआ (अस्तित्वरहित-सत्ताशून्य), एव—ही, सः भवति—वह (स्वयं) हो जाता है, असद् ब्रह्म—ब्रह्म सत्ताशून्य है (ब्रह्म है ही नहीं), इति—ऐसे, वेद चेत्—अगर जानता है, मानता है, अस्ति ब्रह्म—ब्रह्म है (ब्रह्म की सत्ता है), इति—इस प्रकार, चेद् वेद—अगर जानता-मानता है, सन्तम्—सत्तावाला, एतम्—इस (मनुष्य) को, ततः—तब ही, विदुः—मानते हैं, तस्य एषः एव शारीरः आत्मा—उस (आनन्दमय कोश) का यह ही शरीरी आत्मा है, यः पूर्वस्य—जो पहले (विज्ञानमय कोश) का है, अथ—अब, अतः—इससे परे, अनुप्रश्नाः—अवान्तर (साधारण) प्रश्न हैं

उत—क्या, अविद्वान्—अज्ञानी, अमुम् लोकम्—इस ब्रह्मलोक को, प्रेत्य—मरकर, मरने के बाद, कश्चन—कोई, गच्छति—प्राप्त होता है, आहो—अथवा; विद्वान्—ज्ञानी; अमुम् लोकम्—इस ब्रह्म-लोक को, प्रेत्य—मरने के बाद; कश्चित्—कोई; समश्नुते—प्राप्त होता है।

हां, सबसे बड़ा प्रश्न है, संसार की रचना कैसे हुई ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ऋषि कहते हैं—उसने 'कामना' की। क्या कामना की ? मैं एक से अनेक हो जाऊं, प्रजनित हो जाऊं। उसने 'तप' किया। सृष्टि की रचना करने का अर्थ है 'क्रिया' (Activity) का प्रारम्भ हो जाना। ब्रह्म की यह 'क्रिया' बढ़ते-बढ़ते जब उग्र-रूप में पहुंची, तो उसी अवस्था को 'तप' कहते हैं। 'तप' है—'क्रिया की उग्र-अवस्था' (Activity in climax)। तप करने के बाद उसने यह सब स्रजा। जो-कुछ भी है, उसकी सृष्टि करके—उसे रचकर—उसमें वह अनुप्रविष्ट हो गया। ब्रह्म के सृष्टि में अनुप्रविष्ट होने पर ब्रह्म के दो रूप हो गये। एक रूप 'सत्' है, दूसरा 'त्यत्', अर्थात् 'तत्' है। 'सत्' वह, जो दृश्यमान संसार है—यह भी ब्रह्मरूप है;

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किंच। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनु प्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च। सत्यमभवत्। यदिदं किंच। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति ॥(च)॥

सः—उसने, ब्रह्म ने; अकामयत—चाहा; बहु—(मैं) बहुत (अनेक); **स्याम्**—हो जाऊँ; **प्रजायेय**—प्रजा वाला होऊँ; **इति**—यह (कामना की); **सः तपः अतप्यत**—उसने तप (उग्र क्रिया) किया; **सः तपः तप्त्वा**—उसने तप करके; **इदम् सर्वम्**—इस सारे विश्व को; **असृजत**—उत्पन्न किया, रचा, बनाया; **यद् इदम् किञ्च**—यह जो कुछ भी (दृश्यमान) है; **तत्**—उसको; **सृष्ट्वा**—बनाकर, रचकर; **तद् एव**—उसमें ही; **अनु प्राविशत्**—अनुप्रविष्ट हुआ; **तद् अनु प्रविश्य**—उसमें अनुप्रविष्ट हो कर; **सत् च**—सद् रूप (अस्मि रूप, अहंरूप); **त्यत् च**—वह रूप (अपने से भिन्न रूप); **अभवत्**—हो गया; **निरुक्तम् च**—निर्वचनीय, वर्णन-योग्य; **अनिरुक्तम् च**—अनिर्वचनीय, वर्णनातीत; **निलयनम् च**—सर्वाधार; **अनिलयनम् च**—(स्वयं) किसी आश्रय की अपेक्षा न रखने वाला; **विज्ञानम् च**—ज्ञानस्वरूप चेतन; **अविज्ञानम् च**—ज्ञानशून्य, जड़; **सत्यम् च**—कारणरूप, सत्तावाला, सत्स्वरूप; **अनृतम्**—असत्, कार्यरूप (विनाशी); **सत्यम् अभवत्**—सत्य हो गया 'सत्य' का 'स' और 'त्यत्' का 'त्य' मिलकर 'सत्य' बन गया); **यद् इदम् किंच**—जो यह कुछ है; **तत्**—उसको **सत्यम् इति**—'सत्य' इस प्रकार (इस नाम से); **आचक्षते**—कहते हैं; **तद् अपि एषः श्लोकः भवति**—उसकी पुष्टि में यह श्लोक भी है ॥च॥

'तत्' वह, जो 'यह' नहीं, 'वह' है, अदृश्यमान है, वह भी ब्रह्मरूप ही है। ब्रह्म का एक रूप 'निरुक्त'-रूप है, जिसका निर्वचन हो सकता है, वर्णन हो सकता है; दूसरा 'अनिरुक्त'-रूप है, जिसका निर्वचन, वर्णन नहीं हो सकता। एक रूप 'निलयन'-रूप है, दूसरे के आश्रय से स्थित है, जैसे पृथिवी सूर्य के आश्रय से स्थित है; दूसरा 'अनिलयन'-रूप है, स्वाश्रित रूप है, जैसे सूर्य स्वाश्रय से, अर्थात् बिना किसी दूसरे के सहारे स्थित है। एक रूप 'विज्ञान'-रूप है, चेतन-रूप है; दूसरा 'अविज्ञान'-रूप है, जड़-रूप है। एक रूप 'सत्य'-रूप है, कारण-रूप है; दूसरा 'अनृत'-रूप है, कार्य-रूप है। इस प्रकार 'सत्' और 'त्यत्'—'यह' और 'वह'—इन दोनों रूपों के मेल से 'सत्' का 'स' और 'त्यत्' का 'त्य' मिलकर ब्रह्म का 'स+त्य'-रूप हो जाता है। ब्रह्म का 'सत्' और 'त्यत्' रूप ही ब्रह्मांड में 'सत्य'-रूप कहलाता है—'सत्य' शब्द 'सत्' के 'स' और 'त्यत्' के 'त्य' के मेल से बना है। कहा भी है—॥(च)॥

(ब्रह्म के दो रूप हैं—'सत्' तथा 'तत्'—'यह' तथा 'वह'। 'यह' का अर्थ है—यह दृश्यमान जगत्, 'वह' का अर्थ है भगवान का वह रूप जो इस दृश्यमान-जगत् से परे है, अदृश्य है। उपनिषत्कार का कहना है कि ब्रह्म को देखने के लिये कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं, यह संसार जो दीखता है यह ब्रह्म का ही रूप, प्रत्यक्ष रूप है। इसी भाव को लेकर गीता में कहा है—'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च; अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' (७-४)—यह पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार प्रत्यक्ष ब्रह्म है।)

ब्रह्मानन्द-वल्ली का सप्तम अनुवाक

ब्रह्म 'सत्' था—यह पहले कहा। अब कहते हैं, यही बात तो पहले 'असत्' था। 'असत्' से 'सत्' हुआ। सृष्टि जब नहीं थी, तब

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति। यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने

'असत्' ही थी। ब्रह्म अपने सत् रूप में तभी प्रकट होता है, जब सृष्टि की रचना करता है। जब सृष्टि 'असत्' थी, तो ब्रह्म भी मानो 'असत्' ही था, क्योंकि कुछ भी कर नहीं रहा था। उस 'असत्' अवस्था से जब वह सृष्टि को 'सत्'-रूप में लाया, तब वह स्वयं भी 'सत्'-अवस्था में आया। अपने 'सत्'-रूप को उसने स्वयं किया। स्वयं, अपनी इच्छा से उसने सृष्टि को रचा, और जो-कुछ रचा, सब ठीक-ठीक रचा, इसलिये उसे 'सुकृत' कहते हैं। जो-कुछ उसने रचा, सब 'सुकृत' था—बिलकुल ठीक रचा गया था। वह तो रस-ही-रस है,—'रसो वै सः'—फिर जो उसने रचा, वह 'सुकृत' क्यों न होता? वह रस-रूप है, तभी रस को पाकर—जहां कहीं रस मिलता है, उसे पाकर मनुष्य आनन्द-मग्न हो जाता है। जहां-कहीं जो रस है, उसी का है। अगर आसमान में रस-ही-रस न भरा हो, तो कौन जीना चाहे, कौन श्वास तक लेना चाहे? वह सब जगह रस भरे हुए है, उसी से हमें आनन्द मिलता है। जब यह जीव उस अदृश्य, निराकार, अनिर्वचनीय, निराधार ब्रह्म में बिना किसी भय के प्रतिष्ठित हो जाता है, उसकी गोद में अपना स्थान बना लेता है, तब यह अभय हो जाता है। जब यह जीव अपने में तथा ब्रह्म में जरा भी अन्तर रखता है, बस, उसी समय 'भय' उठ खड़ा होता है। जो विद्वान् भय को नहीं मानता, उसकी विचार-प्रक्रिया तो वही रहेगी जो अभी कही गई। वह रस-मय ब्रह्म में अपने को प्रतिष्ठित करेगा, उससे अपना भेद-भाव नहीं रखेगा। कहा भी है—॥(छ)॥

विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति॥(छ)॥

असद् वै—असत् (अव्यक्त) ही; अग्रे—सृष्टि के पहले; आसीत्—था; ततः वै—उस (सृष्टि) के बाद ही; सत्—सत् (व्यक्त); अजायत—हुआ; तत्—वह, तो, उसने; आत्मानम्—अपने (स्वरूप) को; स्वयम्—अपने आप (बिना किसी 'कारण' के); अकुरुत—(व्यक्त) किया; तस्मात्—अतएव; तद्—वह ब्रह्म; सुकृतम् (सुष्ठु+कृतम्)—ठीक-ठीक रचा हुआ; उच्यते—कहा जाता है; इति—यह (वह श्लोक है); यद् वै—जो भी (इस सृष्टि में है); तत्—वह सब; सुकृतम्—ठीक-ठीक रचा गया था; रसः—रस (स्वयं तो वह

ब्रह्मानन्द-वल्ली का अष्टम अनुवाक
ब्रह्मानन्द में आनन्द की मात्रा

उसके भय से वायु बहती है; उसके भय से सूर्य उदय होता है; उसके भय से अग्नि तथा इन्द्र अपना काम करते हैं; पांचवां मृत्यु भी उसी के भय से भागा फिरता है।

आनन्दस्वरूप) है, वै—निश्चय से; सः—वह (सृष्टिकर्ता), रसम्—आनन्द-स्वरूप ब्रह्म को, हि एव—ही, लब्ध्वा—पाकर, अयम्—यह जीवात्मा, आनन्दी भवति—आनन्द वाला (आनन्द स्वरूप) हो जाता है, कः हि एव—कौन ही, अन्यात्—जीना चाहे, जी सकता है, कः—कौन, प्राण्यात्—श्वास-प्रश्वास लेवे, यद्—जो (अगर), एष—यह, आकाशे—हृदयाकाश में, बुद्धि-गुहा में, आनन्दः—आनन्दस्वरूप ब्रह्म, न स्यात्—न होवे, एष. हि एव—यह आनन्द-स्वरूप ब्रह्म ही, आनन्दयाति—(जीवात्मा को) आनन्दमय करता है, यदा हि एव—जब ही, एषः—यह (जीवात्मा), एतस्मिन्—इस, अदृश्ये—इन्द्रिया-गोचर, परोक्ष, अनात्म्ये—आत्मा (स्वरूप) से रहित, निराकार, अशरीरी, अनिरुक्ते—अनिर्वचनीय, वर्णनातीत, अनिलयने—(स्वयं) निराधार ब्रह्म में, अभयम्—निर्भयता को, प्रतिष्ठाम्—आश्रय को, स्थिति को, विन्दते—पाता है, अथ—इसके बाद, सः—वह (जीवात्मा), अभयम् गतः—निर्भय, भवति—हो जाता है, यदा हि एव एष.—जब ही यह जीवात्मा, एतस्मिन्—इस ब्रह्म में, उदरम् (उत्=अपि+अरम्=अल्पम्)—बहुत थोड़ा भी, अन्तरम्—भेद (विस्मृति रूप), कुरुते—करता है, (उदरम् अन्तरं कुरुते—तनिक भी उसे भूल जाता है), अथ—तब ही, तस्य—उस जीवात्मा को, भयम् भवति—भय होने लगता है, तत् तु एव—वह ही तो, भयम्—भय, विदुषः—ज्ञानी (होकर भी), अमन्वानस्य—अज्ञानी (भेद-भाव रखने वाले) बने हुए को होता है। तद् अपि एषः श्लोकः भवति—इसकी पुष्टि में यह श्लोक (सूक्ति) है ॥(छ)॥

भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति। सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति युवा स्यात्साधुयुवाऽध्यायकः। आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः।

अब 'आनन्द' की मीमांसा करते हैं। कल्पना करो कि एक युवक है, बहुत अच्छा युवक, खूब पढ़ा-लिखा, शासन करने वाला, दृढ़ और बलवान्। अब कल्पना करो कि उसके लिए सम्पूर्ण पृथिवी धन-धान्य से पूर्ण हो जाय। उसे जो आनन्द होगा वह 'एक मानुष-आनन्द' (Unit of human happiness) है। इस प्रकार के 'सौ-मानुष-आनन्दों' से एक 'मनुष्य-गन्धर्वानन्द' बनता है। श्रोत्रिय तथा कामनाओं से असक्त व्यक्ति को ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। 'सौ-मनुष्य-गन्धर्वों' का जो आनन्द है, उससे एक 'देव-गन्धर्वानन्द' बनता है। श्रोत्रिय तथा कामनाओं से असक्त व्यक्ति को ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। 'सौ-देव-गन्धर्वों' का जो आनन्द है, वह चिर-काल तक लोकान्तरों पर विजय प्राप्त करने वाले 'पितरों' (Elders) का एक

स एकः कर्मदेवानामानन्दः। ये कर्मणा देवानपियन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः। स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः। स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति। तदप्येष श्लोको भवति। (ज)

भीषा—भय से; **अस्माद्**—इससे (इसके); **वातः**—वायु; **पवते**—बहता है, पवित्र करता है; **भीषा**—भय से; **उदेति**—उगता है; **सूर्यः**—सूर्य; **भीषा**—भय से; **अस्माद्**—इससे (के); **अग्निः च**—और अग्नि; **इन्द्रः च**—और इन्द्र (अपना कार्य करते है); **मृत्युः**—मौत, काल, यम; **धावति**—दौड़ता है, अपने काम में व्यग्र होता है; **पञ्चमः**—पाँचवाँ; **इति**—यह (श्लोक) है।

सा एषा—वह यह (आगे वर्णित); **आनन्दस्य**—आनन्द की; **मीमांसा**—विचार (निर्देश) करते हैं; **युवा**—(कोई पुरुष) जवान; **स्यात्**—हो; **साधु-युवा**—जवान होने के साथ सज्जन हो; **अध्यायकः**—पढ़ा-लिखा, गृहीतविद्य; **आशिष्ठः**—अत्यधिक आशास्ता (उमंगों—महत्त्वाकांक्षाओं से भरा हुआ) या अच्छा प्रशासक; **द्रढिष्ठः**—खूब मजबूत; **बलिष्ठः**—बलवान्; **तस्य**—उसके (पास); **इयम्**—यह; **पृथिवी सर्वा**—सारी पृथ्वी; **वित्तस्य**—धन के (से);

आनन्द है। श्रोत्रिय तथा कामनाओं से असक्त व्यक्ति को ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। जो लोक-लोकान्तरों पर विजय पाने वाले 'सौ-पितरों' का आनन्द है, वह 'आजानज-देवों' का—जन्म से ही दिव्य-गुणों वाले व्यक्तियों का—एक आनन्द है। श्रोत्रिय तथा कामनाओं से असक्त व्यक्ति को ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। जो 'सौ-आजानज-देवों' का आनन्द है, वह कर्म से देवत्व प्राप्त हुए देवताओं का एक आनन्द है। ऐसे व्यक्ति कर्म से दिव्य-गुणों को प्राप्त करते हैं। श्रोत्रिय तथा कामनाओं से असक्त व्यक्ति को ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। 'सौ-कर्मदेव'-देवताओं का जो आनन्द है, वह 'देवों' का एक आनन्द है। श्रोत्रिय तथा कामनाओं से असक्त व्यक्ति को ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। 'सौ-देवों' का जो आनन्द है, वह 'इन्द्र' का

पूर्णा—भरी, स्यात्—होवे, सः—वह, एकः—एक, मानुष—मनुष्यों का, आनन्दः—आनन्द (होता है), ते ये—वे जो (ऐसे), शतम्—सौ, मानुषाः आनन्दाः—मनुष्यों के आनन्द हैं, सः—वह (सौगुणा आनन्द), एकः—एक, मनुष्य-गन्धर्वाणाम्—मनुष्य-गन्धर्वों का, आनन्दः—आनन्द (होता है), श्रोत्रियस्य—वेदतत्त्ववेत्ता का, च—और, अकामहतस्य—जिसे कामनाएं नहीं सताती, निष्काम, एषणाओं से शून्य (का भी यह ही आनन्द होता है), ये ते शतम् मनुष्यगन्धर्वाणाम्—वे ये जो मनुष्य गन्धर्वों के सौ आनन्द हैं, सः एकः—वह एक, देवगन्धर्वाणाम् आनन्दः—देवयोनि गन्धर्वों का आनन्द है, श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य—और ये (सौ मनुष्य गन्धर्वों के आनन्द) वेदज्ञ और एषणाओं से मुक्त पुरुष के भी हैं, ये ते शतम् देवगन्धर्वाणाम् आनन्दाः—वे जो सौ देव-गन्धर्वों के आनन्द हैं, सः एकः—वह (इनके बराबर) एक, पितृणाम्—पितरों का, चिरलोकलोकानाम्—चिरकाल के लिए प्राप्त लोकों में रहनेवाले, आनन्दः—आनन्द है, श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य—एषणाओं से विरत वेदज्ञ का भी यह आनन्द है, ते ये शतम् पितृणाम् चिरलोकलोकानाम् आनन्दाः—ये जो सौ चिरलोक-निवासी पितरों के आनन्द हैं, सः एकः—वह एक, आजानजानाम्—दिव्य लोकों में उत्पन्न, देवानाम्—देवों का, आनन्दः—आनन्द है, श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य—यह ही आनन्द एषणा-शून्य वेदज्ञ को भी प्राप्त है, ते ये शतम् आजानजानाम् देवानाम् आनन्दाः—वे जो ये सौ दिव्य लोक निवासी देवों के आनन्द हैं, सः एकः—वह एक, कर्मदेवानाम्—दिव्य कर्मवाले, शुभ कर्मों में रत या कर्म से देवत्व को प्राप्त हुओं का, आनन्दः—आनन्द है, ये—जो, कर्मणा—शुभ कर्मों द्वारा, देवान्—देवों को, दिव्य गुणों को, अपियन्ति—प्राप्त करते हैं,

एक आनन्द है। श्रोत्रिय तथा कामनाओं से असक्त व्यक्ति को ऐसा आनन्द प्राप्त होता है। 'सौ-इन्द्रों' के आनन्द के बराबर 'बृहस्पति' का एक आनन्द है; 'सौ-बृहस्पतियों' के आनन्द के बराबर 'प्रजापति' का एक आनन्द है; 'सौ-प्रजापतियों' के आनन्द के बराबर 'ब्रह्म' का एक आनन्द है। श्रोत्रिय तथा कामनाओं से असक्त व्यक्ति को यह 'ब्रह्मानन्द' प्राप्त होता है।

'पुरुष' में जो है, और 'आदित्य' में जो है—वह एक है। जो यह जानता है, वह इस लोक से मरकर, 'अन्नमय-कोश' को छोड़कर आगे निकल जाता है, 'प्राणमय-कोश' को छोड़कर आगे निकल जाता है, 'मनोमय-कोश' को छोड़कर आगे निकल जाता है, 'विज्ञानमय-कोश' को छोड़कर आगे निकल जाता है, 'आनन्दमय-कोश' को छोड़कर आगे निकल जाता है। कहा भी है—॥(ज)॥

श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य—यह ही आनन्द एषणा-शून्य वेदज्ञ को प्राप्त है; **ते ये शतम् कर्मदेवानाम् आनन्दाः**—वे जो ये कर्मदेवों के सौ आनन्द हैं; **सः एकः देवानाम् आनन्दः**—वह देवताओं का एक आनन्द है; **श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य**—एषणा-शून्य वेदज्ञ का भी; **ते ये शतम् देवानाम् आनन्दाः**—वे ये जो देवताओं के सौ आनन्द हैं; **सः एकः**—वह एक; **इन्द्रस्य आनन्दः**—इन्द्र का आनन्द है; **श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य**—वह ही आनन्द एषणा-शून्य वेदतत्त्व-विद् को भी प्राप्त है; **ते ये शतम् इन्द्रस्य आनन्दाः**—वे ये जो इन्द्र के सौ आनन्द हैं; **सः एकः बृहस्पतेः आनन्दः**—वह बृहस्पति का एक आनन्द है; **श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य**—वह ही आनन्द कामनाओं से मुक्त वेदार्थज्ञाता को होता है; **ते ये शतम् बृहस्पतेः आनन्दाः**—वे ये जो बृहस्पति के सौ आनन्द हैं; **सः एकः प्रजापतेः आनन्दः**—वह प्रजापति का एक आनन्द है; **श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य**—वह ही आनन्द निष्काम श्रोत्रिय को प्राप्त है; **ते ये शतम् प्रजापतेः आनन्दाः**—वे जो ये प्रजापति के सौ आनन्द हैं; **सः एकः ब्रह्मणः आनन्दः**—वह ब्रह्म का एक आनन्द है; **श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य**—एषणा-शून्य श्रोत्रिय का भी; **सः यः च अयम्**—वह जो यह (परमात्मा); **पुरुषे**—पुरुष (जीवात्मा) में (पिण्ड में) है; **यः च असौ**—और जो यह; **आदित्ये**—सूर्य में या अदिति (प्रकृति) से उत्पन्न कार्य जगत् (ब्रह्माण्ड) में है; **सः एकः**—वह (दोनों में) एक ही है, भिन्न-भिन्न नहीं; **सः यः**—वह जो; **एवंवित्**—इस प्रकार (प्रकृति और जीवात्मा में व्याप्त एक ही तत्त्व परमात्मा है) जानने वाला है; **अस्मात् लोकात्**—इस लोक से; **प्रेत्य**—मरकर, मरने के बाद; **एतम्**—इस; **अन्नमयम् आत्मानम्**—अन्नमय कोश को; **प्राणमयम्**

ब्रह्मानन्द-वल्ली का नवम अनुवाक

वाणी जहाँ से लौट आती है, मन जिसे प्राप्त नहीं कर सकता, उस आनन्द-रूप ब्रह्म को जो जान लेता है, वह कभी भयभीत नहीं होता।

जो इस प्रकार आनन्द-रूप ब्रह्म को जानता है, उसे सन्ताप नहीं होता। किसी को यह सन्ताप होता है कि मैंने ठीक नहीं किया, किसी को यह सन्ताप होता है कि मैंने पाप किया। ये दोनो सन्ताप उसे नहीं होते जो 'ब्रह्मानन्द' में लीन हो जाता है।

जिस किसी की आखें इन दो बातों की तरफ खुल जाती हैं—मैंने ठीक नहीं किया, या मैंने पाप किया, इन दो बातों पर जो विचार करने लगता है, उसका आत्मा बलवान् हो जाता है, ये दोनो विचार आत्मा को बलवान् बना देते हैं। जो यह बात जान जाता है, वह उपनिषद् के रहस्य को पा जाता है। (झ)

आत्मानम्—प्राणमय कोश को, मनोमयम् आत्मानम्—मनोमय कोश को, विज्ञानमयम् आत्मानम्—विज्ञानमय कोश को, आनन्दमयम् आत्मानम्—आनन्दमय कोश को, उपसक्रामति—प्राप्त हो कर उसे लाँघ जाता है अगली स्थिति (आनन्द-ब्रह्मलोक) को प्राप्त कर लेता है, तद् अपि एष श्लोकः भवति—इसकी पुष्टि में यह श्लोक (सूक्ति) भी है॥ (ज)॥

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति। एतँ ह वाव न तपति किमहँ साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानँ स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानँ स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत्॥झ॥

यतः वाचः निवर्तन्ते—जहा से वाणियाँ लौट आती हैं, अप्राप्य—बिना उसे प्राप्त करके, मनसा सह—मन के साथ, आनन्दम्—आनन्द को, ब्रह्मणः—ब्रह्म के, विद्वान्—जानने वाला, न—नही, बिभेति—डरता है, कुतश्चन—किसी से भी, इति—यह (श्लोक) है, एतम्—इस ब्रह्म ज्ञानी को ह वाव—निश्चय ही, न तपति—(आगे कही बात) नही तपाती है दुखी करती है, किम्—क्या, अहम्—मैंने, साधु—अच्छा, उचित, न—नहीं, अकरवम्—किया, किम्—क्या, अहम्—मैंने, पापम्—पाप, बुरा, अनुचित, अकरवम्—किया (अर्थात् पाप के करने या पुण्य न करने का सताप—पछतावा—आनन्दमय ब्रह्म को प्राप्त जीवात्मा को नहीं होता क्योंकि उसने तो पुण्य करके ही ब्रह्म को

[भृगु-वल्ली]

भृगु-वल्ली का प्रथम अनुवाक

पांच कोश तथा ब्रह्म

वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता वरुण के पास गया, और कहने लगा---भगवन् ! ब्रह्म का उपदेश कीजिये । भृगु को वरुण ने कहा---अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी---जिससे ये उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद जिससे ये जीवित रहते हैं, जिसमें विलीन हो जाते हैं, उसे जानो, वह 'ब्रह्म' है । भृगु ने तप किया, और तप करने के अनन्तर---॥ (ञ) ॥

पाया है); **सः यः एवम् विद्वान्**—वह जो इस प्रकार जानने वाला–ज्ञानी है; **एते**—इन (दोनों संतापकारी विचारों) को; **आत्मानम्**—अपने आपको, आत्मा को; **स्पृणुते**—बल देता है, उन्नत करता है; **उभे हि एव एते**—दोनों ही इनको; **यः एवं वेद**—जो इस प्रकार जानता है; **एषः**—वह यह ज्ञानी मनुष्य; **आत्मानम्**—अपने आपको; **स्पृणुते**—उन्नत करता है; बलवान् करता है ॥

भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति । तँ होवाच । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा । (ञ)

भृगुः वै—भृगु (नामवाला); **वारुणिः**—वरुण का पुत्र; **वरुणम् पितरम्**—अपने पिता वरुण के; **उपससार**—पास पहुँचा; **अधीहि**—उपदेश कीजिये; **भगवः**—हे पूजनीय; **ब्रह्म**—ब्रह्म (का); **इति**—यह (कहा); **तस्मै**—उस (भृगु) को; **एतत्**—यह; **प्रोवाच**—(वरुण ने) कहा; **अन्नम्, प्राणम्, चक्षुः, श्रोत्रम्, मनः, वाचम्**—अन्न, प्राण, चक्षु, कान, मन और वाणी; **इति**—ये (संकेत दिये); **तम् ह**—और उसको; **उवाच**—(संकेत देने के बाद) कहा; **यतः वै**—जिस (कारण) से ही; **इमानि**—ये; **भूतानि**—पृथिवी आदि अचर-भूत और शरीरधारी प्राणी चर-भूत; **जायन्ते**—उत्पन्न होते हैं; **येन**—जिस (साधन) के द्वारा; **जातानि**—उत्पन्न (ये भूत); **जीवन्ति**—जीवित रहते हैं; **यत्**—जिसको (में); **प्रयन्ति**—लौट जाते हैं या लौटते हुए; **अभिसंविशन्ति**—सो जाते हैं, लीन हो जाते हैं; **तद्**—उसको; **विजिज्ञासस्व**—जानने की इच्छा (प्रयत्न) कर; **तद्**—वह ही; **ब्रह्म**—ब्रह्म है; **इति**—यह (वचन वरुण ने कहा); **सः**—उस (भृगु) ने; **तपः**—तप; **अतप्यत**—तपा, किया; **सः**—वह; **तपः**—तप; **तप्त्वा**—(तप) करके ॥ ञ ॥

भृगु-वल्ली का द्वितीय अनुवाक

यह जाना कि 'अन्न' ब्रह्म है। अन्न से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद अन्न से जीवित रहते हैं, अन्न में ही, अर्थात्



भृगु अपने पिता वरुण से ब्रह्म का उपदेश ले रहे हैं

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

पंच भूतों में ही विलीन हो जाते हैं। यह ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर वह अपने पिता के पास फिर गया। 'अन्नमय-कोश' को ब्रह्म मान कर, उससे जो प्राप्त करना था, वह भृगु ने प्राप्त कर लिया, और पिता से कहा, भगवन् ! 'अन्नमय-कोश' के मार्ग को मैंने तय कर लिया, अब इससे आगे का उपदेश दीजिये, ब्रह्म-ज्ञान दीजिये। वरुण ने कहा, 'तप' करो, और तप से ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानो। तप ही ब्रह्म है, तप से ही उसका ज्ञान होता है। उसने फिर तप किया, और तप करने के अनन्तर—

भृगु-वल्ली का तृतीय अनुवाक

उसने जाना कि 'प्राण' ब्रह्म है। प्राण से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद प्राण से जीवित रहते हैं, प्राण में ही अन्त में विलीन हो जाते हैं। यह ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर वह अपने पिता के पास फिर गया। 'प्राणमय-कोश' को ब्रह्म मानकर, उससे जो प्राप्त करना था, वह भृगु ने प्राप्त कर लिया, और पिता

अन्नम्—अन्न को ही; **ब्रह्म इति**—ब्रह्म है ऐसे; **व्यजानात्**—जाना; **अन्नात् हि एव**—क्योंकि अन्न से ही; **खलु**—निश्चय ही; **इमानि भूतानि जायन्ते**—ये भूत उत्पन्न होते हैं; **अन्नेन जातानि जीवन्ति**—उत्पन्न ये भूत अन्न से ही जीवित रहते हैं; **अन्नम् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति**—अन्न को (में) ही (अन्त में) लौट जाते हैं और (उसमें) लीन हो जाते हैं; **तद्**—उसको (यह बात); **विज्ञाय**—जानकर; **पुनः एव वरुणम् पितरम् उपससार**—फिर भी अपने पिता वरुण के पास पहुँचा; **अधीहि भगवः ब्रह्म इति**—हे भगवन्! ब्रह्म का उपदेश कीजिये; **तम् ह उवाच**—उसको (वरुण ने) कहा; **तपसा**—तप से, तप करके; **ब्रह्म**—ब्रह्म को; **विजिज्ञासस्व**—जानने की इच्छा (प्रयत्न) कर; **तपः ब्रह्म इति**—तप ही ब्रह्म है या ब्रह्मप्राप्ति में सब से मुख्य है; **सः तपः अतप्यत**—उसने तप किया; **सः तपः तप्त्वा**—उसने तप करके॥

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तँ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

प्राणः ब्रह्म इति व्यजानात्—'प्राण ही ब्रह्म है' यह जाना; **प्राणात् हि एव**—क्योंकि प्राण ही से; **खलु इमानि भूतानि जायन्ते**—निश्चय ही ये भूत उत्पन्न

से कहा, भगवन् ! 'प्राणमय-कोश' के मार्ग को मैंने तय कर लिया, अब इससे आगे का उपदेश दीजिये, ब्रह्म-ज्ञान दीजिये । वरुण ने कहा, 'तप' करो, और तप से ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानो। तप ही ब्रह्म है, तप से ही उसका ज्ञान होता है। उसने फिर तप किया, और तप करने के अनन्तर—

भृगु-वल्ली का चतुर्थ अनुवाक

उसने जाना कि 'मन' ब्रह्म है। मन से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद मन से ही जीवित रहते हैं, मन में ही अन्त में विलीन हो जाते हैं । यह ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर वह अपने पिता के पास फिर गया । 'मनोमय-कोश' को ब्रह्म मानकर, उससे जो प्राप्त करना था, वह भृगु ने प्राप्त कर लिया, और पिता से कहा, भगवन् ! 'मनोमय-कोश' के मार्ग को मैंने तय कर लिया,

---

होते हैं, प्राणेन—प्राण (साधन) के द्वारा; जातानि—उत्पन्न हुए, जीवन्ति—जीवित रहते हैं, प्राणान् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति—प्राण को (में) ही लौट जाते हैं और लीन हो जाते हैं; इति—इस प्रकार (जाना), तद् विज्ञाय—उस (प्राण)को(ही) ब्रह्म(बडा)जानकर, पुनः एव वरुणम् पितरम् उपससार—फिर भी अपने पिता वरुण के पास पहुंचा, अधीहि भगवः ब्रह्म—हे भगवन् (आदरणीय) ब्रह्म का उपदेश कीजिये, इति—यह (कहा), तम् ह उवाच—उस (भृगु) को (वरुण ने) कहा, तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व—तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा (प्रयत्न) कर, तपः ब्रह्म इति—तप ही ब्रह्म है, सः तपः अतप्यत—उसने तप किया; सः तप. तप्त्वा—उसने तप करके ॥

मनो ब्रह्मेति व्यजानात् । मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । मनसा जातानि जीवन्ति । मन. प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । त ँ होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ।

मनः—मन ही, ब्रह्म—ब्रह्म (बडा, महान्) है, इति—यह, व्यजानात्—जाना; मनसः हि एव—क्योंकि मन से ही, खलु इमानि भूतानि जायन्ते—ये भूत उत्पन्न होते हैं; मनसा—मन (साधन) के द्वारा; जातानि—उत्पन्न ये भूत, जीवन्ति—जीवित रहते हैं, मनः प्रयन्ति अभिसंविशन्ति—मन को (में) ही लौट जाते हैं और लीन हो जाते हैं; तद् विज्ञाय—उसको (मन को ब्रह्म) जान कर; पुनः एव वरुणम् पितरम् उपससार—फिर भी अपने पिता वरुण के पास

अब इससे आगे का उपदेश दीजिये, ब्रह्म-ज्ञान दीजिये । वरुण ने कहा, 'तप' करो, और तप से ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानो । तप ही ब्रह्म है, तप से ही उसका ज्ञान होता है । उसने फिर तप किया, और तप करने के अनन्तर---

भृगु-वल्ली का पंचम अनुवाक

उसने जाना कि 'विज्ञान' ब्रह्म है । 'विज्ञान' से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद 'विज्ञान' से ही जीवित रहते हैं, विज्ञान में ही अन्त में विलीन हो जाते हैं । यह ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर वह अपने पिता के पास फिर गया । 'विज्ञानमय-कोश' को ब्रह्म मानकर, उससे जो प्राप्त करना था, वह भृगु ने प्राप्त कर लिया, और पिता से कहा, भगवन् ! 'विज्ञानमय-कोश' के मार्ग को मैंने तय कर लिया, अब इससे आगे का उपदेश दीजिये, ब्रह्म-ज्ञान दीजिये । वरुण ने कहा, 'तप' करो, और तप से ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानो । फिर उसने तप किया, और तप करने के अनन्तर---

---

आया; **अधीहि भगवः ब्रह्म**---हे भगवन् ब्रह्म का उपदेश कीजिये; **इति**---यह (कहा); **तम् ह उवाच**---उस (भृगु) को (वरुण ने) कहा; **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व**---तप द्वारा ब्रह्म को जानने की इच्छा (प्रयत्न) कर; **तपः ब्रह्म इति**---तप (से प्राप्य) ही यह ब्रह्म है; **सः तपः अतप्यत**---उसने तप किया; **सः तपः तप्त्वा**---उसने तप करके ॥

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । विज्ञानेन जातानि जीवन्ति । विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तँ होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ।

विज्ञानम्---विज्ञान (बुद्धि) ही; **ब्रह्म**---ब्रह्म है; **इति**---इस प्रकार; **व्यजानात्**---जाना; **विज्ञानाद् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते**---क्योंकि विज्ञान से ही निश्चय ही ये भूत उत्पन्न होते हैं; **विज्ञानेन जातानि जीवन्ति**---विज्ञान (साधन) के द्वारा ही उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं; **विज्ञानम् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति**---विज्ञान को ही लौट जाते हैं और उसमें लीन हो जाते हैं; **तद्**---विज्ञान रूप ब्रह्म को; **विज्ञाय**---जान कर; **पुनः एव वरुणम् पितरम् उपससार**---फिर भी अपने पिता वरुण के पास पहुंचा; **अधीहि भगवः ब्रह्म**---हे भगवन् ! ब्रह्म का उपदेश कीजिये; **इति**---यह (कहा); **तम् ह उवाच**---उस (भृगु) को

भृगु-वल्ली का षष्ठ अनुवाक

उसने जाना कि 'आनन्द' ब्रह्म है। 'आनन्द' से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद आनन्द से ही जीवित रहते हैं, आनन्द में ही अन्त में विलीन हो जाते हैं।

भृगु तथा वरुण की यह विद्या है, जो हृदयाकाश में प्रतिष्ठित है। जो इस क्रम से इस विद्या को जानता है, वह भी प्रतिष्ठित हो जाता है; अन्नवान् हो जाता है; अन्न का 'भोक्ता' हो जाता है; प्रजा, पशु तथा ब्रह्म-तेज से महान् हो जाता है; उसकी कीर्ति विशाल हो जाती है।

वरुण ने कहा, तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व—तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा (प्रयत्न) करो, तप: ब्रह्म—तप (से प्राप्य) ही ब्रह्म है, इति—यह (कहा), सः तपः अतप्यत—उसने तप किया, सः तपः तप्त्वा—उसने तप करके ॥

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या। परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

आनन्दः—आनन्द ही, ब्रह्म—ब्रह्म है, इति—ऐसे, यह, व्यजानात्—जाना, आनन्दात् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते—क्योंकि आनन्द से ही निश्चय से ये भूत उत्पन्न होते हैं, आनन्देन जातानि जीवन्ति—आनन्द (साधन) के द्वारा ही उत्पन्न भूत जीवित रहते हैं, आनन्दम् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति—(फिर अन्त में) आनन्द को (में) ही लौट जाते हैं और लीन हो जाते हैं, सा—वह, एषा—यह (उपर्युक्त), भार्गवी—भृगु को प्राप्त, वारुणी—वरुण द्वारा उपदिष्ट, विद्या—(ब्रह्म) विद्या है, परमे व्योमन्—परम विशिष्ट ओम् (ब्रह्म) में या हृदयाकाश में, प्रतिष्ठिता—स्थित है (इसका विषय—उद्देश्य—ब्रह्म है और इसका आधार बुद्धि या हृदय है), यः एवम् वेद—जो इस प्रकार (इस ब्रह्म को) जानता है (वह भी), प्रतितिष्ठति—(ब्रह्म में) स्थिर हो जाता है या प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, अन्नवान्—अन्न का स्वामी, अन्नादः—अन्न को भोगने वाला (भोक्ता), भवति—होता है, महान्—बड़ा, प्रतिष्ठित, महिमा वाला, भवति—होता है, प्रजया—पुत्र-पौत्र सन्तति (वंश-परम्परा) से, पशुभिः—(गौ आदि) पशुओं से, ब्रह्मवर्चसेन—ब्रह्म-तेज से, महान् कीर्त्या—यश द्वारा भी महान् हो जाता है ॥

(भृगु की इस सम्पूर्ण कथा में यह दर्शाया गया है कि वह अन्न, प्राण, मनस्, विज्ञान आदि तत्त्वों को क्रमशः 'ब्रह्म' मानता गया, और गुरु ने हर बार उसे आगे-आगे चलने को कहा। जब मनुष्य 'अन्नमय' शरीर के क्षेत्र में रहता है, तब 'अन्न' को ही ब्रह्म समझे रहता है, क्योंकि उस समय वह 'अन्नमय-कोश' से ही सोच-समझ सकता है। जब मनुष्य 'प्राणमय-कोश' के द्वारा सोचने लगता है, तब उसे सर्वत्र प्राण-ही-प्राण व्याप्त दीखता है, और वह 'प्राण' को ही 'ब्रह्म' समझने लगता है। इसी प्रकार आगे-आगे चलते-चलते उसे ज्ञान होने लगता है कि न पंचभूत ही ब्रह्म है, न प्राण ब्रह्म है, न मनस्-तत्त्व ब्रह्म है, न विज्ञान-तत्त्व ब्रह्म है। आत्मा के ब्रह्म-ज्ञान के विकास में यही प्रक्रिया है।)

भृगु-वल्ली का सप्तम अनुवाक

अन्न की निंदा न करे—इसका व्रत कर ले। हर-एक 'भोग्य' अन्न है, 'भोक्ता' अन्नाद है। 'प्राण' को अन्न कहा जा सकता है, 'शरीर' को अन्नाद कहा जा सकता है। 'भोक्ता' और 'भोग्य' एक दूसरे के सहारे टिके रहते हैं—प्राण के सहारे शरीर, और शरीर के सहारे प्राण टिका हुआ है। परन्तु ऊंची दृष्टि से विचार करने से 'भोक्ता' भी भोग्य ही है, शरीर प्राण का भोग करता है, परन्तु शरीर भी तो भोगा ही जाता है, भोग्य ही है। इस प्रकार एक 'अन्न' दूसरे 'अन्न' में प्रतिष्ठित है। संसार के सभी पदार्थ भोग्य हैं, जो भोक्ता मालूम पड़ता है वह भी भोग्य ही है, असली भोक्ता तो वही 'ब्रह्म' है। इस प्रकार जो अन्न में अन्न को प्रतिष्ठित जान लेता है, वह 'अन्न-वान्' हो जाता है, 'अन्नाद' हो जाता है, 'भोक्ता' बन जाता है, प्रजा, पशु, ब्रह्म-तेज तथा कीर्ति से महान् हो जाता है।

अन्नं न निन्द्यात्। तद् व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

अन्नम्—अन्न की; न—नहीं; निन्द्यात्—निन्दा करे; तद्—वह (यह उपदेश); व्रतम्—संकल्पपूर्वक धारण करने योग्य आचरण है; प्राणः वै—प्राण

भृगु-वल्ली का अष्टम अनुवाक

अन्न का अनादर न करे—इसका व्रत कर ले। 'जल' अन्न है, 'अग्नि' अन्नाद है; 'जल' में 'अग्नि' प्रतिष्ठित है; 'अग्नि' में 'जल' प्रतिष्ठित है। अग्नि-रूप सूर्य जल को खींच लेता है, उसे भोग लेता है, इसलिये अग्नि भोक्ता है, जल भोग्य है; अग्नि अन्नाद, अर्थात् भोक्ता है, जल अन्न, अर्थात् भोग्य है। जल के भीतर भी विद्युत् छिपी रहती है, इसलिये जल भोक्ता है, अग्नि भोग्य है, जल अन्नाद, अर्थात् भोक्ता है, अग्नि अन्न, अर्थात् भोग्य है। परन्तु ऊंची दृष्टि से विचार करने से 'भोक्ता' भी भोग्य ही है, जल अग्नि को और अग्नि जल को भोगती है, परन्तु ये दोनों भी तो भोगे हो जाते हैं। इस प्रकार एक 'अन्न' दूसरे 'अन्न' में प्रतिष्ठित है। संसार के सभी पदार्थ 'भोग्य' हैं, जो 'भोक्ता' मालूम पड़ता है, वह भी 'भोग्य' ही है, 'अन्न' ही है, असली 'भोक्ता'—'अन्नाद'—तो वही 'ब्रह्म' है। इस प्रकार जो 'अन्न' में 'अन्न' को प्रतिष्ठित जान लेता है, वह 'अन्नवान्' हो जाता है, 'अन्नाद' हो जाता है, 'भोक्ता' बन जाता है, प्रजा, पशु, ब्रह्म-तेज और कीर्ति से महान् हो जाता है।

ही, अन्नम्—अन्न है; शरीरम्—शरीर, काया; अन्नादम—अन्न (प्राण) को खाने वाला (भोक्ता) है; प्राणे—प्राण में (पर), शरीरम्—शरीर, प्रतिष्ठितम्—स्थित है, (और) शरीरे—शरीर में (पर), प्राण—प्राण, प्रतिष्ठितः—स्थित है, तद् एतत् अन्नम्—तो यह अन्न, अन्ने—अन्न में (पर) ही, प्रतिष्ठितम्—आश्रित है, सः यः—वह जो, एतद् अन्नम्—इस अन्न को, अन्ने प्रतिष्ठितम्—अन्न पर स्थित (आश्रित), वेद—जानता है, प्रतितिष्ठति—(स्वयं) स्थिर हो जाता है, प्रतिष्ठा पाता है, अन्नवान् अन्नाद भवति—अन्न का स्वामी और अन्न का भोक्ता होता है; महान् भवति प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेन—प्रजा, पशु और ब्रह्म-तेज से महिमा वाला होता है; महान् कीर्त्या—और यश से भी महान् (यशस्वी होता है) ॥

अन्नं न परिचक्षीत। तद् व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या।

अन्नम्—अन्न को; न—नहीं; परिचक्षीत—(मिलने अन्न की) इनकार

भृगु-वल्ली का नवम अनुवाक

अन्न को बहुत बढ़ावे—यह व्रत कर ले। पृथिवी अन्न, अर्थात् भोग्य है, आकाश अन्नाद, अर्थात् भोक्ता है। पृथिवी आकाश के सहारे, और आकाश पृथिवी के सहारे टिके हुए हैं, परन्तु अस्ल में दोनों अन्न हैं, भोग्य हैं। अन्न अन्न में टिका हुआ है, भोग्य भोग्य में टिका हुआ है, अस्ली भोक्ता तो वही ब्रह्म है। इस प्रकार संसार के सब पदार्थों को जो अन्न-रूप में, 'भोग्य'-रूप में जान लेता है, और समझ जाता है कि जो भोक्ता मालूम पड़ता है, वह भी भोग्य ही है, अस्ली भोक्ता तो वही 'ब्रह्म' है, वह 'अन्नवान्' हो जाता है, 'अन्नाद' हो जाता है, 'भोक्ता' बन जाता है, प्रजा, पशु, ब्रह्म-तेज और कीर्ति से महान् हो जाता है।

न करे; तद् व्रतम्—यह अनुष्ठेय संकल्प होना चाहिये; आपः वै—जल ही; अन्नम्—अन्न है; ज्योतिः—तेज; अन्नादम्—अन्न (जल) का भोक्ता है; अप्सु—जलों में; ज्योतिः—तेज; प्रतिष्ठितम्—स्थित है; ज्योतिषि—तेज में; आपः—जल; प्रतिष्ठिताः—स्थित (आश्रित-आधृत) हैं; तद् एतद्—तो यह; अन्नम्—अन्न; अन्ने—अन्न में; प्रतिष्ठितम्—स्थित है; सः यः—वह जो; एतत्—इस; अन्नम् अन्ने प्रतिष्ठितम् वेद प्रतितिष्ठति—अन्न में अन्न को स्थित (आश्रित हुआ) जानता है स्वयं स्थिर होकर प्रतिष्ठा पाता है; अन्नवान् अन्नादः भवति—अन्न का अधिपति और अन्न का भोक्ता होता है; महान् भवति प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेन—प्रजा, पशु और ब्रह्मतेज से महान् होता है; महान् कीर्त्या—महा यशस्वी होता है ॥

अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या।

अन्नम्—अन्न को; बहु—बहुत; कुर्वीत—करे; (बहु कुर्वीत—बहुत बढ़ावे, पर्याप्त संचय करे); तद् व्रतम्—वह (मनुष्य का) व्रत (कर्तव्य कर्म) है; पृथिवी वै अन्नम्—पृथिवी ही अन्न है; आकाशः अन्नादः—आकाश अन्न का भोक्ता है; पृथिव्याम् आकाशः प्रतिष्ठितः—पृथिवी में आकाश विद्यमान (स्थित) है; आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता—आकाश में पृथिवी स्थित है; तद् एतद्—तो यह, इस प्रकार; अन्नम् अन्ने प्रतिष्ठितम्—अन्न ही अन्न में स्थित है;

भृगु-वल्ली का दशम अनुवाक

वसने के लिए आये किसी अतिथि को मना न करे—यह व्रत कर ले। इसलिये जिस-किस विधि से पुष्कल अन्न प्राप्त करे। जो भोजन तय्यार किया जाता है, अतिथि के लिये ही किया जाता है—ऐसा कहा है। तय्यार किये हुए भोजन का जो 'मुख' का, ऊपर का, भोजन है, वह इसी के लिये पकाया गया है; पात्र का 'मध्य' का भोजन भी इसी के लिए पकाया गया है; पात्र का 'अन्त' का, नीचे का जो अन्न है वह भी अतिथि के लिए ही पकाया गया है ॥१॥

स य. एतद्—वह जो इस, अन्नम् अन्ने प्रतिष्ठितम् वेद—अन्न को अन्न में स्थित हुआ जानता है, प्रतितिष्ठति—स्वयं स्थित होकर प्रतिष्ठा पाता है, अन्नवान् अन्नाद भवति—अन्न का स्वामी और अन्न का भोक्ता हो जाता है, महान् भवति प्रजया पशुभि ब्रह्मवर्चसेन—प्रजा, पशु और ब्रह्म तेज से महान् होता है, महान् कीर्त्या—महा यशस्वी होता है ॥

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद् व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नं राद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नं राध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नं राद्धम्। मध्यतोऽस्मा अन्नं राध्यते। एतद्वा अन्ततोऽन्नं राद्धम्। अन्ततोऽस्मा अन्नं राध्यते ॥१॥

न—नहीं, कंचन—किसी को, वसतौ—निवास देने के विषय में बस्ती में, प्रत्याचक्षीत—मना करे (अभ्यागत के निवास के विषय में या बस्ती के आदमी को अन्न देने में किसी को मना न करे), तद् व्रतम्—वह व्रत (मनुष्य का अवश्य कर्तव्य कर्म) है, तस्माद्—अत एव, यया कया च—जिस किसी भी, विधया—तरीके से, बहु—बहुत, अन्नम्—अन्न को, प्राप्नुयात्—प्राप्त करे, अराधि—सिद्ध किया या पकाया, बढ़ा, अस्मै—इसके लिये, अन्नम्—अन्न, इति—यह, आचक्षते—कहते हैं, एतद् वै—यह ही, मुखत—मुख से, अन्नम्—अन्न, राद्धम्—सिद्ध किया, बढ़ाया, मुखत—मुख से, अस्मै—इसके लिए, अन्नम्—अन्न, राध्यते—पकाया जाता है, बढ़ाया जाता है, एतद् वै—यह, मध्यत—मध्य भाग से, अन्नम्—अन्न, राद्धम्—सिद्ध किया, मध्यत—बीच से, अस्मै अन्नम् राध्यते—इसके लिये अन्न सिद्ध किया जाता है, एतद् वै—यह, अन्ततः—अन्त से, अन्नम्—अन्न, राद्धम्—पकाया, बढ़ाया, अन्तत—अन्त से, अस्मै—इसके लिए, अन्नम् राध्यते—अन्न सिद्ध किया जाता है ॥१॥

जो यह जानकर अतिथि की सेवा करता है उसकी वाणी में क्षेम होता है, प्राणापान में योग-क्षेम होता है, हाथों में कर्म-शक्ति रहती है, पांवों में गति रहती है, पायु में विमुक्ति रहती है। मनुष्यों के लिये शास्त्र की यही आज्ञा है कि स्वार्थ का जीवन न व्यतीत करें, परार्थ का जीवन व्यतीत करें। जो परार्थ-भावना से जीवन बिताता है, वह जीवन-पर्यन्त क्रिया-शील रहता है, उसके सब अंग अन्त तक ठीक-ठीक काम करते हैं ॥२॥

ऐसे व्यक्ति को कई दिव्य-गुण भी प्राप्त होते हैं। उसके लिये वृष्टि तृप्ति-कारक होती है, विद्युत् बल देने वाली होती है, पशु यश बढ़ाने वाले होते हैं, नक्षत्र ज्योतिष्मान् होते हैं, विषय पुत्र-पौत्र तथा अमृत आनन्द देने वाले होते हैं—उसे इस आकाश में सब प्राप्त हो जाता है ॥३॥

य एवं वेद। क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः ॥२॥

यः एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है; क्षेमः—प्राप्त की संरक्षा; इति—यह; वाचि—वाणी में; योगक्षेमः—योग (अप्राप्त की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त की संरक्षा); इति—यह; प्राणापानयोः—प्राण और अपान में; कर्म—कर्म; इति—यह; हस्तयोः—हाथों में; गतिः—चलना-फिरना; इति—यह; पादयोः—पांवों में; विमुक्तिः—विसर्ग, बाहर करना, निकालना; इति—यह; पायौ—गुदा (शौचेन्द्रिय) में; इति—ये; मानुषीः—मनुष्य संबन्धी, मनुष्यों के लिये; समाज्ञाः—शास्त्र की आज्ञाएं या निर्देश हैं ॥२॥

अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति। यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे ॥३॥

अथ—अब, ये, और; दैवीः—देव सम्बन्धी; तृप्तिः—तृप्त होना, छकना; इति—यह; वृष्टौ—वर्षा में; बलम्—बल, शक्ति; इति—यह; विद्युति—बिजली में; यशः—कीर्ति; इति—यह; पशुषु—पशुओं में; ज्योतिः—ज्योति, प्रकाश; इति—यह; नक्षत्रेषु—नक्षत्र-ताराओं में; प्रजापतिः—प्रजा (तन्तु) का रक्षक; अमृतम्—(परम्परा से) अमर; आनन्दः—आनन्द—रति; इति—यह; उपस्थे—उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) में; सर्वम्—सब कुछ; आकाशे—आकाश में ॥३॥

जो यह समझ कर ब्रह्म की उपासना करता है कि सब जगह वही प्रतिष्ठित है, वह प्रतिष्ठावान् हो जाता है; ब्रह्म के 'मह'-रूप की उपासना से महान् हो जाता है; 'मन'-रूप की उपासना से मानवान् हो जाता है; 'नम'-रूप की उपासना से सब कामनाएं उसके सम्मुख नमने लगती हैं; 'ब्रह्म'-रूप की उपासना से ब्रह्मवान् हो जाता है; ब्रह्म के 'परिमर'-रूप की उपासना से उसके चारों तरफ के सब शत्रु मर जाते हैं ॥४॥

पुरुष में जो है, और आदित्य में जो है—वह एक है। जो यह जानता है वह मरकर, 'अन्नमय'-'प्राणमय'-'मनोमय'-'विज्ञानमय'-

---

तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत।
महान् भवति। तन्मन इत्युपासीत। मानवान् भवति। तन्नम
इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मै कामाः। तद्ब्रह्मेत्युपासीत।
ब्रह्मवान् भवति। तद्ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत।
पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः। परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः ॥४॥

तत्—तो, उसको; प्रतिष्ठा—सर्वाधार; इति—इस रूप में; उपासीत—उपासना करे, ध्याये; प्रतिष्ठावान्—प्रतिष्ठित, समादृत, भवति—होता है, तत्—उसको, महः—महिमाशाली, बड़ा; इति—इस रूप में, उपासीत—उपासना करे; महान्—बड़ा; भवति—हो जाता है, तत्—उसको, मन—मनन, मान, इति—इस रूप में, उपासीत—ध्याये, मानवान्—सम्मानित, मननशील, भवति—हो जाता है, तत्—उसको, नम.—नमनशील, नम्र, इति—इस रूप में, उपासीत—उपासना करे; नम्यन्ते—(इसकी) ओर झुकते हैं, उन्मुख होते हैं, अस्मै—इसके लिए, कामाः—कामनाएं; तद्—उसको; ब्रह्म—बड़ा, ज्ञान; इति—इस रूप में; उपासीत—ध्याये; ब्रह्मवान्—बृहत्, वेदज्ञ; भवति—होता है, तद्—उसको, ब्रह्मणः—ब्रह्म का; परिमरः—चारों ओर से मारने वाला, सर्वसंहारक, संहर्ता; इति—इस रूप में; उपासीत—उपासना करे (सर्वत्र समझे), परि—चारों ओर घेरे; एनम्—इस (उपासक) को; म्रियन्ते—मर जाते हैं; द्विषन्त—द्वेष करने वाले; सपत्नाः—शत्रु; परि—चारों ओर से (मर जाते हैं); ये—जो; अप्रिया—प्रेम से शून्य; भ्रातृव्याः—भाई-बन्धु ॥४॥

स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः। स य एवंवित्।
अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमय-
मात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं

'आनन्दमय' कोशों को लांघकर, कामना के लोकों में निष्कामरूपी होकर विचरने लगता है, और प्रसन्नता से साम-गान करने लगता है, और कहने लगता है—॥५॥

अ हो ! अ हो ! अ हो ! मैं अब तक अन्न था, अन्न था, अन्न था—भोग्य बना हुआ था, भोग्य बना हुआ था, भोग्य बना हुआ था। मैं अब अपने यथार्थ-स्वरूप को समझ गया। मैं अन्नाद हूं, अन्नाद हूं, अन्नाद हूं—भोक्ता हूं, भोक्ता हूं, भोक्ता हूं। मैं अपनी

विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य ।
इमांल्लोकान्कामान्नीकामरूप्यनुसंचरन् । एतत्साम गायन्नास्ते ॥५॥

सः यः च—और वह जो; अयम्—यह; पुरुषे—पुरुष में (जीवात्मा में); यः च—और जो; असौ—यह; आदित्ये—सूर्य में या अदिति (प्रकृति) से उत्पन्न कार्य-जगत् में; सः एकः—वह एक ही है (भिन्न-भिन्न नहीं—वह जड़-चेतन दोनों में रमा हुआ है); सः—वह; यः—जो; एवंवित्—इस प्रकार जानने वाला; अस्मात् लोकात्—इस लोक से; प्रेत्य—मर कर, मरने के बाद; एतम्—इस; अन्नमयम् आत्मानम्—अन्नमय आत्मा (स्वरूप) को; उपसंक्रम्य—लांघ कर, पार कर, छोड़ कर; एतम् प्राणमयम् आत्मानम् उपसंक्रम्य—इस प्राणमय आत्मा को लांघकर; एतम् मनोमयम्—इस मनोमय; आत्मानम् उपसंक्रम्य—आत्मा को छोड़कर; एतम् विज्ञानमयम् आत्मानम् उपसंक्रम्य—इस विज्ञानमय (बुद्धि-प्रधान) स्वरूप को छोड़कर; एतम् आनन्दमयम् आत्मानम् उपसंक्रम्य—इस आनन्दमय आत्मा को छोड़ कर; इमान्—इन; लोकान्—लोकों को (में); कामान्—काम-भोगों को; नीकामरूपी—निष्कामरूपी, कामना-रहित; अनुसंचरन्—विचरण करता हुआ; एतत्—इस; साम—साम-मंत्र को; शान्तिप्रद भक्ति प्रधान मंत्र को; गायन्—गाता हुआ, जपता हुआ; आस्ते—ठहरता है, बैठता है, स्थिर-चित्त हो जाता है ॥५॥

हा३वु हा३वु हा३वु । अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादो३ हमन्नादो-३हमन्नादः । अहं श्लोककृदहं श्लोककृदहं श्लोककृत् । अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य । पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना३भायि । यो मा ददाति स इदेव मा३वाः । अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि । अहं विश्वं भुवनमभ्य-भवा३म् । सुवर्णज्योतीः । य एवं वेद । इत्युपनिषत् ॥६॥

हा३वु, हा३वु, हा३वु—ओहो, ओहो, ओहो; अहम्—मैं; अन्नम्—अन्न (भोग्य) हूं; अहम् अन्नम्, अहम्, अन्नम्—मैं अन्न हूं, मैं अन्न हूं; अहम्—मैं;

कीर्ति को स्वय बनाने वाला हू, कीर्ति को स्वय बनाने वाला हू, स्वय बनाने वाला हू । मै ऋत-स्वरूप ब्रह्म की सबसे प्रथम उत्पन्न हुई विभूति हू । मै इन्द्रियो से पूर्व हू, अमृत की नाभि हू, अमृत-स्वरूप हू । जो मुझे देता चला आया है, वही मेरी रक्षा करेगा । मै अब तक अपने को 'अन्न'-'अन्न' ही मानता रहा, 'भोग्य' ही बना रहा, परन्तु अब मै इतना अपने स्वरूप में आ गया हू कि भोक्ता को भी खा जाऊं, भोक्ता का भी भोक्ता बन जाऊं । मै संसार के विषयों में पड़ा हुआ इनमे इतना उलझ गया कि इनका भोग करते-करते इनसे ही भोगा जाने लगा, अब मै निष्काम होकर कामना के लोको में विचरता हू । मै अब भोक्ता बनकर विश्व-भुवन को इस प्रकार अभिभूत कर रहा हू जैसे सूर्य अपनी ज्योति से नक्षत्रो को अभिभूत कर देता है । जो यह सब जानता है वह उपनिषद् के रहस्य को जानता है ॥६॥

(मूल तैत्तिरीयोपनिषत् में जो निर्णय-सागर प्रेस में छपी है अनुवाको में दस-दस वाक्यो के पीछे अक दिये गये है, इस बात का विचार नही रखा गया कि वाक्य पूरा हुआ है, या नही । हम ने उस प्रकार अक नही दिये, एक विचार के समाप्त होने पर दिये है । मूल में प्रत्येक अनुवाक के अन्त में उपनिषत्कार ने यह भी दिया है कि इस अनुवाक में कौन-कौन से मुख्य-मुख्य शब्द आये

अन्नाद —अन्न का खाने वाला (भोक्ता) हू, अहम् अन्नाद अहम् अन्नाद—मैं अन्न भोक्ता हू, मैं अन्न भोक्ता हू, अहम्—मैं स्वयम्, श्लोककृत्—श्लोक (कीर्ति-यश) का रचयिता हू, अहम् श्लोककृत्—मैं ही अपनी कीर्ति का निर्माता हू, अहम्—मैं, अस्मि—हू, प्रथमजा—प्रथम उत्पन्न, ऋतस्य—परमेश्वर की सृष्टि का, पूर्वम्—पहले, देवेभ्य —देवो से, इन्द्रियो से, अमृतस्य—अमर पद का, मोक्ष का, नाभि —आधार मध्यम बिन्दु, य—जो, मा—मुझ को, ददाति—(जीवन) देता है, स—वह, इद् एव—ही, मा—मुझ को (मेरी), आवा—रक्षा करने वाला है, अहम् अन्नम्—मैं अन्न, अन्नम् अदन्तम्—अन्न के भोक्ता को, आ अद्मि—खा जाता हू, अहम्—मैंने, विश्वम्—सम्पूर्ण, भुवनम्—लोक-लोकान्तरो को, अभ्यभवाम्—अभिभूत किया हुआ है, सुव —सूर्य ने, न—तरह, ज्योती—नक्षत्रो को, य—जो, एवविद्—इस प्रकार जानने वाला है, इति—यह हो, उपनिषद्—रहस्य-विज्ञान है ॥६॥

हैं, कितने वाक्य आये हैं। यह इसलिये किया गया है जिससे उप-निषद् के वाक्यों की रक्षा हो सके। ये हमने नहीं दिये। कुछ शब्द इस मूल-उपनिषद् में ऐसे आये हैं जो भाषा के विकास पर प्रकाश डालते हैं। जैसे, 'शिक्षा' के स्थान में 'शीक्षा', 'तत्' के स्थान में 'त्यत्', 'निष्काम' के स्थान में 'नीकाम'।

तैत्तिरीय-उपनिषद् की ब्रह्मानन्द-वल्ली का मुख्य विषय ब्रह्म का ज्ञान कराना है। ब्रह्म-ज्ञान में अन्नमय-कोश आदि पांचों कोश ज्ञान के क्रमिक साधन हैं। मनुष्य पहले-पहल अन्न को, भौतिक पदार्थों को ही सब कुछ मानता है, धीरे-धीरे उसकी आस्था इन सब से उठ जाती है, और वह स्थूल से सूक्ष्म—अन्न से प्राण, मन, विज्ञान, आनन्द की तरफ़ जाने लगता है। शिक्षा का यही ध्येय है, यही लक्ष्य है—यह इस उपनिषद् का सार है।)

ऐतरेय-उपनिषद्

प्रथम अध्याय—(प्रथम खंड)

जब इस सृष्टि की रचना नहीं हुई थी, तब पहले-पहल इकला 'आत्मा' ही था। दूसरी कोई चीज झपकती तक न थी। 'आत्मा' ने 'ईक्षण' किया, सब-कुछ बारीकी से विचार-ही-विचार में देख लिया कि 'लोकों' का, अर्थात् नाना-रूप सृष्टि का, किस-किस रूप म सर्जन करूं ॥१॥

'ईक्षण' करने के बाद उसने इन लोकों का सर्जन कर दिया। उसने चार लोकों को रचा—'अम्भस्', 'मरीची', 'मर' और 'आपस्'। द्यु-लोक से परे और द्यु-लोक तक जो लोक है, वह 'अम्भस्'-लोक है; उसके नीचे अन्तरिक्ष में जो सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि प्रकाश-युक्त लोक हैं, यह 'मरीची'-लोक है; यह पृथिवी जिसमें प्राणी उत्पन्न होते और मरते हैं, यह मर्त्य-लोक 'मर'-लोक है; पृथिवी के भी जो नीचे है, यह 'आपस्'-लोक है ॥२॥

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन
मिषत्‌ स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥१॥

आत्मा वं—आत्मा (नियन्ता, कर्ता परमात्मा) ही, इदम्—यह, एक एव—इकला ही, केवल, अग्रे—(सृष्टि-रचना से) पहिले, आसीत्—था, न—नहीं; अन्यत्—अन्य, दूसरा; किंचन—कुछ भी, मिषत्—आंख की गति करता हुआ (जीवनधारी); सः—उस (परमात्मा) ने, ईक्षत—देखा, मन में विचारा; लोकान्—लोकों (प्राणि-शरीर और पृथिवी आदि) को, नु—अवश्य ही, सृजै—बनाऊं, रचूं; इति—यह विचारा ॥१॥

स इमांल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं
द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः। पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥२॥

सः—उसने; इमान्—इन, लोकान्—(चार) लोकों को, असृजत—रचा; अम्भः—अम्भस् (लोक); मरीची—मरीचि (लोक), मरम्—मर (लोक); आपः—अप् (लोक); अदः—यह (आगे निर्दिष्ट), अम्भः—अम्भस् (लोक) है; परेण—परे, आगे; दिवम्—द्यु-लोक के, द्यौ—द्युलोक, प्रतिष्ठा—(इस अम्भस् लोक का) आरम्भ सीमा है, (परेण दिवम् द्यौः प्रतिष्ठा—

उसने फिर 'ईक्षण' किया, यह सोचा कि ये तो 'लोक' रचे गये। इन लोकों की रक्षा कैसे होगी? इसलिये 'लोकपालों' की रचना भी कर डालूं, उसने 'जल' में से 'पुरुष' को निकाला। 'जल' का अर्थ पानी नहीं, अपितु पंच-महाभूतों के सूक्ष्म-रूप को, जिसके कारण रचना संभव हो सकती है, 'जल' कहा गया है। 'जल' से 'पुरुष' निकाला गया—इस वाक्य में 'पुरुष' का अभिप्राय विराट्-पुरुष से है, उस पुरुष से जिसे जगह-जगह 'हिरण्य-गर्भ' कहा गया है। 'जल' से 'पुरुष' को, 'जल' अर्थात् प्राकृतिक-सूक्ष्म-तत्त्वों से विराट्-पुरुष को—हिरण्यगर्भ को—रचने के बाद उसे मूर्च्छित किया गया। जैसे कच्चे लोहे को तपा कर उसे पानी में मूर्च्छित (tempered) किया जाता है ताकि वह दृढ़ हो जाय, पक्का हो जाय, इसी प्रकार 'विराट्-पुरुष' भी तो प्रारम्भ में कच्ची हालत में था, उसे मूर्च्छित करने की, उसके परिपाक की आवश्यकता थी ॥३॥

ब्रह्म ने विराट्-पुरुष को तपाया। अभी तक विराट्-पुरुष एक अगढ़ रूप में था, पुरुषाकार तो था परन्तु उसके मुख, नाक, आंख,

---

द्युलोक और उससे परे तक का नाम अम्भस् लोक है); अन्तरिक्षम्—(ज्योतिष्मान् सूर्य-चन्द्र-तारा का आधार) अन्तरिक्ष; मरीचयः—मरीचि-लोक है; **पृथिवी**—पृथिवी (लोक का नाम ही); मरः—मर (मर्त्य) है; याः—जो; अधस्तात्—(इस पृथिवी से) नीचे है (वह); आपः—अप्-लोक है ॥२॥

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति।
सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत् ॥३॥

सः—उस (परमात्मा) ने; **ईक्षत**—(फिर) सोचा; **इमे नु**—ये तो; **लोकाः**—लोक (बना दिये, बन गये); **लोकपालान् नु**—(इन) लोकों के रक्षकों (अधिष्ठाता, देवताओं) को भी; **सृजै**—रचूं, बनाऊं; **इति**—यह (सोचा); **सः**—उसने; **अद्भ्यः एव**—जलों (तन्मात्राओं-सूक्ष्म तत्त्वों) से ही; **पुरुषम्**—पुरुष (हिरण्यगर्भ या विराट्-पुरुष) को; **समुद्धृत्य**—उठाकर, लेकर, रचकर; **अमूर्च्छयत्**—मूर्च्छित (दोष-रहित) किया—सर्वाङ्ग-पूर्ण किया ॥३॥

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डम्। मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षीभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ्निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो

कान आदि द्वार खुले नहीं थे, बन्द थे। तपाने से उसका मुख खुल गया, जैसे अंडा खुल जाता है। विराट्-पुरुष के मुख से वाक्-शक्ति प्रकट हुई, और उस महापुरुष की वाक् से वाणी का देवता 'अग्नि' प्रकट हुआ। नासिकाएं खुल गईं, नासिकाओं से प्राण-शक्ति प्रकट हुई, और उस महापुरुष के प्राण से प्राण का देवता 'वायु' प्रकट हुआ। आंखों के गोलक खुल गये, उनसे चक्षु-शक्ति प्रकट हुई और चक्षु से चक्षु का देवता 'आदित्य' प्रकट हुआ। कान खुल गये, कानों से श्रोत्र-शक्ति प्रकट हुई और श्रोत्र से श्रोत्र की देवता 'दिशाएं' प्रकट हुईं। त्वचा खुल गई, त्वचा से लोम प्रकट हुए और लोम से 'ओषधि' तथा 'वनस्पति' प्रकट हुए। हृदय खुल गया, हृदय से मन प्रकट हुआ, और मन से मन का देवता 'चन्द्रमा' प्रकट हुआ। नाभि खुल गई, नाभि से अपान प्रकट हुआ, अपान से अपान का देवता 'मृत्यु' प्रकट हुआ। शिश्न खुल गया, उससे उत्पादन-शक्ति प्रकट हुई, और उत्पादन-शक्ति से उसका देवता 'जल' हुआ—'जल' ही उत्पादन-शक्ति का आधार है। इस प्रकार चार लोकों को बनाकर 'अग्नि', 'वायु', आदित्य', 'दिशाएं', 'वनस्पति', 'चन्द्रमा', 'मृत्यु' तथा 'जल'—इन आठ लोकपालों को, अर्थात् 'ब्रह्मांड' के आधारभूत आठ तत्त्वों को विराट्-पुरुष से रचा ॥४॥

हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या
अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः ॥४॥

तम्—उस (पुरुष—हिरण्यगर्भ) को, अभ्यतपत्—तपाया, परिपक्व किया, तस्य—उस (हिरण्यगर्भ) का, अभितप्तस्य—परिपक्व हुए, मुखम्—मुख, निरभिद्यत—फट गया, खुल गया, बन गया, यथा अण्डम्—अण्डे के समान, मुखाद्—मुख से, वाग्—वाणी, वाचः—वाणी से, अग्निः—अग्नि (उत्पन्न हुए), नासिके—दोनों नाक के छिद्र, निरभिद्येताम्—फटे, बन गये, नासिकाभ्याम्—नाक से, प्राणः—प्राण (श्वास प्रश्वास), प्राणाद्—प्राण से, वायुः—वायु (उत्पन्न हुए), अक्षिणी—आंखें, निरभिद्येताम्—फटीं, बनीं, अक्षिभ्याम्—आंखों से, चक्षुः—दृष्टि शक्ति, चक्षुषः—दर्शन शक्ति से, आदित्यः—सूर्य (उत्पन्न हुए), कर्णौ—दोनों कान (के गोलक), निरभिद्येताम्—फटे, बने, कर्णाभ्याम्—कानों से, श्रोत्रम्—श्रवण-शक्ति, श्रोत्राद्—श्रवण शक्ति से, दिशः—दिशाएं (अवकाश), त्वक्—त्वचा, निरभिद्यत—फटी, बनी,

प्रथम अध्याय—(द्वितीय खंड)

ये आठों देवता—'अग्नि', 'वायु' आदि आठों लोकपाल—मानो इस संसार-रूपी महान् समुद्र में आ पड़े, विराट्-पुरुष के शरीर से प्रकट तो हो गये, परन्तु उन्हें अपना कोई ठिकाना न मिला। प्रकट होने के बाद भूख-प्यास भी उनके साथ जोड़ दी गई। अब ये देवता मानो व्याकुल होकर अपने रचयिता से कहने लगे—हमारा कोई ठिकाना भी तो बताइये जहां रहकर हम खायें-पीयें ॥१॥

विधाता ने उनके लिये गाय बनाई, और देवताओं से कहा, इसमें ठिकाना कर लो! उन्होंने कहा, यह ठिकाना हमारे लिये पर्याप्त नहीं रहेगा। फिर घोड़े को लाकर कहा, यह कैसा रहेगा? उन्होंने कहा, यह भी हमारे लिये पर्याप्त नहीं रहेगा ॥२॥

त्वचः—त्वचा से; लोमानि—रोम, बाल; लोमभ्यः—बालों से; ओषधिवनस्पतयः—ओषधियां तथा वृक्ष (उत्पन्न हुए); हृदयम्—हृदय; निरभिद्यत—फटा, बना; हृदयात्—हृदय से; मनः—मन (मनन-शक्ति); मनसः—मनन-शक्ति से; चन्द्रमाः—चन्द्रमा (उत्पन्न हुए); नाभिः—नाभि; निरभिद्यत—फटी, बनी; नाभ्याः—नाभि (टूण्डी) से; अपानः—अपान (प्राणभेद); अपानात्—अपान से; मृत्युः—मौत, मरण; शिश्नम्—मूत्रेन्द्रिय; निरभिद्यत—फटी, बनी; शिश्नात्—मूत्रेन्द्रिय से; रेतः—वीर्य, शुक्र; रेतसः—वीर्य से; आपः—जल ॥४॥

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत् ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन्प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥१॥

ताः—वे; एताः—ये; देवताः—देवता; सृष्टाः—रचे हुए (रच जाने के बाद); अस्मिन्—इस; महति—बड़े, विशाल; अर्णवे—समुद्र में; भव-सागर में; प्रापतन्—गिर पड़े; तम्—उस (भव-सागर) को; अशनायापिपासाभ्याम्—भूख-प्यास से; अन्ववार्जत्—युक्त किया; ताः—उन (उत्पन्न अग्नि आदि देवताओं) ने; एनम्—इस (स्रष्टा) को; अब्रुवन्—कहा; आयतनम्—घर, स्थान, आश्रय, आधार; नः—हमें; प्रजानीहि—बताओ; यस्मिन्—जिसमें; प्रतिष्ठिताः—आश्रित (रहकर); अन्नम्—(भूख-प्यास की निवृत्ति के लिये) अन्न को; अदाम—खायें; इति—यह (वचन कहा) ॥१॥

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति।
ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ॥२॥

ताभ्यः—उनके लिये; गाम्—गौ (बैल) को; आनयत्—बनाकर लाया;

फिर वह उनके लिये 'पुरुष' को रचकर लाया। वे बोले, अहो! यह अच्छा बना है, निस्सन्देह 'पुरुष' ही विधाता की सुन्दर कृति है, 'सुकृति' है। विधाता ने उन्हें कहा, जिस-जिसका जो-जो ठिकाना है, वह उस-उसमें प्रविष्ट हो जाय ॥३॥

अग्नि वाणी होकर मुख में प्रविष्ट हो गई, वायु प्राण होकर नासिकाओं में प्रविष्ट हो गया, आदित्य चक्षु होकर आंखों में प्रविष्ट हो गया, दिशाएं श्रोत्र होकर कानों में जा घुसीं, ओषधि तथा वनस्पति लोम होकर त्वचा में जा पहुंचे, चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हो गया, मृत्यु अपान होकर नाभि में प्रविष्ट हो गया, जल वीर्य होकर जनन-प्रदेश में प्रविष्ट हुए ॥४॥

ता—उन देवताओं ने, अब्रुवन्—कहा, न वै—नहीं ही, न—हमारे लिये, अयम्—यह (बैल), अलम्—पर्याप्त, काफी है, इति—यह (कहा), ताभ्यः—उन देवताओं के लिए, अश्वम्—घोड़ा, आनयत्—लाया, ता अब्रुवन् न वै न अयम् अलम् इति—(तब फिर) उन्होंने कहा कि नहीं हमारे लिए यह घोड़ा पर्याप्त होगा ॥२॥

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतम्।
ता अब्रवीद्यथाऽऽयतनं प्रविशतेति ॥३॥

ताभ्यः—उनके लिए, पुरुषम्—पुरुष (शरीरी आत्मा, मनुष्य) को, आनयत्—लाया, ता अब्रुवन्—उन देवताओं ने कहा, सु कृतम्—अच्छा (भला) किया, बनाया रचा, बत—बहुत, इति—यह (कहा), पुरुषः—मनुष्य, वाव—ही, सुकृतम्—(भगवान् की) सु (श्रेष्ठ) कृति (रचना) है, ता—उन देवताओं को, अब्रवीत्—(परमात्मा) ने कहा, यथाऽऽयतनम्—अपने आयतन (आश्रयस्थान प्रतिष्ठा) के अनुसार अपने अनुकूल आयतन में, प्रविशत—प्रवेश करो आश्रय लो, इति—यह (बात कही) ॥३॥

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥४॥

अग्नि—अग्नि ने, वाक्—वाणी, भूत्वा—होकर, मुखम्—मुख में, प्राविशत्—प्रवेश किया, वायुः प्राणः भूत्वा नासिके प्राविशत्—वायु ने प्राण (श्वास प्रश्वास या घ्राण शक्ति) होकर नासिका में प्रवेश किया, आदित्यः चक्षुः भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्—सूर्य ने आंख (दर्शन शक्ति) होकर (आंख के रूप में)

विधाता को भूख-प्यास ने कहा, हमें आपने उत्पन्न तो कर दिया, हमारा भी तो ठिकाना बताइये। विधाता ने कहा, इन देवताओं के ही साथ तुम्हें जोड़ देता हूं, इन्हीं का तुम्हें भागीदार बना देता हूं। इसलिये जिस किसी देवता को हवि दी जाती है, उसमें भूख-प्यास भी भागीदार होते हैं। अग्नि की हवि द्वारा, वायु की ओषजन द्वारा, आदित्य की रस द्वारा, दिशाओं की सीमा द्वारा, ओषधि की खाद द्वारा, चन्द्र की सूर्य के प्रकाश द्वारा, मृत्यु की अपचय द्वारा, जल की वाष्प द्वारा भूख-प्यास शांत होती है ॥५॥

(विधाता ने पहले पुरुषाकार विराट्-पुरुष रचा। वह अगढ़ था, ऐसा जैसे कोई शिल्पी प्रतिमा बनाने से पूर्व उसका अगढ़ रूप बना लेता है। इस अगढ़ विराट्-पुरुष के मुख से अग्नि, नासिका से प्राण, आंख से आदित्य आदि का निर्माण हुआ। इसके अनन्तर,

---

अक्षिगोलकों में प्रवेश किया; **दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्**—दिशाओं ने श्रवण-शक्ति होकर कानों में प्रवेश किया; **ओषधिवनस्पतयः लोमानि भूत्वा त्वचम् प्राविशन्**—ओषधि और वृक्षों ने रोम-रूप में होकर त्वचा में प्रवेश किया; **चन्द्रमा मनः भूत्वा हृदयम् प्राविशत्**—चन्द्रमा ने मनन-शक्ति के रूप में होकर हृदय में प्रवेश किया; **मृत्युः अपानः भूत्वा नाभिम् प्राविशत्**—मृत्यु ने अपान होकर नाभि में प्रवेश किया; **आपः रेतो भूत्वा शिश्नम् प्राविशन्**—जलों ने वीर्य होकर मूत्रेन्द्रिय में प्रवेश किया ॥४॥

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति। ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः ॥५॥

तम्—उस (स्रष्टा) को; **अशनायापिपासे**—भूख और प्यास; **अब्रूताम्**—बोलीं; **आवाभ्याम्**—हम दोनों के लिये भी; **अभिप्रजानीहि**—(योग्य आश्रय-प्रतिष्ठा) बताइये; **इति**—यह (कहा); **ते**—उन दोनों (भूख-प्यास) को; **अब्रवीत्**—कहा; **एतासु**—इन; **एव**—ही; **वाम्**—तुम दोनों को; **देवतासु**—(अग्नि आदि) देवताओं में; **आभजामि**—अनुगृहीत करता हूं, इनमें ही रहो; **एतासु**—इनमें ही; **भागिन्यौ**—भागीदार; **करोमि**—करता हूं; **इति**—यह (कहा); **तस्मात्**—उस कारण से, अतएव; **यस्यै कस्यै च**—जिस-किसी; **देवतायै**—देवता के लिए; **हविः**—भोग्य सामग्री; **गृह्यते**—ली जाती है; **भागिन्यौ**—हिस्सेदार; **एव**—ही, **अस्याम्**—इस देवता में; **अशनाया-पिपासे**—भूख-प्यास; **भवतः**—होती हैं ॥५॥

अर्थात् विराट्-पुरुष की रचना के अनन्तर, इस छ फीट वाले पुरुष का विराट्-पुरुष की प्रतिकृति के रूप में निर्माण हुआ। विराट्-पुरुष के तो मुख से अग्नि प्रकट हुई थी, परन्तु इस पुरुष का मुख विराट्-पुरुष की उस अग्नि से बना, विराट्-पुरुष की नासिका से प्राण उत्पन्न हुआ था, परन्तु इस पुरुष की नासिका विराट्-पुरुष के उस प्राण से बनी, विराट्-पुरुष की आख से सूर्य प्रकट हुआ था, परन्तु इस पुरुष की आख विराट्-पुरुष के उस आदित्य से बनी। इस सम्पूर्ण उपाख्यान का अभिप्राय यह है कि जो अनुपात हमारी आख का सूर्य से है, वही अनुपात सूर्य का उस विराट्-पुरुष की आख से है। हमारी आख सूर्य के सामने क्या हस्ती रखती है, इसी प्रकार सूर्य उस विराट्-पुरुष की आख के सामने क्या हस्ती रखता है ? इतनी बडी है उस 'विराट्-पुरुष' की आख ! अग्नि, वायु, आदित्य आदि के सम्बन्ध में इसी अनुपात को सम्मुख रखते हुए 'पुरुष' के रूप में अगर हम 'विराट्-पुरुष' की कल्पना करें, तो उसका मुख, नासिका, चक्षु कितना विशाल होगा ? आदित्य उस विराट्-पुरुष की आख नही है, परन्तु उसकी आख से आदित्य बना है। तो फिर उसके नेत्र कितने विशाल है। अन्य सभी देवताओ के सबध में यही अनुपात सामने रखते हुए इस प्रकरण में विराट्-पुरुष की कल्पना की गई है।

प्रारम्भ में 'अम्भस्'-'मरीची'-'मर'-'आपस्'—ये चार लोक बनाये, इसका क्या अर्थ है ? आसमान में ऊपर अम्भ अर्थात् जल-ही-जल जैसा नीला दीखता है। इसे 'अम्भस्' कहा, इस नीले जल-सरीखे आकाश में चमकते सूर्य-चन्द्र-तारे दीखते है। जैसे मरु-मरीचिका को चमकने के कारण मरीचिका कहा जाता है वैसे सूर्य-चन्द्र-तारो को भी चमकने के कारण 'मरीची' कहा है। इसके नीचे 'मर'-लोक है—यह जीने-मरने वालो का मर्त्य-लोक—यह तीसरा लोक है। इसके नीचे फिर जल-ही-जल है, या नीला आकाश है जिसे 'अम्भस्' कहने के स्थान में 'आपस्'-लोक कह दिया है। 'आपस्' का अर्थ भी जल ही है। इस प्रकार 'अम्भस्'-'मरीची'-'मर'-'आपस्'—ये चार लोक है जो दीखते है।)

प्रथम अध्याय—(तृतीय खंड)

जगत् के रचयिता ने फिर 'ईक्षण' किया, अपने रचे की जांच-पड़ताल को—'लोक' रचे गये, 'लोकपाल' रचे गये, लोकपालों का अधिष्ठान 'पुरुष' को बनाया, 'पुरुष' में 'अग्नि', 'वायु' आदि सब देवता प्रतिष्ठित हो गये, भूख-प्यास को भी उन्हीं में हिस्सेदार बनाया। भूख-प्यास की शांति के लिये, इन देवताओं की तृप्ति के लिये 'अन्न' को रचा ॥१॥

रचना का कार्य 'जल' से होता है। पहले भी 'जल' में से 'पुरुष' को निकाला था, अब फिर रचना के कार्य के लिये 'जलों' को तपाया। जलों का रस तप-तपकर ही भिन्न-भिन्न प्रकार की मूर्तियां उत्पन्न होती हैं। जलों के तपने से जो मूर्ति उत्पन्न हुई, वही 'अन्न' है ॥२॥

(उपनिषदों में जहां-जहां रचना का, निर्माण का वर्णन है, वहां-वहां 'तप' का वर्णन अवश्य है। कुछ भी रचने के लिये 'तप' आवश्यक है।)

अन्न जब पैदा हुआ, तो वह देवों से दूर भागा। उस समय देवों ने अन्न को 'वाणी' से पकड़ना चाहा, परन्तु वाणी से वे उसे न पकड़

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥१॥

सः—उस (स्रष्टा) ने; ईक्षत—देखा, विचारा; इमे नु—ये; लोकाः—लोक; च—और; लोकपालाः—लोक-रक्षक (मैंने रच दिये); अन्नम्—अन्न—भोग्य-सामग्री; एभ्यः—इनके लिए; सृजे—बनाऊं, रचूं; इति—यह (बात सोची) ॥१॥

सोऽपोऽभ्यतपत् ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत
या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत् ॥२॥

सः—उस (स्रष्टा) ने; अपः—जलों को; अभ्यतपत्—तपाया; ताभ्यः—उन (जलों) से; अभितप्ताभ्यः—तप्त हुए-हुए; मूर्तिः—सघन पदार्थ (पांचभौतिक दृश्यमान पृथिवी); अजायत—उत्पन्न हुई; या वै सा—जो ही वह; मूर्तिः—(पृथिवी-रूप) सघन वस्तु; अजायत—उत्पन्न हुई; अन्नम्—(इन लोक और लोकपालों का) भोग्य-पदार्थ है; वै—निश्चय से; तत्—वह (अभीष्ट) अन्न ॥२॥

तदेतत्सृष्टं पराङत्यजिघांसत् तद्वाचाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनद्वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥३॥

सके। यदि वे अन्न को वाणी से पकड पाते, तो वाणी द्वारा 'अन्न' कह देने मात्र से ही भूख-प्यास शात हो जाया करती ॥३॥

तब उन्होने अन्न को 'प्राण' से पकडना चाहा, परन्तु वे उसे प्राण से भी न पकड सके। अगर प्राण से पकड पाते, तो अन्न को सूघने से ही क्षुधा-निवृत्ति हो जाया करती ॥४॥

फिर उन्होने अन्न को 'आख' से ग्रहण करना चाहा, परन्तु आख से भी वे उसे ग्रहण न कर सके। अगर आख से ग्रहण कर सकते, तो अन्न को देखने से ही तृप्ति हो जाती ॥५॥

तत्—तो, एतत्—यह, सृष्टम्—उत्पन्न किया (अन्न), पराङ्—बाहर की ओर (लोकपालो से विपरीत दिशा म), अत्यजिघासत्—भागने की इच्छा करने लगा, भाग खडा हुआ, तत्—उसको, वाचा—वाणी से, अजिघृक्षत्—(देवताओ ने) ग्रहण करना चाहा, पकडना चाहा, तद्—उसको, न—नही, अशक्नोत्—समर्थ हुआ (देव-गण), वाचा—वाणी से, ग्रहीतुम्—पकडने के लिए, स—वह, यद् ह—जो, एनत्—इस (अन्न) को, वाचा—वाणी से, अग्रहैष्यत्—पकड लेता (तो), अभिव्याहृत्य—उसे अपनी ओर बुलाकर (कहने मात्र से), ह एव—ही, अन्नम्—अन्न को, अत्रप्स्यत्—तृप्त हो जाता (भूख प्यास मिटा लेता) ॥३॥

तत्प्राणेनाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुम्।
स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥४॥

तत्—उस (अन्न) को, प्राणेन—श्वास प्रश्वास से, अजिघृक्षत्—पकडना चाहा, तत्—उसको, न—नही, अशक्नोत्—समर्थ हुआ, प्राणेन—प्राण से, ग्रहीतुम्—पकडने के लिये, स—वह (भोक्ता), यद् ह—जो, एनत्—इस (अन्न) को, प्राणेन—श्वास प्रश्वास से, अग्रहैष्यत्—पकड लेता (तो), अभिप्राण्य—(अन्न की) ओर श्वास-प्रश्वास लेकर, ह एव—ही, अन्नम्—अन्न को, अत्रप्स्यत्—तृप्त हो जाता ॥४॥

तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनच्चक्षुषाऽग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥५॥

तत्—उस (अन्न) को, चक्षुषा—दृष्टि से, अजिघृक्षत्—पकडना चाहा, तत्—उसको, न अशक्नोत् चक्षुषा ग्रहीतुम्—आख से पकडने मे समर्थ नही हुआ, स—वह, यद् ह—अगर, एनत्—इस (अन्न) को, चक्षुषा—दृष्टि से, अग्रहैष्यत्—पकड लेता (तो), दृष्ट्वा—देखकर, ह एव—ही, अन्नम्—अन्न को, अत्रप्स्यत्—तृप्त हो जाता ॥५॥

उन्होंने अन्न को 'श्रोत्र' से ग्रहण करना चाहा, परन्तु श्रोत्र से भी वे उसे ग्रहण न कर सके। अगर श्रोत्र से ग्रहण कर सकते, तो 'अन्न'-शब्द को सुनकर ही मनुष्य तृप्त हो जाता ॥६॥

उन्होंने अन्न को 'त्वचा' से ग्रहण करना चाहा, परन्तु त्वचा से भी वे उसे ग्रहण न कर सके। अगर त्वचा से ग्रहण कर सकते, तो अन्न को छूकर ही तृप्ति हो जाती ॥७॥

उन्होंने अन्न को मन से ग्रहण करना चाहा, परन्तु मन से भी वे उसे ग्रहण न कर सके। अगर मन से ग्रहण कर सकते, तो अन्न का ध्यान करके ही भूख-प्यास शांत हो जाती ॥८॥

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम्।
स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥६॥

तत्—उस (अन्न) को; श्रोत्रेण—श्रवण शक्ति से; अजिघृक्षत्—पकड़ना चाहा; तत् न अशक्नोत् श्रोत्रेण ग्रहीतुम्—उसको श्रवण-शक्ति से नहीं पकड़ सका; सः यद् ह एनत्—वह अगर इस (अन्न) को; श्रोत्रेण—श्रवण-शक्ति से; अग्रहैष्यत्—पकड़ लेता (तो), श्रुत्वा—सुनकर; ह एव—ही; अन्नम्—अन्न को; अत्रप्स्यत्—तृप्त हो जाता ॥६॥

तत्त्वचाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनत्त्वचाऽग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥७॥

तत्—उस (अन्न) को; त्वचा—त्वचा से; अजिघृक्षत्—पकड़ना चाहा; तत्—उस (अन्न) को; न—नहीं; अशक्नोत्—समर्थ हुआ; त्वचा—त्वग्-इन्द्रिय से; ग्रहीतुम्—पकड़ने के लिए; सः—वह (देव-समूह); यद् ह—जो, अगर; एनत्—इस (अन्न) को; त्वचा—त्वचा से; अग्रहैष्यत्—ग्रहण कर लेता, पकड़ पाता (तो); स्पृष्ट्वा—छूकर; ह एव—ही; अन्नम्—अन्न को; अत्रप्स्यत्—तृप्त हो जाता ॥७॥

तन्मनसाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनन्मनसाऽग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥८॥

तत्—उस (अन्न) को; मनसा—मनन-शक्ति से; अजिघृक्षत्—लेना चाहा; तत् न अशक्नोत् मनसा ग्रहीतुम्—उसको मन से ग्रहण करने (पकड़ने) में समर्थ नहीं हुआ; सः—वह (देव-समूह-भोक्ता); यद् ह एनत्—अगर इस (अन्न) को; मनसा—मन से; अग्रहैष्यत्—पकड़ पाता, ले सकता (तो);

उन्होंने अन्न को 'जननेन्द्रिय' से ग्रहण करना चाहा, परन्तु उससे भी वे उसे ग्रहण न कर सके । अगर उससे ग्रहण कर सकते, तो अन्न को त्याग कर ही तृप्ति हो जाती ॥९॥

तब देवों ने अन्न को 'अपान' से पकड़ना चाहा, उसने इसे पकड़ लिया । अपान-वायु नाभि के निचले प्रदेश में रहती है । वह समावस्था में रहे तभी अन्न पकड़ा जाता है । पेट और आंतों में विचरने वाली प्राण-शक्ति ही अपान है । उसके बिगड़ने पर ही अन्न का पाचन शिथिल हो जाता है । यह जो अपान-वायु है, वह अन्न को ग्रहण करने वाली वायु है । यह 'वायु' क्या है, मानो 'अन्नायु' है । 'वायु' का अर्थ है—'वा+आयु', जिसके रहने पर प्राणी जीवित रहेगा, न रहने पर नहीं रहेगा, परन्तु उपनिषत्कार कहते हैं कि यह' आ+आयु ' है, मानो 'अन्नायु' है, अर्थात् 'अन्न+आयुः', अन्न पर ही आयु है, बिना अन्न के आयु नहीं है ॥१०॥

ध्यात्वा—ध्यान कर, मनन कर, ह एव—निश्चय ही, अन्नम्—अन्न को, अत्रप्स्यत्—तृप्त हो जाता ॥८॥

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुम् ।
स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥९॥

तत्—उस (अन्न) को, शिश्नेन—पुजननेन्द्रिय से, अजिघृक्षत्—पकडना चाहा, तत् न अशक्नोत् शिश्नेन ग्रहीतुम्—उसको पु जननेन्द्रिय से नही पकड सका, स—वह, यद् ह—जो, एनत्—इसको, शिश्नेन—मूत्रेन्द्रिय (लिङ्ग से), अग्रहैष्यत्—पकड सकता (तो), विसृज्य—छोड कर, त्याग कर, ह एव—ही, अन्नम्—अन्न को, अत्रप्स्यत्—तृप्त हो जाता ॥९॥

तदपानेनाजिघृक्षत् तदावयत् । सैषोऽन्नस्य
ग्रहो यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः ॥१०॥

तद्—उस (अन्न) को, अपानेन—अपान नामी (उदर और आंतों में विचरने वाले) प्राण भेद से, अजिघृक्षत्—पकडना चाहा, तद्—वह या उसको, आवयत्—पकड मे आ गया, स एष—वह यह (अपान), अन्नस्य—अन्न का, ग्रहः—पकडने वाला है, यत्—जो, वायुः—वायु है, अन्नायुः—(यह) अन्न की आयु या अन्न पर आश्रित आयु वाला है, वै—निश्चय से; एष—यह, यद्—जो कि, वायुः—वायु है ॥१०॥

रचयिता ने लोक रचे, लोकपाल रचे, पुरुष रचा, अन्न रचा। रचयिता का ईक्षण हो चुका। अब जीवात्मा की बारी आई। उसने 'ईक्षण' किया। मेरे बिना पुरुष का यह भौतिक-देह कैसे रहेगा ? अब वह सोचने लगा, मैं इस शरीर में किस मार्ग से प्रवेश करूं ? उसने कहा, शरीर में वाणी बोलती मालूम देती है, प्राण चलता मालूम देता है, आंख देखती प्रतीत होती है, कान सुनता जान पड़ता है, त्वचा स्पर्श करती, मन ध्यान करता, अपान और शिश्न स्वयं काम करते प्रतीत होते हैं, परन्तु क्या यह-सब मेरे बिना काम हो रहा है ? अगर नहीं, तो मैं कौन हूं, मेरा स्थान कहां है ? ॥११॥

यह सोचकर जीवात्मा देह की जो 'सीमा' है, जहां देह समाप्त हो जाता है, उस कपाल को दो भागों में विदीर्ण करके, फाड़ कर,

---

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति।
स ईक्षत यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा
दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं
यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ॥११॥

सः—उस (जीवात्मा) ने; ईक्षत—विचार किया; कथम् नु—कैसे; इदम्—यह (शरीर); मद् ऋते—मेरे बिना; स्याद्—होवे, रह सकता है; इति—यह (सोचा) (फिर); सः—उस (जीवात्मा) ने; ईक्षत—विचारा; कतरेण—किसके द्वारा, किस साधन से; प्रपद्यै—(इस शरीर को) प्राप्त करूं, प्रवेश करूं; इति—यह (सोचा); सः ईक्षत—उसने विचारा; यदि—अगर; वाचा—वाणी के द्वारा; अभिव्याहृतम्—बोलना; यदि—अगर; प्राणेन—प्राण से या घ्राण (नासिका) से; अभिप्राणितम्—श्वास-प्रश्वास लेना; यदि चक्षुषा दृष्टम्—यदि आंख द्वारा देखना; यदि श्रोत्रेण श्रुतम्—यदि कान द्वारा सुनना; यदि त्वचा स्पृष्टम्—यदि त्वचा द्वारा छूना; यदि मनसा ध्यातम्—यदि मन द्वारा ध्यान (मनन) करना; यदि अपानेन—अगर अपान वायु (प्राण-भेद) से; अभ्यपानितम्—बाहर फेंकना; यदि शिश्नेन विसृष्टम्—यदि लिङ्गेन्द्रिय द्वारा (वीर्य का) उत्सर्ग करना (ही हो जाये तो); कः अहम्—इस शरीर में मैं क्या व कौन हूं (मेरी क्या सत्ता व स्थिति है ?); इति—यह (भी सोचने लगा) ॥११॥

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम
द्वास्तदेतन्नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना
अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥१२॥

इसी द्वारा देह में प्रविष्ट हो गया। इसीलिये इस द्वार को 'विदृति' कहते हैं। 'विदृति' का अर्थ है 'विदारण'—फाड़ना, ये दोनों कपाल अलग-अलग हैं, फटे हुए हैं। शरीर में जब जीवात्मा इस स्थान में रहता है, तब उसे परम आनन्द प्राप्त होता है इसलिये इस स्थान को 'नान्दन' भी कहते हैं। जीवन के समय 'नान्दन'-स्थान में जीवात्मा का वास, और मृत्यु के समय 'नान्दन'-स्थान में आकर विदृति-मार्ग से जीवात्मा का निर्गमन—यही योगी का ध्येय है (तैत्तिरीय १-६, प्रश्न ३-७, छान्दोग्य ८-६)। उपनिषत्कार कहते हैं कि जब जीवात्मा शरीर में रहता है तब तीन 'आवसथों' में, तीन स्थानों में रहता है। निम्न-विचारों के जीव नीचे के स्थानों में, मध्य-विचारों के जीव मध्य-स्थानों में, और उच्च-विचारों के जीव उत्तम-स्थान, नान्दन-स्थान में रहते हैं। उपदेश देते हुए ऋषि ने अंगुली से बताया कि यह उत्तम आवसथ है, यह मध्यम आवसथ है, यह निकृष्ट आवसथ है। आवसथ, अर्थात् स्थान। जीवात्मा तीन स्थानों में रहता हुआ शरीर की तीन अवस्थाएं उत्पन्न कर देता है। वे अवस्थाएं हैं जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति। परन्तु महा ऋषि ने इन तीनों अवस्थाओं को सोई हुई अवस्था कहा है। शरीर की इन तीनों अवस्थाओं में रहता हुआ भी जीव जबतक ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर लेता, वह सोया हुआ ही है ॥१२॥

स—उसने, एतम् एव—इस ही, सीमानम्—(केशान्त या कपालों की सन्धि रूपी सीमा) ब्रह्म-रन्ध्र को, विदार्य—फाड़कर, एतया—इस, द्वारा—दरवाजे से, मार्ग से, प्रापद्यत—पहुंचा, शरीर में प्रविष्ट हुआ, सा एषा—वह यह (सीमा-ब्रह्मरन्ध्र) ही, विदृति—विदृति, नाम—नाम वाला, द्वा—दरवाजा, मार्ग है, तद् एतत्—वह यह ही, नान्दनम्—हर्षित करने वाला, आनन्द प्रदाता है, तस्य—उस (शरीर में प्रविष्ट जीवात्मा) के, त्रय—तीन (आगे वर्णित जीवात्मा के तीन जन्म), आवसथा—रहने के स्थान—घर हैं, त्रय—तीन ही, स्वप्ना—सोने के स्थान (आरामगाह) हैं, अयम्—यह (वीर्यरूप में स्थित प्रथम), आवसथ—घर है, अयम्—यह (शिशुरूप में जन्म द्वितीय), आवसथ—घर है, अयम्—यह (मरणोपरान्त पुनर्जन्म तृतीय), आवसथ—आश्रय स्थल है, इति—ऐसे ॥१२॥

जीवात्मा जब सोई हुई अवस्था को छोड़ता है, और सब भूतों को देखता है, तो सोचता है कि मैं दूसरे किससे बात करूं, सब जगह विराट्-पुरुष, सब जगह ब्रह्म-ही-ब्रह्म तो विस्तार पा रहा है। उसे सब जगह ब्रह्म के ही दर्शन होने लगते हैं, और वह कह उठता है, 'इदम्+अदर्शम्', 'मैंने यह देख लिया'—अर्थात्, ब्रह्म यह सामने ही तो दीख रहा है, दूर कहां है ? ॥१३॥

'इदम्+अदर्शम्' का अर्थ है—'यह देख लिया'। इसमें 'इदम्' के साथ 'अदर्शम्' का 'द+र' जोड़ देने से 'इदम्+द+र' बन गया, इसलिये उसे 'इदन्द्र' कहते हैं। अस्ल में 'इदन्द्र' शब्द है, इसी के बीच का 'द' हटाकर 'इन्द्र' बन जाता है। देवता लोग 'इदन्द्र' के स्थान में 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग करते हैं क्योंकि वे रहस्यमयी भाषा को पसन्द करते हैं, परोक्ष-प्रिय होते हैं ॥१४॥

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति।
स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमितीऽ३ ॥१३॥

सः—उसने; **जातः**—उत्पन्न हुए (उत्पन्न होकर); **भूतानि**—भूतों (चराचर प्राणी व पंच भूतों) की; **अभिव्यैख्यत्**—ओर देखा, समझा; **किम्**—क्या, कौन, किसको; **इह**—यहां; **अन्यम्**—दूसरा, दूसरे को; **वावदिषत्**—बोल रहा है; (**किम् इह अन्यम् वावदिषद्**—यहां इस शरीर में दूसरा कौन बोलसा रहा है, विद्यमान है, या यहां अब मैं किस से बोलूं-चालूं); **इति**—ऐसे (देखा); **सः**—उस (जीवात्मा) ने; **एतम् एव**—इस ही; **पुरुषम्**—कार्य-कारण रूप प्रकृति-पुरी में व्याप्त; **ब्रह्म**—ब्रह्म को; **ततमम्**—उन (दृश्यमान-शरीर में उपस्थित) सब में से एक (अद्वितीय) को या सर्वत्र व्यापक को; **अपश्यत्**—देखा, जाना; (और कहा कि) **इदम्**—इसको; **अदर्शम्**—(मैंने) देख लिया; **इति**—यह ॥१३॥

तस्मादिदन्द्रो नाम इदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते
परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥१४॥

तस्मात्—(उस ब्रह्म को देखकर कहने के) कारण ही; **इदन्द्रः**—(यह जीवात्मा) इदन्द्र; **नाम**—संज्ञा, नाम वाला; **इदन्द्रः ह वै नाम**—(जीवात्मा की) इदन्द्र यह संज्ञा हुई; **तम्**—उस; **इदन्द्रम्**—इदन्द्र को; **सन्तम्**—रूप को, हुए-हुए को; **इन्द्रः इति**—'इन्द्र' इस (नाम) से; **आचक्षते**—कहते हैं; **परोक्षेण**—अव्यक्त रूप में; **हि**—क्योंकि; **परोक्षप्रियाः**—अदृश्य, अव्यक्त वस्तुओं

(पुरुष के देह का आधार अन्न है, अन्न का ग्रहण अपान वायु से होता है, यह स्पष्ट कर देने के बाद ऋषि ने अपने ढंग से यह उपदेश दिया है कि देह का धारण आख, नाक, कान आदि से नही परन्तु जीवात्मा से होता है। जीवात्मा जब तक सोया रहे, तब तक उसे कुछ मालूम नही होता, जब वह जाग जाय, उसके ज्ञान-नेत्र खुल जाय, तब वह शरीर में और ब्रह्माड में––'मैंने यह देख लिया'––कहकर उसके दर्शन करने लगता है।

तान्त्रिक लोग इस स्थल का यह अर्थ करते हैं कि जीव सोया हुआ कुडलिनी के जगाने से जागता है। उसके तीन 'आवसथ' है, तीन स्थान है––मूलाधार, हृदय तथा ब्रह्मरध्र। कुडलिनी जागती हुई, नीचे से ऊपर जाती हुई अन्त मे ब्रह्मरध्र मे पहुचती है जिसे यहा 'नान्दन'-स्थान कहा गया है। वहा पहुच कर आत्मा ब्रह्म के साक्षात् दर्शन करता है, इसीलिये १३वें सन्दर्भ मे कहा गया है–– 'मैंने यह देख लिया'। उपनिषदो मे ब्रह्म के साक्षात् दर्शन का अनेक स्थानो में वर्णन है––'त्वामेव प्रत्यक्ष ब्रह्म वदिष्यामि'––'मैं तुझे प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूगा'। गीता में भी ७वें अध्याय में सृष्टि को ही प्रत्यक्ष-ब्रह्म कहा है।)

द्वितीय अध्याय

इस अध्याय में गर्भाधान का आनुषगिक वर्णन किया है इसलिये ऋषि इस अध्याय का प्रवचन करते हुए प्रारम्भ में कहते है, गर्भिणी स्त्रिया उठ जाय। उनके उठकर चले जाने पर ऋषि अपना उपदेश प्रारम्भ करते हैं—

मे प्रीति रखने वाले, इव—मानो, जानो, देवा—विद्वान ज्ञानी होते हैं, परोक्षप्रिया इव हि देवा—ज्ञानी सदैव अज्ञात पदार्थों की जिज्ञासा मे रुचि रखते हैं ॥१४॥

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेज सभूतमात्मन्येवात्मान बिभर्ति तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथम जन्म ॥१॥

पुरुषे—पुरुष (पु जाति प्राणी) मे, ह वै—ही, अयम्—यह, आदित—शुरु से, सर्वप्रथम, गर्भ—गर्भ (नूतन-जन्म के निर्माण का स्थान), भवति—

गर्भ कहने को तो स्त्री धारण करती है, परन्तु अस्ल में शुरू से ही यह पुरुष धारण करता है। वीर्य से ही तो गर्भ होता है। यह वीर्य, रेतस्, पुरुष के अंग-अंग के तेज का ही तो सार-तत्त्व है। क्योंकि पुरुष के अंगों के इस तेज से ही गर्भ होता है, इसलिये यह कहना ठीक होगा कि पुरुष पहले वीर्य-रक्षा द्वारा अपने में अपने को धारण करता है। उसे जब स्त्री में सिंचित करता है, तब मानो अपने को ही सिंचित करता है, अपने को ही उत्पन्न करता है। इस प्रकार पुरुष अपने को ही उत्पन्न करता है, यह उसका प्रथम जन्म है ॥१॥

वह रेतस् स्त्री में जाकर उसका आत्मवत् हो जाता है, ठीक ऐसे जैसे अपना ही अंग। इसीलिये विजातीय-द्रव होने के कारण भी आत्म-वत् हो जाने से वह स्त्री को कष्ट नहीं देता। स्त्री, पुरुष के आत्मा को अपने भीतर सुरक्षित रखकर उसकी पालना करती है ॥२॥

होता है; यद् एतद्—जो यह; रेतः—वीर्य है; तद् एतत्—वह यह (वीर्य); **सर्वेभ्यः**—सब; **अङ्गेभ्यः**—अंगों से (निकल कर); **तेजः**—तेज (शक्ति); **संभूतम्**—इकट्ठा हुआ, उत्पन्न; **आत्मनि**—अपने में; **एव**—ही; **आत्मानम्**—अपने आप को, अपने स्वरूप को; **बिभर्ति**—धारण करता है, पोषण करता है; **तद्**—तो, उसको; **यदा**—जब; **स्त्रियाम्**—स्त्री (योनि) में; **सिञ्चति**—(मनुष्य) सींचता है, डालता है; **अथ**—तब; **एतत्**—इसको (अपने को); **जनयति**—पैदा करता है; **तद्**—वह; **अस्य**—इसका; **प्रथमम्**—पहला; **जन्म**—जन्म (है) ॥१॥

तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमङ्गं तथा।
तस्मादेनां न हिनस्ति साऽस्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति ॥२॥

तत्—वह (सिंचित वीर्य); **स्त्रियाः**—स्त्री के; **आत्मभूयम्**—अपनत्व को; **गच्छति**—प्राप्त हो जाता है; (**स्त्रियाः आत्मभूयम् गच्छति**—स्त्री का अपना अभिन्न अंग बन जाता है); **यथा**—जैसे; **स्वम्**—अपना; **अंगम्**—अंग; **तथा**—वैसे; **तस्मात्**—उस कारण से ही; **एनाम्**—इस (स्त्री) को; **न**—नहीं; **हिनस्ति**—मारता है, हानि पहुंचाता है; **सा**—वह (स्त्री); **अस्य**—इस (पुरुष) के; **एतम्**—इस; **आत्मानम्**—स्वरूप को; **अत्र**—यहां, इस (गर्भ) में; **भावयति**—(ध्यानपूर्वक) पालन करती है ॥२॥

क्योंकि वह मानो हमारी ही पालना करती है, इसलिये उसकी पालना करना भी हमारा कर्तव्य है। स्त्री, पुरुष को ही गर्भ में धारण करती है। जन्म के बाद पुरुष 'कुमार' की रक्षा करता है, उसकी भावना करता है, यह रक्षा, यह भावना मानो अपनी ही रक्षा है, अपनी ही भावना है, इस प्रकार लोक में वह जो सन्तति बढ़ाता है, अपने को ही बढ़ाता है, लोक का इसी प्रकार सन्तान-वितान बढ़ा है। इस प्रकार 'कुमार'-रूप में बालक का जो जन्म होता है, वह पुरुष का अपना ही जन्म है। वीर्य-दान उसका प्रथम, और कुमार-रूप में उत्पन्न होना पुरुष का अपना ही द्वितीय-जन्म है ॥३॥

'कुमार'-रूप में ही पुरुष का एक आत्मा उसी के पुण्य-कर्मों का प्रतिनिधि बनकर संसार में रह जाता है। अर्थात्, पुरुष के पुण्य-

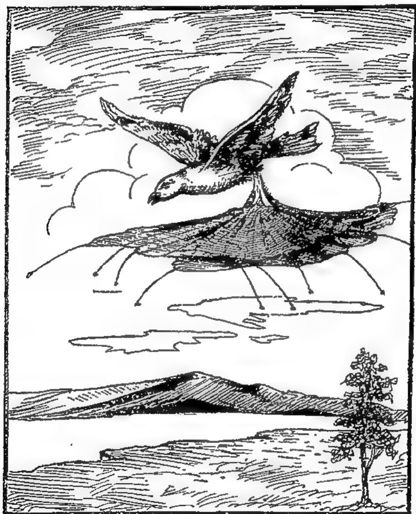
---

सा भावयित्री भावयितव्या भवति तं स्त्री गर्भं बिभर्ति
सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति स यत्कुमारं
जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां
सन्तत्या एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥३॥

सा—वह, भावयित्री—(अपने तेज व स्वरूप का) पालन करने वाली (स्त्री), भावयितव्या—(पुरुष द्वारा) पालने योग्य, भवति—होती है, (क्योंकि) तम्—उस (पुरुष) को ही, स्त्री—स्त्री, गर्भम्—गर्भ को (में), बिभर्ति—धारण-पोषण करती है, स—वह (पुरुष), अग्रे एव—(जन्म से) पहिले ही (गर्भ रूप में स्त्री-रक्षा करके भावी कुमार का ही पालन करता है), कुमारम्—(उत्पन्न) शिशु को, जन्मनः अग्रे—जन्म के आगे (बाद में), अधिभावयति—पालन करता है, सः—वह (पुरुष), यत्—जो, कुमारम् जन्मनः अग्रे अधि भावयति—कुमार की जन्म के बाद पालना करता है (वह वास्तव में), आत्मानम् एव—अपने आप को (की) ही, तत्—तो, भावयति—पालना करता है, एषाम्—इन, लोकानाम्—लोकों की (वंश-परम्परा की), सन्तत्यै—विस्तार के लिये, आगे बढ़ने के लिये, नष्ट न होने देने के लिए, एवम्—इस प्रकार ही, सन्तता—(परम्परा से) विस्तृत, हि—ही; इमे—ये, लोकाः—लोक (मनुष्य-समाज), तत् अस्य—वह (इस शरीरी जीवात्मा) का, द्वितीयम्—दूसरा, जन्म—जन्म (है) ॥३॥

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयतेऽथास्यायमितर आत्मा
कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म ॥४॥

कर्म उसके पुत्र के रूप में संसार में बने रहते हैं। उसका दूसरा आत्मा, अर्थात् यह स्थूल-शरीर, कृतकृत्य होकर, बूढ़ा होकर संसार को छोड़ देता है। इस लोक से जाते ही वह फिर उत्पन्न हो जाता है, यह उसका तृतीय-जन्म है ॥४॥



बाज जैसे जाल से मुक्त हो जाता है, वैसे मैं
जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाऊं!

सः—वह (कुमार रूप में); अस्य—इस (पिता) का; अयम्—यह; आत्मा—आत्मा, स्वरूप; पुण्येभ्यः—पुण्य (अच्छे); कर्मभ्यः—कर्मों के (करने के) लिए; प्रतिधीयते—स्थापित किया जाता है; प्रतिनिधि (आगे सम्भालने वाला)

वामदेव ऋषि ने ठीक कहा है—मैं जब गर्भ में था तभी मैंने देवों के सब जन्मों को जान लिया था। मुझे लोहे के समान सैकड़ों शरीरों में रखा गया। जैसे बाज नीचे जाल में बधा हो, और वेग से सब बन्धनों को छिन्न-भिन्न करके आसमान में उड जाय, वैसे मैंने लोहे के समान सैकडों शरीर-रूपी बन्धनों को तोड-फोड डाला, और स्वतन्त्र हो गया। गर्भ में पडे-पडे ही वामदेव ने ऐसा कहा—॥५॥

इस प्रकार वामदेव-ऋषि शरीर का भेदन करके, ऊपर पहुंच कर, उस स्वर्ग-लोक में सब कामनाओं को पाकर अमर हो गया, हो गया ॥६॥

बनाया जाता है, अथ—और, अस्य—इसका, अयम्—यह, इतर—दूसरा, आत्मा—आत्मा, (इतर आत्मा—स्वयं का आत्मा), कृतकृत्य—सफल, सब कर्तव्य कर्मों को समाप्त करने वाला, वयोगत—वृद्ध हुआ (पूर्ण आयु को प्राप्त), प्रैति—मर जाता है, स—वह, इत—यहां से, इस (लोक) से, प्रयन्—जाता हुआ, शरीर को छोड़ता हुआ, एव—ही, पुन—फिर, जायते—जन्म लेता है, तद् अस्य तृतीयम् जन्म—वह इसका तीसरा जन्म है ॥४॥

तदुक्तमृषिणा। गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति
गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥५॥

तद्—वह (ही बात), उक्तम—कही है, ऋषिणा—ऋषि (वामदेव) ने गर्भे—गर्भ में, नु—तो, सन्—रहते हुए, एषाम्—इन, अनु अवेदम—जाना, अहम्—मैंने, देवानाम्—देवों के, इन्द्रियों के, जनिमानि—जन्मों को, उत्पत्ति को, विश्वा—सब, शतम्—सौ, सैकड़ों, मा—मुझ को, पुर—नगरियों ने, आयसी—लोहे से निर्मित, बहुत दृढ, अरक्षन्—रक्षा की, बचाया (रोका), अध—नीचे, श्येन—बाज (की तरह), जवसा—वेग से, बल से, निरदीयम्—फाड़दिया, तोड़ दिया, इति—यह (बात कही), गर्भे एव—गर्भ में ही, एतत्—यह (बात), शयान—सोते हुए, वामदेव—वामदेव ऋषि ने, एवम्—इस प्रकार, उवाच—कहा था ॥५॥

स एव विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे
लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत् ॥६॥

स—वह (वामदेव ऋषि), एवम्—इस प्रकार, विद्वान्—जानने वाला, अस्मात्—इस, शरीर-भेदात्—शरीर के नाश से, (शरीर के बन्धन से), उत्क्रम्य—ऊपर उठकर, पार कर, अमुष्मिन्—इस, स्वर्गे—सुखप्रद,

तृतीय अध्याय

गर्भाधान का आनुषंगिक वर्णन करने के अनन्तर ऋषि ने कहा, अब गर्भिणी स्त्रियां यथा-स्थान आकर बैठ जांय, और उपदेश सुनें।

यह 'आत्मा' कौन है जिसकी हम उपासना करते हैं, और वह आत्मा कौन-सा है जिससे यह मनुष्य 'रूप' को देखता है, 'शब्द' को सुनता है, 'गन्ध' को सूंघता है, 'वाणी' का व्यवहार करता है, और जिससे स्वादु वा अस्वादु पदार्थ को जानता है ? ॥१॥

इस प्रश्न का उत्तर देते हैं---यह जो 'हृदय' (Emotion) और 'मन' (Reason) हैं, और इनके साथ जो यह 'संज्ञान', 'आज्ञान', 'विज्ञान', 'प्रज्ञान', 'मेधा', 'दृष्टि', 'धृति', 'मति', 'मनीषा', 'जूति', 'स्मृति', 'संकल्प', 'क्रतु', 'असु', 'काम' और 'वश' हैं---ये सब 'प्रज्ञान' के ही नाम हैं। जीवात्मा के ये गुण हैं। जीवात्मा के कारण यही नहीं कि रूप, रस, गन्ध का ज्ञान होता है, अपितु अभी कहे ये सब कार्य भी जीवात्मा के कारण ही होते हैं ॥२॥

लोके---लोक में, अवस्था में; सर्वान्---सब; कामान्---कामनाओं को; आप्त्वा---प्राप्त करके; अमृतः---अमर, मोक्ष का अधिकारी; समभवत्---हो गया; समभवत्---हो गया ॥६॥

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स आत्मा येन वा रूपं
पश्यति येन वा शब्दं शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा
वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥१॥

कः---कौन, कौन सा; अयम्---यह; आत्मा---(उपास्य) आत्मा (है); इति---ऐसे; वयम्---हम; उपास्महे---(जिसकी) उपासना करें; कतरः---(दोनों आत्माओं में से) कौन सा; सः---वह; आत्मा---आत्मा (है); येन---जिससे; वा---वा; पश्यति---देखता है; येन वा---या जिससे; शृणोति---सुनता है; येन वा---या जिससे; गन्धान्---गन्धों को; आजिघ्रति---सूंघता है; येन वा---या जिससे; वाचम्---वाणी को; व्याकरोति---व्यक्त करता है (बोलता है); येन वा---या जिससे; स्वादु च---और स्वादिष्ट; अस्वादु च---और अस्वादिष्ट (वस्तु को); विजानाति---जानता है ॥१॥

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा
दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो
वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥२॥

'जीवात्मा' का वर्णन कर चुकने पर, 'परमात्मा' का वर्णन करते हैं। ब्रह्म यह है, इन्द्र यह है, प्रजापति यह है। यह क्या ? जिसका अभी वर्णन करते हैं—वह। ये सब देव, ये पांचों महाभूत, पृथिवी, वायु, आकाश, आप और ज्योति, ये क्षुद्र जीव, ये मिश्र जीव-जन्तु, ये बीज, ये अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज्ज, ये अश्व, गौ, पुरुष, हस्ती—ये जो भी प्राणि-जगत् है, स्थावर, जंगम, पतत्र—ये सब 'प्रज्ञा-नेत्र' हैं, इन सबमें प्रज्ञा मानो दीख रही है, यह सृष्टि अन्धी नहीं चली जा रही, प्रज्ञा से जा रही है, किसी लक्ष्य की तरफ मानो आंख उठाकर जा रही है, यह सृष्टि 'प्रज्ञान' में प्रतिष्ठित है, प्रज्ञान में ही ठहरी हुई है। सम्पूर्ण लोक 'प्रज्ञा-नेत्र' है, प्रज्ञा में प्रतिष्ठित

यद्—जो, एतत्—यह, हृदयम्—हृदय (भाव प्रधान), मनः—मन (मनन-प्रधान), च—और, एतत्—यह, संज्ञानम्—सम्यग् ज्ञान, आज्ञानम्—आज्ञा देना, ईश्वर-भाव, विज्ञानम्—विशिष्ट (विवेकपूर्वक) ज्ञान, कला आदि का ज्ञान, प्रज्ञानम्—उत्कृष्ट ज्ञान, मेधा—धारणावती बुद्धि, दृष्टिः—दर्शन-शक्ति, धृतिः—धैर्य, मतिः—मनन, मनीषा—सूझ-बूझ, जूतिः—वेग, शक्ति, प्रेरणा, स्मृतिः—स्मरण करना, संकल्पः—करने का निश्चय करना, क्रतुः—कर्मशीलता, परिश्रम करना, असुः—प्राण शक्ति, या कमी को दूर करना, कामः—भविष्य की कामनाएं करना, वशः—(अपने को या दूसरों को) वश में रखना, प्राप्त भोगों को भोगने की इच्छा, इति—ये, सर्वाणि—सारे, एव—ही, एतानि—ये, प्रज्ञानस्य—उत्कृष्ट ज्ञान के ही, नामधेयानि—नाम, संज्ञाएं, भवन्ति—हैं ॥२॥

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि
पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव।
बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि
चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं
च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने
प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥३॥

एष—यह (उपास्य आत्मा—ब्रह्म ही), ब्रह्मा—ब्रह्मा (जगत्स्रष्टा), एष इन्द्रः—यह इन्द्र, ईश्वर, एष प्रजापतिः—यह प्रजापति, एते सर्वे देवाः—ये सब देव, इमानि च—और ये, पञ्च—पांच, महाभूतानि—महाभूत, पृथिवी—पृथिवी (१), वायुः—वायु (२), आकाशः—आकाश (३), आपः—जल (४), ज्योतींषि—तेज (५), एतानि—ये (पांच), इमानि च—और

हैं—'प्रज्ञानेत्रो लोकः'। वह 'प्रज्ञान' ही ब्रह्म है, वही इन्द्र है, वही प्रजापति है। जिस आत्मा की हम उपासना करते हैं, वह यही है ।।३।।

(संसार प्रज्ञान' में प्रतिष्ठित है—अर्थात् संसार का निर्माण सोच-समझ पर आश्रित है, यह अटकलपच्चू नहीं है।)

उपासक इसी 'प्रज्ञ'-आत्मा की उपासना से इस मर्त्य-लोक से उत्क्रमण कर उस स्वर्ग-लोक में सब कामनाओं को प्राप्त कर अमृत हो गया, हो गया ।।४।।

ये; **क्षुद्रमिश्राणि इव**—कुछ-कुछ आपस में मिश्रित (पदार्थ); **बीजानि**—बीज; **इतराणि**—दूसरे; **च**—और; **इतराणि**—दूसरे, अन्य; **च**—और; **अण्डजानि**—अण्डे से उत्पन्न होने वाले (पक्षी-मत्स्य, कूर्म-सर्प आदि); **च**—और; **जारुजानि**—जरायु (जेर) से उत्पन्न होने वाले (मनुष्य-गाय आदि); **स्वेदजानि**—स्वेद (गर्मी व नमी के योग) से उत्पन्न होने वाले (जूं-गिजाई आदि); **च**—और; **उद्भिज्जानि**—उद्भिद् से उत्पन्न (जमीन फाड़कर उत्पन्न होने वाले—वृक्ष वनस्पति आदि); **च**—और; **अश्वाः**—घोड़े; **गावः**—गौएं; **पुरुषाः**—मनुष्य; **हस्तिनः**—हाथी; **यत् किम् च**—और जो कुछ भी; **इदम्**—यह; **प्राणि**—प्राणधारी (सांस लेने वाला); **जंगमम्**—गतिशील, चर; **च**—और; **पतत्रि**—उड़ने वाला; **च**—और; **यत् च**—और जो; **स्थावरम्**—स्थिर रहने वाले, गतिशून्य (पर्वत आदि); **सर्वम् तत्**—वह सब ही; **प्रज्ञा-नेत्रम्**—प्रज्ञा (बुद्धि-ज्ञान) से प्रेरित; **प्रज्ञाने**—प्रज्ञा (बुद्धि) पर; **प्रतिष्ठितम्**—आश्रित है; **प्रज्ञानेत्रः**—प्रज्ञा से प्रेरित (प्रज्ञा है नेत्र—नेता जिसका); **लोकः**—(यह) संसार; **प्रज्ञा**—बुद्धि, चिति-शक्ति ही; **प्रतिष्ठा**—आश्रय; **प्रज्ञानम्**—प्रज्ञा; **ब्रह्म**—बड़ा, मुख्य है; (**प्रज्ञानम् ब्रह्म**—बुद्धि का अधिष्ठाता आदि-गुरु ब्रह्म है, वह ही वह आत्मा है, जो उपास्य है) ।।३।।

स एतेन प्रज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके
सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत्। इत्योम् ।।४।।

सः—वह (उपासक); **एतेन**—इस; **प्रज्ञेन**—सर्वज्ञाता; **आत्मना**—परमात्मा द्वारा (की उपासना करके); **अस्मात् लोकात्**—इस (पृथिवी) लोक से या इस मनुष्य-जन्म से; **उत्क्रम्य**—ऊपर उठकर, इसे छोड़कर; **अमुष्मिन्**—उस; **स्वर्गे**—सुखमय; **लोके**—लोक में; (**स्वर्गे लोके**—आनन्दमय लोक, परमधाम मोक्ष में); **सर्वान्**—सब; **कामान्**—कामनाओं को; **आप्त्वा**—प्राप्त कर; **अमृतः**—अमर (जन्म-मरण बन्धन से मुक्त); **समभवत्**—हो गया; **समभवत्**—हो गया; **इति ओम्**—यह उपनिषद् समाप्त हुई ।।४।।

उपदेश की समाप्ति पर ऋषि कहते हैं—मेरी वाणी मन में प्रतिष्ठित हो, मेरा मन वाणी में प्रतिष्ठित हो। मन और वाणी की एकात्मता से मेरे अन्तरात्मा का उत्तरोत्तर विकास हो। मैं वेद को प्राप्त कर सकूं। मेरा सुना हुआ अनायास ही न नष्ट हो जाय। इस पढ़े हुए से दिन-रात को एक कर दूं। ऋत कहूं, सत्य कहूं, मेरी रक्षा करो, मुझे उपदेश देने वाले की रक्षा करो, मेरी तथा मेरे गुरु की रक्षा करो। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवत्ववतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

वाङ्—वाणी, मे—मेरी, मेरे, मनसि—मनन में, ज्ञान में, प्रतिष्ठिता—स्थित हो गई, मन—मन, मे—मेरी, वाचि—वाणी में, प्रतिष्ठित हो, आविः—प्रकट, प्रत्यक्ष, आवीः—रक्षा, मे—मुझे, एधि—(प्राप्त) हो, वेदस्य—वेद का, ज्ञान का, मे—मेरे, आणीस्थः—सूक्ष्म अग्र भाग (अथवा बुद्धि) में स्थित हो, श्रुतम्—सुना हुआ ज्ञान, मे—मुझे, मा—मत, प्रहासीः—छोड़े, अनेन—इस, अधीतेन—अध्ययन से, अहोरात्रान्—दिन रातों को, सन्दधामि—जोड़दूं, एक कर दूं, ऋतम्—यथार्थ बात, वदिष्यामि—कहूंगा, सत्यम्—सत्य, वदिष्यामि—बोलूंगा, तत्—वह (अध्ययन), माम्—मेरी, अवतु—रक्षा करे, तद्—वह (अध्यापन), वक्तारम्—उपदेष्टा को (की), अवतु—रक्षा करे, अवतु माम्—मेरी रक्षा करे, अवतु वक्तारम्—उपदेष्टा की रक्षा करे, अवतु वक्तारम्—उपदेष्टा की रक्षा करे, ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः—हे सर्वरक्षक प्रभु हम तीनों कालों में सर्वथा आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक शान्ति एवम् शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शान्ति प्राप्त हों॥

छान्दोग्य-उपनिषद्

प्रथम प्रपाठक—(पहला खंड)

(प्रथम प्रपाठक के तेरहों खंडों में उद्गीथ अर्थात् ओंकार की उपासना का वर्णन है)

'ओम्'—यह अक्षर 'उद्गीथ' है, इस 'उद्गीथ' की उपासना करे। गायक 'ओम्' ही का उच्च-स्वर से गान करता है, उसी का आगे व्याख्यान है ॥१॥

('उत्' अर्थात् उच्च-स्वर से गाने को 'उद्गीथ' कहते हैं। 'ओम्' भगवान् का नाम है—इसका उच्च-स्वर से गान करना उद्गीथ-गान है।)

पांचों महाभूतों का रस पृथिवी है, पृथिवी का रस जल है, जलों का रस ओषधियां हैं, ओषधियों का रस पुरुष है, पुरुष का रस वाणी है, वाणी का रस ऋक्, अर्थात् भगवान् की स्तुति है, ऋक् का रस साम, अर्थात् प्रभु के नाम का गायन है, साम का रस उद्गीथ, अर्थात् ओंकार का 'उत्'—अर्थात् उच्च-स्वर से, 'गीथ'—अर्थात् गान है ॥२॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत, ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥१॥

ओम्—ब्रह्म-वाचक; **इति**—यह; **एतत्**—इस; **अक्षरम्**—अविनाशी, अक्षरमय पद (ओंकार) को; **उद्गीथम्**—उद्गीथ (उच्च स्वर से गायन द्वारा); **उपासीत**—उपासना करे; **ओम् इति हि**—ओम् इस ही को; **उद्-गायति**—उच्च स्वर से गान करता है; **तस्य**—उस ('ओम्' उद्गीथ) का; **उपव्याख्यानम्**—(आगे) व्याख्यान करते हैं ॥१॥

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः ॥२॥

एषाम्—इन; **भूतानाम्**—पांच महाभूतों का; **पृथिवी**—स्थूल (दृश्य) पृथिवी; **रसः**—रस (आनन्द, सार-निचोड़) है; **पृथिव्याः**—पृथिवी का; **आपः**—जल; **रसः**—रस (है); **अपाम्**—जल का; **ओषधयः**—ओषधियां; **रसः**—रस (हैं); **ओषधीनाम्**—वनस्पतियों का; **पुरुषः**—मनुष्य-

यह जो 'उद्गीथ' है—ओंकार का उच्च-ध्वनि से गान है—वह रसों का रस है, परम-रस है, सर्वोच्च-स्थानी रस है, रसों की शृंखला में, पृथिवी-जल-ओषधि-पुरुष-वाणी-ऋक्-साम-उद्गीथ के रस-क्रम में वह आठवां रस है ॥३॥

ऋक् कौन-कौन-सी है, साम कौन-कौन-सा है, उद्गीथ कौन-कौन-सा है—इसका विमर्श भी तो करना चाहिए ॥४॥

वाणी ही ऋक् है, प्राण साम है, ओम् जो अक्षर है यही उद्गीथ है। अथवा, वाणी और प्राण का एक मिथुन है, एक जोड़ा है, और ऋक् और साम का दूसरा मिथुन है, दूसरा जोड़ा है ॥५॥

शरीर, रसः—रस (है), पुरुषस्य—पुरुष का, वाग्—वाणी, रसः—रस (है), वाचः—वाणी का, ऋक्—ऋग्वेद (स्तुतिपरक मंत्र), रसः—रस (है), ऋचः—ऋचा का, साम—सामवेद (भक्ति-गान-परक मंत्र), रसः—रस (है), साम्नः—साम-गायन का, उद्गीथः—उच्च स्वर से गायन (ओम्), रसः—रस है ॥२॥

स एष रसानाꣳ रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः ॥३॥

स एषः—वह यह, रसानाम्—रसों में, रसतमः—सर्वोत्तम रस, परमः—श्रेष्ठ, परार्ध्यः—सर्वोच्च स्थानी, अष्टमः—(ऊपर गिनाये रसों में) आठवां, यद्—जो, उद्गीथः—उद्गीथ है ॥३॥

कतमा कतमर्क्कतमत्कतमत्साम कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ॥४॥

कतमा-कतमा—कौन-कौन सी, ऋक्—ऋचा, कतमत्-कतमत्—कौन-कौन सा, साम—साम-गायन, कतमः-कतमः—कौन-कौन सा, उद्गीथः—उद्गीथ (है), इति—यह बात, विमृष्टं—विचारणीय, भवति—है ॥४॥

वागेवर्क् प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः।
तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक् च प्राणश्चर्क् च साम च ॥५॥

वाग् एव—वाणी ही, ऋग्—ऋचा है, प्राणः—प्राण ही, साम—साम, ओम् इति एतत् अक्षरम्—'ओम्' यह अक्षर (पद) ही, उद्गीथः—उद्गीथ है, तद्—तो, वै—निश्चय ही, एतद्—यह, मिथुनम्—जोड़ा है, यद् वाक् च प्राणः च—जो (जोड़ा) वाणी और प्राण (का है), (और दूसरा) ऋक् च साम च—ऋचा और साम (का जोड़ा है) ॥५॥

जैसे जोड़े के मिलने से नवीन-सृष्टि उत्पन्न होती है, वैसे वाणी और प्राण तथा ऋक् और साम के जोड़े से 'ओम्'—इस अक्षर की सृष्टि होती है। वाणी द्वारा प्रभु का नाम प्राण-शक्ति से जब गाया जाता है, तब ओंकार प्रकट होता है, इसी प्रकार ऋचा, अर्थात् भगवान् की स्तुति के वाक्य, साम-गान, अर्थात् संगीत में पड़कर, ओंकार को जन्म देते हैं। जब दो परस्पर मिलते हैं, तब वे एक-दूसरे की कामना को पूर्ण करते हैं, इसी प्रकार जब वाणी के साथ प्राण तथा ऋचा के साथ साम मिलकर प्रभु के ओंकार नाम का गान करते हैं, तब एक-दूसरे की पूर्ति करते हैं ॥६॥

जो इस प्रकार जानता हुआ अक्षर उद्गीथ की उपासना करता है, वह निश्चय ही आप्त-काम हो जाता है ॥७॥

'ओम्'—यही अक्षर अनुज्ञा में भी प्रयुक्त होता है। जब किसी बात की अनुज्ञा—स्वीकृति—देनी होती है, तब 'ओम्' कहकर दी जाती है। अनुज्ञा देना—किसी बात की स्वीकृति देना—समृद्धि का

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे संसृज्यते यदा वै मिथुनौ
समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम् ॥६॥

तद् एतद् मिथुनम्—वह यह जोड़ा; ओम्—'ओम्'; इति एतस्मिन्—इस; अक्षरे—अक्षर (पद) में; संसृज्यते—संसर्ग करते हैं, आपस में मिलते हैं; यदा वै—जब ही; मिथुनौ—स्त्री और पुरुष दोनों; समागच्छतः—संगत होते हैं; आपयतः—पूर्ण करते हैं; वै—ही; तौ—वे दोनों; अन्योन्यस्य—एक-दूसरे के; कामान्—कामनाओं को, मनोरथ को ॥६॥

आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥७॥

आपयिता—पूर्ण करने वाला; ह वै—निश्चय से; कामानाम्—कामनाओं का; भवति—होता है; यः—जो; एतद्—इसको; एवम्—इस प्रकार; विद्वान्—जानने वाला, जानता हुआ; अक्षरम्—'ओम्' इस अक्षर को; उद्गीथम्—उद्गीथ (रूप में); उपास्ते—उपासना करता है (ओम् का उच्च स्वर से गान करता है) ॥७॥

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किंचानुजानात्योमित्येव तदाहैषो एव समृद्धिर्यदनुज्ञा
समर्धयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥८॥

तद् वै—वह (ओम्); एतद्—यह; अनुज्ञा-अक्षरम्—अनुमति का (अनुमति-स्वीकृति सूचक) अक्षर है; यद् हि किंच—जो कुछ भी (बात की);

सूचक है, जो समृद्ध है, आप्त-काम है, वही तो अनुज्ञा देता है। जो इस प्रकार जानता हुआ अक्षर उद्गीथ की उपासना करता है, वह कामनाओं को पूरा करने वाला हो जाता है ॥८॥

'ओंकार' से ही त्रयी विद्या का प्रारंभ होता है; सोम-यज्ञ में अध्वर्यु, होता, उद्गाता ओंकार से ही अपना काम प्रारंभ करते हैं; इसी अक्षर की पूजा के लिये, इसी की महिमा से और इसी के रस से संसार के सब काम चलते हैं ॥९॥

प्रभु के ओंकार नाम की जिस महिमा का वर्णन किया गया, उसे जो जानता है और जो नहीं जानता—उन दोनों का उसी की कृपा

अनुजानाति—अनुमति-स्वीकृति देता है, ओम् इति एव—(यह मनुष्य तब) 'ओम्' ऐसे ही, तद्—उस को; आह—कहता है, एषा उ एव—यह ही; समृद्धि—महा-ऐश्वर्य है; यद्—जो, अनुज्ञा—अनुमति-स्वीकृति देना है; समर्धयिता—बढ़ाने वाला, समृद्ध (महाधनी); ह वै—निश्चय ही; कामानाम्—काम्य भोगों का; भवति—हो जाता है; यः एतद् एवम् विद्वान् अक्षरम् उद्गीथम् उपास्ते—जो इस (ओम्) को इस प्रकार जानता हुआ अक्षर (ओम्) की उद्गीथ रूप में उपासना करता है ॥८॥

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति
शंसत्योमित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन ॥९॥

तेन—उस (अक्षर 'ओम्') से; इयम्—यह, त्रयी विद्या—तीनों प्रकार के वेदमंत्र (ऋग्, यजु, साम); वर्तते—(प्रारम्भ) होती है, ओम् इति—'ओम्' यह (बोल कर ही); आश्रावयति—(ऋचाओं का) होता उच्चारण करता है; ओम् इति—'ओम्' यह (बोलकर ही); शंसति—(अध्वर्यु यजुर्वेद मन्त्रों द्वारा कर्म का) उपदेश करता है, ओम् इति—'ओम्' यह (बोलकर ही); उद्गायति—(उद्गाता साम-मंत्रों का) उच्च स्वर से गान करता है; एतस्य एव—इस ही; अक्षरस्य—('ओम्' पद) की, अपचित्यै—पूजा के लिए, बड़ाई के लिए; महिम्ना—महत्ता से (महत्त्वशाली), रसेन—रस रूप (उद्गीथ) से ॥९॥

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या
चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव
वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥१०॥

तेन—उस ('ओम्' अक्षर) से; उभौ—दोनों (ज्ञानी व अज्ञानी); कुरुतः—(अपने-अपने कार्य) करते हैं; यः च—और जो, एतद्—इस (अक्षर) को·

से काम चल रहा है। विद्या तथा अविद्या भिन्न-भिन्न हैं—जो विद्या से, ओंकार की महिमा को जानता हुआ काम करता है, श्रद्धा से और उपनिषद् के ज्ञान से काम करता है, उसका काम वीर्यशाली होता है। यह-सब कुछ उस अक्षर ओंकार का ही व्याख्यान है ॥१०॥

प्रथम प्रपाठक—(दूसरा खंड)

(पिंड में प्राण तथा ब्रह्मांड में सूर्य ओंकार का प्रतिनिधि है, २ से ३ खंड)

'देव' और 'असुर'—ये दोनों 'प्रजापति' की सन्तान हैं। जब ये आपस में लड़ने लगे, तब देवताओं ने 'उद्गीथ' को इसलिये ग्रहण कर लिया कि इससे असुरों का हम पराभव कर देंगे ॥१॥

एवम् वेद—इस प्रकार जानता है; **यः च न वेद**—और जो नहीं जानता; **च**—और; **नाना**—भिन्न-भिन्न (हैं); **तु**—तो; **विद्या**—विद्या (ज्ञान); **अविद्या च**—और अविद्या (अज्ञान); **यद् एव**—जिस (कर्म) को ही; **विद्यया**—ज्ञान से (ज्ञानपूर्वक); **करोति**—करता है; **श्रद्धया**—सत्य-निष्ठा से; **उपनिषदा**—उपनिषद् से, योग से, तल्लीन होकर या किसी ज्ञानी के सहवास से परामर्श कर; **तद्**—वह (कर्म); **एव**—ही; **वीर्यवत्तरम्**—अधिक फलप्रद, सफल; **भवति**—होता है; **इति खलु**—निश्चय से यह; **एतस्य एव**—इस ही; **अक्षरस्य**—अक्षर ('ओम्') का; **उपव्याख्यानम्**—व्याख्यान (स्पष्टीकरण); **भवति**—है ॥१०॥

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिर उभये प्राजापत्यास्तद्ध
देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति ॥१॥

देवासुराः (देव+असुराः)—देव (सत्पुरुष, सद्-इन्द्रिय-वृत्तियां, सद्-मनोभाव) और असुरों (दुष्ट-पुरुष, दुष्ट-इन्द्रिय-वृत्तियां, दुष्ट-मनोभाव) ने; **ह वै**—यह प्रसिद्ध है; **यत्र**—जिस (निमित्त) पर; **संयेतिरे**—युद्ध किया; **उभये**—ये दोनों ही; **प्राजापत्याः**—प्रजापति (सद्गृहस्थ) की ही सन्तान थे (प्रजापति—जीवात्मा संबन्धी इन्द्रिय और मनोवृत्तियां थीं); **तद्**—तो; **ह**—निश्चय से; **देवाः**—देवों ने; **उद्गीथम्**—उद्गीथ (ओंकार-जप) को; **आजह्रुः**—आहरण किया, स्वीकार किया; **अनेन**—इस (उद्गीथ) से; **एतान्**—इन (असुरों) को; **अभिभविष्यामः**—तिरस्कृत, पराभूत करेंगे या जीतेंगे; **इति**—इस कारण से ॥१॥

उन्होंने नासिका में रहने वाले प्राण, अर्थात् 'प्राण-शक्ति' को शरीर में उद्‌गीथ का प्रतीक मानकर उसकी उपासना की, यह सोचा कि इससे हम असुरों का पराभव कर देंगे। घ्राण को असुरों ने पाप से बींध दिया, इसलिये मनुष्य घ्राण से दोनों को सूंघता है—सुगंधि तथा दुर्गन्धि—इन दोनों को, क्योंकि घ्राण पाप से जो विंधा हुआ है ॥२॥

तब देवों ने वाणी को शरीर में उद्‌गीथ का प्रतीक मानकर उसकी उपासना की, और सोचा कि वाणी से हम असुरों का पराभव कर देंगे। उसे भी असुरों ने पाप से बींध दिया, इसलिये मनुष्य वाणी से दोनों बातें कहता है—सत्य और अनृत—ये दोनों, क्योंकि वाणी पाप से जो विंधी हुई है ॥३॥

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्‌गीथमुपासांचक्रिरे तं हासुराः पाप्मना विविधुस्त-स्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः ॥२॥

ते ह—उन (देवताओं) ने, नासिक्यम्—नासिका में होने (रहने) वाले; प्राणम्—घ्राणेन्द्रिय को; उद्‌गीथम्—उद्‌गीथ (मान कर—के रूप में); उपासाञ्चक्रिरे—उपासना की; तम् ह—उस (नासिक्य प्राण) को, असुराः—असुरों ने; पाप्मना—पाप से, त्रुटि या कमी से, विविधुः—बींधा, आहत किया, तस्मात्—उस कारण से, अतएव, तेन—उस (घ्राण-इन्द्रिय) से, उभयम्—दोनों को; जिघ्रति—सूंघता है, सुरभि—सुगन्ध (पदार्थ), च—और, दुर्गन्धि—बुरी गन्ध वाला (पदार्थ), च—और; पाप्मना—पाप से, त्रुटि या कमी से, हि—क्योंकि, एषः—यह (घ्राण—प्राण), विद्धः—बिंधा हुआ, आहत (है) ॥२॥

अथ ह वाचमुद्‌गीथमुपासांचक्रिरे तां हासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदति सत्यं चानृतं च पाप्मना ह्येषा विद्धा ॥३॥

अथ ह—इसके अनन्तर, वाचम्—वाणी की, उद्‌गीथम्—उद्‌गीथ (रूप में), उपासांचक्रिरे—उपासना की, ताम् ह—उस (वाणी रूप उद्‌गीथ) को भी; असुराः—असुरों ने, पाप्मना—पाप से, त्रुटि से, विविधुः—बींध दिया, आहत किया; तस्मात्—उस कारण से, तया—उस (वाणी) से; उभयम्—दोनों को; वदति—बोलता है, सत्यम् च—सत्य को, अनृतम् च—और झूठ को; हि—क्योंकि; पाप्मना—पाप से, एषा—यह वाणी, विद्धा—आहत है ॥३॥

तब देवों ने चक्षु को शरीर में उद्गीथ का प्रतीक मानकर उसकी उपासना की, और सोचा कि चक्षु से हम असुरों का पराभव कर देंगे। उसे भी असुरों ने पाप से बींध दिया, इसलिये मनुष्य आंखों से दोनों पदार्थ देखता है—दर्शनीय तथा अदर्शनीय—इन दोनों को, क्योंकि आंख पाप से जो बिंधी हुई है ॥४॥

तब देवों ने श्रोत्र को शरीर में उद्गीथ का प्रतीक मानकर उसकी उपासना की, और सोचा कि श्रोत्र से हम असुरों का पराभव कर देंगे। उसे भी असुरों ने पाप से बींध दिया, इसलिये मनुष्य कानों से दोनों बातें सुनता है—श्रवण-योग्य तथा श्रवण के अयोग्य—ये दोनों बातें, क्योंकि कान पाप से जो बिंधे हुए हैं ॥५॥

तब देवों ने मन को शरीर में उद्गीथ का प्रतीक मानकर उसकी उपासना की, और सोचा कि मन से हम असुरों का पराभव कर देंगे।

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासांचक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥४॥

अथ ह—इसके बाद; **चक्षुः उद्गीथम् उपासाञ्चक्रिरे**—आंख की उद्गीथ-रूप में उपासना करने लगे; **तद् ह**—उस (आंख) को भी; **असुराः पाप्मना विविधुः**—असुरों ने पाप से बींध दिया, आहत कर दिया; **तस्मात् तेन उभयम् पश्यति**—उस कारण से ही उस (आंख) से दोनों को ही देखता है; **दर्शनीयम् च**—देखने योग्य, सत्य-शिव-सुन्दर (पदार्थ) को; **अदर्शनीयम् च**—और न देखने योग्य, कुरूप (पदार्थ) को; **पाप्मना हि एतद् विद्धम्**—क्योंकि यह (आंख) पाप (त्रुटि) से आहत है ॥४॥

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासांचक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं शृणोति श्रवणीयं चाश्रवणीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥५॥

अथ ह—इसके बाद; **श्रोत्रम् उद्गीथम् उपासाञ्चक्रिरे**—कान (श्रवण-शक्ति) की उद्गीथ रूप में उपासना करने लगे; **तत् ह**—उस (कान) को भी; **असुराः**—असुरों ने; **पाप्मना विविधुः**—पाप (त्रुटि) से आहत (युक्त) कर दिया; **तस्मात् तेन उभयम् शृणोति**—अत एव उस (कान) से दोनों को ही सुनता है; **श्रवणीयम् च**—सुनने योग्य (मधुर, हित-मित वचन) को; **अश्रवणीयम् च**—न सुनने योग्य (कटु, गन्दे, अहितकर वचन) को; **पाप्मना हि एतद् विद्धम्**—क्योंकि यह (कान) पाप से आहत (लिप्त) है ॥५॥

अथ ह मन उद्गीथमुपासांचक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं संकल्पयते संकल्पनीयं चासंकल्पनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥६॥

उसे भी असुरों ने पाप से बींध दिया, इसलिये मनुष्य मन से दोनों प्रकार का संकल्प करता है—विचारणीय तथा अविचारणीय, क्योंकि मन पाप से जो विधा हुआ है ॥६॥

तब देवों ने मुख में रहने वाले प्राण को शरीर में उद्गीथ का प्रतीक मान कर उसकी उपासना की, और सोचा कि इससे हम असुरों का पराभव कर देंगे। अन्य इन्द्रियों में स्वार्थ की भावना है, मुख में स्वार्थ की भावना नहीं है। मुख जो लेता है, अपने पास कुछ न रखकर, सब में बांट देता है; प्राण भी दिन-रात चलता हुआ आंख, कान, नाक आदि सभी इन्द्रियों को सजीव बनाये हुए है। जब असुर मुख में रहने वाले प्राण अथवा 'मुख्य-प्राण' को पाप से बींधने के लिये उसके पास पहुंचे, तो ऐसे नष्ट हो गये जैसे कठोर पत्थर से टकराकर मिट्टी का ढेला नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है ॥७॥

(मुख में रहने वाले प्राण को उद्गीथ का प्रतीक मानकर उसकी उपासना का अभिप्राय मुख द्वारा उच्च घोष से ओंकार के

अथ ह—इसके बाद, मन उद्गीथम् उपासाचक्रिरे—मन की उद्गीथ मान कर उपासना करने लगे, तद् ह असुरा पाप्मना विविधुः—उस (मन) को असुरों ने पाप से बींध दिया, तस्मात् तेन उभयम्—उस कारण से उस (मन) से दोनों का ही, संकल्पयते—संकल्प (सोच विचार) करता है, संकल्पनीयम् च—संकल्प (विचार) करने योग्य, असंकल्पनीयम् च—न विचार करने योग्य, अशुभ विचार, पाप्मना हि एतद् विद्धम्—क्योंकि यह पाप से आहत है ॥६॥

अथ ह य एवायं मुख्य प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे तं हासुरा ऋत्वा विदध्वंसुर्यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसेत ॥७॥

अथ ह—इसके बाद, य एव अयम्—जो ही यह, मुख्य—मुख में होने वाला या (सर्व-शरीर-व्यापी) प्रधान, प्राण—प्राण (जीवनदाता आत्मा) है, तम्—उसकी ही, उद्गीथम् उपासांचक्रिरे—उद्गीथ रूप में उपासना प्रारम्भ की, तम् ह—उस (मुख्य प्राण) को, असुरा—असुर, ऋत्वा—पहुंच कर, पास जाकर, विदध्वसुः—नष्ट हो गये, यथा—जैसे, अश्मानम्—पत्थर को, आखणम्—न खोदे जाने लायक, न हिलने डुलने वाले, स्थिर, ऋत्वा—पास जाकर, विध्वंसेत—(टकराकर मिट्टी का ढेला) नष्ट हो जाये (हो जाता है) ॥७॥

नाद को गुंजाने से है—इसी को उद्गीथ कहते हैं, 'उत्' अर्थात् उच्च-स्वर से, 'गीथ' अर्थात् गाना। अन्य इन्द्रियों से उद्गीथोपासना में शुभाशुभ वासना वनी रहती है, 'मुख' में 'प्राण' के योग द्वारा उद्गीथोपासना करने से, अर्थात् उच्च-घोष से ओंकार के नाद को गुंजाने से पाप का स्पर्श नहीं होता क्योंकि मुख तथा प्राण दोनों में स्वार्थ का सम्पर्क नहीं है।)

जैसे कठोर पत्थर से टकराकर मिट्टी का ढेला चूर-चूर हो जाता है, इसी प्रकार वह नष्ट हो जाता है, जो ओंकार के उपासक के लिये पाप की कामना करता है, या उस पर आक्रमण करता है। उपासक एक अडिग चट्टान है ॥८॥

(मुख-स्थित प्राण से न मनुष्य सुगन्धि को जानता है, न दुर्गन्धि को—यह प्राण पाप-रहित है, स्वार्थ-शून्य है, तभी तो यह जो-कुछ खाता है, पीता है, उससे अन्य इन्द्रियों की पालना करता है। अन्त में मृत्यु-समय पर इस प्राण के न मिलने पर मनुष्य चल देता है, और आख़ीरी घड़ी में मुंह फाड़ देता है, मानो उसे लौटा लाना चाहता है ॥९॥

एवं यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसत एवं हैव स विध्वंसते
य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति स एषोऽश्माखणः ॥८॥

एवम्—इस ही प्रकार; **यथा**—जैसे; **अश्मानम्**—पत्थर को; **आखणम्**—कठोर, स्थिर; **ऋत्वा**—पास जाकर (टकराकर); **विध्वंसते**—(मट्टी का ढला) नष्ट हो जाता है; **एवम् ह एव**—इस प्रकार ही; **सः**—वह; **विध्वंसते**—नष्ट हो जाता है; **यः**—जो; **एवंविदि**—इस (उद्गीथ) के जानने वाले में (के लिए); **पापम्**—पाप को, अनिष्ट को; **कामयते**—चाहना करता है; **च**—और जो; **एनम्**—इस (तत्वज्ञ) को; **अभिदासति**—दवाना चाहता है, आक्रमण करना चाहता है; **सः एषः**—वह यह (तत्त्वज्ञानी, उद्गीथ का उपासक) तो; **अश्माखणः**—स्थिर अडिग पत्थर (चट्टान के समान) है ॥८॥

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यपहतपाप्मा ह्येष तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवति। एतमु एवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति ॥९॥

न एव—न ही; **एतेन**—इस (मुख्य प्राण) से; **सुरभि**—सुगन्ध (पदार्थ) को; **न**—नहीं, **दुर्गन्धि**—बुरी गन्ध वाले (पदार्थ) को; **विजानाति**—जानता

मुख-स्थित प्राण को उद्गीथ का प्रतीक मानकर अंगिरस् ने ओंकारोपासना की, इससे उसका कल्याण हो गया। इसलिये प्राण को 'आंगिरस' माना जाता है, शरीर के अंगों का यह रस है।।१०।।

इसी प्रकार मुख-स्थित प्राण को उद्गीथ का प्रतीक मानकर बृहस्पति ने ओंकारोपासना की, इससे उसका भी कल्याण हो गया। इसलिये प्राण को 'बृहस्पति' माना जाता है, वाणी 'बृहती' है, महान् है, और प्राण उसका 'पति' है।।११।।

है, अपहतपाप्मा—नष्ट पाप वाला इसके पाप नष्ट हो चुके हैं, निष्पाप, हि—चूंकि, एष—यह (मुख्य प्राण) है, तेन—उसके द्वारा, यत्—जो कुछ, अश्नाति—खाता है, यत्—जो कुछ, पिबति—पीता है, तेन—उस (खाये-पिये) से, इतरान्—दूसरे (गौण), प्राणान्—प्राणों की, अवति—रक्षा करता है, एतम् उ एव—और इस (प्राण) को ही, अन्ततः—अन्तकाल में, अवित्त्वा—(प्राण शक्ति क्षीण हो जाने के कारण) न प्राप्त कर, उत्क्रामति—(शरीर छोड़ कर आत्मा) निकल जाता है, व्याददाति—(मुंह) खोल देता, फाड़ देता है, एव—ही, अन्ततः—अन्त में, इति—यह।।९।।

तं हाङ्गिरा उद्गीथमुपासांचक्र एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः ।।१०।।

तम् ह—(उस मुख्य प्राण) को, अंगिरा—अंगिरस्-नामी ऋषि ने, उद्गीथम्—उद्गीथ रूप में, उपासांचक्रे—उपासना की, एतम् उ—इस (मुख्य प्राण) को, एव—ही, आंगिरसम्—आंगिरस, मन्यन्ते—मानते हैं, समझते हैं, कहते हैं, अङ्गानाम्—अंगों का, यद्—(यह) जो, रसः—आनन्ददाता सार-तत्व है।।१०।।

तेन तं ह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासांचक्र एतमु एव
बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्घि बृहती तस्या एष पतिः ।।११।।

तेन—उससे ही (अतएव), तम् ह—उस (मुख्य प्राण) को, बृहस्पति—नामी ऋषि ने, उद्गीथम्—उद्गीथ रूप में, उपासांचक्रे—उपासना की, एतम् उ—इस (मुख्य प्राण) को, एव—ही, बृहस्पतिम्—बृहस्पति, मन्यन्ते—जानते हैं, वाक् हि—क्योंकि वाणी (का नाम), बृहती—बृहती (है), तस्याः—उस (वाणी) का, एषः—यह (मुख्य प्राण), पतिः—पालक, रक्षक, अधिष्ठाता है।।११।।

इसी प्रकार मुख-स्थित प्राण को उद्गीथ का प्रतीक मानकर अयास्य ने ओंकारोपासना की, इससे उसका कल्याण हो गया। इसलिये प्राण को 'अयास्य' माना जाता है, 'आस्य' अर्थात् मुख, 'अय' अर्थात् जाना—अर्थात् जो मुख से आना-जाता है ॥१२॥

इसी प्रकार मुख-स्थित प्राण को उद्गीथ का प्रतीक मानकर दल्भ के पुत्र बक ने ओंकारोपासना की। वह इसके प्रताप से नैमिषारण्य के निवासियों का उद्गाता बन गया। वह गा-गाकर नैमिषारण्य-वासियों के मनोरथों को पूर्ण किया करता था ॥१३॥

जो ओंकारोपासना के रहस्य को जानता हुआ इस प्रकार अक्षर उद्गीथ की उपासना करता है, वह ओंकार के सघोष-नाद से कामनाओं को पूर्ण करनेवाला हो जाता है। शरीर की इन्द्रियों की दृष्टि से ओंकारोपासना का जो रहस्य था, वह 'अध्यात्म'-वर्णन कर दिया

तेन तँ् हायास्य उद्गीथमुपासांचक्र एतमु
एवायास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते ॥१२॥

तेन—अतएव; तम् ह—उस (मुख्य प्राण) को; अयास्यः—अयास्य-नामी ऋषि ने; उद्गीथम्—उद्गीथ रूप में; उपासांचक्रे—उपासना की; एतम् उ एव—इस (मुख्य प्राण) को ही; अयास्यम्—अयास्य; मन्यन्ते—समझते—कहते हैं; आस्यात्—मुख से; यत्—जो, क्योंकि; अयते—गति करता, आता-जाता है ॥१२॥

तेन तँ् ह बको दाल्भ्यो विदांचकार। स ह नैमिषीया-
णामुद्गाता बभूव स ह स्मैभ्यः कामानागायति ॥१३॥

तेन—अतएव; तम् ह—उस (मुख्य प्राण) को; बकः—बक (नाम वाले) ऋषि ने; दाल्भ्यः—दल्भ के पुत्र; विदांचकार—(उपासना कर) जान लिया; सः ह—वह ही तो; नैमिषीयाणाम्—नैमिषारण्य-निवासी सत्र-यज्ञ-कर्ताओं का; उद्गाता—उद्गाता (ऋत्विज्); बभूव—हुआ, था; सः ह—वह बक ऋषि; स्म—था; एभ्यः—इन (यज्ञ कर्ताओं) के लिए; कामान्—काम्य-भोगों का; आगायति—गान करता था, प्राप्त कराता था ॥१३॥

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं
विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम् ॥१४॥

आगाता—प्राप्त कराने वाला, पूरयिता; ह वै—अवश्यमेव; कामानाम्—कामनाओं का; भवति—होता है; यः—जो; एतद्—इस; एवम्—इस प्रकार;

गया। उपनिषदों में 'अध्यात्म' का अर्थ है—आत्मा जिस शरीर में, पिंड में रहता है, उस शरीर को, अर्थात् पिंड को लक्ष्य में रख कर किया गया वर्णन ॥१४॥

प्रथम प्रपाठक—(तीसरा खंड)

अब देवताओं की दृष्टि से, अर्थात् पिंड को नहीं ब्रह्मांड को लक्ष्य में रखकर, ओंकारोपासना का जो रहस्य है, वह 'अधिदैवत' वर्णन प्रारंभ करते हैं। जैसे शरीर में 'प्राण' उद्गीथ का प्रतीक है, वैसे ब्रह्मांड में तप रहा 'सूर्य' उद्गीथ का प्रतीक है, उसकी उपासना करे। शरीर में निस्स्वार्थ चल रहे 'प्राण' को, और विश्व में स्वयं तप करके प्रकाश तथा जीवन फैलाने वाले 'सूर्य' को, ओंकार का भौतिक रूप समझ कर इनकी आराधना करे। उदय होता हुआ सूर्य मानो उद्गीथ का रूप है, वह उदय होता हुआ मानो प्रजाओं के मनोरथों को उद्गाता की तरह गा रहा होता है, वह उदय होता हुआ भौतिक-अन्धकार तथा मानसिक-भय को मार भगाता है। जो इस प्रकार 'सूर्य' को उद्गीथ का प्रतीक मानता है, वह भय तथा अन्धकार को मार भगाता है ॥१॥

विद्वान्—जानने वाला, जानता हुआ, अक्षरम्—अविनाशी, ओम् इस अक्षर की; उद्गीथम्—उद्गीथ की, उपास्ते—उपासना करता है, इति—यह, अध्यात्मम्—आत्मा के पिण्ड को लक्ष्य कर (वर्णन) है ॥१४॥

अथाधिदैवतम्। य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति उद्यँस्तमो भयमपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद ॥१॥

अथ—अब; अधिदैवतम्—देवता सम्बन्धी, ब्रह्माण्ड सम्बधी (उद्गीथ का वर्णन करते हैं), य. एव असौ—जो ही यह, तपति—(सूर्य) तप रहा है (उदीयमान है), तम्—उसको, उद्गीथम्—उद्गीथ रूप में, उपासीत—उपासना करे, ध्याये, उद्यन्—उगता हुआ (प्रात काल में), वै—ही, एषः—यह (सूर्य), प्रजाभ्यः—प्रजाओं के लिये, उद्गायति—(कल्याण का) गान (निर्देश) करता है, उद्यन्—उगता हुआ ही, तमः—अन्धकार को, भयम्—(मानसिक) भय को; अपहन्ति—नष्ट कर देता है, अपहन्ता—नाशक, ह वै—निश्चय ही; भयस्य—भय का, तमसः—अन्धकार (अविद्या) का, भवति—होता है; यः—जो; एवम्—इस प्रकार, वेद—जानता है ॥१॥

'प्राण' तथा 'सूर्य' एक-समान ही हैं। यह 'प्राण' उष्ण है, शरीर में गर्मी रखता है; वह 'सूर्य' भी उष्ण है, विश्व में गर्मी रखता है। इस 'प्राण' को स्वर कहते हैं; उस 'सूर्य' को स्वर तथा प्रत्यास्वर दोनों कहते हैं। 'स्वर' का अर्थ है, 'जाने वाला'—प्राण मरने पर जाता है, उसी शरीर में फिर लौटकर नहीं आता। 'प्रत्यास्वर' का अर्थ है, 'लौट कर आने वाला'—सूर्य 'स्वर' तो है ही, जाता तो है ही, परन्तु 'प्रत्यास्वर' भी है, लौट भी आता है, अस्त होकर उदय भी हो जाता है। इसलिये 'प्राण', 'सूर्य', तथा 'उद्गीथ' इन्हें एक समान समझ कर इनकी उपासना करे ॥२॥

'व्यान' को उद्गीथ का प्रतीक मानकर ओंकारोपासना करे। जो सांस भीतर लिया जाता है वह 'प्राण' है, जो सांस बाहर निकाला जाता है वह 'अपान' है, जो प्राण तथा अपान की संधि है—सांस का अन्दर थमना है—वह 'व्यान' है। यह व्यान ही 'वाणी' है, इसलिये जब मनुष्य सांस अन्दर नहीं ले जा रहा होता, न बाहर फेंक रहा होता है, तभी वाणी का व्यवहार करता है ॥३॥

समान उ एवायं चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुम्। तस्माद्वा एतमिममुं चोद्गीथमुपासीत ॥२॥

समानः—समान, एक जैसे; **उ एव**—ही; **अयम्**—यह (पिण्ड-स्थित प्राण); **च**—और; **असौ**—वह (ब्रह्माण्ड-स्थित सूर्य); **च**—और; **उष्णः**—गर्म (तेज दाता); **अयम्**—यह (प्राण); **उष्णः**—गर्म (गर्माई देनेवाला); **असौ**—यह (सूर्य); **स्वरः**—स्वर (जानेवाला); **इति**—इस नाम से; **इमम्**—इस (प्राण) को; **आचक्षते**—कहते हैं; **स्वरः**—स्वर (जानेवाला, अस्त होने वाला); **इति**—इस नाम से; **प्रत्यास्वरः**—प्रत्यास्वर (लौट कर आनेवाला, पुनः उदय-होनेवाला); **इति**—इन दो नामों से; **अमुम्**—इस (सूर्य) को (कहते हैं); **तस्माद् वै**—उस कारण से ही; **इमम्**—इस (प्राण) को; **अमुम् च**—और उस (सूर्य) को; **उद्गीथम्**—उद्गीथ रूप में; **उपासीत**—उपासना करे ॥२॥

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत। यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानः। अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः सा वाक्। तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति ॥३॥

अथ खलु—और; **व्यानम्**—व्यान (प्राण-भेद) को; **एव**—ही; **उद्गीथम्**—उद्गीथ रूप में; **उपासीत**—आराधना करे; **यद् वै**—जो ही, **प्राणिति**

यह वाणी ही 'ऋक्' है, इसलिये ऋचा का उच्चारण तभी हो सकता है, जब न प्राण अन्दर लिया जा रहा हो, न अपान बाहर फेंका जा रहा हो। ऋचा ही 'साम' है, इसलिये साम-गान करते हुए न प्राण अन्दर लिया जाता है, न अपान बाहर फेंका जाता है। साम ही 'उद्गीथ' है, इसलिये गान करते हुए न प्राण काम करता है, न अपान काम करता है ॥४॥

इसके अतिरिक्त जो अन्य बल वाले कार्य हैं—जैसे अग्नि का मन्थन, संग्राम में सरपट दौड़ना, दृढ धनुष का खींचना—इन्हें प्राण

—अन्दर श्वास लिया जाता है, स.—वह, प्राण.—प्राण (कहलाता है), यद्—जो, अपानिति—बाहर श्वास निकाला जाता है, सः—वह, अपानः—अपान (कहलाता है), अथ—और, य—जो, प्राणापानयो·—(प्राण+अपानयोः)—प्राण और अपान की, सन्धि.—रोकना, मेल, संयोग, स·—वह; व्यान—व्यान (कहलाता है), य. व्यानः—जो व्यान (प्राण) है, सा वाग्—वही वाणी (है), तस्माद्—अतएव, अप्राणन्—सास अन्दर न लेते हुए, अनपानन्—सास बाहर न निकालते हुए ही, वाचम्—वाणी को, अभिव्याहरति—बोल सकता है ॥३॥

या वाक्सा ऋक् । तस्मादप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति।
या ऋक् तत्साम। तस्मादप्राणन्ननपानन्साम गायति।
यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपानन्नुद्गायति ॥४॥

या वाक्—जो वाणी है, सा ऋक्—वह ऋचा है, तस्मात्—उस कारण से; अप्राणन्—सास न लेते हुए, अनपानन्—सांस न छोड़ते हुए, ऋचम्—ऋचा को अभिव्याहरति—उच्चारण करता है, या ऋक्—जो ऋचा है, तत्—वह ही, साम—साम-गान है, तस्मात्—उस कारण से, अप्राणन्—सास न लेते हुए, अनपानन्—सांस न छोड़ते हुए, साम—साम-मन्त्र का, गायति—गान किया जाता है, यत् साम—जो साम है, स उद्गीथ.—वह ही उद्गीथ ('ओम्' का उच्च-स्वर से गान) है, तस्मात्—उस कारण से, अप्राणन्—सांस न लेते हुए; अनपानन्—सांस न छोड़ते हुए ही, उद्गायति—('ओम्' का) उच्च स्वर से गान किया जाता है ॥४॥

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाऽग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपानंस्तानि करोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत ॥५॥

अत·—इस कारण से ही, यानि—जो, अन्यानि—दूसरे, वीर्यवन्ति—बल वाले, बल की अपेक्षा रखने वाले, कर्माणि—कार्य हैं, यथा—जैसे (उदा-

खींचने तथा अपान निकालने के बिना ही, इन्हें रोक कर करना होता है। यह अवस्था 'व्यान' की है, अतः 'व्यान' को उद्गीथ का प्रतीक मानकर ओंकारोपासना करे ॥५॥

'उद्गीथ' के अक्षरों पर विचार करना भी आवश्यक है। वे अक्षर हैं–'उद्'–'गी'–'थ'। शरीर में 'प्राण' उत् है, इससे उठते हैं; 'वाणी' गीर् है, वाणी को गिरा कहते हैं; 'अन्न' थम् है, अन्न में ही सब कुछ स्थित है ॥६॥

ब्रह्मांड में 'द्यौ' उत् है; 'अन्तरिक्ष' गीर् है; 'पृथिवी' थम् है। अथवा 'आदित्य' उत् है; 'वायु' गीर् है; 'अग्नि' थम् है। अथवा, 'सामवेद' उत् है; 'यजुर्वेद' गीर् है; 'ऋग्वेद' थम् है। जो इस प्रकार 'उद्-गी-थ' के अक्षरों को समझता है, उसके लिये वाणी-रूपी गौ

हरणार्थ); अग्नेः—अग्नि का; मन्थनम्—अरणियों का जोर से रगड़ना; आजेः—युद्ध का (सांमुख्य में शर्त लगाकर); सरणम्—भागना; दृढस्य—मजबूत; धनुषः—धनुष् का; आयमनम्—(डोरी चढ़ाने के लिए) झुकाना, मोड़ना; अप्राणन्—न साँस लेते हुए; अनपानन्—न साँस छोड़ते हुए ही; तानि—उन (कार्यों) को; करोति—करता है; एतस्य—इसके; हेतोः—कारण से; व्यानम् एव—व्यान को ही; उद्गीथम्—उद्गीथ रूप में; उपासीत—उपासना करे, ध्यान करे ॥५॥

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति। प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति। वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं थमन्ने हीदं सर्वं स्थितम् ॥६॥

अथ खलु—अब पुनः; उद्गीथ-अक्षराणि—उद्गीथ (पद) के अक्षरों की; उपासीत—उपासना करे; उद्गीथः इति—(जो सब मिल कर) उद्गीथ ऐसे बने हैं; प्राणः एव—प्राण ही; उद्—'उद्' (शब्द का वाच्य-अर्थ) है; प्राणेन हि—क्योंकि प्राण से ही; उत्तिष्ठति—ऊपर उठता है, उन्नति करता है; वाग्—वाणी; गीः—'गी' (शब्द से अभिप्रेत) है; वाचः ह—वाणियों को; गिरः इति—गिर् ऐसे; आचक्षते—(लोक में) कहते हैं (गिर् और वाणी पर्यायवाची शब्द हैं); अन्नम्—अन्न; थम्—'थ' है; अन्ने हि—अन्न पर ही; इदम् सर्वम्—यह सब; स्थितम्—ठहरा हुआ, आश्रित (है) ॥६॥

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थमादित्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थम्। सामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीर्ऋग्वेदस्थं दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उद्गीथ इति ॥७॥

द्यौः एव उत्—द्यु लोक ही 'उद्' है; अन्तरिक्षम् गीः—अन्तरिक्ष 'गी'

मानो अपना दूध दुह देती है—वाणी का यही दूध है—अर्थात्, इन अक्षरों के अभिप्राय को समझना ही वाणी को मानो दुह लेना है। जो 'उद्गीथ' के अक्षरों के आशय को समझता है, वह अन्नवान् तथा अन्न का भोक्ता हो जाता है ॥७॥

उद्गीथ का गान करने वाला उद्गाता कहलाता है। उसे परमात्मा का आशीर्वाद कैसे प्राप्त हो, और उसकी समृद्धि कैसे हो—अब यह कहते हैं। उद्गाता को चाहिये कि वह 'उपसरण' पर विचार करे। 'उपसरण' का अर्थ है 'उप+सरण'—पास जाना दौड़ कर। अर्थात्, मन को जल्दी-जल्दी इन बातों की तरफ दौड़ाये। किन बातों की तरफ? जिस साम-गान से प्रभु का कीर्तन करना हो, उस साम पर मन को दौड़ाये ॥८॥

जिस ऋचा से प्रभु-कीर्तन करना हो, उस ऋचा को ध्यान

है, पृथिवी थम्—पृथिवी 'थ' है, आदित्यः एव उद्—आदित्य (सूर्य) ही 'उद्' है, वायुः गी—वायु 'गी' है, अग्नि थम्—अग्नि 'थ' है, सामवेद एव उद्—सामवेद ही 'उद्' है, यजुर्वेदः गी—यजुर्वेद 'गी' है, ऋग्वेद थम्—ऋग्वेद 'थ' है, दुग्धे—दोहती है (प्रगट कर देती है), अस्मै—इसके लिए, वाग्—वाणी, दोहम्—दूध को, वाणी के सार को, यः—जो, वाच—वाणी का, दोह—दूध (सारभूत, लक्ष्य, वाच्य) है अन्नवान्—अन्न का पति, अन्नाद—अन्न का भोक्ता, भवति—होता है, यः—जो, एतानि—इन, एवम् विद्वान्—इस प्रकार जानता हुआ, उद्गीथ+अक्षराणि—'उद्गीथ' के अक्षरों की, उपास्ते—उपासना करता है, उद्गीथ इति—यह ही उद्गीथ है ॥७॥

अथ खल्वाशीःसमृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत येन
साम्ना स्तोष्यन्स्यात्तत् सामोपधावेत् ॥८॥

अथ खलु—अब इसके आगे, आशीः समृद्धि—आशाओं (अभीष्ट कामनाओं) की समृद्धि (बढ़ती, पूरी पूर्ति कैसे हो, इसका वर्णन) है, उपसरणानि—उपसरणों (पास दौड़कर प्राप्त करने के उपायों) की, साधनों की, इति—ऐसे (आगे बताये), उपासीत—उपासना करे, पालन करे, येन साम्ना—जिस साम-मन्त्र से, स्तोष्यन्—स्तुति करने वाला, स्यात्—होवे, (स्तोष्यन् स्यात्—स्तुति करना चाहे), तत्—उस, साम—साम-गान का, उपधावेत्—पूरी तरह (मन से) चिन्तन करे ॥८॥

यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषिं यां देवतामभिष्टोष्यन्स्यात्तां देवतामुपधावेत् ॥९॥

में लाये, जिस ऋषि तथा जिस देवता का ध्यान करना हो, झट ध्यान उधर दौड़ाये ॥९॥

जिस छन्द से गाना हो, उस छन्द पर झट पहुंचे—यह नहीं कि सोच में ही पड़ा रहे। जिस छन्दों के समूह से प्रभु की स्तुति करनी हो, उस छन्द-समूह पर भी भक्त का झट ध्यान चला जाय ॥१०॥

जिस दिशा में स्तुति का प्रवाह बहाना हो, वह दिशा भी फ़ौरन ध्यान में आ जाये ॥११॥

इस प्रकार सब बातों को ध्यान में लाकर अन्त में आत्मा—ब्रह्म—के निकट पहुंच कर अप्रमत्त होकर, यथाकाम भगवान् का चिंतन करता हुआ प्रभु की स्तुति करे। इस प्रकार जिस कामना को लेकर प्रभु का स्तवन करेगा, जिस कामना से स्तवन करेगा, आशा के अनुरूप वह कामना समृद्ध होगी ॥१२॥

यस्याम्—जिस; **ऋचि**—ऋचा में; **ताम्**—उस; **ऋचम्**—ऋचा को; **यद् आर्षेयम्**—जिस ऋषि का वह साम हो; **तम् ऋषिम्**—उस ऋषि को; **याम् देवताम्**—जिस देवता को; **अभिष्टोष्यन् स्यात्**—स्तुति करना चाहे; **ताम् देवताम्**—उस देवता का; **उपधावेत्**—चिन्तन-ध्यान करे ॥९॥

येन च्छन्दसा स्तोष्यन्स्यात्तच्छन्द उपधावेद्येन
स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्स्ँ स्तोममुपधावेत् ॥१०॥

येन छन्दसा—जिस छन्द से; **स्तोष्यन् स्यात्**—स्तुति करना विचारे; **तत् छन्दः**—उस छन्द का; **उपधावेत्**—ध्यान-मनन करे; **येन स्तोमेन**—जिस साममन्त्र-समूह से; **स्तोष्यमाणः स्यात्**—स्तुति करने के लिए सोचे; **तम् स्तोमम्**—उस मन्त्र-समूह का; **उपधावेत्**—भली प्रकार मनन-चिन्तन करे ॥१०॥

यां दिशमभिष्टोष्यन्स्यात्तां दिशमुपधावेत् ॥११॥

याम् दिशम्—जिस दिशा को (की ओर); **अभिष्टोष्यन् स्यात्**—स्तुति करने लगे; **ताम् दिशम्**—उस दिशा का; **उपधावेत्**—भली प्रकार विचार करे (इन सब बातों को पहिले से विचार कर लेने पर सद्यः पूर्ण फल-प्राप्ति—'आशीः समृद्धि' होती है) ॥११॥

आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन्नप्रमत्तोऽभ्याशो ह
यदस्मै स कामः समृद्ध्येत् यत्कामः स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति ॥१२॥

आत्मानम्—आत्मा (परमात्मा) को; **अन्ततः**—अन्त में, इन सब के बाद; **उपसृत्य**—पास पहुंच कर, ध्यान-मग्न हो कर; **स्तुवीत**—स्तुति करे; **कामम्**—

प्रथम प्रपाठक—(चौथा खंड)

(ओंकार का पाठ ही नहीं उसका मर्म भी समझना चाहिये)

'ओम्'—यह अक्षर 'उद्गीथ' है, इस 'उद्गीथ' की उपासना करे। गायक 'ओम्' का ही उच्च-स्वर से गायन करता है, उसी का आगे उपाख्यान है ॥१॥

देव, मृत्यु के भय से त्रयी विद्या में जा छिपे और उन्होंने वेद के छन्दों से अपने को ढांप लिया। देवों ने छन्दों से अपने को आच्छादित कर लिया इसीलिये छन्दों को 'छन्द', अर्थात् आच्छादित करने वाले कहा जाता है ॥२॥

जैसे जल में छिपी मछली को कोई देख ले, वैसे ऋक्, साम, यजु में छिपे देवों को मृत्यु ने देख लिया। केवल वेदमन्त्रों के पाठ

यथेच्छ, ध्यायन्—ध्यान करता हुआ, अप्रमत्तः—प्रमाद न करता हुआ, तल्लीन होकर, अभ्याशः ह—समीप, जल्दी ही (है), यत्—कि, अस्मै—इस (उपासक) के लिए, सः कामः—वह कामना, समृध्येत—पूर्ण हो जाये, यत्कामः—जिस कामना वाला (इच्छुक), स्तुवीत—स्तुति करे, यत्कामः स्तुवीत इति—जिस कामना को करके स्तुति करता है ॥१२॥

ॐमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥१॥

ओम् इति एतद् अक्षरम्—'ओम्' इस अक्षर, उद्गीथम्—उद्गीथ की, उपासीत—उपासना करे, ध्यान करे, ओम् इति हि—'ओम्' इस को ही, उद्गायति—उच्च स्वर से गान करता है, तस्य—उस ('ओम्' उद्गीथ) का ही, उपव्याख्यानम्—व्याख्या करते हैं ॥१॥

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशꣳस्ते छन्दो-
भिरच्छादयन्। यदेभिरच्छादयꣳस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥२॥

देवाः वै—देवता लोग, मृत्योः—मृत्यु से, बिभ्यतः—डरते हुए, त्रयीम् विद्याम्—ऋग्-यजु-सामवेदों को (में), प्राविशन्—घुसे, छिप गये, ते—उन्होंने (अपने आपको), छन्दोभिः—छन्द रूप मन्त्रों से, अच्छादयन्—ढांप लिया, यद्—जो, एभिः—इन (छन्दों) से, अच्छादयन्—ढांप लिया, तद्—वह ही, छन्दसाम्—छन्दों का, छन्दस्त्वम्—छन्दोंपन (छन्द-संज्ञा का निर्वचन) है ॥२॥

तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि।
ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ॥३॥

के सहारे देव मृत्यु से बचना चाहते थे, परन्तु यह उनकी भूल थी। यह जानकर कि मृत्यु ने उन्हें देख लिया है, वे ऋक्, साम, यजु से ऊपर—'स्वर' में—अर्थात्, भगवान् के नाम की धुन में प्रविष्ट हो गये, उसमें जा छिपे ॥३॥

तभी तो ऋचाओं के मर्म को पा कर 'ओ ३ म्' का दीर्घ-स्वर से उच्चारण किया जाता है, साम तथा यजु के मर्म को पाकर 'ओ३म्' का दीर्घ-स्वर से उच्चारण किया जाता है। 'ओ३म्' यही 'स्वर' है, जो 'अक्षर' है, 'अमृत' है, 'अभय' है। इसी 'ओ३म्' में लीन होकर देव-लोग 'अमृत' तथा 'अभय' हो गये ॥४॥

जो उपासक इस प्रकार ओंकार की महिमा को जानता हुआ अक्षर की स्तुति करता है, वह इस अमृत, अभय, अक्षर स्वर में—अक्षर ध्वनि में—लीन हो जाता है। उसमें लीन होकर जैसे देव अमृत हो गये, वैसे वह भी अमृत हो जाता है ॥५॥

तान् उ—उन (देवों) को; तत्र—वहां, उन (छन्दों) में; मृत्युः—मृत्यु ने; यथा—जैसे; मत्स्यम्—मछली को; उदके—जल में; परिपश्येत्—देख लेवे; एवम्—इस प्रकार, वैसे ही; पर्यपश्यत्—देख लिया; ऋचि—ऋचा में; साम्नि—साम-मंत्र में; यजुषि—यजुः मन्त्र में; ते नु—वे (देव) भी; विस्त्वा—(इस बात को) जानकर; ऊर्ध्वाः—ऊपर हुए-हुए; वहां से हटकर; ऋचः—ऋचा से; साम्नः—साम से; यजुषः—यजुष् से; स्वरम् एव—स्वर (उच्चारण) में ही; प्राविशन्—प्रविष्ट हो गये, छिप गये ॥३॥

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येवॅ सामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् ॥४॥

यदा वै—जब ही; ऋचम्—ऋचा को; आप्नोति—प्राप्त कर लेता है, मर्म जान जाता है; ओम् इति एव—(तब मनुष्य) 'ओम्' इसका ही; अति स्वरति—प्लुत रूप में, दीर्घ उच्चारण करता है; एवम् साम—इस ही प्रकार साम-वेद को; एवम् यजुः—इस ही प्रकार यजुर्वेद को; एषः उ स्वरः—यह ही 'स्वर' है; यद् एतद् अक्षरम्—जो यह 'ओम्' अक्षर है; एतद् अमृतम्—यह अमर है; अभयम्—निर्भय, भयहर्त्ता है; तत् प्रविश्य—उसमें प्रवेश करके; देवाः—देवगण; अमृताः अभयाः—अमर और निर्भय; अभवन्—हो गये ॥४॥

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरॅ स्वरममृतमभयं प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति ॥५॥

प्रथम प्रपाठक—(पांचवां खंड)

(उद्गीथ तथा प्रणव एक ही है)

जो उद्गीथ है, वह प्रणव है; जो प्रणव है, वह उद्गीथ है। यह सूर्य मानो उद्गीथ है, प्रणव है, ओ३म् है, यह सूर्य मानो उच्च स्वर से ओंकार का घोष करता हुआ उदित होता है ॥१॥

कौषीतकि ने अपने पुत्र से कहा—इसी ओंकार का मैंने गान किया था, इसलिये तू मेरा एक पुत्र हुआ। तू सूर्य की रश्मियों को

स य—वह जो, एतद्—इस, एवम् विद्वान्—इस प्रकार जानता हुआ, अक्षरम्—'ओम्' इस अक्षर की या अविनाशी ब्रह्म की, प्रणौति—स्तुति करता है, एतद् एव—इस ही, अक्षरम्—अविनाशी, स्वरम्—स्वर को, अमृतम्—अमर—जन्म मरण से मुक्त, अभयम्—निर्भय, प्रविशति—प्रवेश करता है, लीन हो जाता है, तत् प्रविश्य—उस अक्षर में लीन होकर, यद्—जो, जैसे, अमृता—अमर (हो गये), देवा—देवगण, तत्—तो, वैसे, अमृत भवति—(वह उपासक भी) अमर (मृत्यु भय से मुक्त) हो जाता है ॥५॥

अथ खलु य उद्गीथ स प्रणवो य प्रणव स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥१॥

अथ खलु—और, य उद्गीथ—जो उद्गीथ है, स प्रणव—वह ही प्रणव (ओम्) है, य प्रणव स उद्गीथ इति—जो प्रणव है वह ही उद्गीथ है (प्रणव—ओम्—और उद्गीथ दोनों शब्दों का वाच्य एक ही है), असौ वै आदित्य उद्गीथ—यह आदित्य ही उद्गीथ है एष—यह (सूर्य) ही, प्रणव—प्रणव (ओम्) भी है, ओम् इति हि एष—क्योंकि यह ही ओम् का स्वरन्—उच्चारण करता हुआ, एति—चलता है ॥१॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकि पुत्रमुवाच रश्मींस्त्वं पर्यावर्तयाद् बहवो वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम् ॥२॥

एतम् उ एव—इसको ही, अहम्—मैंने, अभ्यगासिषम्—गान किया था (ध्यान किया था), तस्मात्—उस कारण से, मम—मेरा, त्वम्—तू, एक—इकला (ही पुत्र), असि—है, इति—यह (बात), कौषीतकि—कौषीतकि मुनि ने, पुत्रम्—अपने पुत्र को, उवाच—कहा था, रश्मीन्—किरणों को, त्वम्—तू, पर्यावर्तयात्—चारों ओर से घर ले (बहुसंख्यक किरणों को ही उद्गीथ मान कर उपासना कर), बहव वै—बहुत से (पुत्र), ते—तेरे भविष्यन्ति—होंगे, इति अधिदैवतम्—यह अधिदैवत (देवता को लक्ष्य कर वर्णन) है ॥२॥

ओंकार का प्रतीक मानकर उन द्वारा अपने को चारों तरफ़ से घेर ले। जैसे सूर्य की एक-एक किरण से ओंकार का स्वर प्रकट होता है, वैसे तेरे एक-एक रोम से ओंकार का नाद गूंज उठे। तेरे अनेक पुत्र होंगे, अर्थात् तेरे पग-चिह्नों पर चलने वाले अनेक भक्त होंगे। यह 'अधिदैवत' वर्णन हुआ—अर्थात् सृष्टि में, ब्रह्मांड में सूर्य द्वारा ओंकार-नाद का दृष्टांत हुआ ॥२॥

अब 'अध्यात्म' वर्णन करते हैं, अर्थात् शरीर में, पिंड में ओंकारोपासना के स्वरूप का उल्लेख करते हैं। मुख-स्थित प्राण को उद्गीथ मानकर उसकी उपासना करे, क्योंकि यह प्राण मानो ओंकार का उच्च स्वर से नाद करता हुआ चलता है ॥३॥

कौषीतकि ने अपने पुत्र से कहा—इसी ओंकार का मैंने गान किया था, इसलिये तू मेरा एक पुत्र हुआ। तू प्राण को ओंकार का प्रतीक मानकर भूमा-रूप भगवान् का गान कर, इससे तेरे द्वारा मेरे अनेक पुत्र होंगे, अर्थात् अनेक मेरे पग-चिह्नों पर चलेंगे ॥४॥

अथाध्यात्मम्। य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥३॥

अथ अध्यात्मम्—अब अध्यात्म (शरीरसहित आत्मा संबंधी, पिण्ड सम्बन्धी) वर्णन करते हैं; यः एव अयम्—जो ही यह; मुख्यः प्राणः—मुख्य (मुख-स्थित या प्रधान) प्राण है; तम्—उस (प्राण) को; उद्गीथम्—उद्गीथ रूप में; उपासीत—उपासना करो; ओम् इति—'ओम्' ऐसे; हि एषः—क्योंकि यह; स्वरन्—उच्चारण करता हुआ; एति—गति करता, चलता है ॥३॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच प्राणांस्त्वं भूमानमभिगायताद् बहवो वै मे भविष्यन्तीति ॥४॥

एतम् उ—इस (मुख्य प्राण) को; एव—ही; अहम्—मैंने; अभ्यगासिषम्—गान किया था (उपासना की थी); तस्मात् मम त्वम् एकः असि—उस कारण से मेरा तू एक (पुत्र) ही है; इति ह—यह (बात); कौषीतकिः—कौषीतकि ने; पुत्रम्—(अपने) पुत्र को; उवाच—कही थी; प्राणान्—प्राण के अपान आदि भेदों सहित प्राणों को; त्वम्—तू; भूमानम्—बहुरूप (अनेक रूप) ब्रह्म का; अभिगायताद्—गान कर, उपासना कर; (तव) बहवः वै—बहुत से (पुत्र-रूप शिष्य); मे—मेरे; भविष्यन्ति—होंगे; इति—यह (वचन कहा) ॥४॥

जो उद्‌गीथ है, वही प्रणव है; जो प्रणव है, वही उद्‌गीथ है—जो यह जानता है वह होता के स्थान से ही प्रणव के उच्चारण की त्रुटि को दूर कर देता है, दूर कर देता है ॥५॥

(ओंकार के लिये ऋग्वेदी 'प्रणव'-शब्द का प्रयोग करते है, सामवेदी 'उद्‌गीथ'-शब्द का। यहां कहा गया है कि 'प्रणव' तथा 'उद्‌गीथ' एक ही है, अर्थात् ऋग्वेदियो और सामवेदियो में कोई भेद नही है।)

प्रथम प्रपाठक—(छठा खंड)

(ऋक् तथा साम की एकता दर्शाते हुए ब्रह्मांड तथा पिंड में उद्‌गीथ, ६-७)

उपनिषद् में 'उद्‌गीथ' की उपासना का वर्णन है। जैसा ऊपर कहा गया, 'उद्‌गीथ' शब्द सामवेदियो का है। इससे कोई यह न समझे कि ऋग्-वेदियो को भुला दिया गया है, इसलिये छठे तथा सातवें खंड में बार-बार इस बात को दोहराया गया है कि सामवेद ऋग्वेद के सहारे ही टिका हुआ है। यह बात इससे भी स्पष्ट है कि सामवेद

अथ खलु य उद्‌गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्‌गीथ इति
होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्‌गीतमनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति ॥५॥

अथ—और, (पाठभेद मे) अत्र—यहा (इस प्रकरण में, इन सामवेद मे); यः—जो, उद्‌गीथः—उद्‌गीथ शब्द से अभिप्रेत (वाच्य) है, सः—वह ही; प्रणवः—(ऋग्वेद मे) प्रणव (नाम से कहा गया) है, यः प्रणवः स उद्‌गीथः—और जो प्रणव है वह ही उद्‌गीथ है (दोनो का अर्थ—वाच्य एक ही है), इति—अतएव, होतृषदनाद्—होता (ऋग्वेदी ऋत्विज्) अपने स्थान (आसन) से; ह एव—ही, अपि—भी, दुर्+उद्‌गीतम्—(सामवेदी उद्‌गाता द्वारा) अशुद्ध (त्रुटिपूर्ण) गान किये हुए को, अनुसमाहरति—(बराबर) ठीक कर देता है; अनुसमाहरति—त्रुटि दूर कर देता है, इति—इस कारण (उद्‌गीथ और प्रणव एक ही हैं) ॥५॥

इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम
तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयत इयमेव साऽग्निरमस्तत्साम ॥१॥

इयम्—यह (पृथिवी), एव—ही, ऋक्—ऋचा है, (और) अग्निः—अग्नि; साम—साम-गान है, तद् एतद्—वह यह (साम); एतस्याम्—इस,

के ७० मन्त्रों को छोड़कर सामवेद के सभी मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं। इसी बात को ऋषि ने अपने ढंग से कहा है—

'पृथिवी' ऋग्वेद का सूचक है, 'अग्नि' सामवेद का। जैसे अग्नि का आधार पृथिवी है वैसे साम का आधार ऋक् है, साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। ऋक् और साम में इतनी अभिन्नता है कि पृथिवी मानो 'सा' है, अग्नि 'अम' है, इन दोनों के मिलने से 'साम' बन जाता है ॥१॥

अथवा, 'अन्तरिक्ष' ऋग्वेद का सूचक है। 'वायु' सामवेद का। जैसे वायु का आधार अन्तरिक्ष है वैसे साम का आधार ऋक् है, साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। ऋक् और साम में इतनी अभिन्नता है कि अन्तरिक्ष मानो 'सा' है, वायु 'अम' है, इन दोनों के मिलने से 'साम' बन जाता है ॥२॥

अथवा, 'द्यौः' ऋग्वेद' का सूचक है, 'आदित्य' सामवेद का। जैसे आदित्य का आधार द्यु-लोक है वैसे साम का आधार ऋक् है,

---

ऋचि—ऋचा पर; **अध्यूढम्**—ऊपर स्थित है, आश्रित है (या व्याप्य-व्यापक भाव से स्थित है); **साम**—साम-गान; **तस्मात्**—अतएव; **ऋचि**—ऋचा पर; **अध्यूढम्**—आश्रित, आधारवाले ही; **साम गीयते**—साम का गान किया जाता है; **इयम् एव**—यह (पृथिवी) ही; **सा**—(साम-पद का पूर्व आधा भाग) 'सा' है; **अग्निः**—अग्नि; **अमः**—(साम-पद का उत्तरार्द्ध भाग) 'अम' है; **तत्**—वह (मिल कर); **साम**—साम-पद बनता है (साम पद से दोनों का ग्रहण होना है) ॥१॥

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम
तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम ॥२॥

अन्तरिक्षम् एव—अन्तरिक्ष ही; **ऋग्**—ऋचा है; **वायुः**—वायु; **साम**—साम है; **तद् एतद्**—वह यह; **एतस्याम्**—इस; **ऋचि**—ऋचा में; **अध्यूढम्**—आधार वाला है; **साम**—साम; **तस्माद्**—उससे ही, **ऋचि**—ऋचा पर; **अध्यूढम्**—आधृत, आश्रित; **साम गीयते**—साम-गान किया जाता है; **अन्तरिक्षम् एव**—अन्तरिक्ष ही; **सा**—(साम-पद का पूर्वार्ध) 'सा' है; **वायुः**—वायु; **अमः**—(साम-पद का उद्धरार्ध) 'अम' है। **तत्**—वह (मिल कर बना ही); **साम**—साम है ॥२॥

द्यौरेवर्गादित्यः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम तस्मा-
दृच्यध्यूढँ साम गीयते द्यौरेव साऽऽदित्योऽमस्तत्साम ॥३॥

साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। ऋक् और साम में इतनी अभिन्नता है कि द्यौः मानो 'सा' है, आदित्य 'अम' है, इन दोनो के मिलने से 'साम' बन जाता है ॥३॥

अथवा, 'नक्षत्र' ऋग्वेद का सूचक है, 'चन्द्रमा' सामवेद का। जैसे चन्द्रमा का आधार नक्षत्र-लोक है वैसे साम का आधार ऋक् है, साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। ऋक् और साम में इतनी अभिन्नता है कि नक्षत्र मानो 'सा' है, चन्द्रमा 'अम' है, इन दोनो के मिलने से 'साम' बन जाता है ॥४॥

अथवा, 'आदित्य' की जो श्वेत-आभा है, वह ऋग्वेद की सूचक है, जो नीली—परम-कृष्ण—आभा है, वह सामवेद की सूचक है। जैसे कृष्ण-आभा का आधार श्वेत-आभा है वैसे साम का आधार ऋक् है, साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। ऋक् और साम में इतनी अभिन्नता है कि आदित्य की जो शुक्ल-आभा है वह मानो 'सा' है, जो नील—परम-कृष्ण—आभा है वह 'अम' है, इन दोनों के मिलने से 'साम' बन जाता है ॥५॥

द्यौः एव ऋक्—द्युलोक ही ऋचा है, आदित्यः साम—सूर्य ही साम है, तद् एतत्—वह यह, एतस्याम् ऋचि अध्यूढम् साम—इस ऋचा में ही आधार पर स्थित साम है, तस्मात्—उस कारण से ही, ऋचि अध्यूढम्—ऋचा के आधार वाला ही, साम गीयते—साम-गान किया जाता है, द्यौः एव—द्युलोक ही, सा—(साम-पद का पूर्व भाग) 'सा' है, आदित्य—सूर्य, अम—(साम-पद का उत्तर भाग) 'अम' है, तत् साम—वह (दोनो मिलकर) 'साम' है ॥३॥

नक्षत्राण्येवर्क् चन्द्रमाः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मा-
दृच्यध्यूढꣳ साम गीयते नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम ॥४॥

नक्षत्राणि एव ऋक्—नक्षत्र-मण्डल ही ऋचा है, चन्द्रमा साम—चन्द्रमा ही साम है; तद् एतद् एतस्याम् ऋचि अध्यूढम् साम—वह यह साम ऋचा के ही आधारवाला है, तस्माद्—अतएव, ऋचि अध्यूढम्—ऋचा पर आश्रित ही, साम गीयते—साम का गान होता है, नक्षत्राणि एव—नक्षत्र-मण्डल ही, सा—'सा' है, चन्द्रमा अम—चन्द्रमा 'अम' है, तत् साम—दोनो ('सा' और 'अम' के मिलने पर) साम (बन जाता है) ॥४॥

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम
तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते ॥५॥

और, जो आदित्य के भीतर यह सुनहरा पुरुष दीखता है, सुनहरी दाढ़ी-मूंछ वाला, सुनहरे केशों वाला, नखों तक सारा सोने-ही-सोने का ।।६।।

उसकी कमल-जैसी लाल-लाल आंखें हैं, उस आदित्य का 'उत्' नाम है । 'उत्' नाम इसलिये क्योंकि वह सब पापों से 'उत्', अर्थात् ऊपर है । जो इस प्रकार सूर्य के 'उत्' रूप को जानता है, वह सब पापों से ऊपर उठ जाता है ।।७।।

अथ—अब; यद् एतद्—जो यह; आदित्यस्य—सूर्य की; शुक्लम्—स्वच्छ, श्वेत; भाः—कान्ति, आभा है; सा—वह (श्वेत आभा); एव—ही; ऋग्—ऋचा है; अथ—और; यत्—जो (आभा); नीलम्—नीली; परः—अत्यधिक; कृष्णम्—काली; तत्—यह (आभा) ही; साम—साम है; तद् एतद्—वह यह; एतस्याम् ऋचि—इस ऋचा पर; अध्यूढम्—आधार वाला; साम—साम-गान है; तस्मात् ऋचि अध्यूढम् साम गीयते—उस कारण से ही ऋचा के आधार पर ही साम-गान किया जाता है ।।५।।

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः
कृष्णं तदमस्तत्सामाऽथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो
दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ।।६।।

अथ—और; यद् एव एतद्—जो ही यह; आदित्यस्य—सूर्य की; शुक्लम् भाः—श्वेत कान्ति है; सा एव—वह (श्वेत आभा) ही; सा—(सामपद का पूर्वार्द्ध) 'सा' भाग है; अथ यत् नीलम् परः कृष्णम्—और जो नीली बहुत काली (आभा) है; तद्—वह; अमः—(साम-पद का उत्तरार्ध) 'अम' भाग है; यः—जो; एषः—यह; अन्तरादित्ये (अन्तः+आदित्ये)—सूर्य के मध्य में; हिरण्मयः—सुवर्णमय, हित और रमणीय; पुरुषः—मनुष्य; दृश्यते—दिखाई देता है; हिरण्यश्मश्रुः—सोने की डाढ़ी-मूंछोंवाला; हिरण्यकेशः—सोने के बालों वाला; आप्रणखात्—पांव के नखों से लेकर (ऊपर तक); सर्वः एव—सारा ही; सुवर्णः—सोने का; सुन्दर वर्ण वाला ।।६।।

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम । स एष
सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः । उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ।।७।।

तस्य—उस (मनुष्य) की; यथा—जैसे; कप्यासम्—(कपिवत् आस्यम्) वन्दर के मुख के समान लाल-लाल; पुण्डरीकम्—कमल; एवम्—ऐसी; अक्षिणी—दोनों आंखें (हैं); तस्य—उसका; उद् इति—'उद्' यह; नाम—नाम, संज्ञा (है); सः एषः—वह यह; सर्वेभ्यः—सब; पाप्मभ्यः—पापों से;

उसी आदित्यस्थ पुरुष की महिमा का ऋक् और साम गान करते हैं, इसीलिये अधिदैवत दृष्टि से आदित्य को 'उद्गीथ' कहा गया है। 'उद्गाता' को उद्गाता भी इसलिये कहा जाता है क्योंकि वह इसी हिरण्मय-पुरुष की महिमा का गान करता है। वह हिरण्मय-पुरुष इस लोक से परे भी जो लोक हैं उनका भी स्वामी है, सब दिव्य-कामनाओं का भी वही स्वामी है ॥८॥

(आदित्य में स्थित पुरुष की यहां ऋषि ने कल्पना की है। आदित्य को अगर एक पुरुष के रूप में कल्पित किया जाय, उसकी किरणों को उस पुरुष की दाढ़ी-मूछ कल्पित कर लिया जाय, तो ऐसा प्रतीत होगा जैसे यह अन्तरिक्ष में एक देदीप्यमान सोने का पुरुष है, महान् शरीर वाला। यही मानो प्रत्यक्ष ब्रह्म है, एक विशाल दीप्तिमान् मुख वाला तेजोमय पुरुष सूर्य के रूप में। यह एक कवितामय कल्पना की उडान है।)

उदित (उद्+इत)—ऊपर गया (उठा हुआ) है, (पाप्मभ्य उदित'—पापों से ऊपर है, उसमें कोई पाप नहीं, निष्पाप), उदेति—ऊपर उठ जाता है, ह वै—निश्चय से, सर्वेभ्य—सारे, पाप्मभ्य—पापों से, य. एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है ॥७॥

तस्यर्क् च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम् ॥८॥

तस्य—उस (उत्-नामक पुरुष) के, ऋक् च—ऋग्वेद, साम च—और सामवेद, गेष्णौ—गायक, व्याख्या करने वाले (हैं), तस्माद्—उससे ही, उद्गीथ—(वह पुरुष) उद्गीथ (जिसका गान किया जाय) है, तस्मात्—उससे ही, तु—तो, एव—ही, उद्गाता—सामवेदी ऋत्विज् (उद्गाता कह-लाता है क्योंकि), एतस्य—इस (उद्-नामक पुरुष) का, हि—ही, गाता—गान करने वाला (होता है), स एष—वह यह (पुरुष), ये च—और जो, अमुष्मात्—इस (आदित्य) से, पराञ्च—परे होने वाले, लोका—लोक (हैं), तेषाम्—उनका, च—और, ईष्टे—ईश्वर (स्वामी) है, देवकामानाम् च—और देवताओं की कामनाओं (भोगों) का भी स्वामी है, इति अधिदैवतम्—यह ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में वर्णन है ॥८॥

प्रथम प्रपाठक—(सातवां खंड)

'सृष्टि', अर्थात् ब्रह्मांड की दृष्टि से ऋक् तथा साम की अभिन्नता दर्शाकर, 'शरीर', अर्थात् पिंड की दृष्टि से इनकी अभिन्नता दिखाते हैं—पिछला 'अधिदैवत'-वर्णन था, यह 'अध्यात्म'-वर्णन है। अध्यात्म, अर्थात् शरीर की दृष्टि से 'वाक्' ऋग्वेद की सूचक है, 'प्राण' सामवेद का। जैसे प्राण वाणी के सहारे उच्चारण करता है वैसे साम ऋचा के सहारे है, साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। ऋक् और साम में इतनी अभिन्नता है कि वाणी मानो 'सा' है, प्राण 'अम' है, इन दोनों के मिलने से 'साम' बन जाता है ॥१॥

अथवा, 'चक्षु' ऋग्वेद की सूचक है, आंख में दीखने वाली 'छाया' सामवेद की। जैसे छाया आंख के सहारे दीखती है वैसे साम ऋचा के सहारे है, साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। ऋक् और साम में इतनी अभिन्नता है कि चक्षु मानो 'सा' है, छाया 'अम' है, इन दोनों के मिलने से 'साम' बन जाता है ॥२॥

अथाध्यात्मम्। वागेवर्क् प्राणः साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम।
तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयते। वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ॥१॥

अथ—अब; अध्यात्मम्—आत्मा को (शरीर-पिण्ड को) लक्ष्य कर वर्णन करते हैं; वाग् एव—वाणी ही; ऋक्—ऋचा है; प्राणः—मुख्य प्राण; साम—साम-गान है; तद् एतत्—वह यह; एतस्याम्—इस; ऋचि—ऋचा (वाणी) पर; अध्यूढम्—आधारित; साम—साम (मुख्य प्राण); तस्मात्—अतएव; ऋचि—ऋचा पर; अध्यूढम्—आधारित; साम गीयते—साम-गान किया जाता है; वाग् एव—वाणी ही; सा—(साम-पद का पूर्वभाग) 'सा' है; प्राणः—प्राण; अमः—(साम-पद का उत्तर भाग) 'अम' है; तत्—वह (उसका संयुक्त रूप); साम—साम (बनता है) ॥१॥

चक्षुरेवर्गात्मा साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम।
तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयते। चक्षुरेव साऽऽत्माऽमस्तत्साम ॥२॥

चक्षुः—आंख, दर्शन-शक्ति; एव—ही; ऋग्—ऋचा है; आत्मा—(दृश्य पदार्थ का) प्रतिबिम्ब (छाया) ही; साम—साम है; तद् एतद् एतस्याम् ऋचि अध्यूढम् साम—वह यह साम (प्रतिबिम्ब) इस ऋचा (चक्षुः) पर आधारित है; तस्माद् ऋचि अध्यूढम्—अतएव ऋचा पर आधारित; साम गीयते—साम-गान किया जाता है; चक्षुः एव सा—आंख ही 'सा' है;

अथवा, 'श्रोत्र' ऋग्वेद का सूचक है, 'मन' सामवेद का। जैसे मन श्रोत्र के सहारे है वैसे साम ऋचा के सहारे है, साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। ऋक् और साम में इतनी अभिन्नता है कि श्रोत्र मानो 'सा' है, मन 'अम' है, इन दोनो के मिलने से 'साम' बन जाता है ॥३॥

अथवा, आख की जो शुक्ल आभा है वह ऋग्वेद की सूचक है, जो नीली—परम-कृष्ण—आभा है वह सामवेद की सूचक है। जैसे कृष्ण आभा का सहारा श्वेत आभा है वैसे साम का सहारा ऋचा है, साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। ऋक् और साम की इतनी अभिन्नता है कि आख की जो शुक्ल आभा है वह मानो 'सा' है, जो कृष्ण आभा है, वह 'अम' है, इन दोनो के मिलने से 'साम' बन जाता है ॥४॥

आत्मा अम—छाया (प्रतिबिम्ब) 'अम' है, तत्—वह (उन दोनो का सयुक्त रूप), साम—साम (बनता है) ॥२॥

श्रोत्रमेव ऋक् मन साम। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम। तस्मा-
दृच्यध्यूढँ साम गीयते। श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम ॥३॥

श्रोत्रम्—कान, एव—ही, ऋग्—ऋचा है, मन—मनन शक्ति साम—साम गान है, तद् एतद् एतस्याम् ऋचि अध्यूढम् साम—वह यह साम (मनन) इस ऋचा (श्रोत्र) पर ही आधारित है तस्माद् ऋचि अध्यूढम् साम गीयते—उससे ही ऋचा पर आधारित ही साम-गान किया जाता है, श्रोत्रम् एव सा—कान ही 'सा' है, मन अम—मनन ही अम' है, तत् साम—वह (सयुक्त रूप) ही साम है ॥३॥

अथ यदेतदक्ष्ण शुक्ल भा सैवर्गथ यन्नील पर कृष्ण तत्साम।
तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम। तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयते। अथ
यदेवैतदक्ष्ण शुक्ल भा सैव साऽथ यन्नील पर कृष्ण तदमस्तत्साम ॥४॥

अथ—और, यद् एतत्—जो यह, अक्ष्ण—आख की, शुक्लम्—स्वच्छ, श्वेत, भा—कान्ति, आभा, सा एव ऋग्—वह (श्वेत आभा) ही ऋचा है, अथ—और, यत्—जो, नीलम्—नीली, पर—अत्यधिक, कृष्णम्—कालापन है, तत्—वह (कालीम), साम—साम है, तद् एतद् एतस्याम् ऋचि अध्यूढम् साम—वह यह साम (नील आभा) इस ऋचा (श्वेत आभा) पर आधारित है, तस्माद् ऋचि अध्यूढम् साम गीयते—अतएव ऋचा पर आश्रित साम-गान किया जाता है, अथ—और, यद् एव एतद्—जो ही यह, अक्ष्ण—आख की, शुक्लम् भा—श्वेत आभा (कान्ति) है, सा एव—वह ही, सा—

और, जो आंख के भीतर पुरुष दीखता है वही ऋक् है, वही साम है, वही उक्थ है, वही यजु है, वही ब्रह्म है। उसका वही हिरण्मय-रूप है जो आदित्यस्थ पुरुष का है, आंख में दीख रहे पुरुष की महिमा का भी वही ऋक् और साम गान करते हैं जो आदित्यस्थ पुरुष की महिमा का गान करते हैं, आंख में दीख रहे पुरुष का नाम भी आदित्य में दीख रहे पुरुष के नाम की तरह 'उत्' नाम ही है ॥५॥

वह जो आंख में पुरुष दीखता है वह उन लोकों का भी शासक है जो इस भूमि से नीचे हैं, वही इस भूमि पर की मनुष्य की सब कामनाओं का स्वामी है। उपासक लोग वीणा के मधुर तान में जो गाते हैं, वे इसी की महिमा का गान करते हैं, और इसीलिए वे धन-लाभ करते हैं ॥६॥

'सा' है; यत् नीलम् परः कृष्णम्—जो नीली बहुत अधिक काली आभा है; तद् अमः—वह 'अम' है; तत् साम—दोनों मिलकर 'साम' बनते हैं ॥४॥

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म। तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं, यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ, यन्नाम तन्नाम ॥५॥

अथ—और; यः एषः—जो यह; अन्तरक्षिणि—(अन्तः+अक्षिणि)—आँख के अन्दर; पुरुषः—पुरुष (मनुष्य की छाया); दृश्यते—दिखाई देता है; सा एव ऋक्—वह ही ऋचा है; तत् साम—वह ही साम है; तद्—वह ही; उक्थम्—स्तोत्र (स्तुति-वाक्य); तद् यजुः—वह ही यजुर्वेद; तद्—वह ही; ब्रह्म—महान्, परमात्मा या वेद; तस्य एतस्य—उस इस (अक्षि-गत पुरुष) का; तद् एव रूपम्—वह ही रूप है; यद्—जो; अमुष्य—इस (आदित्य-गत पुरुष) का; रूपम्—रूप (वर्ण) है; यौ—जो; अमुष्य—इस (आदित्य-गत पुरुष) के; गेष्णौ—गायक, स्तुति पाठक हैं; तौ—वे (दोनों ऋक् और साम) ही; गेष्णौ—(इस अक्षि-गत पुरुष के) गायक हैं; यत्—जो; नाम—(इस आदित्य-गत पुरुष का) नाम है; तद्—वह ('उत्' नाम) ही; नाम—(इस अक्षि-गत पुरुष का) नाम है ॥५॥

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चेति तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति, तस्मात्ते धनसनयः ॥६॥

सः एषः—वह यह (अक्षि-गत पुरुष); ये च—जो भी; एतस्मात्—इस (पुरुष) से; अर्वाञ्चः—उरे के (नीचे के); लोकाः—लोक हैं; तेषाम्—उन (लोकों) का; च—और; ईष्टे—ईश्वर (स्वामी-अधिपति) है; मनुष्य-

उक्त रहस्य को जानता हुआ जो साम-गान करता है वह आदित्य में वर्तमान 'ब्रह्माड'-पुरुष तथा आंख में वर्तमान 'पिंड'-पुरुष दोनों की महिमा को गाता है। इस गान द्वारा ही सूर्य-लोक से जो परे के लोक हैं उन्हें तथा देवों की सब कामनाओं को उद्गाता प्राप्त कर लेता है ॥७॥

और, उसी गान द्वारा मनुष्य-लोक से जो नीचे के लोक हैं उन्हें तथा मनुष्यों की सब कामनाओं को उद्गाता प्राप्त कर लेता है। इसलिये इस रहस्य को जानने वाला उद्गाता यजमान को कह सकता है—॥८॥

कामानाम् च इति—और मनुष्यों के काम्य-भोगों का भी, तद्—तो, ये—जो, वीणायाम्—वीणा पर (वीणा बजा कर), गायन्ति—गान करते हैं, एतम्—इसको (का), ते—वे (गायक), गायन्ति—गान करते हैं; तस्मात्—उस (प्रभु-गान) से ही, ते—वे (गायक), धनसनयः—धन-लाभ करने वाले, धनपति (होते हैं) ॥६॥

अथ य एतदेव विद्वान्साम गायत्युभौ स गायति, सोऽमुनैव स एष
ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तांश्चाप्नोति देवकामांश्च ॥७॥

अथ—तथा, और, यः—जो, एतद्—इस (साम) को, एव—इस प्रकार, विद्वान्—जाननेवाला, साम गायति—साम का गान करता है, उभौ—दोनों (अक्षि-गत पुरुष और आदित्यगत पुरुष अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मा) का, सः—वह, गायति—गान करता है, स्तुति करता है, सः—वह (गायक, उपासक), अमुना—इस (आदित्य-गत पुरुष के गान) से, एव—ही, सः एषः—वह यह (साम-गायक), ये च—जो भी, जितने भी, अमुष्मात्—इस (आदित्य) से, पराञ्चः—परवर्ती, परे होनेवाले, लोकाः—लोक हैं, तान्—उनको, च—और, आप्नोति—प्राप्त होता, प्राप्त कर लेता है, देवकामान् च—(और जो) देवों के अभीष्ट भोग हैं, उनको भी (प्राप्त कर लेता) है ॥७॥

अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तांश्चाप्नोति।
मनुष्यकामांश्च तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात् ॥८॥

अथ—और, अनेन—इस (अक्षि-गत पुरुष के गान) से, एव—ही, ये च—जो भी, एतस्मात्—इस (अक्षि और पृथिवी) से, अर्वाञ्चः—नीचे में, लोकाः—लोक हैं, तान् च—उनको भी, आप्नोति—प्राप्त करता है, मनुष्य-कामान् च—और मनुष्य के काम्य—अभीष्ट भोगों को भी, तस्माद्—उस कारण से, उ ह—ही, एवंविद्—इस प्रकार जाननेवाला, उद्गाता—सामवेदी ऋत्विज्, ब्रूयात्—(अपने यजमान को) कहे—पूछे ॥८॥

क्या कह सकता है ? हे यजमान ! तेरी कौन-सी कामना तेरे लिये गाऊं ? क्योंकि वह जो-कुछ चाहे गाकर पूरा कर सकता है। जो इस रहस्य को जानता हुआ साम-गान करता है वही अस्ल में साम-गान जानता है ॥९॥

ऊपर जो-कुछ कहा उसे तालिका के रूप में निम्न प्रकार प्रकट कर सकते हैं :

अध्यात्म (पिंड) में		अधिदैवत (ब्रह्मांड) में	
ऋक्	साम	ऋक्	साम
वाक्	प्राण	पृथिवी	अग्नि
चक्षु	छाया	अन्तरिक्ष	वायु
श्रोत्र	मन	द्यौः	आदित्य
आंख की शुक्ल आभा	आंख की कृष्ण आभा	आदित्य की शुक्ल आभा	आदित्य की नील आभा
आंख में दीख रहा पिंड पुरुष		सूर्य में दीख रहा ब्रह्मांड पुरुष	

प्रथम प्रपाठक (आठवां खंड)

(तीन ऋषियों में उद्गीथ की चर्चा, ८-९ खंड)

प्राचीन-काल में तीन व्यक्ति 'उद्गीथ' में कुशल थे। शालावान् का पुत्र शिलक, चिकितायन का पुत्र दाल्भ्य तथा जीवल का पुत्र

कं ते काममागायानीति । एष ह्येव कामगानस्येष्टे
य एवं विद्वान्साम गायति साम गायति ॥९॥

कम्—किस; **ते**—तेरे लिए; **कामम्**—काम (काम्य-भोग) की; **आ गायानि**—गान करूं, प्रार्थना करूं; **इति**—यह (पूछे); **एषः हि एव**—क्योंकि यह ही; **काम-गानस्य**—गान द्वारा अभीष्ट कामना का; **ईष्टे**—स्वामी (समर्थ होता) है; **यः**—जो; **एवं विद्वान्**—इस प्रकार जानने वाला; **साम गायति**—साम-गान करता है; **साम गायति**—साम-गान करता है ॥९॥

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः शिलकः शालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति, ते होचुरुद्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ॥१॥

त्रयः—तीन; **ह**—पहिले की बात है; **उद्गीथे**—उद्गीथ में; **कुशलाः**—चतुर, मर्मज्ञ; **बभूवुः**—हुए थे; **शिलकः**—शिलक-नामी; **शालावत्यः**—शालावत्

प्रवाहण। वे एक दूसरे से कहने लगे, हम तीनो उद्गीथ में कुशल हैं, आओ उद्गीथ की चर्चा करें ॥१॥

'बहुत अच्छा'—यह कहकर वे एक साथ बैठ गये। जीवल का पुत्र प्रवाहण बोला—आप दोनो पहले चर्चा करें, आपकी चर्चा मैं सुनूंगा ॥२॥

अब शिलक और दाल्भ्य की बातचीत शुरू हुई। शिलक ने दाल्भ्य से कहा, मैं अब आपसे पूछूं? दाल्भ्य ने कहा, पूछो ॥३॥

शिलक ने पूछा, साम-गान कैसे होता है? दाल्भ्य ने कहा, स्वर से। स्वर कहा से होता है? प्राण से। प्राण किसके आश्रय से है? अन्न के। अन्न कैसे होता है? जल से ॥४॥

का पुत्र, चैकितायन—चिकितायन का पुत्र, दाल्भ्य—दल्भ-गोत्र वाला, प्रवाहण—प्रवाहण-नामी, जैवलि—जीवल का पुत्र, इति—ये (तीन), ते ह ऊचु—उन्होने (आपस मे) कहा, उद्गीथे—उद्गीथ के विषय मे, वै—निश्चय से, कुशला—मर्मज्ञ, स्म—हम हैं, हन्त—(प्रसन्नता अर्थ में) अरे, उद्गीथे—उद्गीथ के विषय में, कथाम्—कथन, वदाम—कहें, (कथाम् वदाम—चर्चा करें) इति—यह (परस्पर कहा) ॥१॥

तथेति ह समुपविविशु, स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच,
भगवन्तावग्रे वदतां ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचं श्रोष्यामीति ॥२॥

तथा इति—ऐसा ही (हो-करो), ह—निश्चय से, समुपविविशु—(चर्चा के लिये) बैठ गये, स ह प्रवाहण जैवलि उवाच—उनमे से जीवल का पुत्र प्रवाहण बोला, भगवन्तौ—माननीय (आप दोना), अग्रे—आगे, पहले, वदताम्—कहें, चर्चा करें, ब्राह्मणयो—ब्रह्मज्ञानी (आप दोना) ब्राह्मणो की, वदतो—चर्चा करते हुए, वाचम्—वाणी को, श्रोष्यामि—मै सुनूगा, इति यह (जैवलि ने कहा) ॥२॥

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच
हन्त त्वा पृच्छानीति, पृच्छेति होवाच ॥३॥

स ह—उस, शिलक—शिलक ने, शालावत्य—शालावत् के पुत्र, चैकितायनम् दाल्भ्यम्—चिकितायन के पुत्र दल्भ-गोत्री को, उवाच—कहा, हन्त—तो, त्वा—तुम से, पृच्छानि—पूछू, इति—यह (कहा), पृच्छ—पूछ, इति ह उवाच—ऐसा दाल्भ्य ने कहा ॥३॥

का साम्नो गतिरिति, स्वर इति होवाच, स्वरस्य का गति-
रिति, प्राण इति होवाच, प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति
होवाचान्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच ॥४॥

जल कहां से आता है ? उस लोक से, अर्थात् द्यु-लोक से, स्वर्ग-लोक से। उस लोक, अर्थात् स्वर्ग-लोक की स्थिति कैसे है ? दाल्भ्य ने उत्तर दिया कि स्वर्ग-लोक के आगे प्रश्न नहीं करना चाहिये। हम साम-गान से स्वर्ग-लोक की ही स्थापना करते हैं, इससे आगे नहीं जाते। साम का काम स्वर्ग की स्तुति करना ही है ॥५॥

यह सुनकर शिलक ने दाल्भ्य से कहा, हे दाल्भ्य ! तुम साम-गान से स्वर्ग-लोक की स्थापना करते हो, आगे नहीं जाते, परन्तु उद्गीथ-चर्चा में इस प्रकार स्वर्ग-लोक तक ठहर जाने से काम नहीं चलेगा, तुम्हारा साम-ज्ञान अप्रतिष्ठित हो जायगा। तुम्हें इस अल्प-ज्ञान के

का—क्या, कौन; **साम्नः**—साम (गान) की; **गतिः**—आश्रय, आधार, पहुंच, उद्देश्य; **इति**—यह (पूछा)); **स्वरः इति**—स्वर ही (साम की गति) है; **ह उवाच**—उत्तर दिया; **स्वरस्य का गतिः इति**—स्वर का क्या आश्रय है, यह (पूछा); **प्राणः इति ह उवाच**—प्राण (स्वर की गति) है, यह उत्तर दिया; **प्राणस्य का गतिः इति**—प्राण की क्या गति (आधार) है, यह पूछा; **अन्नम् इति ह उवाच**—अन्न ही (प्राण का आश्रय है), यह उत्तर दिया; **अन्नस्य का गतिः इति**—अन्न का आधार क्या है, यह पूछा; **आपः इति ह उवाच**—जल ही (अन्न का आधार) है, यह उत्तर दिया ॥४॥

अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरिति न स्वर्गं लोकमतिनयेदिति होवाच, स्वर्गं वयं लोकँ सामाभिसंस्थापयामः, स्वर्गसँस्तावँ हि सामेति ॥५॥

अपाम् का गतिः इति—जल का आधार क्या है, यह पूछा; **असौ लोकः इति ह उवाच**—यह (अन्तरिक्ष या आदित्य) लोक ही (जल का आश्रय-स्थान) है, यह उत्तर दिया; **अमुष्य लोकस्य का गतिः**—इस (द्युलोक या आदित्य) लोक का आश्रय कौन-सा है, यह पूछा; **न**—नहीं; **स्वर्गम् लोकम्**—आनन्दप्रद, आनन्दमय लोक को; **अतिनयेद्**—लाँघ कर जावे, उसके बारे में प्रश्न करे; **इति ह उवाच**—यह (दाल्भ्य) ने कहा; **स्वर्गम्**—आनन्दप्रद; **वयम्**—हम (तो); **लोकम्**—लोक को; **साम**—साम-गान (का लक्ष्य); **अभिसंस्थापयामः**—स्थापित करते हैं; **स्वर्गसंस्तावम्**—स्वर्ग की स्तुति (गान) करनेवाला; **हि**—क्योंकि; **साम इति**—साम-वेद है ॥५॥

तँ ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाचाप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य साम। यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति ॥६॥

तम् ह—उस (को); **शिलकः शालावत्यः**—शालावान् का पुत्र शिलक;

लिये अगर कोई धिक्कारे, तो लज्जा से तुम्हारा सिर नीचा हो जायगा ॥६॥



शिलक, दाल्भ्य तथा प्रवाहण ओंकार की चर्चा कर रहे हैं

चैकितायनम् दाल्भ्यम्—चिकितायन के पुत्र दाल्भ्य को, उवाच—बोला; अप्रतिष्ठितम्—प्रतिष्ठा (आश्रय) से रहित, बिना आश्रय का, वै किल—निश्चय से, ते—तेरा, दाल्भ्य—हे दाल्भ्य, साम—साम-गान है, यः तु—जो तो (कोई), एतर्हि—इस (ऐसे) समय में (आकर), ब्रूयात्—बोले (पूछे), मूर्धा—सिर, मस्तक, ते—तेरा, विपतिष्यति—गिरेगा (लज्जा से नीचा हो जायगा); मूर्धा—मस्तक; ते—तेरा, विपतेत्—नीचा होवे (अपना अज्ञान स्वीकार करो); इति—यह (शिलक ने कहा) ॥६॥

दाल्भ्य ने कहा, हे भगवन् ! क्या मैं इस बात का ज्ञान आप से प्राप्त कर सकता हूं ? हां, करो। अब दाल्भ्य ने प्रश्न किया, उस लोक, अर्थात् स्वर्ग-लोक की स्थिति कैसे है ? शिलक ने उत्तर दिया, स्वर्ग-लोक का आश्रय यह लोक—यह पृथिवी—ही है। दाल्भ्य ने फिर पूछा, इस लोक की स्थिति किस पर है ? शिलक ने उत्तर दिया कि इस पृथिवी-लोक पर तो सब-कुछ प्रतिष्ठित है, इससे आगे प्रश्न नहीं करना चाहिये। हम साम-गान से इस प्रतिष्ठित पृथिवी-लोक की ही स्थापना करते हैं, इससे आगे नहीं जाते। साम का काम संसार का धारण करने वाले इस पृथिवी-लोक की स्तुति करना ही है ॥७॥

यह सुनकर शिलक को जैवलि ने कहा, हे शिलक ! तेरा साम-गान निष्फल है। अगर कोई सामवेद का ज्ञानी आ पहुंचे, और तुझे

हन्ताहमेतद् भगवतो वेदानीति, विद्धीति होवाच । अमुष्य लोकस्य का गतिरित्ययं लोक इति होवाच । अस्य लोकस्य का गतिरिति । न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति होवाच । प्रतिष्ठां वयं लोकं सामाभिसंस्थापयामः प्रतिष्ठासंस्तावं हि सामेति ॥७॥

हन्त—अरे (तो); अहम्—मैं; एतद्—यह बात; भगवतः—आदरणीय आप से; वेदानि—जानूं (जानना चाहता हूं); इति—यह (दाल्भ्य ने कहा); विद्धि—जान लो; इति ह उवाच—यह (शिलक ने) कहा; अमुष्य—इस; लोकस्य—(आदित्य) लोक का; का गतिः इति—क्या आधार है; अयम् लोकः—यह (पृथिवी) लोक; इति ह उवाच—यह (शिलक ने) कहा; अस्य लोकस्य—इस (पृथिवी) लोक का; का गतिः—क्या आश्रय-आधार है; इति—यह (दाल्भ्य ने पूछा); न—नहीं; प्रतिष्ठाम्—सब के आश्रयभूत; लोकम्—लोक को; अतिनयेत्—लांघ कर जावे; उसके विषय में चर्चा करे; इति ह उवाच—यह (शिलक ने) कहा; प्रतिष्ठाम्—सब के आश्रय; वयम्—हम सब; लोकम्—लोक को; साम—साम (स्तुति का लक्ष्य); अभिसंस्थापयामः—स्थापित करते हैं; प्रतिष्ठा-संस्तावम्—सब के आश्रयभूत (पृथिवी-लोक) की स्तुति करनेवाला; हि—ही; साम—साम-गान है; इति—यह (कहा) ॥७॥

तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच । अन्तवद्वै किल ते शालावत्य साम । यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति । हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति, विद्धीति होवाच ॥८॥

इस अल्प-ज्ञान के लिये धिक्कारे, तो लज्जा से तेरा सिर नीचा हो जाय। इस पर शिलक ने कहा, भगवन्! तो क्या आपसे मैं यह ज्ञान प्राप्त कर सकता हूं? जैवलि ने कहा, अवश्य ॥८॥

प्रथम प्रपाठक—(नवां खंड)

अब शिलक ने जैवलि से पूछा, भगवन्! तो आप ही मुझे बताइये कि इस [illegible] जैवलि ने उत्तर दिया, आ [illegible] त्पन्न होते हैं, आकाश में हैं [illegible] में महान् हैं, आकाश ही परम-धाम है ॥१॥

('द्यु-लोक' तक दाल्भ्य पहुंचा था। शिलक 'पृथिवी-लोक' तक पहुंचा। इन दोनों के बीच के 'आकाश-लोक' का जैवलि ने उल्लेख किया।)

तम् ह—उस (को), प्रवाहण जैवलिः—जीवल के पुत्र प्रवाहण ने, उवाच—कहा, अन्तवद्—अन्तवाला, निष्प्रयोजन-निष्फल, वै किल—निश्चय से, ते—तेरा, शालावत्य—हे शालावत्य, साम—साम-गान है, यः तु—जो तो (कोई आकर); एतर्हि—इस समय में, ब्रूयात्—कहे (पूछे), मूर्धा—मस्तक, ते—तेरा, विपतिष्यति—(लज्जा से) गिर जायगा-नीचा हो जायगा, इति—यह (सोचकर), मूर्धा ते—तेरा मस्तक, विपतेद्—झुक जाये (अपनी पराजय स्वीकार कर), इति—यह (प्रवाहण ने कहा), हन्त—तो, अहम्—मैं; एतद्—यह (बात), भगवतः—आदरणीय आप से, वेदानि—जानूं, जानना चाहता हूं, इति—यह (शिलक ने कहा), विद्धि—जानो, पूछो, इति ह उवाच—यह (प्रवाहण ने) कहा ॥८॥

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच।
सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं
प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ॥१॥

अस्य लोकस्य—इस (पृथिवी) लोक का, का गतिः—कौन आश्रय, आधार है, इति—यह (शिलक ने पूछा), आकाश—आकाश, इति उवाच—यह प्रवाहण ने उत्तर दिया, सर्वाणि—सारे, ह वै—ही, इमानि—ये, भूतानि—पंच महाभूत, प्राणी, आकाशाद्—आकाश से, एव—ही, समुत्पद्यन्ते—उत्पन्न होते हैं, आकाशं प्रति—आकाश की ओर (आकाश में), अस्तम् यन्ति—अस्त हो जाते हैं; आकाश—आकाश, हि एव—ही, एभ्य—इन (भूतों) से,

यह आकाश ब्रह्म का प्रतीक है, यह दूसरों से वरतम है, परोवरीयान् है, यही 'उद्गीथ' है जिसकी चर्चा के लिये तीनों बैठे हैं, यह अनन्त है। जो दूसरों से वरतम उद्गीथ के इस रूप को जानकर उसकी उपासना करता है उसका जीवन दूसरों से श्रेष्ठ हो जाता है, और वह सर्वश्रेष्ठ लोकों को जीत लेता है ॥२॥

अतिधन्वा शौनक ने उद्गीथ के सम्बन्ध में उक्त चर्चा को अपने शिष्य उदरशाण्डिल्य को सुनाया और कहा कि जब तक तेरे वंश में उद्गीथ का ज्ञान रहेगा तब तक इस लोक में उनका सर्वश्रेष्ठ जीवन रहेगा ॥३॥

ज्यायान्—बड़ा, ज्येष्ठ है; आकाशः—आकाश; परायणम्—परम गति, परम आश्रय है ॥१॥

स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्परोवरीयांसमुद्गीथमुपास्ते ॥२॥

सः एषः—वह यह (आकाश); परोवरीयान्—सब से बढ़कर वरण करने योग्य (श्रेष्ठ); उद्गीथः—उद्गीथ (रूप में उपास्य) है; सः एषः—वह यह (आकाशरूप उद्गीथ); अनन्तः—अन्त-रहित; परोवरीयः—सबसे बढ़कर श्रेष्ठ; ह—निश्चय से; अस्य—इस (उद्गीथ-उपासक) का; भवति—(जीवन) होता है; परोवरीयसः—सर्वोत्तम; ह—निश्चय ही; लोकान्—लोकों को, स्थिति को, स्थान को; जयति—जीत लेता है; अधिगत कर लेता है, प्राप्त होता है; यः—जो; एतद्—यह; एवम्—इस प्रकार; विद्वान्—जानता हुआ; परोवरीयांसम्—सर्वोत्तम, सबसे बढ़ कर; उद्गीथम्—(आकाश-रूप) उद्गीथ को (की); उपास्ते—उपासना करता है ॥२॥

तं हैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच। यावत्त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिँल्लोके जीवनं भविष्यति ॥३॥

तम् ह एतम्—उस ही इस (उद्गीथ) को; अतिधन्वा—अतिधन्वा (नामी) ने; शौनकः—शुनक के पुत्र; उदरशाण्डिल्याय—उदरशाण्डिल्य (नामवाले) को; उक्त्वा—उपदेश देकर; उवाच—कहा था; यावत्—जबतक; ते—वे या तेरे; एनम्—इस; प्रजायाम्—पुत्र-परम्परा में; उद्गीथम्—उद्गीथ को; वेदिष्यन्ते—जानेंगे; परोवरीयः—सर्वोत्तम; ह—निश्चय ही, अवश्य; एभ्यः—इन (श्रोताओं) से; तावद्—तो, तब तक; अस्मिन् लोके—इस (पृथिवी) लोक में, इस मनुष्य-जन्म में; जीवनम्—जीवन; भविष्यति—होगा ॥३॥

और उस लोक में भी सम्मान होगा। इस प्रकार 'उद्गीथ' का ज्ञान प्राप्त कर जो उसकी उपासना करता है उसका इस लोक में सर्व-श्रेष्ठ जीवन होता है तथा उस लोक में सम्मान होता है, लोक में सम्मान होता है ॥४॥

(उद्गीथ के सिलसिले में ५-६-७ खंड में साम-गान का वर्णन किया गया था, उसी प्रकरण को उठाकर ८म तथा ९म खंड में 'साम' की गति क्या है—साम का उद्भव-स्थान क्या है—इसका वर्णन करते हुए ऋषि संपूर्ण सृष्टि के उद्भव-स्थान उसी उद्गीथ पर पहुंचे हैं, जिसका इस प्रपाठक में मुख्य तौर पर वर्णन है, वही अनन्त है, वही परम-श्रेष्ठ है, वही उपासनीय है।)

प्रथम प्रपाठक—(दसवां खंड)

(उषस्ति चाक्रायण की कथा, १०-११ खंड)

एक समय का कथानक है कि कुरु-देश में ओलों से सब-कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो गया। उस समय हाथीवानों के ग्राम में उषस्ति चाक्रायण निर्धन ऋषि आटिकी-नामक अपनी स्त्री के साथ आ बसा ॥१॥

तथामुष्मिंल्लोके लोक इति। स य एतदेवं विद्वानुपास्ते परोवरीय एव हास्यास्मिंल्लोके जीवनं भवति तथामुष्मिंल्लोके लोक इति लोके लोक इति ॥४॥

तथा—और, अमुष्मिन् लोके—उस (आदित्य) लोक में, लोक—लोक, स्थिति, स्थान, इति—यह (शौनक ने कहा था), सः यः—वह जो (उपासक), एतम्—इस (उद्गीथ) को, एवम् विद्वान्—इस प्रकार जानकर, उपास्ते—उपासना करता है, परोवरीय एव—सबसे बढ़ कर ही, ह—निश्चय से, अस्य—इस (उपासक) का, अस्मिन् लोके—इस (पृथिवी) लोक में, मनुष्य-जन्म में, जीवनम्—जीवन, भवति—होता है, तथा—और, वैसे ही, अमुष्मिन् लोके—उस (आदित्य) लोक में, लोक—स्थान (प्राप्त होता है), इति—यह, लोके लोक—आदित्य लोक में स्थान मिलता है (वाक्य की द्विरुक्ति—दो बार पाठ आदर और ज़ोर देने के लिए एवं खण्ड-समाप्ति की सूचना के लिए है) ॥४॥

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह
चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ॥१॥

मटची-हतेषु—बिजली या ओलों से मारे हुए, ईति-भीति से ग्रस्त, कुरुषु—कुरु देश में, आटिक्या—आटिकी (भ्रमणशील) नाम वाली, सह

वह भूख का इतना सताया हुआ था कि गले-सड़े उड़द खाते हुए एक हाथीवान से उसने भिक्षा मांगी। वह बोला, मेरे पास जो ये उड़द पड़े हुए हैं इनसे अन्य मेरे पास नहीं हैं ॥२॥

ऋषि ने कहा, इन्हीं में से दे दो। उसने दे दिये। हाथीवान ने कहा, जल भी लो। उषस्ति ने कहा, अगर मैं यह पानी पीऊंगा तब तो तेरा जूठा पानी पीऊंगा ॥३॥

हाथीवान ने कहा, तो क्या ये उड़द जूठे नहीं हैं? ऋषि ने कहा, अगर मैं इन्हें नहीं खाऊंगा तब तो भूख के मारे मैं जी ही नहीं सकूंगा, परन्तु जल तो जहां चाहो मिल जाता है ॥४॥

जायया—पत्नी के साथ; उषस्तिः—उषस्ति नामवाला; चाक्रायणः—चक्र का पुत्र; इभ्य-ग्रामे—हस्तिपालकों (महावतों) के ग्राम में; प्रद्राणकः—अत्यन्त निर्धन, अकिंचन, दीन-हीन; उवास—रहता था ॥१॥

स हेभ्यं कुल्माषान्खादन्तं बिभिक्षे। तं᳭ होवाच।
नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति ॥२॥

सः ह—उसने; इभ्यम्—हस्तिपाल को (से); कुल्माषान्—कुलथी (नामक उड़द-जैसा तुच्छ अन्न) को; खादन्तम्—खाते हुए; बिभिक्षे—भीख माँगी; तम् ह—उस (उषस्ति) को; उवाच—(इभ्य ने) कहा; न—नहीं; इतः—इनसे; अन्ये—दूसरे (अधिक); विद्यन्ते—(मेरे पास) हैं; यत् च—जो; मे—मेरे (खाने के लिए); इमे—ये; उपनिहिताः—पास में रखे हैं; इति—यह (कहा) ॥२॥

एतेषां मे देहीति होवाच, तानस्मै प्रददौ,
हन्तानुपानमित्युच्छिष्टं वै मे पीत᳭ स्यादिति होवाच ॥३॥

एतेषाम्—इनका (इनमें से); मे—मुझे; देहि—दो; इति ह—ऐसे; उवाच—(उषस्ति ने) कहा; तान्—उन (कुल्माषों) को; अस्मै—इस (उषस्ति) को; प्रददौ—(इभ्य ने) दे दिया; हन्त—और; अनुपानम्—(यह) बाद में पीने के लिए जल है; इति—यह (भी इभ्य ने कहा); उच्छिष्टम्—जूठा; वै—ही; मे—मेरा; पीतम्—पानी पीना; स्यात्—होगा; इति ह उवाच—यह (उषस्ति ने) कहा (अतः जूठा पानी न लिया) ॥३॥

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति, न वा अजीविष्यमि-
मानखादन्निति होवाच, कामो म उदपानमिति ॥४॥

न स्विद्—क्या नहीं; एते—ये (कुल्माष); अपि—भी; उच्छिष्टाः—जूठे हैं; इति—यह (इभ्य ने पूछा); न वै—नहीं ही; अजीविष्यम्—जी

ऋषि उन जूठे उडदो को खाकर बचे हुओ को अपनी भार्या के लिये ले आया। वह पहले ही भिक्षा कर चुकी थी, उसने उन उडदो को रख लिया ॥५॥



उषस्ति चाक्रायण हाथीवान से जूठे उडद ले रहे हैं

पाऊंगा, जिऊंगा, इमान्—इन (जूठे कुल्माषों) को, अखादन्—न खाता हुआ (न खाने पर), इति ह उवाच—यह (उषस्ति ने) कहा, काम—पर्याप्त, यथेच्छ, मे—मेरे (पास), उदपानम्—पीने का पानी है, इति—ऐसे ॥४॥

स ह खादित्वातिशेषाञ्जायाया आजहार, साग्र एव सुभिक्षा बभूव, तान्प्रतिगृह्य निदधौ ॥५॥

प्रातःकाल जागने पर ऋषि बोला, यदि कुछ भी अन्न मिल जाय, तो शरीर में शक्ति आने पर कहीं से धन प्राप्त करूं जिससे जीवन-निर्वाह हो। अमुक राजा यज्ञ करने वाला है, मैं वहां पहुंच जाऊं तो वह अपने सब ऋत्विजों में से मुझे ही चुनेगा ॥६॥

उसे उसकी भार्या ने कहा, पतिदेव ! ये ही उड़द हैं। अस्तु, उन्हें खाकर ऋषि उस महान् यज्ञ को गया ॥७॥

वहां स्तोत्र-पाठ करने वाले उद्गाताओं के आस्ताव में, अर्थात् यज्ञ-भूमि में अन्यों के निकट जाकर बैठ गया और प्रस्तोता से कहने लगा ॥८॥

सः ह—वह; खादित्वा—(स्वयं) खा कर; अतिशेषान्—खाने से बचे हुए; जायायै—पत्नी के लिए; आजहार—ले आया; सा—वह पत्नी; अग्रे—पहले; एव—ही; सुभिक्षा बभूव—भिक्षा (अन्न) प्राप्त कर चुकी थी, खा चुकी थी; तान्—उन (कुल्माषों) को; प्रतिगृह्य—लेकर; निदधौ—संभाल कर रख दिया ॥५॥

स ह प्रातः संजिहान उवाच, यद्‌बतान्नस्य लभेमहि लभेमहि धनमात्राम्, राजासौ यक्ष्यते, स मा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति ॥६॥

सः ह—वह (उषस्ति); प्रातः—प्रातःकाल में; संजिहानः—जागने पर या घर छोड़ता हुआ, बाहर जाना चाहता हुआ; उवाच—बोला; यद् बत—अगर; अन्नस्य—अन्न की; लभेमहि—हमें प्राप्ति हो जाय (कुछ खाने को मिल जाय); (तो) लभेमहि—प्राप्त करें; धनमात्राम्—धन के अंश को, कुछ धन; राजा—राजा; असौ—यह; यक्ष्यते—यज्ञ करेगा; सः—वह; मा—मुझ को; सर्वैः—सारे; आर्त्विज्यैः—ऋत्विक्-कर्मों से (के लिए); वृणीत—वरण करेगा, चुनेगा; इति—यह (उषस्ति ने कहा) ॥६॥

तं जायोवाच, हन्त पत इम एव कुल्माषा इति, तान्खादित्वाऽमुं यज्ञं विततमेयाय ॥७॥

तम्—उसको; जाया—पत्नी ने; उवाच—कहा; हन्त—हे; पते—पति !; इमे—ये; एव—ही; कुल्माषाः—कुल्थी हैं; इति—यह; तान्—उनको; खादित्वा—खाकर; अमुम्—इस; यज्ञम्—यज्ञ को (में); विततम्—विस्तृत, विशाल; एयाय—आ गया ॥७॥

तत्रोद्गातॄनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश, स ह प्रस्तोतारमुवाच ॥८॥

तत्र—वहां, उस (यज्ञ में); उद्गातॄन्—उद्गाताओं को (के); आस्तावे—स्तुति करने के स्थान, प्रार्थना-भवन में; स्तोष्यमाणान्—स्तुति करने के

हे प्रस्तोतः ! जो देवता प्रस्ताव से सम्बन्ध रखता है अगर तुम उसे न जानते हुए प्रस्ताव का गान करोगे तो तुम्हारा सिर गिर जायगा, अर्थात् तुम्हें नीचा देखना पड़ेगा ॥९॥

फिर ऐसे ही उद्गाता को कहा, हे उद्गातः ! जो देवता उद्गीथ से सम्बन्ध रखता है अगर तुम उसे न जानते हुए उद्गीथ गाओगे तो तुम्हारा भी सिर गिर जायगा, अर्थात् तुम्हें भी नीचा देखना पड़ेगा ॥१०॥

इसी प्रकार फिर प्रतिहर्ता को सम्बोधन करके कहा, हे प्रतिहर्तः ! जो देवता प्रतिहार से सम्बन्ध रखता है अगर तुम उसे न जानते हुए प्रतिहार गाओगे तो तुम्हारा भी सिर गिर जायगा, अर्थात् तुम्हें भी नीचा देखना पड़ेगा। यह सुनकर वे तीनों अपना-अपना काम छोड़कर चुप होकर बैठ गये ॥११॥

लिये उत्सुक (तत्पर); उप—पास में, उपविवेश—बैठ गया, सः ह—और वह; प्रस्तोतारम्—प्रस्तोता को, उवाच—बोला ॥८॥

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां
चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥९॥

प्रस्तोतः—हे प्रस्तोता !, या देवता—जो देवता, प्रस्तावम्—प्रस्ताव में, गान के आरम्भ में, अनु+आयत्ता—अनुगत है, सम्बद्ध है, ओत-प्रोत है, ताम्—उस (देवता) को, चेद्—अगर, अविद्वान्—न जानते हुए, प्रस्तोष्यसि—प्रस्ताव करेगा; मूर्धा—मस्तक, ते—तेरा, विपतिष्यति—(लज्जा से) गिर जायगा; इति—यह (कहा) ॥९॥

एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता
तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥१०॥

एवम् एव—इस प्रकार ही, उद्गातारम्—उद्गाता को, उवाच—कहा; उद्गातः—हे उद्गाता !, या देवता—जो देवता, उद्गीथम्—उद्गीथ को (में), अन्वायत्ता—सम्बद्ध है, रमी हुई है, ताम् चेद् अविद्वान्—उस (देवता) को अगर न जानते हुए, उद्गास्यसि—उद्गान करेगा, मूर्धा ते विपतिष्यति—(लज्जा से) मस्तक तेरा गिर (झुक) जायगा, इति—यह (कहा) ॥१०॥

एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच, प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति, ते ह समारतास्तूष्णीमासांचक्रिरे ॥११॥

(इस खंड में प्रस्तोता, उद्गाता तथा प्रतिहर्ता से कहा गया है कि अपने कार्य को करते हुए शब्दों के ही चक्कर में न रहें, उस कार्य के देवता, उस कार्य के मुख्य अंश एवं लक्ष्य को समझते हुए प्रत्येक कार्य करें।)

प्रथम प्रपाठक—(ग्यारहवां खंड)

तब उसे यजमान ने कहा, मैं आपको जानना चाहता हूं। ऋषि ने उत्तर दिया, मैं उषस्ति चाक्रायण हूं ॥१॥

यजमान बोला, मैंने इन सब ऋत्विजों से आपको ढुंढवाया, जब आपका कुछ पता न चला तो मैंने अन्य ऋत्विजों का वरण कर लिया ॥२॥

एवम् एव—इस ही प्रकार; **प्रतिहर्तारम्**—प्रतिहर्ता (गान का उतार करनेवाले) को; **उवाच**—कहा; **प्रतिहर्तः**—हे प्रतिहर्त्ता; **या देवता**—जो देवता; **प्रतिहारम्**—प्रतिहार (साम-गान के उतार) को (में); **अन्वायत्ता**—रमी हुई, ओतप्रोत है; **ताम् चेद् अविद्वान्**—उस देवता को अगर न जानते हुए; **प्रतिहरिष्यसि**—प्रतिहार (साम-गान का उतार, धीमापन) करेगा; **मूर्धा ते विपतिष्यति**—तेरा मस्तक गिर (झुक) जायगा; **इति**—यह (कहा); **ते ह**—वे सब ऋत्विज् ही; **समारताः**—कार्य से रुक गये; **तूष्णीम्**—चुपचाप; **आसांचक्रिरे**—बैठ गये ॥११॥

अथ हैनं यजमान उवाच, भगवन्तं वा अहं
विविदिषाणीत्युषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच ॥१॥

अथ ह—इसके बाद; **एनम्**—इस (उषस्ति) को; **यजमानः**—यज्ञ करने वाले (राजा) ने; **उवाच**—कहा; **भगवन्तम्**—आदर-पात्र आपको; **वं**—अवश्य ही; **अहम्**—मैं; **विविदिषाणि**—जानना चाहता हूं; **इति**—यह (पूछा); **उषस्तिः**—उषस्ति (नामवाला); **अस्मि**—मैं हूं; **चाक्रायणः**—चक्र का पुत्र; **इति ह उवाच**—यह (उषस्ति ने) कहा ॥१॥

स होवाच, भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरार्त्विज्यैः
पर्यैषिषं भगवतो वा अहमवित्त्वाऽन्यानवृषि ॥२॥

सः ह—उस (राजा) ने; **उवाच**—कहा; **भगवन्तम्**—आदरणीय आपको; **एभिः**—इन; **सर्वैः**—सारे; **आर्त्विज्यैः**—ऋत्विक्-कर्मों के कारण से; **पर्यैषिषम्**—ढूंढा था; **भगवतः वै**—आपको; **अहम्**—मैंने; **अवित्त्वा**—न पाकर; **अन्यान्**—दूसरों को; **अवृषि**—वरण किया है, ऋत्विग् नियुक्त किया है ॥२॥

सब ऋत्विजों के साथ आप ही मेरे मुख्य ऋत्विज् बनकर यज्ञ करायें। उषस्ति ने कहा, बहुत अच्छा, परन्तु जिन ऋत्विजों का तुमने पहले वरण कर रखा है, वे ऋत्विक् ही प्रसन्नता-पूर्वक मेरी देख-रेख में यज्ञ करायें और साथ ही जितना धन दक्षिणा में आप इन्हें दें उतना ही मुझे दें, अधिक नहीं। यजमान ने कहा, तथास्तु ॥३॥

(अर्थात्, न तो मैं इन्हें हटवाना ही चाहूंगा, और न इनकी अपेक्षा अधिक दक्षिणा ही लूंगा जिससे ये अपने को अपमानित न समझने लगें।)

इसके अनन्तर 'प्रस्तोता'-नामक ऋत्विक् उषस्ति के निकट आकर विनय-भाव से बोला, भगवन्! आपने मुझे कहा था कि जो देवता प्रस्ताव से सम्बन्ध रखता है उसे न जानते हुए प्रस्ताव करोगे तो तुम्हारा सिर गिर पड़ेगा। हे भगवन्! वह देवता कौन-सा है?॥४॥

भगवाँस्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति। तथेत्यथ तर्ह्येत
एव समतिसृष्टा स्तुवतां यावत्त्वेभ्यो धनं
दद्यास्तावन्मम दद्या इति, तथेति ह यजमान उवाच ॥३॥

भगवान् तु एव—(अब) आप ही तो, मे—मेरे, सर्वैः—सारे, आर्त्विज्यैः—ऋत्विक्-कर्मों के लिए हैं, इति—यह (राजा ने निवेदन किया), तथा इति—वैसा ही हो (मुझे स्वीकार है, यह उषस्ति ने कहा) अथ—अब, तर्हि—तो, एते—ये (ऋत्विक्), एव—ही, समतिसृष्टाः—(मुझ से) अनुज्ञात, प्रेरित, स्तुवताम्—स्तुति-कर्म करें, यावत्—जितना, तु—तो, एभ्यः—इनको, धनम्—धन (दक्षिणा), दद्याः—देगा, तावत्—उतना ही, मम—मुझे, दद्याः—देना, इति—यह (उषस्ति ने कहा), तथा इति—वैसे ही हो (मुझे स्वीकार है), ह—निश्चय से, यजमानः—यजमान (राजा) ने, उवाच—कहा ॥३॥

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद, प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति, मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥४॥

अथ ह—इसके बाद, एनम्—उसको (के), प्रस्तोता—प्रस्तोता, उपससाद—पास आकर बैठा, प्रस्तोतः—हे प्रस्तोता!, या देवता प्रस्तावम् अन्वायत्ता—जो देवता प्रस्ताव (साम-गान के प्रारम्भ करने) में ओत प्रोत है, ताम् चेद् अविद्वान् प्रस्तोष्यसि—उसको अगर न जानते हुए (तू) प्रस्ताव करेगा, मूर्धा ते विपतिष्यति—मस्तक तेरा गिर (झुर) जायगा, इति—यह (बात),

उषस्ति ने उत्तर दिया, 'प्राण' ही वह देवता है। ये सब भूत, ये सब प्राणी उस महा-प्राण भगवान् में ही अन्तकाल में प्रवेश करते हैं, और उत्पत्ति-काल में उसी से उत्पन्न होते हैं। जब किसी शुभ-कर्म का प्रस्ताव हो, प्रारम्भ हो, तो इस प्राण-देवता को प्रस्ताव में अनुगत समझो। अगर तू यह न जानकर स्तुति करता, तो तेरा सिर गिर जाता---मेरे कथन का यही अभिप्राय था ॥५॥

अब 'उद्गाता'-नामक ऋत्विक् ने उषस्ति के निकट आकर विनय-भाव से पूछा, भगवन्! आपने मुझे कहा था कि जो देवता उद्गीथ में सम्बद्ध है उसे न जानते हुए गान करोगे तो तुम्हारा सिर गिर पड़ेगा। हे भगवन्! वह देवता कौन-सा है? ॥६॥

मा—मुझ को; भगवान्—आपने; अवोचत्—कही थी; कतमा—कौन सी; सा—वह; देवता—देवता है; इति—यह (प्रस्तोता ने पूछा) ॥४॥

प्राण इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभि-
संविशन्ति, प्राणमभ्युज्जिहते, सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता,
तां चेदविद्वान्प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥५॥

प्राणः—(वह देवता) प्राण है; इति ह—ऐसे; उवाच—(उषस्ति ने) कहा; सर्वाणि—सारे; ह वै—ही; इमानि भूतानि—ये भूत; प्राणम्—प्राण को (में); एव—ही; अभिसंविशन्ति—(प्रलयकाल में) आराम (आश्रय) पाते हैं; प्राणम्—प्राण को (से); अभि+उत्—जिहते—(पुनः उत्पत्ति-काल में) उद्गत (उत्पन्न) होते हैं; सा एषा—वह यह; देवता—देवता; प्रस्तावम् अन्वायत्ता—प्रस्ताव (गान के आरम्भ) में अनुगत-सम्बद्ध-ओतप्रोत है; ताम् चेद् अविद्वान्—अगर उस (प्राण-देवता) को न जानता हुआ; प्रास्तोष्यः—तू प्रस्तुत (आरम्भ) कर देता (तो); मूर्धा—मस्तक; ते—तेरा; व्यपतिष्यत्—गिर (झुक) जाता; तथा+उक्तस्य—वैसे कहे हुए; मया—मेरे द्वारा; (तथा+उक्तस्य मया—मेरे द्वारा ऐसा कहे जाने पर); इति—यह (उषस्ति ने कहा) ॥५॥

अथ हैनमुद्गातोपससादोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानु-
द्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति, मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥६॥

अथ ह—इसके बाद; एनम्—इसके; उद्गाता—उद्गाता (उच्च स्वर से गानेवाला); उपससाद—पास आकर बैठा; उद्गातः—हे उद्गाता!; या देवता—जो देवता; उद्गीथम्—उद्गीथ को (में); अन्वायत्ता—सम्बद्ध है; ताम् चेद् अविद्वान्—उस (देवता) को अगर न जानते हुए; उद्गास्यसि—

उषस्ति ने उत्तर दिया, 'आदित्य' ही वह देवता है। ये सब भूत ऊपर चढ़ते हुए सूर्य की महिमा का गान करते हैं। उद्गीथ के साथ आदित्य का सम्बन्ध है क्योंकि जैसा पहले कह चुके हैं भौतिक-जगत् में आदित्य उद्गीथ का प्रतीक है। अगर तू यह न जानकर स्तुति करता, तो तेरा सिर गिर जाता—मेरे कथन का यही अभिप्राय था ।।७।।

('अध्यात्म', अर्थात् शरीर—पिंड—में 'प्राण' तथा 'अधिदैवत', अर्थात् सृष्टि—ब्रह्मांड—में 'आदित्य' को उद्गीथ का प्रतीक पहले भी कहा है। वही बात यहां कही गई है। पिंड में प्राण तथा ब्रह्मांड में आदित्य दोनों उद्गीथ के प्रतीक हैं।)

अब 'प्रतिहर्ता'-नामक ऋत्विक् ने उषस्ति के निकट आकर विनय-भाव से पूछा, भगवन्! आपने मुझे कहा था कि जो देवता प्रतिहार-कर्म से सम्बद्ध है उसे न जानते हुए अगर प्रतिहार-कर्म

तू उच्च स्वर से गान करेगा (तो); मूर्धा ते विपतिष्यति—तेरा सिर (मस्तक) गिर (झुक) जायगा; इति—यह (बात); मा—मुझको, भगवान्—आदरणीय आपने, अवोचत्—कही थी; कतमा—कौन सी, सा देवता—वह देवता है; इति—यह (मुझे बताइये) ।।६।।

आदित्य इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्या-
दित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति, सैषा देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां
चेदविद्वानुदगास्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ।।७।।

आदित्य—आदित्य (वह देवता है), इति ह—ऐसे, उवाच—(उषस्ति ने) कहा; सर्वाणि ह वै इमानि भूतानि—सारे ही ये पंच महाभूत व प्राणी, आदित्यम्—सूर्य को (का), उच्चैः—ऊंचे, उच्च स्थान पर, सन्तम्—होने वाले, वर्तमान, गायन्ति—गान करते हैं, सा एषा—वह यह (आदित्य), देवता—देवता; उद्गीथम्—उच्च स्वर से किये साम-गान में; अन्वायत्ता—सबद्ध है, ताम् चेद् अविद्वान्—उस (आदित्य-देवता) को अगर न जानते हुए, उद्+अगास्यः—तू उच्च स्वर से गान कर देता (तो), मूर्धा—मस्तक, ते—तेरा, व्यपतिष्यत्—गिर (झुक) जाता, तथा+उक्तस्य मया—मेरे द्वारा ऐसे कहे जाने पर, इति—यह (उषस्ति ने उत्तर दिया) ।।७।।

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद, प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहार-
मन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते
विपतिष्यतीति, मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ।।८।।

अथ ह—इसके बाद, एनम्—इस (उषस्ति) के, प्रतिहर्ता—प्रतिहार

करोगे तो तुम्हारा सिर गिर पड़ेगा। हे भगवन्! वह देवता कौन-सा है? ॥८॥

उषस्ति ने उत्तर दिया, 'अन्न' ही वह देवता है। सब भूत अन्न का प्रतिहरण—ग्रहण करते हुए ही जीवित हैं। प्रतिहार का अनुगत देवता अन्न ही है। उसे न जानते हुए अगर तुम प्रतिहार-कर्म करते, तो तुम्हारा सिर गिर पड़ता—मेरे कथन का यही अभिप्राय था, मेरे कथन का यही अभिप्राय था ॥९॥

(यज्ञ में तीन ऋत्विक् होते हैं—प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्ता। ये तीनों शब्द-जाल में ही न फंसें, भाव को मुख्य रखें, 'देवता' का ज्ञान रखते हुए कार्य करें। देवता शरीर—पिंड—की दृष्टि से 'प्राण' हैं, सृष्टि—ब्रह्मांड—की दृष्टि से 'आदित्य' है, परन्तु हैं ये

(गान का उतार) करनेवाला; **उपससाद**—पास आकर बैठा; **प्रतिहर्तः**—हे प्रतिहर्ता (गान का उतार—धीमा—करनेवाले)!; **या देवता**—जो देवता; **प्रतिहारम्**—गान के उतराव (उपसंहार) में; **अन्वायत्ता**—सम्बद्ध है, ओत-प्रोत है; **ताम् चेद् अविद्वान्**—उस (देवता) को अगर न जानता हुआ; **प्रतिहरिष्यसि**—तू गान का उपसंहार करेगा (तो); **मूर्धा ते विपतिष्यति**—तेरा मस्तक गिर (झुक) जायगा; **इति**—यह (वचन); **मा भगवान् अवोचत्**—मुझको पूजनीय आपने कहा था; **कतमा सा देवतः**—वह देवता कौन-सी है; **इति**—यह (मुझे बताइये) ॥८॥

अन्नमिति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति, सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रत्यहरिष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति तथोक्तस्य मयेति ॥९॥

अन्नम्—(प्रतिहार में अन्वायत्त वह देवता) अन्न (भोग) है; **इति ह उवाच**—यह (उपस्ति ने) कहा; **सर्वाणि ह वै इमानि भूतानि**—सारे ही ये चर-अचर प्राणी; **अन्नम् एव**—अन्न के ही; **प्रतिहरमाणानि**—प्रति झुकते (उतरते) हुए या ग्रहण करते हुए; **जीवन्ति**—जीवित रहते हैं; **सा एषा देवता**—वह यह (अन्न) देवता; **प्रतिहारम् अन्वायत्ता**—प्रतिहार से सम्बद्ध (ओत-प्रोत) है; **ताम् चेद् अविद्वान्**—उस (प्रतिहार से सम्बद्ध देवता) को अगर न जानता हुआ; **प्रत्यहरिष्यः**—तू प्रतिहार (गान का उतराव) कर देता (तो); **मूर्धा ते व्यपतिष्यत्**—तेरा मस्तक गिर (झुक) जाता; **तथोक्तस्य मया**—मेरे वैसे कहे जाने पर; **इति**—यह (उपस्ति ने बताया) ॥९॥

दोनों 'उद्गीथ' के प्रतीक । अर्थात्, पिंड में प्राण तथा ब्रह्मांड में आदित्य के सहारे उद्गीथ की उपासना करे। परन्तु इस उपासना में शरीर को न भूले, इसलिए ऋषि ने 'प्रस्तोता' तथा 'उद्गाता' को ओंकारोपासना का प्रतिनिधि बताकर 'प्रतिहर्ता' को शरीर की रक्षा करने वाले अन्न का प्रतिनिधि बताया है। अन्न की महिमा ऋषि ने अपने जीवन से भी प्रकट कर दी है—जब कुछ भी न मिला तब उच्छिष्ट भी आपद्धर्म समझकर शरीर-रक्षार्थ खा लिया। पानी क्योंकि हर जगह मिल जाता है अत: जूठे उड़द लेकर भी जूठा पानी लेने से इनकार कर दिया। इसका यही अर्थ है कि अगर वहाँ जल न मिलता और उसके कारण प्राण संकट में होते, तो जूठा जल भी पी लेना उषस्ति चाक्रायण की दृष्टि में आपद्धर्म होता।)

प्रथम प्रपाठक—(बारहवां खंड)

ऋषि-मुनि जिस प्रकार 'उद्गीथ' की उपासना करते हैं उसका वर्णन कर चुकने पर छान्दोग्य-उपनिषद् के रचयिता कहते हैं कि मनुष्य क्या, पशु-जगत् भी उद्गीथ की उपासना कर रहा है। उदाहरण के तौर पर 'शौव-उद्गीथ' का वर्णन करते हैं—'श्वा', अर्थात् कुत्ता भी उद्गीथ का ही मानो गान कर रहा है। आख्यायिका के तौर पर कहते हैं कि एक बार बक दाल्भ्य या शायद मित्रा का पुत्र ग्लाव इन दोनों में से कोई एक स्वाध्याय के लिए एकांत-स्थान में गया ॥१॥

अथातः शौव उद्गीथस्तद्ध बको दाल्भ्यो
ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्वव्राज ॥१॥

अथ अतः—अब इससे (आगे) शौव—श्वा (कुत्ता) सम्बन्धी, उद्गीथ—उद्गीथ (का वर्णन) है तत्—ता, ह—एक बार, बक—बक-नामधारी, दाल्भ्य—दल्भ-गोत्री, ग्लाव—ग्लाव-नामी वा—या, मैत्रेय—मित्रा का पुत्र, स्वाध्यायम्—स्वाध्याय को (के लिए), उद्वव्राज—(बस्ती से बाहर एकान्त स्थान में) गया ॥१॥

वहां उसने क्या देखा कि एक सफ़ेद कुत्ता उसके सामने आया। दूसरे कई कुत्ते, उस सफ़ेद कुत्ते के समीप आकर उसे कहने लगे, हे भगवन्! ऐसा गाना गाओ जिससे हमें अन्न-प्राप्ति हो, क्योंकि हम भूखे हैं ॥२॥

सफ़ेद कुत्ते ने उन्हें कहा, कल प्रातःकाल मेरे समीप आना। बक दाल्भ्य या शायद मित्रा का पुत्र ग्लाव यह-सब देख रहा था। वह भी वहीं पर अगले दिन की प्रतीक्षा करने लगा ॥३॥

उसने अगले दिन क्या देखा कि जैसे उद्गाता लोग बहिष्पवमान स्तोत्र से प्रभु का स्तुति-गान करते हुए इकट्ठे चलते हैं, वैसे ही वे सब कुत्ते इकट्ठे आकर बैठकर 'हिंकार' करने लगे—मानो ओंकारोपासना कर रहे हों, उद्गीय-गान कर रहे हों ॥४॥

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव, तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुरन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति ॥२॥

तस्मै—उसके लिये (के सामने); **श्वा**—कुत्ता; **श्वेतः**—श्वेत वर्ण का; **प्रादुर्बभूव**—प्रगट हुआ, सामने दीखा; **तम्**—उस (कुत्ते) को; **अन्ये**—दूसरे; **श्वानः**—कुत्ते; **उपसमेत्य**—पास आकर; **ऊचुः**—बोले; **अन्नम्**—अन्न (भोज्य-पदार्थ); **नः**—हमारे लिए; **भगवान्**—आदरणीय आप; **आगायतु**—गान करें, प्रार्थना करें, प्राप्त करायें; **अशनायामः**—(हम) भूख से पीड़ित हैं; **वै**—निश्चय से; **इति**—यह (कुत्तों ने कहा) ॥२॥

तान्होवाचेहैव मा प्रातरुपसमीयातेति, तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयांचकार ॥३॥

तान् ह—उन (कुत्तों) को; **उवाच**—(श्वेत कुत्ते ने) कहा; **इह**—यहां, इस स्थान पर; **एव**—ही; **मा**—मुझको; **प्रातः**—प्रातःकाल में; **उपसमीयात**—पास आकर मिलो; **इति**—यह (वचन कहा); **तद् ह**—उस (वचन या समय) को; **बकः दाल्भ्यः ग्लावः वा मैत्रेयः**—दल्भ-गोत्री बक या मित्रा का पुत्र ग्लाव; **प्रतिपालयाञ्चकार**—प्रतीक्षा करने लगा, या पालन किया ॥३॥

ते ह यथैवेदं बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणाः संरब्धाः सर्पन्तीत्येवमाससृपुस्ते ह समुपविश्य हिंचक्रुः ॥४॥

ते ह—वे (कुत्ते); **यथा एव इदम्**—जैसे यह (उपमा, उदाहरण) है; **बहिष्पवमानेन**—बहिष्पवमान नामी स्तोत्र से; **स्तोष्यमाणाः**—स्तुति करने की चाहना वाले; **संरब्धाः**—एकत्र हुए (समूह रूप में); **सर्पन्ति**—सरकते हैं; धीरे धीरे चलते हैं; **इति एवम्**—इस ही प्रकार; **आससृपुः**—पास आ गये; **ते ह**—

कुत्तो से एक ध्वनि निकल रही थी—'ओम्' की कृपा से हम खाते हैं, 'ओम्' की कृपा से हम पीते हैं, देव, वरुण, प्रजापति, सविता हमारे लिये अन्न यहां लाते हैं। अन्न के स्वामिन् 'ओम्'! हमें अन्न दीजिये ॥५॥

प्रथम प्रपाठक—(तेरहवां खंड)

साम-गान में 'हाउ'—'हाइ'—'औ होहाई'—इत्यादि अक्षर मन्त्रपाठ के भीतर गाये जाते हैं। कुत्ते के हिंकार में भी इसी प्रकार की ध्वनियां निकलती हैं। ऋषि-मुनियो तथा जीव-जन्तुओ की इन ध्वनियो को, उपासक, प्रभु के भिन्न-भिन्न रूपो के स्मरण के रूप में अनुभव करता है। 'हाउ' मानो इस पृथिवी-लोक की महिमा का गान है, 'हाइ' मानो प्रभु की देन वायु की महिमा का गान है, 'अथ' चन्द्रमा का, 'इह' आत्मा का, 'ई' अग्नि का स्मरण है ॥१॥

और वे, समुपविश्य—इकट्ठे बैठ कर, हिंचक्रु—हिंकार (उद्गीथ का एक भेद) करने लगे ॥४॥

ओ ३ मदा३ मों ३ पिबा ३ मो३ देवो वरुण प्रजापति
सविता३न्नमिहा २ऽऽहरदन्नपते ३ ऽन्नमिहा२ऽऽहरा२ऽऽहरो३मिति ॥५॥

ओम्—हे परमेश्वर, अदाम—हम खायें, भोजन करें, ओम्—हे ईश्वर, पिबाम—हम जल पियें, ओम्—हे ईश्वर, देव—दिव्यगुणयुक्त, देदीप्यमान, वरुण—वरण करने योग्य या नियन्ता, प्रजापति—चर-प्राणियो का रक्षक, सविता—सब का उत्पन्न करने वाला और सब का प्रेरक (भगवान्), अन्नम्—अन्न को, इह—यहां (इस स्थान या काल में), आहरत्—प्राप्त करावे, प्रदान करे, अन्नपते—हे अन्न के पति (भण्डार), अन्नम्—अन्न, इह—यहां, आ हर—प्रदान कर, आ हर—प्राप्त करा, ओम्—हे ईश्वर, इति—इस प्रकार से (हिंकार करने लगे) ॥५॥

अयं वाव लोको हाउकारो, वायुर्हाइकारश्चन्द्रमा
अथकार आत्मेहकारोऽग्निरीकार ॥१॥

अयम्—यह, वाव—ही, लोक—(पृथिवी) लोक, हाउकार—(उद्गीथ का) 'हाउ'-कार है। वायु—वायु, हाइकार—'हाइ'-कार है, चन्द्रमा—चन्द्रमा, अथकार—'अथ'-कार है, आत्मा—आत्मा (जीवात्मा), इहकार—'इह'-कार (है), अग्नि—अग्नि, ईकार—'ई'-कार है ॥१॥

'ऊ' आदित्य का, 'ए' आह्वान का, 'औहोई' विश्वदेव का, 'हिं' प्रजापति का, 'स्वर' प्राण का, 'विराट्' अन्न एवं वाणी का मानो स्मरण है ॥२॥

उक्त बारह प्रकार के स्वरों का वर्णन करने के अनन्तर तेरहवें स्वर 'हुंकार' के विषय में कहते हैं कि यह स्वर अनिर्वचनीय, सर्व-संचारी परब्रह्म का स्मरण कराता है ॥३॥

वाणी के सार को जो समझ जाता है उसके लिये वाणी स्वयं दूध झर देती है। न समझने वाले के लिये ऋषि-मुनियों तथा जीव-जन्तुओं के 'हिंकार' आदि निरर्थक शब्द हैं, परन्तु समझने वाले के लिये ये शब्द ही प्रभु की महिमा का बखान कर रहे हैं। जो इस प्रकार साम-गान की इस उपनिषद् को जानता है, हां, उपनिषद् को जानता है, वह अन्नवान् हो जाता है, अन्नाद हो जाता है ॥४॥

आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औहोइकारः
प्रजापतिर्हिंकारः प्राणः स्वरोऽन्नं या वाग्विराट् ॥२॥

आदित्यः—आदित्य (सूर्य); ऊकारः—'ऊ'-कार है; निहवः—आह्वान (पुकारना); एकारः—'ए'-कार है; विश्वेदेवाः—विश्वेदेव (समस्त देव); औहोइकारः—'औहोइ'-कार है; प्रजापतिः—प्रजापति (जग-पालक); हिंकारः—'हिं'-कार है; प्राणः—प्राण; स्वरः—'स्वर' है; अन्नम्—अन्न; या—'या'-कार है; वाग्—वाणी; विराट्—'विराट्' है ॥२॥

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः संचरो हुंकारः ॥३॥

अनिरुक्तः—अनिर्वचनीय, अनिर्दिष्ट (पर-ब्रह्म) ही; त्रयोदशः—तेरहवां; स्तोभः—साम-गान में लय के लिए प्रयुक्त 'हाई'-'ई' आदि शब्द; संचरः—संचरणशील, सर्वसंचारी (पिछले बारह स्तोभों में भी प्रयुक्त होनेवाला); हुंकारः—'हुं'-कार है ॥३॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य
एतामेवं साम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद इति ॥४॥

दुग्धे—दोहती है, प्रदान करती है, प्रत्यक्ष कराती है; अस्मै—इस (उपासक) के लिए; वाग्—वाणी, सरस्वती; दोहम्—दूध को, सार (तत्त्व) को; यः—जो; वाचः—वाणी का; दोहः—दूध, सार है; अन्नवान्—अन्न का पति; अन्नादः—अन्न का भोक्ता; भवति—हो जाता है; यः—जो; एताम्—इस; एवम्—इस प्रकार; साम्नाम्—साम-गानों के; उपनिषदम्—रहस्य को; वेद—जानता है; उपनिषदम् वेद—रहस्य (विद्या) को जानता है (वचन की द्विरुक्ति आदरार्थ व प्रपाठक-समाप्ति-सूचनार्थ है) ॥४॥

द्वितीय प्रपाठक—(पहला खंड)

(संसार में मानो सर्वत्र पचविध या सप्तविध साम-गान हो रहा है, १ से १० खड)

प्रथम प्रपाठक में साम के मुख्य-विषय 'उद्गीथोपासना' का वर्णन किया, अब सम्पूर्ण 'साम' के विषय में ऋषि अपने उद्गार प्रकट करते हैं। ऋषि कहते हैं—उद्गीथ की उपासना तो ठीक है ही, परन्तु समस्त साम की उपासना भी साधु है। संसार में जो 'साधु' अच्छी—वस्तु होती है उसे 'साम' कहते हैं, जो 'असाधु' वस्तु होती है उसे 'असाम' कहते हैं ॥१॥

'साम से ऋचा को इसने गाया' का अभिप्राय होता है, साधु प्रकार से गाया; 'असाम से गाया' का अर्थ होता है, असाधु प्रकार से गाया ॥२॥

लोक-व्यवहार में, जब कोई कार्य 'साधु' हुआ हो, तब कहते हैं कि यह 'साम' हुआ, जब कोई कार्य 'असाधु' हुआ हो, तब कहते हैं कि यह 'असाम' हुआ ॥३॥

ॐ समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु। यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु तदसामेति ॥१॥

ओम्—ईश्वर का मगल नाम स्मरण कर, समस्तस्य—सम्पूर्ण (सब प्रस्ताव आदि अग-प्रत्यगों से युक्त), खलु—निश्चय से, साम्न—साम-गान का, उपासनम्—उपासना, सेवन, अनुष्ठान, साधु—अच्छा (उचित होता है), यत्—जो, खलु—ही, साधु—अच्छा, उचित (होता है), तत्—उसको, साम इति—साम (इस विशेषण रूप में), आचक्षते—कहते हैं, यद्—जो, असाधु—बुरा, अनुचित (होता है), तद्—उसको, असाम—असाम (विशेषण पूर्वक), इति—ऐसे (कहते हैं) ॥१॥

तदुताप्याहुः। साम्नैनमुपागादिति, साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः, असाम्नैनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहु ॥२॥

तद्—तो, उसको, उत—या, अपि—भी, आहु—कहते हैं, साम्ना—साम से, एनम्—इसके, उपागात्—पास गया, इति—यह, साधुना—उचित (रीति) से, एनम् उपागात्—इसके पास गया, इति—इस (अर्थ में), एव—ही, तद्—उस (पूर्व वाक्य) को, आहु—कहते हैं (प्रयुक्त करते हैं), असाम्ना—अनुचित रीति से, एनम् उपागाद्—इसके पास गया, इति—यह, असाधुना एनम् उपागात्—अनुचित रीति से इसके पास गया, इति एव—इस (अर्थ) में ही, तद् आहुः—उस (पूर्व वाक्य) को कहते (प्रयुक्त करते) हैं ॥२॥

अथोताप्याहुः। साम नो बतेति यत्साधु भवति साधु बतेत्येव तदाहुरसाम नो बतेति यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहु ॥३॥

जो साम-महिमा को जानता हुआ साम को 'साधु' समझ कर उसकी उपासना करता है उसे शीघ्र ही संसार का साधु-भाव प्राप्त होता है, मानो संसार उसके सामने झुक जाता है ॥४॥

द्वितीय प्रपाठक––(दूसरा खंड)

(यज्ञ में साम को ५ हिस्सों में बांटा गया है––१. हिंकार, २. प्रस्ताव, ३. उद्गीथ, ४. प्रतिहार तथा ५. निधन। किसी वस्तु के प्रारंभ का विचार 'हिंकारावस्था' है; उसका प्रारम्भ कर देना 'प्रस्तावावस्था' है; उसे प्रारंभ करने के बाद शिखर पर पहुंच जाना 'उद्गीथावस्था' है; फिर नीचे उतरना 'प्रतिहारावस्था' है; उसका समाप्त हो जाना 'निधनावस्था' है। इस उपनिषद् में क्योंकि साम-गान को आधार बनाया गया है, अतः गान के समय गले को 'हिं' से जो साफ़ किया जाता है, वह 'हिंकार' है, गाना प्रारंभ करना 'प्रस्ताव' है, गाते हुए उच्च-स्वर में पहुंच जाना 'उद्गीथ' है, फिर धीमे स्वर में आ जाना 'प्रतिहार' है, और गाना समाप्त हो जाना 'निधन' है। इसी रूप में विश्व में सब जगह साम की संगीत-लहरी को थिरकता हुआ अनुभव करे। ऐसा देखे जैसे सब जगह से साम-गान की ध्वनि उठ रही है, और वह उक्त पांचों क्रमों में से गुज़र रही है।)

अथ उत अपि आहुः––और (लोक में) ऐसा जो कहते हैं (कि); **साम**––'साम'; **नः**––हमारे लिए; **बत**––काफ़ी; **इति**––यह (जो कहते हैं); **यत्**––जो; **साधु**––अच्छा, उचित; **भवति**––होता है; **साधु**––अच्छा; **बत**––पर्याप्त; **इति एव**––यह ही, इस रूप (अर्थ) में ही; **तद्**––उस (पूर्व वाक्य) को; **आहुः**––कहते हैं; **असाम नः बत**––यह हमारे लिये 'असाम' है; **इति**––ऐसे (जो कहा जाता है); **यद्**––जो; **असाधु भवति**––अनुचित होता है; **असाधु बत**––बहुत अनुचित; **इति एव**––इस रूप (अर्थ) में ही; **तद्**––उस (पूर्ववाक्य के 'असाम') को; **आहुः**––कहते हैं (प्रयुक्त करते हैं) ॥३॥

स य एतदेवं विद्वान्साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह
यदेनँ साधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः ॥४॥

सः यः––वह जो; **एतद्**––इसको; **एवम् विद्वान्**––इस प्रकार जानता हुआ; **साधु**––ठीक, उचित, सम्पूर्ण; **साम**––साम की; **इति**––इस प्रकार;

इन लोकों को देखे, तो पंच-विध साम की उपासना करे, यह अनुभव करे मानो ये साम-मय होकर प्रभु की उपासना में लीन हैं। पृथिवी मानो साम-गान का 'हिंकार' है, अग्नि मानो 'प्रस्ताव' है, अन्तरिक्ष मानो 'उद्गीथ' है, आदित्य मानो 'प्रतिहार' है, द्यौः मानो 'निधन' है। यह नीचे से ऊपर चढते हुए लोकों की सामोपासना है ॥१॥

ऊपर से नीचे उतरते हुए लोकों की सामोपासना इस प्रकार है—द्यौः मानो 'हिंकार' है, आदित्य मानो 'प्रस्ताव' है, अन्तरिक्ष मानो 'उद्गीथ' है, अग्नि मानो 'प्रतिहार' है, पृथिवी मानो 'निधन' है ॥२॥

उपास्ते—उपासना करता है; अभ्याशः ह—समीप ही है (निकट भविष्य में), यद्—कि; एनम्—इस (उपासक) को, साधवः—सज्जन पुरुष, धर्माः—धर्म की भावनाएं; या साधवः धर्माः—उचित (शास्त्र प्रतिपादित) धर्म (अभ्युदय-निःश्रेयस के साधन); च—और, आगच्छेयुः—आवें, प्राप्त होवें; च—और, उप नमेयुः—इसके प्रति झुकें (उन्मुख हों—उनमें उपासक की प्रीति और बढ़े) ॥४॥

लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत। पृथिवी हिंकारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु ॥१॥

लोकेषु—लोकों (पृथिवी आदि) में, पञ्चविधम्—पांच प्रकार के, साम—समस्त साम-गान की, उपासीत—उपासना करे (समझे, देखे, विचारे), पृथिवी—पृथिवी (लोक), हिंकारः—'हिं'-कार है, अग्निः—अग्नि (तैजस लोक), प्रस्तावः—'प्रस्ताव' (है), अन्तरिक्षम्—अन्तरिक्ष (लोक), उद्गीथः—'उद्गीथ' है, आदित्यः प्रतिहारः—आदित्य (लोक) 'प्रतिहार' (साम) है; द्यौः—द्यु-लोक, निधनम्—'निधन'-साम (समाप्ति, अन्त) है, इति—यह (भावना); ऊर्ध्वेषु—(नीचे से) ऊपर (होने वाले) लोकों में (करे) ॥१॥

अथावृत्तेषु। द्यौर्हिंकार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ॥२॥

अथ—और, आवृत्तेषु—(ऊपर से नीचे) लौटते लोकों में (इस प्रकार साम-भावना करे); द्यौः हिंकारः—द्यु-लोक 'हिंकार' है, आदित्यः प्रस्तावः—आदित्य लोक 'प्रस्ताव' है, अन्तरिक्षम् उद्गीथः—अन्तरिक्ष लोक 'उद्गीथ' है, अग्निः प्रतिहारः—अग्नि (तैजस लोक) 'प्रतिहार' है; पृथिवी निधनम्—पृथिवी-लोक 'निधन' (मृत्यु, समाप्ति, अन्त) है ॥२॥

जो इस प्रकार सामोपासना को जानता हुआ लोकों में पंच-विध साम की उपासना करता है, उसे ऊर्ध्वमुखी तथा अधोमुखी लोक उपभोग-सामग्री देते हैं ॥३॥

द्वितीय प्रपाठक—(तीसरा खंड)

वृष्टि को देखे, तो पंच-विध साम की उपासना करे, यह अनुभव करे मानो यह साम-मयी होकर प्रभु की उपासना में लीन है। वर्षा से पहले चलने वाला शीतल पवन मानो साम-गान का 'हिंकार' है, मेघ का उत्पन्न हो जाना मानो 'प्रस्ताव' है, वर्षा पड़ना मानो 'उद्गीथ' है, चमकना और गरजना मानो 'प्रतिहार' है ॥१॥

पानी पड़ते हुए बन्द हो जाना मानो 'निधन' है। जो इस प्रकार जानता हुआ वृष्टि में पंच-विध साम की उपासना करता है, उसके

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च य
एतदेवं विद्वांल्लोकेषु पञ्चविधं सामोपास्ते ॥३॥

कल्पन्ते—(फल-सिद्धि में) समर्थ होते हैं (फलप्रद होते हैं); **ह**—अवश्य; **अस्मै**—इस (उपासक) के लिए; **लोकाः**—(ये) लोक; **ऊर्ध्वाः**—नीचे से ऊपर की ओर गिने जाने वाले (प्रथम प्रकार से); **च**—और; **आवृत्ताः**—ऊपर से नीचे की ओर लौटने वाले (द्वितीय प्रकार से); **च**—और; **यः**—जो; **एतद्**—इस; **एवम् विद्वान्**—इस प्रकार जानता हुआ; **लोकेषु**—लोकों में (लोकों के विषय में); **पञ्चविधम्**—पांच प्रकार के; **साम**—साम (की); **उपास्ते**—उपासना करता है ॥३॥

वृष्टौ पञ्चविधं सामोपासीत। पुरोवातो हिंकारो मेघो जायते
स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः ॥१॥

वृष्टौ—वर्षा में; **पञ्चविधम् साम उपासीत**—पाँच प्रकार के साम की उपासना करे; **पुरोवातः**—पूर्व दिशा की वायु; **हिंकारः**—'हिं'-कार' है; **मेघः**—(जो) बादल; **जायते**—पैदा होता है (बन जाता है); **सः**—वह; **प्रस्तावः**—'प्रस्ताव' है; **वर्षति**—(जब) बरसता है; **सः**—वह; **उद्गीथः**—'उद्गीथ' है; **विद्योतते**—बिजली चमकती है; **स्तनयति**—गरजता है; **सः**—वह; **प्रतिहारः**—'प्रतिहार' है ॥१॥

उद्गृह्णाति तन्निधनं वर्षति हास्मै वर्षयति ह
य एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते ॥२॥

लिये चारों तरफ आनन्द की वर्षा होती है, और वह दूसरों के लिये आनन्द की वर्षा करता है ॥२॥

द्वितीय प्रपाठक—(चौथा खंड)

जलों को देखे, तो पंच-विध साम की उपासना करे, यह अनुभव करे मानो वे साम-मय होकर प्रभु की उपासना में लीन हैं। मेघ की घटा का उठना मानो साम-गान का 'हिंकार' है, बरसना मानो 'प्रस्ताव' है, जलों का पूर्व-दिशा में बहता हुआ प्रवाह मानो 'उद्गीथ' है, पश्चिम को बहने वाले जल मानो 'प्रतिहार' है, समुद्र मानो 'निधन' है ॥१॥

जो इस प्रकार जलों को प्रभु के गान में लीन—मानो वे साम-गान कर रहे हों—ऐसा समझता है, और जलों में पंच-विध साम की उपासना करता है, उसे जल कोई हानि नहीं पहुंचाते, वह जलों पर विजय पा लेता है ॥२॥

उद्गृह्णाति—उद्ग्रह (डकार लेना, समाप्ति) करता है, तत्—वह, निधनम्—'निधन' है। वर्षति—बरसता है, ह—निश्चय से, अस्मै—इसके लिए, वर्षयति—वर्षा करवाता है, ह—निश्चय से, य—जो, एतद्—इस, एवम् विद्वान्—इस प्रकार जानता हुआ, वृष्टौ—वर्षा में, पञ्चविधम् साम उपास्ते—पांच प्रकार के साम की उपासना (भावना) करता है ॥२॥

सर्वास्वप्सु पञ्चविधँ सामोपासीत। मेघो यत्संप्लवते
स हिंकारो यद्वर्षति स प्रस्तावो या प्राच्यः स्यन्दन्ते ॥
उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम् ॥१॥

सर्वासु—सब, अप्सु—जलों में, पञ्चविधम् साम उपासीत—पांच प्रकार के साम की उपासना (भावना) करे, मेघः—बादल, यत्—जो संप्लवते—घना हो जाता है, स हिंकारः—वह 'हिंकार' है, यद् वर्षति—जो बरसता है स प्रस्तावः—वह 'प्रस्ताव' है, याः—जो (जल धाराएं), प्राच्यः—पूर्व दिशा की ओर, स्यन्दन्ते—बहती हैं, स उद्गीथः—वह 'उद्गीथ' है, याः—जो (जल-धारायें), प्रतीच्यः—पश्चिम दिशा की ओर (बहती हैं), सः प्रतिहारः—वह 'प्रतिहार' है, समुद्र निधनम्—समुद्र निधन है ॥१॥

न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान्भवति य एतदेवं
विद्वान्सर्वास्वप्सु पञ्चविधँ सामोपास्ते ॥२॥

न ह—नहीं ही, अप्सु—जलों में, प्रैति—(डूब कर) मरता है, अप्सुमान्—जलों का स्वामी (अधिष्ठाता), भवति—हो जाता है, यः—जो,

द्वितीय प्रपाठक—(पांचवां खंड)

ऋतुओं को देखे, तो पंच-विध साम की उपासना करे, यह अनुभव करे मानो वे साम-मय होकर प्रभु की उपासना में लीन हैं। वसंत मानो 'हिंकार' है, ग्रीष्म मानो 'प्रस्ताव' है, वर्षा मानो 'उद्गीथ' है, शरत् मानो 'प्रतिहार' है, हेमन्त मानो 'निधन' है। यह समझे मानो ऋतुएं हरि-कीर्तन कर रही हैं ॥१॥

जो इस प्रकार पांचों ऋतुओं को प्रभु की उपासना में लीन देखता है और ऋतुओं में पंच-विध साम की उपासना करता है उसे ऋतुओं के सब भोग प्राप्त होते हैं, वह ऋतुमान् हो जाता है ॥२॥

द्वितीय प्रपाठक—(छठा खंड)

पशुओं में पंच-विध साम की उपासना करे, यह अनुभव करे कि मानो वे साम-मय होकर प्रभु की उपासना में लीन हैं। अजा मानो

एतद्—इस; एवम् विद्वान्—इस प्रकार जानता हुआ; सर्वासु अप्सु—सब प्रकार के जलों में; पञ्चविधम् साम उपास्ते—पाँच प्रकार के साम की उपासना (भावना) करता है।२॥

ऋतुषु पञ्चविधँ सामोपासीत। वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः
प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् ॥१॥

ऋतुषु—ऋतुओं (के विषय) में; पञ्चविधम् साम उपासीत—पाँच प्रकार के साम की उपासना (भावना) करे; वसन्तः हिंकारः—वसन्त (ऋतु) 'हिंकार' है; ग्रीष्मः प्रस्तावः—ग्रीष्म (ऋतु) 'प्रस्ताव' है; वर्षाः—वर्षा (ऋतु); उद्गीथः—'उद्गीथ' है; शरत् प्रतिहारः—शरद् ऋतु 'प्रतिहार' है; हेमन्तः निधनम्—हेमन्त (ऋतु) 'निधन' है ॥१॥

कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान्भवति य
एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविधँ सामोपास्ते ॥२॥

कल्पन्ते—समर्थ होते हैं, फल-प्रद होते हैं; ह—अवश्य; अस्मै—इस (ऋतु-साम के उपासक) के लिए; ऋतवः—ऋतुएं; ऋतुमान्—ऋतुओं पर विजयी; भवति—होता है; यः एतत् एवम् विद्वान्—जो इसको इस प्रकार जानता हुआ; पञ्चविधम् साम उपास्ते—पाँच प्रकार के साम की उपासना (भावना) करता है ॥२॥

पशुषु पञ्चविधँ सामोपासीताजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो
गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनम् ॥१॥

'हिंकार' है, अवि (भेड़) मानो 'प्रस्ताव' है, गौएं 'उद्गीथ' है, अश्व 'प्रतिहार' है, पुरुष 'निधन' है ॥१॥

जो इस प्रकार पशुओं को प्रभु की उपासना में लीन देखता है, और पशुओं में पंच-विध साम की उपासना करता है, उसके लिये पशु सुख देने वाले हो जाते हैं, वह पशुमान् हो जाता है ॥२॥

द्वितीय प्रपाठक—(सातवां खंड)

प्राणों में पंच-विध साम की उपासना करे, यह अनुभव करे कि जैसे प्राण 'परोवरीय' हैं—एक-दूसरे की अपेक्षा बड़े हैं—फिर भी वे साम-मय होकर प्रभु की उपासना में लीन हैं, वैसे उपासक के प्राण साम-रूप होकर प्रभु की भक्ति करें। प्राण मानो 'हिंकार' है, वाक् मानो 'प्रस्ताव' है, चक्षु 'उद्गीथ' है, श्रोत्र 'प्रतिहार' है, मन 'निधन' है—ये सभी एक-दूसरे की अपेक्षा बड़े हैं ॥१॥

पशुषु—पशुओं में; पञ्चविधम् साम उपासीत—पाँच प्रकार के साम की उपासना (भावना) करे; अजाः—बकरियां, हिंकारः—'हिंकार' हैं, अवयः—भेड़ें, प्रस्ताव—'प्रस्ताव' हैं; गावः उद्गीथः—गौएं 'उद्गीथ' हैं, अश्वाः—घोड़े, प्रतिहारः—'प्रतिहार' हैं; पुरुषः—मनुष्य, निधनम्—'निधन' है ॥१॥

भवन्ति हास्य पशवः पशुमान्भवति य एतदेवं
विद्वान्पशुषु पञ्चविधं सामोपास्ते ॥२॥

भवन्ति—(प्राप्त) होते हैं, ह—अवश्य, अस्य—इस (उपासक) के, पशवः—पशु-समूह; पशुमान्—पशुओं का स्वामी, भवति—होता है, यः—जो; एतद्—इस; एवम् विद्वान्—इस प्रकार जानता हुआ, पशुषु—पशु-वर्ग में; पञ्चविधम् साम उपास्ते—पांच प्रकार के साम की उपासना (भावना-विचार) करता है ॥२॥

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत । प्राणो हिंकारो वाक्प्रस्ताव-श्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनं परोवरीयांसि वैतानि ॥१॥

प्राणेषु—प्राणों (इन्द्रियों) में, पञ्चविधम्—पाँच प्रकार के, परोवरीयः—एक-दूसरे की अपेक्षा श्रेष्ठ, साम उपासीत—साम की उपासना (भावना-दृष्टि) करे; प्राणः हिंकारः—प्राण (घ्राण-नासिका) 'हिंकार' है, वाक् प्रस्तावः—वाणी 'प्रस्ताव' है; चक्षुः उद्गीथः—आँख 'उद्गीथ' है, श्रोत्रम्—कर्ण-इन्द्रिय; प्रतिहारः—'प्रतिहार' है; मनः निधनम्—मन (अन्तःकरण) 'निधन'

जो इस प्रकार प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन को प्रभु की उपासना में लीन देखता है, और प्राणों में पंच-विध साम की उपासना करता है उसके लिये संसार में बड़े-से-बड़ा भी उसका अपना हो जाता है, और वह बड़े-से-बड़े लोकों को जीत लेता है ॥२॥

द्वितीय प्रपाठक—(आठवां खंड)

पहले साम-गान को ५ भागों में बांटा गया, इस खंड में उसे ७ भागों में बांट दिया गया है। पहले ५ भागों के साथ 'आदि' तथा 'उपद्रव' ये दो भाग और जोड़ दिये गये हैं। इस दृष्टि से वाणी में सप्त-विध साम की उपासना करे, यह अनुभव करे कि वाणी मानो साम-मय होकर प्रभु की उपासना में लीन है। वाङमय में जहां कहीं 'हुं' आता है वह मानो साम-गान का 'हिंकार' है, जहां 'प्र' आता है वह मानो साम-गान का 'प्रस्ताव' है, जहां 'आ' आता है वह 'आदि' है ॥१॥

है; परोवरीयांसि—एक-दूसरे से बढ़ कर (श्रेष्ठ); वा—या; एतानि—ये इन्द्रियां हैं ॥१॥

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपास्त इति तु पञ्चविधस्य ॥२॥

परोवरीयः—निरपेक्ष श्रेष्ठता; ह—अवश्य; अस्य—इस (उपासक) की; भवति—होती है; परोवरीयसः—उत्तमोत्तम; ह—ही; लोकान्—लोकों को; जयति—जीत लेता है, अधिकारी हो जाता है; यः एतद् एवम् विद्वान्—जो इस (को) इस प्रकार जानता हुआ; प्राणेषु—प्राणों में (इन्द्रियों में); पञ्चविधम्—पाँच प्रकार के; परोवरीयः—निरपेक्ष श्रेष्ठ; साम उपास्ते—साम की उपासना (दृष्टि) करता है; इति—यह (वर्णन); तु—तो; पञ्चविधस्य—पांच प्रकार के साम की (दृष्टि से विचार करने का है) ॥२॥

अथ सप्तविधस्य । वाचि सप्तविधं सामोपासीत । यत्किंच वाचो हुमिति स हिंकारो यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः ॥१॥

अथ—अब (इसके आगे); सप्तविधस्य—सात प्रकार के (साम का वर्णन करते हैं); वाचि—वाणी में; सप्तविधम्—सात प्रकार के; साम उपासीत—साम की उपासना करे; यत् किंच—जो कुछ; वाचः—वाणी का; हुम् इति—'हुम्' यह (रूप) है; सः हिंकार—वह हिंकार है; यत्—जो; प्र इति—'प्र'

जहां 'उत्' ~ वह 'उद्‌गीथ' है, जहां 'प्रति' आता है, वह 'प्रतिहार' है, जहां 'उप' आता है, वह 'उपद्रव' है, जहां 'नि' आता है, वह 'निधन' है। इस प्रकार वाङ्मय में आये हुए 'हु'-'प्र'-'आ'-'उत्'-'प्रति'-'उप'-'नि' इन सात अक्षरों को साम-गान अनुभव करे ॥२॥

वाणी के सार को जो समझ जाता है उसके लिये वाणी स्वयं दूध झर देती है। जो इस प्रकार वाणी में सप्त-विध साम की उपासना करता है, वह अनुभव करता है कि वाणी द्वारा गाया गया प्रत्येक अक्षर प्रभु की महिमा में गाया गया सुन्दर गान है, वह अन्नवान् हो जाता है, संसार में भोग्य बनने के स्थान में भोक्ता बन कर रहता है—'अन्नाद' हो जाता है ॥३॥

द्वितीय प्रपाठक—(नवां खंड)

सूर्य की सप्त-विध साम के रूप में उपासना करे, यह अनुभव करे कि सूर्य मानो प्रभु की स्तुति में उठ रहा एक मूर्त-संगीत है।

यह (रूप) है, स प्रस्ताव—वह प्रस्ताव है यद् आ इति—जो आ यह (रूप) है, स—वह, आदि—'आदि' (साम विधा) है ॥१॥

यदुदिति स उद्‌गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो
यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम् ॥२॥

यत्—जो, उद् इति—(वाणी का) उद यह (रूप) है स उद्‌गीथ—वह 'उद्‌गीथ है, यत् प्रति इति—जो 'प्रति' यह (रूप) है स प्रतिहार—वह 'प्रतिहार' है, यद् उप इति—(वाणी का) जो उप' यह (रूप) है स उपद्रव—वह 'उपद्रव'-नामक (साम विधा) है, यत् नि इति—जो नि यह (रूप) है, तत् निधनम्—वह 'निधन है ॥२॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति,
य एतदेवं विद्वान्वाचि सप्तविधं सामोपास्ते ॥३॥

दुग्धे—दोहती है, देती है, अस्मै—इस (उपासक) को वाग्—वाणी दोहम्—दूध, सार (तत्त्व), य—जो, वाच—वाणी का, दोह—दूध (सार) है, अन्नवान् अन्नाद भवति—अन्न का स्वामी और अन्न का भोक्ता होता है, य एतद् एवं विद्वान्—जो इस (को) इस प्रकार जानता हुआ, वाचि—वाणी में, सप्तविधम् साम उपास्ते—सात प्रकार के साम की उपासना करता है ॥३॥

अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत । सर्वदा
समस्तेन साम मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम ॥१॥

संगीत में जैसे सात स्वर हैं वैसे सूर्य की सात किरणें उसका मानो संगीत हैं। इसलिये सूर्य सदा साम-मय है, संगीतमय है। प्रत्येक पुरुष यह अनुभव करता है कि सूर्य मेरे लिये है, मेरे लिये है—अपने सब रूप से सूर्य साम के समान है, मानो एक मूर्त-संगीत है ॥१॥

ये सब भूत उसी पर निर्भर हैं—इसे खूब समझो। सूर्य के संगीत-मय रूप का उल्लेख करते हुए ऋषि कहते हैं कि उसका उदय से पहले जो रूप है, वह 'हिंकार' है। इस रूप पर पशु निर्भर रहते हैं। इसलिये पशु सूर्योदय से पूर्व 'हिंकार' प्रारम्भ कर देते हैं क्योंकि सूर्य के साम-गान में 'हिंकार'-ध्वनि से पशु प्रभु के गुण-गान में सम्मिलित होते हैं ॥२॥

पहले-पहल उदय होते ही जो सूर्य का रूप है, वह 'प्रस्ताव' है। इस रूप पर मनुष्य निर्भर रहते हैं। सूर्योदय होते ही मनुष्य के हृदय

अथ खलु—तो अब; अमुम्—इस; आदित्यम्—सूर्य को; सप्तविधम् साम—सात प्रकार के साम (के रूप में); उपासीत—उपासना (भावना, दृष्टि, विचार) करे; सर्वदा—हमेशा; समः—(सब के लिए) समान है; तेन—उस कारण से; साम (यह आदित्य भी) साम है; माम् प्रति—(यह आदित्य) मेरे प्रति है; माम् प्रति—मेरे ही प्रति (ओर) है (ऐसा सब प्राणी समझते हैं); इति—इस (कारण) से; सर्वेण—सब के (साथ); समः—समान (भाववाला) है; तेन—उस कारण से; साम—(यह आदित्य) साम है; (यतः आदित्य सर्वदा समः सर्वेण समः तेन साम—सर्वकाल में, सब प्राणियों के लिए समान-भाववाला है, अतः साम है) ॥१॥

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति विद्यात्तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारस्तदस्य पशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिंकुर्वन्ति हिंकारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥२॥

तस्मिन्—उस (आदित्य) में; इमानि सर्वाणि भूतानि—ये सारे भूत (पंच महाभूत या प्राणी); अन्वायत्तानि—अनुगत, सम्बद्ध हैं; इति—यह विद्यात्—(उपासक) जान लेवे; तस्य—उस (आदित्य) का, यत्—जो; पुरा+उदयात्—उदय होने से पहिले (रूप है); सः हिंकारः—वह 'हिंकार' है; तद्—तो; अस्य—इस (आदित्य) के (रूप के साथ); पशवः—पशु; अन्वायत्ताः—अनुगामी, सम्बन्ध रखते हैं; तस्मात्—अतएव; ते—वे (पशु); हिंकुर्वन्ति—'हिंकार' करते हैं; हिंकारभाजिनः—(वे पशु भी) 'हिंकार' के भागी (हिस्सेदार) होते हैं; हि—ही; एतस्य—इस; साम्नः—साम-गान के ॥२॥

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशंसाकामाः प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥३॥

में प्रभु की स्तुति तथा प्रशंसा करने की कामना उत्पन्न होती है क्योंकि सूर्य के साम-गान में मनुष्य भी प्रभु-भक्ति में सम्मिलित होना चाहते हैं ॥३॥

इसके बाद सूर्य की सगव-वेला है, वह समय जब सूर्य से रश्मियां फूटती नजर आती हैं। साम-गान की भाषा में यह 'आदि' कहलाता है। इस रूप पर पक्षी निर्भर रहते हैं। तभी तो पक्षी उड़ने का आरम्भ सीखे बिना अपने को लेकर आकाश में उड़ते-फिरते हैं, मानो प्रभु-भक्ति करते हुए साम-गान के आदि-स्वर में भाग ले रहे हों ॥४॥

और, जो ठीक दोपहर के समय सूर्य का रूप है, वह साम-गान की भाषा में 'उद्गीथ' है। इस रूप पर देवता निर्भर रहते हैं। इसी-

---

अथ—और यत्—जो, प्रथम+उदिते—पहले-पहल उदय होने पर (रूप है), स—वह (आदित्य का रूप), प्रस्ताव—'प्रस्ताव' है, तद् अस्य—तो (आदित्य के) इस (रूप के), मनुष्या—मनुष्य, अन्वायत्ता—अनुगत, सम्बद्ध हैं, तस्मात्—उस कारण से, ते—वे (मनुष्य), प्रस्तुतिकामा—प्रकृष्ट स्तुति की इच्छा वाले, प्रशंसाकामा—प्रशंसा करने के इच्छुक, प्रस्तावभाजिन—'प्रस्ताव' के भागी हैं, हि—ही, एतस्य साम्न—इस साम-गान के ॥३॥

अथ यत्सङ्गववेलायां स आदिस्तदस्य वयांस्यन्वायत्तानि तस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽनारम्बणान्यादायात्मानं परिपतन्त्यादिभाजीनि ह्येतस्य साम्न ॥४॥

अथ—और, यत्—जो, सगव-वेलायाम्—सगव (किरणों के फैलने या प्रातः गो-दोहन) के वेला (समय) में (इस सूर्य का रूप है), स—वह, आदि—'आदि' साम-गान है, तद् अस्य—तो (आदित्य के) इस (रूप के), वयांसि—पक्षि-गण, अन्वायत्तानि—अनुगत हैं सम्बद्ध हैं, तस्मात्—उस कारण से, तानि—वे (पक्षी), अनारम्भणानि—निरालम्बन, निराधार (बे सहारे के), आदाय—लेकर, आत्मानम्—अपने आपको (स्वयम् को), परिपतन्ति—उड़ते हैं, (अतएव) आदि-भाजीनि—'आदि' (साम-गान भेद) के भागी होते हैं, हि—ही, एतस्य साम्न—इस साम-गान के ॥४॥

अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिने स उद्गीथस्तदस्य देवा अन्वायत्तास्तस्मात्ते सत्तमाः प्राजापत्यानामुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्न ॥५॥

अथ—और, यत्—(आदित्य का) जो (रूप), सम्प्रति—अब, मध्यन्दिने—दिन के मध्य में अर्थात् दोपहरी में (होता है), स उद्गीथ—वह 'उद्गीथ' है, तद् अस्य—तो इसके (इस रूप) के, देवा—देवगण, अन्वायत्ता—अनु-

लिये प्रजापति की देव तथा असुर इन दोनों प्रकार की सन्तानों में से देव श्रेष्ठ माने जाते हैं, क्योंकि जिस प्रकार दोपहर के समय देव-गण साम-गान करते हुए उद्गीथ का उच्च-घोष करते हैं, इसी प्रकार सूर्य प्रभु का गुण गान करता हुआ दोपहर के समय मानो अपने पूर्ण बल से साम का उद्गीथ-गान करता है ॥५॥

दोपहर से पीछे और अपराह्ण से पूर्व सूर्य का जो रूप है, वह साम-गान की परिभाषा में मानो 'प्रतिहार' है। सूर्य अगर अपने समस्त रूप से साम का गान है, तो सूर्य की यह वेला प्रतिहार-ध्वनि है। इस रूप पर गर्भ निर्भर रहते हैं। गर्भस्थ जीव इसीलिये मानो गिर नहीं पड़ते क्योंकि प्रभु-भक्ति में सूर्य के प्रतिहार-गान के साथ-साथ वे भी मानो साम-गान में भाग ले रहे होते हैं ॥६॥

अपराह्ण से पीछे और सूर्यास्त से पूर्व सूर्य का जो रूप है, वह साम की परिभाषा में मानो 'उपद्रव' है। इस रूप पर आरण्यक-पशु निर्भर रहते हैं, तभी तो किसी भी पुरुष को देखकर वे वन और बिल में दौड़

गत, सम्बद्ध हैं; **तस्मात्**—उस कारण से; **ते**—वे (देव-गण); **सत्तमाः**—श्रेष्ठतम; **प्राजापत्यानाम्**—प्रजापति के पुत्रों में (रचना में); **उद्गीथभाजिनः**—उद्गीथ के भागी हैं; **हि**—ही; **एतस्य साम्नः**—इस साम-गान के ॥५॥

अथ यदूर्ध्वं मध्यंदिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्ता-स्तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥६॥

अथ—और; **यद्**—जो (आदित्य का रूप); **ऊर्ध्वम्**—बाद में; **मध्यन्दिनात्**—भरी दोपहरी से; **प्राग्**—पहले; **अपराह्णात्**—उतरते दिन से; **सः**—वह (रूप); **प्रतिहारः**—'प्रतिहार' है; **तद् अस्य**—तो इस (रूप) के; **गर्भाः**—गर्भ, गर्भस्थ प्राणी; **अन्वायत्ताः**—अनुगामी हैं; **तस्मात्**—उस कारण से; **ते**—वे (गर्भस्थ प्राणी); **प्रतिहृताः**—(आदित्य द्वारा ऊपर को) उन्मुख हुए; **न**—नहीं; **अवपद्यन्ते**—गिरते हैं; **प्रतिहारभाजिनः**—(वे गर्भ) प्रतिहार के भागी हैं; **हि**—ही; **एतस्य साम्नः**—इस साम-गान के ॥६॥

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवस्तदस्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षं श्वभ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥७॥

अथ—और; **यद्**—जो (आदित्य का रूप); **ऊर्ध्वम्**—बाद में; **अपराह्णात्**—उतरते दिन से; **प्राग्**—पहिले; **अस्तमयात्**—सूर्य के छिपने से; **सः**—वह (रूप); **उपद्रवः**—'उपद्रव'-नामक (साम-रूप) है; **तद् अस्य**—तो इस

जाते हैं। साम-गान का 'उपद्रव'-गीत, सूर्य का सूर्यास्त से पहले का रूप, और आरण्यक पशुओं का पुरुष को देखकर उपद्रवण—ये तीनों मानो प्रभु के संकीर्तन में, उसके साम-गान में भाग ले रहे हैं ॥७॥

अस्त होने से पहले-पहल सूर्य का जो रूप है, वह साम-गान की परिभाषा में 'निधन' है। इस रूप पर पितर निर्भर रहते हैं। प्रभु का कीर्तन करते हुए जब साम-गान का निधन, उसकी समाप्ति होने लगती है, उसके साथ-साथ मानो अस्त होता हुआ सूर्य भी दिन भर प्रभु का गुण-गान करता हुआ अस्त हो जाता है, पितर भी जीवन भर प्रभु की स्तुति में जीवन बिताकर संसार से विदा लेने की तय्यारी करते हैं—ये सब मानो साम-गान के 'निधन' में हिस्सा ले रहे होते हैं। इस प्रकार सूर्य को सम्मुख रखते हुए सप्त-विध साम की उपासना करे ॥८॥

(सूर्य के उदय-अस्त में, साम के प्रारम्भ-अवसान में, मनुष्य-पक्षियों के जीवन-मरण में—सर्वत्र प्रभु का संकीर्तन हो रहा है, इस भावना को इस खंड में विशद किया है।)

(रूप) के, आरण्या—जंगली जीव, अन्वायत्ता—अनुगत हैं, तस्मात्—उस कारण से, ते—वे (जंगली जीव), पुरुषम्—मनुष्य को, दृष्ट्वा—देख कर, कक्षम्—घने वन को, श्वभ्रम्—बिल को, इति—(भय शून्य है) यह (जान-कर), उपद्रवन्ति—भाग जाते हैं, उपद्रवभाजिन—उपद्रव-नामक (साम भेद) के भागी (अधिकारी) हैं, हि—ही, एतस्य—इस, साम्न—साम-गान में ॥७॥

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनं तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तान्निदधति निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्न एवं खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपास्ते ॥८॥

अथ—और, यत्—जो (आदित्य का रूप), प्रथमास्तमिते—छिपने से कुछ पहिले, छिपते-छिपते, तत्—वह (रूप), निधनम्—'निधन' नामी (साम-रूप) है, तद्—तो, अस्य—(आदित्य के) इस (रूप) के, पितर—पितृ-गण, पूर्वपुरुष, अन्वायत्ता—सम्बद्ध हैं, तस्मात्—उस कारण से, तान्—उन (पितरों) को, निदधति—रखते हैं, कार्यमुक्त कर देते हैं, निधन-भाजिन—निधन-नामक (साम-भेद) के भागी (हिस्सेदार, अधिकारी) होते हैं, हि—ही, एतस्य साम्न—इस साम-गान के, एवम्—इस प्रकार, खलु—निश्चयपूर्वक, अमुम्—इस, आदित्यम्—आदित्य को, सप्तविधम् साम—सात प्रकार के साम-गान (के रूप में), उपास्ते—उपासना (भावना, विचार, दृष्टि) करते हैं (की जाती है) ॥८॥

द्वितीय प्रपाठक—(दसवां खंड)

मृत्यु से पार ले जाने वाले, आत्मा के लिये अभीष्ट, सप्त-विध साम की उपासना करे—साम के सातों अंगों द्वारा प्रभु का संकीर्तन करे। सातों अंगों में कुल मिलाकर २१ अक्षर बनते हैं। 'हिं+का+र' में तीन अक्षर हैं, 'प्र+स्ता+व' में तीन अक्षर हैं—ये दोनों तीन-तीन अक्षर के होने से समान हैं ॥१॥

'आ+दि' में दो अक्षर हैं, 'प्र+ति+हा+र' में चार अक्षर हैं। 'प्रतिहार' का एक अक्षर 'आदि' में मिला देने से दोनों में तीन-तीन अक्षर हो जाते हैं—ये दोनों भी इस प्रकार तीन-तीन अक्षरों के होने के कारण समान बन जाते हैं ॥२॥

'उद्+गी+थ' में तीन अक्षर हैं, 'उ+प+द्र+व' में चार अक्षर हैं। तीन-तीन तो बराबर ही हैं, एक अक्षर बच रहता है—इस प्रकार तीन-तीन अक्षरों की इनमें भी समता है ॥३॥

अथ खल्वात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधꣳ सामोपासीत।
हिंकार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम् ॥१॥

अथ खलु—अब फिर; **आत्म-सम्मितम्**—अपने (अक्षर-रूप) स्वरूप से सम्मित (नपे हुए, एकतावाले) या (चिद् रूप से) ब्रह्म के तुल्य; **अतिमृत्यु**—नष्ट न होनेवाले (अमर), या मृत्यु से छुड़ानेवाले; **सप्तविधम्**—सात प्रकार के; **साम**—साम-गान की; **उपासीत**—उपासना करे; **हिंकारः इति**—'हिंकार' यह (साम-भेद); **त्र्यक्षरम्** (त्रि+अक्षरम्)—तीन अक्षरों वाला है; **प्रस्तावः इति**—'प्रस्ताव' यह (साम-भेद); **त्र्यक्षरम्**—तीन अक्षरों वाला है; **तत्**—वह (अक्षर-संख्या); **समम्**—(दोनों की) समान है ॥१॥

आदिरिति द्व्यक्षरं प्रतिहार इति चतुरक्षरं तत इहैकं तत्समम् ॥२॥

आदिः इति—'आदि' यह (साम-भेद); **द्व्यक्षरम्** (द्वि+अक्षरम्)—दो अक्षर वाला है; **प्रतिहारः इति**—'प्रतिहार' यह (साम-भेद); **चतुरक्षरम्**—चार अक्षर वाला है; **ततः**—उस (प्रतिहार के चार अक्षरों से); **इह**—इस (आदि) में; **एकम्**—एक (अधिक अक्षर मिल गया तो); **तत्**—तो वह (आदि) भी; **समम्**—समान (तीन अक्षर वाला हो गया) ॥२॥

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः
समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत्समम् ॥३॥

'नि+ध+न' में तीन अक्षर हैं—यह भी दूसरों के समान हो गया। इस प्रकार ये सात शब्द सब मिलकर २१ और 'उ+प+द्र+व' का बचा हुआ १, अर्थात् २२ अक्षर हो गये ॥४॥

साम-गान के २१ अक्षरों द्वारा तो उपासक आदित्य लोक को, तेजोमय-धाम को प्राप्त कर लेता है—हिंकार, प्रस्ताव आदि द्वारा प्रभु-कीर्तन करने से अखंड-ज्योति को पा लेता है। आदित्य यहा से इक्कीसवा लोक है। साम-गान के बाईसवें अक्षर से आदित्य से भी परे रहने वाली परम-ज्योति को जीत लेता है। वही लोक दुःख-रहित और शोक-रहित है—सप्त-विध साम-गान द्वारा प्रभु-गुण-गान करने से उपासक प्रकाश-ही-प्रकाश में विचरने लगता है ॥५॥

उद्गीथ इति—'उद्गीथ' यह (साम-भेद), त्र्यक्षरम्—तीन अक्षर वाला है, उपद्रव इति—'उपद्रव' यह (साम भेद), चतुरक्षरम्—चार अक्षर वाला है, त्रिभि त्रिभि —(दोनो उद्गीथ और उपद्रव के) तीन-तीन अक्षरों में, समम्—समान (अक्षरवाला), भवति—हो जाता है, अक्षरम्—एक अक्षर, अतिशिष्यते—बच रहता है, (परन्तु इसके बच रहने पर वे दोनों साम भेद) त्र्यक्षरम्—तीन अक्षर वाले ही हैं, तत्—तो वह, समम्—समान अक्षर वाला ही हो जाता है ॥३॥

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति तानि
ह वा एतानि द्वाविँ शतिरक्षराणि ॥४॥

निधनम् इति—(सातवां) 'निधन' यह (साम-भेद), त्र्यक्षरम्—तीन अक्षरवाला ही है, तत् समम् एव भवति—वह (निधन तो) समान (तीन अक्षर वाला) ही है, तानि—वे (सातों साम भेद के अक्षर), ह वै—निश्चय ही; एतानि—ये, द्वाविंशति—बाईस (२२), अक्षराणि—अक्षर होते हैं ॥४॥

एकविँ शत्यादित्यमाप्नोत्येकविँ शो वा इतोऽसावादित्यो
द्वाविँ शेन परमादित्याज्जयति तन्नाकं तद्विशोकम् ॥५॥

एकविंशत्या—(इन अक्षरों में से) इक्कीस अक्षरों से, आदित्यम्—आदित्य लोक को, आप्नोति—प्राप्त कर लेता है, एकविंश—इक्कीसवां; वै—ही इत —यहां से (पृथिवी-लोक से), असौ—यह, आदित्य—आदित्य लोक है, द्वाविंशेन—बाईसवें (अक्षर) से, परम्—(जो) परे है, आगे है, आदित्यात्—सूर्य से, (आदित्यात् परम्—आदित्य लोक से परे आगे जो लोक—ब्रह्म-लोक—है उसको), जयति—जीत लेता है, पा लेता है, तत्—वह (लोक);

जो साम-गीत के इस उपासना-क्रम को जानता हुआ आत्मा के लिये हितकर, मृत्यु के पार ले जाने वाले सप्त-विध साम की उपासना करता है, सप्त-विध साम की उपासना करता है, वह इसी लोक में रहता हुआ मानो सूर्य-लोक के विजय को प्राप्त कर लेता है—उसका विजय सूर्य-लोक के विजय से भी ऊंचा, महान् विजय होता है ॥६॥

द्वितीय प्रपाठक—(ग्यारहवां खंड)
(यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले भिन्न-भिन्न साम-गान, ११ से २० खंड)

प्रथम-प्रपाठक में उद्‌गीथ का वर्णन हुआ—यह 'साम-गान' का ही अंग है। द्वितीय में सम्पूर्ण साम का वर्णन प्रारम्भ हुआ, साम के वर्णन में पंच-विध साम का वर्णन हुआ, फिर सप्त-विध साम का वर्णन हुआ। ऋषि ने कहा कि सम्पूर्ण-सृष्टि मानो उद्‌गीथ-गान में, पंच-विध या सप्तविध साम-गान में लीन है। अब यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले भिन्न-भिन्न साम-गानों का ११ से २० खंड तक ऋषि उल्लेख

नाकम्—आनन्दमय है; तद्—वह (लोक); विशोकम्—शोक (दुःख-दैन्य) से रहित है ॥५॥

आप्नोतीहादित्यस्य जयं परो हास्यादित्यजयाज्जयो भवति य एतदेवं
विद्वानात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधं साभोपास्ते सामोपास्ते ॥६॥

आप्नोति—प्राप्त करता है, पा लेता है; इह—यहाँ, इस जन्म में; आदित्यस्य—आदित्य लोक (प्रकृति-संबंधी); जयम्—जय को; परः—आगे, श्रेष्ठ; ह—निश्चय से; अस्य—इस (उपासक) की; आदित्य-जयात्—आदित्य की जय (प्राप्ति-लाभ) से; जयः—(भगवान् ब्रह्म की) जय (प्राप्ति); भवति—होता है; यः एतद् एवम् विद्वान्—जो इस (साम) को इस प्रकार जानता हुआ; आत्म-संमितम्—अक्षर-रूप से नपे हुए, या ब्रह्म के अनुरूप; अतिमृत्यु—मृत्यु से परे, अमर; सप्तविधम्—सात प्रकार के; साम उपास्ते—साम की उपासना करता है; साम उपास्ते—साम की उपासना (विचार, भावना) करता है (द्विरुक्ति, आदरार्थ, खण्ड समाप्ति द्योतक, व सप्तविध-साम-वर्णन की समाप्ति-सूचक है) ॥६॥

मनो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्‌गीथः श्रोत्रं प्रतिहारः
प्राणो निधनमेतद् गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥१॥

करते हैं। इन साम-गानों के नाम हैं—गायत्र-साम, रथन्तर-साम, वामदेव्य-साम, बृहत्-साम, वैरूप-साम, वैराज-साम, शक्वरी-साम, रेवती-साम, यज्ञायज्ञीय-साम, राजन-साम। इन सब साम-गानों में हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार तथा निधन का क्रम आता है, ये पांचों संगीत की अवस्थाएं (Stages) हैं। गायत्र-साम, रथन्तर-साम आदि जिन साम-गानों का अभी वर्णन किया उनमें से क्रमशः एक-एक को लेकर उपनिषत्कार उनमें हिंकार, प्रस्ताव आदि पांचों को घटाते हैं :—

पहले गायत्र-साम को लेते हैं। 'मन' हिंकार है, 'वाक्' प्रस्ताव है, 'चक्षु' उद्गीथ है, 'श्रोत्र' प्रतिहार है, 'प्राण' निधन' है—इस प्रकार मानो गायत्र-साम मन-वाक्-चक्षु-श्रोत्र तथा प्राण में ओत प्रोत है। शरीर का यह पंच-विध रूप मानो पंच-विध 'गायत्र-साम' है ॥१॥

जो गायत्र-साम को प्राणों में पिरोया हुआ अनुभव करता है वह सबल-प्राण हो जाता है, पूर्ण आयु को पाता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा तथा पशुओं और कीर्ति से महान् होता है। सर्वदा महा-मना (मनस्वी, उच्च तथा गम्भीर विचारक) होवे—यह व्रत है ॥२॥

मनः हिंकारः—मन 'हिंकार' है; वाक् प्रस्तावः—वाणी 'प्रस्ताव' है; चक्षुः उद्गीथः—नेत्र 'उद्गीथ' है; श्रोत्रम् प्रतिहारः—कर्ण-इन्द्रिय 'प्रतिहार' है; प्राणः निधनम्—प्राण 'निधन' है; एतद्—यह; गायत्रम्—(गायत्री छन्द में उपनिबद्ध) गायत्र-नामक (साम-भाग), प्राणेषु—प्राणों में, इन्द्रियों में; प्रोतम्—गुथा हुआ है, इन्द्रियों से सम्बद्ध है, ओत-प्रोत है ॥१॥

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद प्राणी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जी-वति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या महामनाः स्यात्तद् व्रतम् ॥२॥

सः यः एवम्—वह जो इस प्रकार; एतद्—इस; गायत्रम्—गायत्र-नामी साम-भाग को; प्राणेषु—प्राणों (इन्द्रियों) में; प्रोतम्—ओत-प्रोत, सम्बद्ध; वेद—जानता है; प्राणी—प्राणवाला, समर्थ इन्द्रियों वाला; भवति— हो जाता है; सर्वम् आयुः—सारी (पूर्ण १०० वर्ष की)) आयु को; एति—प्राप्त होता है; ज्योक्—शानदार होकर, उज्ज्वलता से, प्रतिष्ठा से, चिरकाल तक; महान्—बड़ा, महिमाशाली, प्रजया—सन्तान—वंश-परम्परा से; पशुभिः—पशुओं से; भवति—होता है; महान्—महिमामय; कीर्त्या—कीर्ति-यश से; महामना—बड़े मन (चिन्तन) वाला, मनस्वी, विचार कर काम करने वाला; स्यात्—

द्वितीय प्रपाठक—(बारहवां खंड)

अब रथन्तर-साम को लेते हैं। अरणियों का 'मन्थन' हिंकार है, 'धूम्र' उत्पन्न होना प्रस्ताव है, 'अग्नि' का प्रज्वलित होना उद्गीथ है, 'अंगार' उत्पन्न होना प्रतिहार है, अग्नि का 'उपशम' होना निधन है—इस प्रकार रथन्तर-साम मानो अग्नि में ओत-प्रोत है। अग्नि का यह पंच-विध रूप मानो पंच-विध 'रथन्तर-साम' है ॥१॥

जो रथन्तर-साम को अग्नि में पिरोया हुआ अनुभव करता है, वह ब्रह्म-वर्चसी हो जाता है, अन्न का भोक्ता हो जाता है, अन्न का भोग्य नहीं रहता, पूर्ण आयु को पाता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु तथा कीर्ति से महान् होता है। अग्नि के सम्मुख न आचमन करे, न थूके—यह व्रत है ॥२॥

होवे; तद्—वह ही; व्रतम्—मनुष्य का अनुष्ठेय संकल्प (दृढ़ निश्चय) होना चाहिये ॥२॥

अभिमन्थति स हिंकारो धूमो जायते स प्रस्तावो ज्वलति
स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति
तन्निधनं संशाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ॥१॥

अभिमन्थति—(जो अग्नि के लिए अरणियों को) रगड़ता है; **सः**—वह (अभिमन्थन); **हिंकारः**—'हिंकार' है; **धूमः**—(फिर जो) धूंआ; **जायते**—उत्पन्न होता है; **सः प्रस्तावः**—वह 'प्रस्ताव' है; **ज्वलति**—(जो अग्नि) प्रदीप्त होती है; **सः उद्गीथः**—वह ही 'उद्गीथ' है; **अंगाराः**—(जलने के बाद) अंगार (धधकते कोयले); **भवन्ति**—हो जाते हैं; **सः प्रतिहारः**—वह 'प्रतिहार' है; **उपशाम्यति**—(अग्नि जो) शान्त हो जाती है, बुझ जाती है; **तत्**—वह; **निधनम्**—'निधन' है; **संशाम्यति**—बिल्कुल बुझ जाती है, राख हो जाती है; **तत् निधनम्**—वह ही 'निधन' है; **एतद्**—यह; **रथन्तरम्**—रथन्तर-नामी साम-भाग; **अग्नौ**—अग्नि में; **प्रोतम्**—ओत-प्रोत है; (अग्नौ प्रोतम्—इस रथन्तर-साम में अग्नि-विषयक उपासना या विचार है) ॥१॥

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद ब्रह्मवर्चस्यन्नादो
भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्या न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद् व्रतम् ॥२॥

सः यः एवम्—वह जो इस प्रकार; **एतद् रथन्तरम्**—इस रथन्तर-नामक साम-भाग को; **अग्नौ प्रोतम्**—अग्नि में ओत-प्रोत (सम्बद्ध); **वेद**—जानता है;

द्वितीय प्रपाठक—(तेरहवां खंड)

'निमन्त्रण' देना मानो हिंकार है, विवाह-सम्बन्धी प्रतिज्ञाओं की सबके सम्मुख 'घोषणा' करना मानो प्रस्ताव है, स्त्री-पुरुष का 'विवाह-धर्म' पालन करना मानो उद्गीथ है, स्त्री के प्रति 'प्रेम-व्यवहार' करना मानो प्रतिहार है, इस प्रकार प्रीति-पूर्वक 'समय का व्यतीत होना' या 'जीवन को पार कर जाना' मानो निधन है—इस प्रकार वामदेव्य-साम मानो स्त्री-पुरुष के जीवन में ओत-प्रोत है। स्त्री-पुरुष का यह पंच-विध रूप मानो पंच-विध 'वामदेव्य-साम' है ॥१॥

जो वामदेव्य-साम को मिथुन में—संसार के प्रत्येक जोड़े में—पिरोया हुआ अनुभव करता है, वह कभी अपने को इकला अनुभव

ब्रह्मवर्चसी—ब्रह्मतेज (ब्राह्मणत्व की योग्यता) से युक्त, अन्नाद—अन्न का भोक्ता, भवति—होता है, सर्वम् आयुः एति—पूर्ण आयु को प्राप्त करता है, ज्योग्—सशक्त जीवन से, जीवति—जीता है, महान्—महिमामय, प्रजया—वंश-परम्परा से, पशुभि—पशुओं से, भवति—होता है, महान् कीर्त्या—कीर्ति के द्वारा बड़ा, महायशस्वी, न—नहीं, प्रत्यङ्—की ओर; अग्निम्—अग्नि को; (प्रत्यङ् अग्निम्—अग्नि की ओर मुख करके), आचामेत्—आचमन करे (भोजन करे), न—नहीं, निष्ठीवेत्—थूके, मल-त्याग करे, तद्—वह, व्रतम्—(मनुष्य का) अनुष्ठेय संकल्प (होना चाहिये) ॥२॥

> उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते
> स उद्गीथः प्रति स्त्रीं सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति
> तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् ॥१॥

उपमन्त्रयते—सलाह (विचार-विमर्श) करता है स हिंकारः—वह 'हिंकार' है, ज्ञपयते—विदित करता है, (अग्नि को साक्षी कर) प्रगट करता है, सः प्रस्तावः—वह 'प्रस्ताव' है, स्त्रिया—स्त्री (पत्नी) के साथ, शेते—शयन करता है, स उद्गीथ—वह 'उद्गीथ' है, प्रति स्त्रीम्—पत्नी की ओर (मुख करके), सह शेते—साथ सोता है, स प्रतिहार—वह 'प्रतिहार' है, कालम् गच्छति—(इस प्रकार जो) समय को बिताता है, तत् निधनम्—वह 'निधन' है, पारम्—(रति की) पूर्णता को, गच्छति—पा लेता है, तत् निधनम् वह ही 'निधन' है, एतद्—यह, वामदेव्यम्—वामदेव्य-नामक साम भाग, मिथुने—जोड़े में (स्त्री-पुरुष के गृहस्थ-जीवन में), प्रोतम्—सम्बन्धवाला है (वामदेव्य-साम-भाग का प्रतिपाद्य विषय गृहस्थ-धर्म है) ॥१॥

> स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनीभवति
> मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया
> पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न कांचन परिहरेत्तद् व्रतम् ॥२॥

नहीं करता, उसके एक-एक संगी-साथी से नये-नये संगी-साथी पैदा हो जाते हैं। वह पूर्ण आयु को पाता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्ति से महान् होता है। स्त्री-पुरुष के विवाह-धर्म को ध्यान में रखता हुआ किसी दूसरी स्त्री का परिहार—अपहरण—न करे, व्यभिचार न करे—यह व्रत कर ले, निश्चय कर ले ॥२॥

द्वितीय प्रपाठक—(चौदहवां खंड)

'उदीयमान-सूर्य' हिंकार है, 'उदय हुआ-हुआ' प्रस्ताव है, 'मध्याह्न समय का सूर्य' प्रस्ताव है, 'अपराह्न' का प्रतिहार है, 'अस्त हुआ' निधन है—इस प्रकार बृहत्-साम मानो आदित्य में ओत-प्रोत है। आदित्य का यह पंच-विध रूप मानो पंच-विध 'बृहत्-साम' है ॥१॥

सः यः एवम्—वह जो इस प्रकार; एतद् वामदेव्यम्—इस वामदेव्य-नामक साम-भाग को; मिथुने प्रोतम्—जोड़े में (गृहस्थ-धर्म में); प्रोतम्—सम्बद्ध; वेद—जानता है; मिथुनी भवति—(सदैव) जोड़े वाला (सपत्नीक) रहता है (वियोग, विच्छेद या विरह नहीं होता); मिथुनात् मिथुनात्—प्रत्येक संगम से; प्रजायते—प्रजावाला होता है (वीर्य-निक्षेप व्यर्थ नहीं जाता); सर्वम् आयुः एति—पूर्ण आयु को प्राप्त करता है; ज्योग् जीवति—सशक्त एवं प्रतिष्ठा प्राप्त कर चिरकाल तक जीता है; महान् प्रजया पशुभिः भवति—प्रजा और पशुओं से महान् होता है; महान् कीर्त्या—महा यशस्वी होता है; न—नहीं; कांचन—किसी भी स्त्री को; परिहरेत्—परिहार (अपहरण-व्यभिचार, उल्लंघन) करे; तद् व्रतम्—यह उसका अनुष्ठेय धर्म है ॥२॥

उद्यन्हिंकार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्णः
प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनमेतद् बृहदादित्ये प्रोतम् ॥१॥

उद्यन्—(उषःकाल में) उगता हुआ (सूर्य); हिंकारः—'हिंकार' है; उदितः—उदय हुआ; प्रस्तावः—'प्रस्ताव' है; मध्यन्दिने—भरी दोपहरी में (का) सूर्य; उद्गीथः—'उद्गीथ' है; अपराह्णः—दोपहर बाद का सूर्य; प्रतिहारः—'प्रतिहार' है; अस्तं यन्—छिपता हुआ सूर्य; निधनम्—'निधन' है; एतद्—यह; बृहत्—बृहत्-नामक साम-भाग; आदित्ये—सूर्य में; प्रोतम्—सम्बद्ध है ॥१॥

जो बृहत्-साम को आदित्य में पिरोया हुआ अनुभव करता है, वह तेजस्वी, अन्नाद हो जाता है, पूर्ण आयु को पाता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्ति से महान् होता है। सूर्य का काम तपना है, इसलिये किसी तप करते हुए की निन्दा न करे, यह व्रत कर ले, निश्चय कर ले ॥२॥

द्वितीय प्रपाठक—(पन्द्रहवां खंड)

अभ्र, अर्थात् 'धुंध' हिंकार है, 'मेघ' प्रस्ताव है, 'बरसना' उद्गीथ है, 'विद्युत्' का चमकना-गरजना प्रतिहार है, 'बरसना बन्द हो जाना' निधन है—इस प्रकार वैरूप-साम मानो मेघ में ओत-प्रोत है। मेघ का यह पंच-विध रूप मानो पंच-विध 'वैरूप-साम' है ॥१॥

स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं वेद, तेजस्व्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या तपन्तं न निन्देत्तद् व्रतम् ॥२॥

स य एवम्—वह जो इस प्रकार, बृहत्—बृहत्साम को, आदित्ये प्रोतम् वेद—आदित्य से सम्बन्ध वाला जानता है, तेजस्वी—तेजस्वी, अन्नादः भवति—अन्न का भोक्ता होता है, सर्वम् आयुः एति—सारी (पूर्ण) आयु को प्राप्त करता है, ज्योग् जीवति—प्रतिष्ठा से जीवन बिताता है, महान् प्रजया पशुभिः भवति—प्रजा और पशु धन से महत्त्व प्राप्त करता है, महान् कीर्त्या—महान् यशस्वी होता है, तपन्तम्—तपते (चमकते हुए) सूर्य की या तप (साधना) करते हुए पुरुष की, न निन्देत्—निंदा न करे, तद् व्रतम्—वह ही इसका अनुष्ठेय धर्म है ॥२॥

अभ्राणि सम्प्लवन्ते स हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम् ॥१॥

अभ्राणि—हल्के बादल, धुंध (कोहरा), सम्प्लवन्ते—तैरते-से हैं, उमगने लगते हैं, इधर-उधर बिखरे फिरते हैं, सः—वह, हिंकारः—हिंकार है, मेघः जायते—(जब) बरसाऊ बादल बन जाता है, सः प्रस्तावः—वह 'प्रस्ताव' है, वर्षति—(जब वह) बरसता है, सः उद्गीथः—वह 'उद्गीथ' है, विद्योतते स्तनयति—चमकता और गरजता है, सः प्रतिहारः—वह 'प्रतिहार' है, उद्गृह्णाति—जब बरस चुकता है, तत् निधनम्—वह 'निधन' है, एतद्—यह, वैरूपम्—(विविध रूप वाला) वैरूप-नामक साम भाग, पर्जन्ये—बादल में, प्रोतम्—सम्बद्ध है ॥१॥

जो वैरूप-साम को मेघ में पिरोया हुआ अनुभव करता है, वह कुरूप-सुरूप सभी प्रकार के पशुओं को पा लेता है, पूर्ण आयु को भोगता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्ति से महान् होता है। मेघ का काम बरसना है—बरसते की निन्दा न करे, यह व्रत कर ले, प्रण कर ले ॥२॥

द्वितीय प्रपाठक—(सोलहवां खंड)

'वसन्त' हिंकार है, 'ग्रीष्म' प्रस्ताव है, 'वर्षा' उद्‌गीथ है, 'शरत्' 'प्रतिहार है, 'हेमन्त' निधन है—इस प्रकार वैराज-साम मानो ऋतुओं में ओत-प्रोत है। ऋतुओं का यह पंच-विध रूप मानो पंच-विध 'वैराज-साम' है ॥१॥

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद विरूपाँश्च
सुरूपाँश्च पशूनवरुन्धे सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया
पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या वर्षन्तं न निन्देत्तद् व्रतम् ॥२॥

सः यः एवम्—वह जो इस प्रकार; एतद्—इस; वैरूपम्—वैरूप-नामक साम-भाग को; पर्जन्ये प्रोतम्—बादल से सम्बन्धवाला; वेद—जानता है; विरूपान्—कुरूप या विविध रूप वाले; च—और; सुरूपान्—सुन्दर रूप वाले; च—और; पशून्—पशुओं को; अवरुन्धे—बाड़े में घेर लेता है (मालिक हो जाता है); सर्वम् आयुः एति—सारी (पूर्ण) आयु को प्राप्त करता है; ज्योग् जीवति—प्रतिष्ठापूर्वक चिरकाल तक जीता है; महान् प्रजया पशुभिः भवति—प्रजा और पशुओं से महत्त्व प्राप्त करता है; महान् कीर्त्या—महा यशस्वी होता है; वर्षन्तम्—बरसते हुए (किसी पर कृपा करते हुए) की; न निन्देत्—निन्दा न करे; तद् व्रतम्—वह अनुष्ठेय धर्म है ॥२॥

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः
शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥१॥

वसन्तः हिंकारः—वसन्त ऋतु 'हिंकार' है; ग्रीष्मः प्रस्तावः—ग्रीष्म ऋतु 'प्रस्ताव' है; वर्षाः उद्गीथः—वर्षा ऋतु 'उद्‌गीथ' है; शरत् प्रतिहारः—शरद् ऋतु 'प्रतिहार' है; हेमन्तः निधनम्—हेमन्त ऋतु 'निधन' है; एतद्—यह; वैराजम्—विराट्-छन्द में उपनिबद्ध वैराज-नामक साम-भाग; ऋतुषु प्रोतम्—ऋतुओं में ओत-प्रोत है ॥१॥

जो वैराज-साम को ऋतुओं में पिरोया हुआ अनुभव करता है, वह प्रजा, पशु तथा ब्रह्म-तेज से शोभायमान हो जाता है, पूर्ण आयु को भोगता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्ति से महान् होता है। ऋतुओं की निन्दा न करे, यह व्रत कर ले, निश्चय कर ले ॥२॥

द्वितीय प्रपाठक---(सत्रहवां खंड)

'पृथिवी' हिंकार है, 'अन्तरिक्ष' प्रस्ताव है, 'द्यौः' उद्गीथ है, 'दिशाएं' प्रतिहार है, 'समुद्र' निधन है---इस प्रकार शक्वरी-साम लोकों में ओत-प्रोत है। लोकों का यह पंच-विध रूप मानो पंच-विध 'शक्वरी-साम' है ॥१॥

जो शक्वरी-साम को लोकों में पिरोया हुआ अनुभव करता है वह सब लोकों का स्वामी बन जाता है, पूर्ण आयु को भोगता है,

---

स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्यर्तून्न निन्देत्तद् व्रतम् ॥२॥

सः यः एवम्—वह जो इस प्रकार; एतद्—इस; वैराजम्—वैराज साम-भाग को; ऋतुषु प्रोतम्—ऋतुओं में ओतप्रोत, वेद—जानता है, विराजति—शोभित होता है, चमकता है, प्रसिद्ध होता है, प्रजया—वंश-परम्परा से, पशुभिः—पशुओं से, ब्रह्मवर्चसेन—ब्रह्म-तेज से, सर्वम् आयुः एति—पूर्ण आयु को पाता है (भोगता है); ज्योग् जीवति—प्रतिष्ठापूर्वक जीवन बिताता है; महान् प्रजया पशुभिः भवति—प्रजा और पशुओं से महत्त्व पाता है; महान् कीर्त्या—बड़ा यशस्वी; ऋतून् न निन्देत्—(समय पर उपस्थित) ऋतुओं की निन्दा न करे (उपेक्षा न करे); तद् व्रतम्—वह मुख्य कर्तव्य-कर्म है ॥२॥

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोताः ॥१॥

पृथिवी हिंकारः—पृथिवी 'हिंकार' है; अन्तरिक्षम् प्रस्तावः—अन्तरिक्ष 'प्रस्ताव' है; द्यौः+उद्गीथः—द्युलोक 'उद्गीथ' है; दिशः प्रतिहारः—दिशाएं 'प्रतिहार' हैं, समुद्रः निधनम्—समुद्र 'निधन' है, एताः—ये, शक्वर्यः—शक्वरी छन्द (में उपनिबद्ध साम-भाग); लोकेषु—लोकों में; प्रोताः—सम्बद्ध हैं ॥१॥

स य एवमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोता वेद लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या लोकान्न निन्देत्तद् व्रतम् ॥२॥

उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्ति से महान् होता है। लोकों की निन्दा न करे, यह व्रत कर ले, निश्चय कर ले ॥२॥

द्वितीय प्रपाठक—(अठारहवां खंड)

'बकरियां' हिंकार हैं, 'भेड़ें' प्रस्ताव हैं, 'गौएं' उद्‌गीथ हैं, 'घोड़े' प्रतिहार हैं, 'पुरुष' निधन हैं—इस प्रकार रेवती-साम जीव-धारियों में ओत-प्रोत है। जीव-धारियों का यह पंच-विध रूप मानो पंच-विध 'रेवती-साम' है ॥१॥

जो रेवती-साम को प्राणियों में पिरोया हुआ अनुभव करता है, वह प्राण-धारियों का स्वामी हो जाता है, पूर्ण आयु को भोगता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्ति से महान् होता है। पशुओं की निन्दा न करे, यह व्रत कर ले, निश्चय कर ले ॥२॥

सः यः एवम्—वह जो इस प्रकार; एताः—इन; शक्वर्यः—शक्वरी छन्दोबद्ध साम-भाग को; लोकेषु प्रोताः—लोकों में सम्बद्ध; वेद—जानता है; लोकीभवति—लोक वाला (लोकों का स्वामी) हो जाता है; सर्वम् आयुः एति—पूर्ण आयु पाता है; ज्योग् जीवति—प्रतिष्ठापूर्ण जीवन बिताता है; महान् प्रजया पशुभिः भवति—प्रजा (संतान) और पशुओं से बड़प्पन पाता है; महान् कीर्त्या—अति यशस्वी होता है; लोकान्—लोकों की; न निन्देत्—निन्दा न करे; तद् व्रतम्—यह मनुष्य का दृढ़ कर्तव्य संकल्प होना चाहिये ॥२॥

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः
प्रतिहारः पुरुषो निधनमेता रेवत्यः पशुषु प्रोताः ॥१॥

अजाः—बकरियां; हिंकारः—'हिंकार' हैं; अवयः—भेड़ें; प्रस्तावः—'प्रस्ताव' हैं : गावः उद्गीथः—गौएं 'उद्गीथ' हैं; अश्वाः प्रतिहारः—घोड़े 'प्रतिहार' हैं; पुरुषः—मनुष्य या आत्मा; निधनम्—'निधन' है; एताः—ये; रेवत्यः—रेवती छन्दवाला साम-भाग; पशुषु—पशुओं में; प्रोताः—ओत-प्रोत, सम्बद्ध हैं ॥१॥

स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद पशुमान्भवति सर्वमायुरेति ज्योग्-
जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या पशून्न निन्देत्तद् व्रतम् ॥२॥

सः यः एवम्—वह जो इस प्रकार; एताः—इन; रेवत्यः—रेवती (छन्दोबद्ध) साम-भाग को; पशुषु प्रोताः वेद—पशुओं में सम्बद्ध (ओत-प्रोत) जानता है; पशुमान्—उत्कृष्ट पशुवाला; भवति—होता है; सर्वम् आयुः एति—सारी आयु भोगता है; ज्योग् जीवति—उज्ज्वल-जीवन बिताता है; महान् प्रजया

द्वितीय प्रपाठक—(उन्नीसवां खंड)

'लोम' हिंकार है, 'त्वचा' प्रस्ताव है, 'मांस' उद्गीथ है, 'अस्थि' प्रतिहार है, 'मज्जा' निधन है—इस प्रकार यज्ञायज्ञीय-साम अंगों में ओत प्रोत है। अंगों का यह पंच-विध रूप मानो पंच-विध 'यज्ञा-यज्ञीय-साम' है ॥१॥

जो यज्ञायज्ञीय-साम को अंगों में पिरोया हुआ अनुभव करता है, वह दृढांग हो जाता है, किसी अंग से हीन नहीं होता, पूर्ण आयु को भोगता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्ति से महान् होता है। अगर वह मांस खाता हो, तो वर्ष भर मांस न खाये, और जब इस व्रत से दृढ़ता आ जाय, तो कभी मांस न खाये, यही व्रत है, निश्चय है ॥२॥

पशुभि भवति—प्रजा (वंश-परम्परा) और पशुओं से बड़ा बनता है, महान् कीर्त्या—बड़ा यशस्वी (बनता है), पशून्—पशुओं की, न निन्देत्—निन्दा न करे (पालने में प्रमाद न करे), तद् व्रतम्—यह ही मनुष्य का अवश्य कर्तव्य कर्म है ॥२॥

लोम हिंकारस्त्वक्प्रस्तावो मांसमुद्गीथोऽस्थि प्रति-
हारो मज्जा निधनमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् ॥१॥

लोम—रोम (रुआं या बाल), हिंकार—'हिंकार' है, त्वक्—त्वचा (चमड़ी), प्रस्ताव—'प्रस्ताव' है, मांसम्—मांस, उद्गीथ—'उद्गीथ' है, अस्थि—हड्डी, प्रतिहार—'प्रतिहार' है, मज्जा—मज्जा, निधनम्—'निधन' है, एतद्—यह, यज्ञायज्ञीयम्—यज्ञायज्ञीय-नामक साम भाग, अंगेषु—(प्राणी के) अंगों में, प्रोतम्—गुंथा हुआ, सम्बद्ध है ॥१॥

स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं वेदाङ्गी भवति नाङ्गेन विहूर्छति
सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या
संवत्सरं मज्ज्ञो नाश्नीयात्तद् व्रतं मज्ज्ञो नाश्नीयादिति वा ॥२॥

सः यः एवम्—वह जो इस प्रकार, एतद्—इस, यज्ञायज्ञीयम्—यज्ञा-यज्ञीय-नामी साम भाग को, अंगेषु प्रोतम् वेद—अंगों से सम्बन्ध वाला जानता है, अङ्गी—(सुन्दर-स्वस्थ) अंगवाला, भवति—होता है, न—नहीं, अंगेन—(किसी भी) अंग से, विहूर्छति—कुटिल, हीन, त्रुटिवाला होता है, सर्वम् आयुः एति—सारी आयु भोगता है, ज्योग् जीवति—उज्ज्वल-जीवन बिताता है, महान् प्रजया पशुभिः भवति—सन्तान और पशुओं से बड़ा होता है, महान्

द्वितीय प्रपाठक—(बीसवां खंड)

'अग्नि' हिंकार है, 'वायु' प्रस्ताव है, 'आदित्य' उद्गीथ है, 'नक्षत्र' प्रतिहार है, 'चन्द्रमा' निधन है—इस प्रकार राजन-साम अग्नि आदि देवताओं में ओत-प्रोत है। देवताओं का यह पंच-विध रूप मानो पंच-विध 'राजन-साम' है ॥१॥

जो राजन-साम को देवताओं में पिरोया हुआ अनुभव करता है, वह अग्नि आदि की 'सलोकता', अर्थात् समीपता को प्राप्त कर लेता है, 'सार्ष्टिता', अर्थात् समानता को प्राप्त कर लेता है, और 'सायुज्यता', अर्थात् उनके प्रयोग को जान जाता है, वह पूर्ण आयु को भोगता है, उज्ज्वल-जीवन व्यतीत करता है, प्रजा, पशु और कीर्ति से महान् होता है। ब्राह्मणों की निन्दा न करे, यह व्रत कर ले, निश्चय कर ले ॥२॥

कीर्त्या—बड़ा यशस्वी होता है; **संवत्सरम्**—वर्ष भर; **मज्ज्ञः**—मज्जाओं को (हड्डियों की पोल में विद्यमान तरल अंश को); **न**—नहीं; **अश्नीयात्**—खावे; **तद् व्रतम्**—वह ही कर्तव्य व्रत है; **मज्ज्ञः न अश्नीयात्**—मज्जाओं को (कभी भी) न खावे; **इति वा**—अथवा यह व्रत है (फलतः मांस-सेवन जीवन भर न करे, यह व्रत कर्तव्यतया धारण करना चाहिये) ॥२॥

अग्निर्हिंकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो नक्षत्राणि
प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु प्रोतम् ॥१॥

अग्निः हिंकारः—अग्नि (देवता) 'हिंकार' है; **वायुः प्रस्तावः**—वायु 'प्रस्ताव' है; **आदित्यः उद्गीथः**—आदित्य 'उद्गीथ' है; **नक्षत्राणि प्रतिहारः**—नक्षत्र 'प्रतिहार' है; **चन्द्रमाः निधनम्**—चन्द्रमा 'निधन' है; **एतद्**—यह; **राजनम्**—राजन-नामक साम-भाग; **देवतासु प्रोतम्**—देवताओं से सम्बद्ध है ॥१॥

स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासामेव देवतानां सलो-
कतां सार्ष्टितां सायुज्यं गच्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति
महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥२॥

सः यः एवम्—वह जो इस प्रकार; **एतद्**—इस; **राजनम्**—राजन-नामक साम-भाग को; **देवतासु**—देवताओं में; **प्रोतम्**—सम्बन्धवाला; **वेद**—जानता है; **एतासाम्**—इन की; **एव**—ही; **सलोकताम्**—समान-लोक, सह-स्थान (इन लोकों में निवास) को; **सार्ष्टिताम्**—(लोकों के) समान समृद्धि को; **सायुज्यम्**—(लोकों के) सहयोग को या समान गुण वाले शरीर को;

(११ से २० खंड तक विश्व में हो रहे एक अखंड संगीत का निर्देश किया गया है। प्रत्येक वस्तु को संगीत का रूप दिया गया है—यही नहीं कि प्रत्येक वस्तु प्रभु का संकीर्तन कर रही है, परन्तु प्रत्येक वस्तु स्वयं संगीत-मय है।)

द्वितीय प्रपाठक—(इक्कीसवां खंड)

ऋक्-यजु-साम—ये तीनों (यह त्रिक) हिंकार हैं, पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यु लोक—ये तीनों (यह त्रिक) प्रस्ताव हैं, इन लोकों के अग्नि-वायु-आदित्य—ये तीनों (यह त्रिक) उद्गीथ हैं, नक्षत्र-पक्षी-किरणें—ये तीनों (यह-त्रिक) प्रतिहार हैं, सर्प-गन्धर्व-पितर—ये तीनों (यह त्रिक) निधन हैं—इस प्रकार विश्व के अंग-अंग में साम ओत-प्रोत है, सम्पूर्ण विश्व मानो एक साम-गान है ॥१॥

जो साम को, संगीत को प्रत्येक वस्तु में इस प्रकार पिरोया हुआ अनुभव करता है, वह सब-कुछ हो जाता है ॥२॥

गच्छति—प्राप्त होता है, सर्वम् आयु एति—सारी (पूर्ण) आयु को पाता है ज्योग् जीवति—प्रतिष्ठित जीवन होता है, महान् प्रजया पशुभि भवति—प्रजा और पशुओं से बड़ा बनता है, महान् कीर्त्या—अति यशस्वी होता है ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों की, ब्रह्मज्ञानियों की, न निन्देत्—निन्दा न करे तद् व्रतम्—वह ही व्रत (धारण) करे ॥२॥

त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावोऽग्निर्वायुरा
दित्य स उद्गीथो नक्षत्राणि वयांसि मरीचय स प्रतिहार
सर्पा गन्धर्वा पितरस्तन्निधनमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतम् ॥१॥

त्रयी विद्या—तीनों प्रकार के वेद-मन्त्र या चारों वेद हिंकार—हिंकार है त्रय—तीन इमे—ये लोका—लोक (पृथिवी अन्तरिक्ष द्युलोक) स प्रस्ताव—वह ही 'प्रस्ताव' है अग्नि वायु आदित्य—(तीनों लोकों के अधिष्ठाता देवता व तीनों विद्याओं के आदि ऋषि) अग्नि वायु और आदित्य, स उद्गीथ—वह उद्गीथ है, नक्षत्राणि—नक्षत्र, वयांसि—पक्षि-गण, मरीचय—किरणें, स प्रतिहार—वह प्रतिहार है सर्पा गन्धर्वा पितर—सर्प, गन्धर्व और पितृ-गण (जो हैं), तत् निधनम्—वह निधन है, एतत्—यह (संपूर्ण), साम—साम, सर्वस्मिन्—सब में, प्रोतम्—सम्बद्ध है ॥१॥

स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतं वेद सर्वं ह भवति ॥२॥

स य एवम्—वह जो इस प्रकार, एतत्—इस (सम्पूर्ण), साम—साम-वेद को, सर्वस्मिन्—सब में, प्रोतम्—सम्बद्ध, वेद—जानता है, सर्वम्—सब कुछ (को प्राप्त), ह—निश्चय से, भवति—हो जाता है (कर लेता है—उसे कुछ प्राप्य नहीं रहता) ॥२॥

किसी ने कहा भी है यह जो पांच प्रकार का त्रिक है, इससे बढ़कर और कुछ नहीं है ।।३।।

जो यह जानता है, वह सब-कुछ जानता है, चारों दिशाओं से लोग इसके लिये उपहार लाते हैं। ध्यान में बैठकर यह अनुभव करे कि मैं सब-कुछ हूं—'सर्वम् अस्मि इति उपासीत'। संसार संगीत है, मैं भी संगीत ही हूं—यही उसका व्रत है, यही व्रत है ।।४।।

द्वितीय प्रपाठक—(बाईसवां खंड)

(साम-गान में उच्चारण का विश्लेषण)

भिन्न-भिन्न ऋषियों ने भिन्न-भिन्न स्वरों में साम-गान किया है। अग्नि-ऋषि का साम-गान 'उद्गीथ' कहलाता है क्योंकि वह उच्च-स्वर से गाया जाता है, प्रजापति का, 'अनिरुक्त' क्योंकि वह उपमा-रहित है, सोम-ऋषि का 'निरुक्त' क्योंकि वह साफ़-साफ़ सुनाई देता है, वायु-ऋषि का 'मृदु' और 'श्लक्ष्ण', अर्थात् कोमल, इन्द्र का 'बलवान्'

तदेव श्लोकः। यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ।।३।।

तद् एषः श्लोकः—तो (इस विषय में) यह (प्रसिद्ध) श्लोक है; यानि—जो; पञ्चधा—पांच प्रकार के; त्रीणि-त्रीणि—(इस खण्ड में निर्दिष्ट) तीन-तीन (त्रिक वर्णित) हैं; तेभ्यः—उनसे; न—नहीं; ज्यायः—ज्येष्ठ; परम्—श्रेष्ठ; अन्यत्—अन्य कुछ; अस्ति—है ।।३।।

यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै
हरन्ति सर्वमस्मीत्युपासीत तद् व्रतं तद् व्रतम् ।।४।।

यः—जो; तद्—उसको; वेद—जानता है; सः—वह; वेद—जान लेता है; सर्वम्—सब कुछ; सर्वाः दिशः—सारी दिशाएं, सब ओर से; बलिम्—भोगों को; अस्मै—इस (भक्त मनुष्य) के लिये; हरन्ति—लाती हैं, उपस्थित करती हैं; सर्वम् अस्मि—मैं सब (मैं सब में, सब मुझ में) हूँ, मैं ही मुख्य हूँ; इति—इस प्रकार; उपासीत—उपासना करे, व्यवहार करे; तद् व्रतम्—वह ही इसका प्राप्य ध्येय है; तद् व्रतम्—वह ही इसका अवश्य कर्तव्य कर्म है ।।४।।

विनर्दि साम्नो वृणे, पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः
सोमस्य, मृदु श्लक्ष्णं वायोः, श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य, क्रौञ्चं बृहस्पते-
रपध्वान्तं वरुणस्य, तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुणं त्वेव वर्जयेत् ।।१।।

विनर्दि—विनर्द (विशेष गूंज—ऋषभ की आवाज जैसी) वाला; साम्नः—साम-गान के (स्वर को); वृणे—(मैं उद्गाता) वरण करता हूँ (अर्थात् सम्पूर्ण

और 'श्लक्ष्ण', बृहस्पति का साम-गान 'क्रौंच पक्षी के नाद के समान' तथा वरुण का 'अपध्वान्त' अर्थात् फूटे हुए कांसे के बर्तन के समान। इन सब में नाद-युक्त साम-गान, जो पशुओं की उच्च-ध्वनि के समान है, वह ठीक है, एक वरुण का 'अपध्वान्त'-स्वर ठीक नहीं, उसे छोड़ दे ॥१॥

साम का उद्गाता अपने गायन द्वारा दिव्य-गुण-युक्त पुरुषों (ब्राह्मणों) के लिये 'अमरता' की कामना करे, वे दीर्घ-जीवी होकर संसार का भला करें; संसार का रक्षण करने वाले पितरों (क्षत्रियों) के लिये 'स्वधा' की कामना करे, वे अपने व्रत में दृढ़ रहें, देश-रक्षा के कार्य से कभी न डिगें, साधारण-मनुष्यों (वैश्यों) के लिये 'आशा' की कामना करे, उनका आशा पर ही जीवन निर्भर रहता है, उनकी आशाएं पूर्ण हों, पशुओं के लिये 'तृण और जल' की कामना करे,

---

साम-गान विशेष प्रकार की गूंज या ऋषभ स्वर में गान करना चाहता हूं), पशव्यम्—पशुओं का हितकर (पशुओं जैसा), इति—यह, अग्ने—अग्नि (देवता वाले या ऋषि वाले साम का), उद्गीथ—उच्च-स्वर से गान (अभीष्ट है), अनिरुक्त—अस्पष्ट, अनिर्वचनीय, प्रजापते—प्रजापति (देवता या ऋषि वाले साम) का, निरुक्त—स्पष्ट, सोमस्य—सोम (देवता या ऋषि वाले साम) का, मृदु—कोमल, श्लक्ष्णम्—चिकना, सपाट, रुकावट शून्य, वायो—वायु (देवता या ऋषि वाले साम) का, श्लक्ष्णम्—रुकावट से रहित, बलवत्—बल (प्रयत्न) सापेक्ष, इन्द्रस्य—इन्द्र (देवता वाले साम) का, क्रौञ्चम्—क्रौंच पक्षी के शब्द के समान, बृहस्पते—बृहस्पति (देवता वाले साम) का, अपध्वान्तम्—बुरी ध्वनि, टूटे कांसे की ध्वनि के समान ध्वनि, वरुणस्य—वरुण (देवता वाले साम) की, तान्—उन, सर्वान्—सब को, एव—ही, उपसेवेत—(उचित स्थान पर) प्रयुक्त करे, वारुणम्—वरुण-सम्बन्धी (अपध्वान्त) स्वर को, तु एव—तो ही, अवश्यमेव, वर्जयेत्—छोड़े, सेवन न करे, प्रयुक्त न करे ॥१॥

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्स्वधां पितृभ्य आशां
मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमानायान्नमात्मन
आगायानीति । एतानि मनसा ध्यायन्नप्रमत्तः स्तुवीत ॥२॥

अमृतत्वम्—अमरता को, देवेभ्य—देवताओं, विद्वानों के लिये, आगायानि—मैं (साम द्वारा) गान करूं, प्रार्थना करूं, इति—यह (मन में धारणा कर), आगायेत्—साम-गान करे, प्रार्थना करे, स्वधाम्—अन्न को, स्वयं पालन को, पितृभ्य—पितरों के लिए, रक्षा-पालन करने वाले क्षत्रियों के लिए, बड़े-बूढ़े

यजमान के लिये 'स्वर्ग-लोक' की कामना करे; अपने लिये किसी प्रकार की कामना न करे, जितने से उसका शरीर-मात्र बना रहे, उतने-मात्र 'अन्न' की ही कामना करे। संसार भर के लिये इस प्रकार मन द्वारा शुभ-संकल्प करता हुआ अप्रमत्त होकर भगवान् की स्तुति में लीन हो जाय ॥२॥

'अ' से 'अः' तक के अक्षर 'स्वर' हैं, 'क' से 'म' तक के अक्षर 'स्पर्श' हैं, 'श-ष-स-ह' 'ऊष्म' हैं। स्वरों का आविष्कार महर्षि इन्द्र ने किया, इसलिये स्वर मानो इन्द्र के आत्मा हैं, ऊष्मों का आविष्कार महर्षि प्रजापति ने किया, इसलिये ऊष्म मानो प्रजापति के आत्मा हैं, स्पर्शों का आविष्कार महर्षि मृत्यु ने किया, इसलिये स्पर्श मानो मृत्यु के आत्मा हैं। साम-गान करता हुआ इन्हीं में से किसी अक्षर का उद्गाता प्रयोग करता है। साम-गान करते हुए उपासक की अगर कोई स्वरों में अशुद्धि निकाले और कहे कि तुमने अमुक स्वर का ठीक उच्चारण नहीं किया, तो उसे कह दे कि मैं तो स्वरों के अधिष्ठाता इन्द्र की शरण में गया हुआ था, उसकी उपासना में लीन था,

---

स्वजनों के लिए; आशाम्—वांछित ध्येय (कार्य) की फलसिद्धि के लिए; मनुष्येभ्यः—साधारण जनता के लिए; तृणोदकम् (तृण+उदकम्)—घास और पानी—चारा-पानी; पशुभ्यः—पशुओं के लिए; स्वर्गम् लोकम्—स्वर्ग (सुख-प्रद) लोक (स्थिति-स्थान) को; यजमानाय—यजमान के लिये; अन्नम्—अन्न (धन—भोग्य सामग्री) को; आत्मने—अपने लिए; आगायानि—गान रूप में प्रार्थना करता हूं; इति—इस प्रकार; एतानि—इन (उपरि-वर्णित) को; मनसा—मन से, अन्तःकरण से; ध्यायन्—ध्यान करता हुआ; अप्रमत्तः—(गान एवं प्रार्थना में किसी प्रकार का) प्रमाद न करते हुए; स्तुवीत—(भगवान् की साम-द्वारा उद्गाता) स्तुति करे ॥२॥

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः, सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः,
सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानः। तं यदि स्वरेषूपालभेतेन्द्रं शरणं
प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति वक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥३॥

सर्वे—सारे; स्वराः—स्वर ('अ' से लेकर 'अः' तक) अक्षर; इन्द्रस्य—इन्द्र के, प्राण के; आत्मानः—आत्मा (शरीर, स्वरूप) हैं; सर्वे—सारे; ऊष्माणः—ऊष्म (श-ष-स-ह) अक्षर; प्रजापतेः—प्रजापति के; आत्मानः—आत्मा (शरीर, स्वरूप) हैं; सर्वे—सारे; स्पर्शाः—स्पर्श (पांचों वर्ग के या 'क'

शब्द की उलझन में न फंसकर भाव में मग्न था। आपके प्रश्न का उत्तर में क्या, महर्षि इन्द्र ही देंगे ॥३॥

साम-गान करते हुए उपासक की अगर कोई ऊष्मों में अशुद्धि निकाले और कहे कि तुमने अमुक ऊष्म का ठीक उच्चारण नहीं किया, तो उसे कह दे कि मैं तो ऊष्मों के अधिष्ठाता प्रजापति की शरण में गया हुआ था, उसकी उपासना में लीन था, शब्द की उलझन में न फंसकर भाव में लीन था। आपके प्रश्न का उत्तर मैं क्या, महर्षि प्रजापति देंगे। अगर कोई स्पर्शों में अशुद्धि निकाले तो उसे कह दे कि मैं स्पर्शों के अधिष्ठाता महर्षि मृत्यु की शरण में गया हुआ था। आपके प्रश्न का उत्तर मैं क्या, वे ही देकर तुम्हारे घमंड को भस्म करेंगे ॥४॥

से लेकर 'म' तक पच्चीस) अक्षर, मृत्यो—मृत्यु के, आत्मानः—आत्मा (स्वरूप, शरीर) हैं, तम्—उस (उद्गाता) को, यदि—यदि (कोई), स्वरेषु—स्वर अक्षरों के उच्चारण के विषय में, उपालभेत—उलाहना दे, त्रुटि दिखाये (तो वह उद्गाता कहे कि), इन्द्रम्—(स्वर के अधिपति) इन्द्र को (मैं), शरणम्—शरण में, प्रपन्न—प्राप्त, पहुंचा हुआ, (शरणम् प्रपन्न—शरण में गया, उसके ध्यान-उपासना में लीन), अभूवम्—मैं था, स—वह (इन्द्र), त्वा—तुझ को, प्रतिवक्ष्यति—प्रत्युत्तर देगा, इति—इस प्रकार, एनम्—इस (उपालम्भ देने वाले) को, ब्रूयात्—कहे ॥३॥

अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत प्रजापतिं शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा
प्रति पेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयादथ यद्येनं स्पर्शेषूपालभेत मृत्युं
शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति धक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥४॥

अथ यदि—और यदि, एनम्—इस (उद्गाता) को, ऊष्मसु—ऊष्म (श-ष-स-ह) अक्षरों के उच्चारण में, उपालभेत—उलाहना दे, दोष दिखाये (तो), प्रजापतिम्—(ऊष्म-अक्षरों के अधिपति) प्रजापति को (मैं), शरणम् प्रपन्न—मैं शरण में गया हुआ, उसकी उपासना में लीन अभूवम्—मैं था, स—वह (प्रजापति), त्वा—तुझ को, प्रतिपेक्ष्यति—(इसके) बदले में पीस डालेगा, इति—इस प्रकार, एनम्—इस (त्रुटि निर्देशक) को, ब्रूयात्—कहे, उत्तर दे, अथ यदि—और अगर, एनम्—इस (उद्गाता) को, स्पर्शेषु—स्पर्श (क से लेकर म तक पच्चीस) अक्षरों के उच्चारण में, उपालभेत—त्रुटि दिखाये (तो), मृत्युम्—मृत्यु को (मैं), शरणम् प्रपन्न अभूवम्—शरण में मैं गया हुआ था, उसकी उपासना में लीन था, स—वह, त्वा—तुझ (त्रुटि-

साम-गान करते हुए 'स्वरों' का उच्चारण ऊंचे घोष से और बल से करना चाहिये। इस प्रकार स्वरों के आविष्कारक महर्षि इन्द्र को बल मिलता है। सारे 'ऊष्म' ऐसे बोलने चाहियें, जैसे एक-दूसरे वर्ण से ग्रस्त न हों, स्पष्ट हों, खुले हों। इस प्रकार ऊष्मों के आविष्कारक प्रजापति को उद्गाता आत्म-समर्पण कर देता है। सब स्पर्श लेश-मात्र भी एक-दूसरे में मिले-जुले न हों—इस प्रकार बोलने चाहियें। इस प्रकार महर्षि मृत्यु के क्रोध से उपासक अपने को बचा लेता है ॥५॥

द्वितीय प्रपाठक—(तेईसवां खंड)

(ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ—'भूः, भुवः, स्वः' की व्याख्या)

धर्म-रूपी वृक्ष के तीन बड़े-बड़े डाल हैं। 'यज्ञ-अध्ययन-दान'—यह गृहस्थ-रूप एक डाल है। 'तप'—यह वानप्रस्थ-रूप दूसरी डाल है। 'ब्रह्मचारी' बनकर अपने को तपस्या से क्षीण करते हुए आचार्य-

---

निर्देशक) को; प्रति धक्ष्यति—(इसके) बदले में जला डालेगा; इति एनम् ब्रूयात्—ऐसा इस (दोष-दर्शी) को कहे (उत्तर दे) ॥४॥

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति। सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्याः प्रजापतेरात्मानं परिददानीति। सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति ॥५॥

सर्वे—सारे; **स्वराः**—स्वर अक्षर; **घोषवन्तः**—घोष (प्रयत्न) वाले; **बलवन्तः**—पूरे बल से युक्त; **वक्तव्याः**—बोलने चाहियें; **इन्द्रे**—(स्वरों के अधिपति) इन्द्र में; **बलम्**—बल; **ददानि**—दूं; **इति**—यह (सोचकर); **सर्वे**—सारे; **ऊष्माणः**—ऊष्म अक्षर; **अग्रस्ताः**—बिना खाये (अन्य अक्षर से बिना दबे, पूरी तौर से); **अनिरस्ताः**—निरास (बाहर की ओर फेंकना) न करते हुए; **विवृताः**—विवार (प्रयत्न) वाले; **वक्तव्याः**—बोलने चाहियें; **प्रजापतेः**—(ऊष्म-अक्षरों के अधिपति) प्रजापति को; **आत्मानम्**—आत्मा, स्वरूप, शरीर; **परिददानि**—पर्याप्त दूं; **इति**—यह (सोच कर); **सर्वे**—सब; **स्पर्शाः**—स्पर्श अक्षर; **लेशेन**—तनिक भी; **अनभिनिहिताः**—न मिले-जुले; **वक्तव्याः**—बोलने चाहियें; **मृत्योः**—मृत्यु से; **आत्मानम्**—अपने आपको; **परिहराणि**—दूर रख सकूं; **इति**—यह (सोच कर) ॥५॥

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति। प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥१॥

कुल में रहना—यह ब्रह्मचर्य-रूप तीसरी डाल है। ये सब पुण्य को कमाने वाले लोक हैं, परन्तु एक लोक वह है जिसमें दान, तप आदि कोई कर्म नहीं किया जाता, ब्रह्म में ही स्थिति रहती है—यह 'ब्रह्म-संस्थ' संन्यासी का लोक है। उसे अमृतत्व प्राप्त होता है ॥१॥

कर्म-कांड तथा ज्ञान-कांड के इन लोकों को प्रजापति ने तपाया। किसी वस्तु को तपाने से जैसे उसका सार चू पड़ता है, वैसे इन लोकों को तपाने से सार-भूत त्रयी विद्या चू पड़ी। त्रयी-विद्या को तपाया तो उसका सार 'भूः-भुवः-स्वः' ये तीनों व्याहृतियां चू पड़ीं ॥२॥

त्रयः—(आगे बताये) तीन, धर्मस्कन्धाः—धर्म के स्कन्ध (बड़ी शाखाएं, आश्रय, भेद) हैं; यज्ञः—(नैत्यिक, सामयिक, व काम्य) यज्ञों का करना, अध्ययनम्—स्वाध्याय करना; दानम्—दान देना, इति—ये (तीन मिल कर), प्रथमः—(धर्म का) पहला (स्कन्ध—गृहस्थ-जीवन) है, तप—(धर्म-कार्य में) कष्ट सहना, सब व्रतों का पालन, एव—ही, द्वितीयः—(धर्म का) दूसरा (स्कन्ध—वानप्रस्थ जीवन) है, ब्रह्मचारी—ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए; आचार्य-कुलवासी—आचार्य के कुल में (घर पर) रहना, तृतीयः—(धर्म का) तीसरा (स्कन्ध—ब्रह्मचर्य-जीवन) है (जिसमें), अत्यन्तम्—अत्यधिक, आत्मानम्—अपने आप को; अवसादयन्—दुःख पाते हुए (सब इच्छाओं को मारते हुए रहना होता है), सर्वे—सब ही, एते—ये (जीवन—तीनों आश्रम), पुण्यलोकाः—पुण्य कार्य करने के स्थान या पुण्य को उत्पन्न करनेवाले, भवन्ति—होते हैं, (परन्तु चौथे सन्यास-आश्रम में जाकर) ब्रह्मसंस्थः—ब्रह्म की आराधना करने वाला, ब्रह्म में लीन (हो), अमृतत्वम्—अमर पद (मोक्ष) को, एति—प्राप्त होता है ॥१॥

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्। तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति ॥२॥

प्रजापतिः—प्रजापति ने; लोकान्—तीनों लोकों को, अभ्यतपत्—अभितप्त किया, तपाया (ध्यान-तप-चिन्तन किया), तेभ्यः—उनसे, अभितप्तेभ्यः—तपाये हुए; त्रयी—(ऋग्-यजु-साम रूप से) तीन, विद्या—ज्ञान, वेद, (त्रयी विद्या—चारों वेद); संप्रास्रवत्—चू पड़ी, प्रगट हुई, ताम्—उस (त्रयी विद्या) को, अभ्यतपत्—तपाया; तस्याः—उस (त्रयी विद्या) से; अभितप्तायाः—तपाई हुई; एतानि—ये; अक्षराणि—(अविनाशी) अक्षर; संप्रास्रवन्त—चू पड़े; प्रगट हुए, भूः भुवः स्वः—भूः भुवः स्वः; इति—इस (रूप वाले) ॥२॥

('भूः'-'भुवः'-'स्वः'---इन तीन व्याहृतियों का क्या अर्थ है ? संसार में सद्वस्तु के तीन रूप हैं---'अस्ति'-'भाति'-'प्रीति'---अर्थात् कोई वस्तु 'है', यह उसका पहला रूप है, परन्तु 'है'-से ही काम नहीं चलता, अगर उसे 'है'-की हालत में बने रहना है, तो उसे 'होते रहना' होगा, नहीं तो वह नष्ट हो जायगी। 'है'-की पहली हालत को 'अस्ति' कहा जाता है, अंग्रेजी में इसे 'Being' कहते हैं। 'होते रहना' या 'बने रहना'---इस दूसरी अवस्था को 'भाति' कहा जाता है, अंग्रेज़ी में इसे 'Becoming' कहते हैं। संसार का सारा विकास 'अस्ति' से 'भाति' की तरफ़, 'Being' से 'Becoming' की तरफ़ है---जहां यह विकास की दिशा रुकी, वहीं मृत्यु है। बीज पौधा बन रहा है, पौधा पेड़ बन रहा है; बच्चा बालक बन रहा है, बालक मनुष्य बन रहा है---बनने की यह अविरल-प्रक्रिया लगातार जारी रहती है। परन्तु यह 'बनना'---यह 'भाति'---यह 'Becoming'---इसके विकास की दिशा क्या है ? भारतीय-विचारकों का कहना था कि 'बनने' की---सृष्टि के विकास की---दिशा 'सुख' है। हर गति, हर प्रक्रिया सुख को ढूंढ रही है---इसी उद्देश्य को पाने में हर-वस्तु की सार्थकता है। कोई दुःख को नहीं ढूंढ रहा। *प्रत्येक सत्ता, होने के लिये है, प्रत्येक होना,* सुख के लिये है---यह संसार में हो रहे विकास की तीसरी अवस्था है। इसी भाव को यों कहा है कि प्रत्येक 'अस्ति' का लक्ष्य 'भाति' है, प्रत्येक 'भाति' का लक्ष्य 'प्रीति' है। अंग्रेजी के शब्दों में इसी बात को यूं कहेंगे कि प्रत्येक 'Being' का लक्ष्य 'Becoming' है, और प्रत्येक 'Becoming' का लक्ष्य 'Bliss' है। 'अस्ति'---'होना' 'Being' ---को 'भूः' कहते हैं; 'भाति'---'होते रहना'---'बनते रहना'---'Becoming'---को 'भुवः' कहते हैं; 'प्रीति---'सुख'---'Bliss'---को 'स्वः' कहते हैं। अस्ति-भाति-प्रीति---Being, Becoming, Bliss,---भूः-भुवः-स्वः---इन तीनों त्रिकों का क्रमशः एक ही अर्थ है, और ये तीनों 'ओं' में समा जाते हैं। संसार का विकास इसी प्रक्रिया से हो रहा है, भूः का लक्ष्य भुवः तथा भुवः का लक्ष्य स्वः है, इसलिये 'भूः'-'भुवः'-'स्वः'---इन व्याहृतियों को त्रयी विद्या

का सार कहा है, और इन तीन व्याहृतियों का सार 'ओंकार' है। इस व्याख्या को और अधिक समझने के लिये बृहदा० ४-१४ देखिये।)

व्याहृतियों को तपाया तो उनसे 'ओंकार' चू पड़ा। जैसे पत्ते की नाल से वृक्ष के सब पत्ते जुड़े रहते हैं—नाल सम्पूर्ण वृक्ष में और पत्ते-पत्ते में जाल की तरह फैली रहती है—इसी प्रकार ओंकार से सारी वाणी बंध रही है। इसलिये यह सब-कुछ ओंकार ही है, ओंकार ही है ॥३॥

द्वितीय प्रपाठक—(चौबीसवां खंड)

(यज्ञ करने वाले यजमान का लक्ष्य क्या होना चाहिये ?)

ब्रह्मवादी लोगों का कहना है कि जीवन एक यज्ञ है। जो जीवन के प्रभात में, जीवन के प्रारम्भ-काल में ब्रह्मचर्य-पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं, वे 'वसु' कहलाते हैं; जो इस तपस्या को जीवन के मध्य-काल तक ले जाते हैं, वे 'रुद्र' कहलाते हैं; जो इस तपस्या को जीवन के तृतीय-काल तक ले जाते हैं, वे 'आदित्य' या 'विश्व-देव' कहलाते हैं ॥१॥

ताम्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ॐकारः संप्रास्रवत्तद्यथा
शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा
वाक् संतृण्णोंकार एवेदं सर्वमोंकार एवेदं सर्वम् ॥३॥

तानि—उन (व्याहृति-अक्षरों) को, अभ्यतपत्—तपाया, तेभ्यः अभितप्तेभ्यः—तपाये हुए उन (अक्षर-व्याहृतियों) से, ओंकार—'ओम्'-पद, संप्रास्रवत्—प्रगट हुआ, तद्—तो, यथा—जैसे, शंकुना—डण्ठल से, कील से (द्वारा); सर्वाणि—(तह बनाकर रखे) सारे, पर्णानि—पत्ते, संतृण्णानि—सलग्न रहते हैं, एवम्—इस ही प्रकार, ओंकारेण—'ओम्'-पद से, सर्वा—सारी, वाक्—वाणी (वाङ्मय), संतृण्णा—संलग्न, व्याप्त है, ओंकार—'ओम्'-पद; एव—ही, इदम्—यह (सब दृश्यमान) है, ओंकारः—(और) ओंकार; एव—ही, इदम् सर्वम्—यह सब कुछ है ॥३॥

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवनं रुद्राणां माध्यन्दिनं
सवनमादित्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम् ॥१॥

ब्रह्मवादिनः—ब्रह्म की (वेद की) चर्चा करने वाले, ब्रह्मज्ञानी, वदन्ति—कहते हैं, बताते हैं; यद्—कि; वसूनाम्—आठों वसुओं (देवताओं) या २४ वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचारियों का, प्रातःसवनम्—प्रातःसवन नामक यज्ञ है (उसके

'वसु'-'रुद्र'-'आदित्य' ने तो जीवन-यज्ञ कर लिया। वसु पृथिवी-लोक का, रुद्र अन्तरिक्ष-लोक का, और आदित्य द्यु-लोक का भी स्वामी हो गया। परन्तु जिसका यज्ञ अभी पूर्ण नहीं हुआ, जो जीवन को यज्ञ मानकर अभी प्रवृत्त हुआ है—जो 'यजमान' है—उसे क्या मिला ? 'वसु'-'रुद्र'-'आदित्य' नामक तपस्वियों ने 'पृथिवी'-'अन्तरिक्ष'-'द्यु' लोकों पर आधिपत्य किया होता है, फिर 'यजमान' के लिये कौन-सा लोक रह जाता है ? जिसे इसका ज्ञान नहीं, वह क्या करेगा ? जानता हुआ ही तो कुछ करेगा ॥२॥

'वसु'-ब्रह्मचारी ने जिस प्रकार जीवन को यज्ञ मानकर, जीवन के प्रारम्भिक काल में साधना की, इसी प्रकार यज्ञ में प्रातरनुवाक मन्त्रों के गान करने से पूर्व, गार्हपत्याग्नि के पीछे, उत्तराभिमुख बैठ कर, वसु-ब्रह्मचारी के जीवन में जो साम-गान हो रहा है, यजमान

देवता वसु हैं, इसका लोक 'पृथिवी' है अतः वसु पृथिवी लोक के स्वामी—अधिवासी हैं); **रुद्राणाम्**—११ रुद्र (देवताओं) या ४४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने वालों का; **माध्यन्दिनम् सवनम्**—माध्यन्दिन-नामक यज्ञ है (इसका लोक अन्तरिक्ष है अतः रुद्रों का लोक अन्तरिक्ष हुआ); **आदित्यानाम्**—१२ आदित्य (देवताओं) या ४८ वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचारियों का; **च**—और; **विश्वेषाम् च देवानाम्**—सब ही देवताओं का; **तृतीय-सवनम्**—तीसरा (सायं का) सवन (यज्ञ) है (इसका लोक द्यौः है फलतः आदित्य या विश्वदेवों को द्यु-लोक प्राप्त है) ॥१॥

क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति। स यस्तं
न विद्यात्कथं कुर्यादथ विद्वान्कुर्यात् ॥२॥

क्व—कहाँ; **तर्हि**—(जब कि तीनों लोकों पर वसु-रुद्र-आदित्यों का आधिपत्य होगया) तो; **यजमानस्य**—यज्ञ-कर्ता का; **लोकः**—लोक है; **इति**—यह (ब्रह्मज्ञानी वेदज्ञ पूछते हैं); **सः यः**—वह जो; **तम्**—उस लोक को; **न**—नहीं; **विद्यात्**—जाने, जान पाये; **कथम्**—कैसे; **कुर्यात्**—(यज्ञ को) कर सकता है; **अथ**—किन्तु; **विद्वान्**—(प्राप्य लोक को) जानने वाला; **कुर्यात्**—(यज्ञानुष्ठान) कर सकेगा ॥२॥

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्यो-
दङ्मुख उपविश्य स वासवं सामाभिगायति ॥३॥

पुरा—पहले, पूर्व; **प्रातः**—प्रातःकालीन; **अनुवाकस्य**—स्तुतिपरक-मंत्र पाठ के; **उपाकरणात्**—आरम्भ करने से; **जघनेन**—पीछे, पश्चिम की ओर;

वैसा अपने जीवन द्वारा साम-गान करने का निश्चय करे। वसु-ब्रह्मचारी तो जीवन को यज्ञ मानकर २४ वर्ष तक साम-गान कर चुका है, 'यजमान'—जिसने जीवन-रूपी यज्ञ को प्रारम्भ ही किया है—जो यज्ञ के उपक्रम में अभी पड़ा है—उसे चाहिये कि यज्ञ प्रारम्भ करने से पूर्व ही वसु के जीवन के ढंग पर अपने जीवन को ढालने का प्रण करे ॥३॥

वह कहे कि वसु-ब्रह्मचारी जिस पृथिवी-लोक के स्वामी हैं, उस लोक का द्वार मेरे लिये भी खोल दो ताकि जैसे वसु पृथिवी-लोक का राज करते हैं, वैसे मैं भी राज करूं, अपने अन्दर किसी प्रकार की कमी का अनुभव न करूं ॥४॥

इस कथन के बाद यजमान गार्हपत्य-अग्नि में आहुति दे, और कहे कि हे अग्नि! आपका पृथिवी-लोक में वास है, आपको नमस्कार हो। हे अग्नि-रूप परमेश्वर! जिस प्रकार आपकी आराधना कर वसु-ब्रह्मचारी को पृथिवी-लोक का आधिपत्य प्राप्त हुआ है, इसी प्रकार मुझ 'यजमान' को—जिसने जीवन को यज्ञ-रूप बनाने का निश्चय कर लिया है—पृथिवी-लोक का आधिपत्य प्राप्त हो। यही यजमान का लोक है, इसे मैं प्राप्त करूं ॥५॥

गार्हपत्यस्य—गार्हपत्य-अग्नि के, उदङ्मुखः—उत्तराभिमुख, उपविश्य—बैठकर; सः—वह (यजमान), वासवम्—वसु देवतावाले (जिन मन्त्रों का देवता वसु है); साम—साम को; अभिगायति—गान करता है ॥३॥

लो३कद्वारमपा वा३र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं,
रा ३ ३ ३ ३ ३ हुं३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥४॥

लोकद्वारम्—(हे अग्ने) पृथिवी-लोक के द्वार (प्रवेश-मार्ग) को, अपावृणु—खोल दे; पश्येम—दर्शन करें, त्वा—तुझ को (तेरा), वयम्—हम, राज्याय—राज्य प्राप्ति के लिए; इति—यह (मन्त्र जपे) ॥४॥

अथ जुहोति। नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे
यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥५॥

अथ—तत्पश्चात्; जुहोति—आहुति देता है (अगला मन्त्र बोल कर). नमः—नमस्कार हो; अग्नये—अग्नि देवता को; पृथिवीक्षिते—पृथिवी में निवास करनेवाले; लोकक्षिते—लोक में निवास करने वाले, लोकम्—लोक को; मे—मुझ; यजमानाय—यजमान के लिए, विन्द—प्राप्त करा; एष—यह

'इस आयु के बीत जाने पर अगले जन्म में भी मैं पृथिवी-लोक में आऊं तो जीवन को यज्ञ-रूप बिताऊं'—इन शब्दों के साथ 'स्वाहा' कहकर कहे कि मेरे मार्ग में जो भी रुकावटें हों, हे भगवन्! उनका नाश कर दो, और फिर यजमान उठ खड़ा हो। उस समय वसु लोग उसे आशीर्वाद देते हैं, और 'प्रातःसवन' का फल उसे प्रदान करते हैं। जीवन के प्रभात को यज्ञ-मय बनाने से जो लाभ होता है, वह उसे प्राप्त होता है ॥६॥

'रुद्र'-ब्रह्मचारी ने जिस प्रकार जीवन को यज्ञ मानकर जीवन के मध्यकाल तक साधना की, इसी प्रकार यज्ञ में माध्यन्दिन-सवन मन्त्रों के गान करने से पूर्व, दक्षिणाग्नि के पीछे, उत्तराभिमुख बैठकर, रुद्र-ब्रह्मचारी के जीवन में जो साम-गान हो रहा है, यजमान वैसा अपने जीवन द्वारा साम-गान करने का निश्चय करे। रुद्र-ब्रह्मचारी तो जीवन को यज्ञ मानकर ३६ वर्ष तक साम-गान कर चुका है, 'यजमान'—जिसने जीवन-रूपी यज्ञ को प्रारंभ किया है—उसे चाहिये कि यज्ञ के मध्यकाल से पूर्व ही रुद्र के जीवन के ढंग पर अपने जीवन को ढालने का प्रण करे ॥७॥

(मैं); वै—निश्चय ही (तेरी कृपा से); यजमानस्य—यजमान के; लोके—लोक में; एता—जानेवाला; अस्मि—हूँ; (एता अस्मि—लोक को पाऊँगा) ॥५॥

अथ यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वो-
त्तिष्ठति तस्मै वसवः प्रातःसवनꣳ संप्रयच्छन्ति ॥६॥

अथ—इस (आहुति) के बाद; यजमानः—यज्ञकर्ता; परस्तात्—बाद में; आयुषः—आयु के; परस्ताद् आयुषः—मरणोपरान्त पुनर्जन्म में; स्वाहा—उचित कहा, उचित त्याग किया—आहुति कर; अपजहि—हटा, दूर कर; परिघम्—आगल को, रुकावट को; इति—ऐसे, उक्त्वा—कहकर; उत्तिष्ठति—उठ खड़ा होता है; तस्मै—उस (यजमान) को; वसवः—वसु देवता या वसु-ब्रह्मचारी; प्रातःसवनम्—प्रातःसवन (के फल पृथिवी-लोक) को; सम्प्रयच्छन्ति—दे देते हैं (यजमान का पृथिवी-लोक पर अधिकार हो जाता है) ॥६॥

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाग्नीध्रीयस्यो-
दङ्मुख उपविश्य स रौद्रꣳ सामाभिगायति ॥७॥

पुरा—पूर्व; माध्यन्दिनस्य—माध्यन्दिन सम्बन्धी; सवनस्य—यज्ञ-स्तुति के; उपाकरणात्—अनुष्ठान से; जघनेन—पीछे, पश्चिम की ओर; आग्नी-

वह कहे कि रुद्र-ब्रह्मचारी जिस अन्तरिक्ष-लोक के स्वामी हैं, उस लोक का द्वार मेरे लिये भी खोल दो ताकि जैसे रुद्र-ब्रह्मचारी 'वैराज्य', अर्थात् अन्तरिक्ष-लोक का राज करते हैं, वैसे मैं भी वहां का राज करूं ॥८॥

इस कथन के बाद यजमान दक्षिणाग्नि में आहुति दे, और कहे कि अन्तरिक्ष-लोक-स्थित वायु को नमस्कार हो ! हे वायु-रूप परमेश्वर ! जिस प्रकार आपकी आराधना कर रुद्र-ब्रह्मचारी को अन्तरिक्ष-लोक का आधिपत्य प्राप्त हुआ है, इसी प्रकार मुझ 'यजमान' को—जिसने जीवन को यज्ञ-रूप बनाने का निश्चय कर लिया है—अन्तरिक्ष-लोक का आधिपत्य प्राप्त हो, यही यजमान का लोक है, इसे मैं प्राप्त करूं ॥९॥

'इस आयु के बीत जाने पर अगले जन्म में मैं रुद्र-ब्रह्मचारी के पग-चिह्नों पर चलूं'—इन शब्दों के साथ 'स्वाहा' कहकर, और यह

ध्रौयस्य—दक्षिणाग्नि के, उदङ्मुख —उत्तराभिमुख, उपविश्य—बैठ कर, स —वह (यजमान), रौद्रम्—रुद्र देवता के, साम—साम-मन्त्र को, अभिगायति—गान करता है ॥७॥

लो३कद्वारमपा वा३र्णू ३३ पश्येम त्वा वय वैरा ३३३३३ हु ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥८॥

लोकद्वारम्—(हे वायो) अन्तरिक्ष-लोक के द्वार को, अपावृणु—खोल दो, पश्येम त्वा वयम्—हम आपका दर्शन करें, वैराज्याय—विशिष्ट राज्य की (प्राप्ति के लिए), इति—इस (साम) का गान करता है ॥८॥

अथ जुहोति। नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥९॥

अथ—इसके बाद, जुहोति—हवन करता है, आहुति देता है (अगला मन्त्र बोलकर), नम—नमस्कार हो, वायवे—वायु देवता को, अन्तरिक्षक्षिते—अन्तरिक्ष में निवास करनेवाले, लोकक्षिते—लोक में निवास करने वाले, लोकम् मे यजमानाय विन्द—मुझ यजमान को लोक प्राप्त कराइये, एष —यह (मैं), वै—निश्चय ही (तेरी कृपा से), यजमानस्य लोके एता अस्मि—यजमान के लोक को प्राप्त होऊंगा ॥९॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै रुद्रा माध्यन्दिनं सवनं संप्रयच्छन्ति ॥१०॥

कहकर कि मेरे मार्ग में जो रुकावटें हों उनका नाश हो, यजमान उठ खड़ा हो। उस समय रुद्र लोग उसे आशीर्वाद देते हैं, माध्यन्दिन-सवन का फल उसे प्रदान करते हैं, जीवन के मध्य-काल को यज्ञ-रूप बनाने से जो लाभ होता है, वह उसे प्राप्त होता है ॥१०॥

'आदित्य'-ब्रह्मचारी ने जिस प्रकार जीवन को यज्ञ मानकर जीवन के तृतीय-काल में साधना की, इसी प्रकार यज्ञ में तृतीय-सवन मन्त्रों के गान करने से पूर्व, आह्वनीय-अग्नि के पीछे, उत्तराभिमुख बैठकर, आदित्य-ब्रह्मचारी के जीवन में जो साम-गान हो रहा है, यजमान वैसा अपने जीवन द्वारा साम-गान करने का निश्चय करे। आदित्य-ब्रह्मचारी तो जीवन को यज्ञ मानकर ४८ वर्ष तक साम-गान कर चुका है, 'यजमान'—जिसने जीवन रूपी यज्ञ को प्रारम्भ किया है—उसे चाहिये कि यज्ञ के तृतीय-काल से पूर्व ही आदित्य अथवा विश्व-देव के जीवन के ढंग पर अपने जीवन को ढालने का प्रण करे ॥११॥

वह कहे कि जिस लोक के आप स्वामी हैं, उस लोक का द्वार

अत्र—यहां, इस लोक में; यजमानः—यजमान; परस्ताद् आयुषः—मरणोपरान्त, पुनर्जन्म में; स्वाहा—आहुति देकर; अपजहि परिघम्—रुकावट को दूर कर दो; इति—ऐसे; उक्त्वा—कह कर; उत्तिष्ठति—उठ खड़ा होता है; तस्मै—उस (यजमान) को; रुद्राः—रुद्र देवता या रुद्र ब्रह्मचारी; माध्यन्दिनम्—माध्यन्दिन-सम्बन्धी; सवनम्—सवन (के फल) को; सम्प्रयच्छन्ति—प्रदान करते हैं (यजमान को भी अन्तरिक्ष-लोक में निवास मिल जाता है) ॥१०॥

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाहवनीयस्योदङ्मुख
उपविश्य स आदित्यँ स वैश्वदेवँ सामाभिगायति ॥११॥

पुरा—पूर्व, पहले; तृतीयसवनस्य—तृतीय-सवन के; उपाकरणात्—अनुष्ठान प्रारम्भ करने से; जघनेन—पश्चिम की ओर; आहवनीयस्य—आहवनीय-अग्नि के; उदङ्मुखः उपविश्य—उत्तराभिमुख बैठकर; सः—वह (यजमान); आदित्यम्—आदित्य-देवता सम्बन्धी या आदित्य ब्रह्मचारी सम्बन्धी (या) सः—वह (यजमान); वैश्वदेवम्—विश्वदेव (देवता) सम्बन्धी; साम अभिगायति—साम का गान करता है ॥११॥

लो३कद्वारमपा वा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयँ स्वारा
३३३३३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥१२॥

मेरे लिये भी खोल दो ताकि आपकी तरह मैं भी स्वाराज्य का उपभोग करूं ॥१२॥

आदित्य-लोक का—वैश्व-देव-लोक का—द्वार मेरे लिये खोल दो ताकि भगवन् ! मैं तेरे रूप का दर्शन कर साम्राज्य का उपभोग करूं ॥१३॥

इसके बाद आहुति दे । आदित्य को नमस्कार हो, द्यु-लोक-वासी सब देवों को नमस्कार हो। आदित्य-ब्रह्मचारी को जैसे द्यु-लोक का तेज प्राप्त होता है, वैसे मुझे भी प्राप्त हो, इसे मैं प्राप्त करूं ॥१४॥

यही यजमान का लोक है, इसे मैं प्राप्त करूं । 'इस आयु के बीत जाने पर अगले जन्म में मैं आदित्य-ब्रह्मचारी के पग-चिह्नों पर

लोकद्वारम्—(हे आदित्य !) द्युलोक के द्वार को, अपावृणु—खोल दो, पश्येम त्वा वयम्—हम तेरा दर्शन कर सकें, स्वाराज्याय—स्वाराज्य (निष्कण्टक राज्य) की प्राप्ति के लिए, इति—ऐसे (गान करे) ॥१२॥

आदित्यमथ वैश्वदेवं लो३कद्वारमपावा३र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं
साम्रा ३३३३३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥१३॥

आदित्यम्—आदित्य देवता सम्बन्धी (पूर्व मन्त्र का गान कर), अथ—अब, वैश्वदेवम्—विश्वदेव-देवता वाले (आगे निर्दिष्ट साम का गान करे), लोकद्वारम् अपावृणु—(हे विश्वदेवो !) द्युलोक का द्वार खोल दो, पश्येम त्वा वयम्—हम आपका दर्शन करें, साम्राज्याय—साम्राज्य (चक्रवर्ती राज्य) की प्राप्ति के लिए, इति—इस (मन्त्र का गान करे) ॥१३॥

अथ जुहोति । नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो
दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय विन्दत ॥१४॥

अथ—तत्पश्चात् (अगला मन्त्र बोल कर), जुहोति—हवन करता है, नम—नमस्कार हो, आदित्येभ्य—(द्युलोक-पति) आदित्यों को, च—और, विश्वेभ्यः च देवेभ्य—विश्वदेवों को, दिविक्षिद्भ्यः—द्युलोक में रहने वाले, लोकक्षिद्भ्य—लोक में निवास करने वाले, लोकम्—द्वार को, मे—मुझ, यजमानाय—यजमान को, विन्दत—प्राप्त कराओ ॥१४॥

एष वै यजमानस्य लोक एतास्म्यत्र यजमान
परस्तादायुषः स्वाहाऽपहत परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ॥१५॥

एष वै—निश्चय ही (आप की कृपा से) यह (मैं), यजमानस्य—यजमान के, लोके—लोक में, एता अस्मि—पहुँच जाऊंगा, अत्र—यहां, इस जन्म में; यजमान—यजमान, परस्तात् आयुष—मरणोपरान्त, पुनर्जन्म में,

चलूं'—इन शब्दों के साथ 'स्वाहा' कहकर, और यह कहकर कि मेरे मार्ग में जो रुकावटें हों उनका नाश हो, यजमान उठ खड़ा हो ॥१५॥

जो इस प्रकार आदित्य-ब्रह्मचारी को आदर्श मानकर उसके जीवन के अनुसार अपने जीवन को ढालता है, आदित्य-लोग उसे आशीर्वाद देते हैं, और तृतीय-सवन का फल उसे प्रदान करते हैं, जीवन के तृतीय-काल को यज्ञमय बनाने से जो लाभ होता है वह उसे प्राप्त होता है ॥१६॥

तृतीय प्रपाठक—(पहला खंड)

(आदित्य की 'देवमधु' कल्पना, १ से ५ खंड)

अध्यात्म, अर्थात् 'पिंड' की दृष्टि से आदित्य-ब्रह्मचारी का वर्णन करने के अनन्तर ऋषि आधिदैविक अर्थात्, 'ब्रह्मांड' की दृष्टि से आदित्य का वर्णन करते हैं। यह सूर्य मानो आदित्य-ब्रह्मचर्य का प्रतीक

स्वाहा—'स्वाहा' कह कर; अपहत—हटाओ; परिघम्—रुकावट को; इति—यह; उक्त्वा—बोल कर; उत्तिष्ठति—उठ खड़ा होता है ॥१५॥

तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृतीयँ सवनँ संप्रयच्छन्त्येष ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद य एवं वेद य एवं वेद ॥१६॥

तस्मै—उस (यजमान) को; **आदित्याः च विश्वे च देवाः**—बारहों आदित्य और विश्वदेव; **तृतीयम्**—तीसरे; **सवनम्**—सवन के (फल) को; **सम्प्रयच्छन्ति**—प्रदान करते हैं; **एषः**—यह (यजमान); **ह वै**—ही; **यज्ञस्य**—यज्ञ की; **मात्राम्**—परिमाण को, स्वरूप को, यथार्थता को, फल को; **वेद**—जानता है; **य एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है; **य एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है (द्विरुक्ति आदरार्थ व प्रपाठक (अध्याय) की समाप्ति-सूचनार्थ है) ॥१६॥

ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु। तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवँशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ॥१॥

ओम्—ओम्पद-वाच्य भगवान् का स्मरण कर; **असौ**—(उपरि दृश्यमान) यह; **वै**—निश्चय से; **आदित्यः**—सूर्य; **देव-मधु**—देवताओं का (आनन्दित करनेवाला) मधु (शहद-सार) है; **तस्य**—उस (देव-मधु) का; **द्यौः एव**—द्युलोक ही; **तिरश्चीन-वंशः**—(छत्ते का आधार) तिरछा वांस (के समान) है; **अन्तरिक्षम्**—अन्तरिक्ष; **अपूपः**—छत्ता है; **मरीचयः**—किरणें; **पुत्राः**—सन्तान (मधु-मक्खियां) हैं ॥१॥

है। आदित्य कठोरता के लिये प्रसिद्ध है, परन्तु ब्रह्मचर्य की उपमा में यह आदित्य मानो देवताओं का मधु है। जैसे मधु अत्यन्त मीठा होता है वैसे ही सूर्य की मधुरता है। सूर्य की मधुरता आदित्य-ब्रह्मचर्य की प्रतीक है। सूर्य-रूपी मधु अन्तरिक्ष-रूपी छत्ते में है, जो द्यु-रूपी तिरछे बांस पर लटक रहा है। सूर्य के चारों तरफ फैल रही किरणें मानो मधुमक्खियों के बच्चे हैं ॥१॥

आदित्य की पूर्व-दिशा की किरणें छत्ते की पूर्व-दिशा की मधु-नाड़ियां हैं; ऋचाएं मधु-मक्खियां हैं; ऋग्वेद पुष्प है; मधु-मक्खियां पुष्प के जिस रस को चूसती हैं, वह रस ऋचाओं का अमृतमय रस है ॥२॥

जैसे पुष्पों को तपाने से उनका इत्र निकलता है, वैसे ऋचाओं द्वारा ऋग्वेद को जब तपाया गया, तो उसका रस—यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा उपभोग्य पदार्थ—ये रस के रूप में उत्पन्न हुए ॥३॥

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः।
ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं, ता अमृता आपः ॥२॥

तस्य—उस (देव-मधु सूर्य) की, ये—जो, प्राञ्चः—पूर्व दिशा की ओर पड़ने वाली; रश्मय—किरणें हैं, ता—वे, एव—ही, अस्य—इस (देव-मधु) की, प्राच्यः—पूर्व की ओर की, मधुनाड्य—मधु-भरी नाड़िया (नालियाँ) हैं; ऋचः—ऋचाएं (पद्यबद्ध वेदमन्त्र), एव—ही, मधुकृत—मधु बनाने वाली (मक्खियां) हैं; ऋग्वेदः एव—ऋग्वेद (प्रतिपादित कर्म व ज्ञान) ही; पुष्पम्—(रस का आधार) फूल है; ता—(फूल में वर्तमान) वे, अमृताः—अमर, चिरस्थायी; आप—रस (कर्म) हैं ॥२॥

ता वा एता ऋच एतमृग्वेदमभ्यतपं स्तस्याभितप्तस्य
यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत ॥३॥

ता वै—उन ही, एता—इन, ऋचः—ऋचाओं (मन्त्र या स्तुति) ने, एतम्—इस, ऋग्वेदम्—ऋग्वेद को (का), अभ्यतपन्—तपपूर्वक ध्यान विचार किया, तपाया; तस्य अभितप्तस्य—तपाये हुए (विचारे हुए), से उस (फूलरूपी ऋग्वेद) का; यशः—यश (प्रसिद्धि); तेज—शरीर-कान्ति, इन्द्रियम्—(ज्ञान-कर्म में समर्थ उभयविध) इन्द्रियाँ; वीर्यम्—रेत, उत्साह, अन्नाद्यम्—भोग-सामग्री; रस—रस; अजायत—उत्पन्न हुआ ॥३॥

वह रस झरा। झरकर उसने आदित्य का आश्रय लिया। आदित्य का जो लाल-लाल रूप है, वह इस रस का ही रूप है ॥४॥

(ब्रह्मचारी को अगर आदित्य-रूप मान लिया जाय, तो उसका आदित्य-रूप उग्र-रूप न होकर मधु-रूप है जिसकी रचना ऋग्वेद-रूपी पुष्प के मधुर रस से होती है। इस मधुर रस का स्वरूप यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा अन्न है। जैसे आदित्य यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा अन्न का प्रतीक है, वैसे आदित्य ब्रह्मचारी भी यश आदि से देदीप्यमान हो उठता है, यह इस सब का आशय है।)

तृतीय प्रपाठक—(दूसरा खंड)

आदित्य की दक्षिण-दिशा की किरणें छत्ते की दक्षिण-दिशा की मधु-नाड़ियां हैं; यजुर्वेद के मन्त्र ही मधु-मक्खियां हैं; यजुर्वेद पुष्प है; मधु-मक्खियां पुष्प के जिस रस को चूसती हैं, वह रस यजुर्वेद के मन्त्रों का अमृतमय रस है ॥१॥

जैसे पुष्पों को तपाने से उनका इत्र निकलता है, वैसे यजुर्वेद के स्तोत्रों द्वारा यजुर्वेद को जब तपाया गया, तो उसका रस—यश, तेज,

---

तद् व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितँ रूपम् ॥४॥

तद्—तो, वह (रस); व्यक्षरत्—बिखर गया (फैल गया); तद्—वह (बिखरा रस); आदित्यम्—सूर्य के; अभितः—चारों ओर; अश्रयत्—आश्रय लिया, ठहर गया, लग गया; तद्—वह (रस); वै—ही; यद्—जो; एतद्—यह; आदित्यस्य—सूर्य का; रोहितम्—लाल; रूपम्—रंग-रूप (है) ॥४॥

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो
यजूँष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥१॥

अथ—और; ये—जो; अस्य—इस (देव-मधु सूर्य) की; दक्षिणाः—दक्षिण दिशा में फैली; रश्मयः—किरणें हैं; ताः एव—वे ही; अस्य—इस (देव-मधु) की; दक्षिणाः—दक्षिण की ओर की; मधुनाड्यः—मधु की प्रणालियाँ हैं; यजूंषि—वेद के गद्यमय मन्त्र; एव—ही; मधुकृतः—मधु की रचना करने-वाले; यजुर्वेदः—यजुर्वेद; एव—ही; पुष्पम्—फूल; ताः—वे; अमृताः—अमर (अविनाशी); आपः—(कर्मरूपी) जल हैं ॥१॥

तानि वा एतानि यजूँष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपँस्तस्या-
भितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँ रसोऽजायत ॥२॥

तानि—उन; वै—ही; एतानि—इन (मधुकृत्); यजूंषि—गद्यमय मंत्रों ने; एतम्—इस; यजुर्वेदम्—यजुर्वेद को; अभ्यतपन्—तपाया, ध्यान-तप

ऐश्वर्य, शक्ति तथा उपभोग्य पदार्थ—ये रस के रूप में उत्पन्न हुए ॥२॥

वह रस झरा। झरकर उसने आदित्य का आश्रय लिया। आदित्य का जो शुक्ल रूप है, वह इस रस का ही रूप है ॥३॥

(जैसे आदित्य की मधुरता यश, तेज, ऐश्वर्य आदि से प्रकट होती है, वैसे इन्हीं गुणों से आदित्य-ब्रह्मचारी की मधुरता प्रकट होनी है। इस मधुरता का उदय ऋग्वेद की ऋचाओं तथा यजुर्वेद के स्तोत्रों के अमृत रस-पान से होता है, यह इस सबका आशय है।)

तृतीय प्रपाठक—(तीसरा खंड)

आदित्य की पश्चिम-दिशा की किरणें छत्ते की पश्चिम-दिशा की मधु-नाड़ियां हैं; साम-मन्त्र ही भ्रमरियां हैं; सामवेद पुष्प है; भ्रमरियां पुष्प के जिस रस को चूसती हैं, वह रस साम की गीतिकाओं का अमृतमय रस है ॥१॥

पूर्वक विचार किया; तस्य अभितप्तस्य—तपाये (विचारे हुए) उस (यजुर्वेद) का, यशः—यश (कीर्त्ति); तेजः—शरीर-दीप्ति; इन्द्रियम्—समर्थ इन्द्रियां; वीर्यम्—वीर्य, उत्साह; अन्नाद्यम्—भोग-सामग्री; रस—रस, अजायत—उत्पन्न हुआ ॥२॥

तद् व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लं रूपम् ॥३॥

तद्—वह (रस); व्यक्षरत्—बिखर गया, फैल गया, तद्—(बिखरा हुआ) वह; आदित्यम् अभितः—सूर्य के चारों ओर, अश्रयत्—ठहर गया, आश्रित हुआ; तद् वै एतद्—वह ही यह (है), यद् एतद्—जो यह, आदित्यस्य—सूर्य का; शुक्लम्—शुभ्र, श्वेत; रूपम्—रंग-रूप है ॥३॥

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः

सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥१॥

अथ—और, ये—जो, अस्य—इस (देव-मधु आदित्य) की, प्रत्यञ्च—पश्चिम दिशा में फैली, रश्मयः—किरणें हैं, ताः एव—वे ही, अस्य—इस (देव-मधु) की; प्रतीच्यः—पश्चिम ओर की, मधुनाड्यः—शहद की नालियां हैं, सामानि—साम-मन्त्र, एव—ही; मधुकृतः—मधु की रचना करने वाले (हैं), सामवेदः एव पुष्पम्—सामवेद ही फूल है; ताः—वे, अमृताः—अमर; आपः—जल (रस) हैं ॥१॥

जैसे पुष्पों को तपाने से उनका इत्र निकलता है, वैसे सामवेद के स्तोत्रों द्वारा सामवेद को जब तपाया गया, तो उसका रस—यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा अन्न—ये रस के रूप में उत्पन्न हुए ।।२।।

वह रस झरा। झरकर उसने आदित्य का आश्रय लिया। आदित्य का जो कृष्ण रूप है, वह इस रस का ही रूप है ।।३।।

(आदित्य-ब्रह्मचारी में सूर्य-सदृश यश, तेज, ऐश्वर्य आदि मधुर गुणों का उदय ऋग्वेद की ऋचाओं, यजुर्वेद के स्तोत्रों तथा सामवेद की गीतिकाओं के अमर रस-पान द्वारा होता है, यह इस सबका आशय है। आदित्य के कृष्ण रूप से अभिप्राय आदित्य का वह रूप है जिसमें आदित्य अपनी सब किरणों को समेटकर अन्धकार-ही-अन्धकार को जन्म दे देता है।)

तृतीय प्रपाठक—(चौथा खंड)

आदित्य की उत्तर-दिशा की किरणें छत्ते की उत्तर-दिशा की मधु-नाड़ियां हैं; अथर्वाङ्गिरस ही भ्रमरियां हैं; इतिहास-पुराण पुष्प

तानि वा एतानि सामान्येतँ सामवेदमभ्यतपँस्तस्याभि-
तप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँ रसोऽजायत ।।२।।

तानि वै एतानि सामानि—उन ही इन गेय वेद-मंत्रों ने; एतम् सामवेदम्—इस सामवेद को; अभ्यतपन्—तपाया, ध्यानपूर्वक विचारा; तस्य अभितप्तस्य—तपाये (ध्यानपूर्वक विचार किये) उस (सामवेद) का; यशः, तेजः, इन्द्रियम्, वीर्यम्, अन्नाद्यम्—कीर्ति, शरीर-कान्ति, समर्थ इन्द्रियाँ, वीर्य-उत्साह, भोग-सामग्री (रूपी); रसः—रस (सार); अजायत—उत्पन्न हुआ ।।२।।

तद् व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य कृष्णँ रूपम् ।।३।।

तद् व्यक्षरत्—वह (रस) बिखर गया, चू पड़ा, फैल गया; तद्—उसने; आदित्यम् अभितः—सूर्य के चारों ओर; अश्रयत्—आश्रय लिया, ठहर गया; तद् वै एतद्—वह ही यह (है); यद् एतद्—जो यह; आदित्यस्य—सूर्य का; कृष्णम्—काला; रूपम्—रंग-रूप (है) ।।३।।

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस
एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आपः ।।१।।

अथ—और; ये—जो; अस्य—इस (देव-मधु आदित्य) की; उदञ्चः—उत्तर दिशा में फैली; रश्मयः—किरणें (हैं); ताः एव—वे ही; अस्य—इस

हैं; भ्रमरियां पुष्प के जिस रस को चूसती हैं, वह रस इतिहास-पुराण का अमृतमय रस है ॥१॥

जैसे पुष्पों को तपाने से उनका इत्र निकलता है, वैसे अथर्वाङ्गिरस ने जब इतिहास-पुराण को तपाया, तो उसका रस—यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा अन्न—ये रस के रूप में उत्पन्न हुए ॥२॥

वह रस झरा। झरकर उसने आदित्य का आश्रय लिया। आदित्य का जो परम कृष्ण रूप है, वह इस रस का ही रूप है ॥३॥

तृतीय प्रपाठक—(पांचवां खंड)

आदित्य की ऊपर की जो किरणें हैं, वे छत्ते की ऊपर की दिशा की मधु-नाड़ियां हैं; गुरु के गुह्य-आदेश ही भ्रमरियां हैं; ब्रह्म पुष्प

(देव-मधु) की, उदीच्यः—उत्तर दिशा की; मधुनाड्यः—शहद की प्रणालियां हैं; अथर्वाङ्गिरसः—अथर्वाङ्गिरस् द्वारा दृष्ट वेद-मन्त्र (अथर्ववेद), एव—ही; मधुकृतः—मधु की रचना करने वाले, इतिहास-पुराणम्—इति हास (पूर्व-भूत वृत्त) और पुराण (सृष्टि-रचना का क्रम) ही; पुष्पम्—फूल है, ताः—वे; अमृताः—अमर (अविनाशी), आपः—जल (रस) हैं ॥१॥

ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपँस्तस्या-
भितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँ रसोऽजायत ॥२॥

ते वै एते अथर्वाङ्गिरसः—उन ही इन अथर्वाङ्गिरस् (अथर्ववेद के मन्त्रों) ने; एतद्—इस; इतिहास-पुराणम्—इतिहास और पुराण नामक ब्राह्मण (वेद-व्याख्यान) भाग को, अभ्यतपन्—तपाया, विचारा, तस्य अभितप्तस्य—तपाये हुए (विचार किये हुए) उस (इतिहास-पुराण) का, यशः तेजः इन्द्रियम् वीर्यम् अन्नाद्यम्—प्रसिद्धि, शरीर-कान्ति, सशक्त इन्द्रियां, वीर्य-उत्साह, भोग-सामग्री (रूपी); रसः अजायत—रस उत्पन्न हुआ ॥२॥

तद् व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णँ रूपम् ॥३॥

तद् व्यक्षरत्—वह (रस) बिखर गया, चू पड़ा, तद्—वह (रस); आदित्यम् अभितः—सूर्य के चारों ओर, अश्रयत्—आश्रित हुआ, ठहर गया, तद् वै एतद्—वह ही यह (रस है), यद् एतद्—जो यह, आदित्यस्य—सूर्य का, परम्—अत्यधिक, कृष्णम्—काला; रूपम्—रंग-रूप (है) ॥३॥

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या
एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः ॥१॥

अथ—और; ये—जो; अस्य—इस (देव-मधु आदित्य) की, ऊर्ध्वाः—ऊपर की ओर फैली; रश्मयः—किरणें (हैं); ताः—वे; एव—ही; अस्य—इस

हैं; भ्रमरियां पुष्प के जिस रस को चूसती हैं, वह रस ब्रह्म-ज्ञान का अमृतमय रस है ॥१॥

जैसे पुष्पों को तपाने से उनका इत्र निकलता है, वैसे गुह्य-आदेशों द्वारा जब ब्रह्म को तपाया गया, तो उसका रस—यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा अन्न—ये रस के रूप में उत्पन्न हुए ॥२॥

वह रस झरा। झरकर उसने आदित्य का आश्रय लिया। आदित्य के मध्य में जो तेजोमय-चक्र चलायमान-सा दीखता है, वह इस रस का ही रूप है ॥३॥

वेद रस हैं, और क्योंकि यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा अन्न वेदों के रस हैं, अतः ये रसों के रस हैं। वेद अमृत हैं, और क्योंकि

(देव-मधु) की; ऊर्ध्वाः—ऊपर की; मधु-नाड्यः—शहद की प्रणालियाँ हैं; गुह्याः—गुप्त, रहस्यमय; एव—ही; आदेशाः—(ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु के) उपदेश, निर्देश, आज्ञाएँ; मधुकृतः—मधु की रचना करनेवाले हैं; ब्रह्म—ब्रह्म (परमेश्वर), सम्पूर्ण (चारों) वेद; एव—ही; पुष्पम्—फूल है; ताः—वे; अमृताः—अमर, अविनाशी; आपः—जल, कर्म ॥१॥

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद् ब्रह्माभ्यतपँ्स्तस्याभि-
तप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँ् रसोऽजायत ॥२॥

ते वै एते—उन ही इन; गुह्याः आदेशाः—रहस्य-निर्देशों ने; एतद्—इस; ब्रह्म—वेद-ज्ञान को; अभ्यतपन्—तपाया, विचार किया, पुनः अनुशीलन किया; तस्य अभितप्तस्य—तपाये हुए (पूर्ण अनुशीलन करने पर) उस ब्रह्म (वेद-ज्ञान) का; यशः तेजः इन्द्रियम्, वीर्यम्, अन्नाद्यम्—कीर्ति, शरीर-कान्ति, सशक्त इन्द्रियाँ, वीर्य-उत्साह, भोग-सामग्री (रूपी); रसः—सार, रस; अजायत—उत्पन्न हुआ ॥२॥

तद् व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ॥३॥

तद्—वह (सार-भूत) रस; व्यक्षरत्—बिखर गया; तद् आदित्यम् अभितः अश्रयत्—वह सूर्य के चारों ओर एकत्र हुआ (ठहर गया); तद् वै एतद्—वह ही यह (है); यद् एतद्—जो यह; आदित्यस्य—सूर्य के; मध्ये—बीच (भाग) में; क्षोभते इव—चंचल-सा (हिलता-डुलता-सा) है ॥३॥

ते वा एते रसानाँ् रसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि
वा एतान्यमृतानाममृतानि, वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि ॥४॥

ते वै एते—वे ही ये (रस); रसानाम्—रसों के; रसाः—रस हैं; वेदाः रसाः—वेद (चारों) ही तो रस (सार) हैं; तेषाम्—उन (वेदों)

यश, तेज आदि वेदों से झरे हुए अमृत हैं, अतः ये अमृतों के अमृत हैं ॥४॥

(यश, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति तथा अन्न का ब्रह्माण्ड में सूर्य तथा पिंड में आदित्य-ब्रह्मचारी प्रतीक हैं—ये ही रसों-के-रस हैं, अमृतों-के-अमृत हैं, अतः भौतिक-जगत् के सूर्य की तरह आदित्य-ब्रह्मचारी अपने जीवन को देदीप्यमान बनाये, परन्तु दीप्ति के साथ सूर्य के मधु-रूप को मुख्य समझकर उसकी आराधना करे, यह इस सबका आशय है।)

तृतीय प्रपाठक—(छठा खंड)
('ब्रह्मोपनिषद्'—आध्यात्मिक-विकास के क्रम, ६ से ११ खंड)

इन अमृतों में जो प्रथम अमृत है, उसका पान करते हुए 'अग्नि-मुख', अर्थात् अग्नि के समान देदीप्यमान मुख वाले 'वसु'-ब्रह्मचारी अपना जीवन यापन करते हैं। दिव्य-गुण-सम्पन्न ब्रह्मचारी लोग खाने-पीने में रत नहीं रहते, वे अमृत-रूप ब्रह्म के दर्शन से ही तृप्त रहते हैं ॥१॥

के; एते—ये (यश आदि), रसाः—रस हैं, तानि वं एतानि—वे ही ये (रस), अमृतानाम् अमृतानि—अमृतों (अनश्वर) के अमृत हैं—उत्कृष्ट अमृत हैं, वेदाः हि अमृताः—क्योंकि वेद ही अमृत हैं, तेषाम्—उन (अमृतों) के, एतानि—ये (रस); अमृतानि—अमृत हैं ॥४॥

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥

तद् यत्—सो जो, प्रथमम्—पहला, अमृतम्—अमृत (यश) है, तद्—उसको, वसवः—आठों वसु या वसु ब्रह्मचारी, उपजीवन्ति—(के आधार पर) जीते हैं, जीवन के लिए उपयोग करते हैं (यश प्राप्ति ही उनका लक्ष्य होता है); अग्निना—अग्नि (द्वारा प्रोक्त ऋग्वेदरूपी), मुखेन—मुख से, साधन द्वारा; या (अग्निना मुखेन—अग्नि के समान देदीप्यमान मुख से युक्त); न वै—न तो, देवाः—देवगण; अश्नन्ति—खाते हैं, न—नहीं, पिबन्ति—पीते हैं, एतद् एव अमृतम्—इस ही अमृत को, दृष्ट्वा—देखकर, तृप्यन्ति—तृप्त हो जाते हैं ॥१॥

वे उसी अमृतमय रूप में बसे रहते हैं, इसी के रूप से ही उनकी ऊर्ध्व-गति होती है ॥२॥

जो इस प्रकार अमृत के रूप को जानता है, वह वसुओं के साथ रल-मिलकर एक हो जाता है, अग्नि के समान ही देदीप्यमान मुख वाला हो जाता है, और अमृत के दर्शन में ही तृप्त रहता है। जो अमृत के इस रूप में बस जाता है, उसकी अमृत के इसी रूप से ऊर्ध्व-गति होती है ॥३॥

ऐसा व्यक्ति, जब तक सूर्य पूर्व से उदित और पश्चिम में अस्त होता रहेगा, तब तक वसुओं के आधिपत्य और स्वाराज्य में रहेगा ॥४॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥२॥

ते—वे वसु-गण; एतद् एव—इस ही; रूपम्—रूप को (का); अभिसंविशन्ति—आश्रय लेते हैं, (इसमें ही) लीन हो जाते हैं; एतस्मात्—इस; रूपाद्—रूप से; उद्यन्ति—उद्गत होते हैं, ऊपर-ऊपर उठते हैं ॥२॥

स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स य एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥३॥

सः यः एतद्—वह जो इस; एवम्—इस प्रकार के; अमृतम्—अमृत को; वेद—जानता है; वसूनाम् एव एकः—वसुओं में ही एक; भूत्वा—होकर; अग्निना एव मुखेन—अग्नि रूप ही मुख से युक्त; एतद् एव अमृतम् दृष्ट्वा—इस ही अमृत को देखकर; तृप्यति—तृप्त हो जाता है, कामना-शून्य हो जाता है; सः यः—वह जो; एतद् एव रूपम्—इस ही रूप को (में); अभिसंविशति—आश्रय लेता है, लीन होता है; एतस्मात्—इस; रूपाद्—रूप से; उदेति—(अधिक) उन्नत होता है ॥३॥

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता वसूनामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥४॥

सः—वह; यावत्—जितना, जबतक; आदित्यः—सूर्य; पुरस्तात्—पूर्व दिशा से, सामने से; उदेता—उदय होगा; पश्चात्—पश्चिम दिशा में; पीछे की ओर; अस्तम् एता—अस्त होगा; वसूनाम् एव—वसुओं का ही; तावत्—तबतक, उतना; आधिपत्यम्—शासन; स्वाराज्यम्—अपना ही सब ओर राज्य; परि+एता—व्याप्त रहेगा, होगा ॥४॥

तृतीय प्रपाठक (सातवां खंड)

इन अमृतों में जो द्वितीय अमृत है, उसका पान करते हुए 'इन्द्र-मुख', अर्थात् इन्द्र के समान ऐश्वर्यवान् मुख वाले 'रुद्र'-ब्रह्मचारी अपना जीवन यापन करते हैं। दिव्य-गुण-सम्पन्न ब्रह्मचारी लोग खाने-पीने में रत नहीं रहते, वे अमृत-रूप ब्रह्म के दर्शन से ही तृप्त रहते हैं ॥१॥

वे उसी अमृतमय रूप में बसे रहते हैं, इसी के रूप से ही उन की ऊर्ध्व-गति होती है ॥२॥

जो इस प्रकार अमृत के रूप को जानता है, वह रुद्रों के साथ रल-मिलकर एक हो जाता है, इन्द्र के समान ही ऐश्वर्यवान् मुख वाला हो जाता है, और अमृत के दर्शन में ही तृप्त रहता है। जो अमृत के इस रूप में बस जाता है, उसकी अमृत के इसी रूप से ऊर्ध्व-गति होती है ॥३॥

अथ यद् द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥

अथ—और; यद्—जो, द्वितीयम्—दूसरा, अमृतम्—अमृत (तेज) है, तद्—उसको (का); रुद्राः—एकादश रुद्र या रुद्र-संज्ञक ब्रह्मचारी, उपजीवन्ति—जीवन-धारण के लिए उपयोग करते हैं; इन्द्रेण मुखेन—इन्द्र के समान ऐश्वर्यमय मुख से युक्त, या इन्द्र रूप मुख से (साधन द्वारा), न वै देवाः अश्नन्ति—न तो देव-गण (अन्न) खाते हैं; न पिबन्ति—न कुछ पीते हैं, एतद् एव अमृतम् दृष्ट्वा तृप्यन्ति—इस ही अमृत को देखकर तृप्त हो जाते हैं ॥१॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥२॥

ते—वे (रुद्र); एतद् एव रूपम्—इस ही रूप को (में); अभिसंविशन्ति—आश्रय लेते हैं, लीन हो जाते हैं, एतस्माद् रूपात्—इस ही रूप से; उद्यन्ति—उदित (उद्गत-उन्नत) होते हैं ॥२॥

स य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं
दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥३॥

सः यः—वह जो, एतद्—इस; एवम् अमृतम् वेद—इस प्रकार के अमृत को जान लेता है; रुद्राणाम् एव एकः भूत्वा—रुद्रों में ही एक होकर; इन्द्रेण एव मुखेन—इन्द्र रूपी मुख से ही; एतद् एव अमृतम् दृष्ट्वा—इस ही अमृत को देखकर (जान कर); तृप्यति—तृप्त हो जाता है, सः—वह (ज्ञाता); एतद्

सूर्य जब तक पूर्व से उदय और पश्चिम में अस्त होता रहेगा, अगर उससे दुगुने-काल तक वह दक्षिण से उदय और उत्तर में अस्त होता रहे, तो उतने समय तक ऐसा व्यक्ति रुद्रों के आधिपत्य और स्वाराज्य में रहेगा ॥४॥

तृतीय प्रपाठक—(आठवां खंड)

इन अमृतों में जो तृतीय अमृत है, उसका पान करते हुए 'वरुण-मुख', अर्थात् वरुण के समान आकर्षक मुख वाले 'आदित्य'-ब्रह्मचारी अपना जीवन यापन करते हैं। दिव्य-गुण-सम्पन्न ब्रह्मचारी लोग खाने-पीने में रत नहीं रहते, वे अमृत-रूप ब्रह्म के दर्शन से ही तृप्त रहते हैं ॥१॥

एव रूपम् अभिसंविशति—इस रूप में ही लय हो जाता है; **एतस्माद् रूपाद्**—इस ही रूप से; **उदेति**—उद्गत (उन्नत) हो जाता है ॥३॥

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावद्दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेव तावदाधिपत्यँ स्वाराज्यं पर्येता ॥४॥

सः—वह; **यावद्**—जबतक, जितना; **आदित्यः**—सूर्य; **पुरस्तात्**—पूर्व की ओर से; **उदेता**—उदय होगा; **पश्चाद्**—पश्चिम की ओर; **अस्तम् एता**—अस्त होगा; **द्विः**—दुगना; **तावत्**—तवतक, उतना; (**द्विस्तावत्**—उससे दुगने काल तक); **दक्षिणतः उदेता**—दक्षिण की ओर से उदय होगा; **उत्तरतः**—उत्तर की ओर; **अस्तम् एता**—अस्त होगा; **रुद्राणाम् एव**—रुद्रों का ही; **तावत्**—उतना, उतने काल तक; **आधिपत्यम्**—शासन; **स्वाराज्यम्**—अपना ही सब ओर राज्य; **परि+एता**—प्राप्त रहेगा ॥४॥

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥

अथ यत् तृतीयम् अमृतम्—और जो तीसरा (इन्द्रिय—सशक्त ज्ञान और कर्म इन्द्रिय) अमृत है; **तद्**—उसको (का); **आदित्याः**—१२ आदित्य या आदित्य-संज्ञक ब्रह्मचारी; **उपजीवन्ति**—जीवन के लिये उपयोग करते हैं; **वरुणेन**—वरुण (रूप); **मुखेन**—मुख से (साधन द्वारा); (**वरुणेन मुखेन**—वरुण—आकर्षक—मुख से युक्त होकर); **न वै देवाः अश्नन्ति न पिबन्ति**—न तो देव-गण (अन्न) खाते हैं न ही (कुछ) पीते हैं; **एतद् एव अमृतम् दृष्ट्वा तृप्यन्ति**—इस ही अमृत को देख कर (जान कर) तृप्त होते हैं ॥१॥

वे उसी अमृतमय-रूप में बसे रहते हैं, इसी के रूप से ही उनकी ऊर्ध्व-गति होती है ॥२॥

इस प्रकार जो अमृत के रूप को जानता है, वह आदित्यों के साथ रल-मिलकर एक हो जाता है, वरुण के समान ही आकर्षक मुख वाला हो जाता है और अमृत के दर्शन में ही तृप्त रहता है। जो अमृत के इस रूप में बस जाता है, उसकी अमृत के इसी रूप से ऊर्ध्व-गति होती है ॥३॥

पूर्व से पश्चिम में सूर्य जब तक उदय-अस्त होता रहेगा, अगर उससे दुगुने-काल तक वह दक्षिण से उदय होकर उत्तर में अस्त होता रहे, और अगर उससे भी दुगुने समय तक वह पश्चिम से उदय होकर पूर्व में अस्त होता रहे, तो उतने समय तक ऐसा व्यक्ति आदित्यों के आधिपत्य और स्वाराज्य में रहेगा ॥४॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥२॥

ते—वे (आदित्य), एतद् एव रूपम् अभिसंविशन्ति—इस ही रूप (अमृत) में लीन हो जाते हैं, एतस्माद् रूपाद् उद्यन्ति—इस ही रूप से पुन उदित (उन्नत) हो जाते हैं ॥२॥

स य एतदेवममृतं वेदादित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैतदेवा-
मृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥३॥

सः यः—वह जो, एतत्—इस, एवम्—इस प्रकार के, अमृतम्—अमृत को, वेद—जान लेता है, आदित्यानाम् एव एकः भूत्वा—आदित्यों में ही एक होकर (उन जैसा होकर), वरुणेन एव मुखेन—वरुण रूप ही मुख से, एतद् एव अमृतम् दृष्ट्वा तृप्यन्ति—इस ही अमृत को देख कर (जान कर) तृप्त हो जाता है, सः एतद् एव रूपम् अभिसंविशति—वह इस ही रूप में लीन (मग्न) हो जाता है, एतस्माद् रूपाद् उदेति—इस ही रूप से उदित (उन्नत) हो जाता है ॥३॥

स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता द्विस्तावत्पश्चादुदेता
पुरस्तादस्तमेताऽऽदित्यानामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥४॥

सः—वह, यावत्—जितना, जबतक, आदित्य—सूर्य, दक्षिणतः उदेता—दक्षिण की ओर से उदय होगा, उत्तरतः अस्तम् एता—उत्तर की ओर अस्त होगा, द्वि तावत्—उससे दुगना या दुगने काल तक, पश्चाद् उदेता—पश्चिम से उदय होगा; पुरस्ताद् अस्तम् एता—पूर्व की ओर अस्त होगा, आदित्यानाम्—आदित्यों का या आदित्य-सदृश ब्रह्मचारियों का, एव—ही,

तृतीय प्रपाठक—(नवां खंड)

इन अमृतों में जो चतुर्थ अमृत है, उसका पान करते हुए 'सोम-मुख', अर्थात् सोम के समान सौम्य-मूर्ति वाले 'मरुत'—आजीवन-ब्रह्मचारी—अपना जीवन यापन करते हैं। देव-लोग खाने-पीने से नहीं, अमृत के दर्शन से तृप्त रहते हैं ॥१॥

वे उसी अमृतमय-रूप में बसे रहते हैं, इसी के रूप से ही उन की ऊर्ध्व-गति होती है ॥२॥

इस प्रकार जो अमृत के रूप को जानता है, वह मरुतों के साथ रल-मिलकर एक हो जाता है, सोम के समान ही सौम्य-मूर्ति हो जाता है और अमृत के दर्शन में ही तृप्त रहता है। जो अमृत के इस रूप में बस जाता है उसकी अमृत के इसी रूप से ऊर्ध्व-गति होती है ॥३॥

तावद्—उतना या उतने काल तक; आधिपत्यम् स्वाराज्यम्—शासन और अपना सब ओर राज्य; परि+एता—व्याप्त होगा, रहेगा ॥४॥

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥

अथ—और; यत्—जो; चतुर्थम्—चौथा (वीर्य-उत्साह); अमृतम्—अमृत है; तत्—उसको (का); मरुतः—मरुद्गण-देव; अखण्ड ब्रह्मचारी, नैष्ठिक ब्रह्मचारी, सामान्य जनता; उपजीवन्ति—जीवन के लिए उपयोग करते हैं; सोमेन मुखेन—सोमदेव के द्वारा या सोम्य मुख से युक्त; न वै देवाः अश्नन्ति न पिबन्ति—न तो देवता अन्न खाते हैं और न कुछ पीते हैं; एतद्—इस (वीर्य-रूप); एव—ही; अमृतम्—अमृत को; दृष्ट्वा—देखकर (जानकर); तृप्यन्ति—तृप्त हो जाते हैं ॥ १॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥२॥

ते एतद् एव रूपम् अभिसंविशन्ति—वे (मरुत्) इस रूप में ही लीन (मग्न) रहते हैं (और); एतस्माद् रूपात् उद्यन्ति—इस ही रूप से ही ऊपर उठते हैं; उन्नत होते हैं ॥२॥

स य एतदेवममृतं वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं
दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥३॥

सः यः—वह जो; एतद् एवम् अमृतम् वेद—इस प्रकार के इस अमृत को जान लेता है; मरुताम् एव एकः भूत्वा—मरुद्-गण में ही एक (समान) होकर;

सूर्य के पश्चिम से उदय होकर पूर्व में अस्त होने के समय की जितनी कल्पना अभी की गई, उससे अगर दुगुने समय तक वह उत्तर से उदय होकर दक्षिण में अस्त होता रहे, तो उतने काल तक ऐसा व्यक्ति मरुतों के आधिपत्य और स्वाराज्य में रहेगा ॥४॥

तृतीय प्रपाठक—(दसवां खंड)

इन अमृतों में जो पंचम अमृत है, उसका पान करते हुए 'ब्रह्म-मुख', अर्थात् ब्रह्म के समान विशाल मूर्ति वाले 'साध्य'—यह अवस्था जिसे सिद्ध करना, अपने जीवन में घटाना हमारा चरम-लक्ष्य है—अपना जीवन व्यतीत करते हैं। देव लोग खाने-पीने से नहीं, अमृत के दर्शन से तृप्त रहते हैं ॥१॥

सोमेन एव मुखेन—सोम (रूप) मुख से (युक्त), एतद् एव अमृतम् दृष्ट्वा तृप्यति—इस ही अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है, स एतद् एव रूपम् अभिसं-विशति—वह इस ही रूप में लीन (मग्न) रहता है, एतस्माद् रूपाद्—इस ही रूप से, उदेति—उदित (उन्नत) हो जाता है ॥३॥

स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्तावदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥४॥

सः—वह, यावद्—जितना, जबतक, आदित्यः—सूर्य, पश्चाद् उदेता—पश्चिम दिशा से उदय होगा, पुरस्ताद् अस्तम् एता—पूर्व की ओर छिपेगा, द्विः तावत्—उससे दुगना या दुगने काल तक, उत्तरत—उत्तर दिशा से, उदेता—उगेगा, दक्षिणतः—दक्षिण दिशा की ओर, अस्तम् एता—अस्त होगा, मरुताम्—मरुद्-देवताओं, या अखण्ड ब्रह्मचारियों का, एव—ही, तावद्—उतना या उतने काल तक, आधिपत्यम् स्वाराज्यम्—शासन और अपना सब ओर राज्य, परि+एता—व्याप्त होगा, रहेगा ॥४॥

अथ यत्पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥

अथ—और, यत्—जो, पञ्चमम्—पांचवां (अन्नाद्य—भोग्य-सामग्री), अमृतम्—अमृत है, तत्—उसको (का), साध्याः—साध्य-देव, साधना में आदर्शभूत ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय लोग (गुह्य आदेश देनेवाले), उपजीवन्ति—जीवन-रक्षा का आधार बनाते हैं; ब्रह्मणा मुखेन—वेद-ज्ञातृत्व से वृद्ध (शोभित) मुख से युक्त, न वै देवाः अश्नन्ति न पिबन्ति—न तो देवगण अन्न खाते हैं, न ही कुछ पीते हैं; एतद् एव अमृतम् दृष्ट्वा तृप्यन्ति—इस ही अमृत को देखकर तृप्त होते हैं ॥१॥

वे उसी अमृतमय-रूप में बसे रहते हैं, इसी के रूप से उनकी ऊर्ध्व-गति होती है ॥२॥

इस प्रकार जो अमृत के रूप को जानता है, वह साध्यों के साथ रल-मिलकर एक हो जाता है, ब्रह्म के समान ही विशाल-मूर्ति हो जाता है, और अमृत के दर्शन में ही तृप्त रहता है। जो अमृत के इस रूप में बस जाता है उसकी अमृत के इसी रूप से ऊर्ध्व-गति होती है ॥३॥

सूर्य के उत्तर से उदय होकर दक्षिण में अस्त होने के समय की जितनी कल्पना अभी की गई, उससे अगर दुगुने समय तक वह ऊपर से उदय होकर नीचे अस्त होता रहे, तो इतने काल तक ऐसा व्यक्ति साध्यों के आधिपत्य और स्वाराज्य में रहेगा ॥४॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥२॥

ते—वे साध्य देव; एतद् एव रूपम् अभिसंविशन्ति—इस ही (अखाद्य-अमृत) रूप में मग्न (लीन) रहते हैं; एतस्माद् रूपाद्—इस (अखाद्य) रूप से भी; उद्यन्ति—ऊपर उठ जाते हैं, उन्नत हो जाते हैं ॥२॥

स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैत-देवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥३॥

सः यः—वह जो; एतद् एवम् अमृतम्—इस इस प्रकार के अमृत को; वेद—जान लेता है; साध्यानाम् एव एकः भूत्वा—साध्य-देवों (ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रियों) में ही एक (समान) होकर; ब्रह्मणा एव मुखेन—वेद-ज्योति से शोभित मुख से युक्त होकर; एतद् एव अमृतम् दृष्ट्वा तृप्यति—इस ही अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है; सः एतद् एव रूपम् अभिसंविशति—वह इस ही रूप में लीन (मग्न) हो जाता है; एतस्माद् रूपाद्—इस रूप से; उदेति—उदित (उन्नत) हो जाता है ॥३॥

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्व उदेतार्वाङस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥४॥

सः—वह; यावद्—जितना, जबतक; आदित्यः—सूर्य; उत्तरतः उदेता—उत्तर दिशा की ओर से उदय होगा; दक्षिणतः—दक्षिण की ओर; अस्तम् एता—अस्त होगा; द्विः तावद्—उससे दुगना; ऊर्ध्वः—ऊपर की ओर से; उदेता—उदय होगा; अर्वाग्—नीचे की ओर; अस्तम् एता—अस्त होगा; साध्यानाम्—साध्य-देवों या आदर्श ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रियों का; तावत्—उतना, उतने काल तक; आधिपत्यम् स्वाराज्यम्—शासन और अपना सब ओर राज्य; परि+एता—व्याप्त रहेगा, होगा ॥४॥



वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् तथा साध्य ऋषि

(तृतीय प्रपाठक में यह कहा गया है कि ऋक्, यजु, साम, अथर्व-वेदों के गुह्य आदेश—इन सबको तपाने से जो रस झरा, वह है—'यश', 'तेज', 'ऐश्वर्य', 'शक्ति' तथा 'अन्न'। जैसे पुष्पों से पुष्पों का रस—इत्र—उत्पन्न होता है, वैसे वेदों से ये रस निकले। ये 'अमृत' हैं। देव लोग खाने-पीने से नहीं तृप्त होते, इन पांच अमृतों का पान करते हैं। छान्दोग्योपनिषद् का कथन यह है कि इन पांच अमृतों का पान जो नहीं करते, वे तो किसी गणना में ही नहीं हैं, परन्तु

जो करते हैं, वे देव कहलाते हैं, और उनके विकास के पांच क्रम हैं। जो प्रथम-अमृत, अर्थात् 'यश' का पान करते हैं, वे 'वसु' कहलाते हैं और 'अग्नि-मुख' होते हैं; द्वितीय-अमृत, अर्थात् 'तेज' का पान करने वाले 'रुद्र' कहलाते हैं और 'इन्द्र-मुख' होते हैं; तृतीय-अमृत, अर्थात् 'ऐश्वर्य' का पान करने वाले 'आदित्य' कहलाते हैं और 'वरुण-मुख' होते हैं; चतुर्थ-अमृत, अर्थात् 'शक्ति' का पान करने वाले 'मरुत्' कहलाते हैं और 'सोम-मुख' होते हैं; पंचम-अमृत, अर्थात् 'अन्न' का पान करने वाले 'साध्य' कहलाते हैं और 'ब्रह्म-मुख' होते हैं। 'अग्नि' संसार के भौतिक-पदार्थों का प्रतिनिधि है; 'ब्रह्म' आध्यात्मिक-जगत् की अग्नि है और आध्यात्मिक-संसार का प्रतिनिधि है। 'अग्नि-मुख' वह है जिसका मुख, अर्थात् ध्यान संसार के भोग की तरफ़ है; 'ब्रह्म-मुख' वह है जिसका मुख, अर्थात् ध्यान संसार की तरफ़ नहीं, ब्रह्म की तरफ़ है। 'अग्नि-मुख' से देवों का जीवन प्रारम्भ होता है, 'ब्रह्म-मुख' पर जाकर समाप्त होता है। प्रवृत्ति से प्रारम्भ करे, निवृत्ति में समाप्त करे—यही जीवन का ठीक मार्ग है। संसार को भोगने वाला 'अग्नि-मुख' है और उपनिषदों की परिभाषा में 'वसु' कहलाता है, वह संसार में 'वास' करता है अतः 'वसु' है। संसार को भोग लेने के बाद त्याग देने वाला, ब्रह्म की तरफ़ मुख कर देने वाला 'ब्रह्म-मुख' है और उपनिषदों की परिभाषा में 'साध्य' कहलाता है क्योंकि हमारा साध्य, अर्थात् चरम-लक्ष्य संसार को भोगते रहना नहीं, परन्तु संसार की तरफ़ पीठ करके ब्रह्म की तरफ़ मुख कर लेना है। संसार के भोगने वाले को—'अग्नि-मुख' को—'यश' प्राप्त होता है, सब उसकी प्रशंसा करते हैं। उपनिषत्कार का कथन है कि संसार को भोगना ही है, तो कम-से-कम ऐसा भोगो कि तुम्हारी लोग प्रशंसा तो करें। अगर तुम संसार का ऐसा भोग कर रहे हो कि हर-एक तुम्हारी निन्दा करता है, तब वह भोग कैसा? हम जो हर-एक का खून चूसकर मकान और दुकान खड़ी कर रहे हैं, जिनको हर-एक गालियां देता है—हमें संसार के भोग से यश प्राप्त नहीं हो रहा। अगर हमारे सामने कोई हमारी प्रशंसा भी करता है, तो पीठ पीछे

निन्दा ही करता है। हमारी गणना उन लोगो में नही है जिनका उपनिषद् में वर्णन हो रहा है। विकसित होते-होते हम 'ब्रह्म-मुख' हो जाय—यही हमारा ध्येय है। यह अवस्था सिद्ध करना हमारा उद्देश्य है, अत. इसे 'साध्य' कहा गया है। इस अवस्था में हम 'अन्न'-रूपी पचम-अमृत का सेवन करते है। 'अन्न' का अर्थ है—'भोग्य'। उपनिषद् मे 'अन्न' तथा 'अन्नाद'—ये दो शब्द आते है। 'अन्न' हुआ 'भोग्य', 'अन्नाद' हुआ 'भोक्ता'। यथार्थ 'भोक्ता' तो 'ब्रह्म' है, उसके सम्मुख सारा ससार 'भोग्य' है, 'अन्न' है, वही इस सबका सेवन कर रहा है। हम भी विकसित होते-होते ऐसी अवस्था मे आ जाये, जिसमे सम्पूर्ण विश्व हमारे लिये 'अन्न' हो जाय, 'भोग्य' हो जाय। जिसके लिये सम्पूर्ण विश्व भोग्य हो जाता है, फिर वह भोगना ही छोड देता है—हम उसी वस्तु को पाने का प्रयत्न करते है जो हमारी नही होती, और तभी तक उसे पाने की व्याकुलता में रहते है जब तक उसे पा नही लेते। पा लेने के बाद उसे पाने का विचार ही जाता रहता है। 'ब्रह्म-मुख' अवस्था तक पहुचना, ससार-मात्र को 'अन्न' समझ लेना ही 'साध्य' अवस्था है। 'अग्नि-मुख' तथा 'ब्रह्म-मुख' अवस्थाओ के बीच की तीन अवस्थाए और है—'रुद्र', 'आदित्य' और 'मरुत्'। असल मे ससार में दो तत्त्व है—'उष्णता' तथा 'शीतलता'। ये दोनो भौतिक-ससार के तत्त्व है। मानसिक-ससार मे उष्णता को 'भय' तथा शीतलता को 'प्रेम' कहा जाता है। हमने देखा कि 'वसु' जो 'अग्नि-मुख' था, वह 'यश' का सेवन करता है, परन्तु यह जरूरी नही कि 'यश' के साथ 'तेज' भी हो। जिसमे 'तेज' होता है लोग उससे 'भय' खाते है, उससे डरते है। 'वसु' के बाद जब मनुष्य 'रुद्र' बनता है, तब वह 'इन्द्र-मुख' हो जाता है, केवल ससार को भोगता ही नही है, भोग के साथ त्यागना भी सीखता है, और इसी से उसमें 'यश' के साथ 'तेज' भी आ जाता है, परन्तु यह 'तेज' ऐसा होता है, जो 'भय' पर आश्रित होता है। विकसित होते-होते 'रुद्र' ही 'आदित्य' हो जाता है। उस समय उसका 'तेज' 'ऐश्वर्य' में परिणत हो जाता है, और वह 'वरुण-

मुख' हो जाता है, लोग उसके ऐश्वर्य को देखकर उसे वरने लगते हैं। परन्तु रुद्र तथा आदित्य इन दोनों अवस्थाओं के 'यश' तथा 'तेज' 'प्रेम' पर नहीं, 'भय' पर आश्रित हैं। इनसे अगली अवस्था वह है जिसे 'मरुत्' कहा है। यह 'भय' की नहीं, 'प्रेम' की अवस्था है। असल में शक्ति वही है जो 'भय' की न हो, 'प्रेम' की हो, और इसीलिये इस अवस्था में विकसित होने वाले व्यक्ति मरुत् को 'सोम-सुख'—'सोम', अर्थात् 'शान्ति' की तरफ़ मुख वाला, और 'शक्ति'-रूपी अमृत का सेवन करने वाला कहा है। देवों के विकास की ये पांच अवस्थाएं हैं। इनके बाद 'सत्य-ब्रह्म' की अवस्था है।

उक्त प्रकरण में कहा गया है कि 'वसु' का तब तक वसुओं में आधिपत्य और स्वाराज्य रहेगा जब तक सूर्य पूर्व से उदित तथा पश्चिम में अस्त होता रहेगा, 'रुद्र' उक्त काल से दुगुने समय तक, 'आदित्य' इस दुगुने से दुगुने समय तक, 'मरुत्' इस दुगुने से दुगुने से दुगुने समय तक और 'साध्य' इस दुगुने से दुगुने से दुगुने से दुगुने समय तक। 'दुगुने'-शब्द को इतनी बार दोहराने के स्थान में उपनिषत्कार ने दिशाओं का क्रम बदल दिया है। पहले कहा 'सूर्य पूर्व से उदय तथा पश्चिम में जब तक अस्त होता रहेगा'—इतने समय तक, फिर कहा—'पूर्व से उदय तथा पश्चिम में अस्त होने के समय से दुगुने समय अगर वह दक्षिण से उदय और उत्तर में अस्त होता रहे', फिर कहा—'अगर दक्षिण से उदय और उत्तर में अस्त होने के दुगुने समय अगर वह पश्चिम से उदय और पूर्व में अस्त होता रहे', फिर कहा—'अगर पश्चिम से उदय और पूर्व मे अस्त होने के दुगुने समय अगर वह उत्तर से उदय तथा दक्षिण में अस्त होता रहे', फिर कहा—'अगर वह उत्तर से उदय तथा दक्षिण में अस्त होने के दुगुने समय ऊपर से उदय और नीचे अस्त होता रहे'। 'दुगुने'-शब्द को बार-बार दोहराने के स्थान में सिर्फ़ 'दुगुने'-शब्द को रखने के लिये उपनिषत्कार ने दिशाओं का क्रम बदल दिया है। सूर्य के इस प्रकार लगातार उदय-अस्त के क्रम को वर्णन का आधार बनाना सिर्फ़ अनन्त काल को दर्शाने के प्रयो-

जन से है। यह तो हमने स्पष्ट कर ही दिया है कि 'दुगुने'-शब्द को बहुत बार दोहराने के स्थान में दिशाओं का क्रम बदल दिया गया है।)

तृतीय प्रपाठक—(ग्यारहवां खंड)

'वसु' (अग्नि-मुख), 'रुद्र' (इन्द्र-मुख), 'आदित्य' (वरुण-मुख), 'मरुत्' (सोम-मुख), 'साध्य' (ब्रह्म-मुख), इन पांचों से जो ऊपर उठ जाता है, वह उस लोक में पहुंच जाता है जहां न उदय होता है, न अस्त होता है। जैसे सूर्य इकला आकाश के मध्य में स्थित है, वैसे वह व्यक्ति वसु आदि के बीच इकला, अप्रतिम दिखाई देता है। कहा भी है—॥१॥

न वहां कभी अस्त होता है, न उदय—वह 'सत्य-ब्रह्म' की अवस्था है। हे देवो ! मुझे उस 'सत्य-ब्रह्म' से कभी दूर मत करो ॥२॥

जो उपनिषद् के इस सत्य-ब्रह्म को जान जाता है, उसके लिये उदय-अस्त नहीं होता, उसके लिये तो एकदम प्रकाश-ही-प्रकाश हो जाता है ॥३॥

अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता तदेष श्लोकः ॥१॥

अथ—और, ततः—उसके बाद, उपरोक्त साध्य स्थिति के बाद, ऊर्ध्वं—ऊंचे ऊंचे, उदेत्य—ऊपर उठ कर, उन्नत स्थिति को प्राप्त कर, न—नहीं, एव—ही, उदेता—उन्नत ही होगा, न अस्तम् एता—नहीं (कभी) छिपेगा, अवनत होगा, एकलः—इकला, सब से निर्मुक्त, निर्द्वन्द्व, एव—ही, मध्ये—(सूर्य की तरह सब उपरोक्त ५ प्रकार के देव या ब्रह्मचारियों के) बीच में, स्थाता—मुख्य स्थिति प्राप्त करेगा, तद् एषः श्लोकः—सो इसकी पुष्टि में यह श्लोक भी है ॥१॥

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन।
देवास्तेनाहं सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति ॥२॥

न वै—बिल्कुल भी नहीं, तत्र—वहां, उस स्थिति में, न—न तो, निम्लोच—छिपना है, न—नहीं, उदियाय—उगता है, कदाचन—कभी भी, देवाः—हे देवो ! तेन—उस(से), अहम्—मैं, सत्येन—सत्य वचन से, सत्य रूप (अगर) से, मा—मत, नहीं, विराधिषि—असफल होऊं, दूर हाऊं, ब्रह्मणा—ब्रह्म से, इति—यह (श्लोक) है ॥२॥

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा
हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥३॥

यह रहस्य ब्रह्मा ने प्रजापति को बतलाया, प्रजापति ने मनु को, मनु ने जन-साधारण को। इसी रहस्य को अरुण ने अपने ज्येष्ठ-पुत्र उद्दालक आरुणि को बतलाया ॥४॥

प्रत्येक पिता को चाहिये कि इस रहस्य को अपने ज्येष्ठ-पुत्र को बतलाए, अथवा अपने प्रणय-शील विनीत अन्तेवासी को—शिष्य को—इसका उपदेश करे ॥५॥

अन्य किसी व्यक्ति को, भले ही वह समुद्र से घिरी हुई इस पृथिवी को धन से भरकर दे दे, इस रहस्य को मत दे। यह रहस्य उससे भी बढ़कर मूल्यवान् है, बढ़कर मूल्यवान् है ॥६॥

न ह वै—निश्चय ही नहीं; **अस्मै**—इस ब्रह्मनिष्ठ के लिए; **उदेति**—(सूर्य काल-विभाग करने के लिए) उदय होता है; **न**—नहीं; **निम्लोचति**—छिपता है; **सकृत्**—लगातार, सर्वदा; **दिवा**—दिन (प्रकाश); **ह एव**—निश्चय ही; **अस्मै**—इस (ब्रह्मज्ञ) के लिए; **भवति**—होता है; **यः**—जो; **एताम्**—इस; **एवम्**—इस प्रकार; **ब्रह्म+उपनिषदम्**—ब्रह्म-सम्बन्धी रहस्य-ज्ञान को; **वेद**—जान लेता है ॥३॥

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्य-स्तद्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ॥४॥

तद् ह एतत्—उस इस (ज्ञान) को; **ब्रह्मा**—ब्रह्मा ने; **प्रजापतये**—प्रजापति को; **उवाच**—बताया, उपदेश दिया; **प्रजापतिः मनवे**—प्रजापति ने मनु को; **मनुः प्रजाभ्यः**—मनु ने प्रजाओं (साधारण जन) को; **तद् ह एतत्**—उस इस ज्ञान को; **उद्दालकाय**—उद्दालक (नामी) को; **आरुणये**—अरुण के पुत्र; **ज्येष्ठाय**—(अपने) सब से बड़े; **पुत्राय**—पुत्र को; **पिता**—पिता (अरुण) ने; **ब्रह्म**—ब्रह्म को (का); **प्रोवाच**—उपदेश दिया ॥४॥

इदं वा व तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्प्रणाय्याय वाऽन्तेवासिने ॥५॥

इदम्—इस; **वा व**—ही; **तत्**—उस (ज्ञान) को; **ज्येष्ठाय पुत्राय**—बड़े पुत्र को; **पिता**—पिता; **ब्रह्म**—ब्रह्म (ब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञान) को; **प्रब्रूयात्**—उपदेश करे; **प्रणाय्याय**—विनीत व आज्ञाकारी; **वा**—या; **अन्तेवासिने**—शिष्य को ॥५॥

नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति ॥६॥

न—नहीं (उपदेश करे); **अन्यस्मै**—दूसरे; **कस्मैचन**—किसी को; **यद्यपि**—अगर; **अस्मै**—इस (ब्रह्मज्ञानी को); **इमाम्**—इस (पृथिवी) को;

तृतीय प्रपाठक—(बारहवां खंड)
(गायत्री-महिमा)

यह सब-कुछ—यह सारा संसार—'गायत्री' का ही रूप है। गायत्री का वाणी से उच्चारण होता है। 'वाणी' का काम गाना तथा संसार की रक्षा करना है—'गायत्री' के उच्चारण से भी भगवान् का गुण गाया जाता है और यह उपासक की रक्षा करती है, अतः वाणी गायत्री का ही रूप है ॥१॥

वह जो गायत्री है, वह मानो यह पृथिवी ही है। जैसे पृथिवी में सारा जगत् प्रतिष्ठित है, वह सबकी रक्षा करती है, कोई इसे लांघ नहीं सकता, इसी प्रकार गायत्री में उपासक की सब भावनाएं निहित हैं, वह उपासक की रक्षा करती है, इसे कोई लांघ नहीं सकता ॥२॥

अद्भिः—जलों (समुद्रों) से; परिगृहीताम्—घिरी हुई (समुद्र-पर्यन्त); धनस्य—धन-दौलत की (से); पूर्णाम्—पूरी, भरी, दद्यात्—प्रदान करे; एतद्—यह (ब्रह्म-ज्ञान); एव—ही, ततः—उस (पृथिवी) से, भूयः—अधिक (बढ़कर) है; इति—यह (निर्देश है); एतद् एव ततः भूयः इति—यह ही उससे बढ़कर है (द्विरुक्ति आदरार्थ है) ॥६॥

गायत्री वा इदँ सर्वं भूतं यदिदं किंच वाग्वै
गायत्री वाग्वा इदँ सर्वं भूतं गायति च त्रायते च ॥१॥

गायत्री—गायत्री; वै—ही, इदम् सर्वम्—यह सब (जो), भूतम्—प्राणी या स्थावर भूत या (भूतकाल में) हुआ था; यद्—जो, इदम्—यह (वर्तमान में); किंच—कुछ (है), वाग् वै—वाणी (का नाम) ही; गायत्री—गायत्री (है); वाग् वै—वाणी ही, इदम् सर्वम् भूतम्—इस सब भूत (उत्पन्न) को; गायति च—गान करती (बताती) है, त्रायते च—और (इसकी) रक्षा करती है ॥१॥

या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिव्यस्याँ
हीदँ सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते ॥२॥

या वै—जो ही; सा—वह, गायत्री—गायत्री है; इयम्—यह; वाव—ही; सा—वह (गायत्री); या इयम्—जो यह; पृथिवी—पृथिवी है; अस्याम् हि—इस पर ही, इदम् सर्वम् भूतम्—यह सब उत्पन्न; प्रतिष्ठितम्—स्थित या

ब्रह्मांड में गायत्री का जो पृथिवी रूप है, वही इस पिंड में पुरुष का शरीर है—जैसे ब्रह्मांड में पृथिवी गायत्री का रूप है, वैसे पिंड में शरीर गायत्री का रूप है। जैसे शरीर में प्राण प्रतिष्ठित हैं, वे शरीर की रक्षा करते हैं, वैसे गायत्री में उपासक के प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं, वह उपासक की प्राणों के सदृश रक्षा करती है, कोई इसे लांघ नहीं सकता ॥३॥

'पुरुष' में शरीर को गायत्री का रूप कहा गया है, 'अन्तः-पुरुष' में हृदय गायत्री का रूप है। हृदय के आधार पर ही तो प्राण ठहरे हुए हैं। जैसे प्राण हृदय को नहीं लांघते, उसकी रक्षा करते हैं, वैसे गायत्री उपासक की रक्षा करती है ॥४॥

यह गायत्री चार चरणों वाली और छः-छः अक्षरों वाली है। इस प्रकार गायत्री में २४ अक्षर होते हैं। ऋचा में कहा गया है—॥५॥

रहा है, आधार वाला है; एताम् एव—इस (पृथिवी) को ही; न—नहीं; अतिशीयते—कोई लांघ सकता, बढ़कर होता है ॥२॥

या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीर-
मस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥३॥

या वै सा पृथिवी—जो ही वह पृथिवी है; **इयम् वा व सा**—यह ही वह है; **यद् इदम्**—जो यह; **अस्मिन्**—इस; **पुरुषे**—(आत्मा-युक्त जीवित) पुरुष में; **शरीरम्**—शरीर है; **अस्मिन् हि**—इस (शरीर में) ही; **इमे**—ये; **प्राणाः**—प्राण, इन्द्रियाँ; **प्रतिष्ठिताः**—स्थिति पाते हैं; **एतद् एव**—इस (शरीर) को ही; **न**—नहीं; **अतिशीयन्ते**—लांघ पाते हैं, इससे बढ़कर होते हैं ॥३॥

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे
हृदयमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥४॥

यद् वै—जो ही; **तत्**—वह; **पुरुषे**—प्राणधारी पुरुष में (का); **शरीरम्**—शरीर है; **इदम्**—यह; **वा व**—ही; **तद्**—वह (है); **यद् इदम्**—जो यह; **अस्मिन्**—इस; **अन्तः**—अन्दर; **पुरुषे**—पुरुष में (आत्मा के आधार पर); **हृदयम्**—हृदय (है); **अस्मिन्**—इस (हृदय) में; **हि**—ही; **इमे**—ये; **प्राणाः**—प्राण, इन्द्रियाँ; **प्रतिष्ठिताः**—स्थित हैं; **एतद्**—इस (हृदय) को; **एव**—ही; **न**—नहीं; **अतिशीयन्ते**—लांघ पाते हैं, विना रह सकते हैं ॥४॥

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम् ॥५॥

सा एषा—वह यह; **चतुष्पदा**—चार पाद (चरण) वाली या चार (वाणी, पृथिवी, शरीर और हृदय रूपी) पाद (आधार—नींव) वाली; **षड्विधा**—छह

गायत्री अपने चारो चरणो से उस परम-पुरुष के गौरव का वर्णन करती है, परन्तु उसका पूरा वर्णन नहीं कर पाती, वह पुरुष इससे बहुत बडा है। ससार का सब ऐश्वर्य मिलकर उसके एक चरण का गौरव प्रकट करता है, गायत्री-रूप भगवान् के अमृतमय तीन चरण तो इस ससार से परे द्यु-लोक में है ॥६॥

गायत्री जिस ब्रह्म का प्रतिपादन करती है, यह वही है जो पुरुष के बाहर आकाश है। जो पुरुष के बाहर आकाश है, जिस आकाश को हम शून्य समझे हुए है, वहा सर्वत्र ब्रह्म-ही-ब्रह्म है—इसी का गायत्री गान करती है ॥७॥ (७-८-९ मन्त्र आपस में गुथे हुए है।)

यही बाहर का आकाश पुरुष के भीतर—हृदयाकाश—के रूप में वर्तमान है। जैसे पुरुष के बाहर, वैसे ही उसके भीतर, हृदया-

---

(भुरिग् आदि) प्रकार (भेद) वाली या छ छ अक्षरा के चरण वाली, चौबीस अक्षरा वाली, गायत्री—गायत्री है, तद् एतद्—वह यह (तत्त्व), ऋचा—ऋग्वेद के मन्त्र ने, अभि+उक्तम्—कहा है, पुष्ट किया है ॥५॥

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पूरुष।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवीति ॥६॥

तावान्—उतना (दृश्यमान लोक त्रयी), अस्य—इस पुरुष (ब्रह्म) का, महिमा—बडापन, महत्त्व (है), तत—उससे, ज्यायान्—बडा बढकर है, च—और, पुरुष—पुरुष (ब्रह्म), पाद—पाद (चौथाई भाग), अस्य—इस (ब्रह्म) का (है जो), सर्वा—सारे, भूतानि—(चर अचर) भूत, त्रिपाद्—तीन पाद (तीन भाग—शेप अश तो), अस्य—इसका, अमृतम्—अमर (अनश्वर), दिवि—द्युलोक म और उससे परे (है), इति—यह (ऋचा ने कहा है) ॥६॥

यद्वै तद् ब्रह्मेतीद वाव तद्योऽय बहिर्धा पुरुषा-
दाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाश ॥७॥

यद् वै—जो ही, तद्—वह (ऊपर निर्दिष्ट), ब्रह्म इति—ब्रह्म इस नाम वाला है, इदम्—यह, वा व—ही, तद्—वह (ब्रह्म) है, य अयम्—जो यह, बहिर्धा—बाहर की ओर, पुरुषाद्—पुरुष (शरीरधारी जीवात्मा) से, आकाश—आकाश (ब्रह्म, ज्योति पूर्ण स्थान), (और) य वै स—जो ही वह, बहिर्धा पुरुषात् आकाश—(जीव धारी) पुरुष से बाहर की ओर आकाश है ॥७॥

अय वाव स योऽयमन्त पुरुष आकाशो यो वै सोऽन्त पुरुष आकाश ॥८॥

अयम्—यह, वा व—ही, स—वह (बाहर की ओर का आकाश) है, य अयम्—जो यह, अन्त पुरुषे—पुरुष के अन्दर, आकाश—आकाश है, य

काश में गायत्री द्वारा गाया जाने वाला ब्रह्म प्रकाशित हो रहा है ॥८॥

पुरुष के हृदय-प्रदेश में जो आकाश है, वह वही है, जो बाहर है। जैसे बाहर का आकाश शून्यवत् होता हुआ भी ब्रह्म से पूर्ण है, वैसे हृदयाकाश भी शून्यवत् होता हुआ भी ब्रह्म से पूर्ण है। गायत्री इसी ब्रह्म का गान करती है। यह आकाश शून्य नहीं, पूर्ण है—ब्रह्म से परिपूर्ण है, एक-रस है। जो उपासक ऐसा जानता है, वह पूर्ण तथा परिवर्तन-रहित श्री को प्राप्त करता है ॥९॥

तृतीय प्रपाठक—(तेरहवां खंड)

(शरीर में ब्रह्म के दर्शन)

अभी जिस हृदय-रूपी मन्दिर का वर्णन किया, जिसमें ब्रह्म-देव विराजते हैं, उस मन्दिर के पांच देव-द्वार हैं। इस शरीर-रूपी पिंड में पूर्व का द्वार 'प्राण' है, चक्षु है; ब्रह्मांड में पूर्व का द्वार 'आदित्य' है। चक्षु मानो शरीर के हृदय-मन्दिर में बैठी हुई ब्रह्म-शक्ति है,

---

वै सः—जो ही वह; अन्तःपुरुषे आकाशः—(शरीरधारी) पुरुष के अन्दर आकाश है ॥८॥

अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति
पूर्णामप्रवर्तिनीं श्रियं लभते य एवं वेद ॥९॥

अयम् वाव सः—यह ही वह (अन्तःपुरुष में आकाशः) है; यः अयम्—जो यह; अन्तः हृदये—हृदय के अन्दर; आकाशः (ब्रह्म) है; तद् एतद्—वह यह (ब्रह्म); पूर्णम्—न्यूनता से रहित, या हृदयाकाश में भरा (व्याप्त); अप्रवर्ति——अपरिणामी, अनश्वर, क्रिया-शून्य (शान्त) है; पूर्णाम्—पूरी (पालन करने वाली); अप्रवर्त्तिनीम्—न सरकने (जाने) वाली (स्थिर); श्रियम्—लक्ष्मी को, ब्रह्मकान्ति को, शोभा को; लभते—(वह) प्राप्त कर लेता है; यः एवम् वेद—जो इस प्रकार (ब्रह्म को) जान लेता है ॥९॥

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देव-सुषयः स योऽस्य
प्राङ् सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजो-
ऽन्नाद्यमित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥१॥

तस्य—उस; ह वै—निश्चयपूर्वक; एतस्य—इस; हृदयस्य—(ब्रह्म के अधिष्ठान) हृदय के; पञ्च—पांच; देव-सुषयः—देवों के द्वार (छिद्र) हैं;

जो पूर्व के द्वार से बाहर को झाँक रही है; आदित्य मानो ब्रह्माण्ड के विशाल मन्दिर में बैठी हुई ब्रह्म-शक्ति है, जो पूर्व के द्वार से बाहर झांक रही है। ब्रह्म के 'तेज' तथा 'भोक्ता' रूप की उपासना करे। जो ऐसा जानकर ब्रह्म की उपासना करता है, वह तेजस्वी तथा भोक्ता हो जाता है ॥१॥

इस शरीर-रूपी पिंड में दक्षिण का द्वार 'व्यान' है, श्रोत्र है; ब्रह्माण्ड में दक्षिण का द्वार 'चन्द्रमा' है। श्रोत्र मानो शरीर के हृदय-मन्दिर में बैठी हुई ब्रह्म-शक्ति है, जो दक्षिण के द्वार से बाहर की तरफ मानो कान लगाये बैठी है; चन्द्र मानो ब्रह्माण्ड के विशाल मन्दिर में बैठी हुई ब्रह्म-शक्ति है, जो दक्षिण-द्वार से विश्व में चांदनी छिटका रही है। ब्रह्म के 'श्री' तथा 'यश' रूप की उपासना करे। जो ऐसा जानकर ब्रह्म की उपासना करता है, वह श्रीमान् और यशस्वी हो जाता है ॥२॥

इस शरीर-रूपी पिंड में पश्चिम का द्वार 'अपान' है, वाक् है;

स य अस्य—वह जो इसका, प्राङ्—पूर्व की ओर का, सुषि—छिद्र (द्वार) है स—वह, प्राण—प्राण है, तत् चक्षु—वह (पिण्ड में) आँख है, स आदित्य—वह (ब्रह्माण्ड में) सूर्य है, तत्—उस (प्राण-द्वार) को, तेज—तेज (अग्नि, प्रकाश), अन्नाद्यम्—भोग्य-अन्न, इति—इस (रूप में, ऐसा जानकर) उपासीत—उपासना करे, बर्ते, समझे, तेजस्वी—तेजशाली, अन्नाद—अन्न का भोक्ता (भोगने में समर्थ), भवति—हो जाता है य एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है ॥१॥

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रं स चन्द्रमास्त-
देतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत श्रीमान्यशस्वी भवति य एवं वेद ॥२॥

अथ—और, य—जो, अस्य—इस (हृदय) का, दक्षिण—दाहिना सुषि—छिद्र, द्वार, स—वह, व्यान—व्यान है, तत्—वह श्रोत्रम्—(पिण्ड में) कान है, स—वह, चन्द्रमा—(ब्रह्माण्ड में) चन्द्रमा है तद् एतत—उस इस (व्यान-द्वार) को, श्री च—लक्ष्मी, कान्ति, शोभा, यश च—और यश इति—इस (रूप में), ऐसा (जान कर), उपासीत—उपासना करे, समझे, बर्ते सेवन करे श्रीमान्—लक्ष्मी (धन-दौलत) वाला, यशस्वी—कीर्तिवाला, भवति—होता है, य एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है ॥२॥

अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्निस्तदेतद् ब्रह्मवर्चस-
मन्नाद्यमित्युपासीत ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥३॥

ब्रह्मांड में पश्चिम का द्वार 'अग्नि' है। वाणी मानो शरीर के हृदय-मन्दिर में बैठी हुई ब्रह्म-शक्ति है, जो पश्चिम के द्वार से अपनी सत्ता को बखान रही है; अग्नि मानो ब्रह्मांड के विशाल मन्दिर में बैठी हुई ब्रह्म-शक्ति है, जो पश्चिम के द्वार से अपने तेज को प्रकट कर रही है। ब्रह्म के 'ब्रह्मवर्चस' तथा 'भोक्तृ'-रूप की उपासना करे। जो ऐसा जानकर ब्रह्म की उपासना करता है, वह ब्रह्मवर्चसी और अन्नाद हो जाता है ॥३॥

इस शरीर-रूपी पिंड में उत्तर का द्वार 'समान' है, मन है; ब्रह्मांड में उत्तर का द्वार पर्जन्य है, 'मेघ' है। मन मानो शरीर के हृदय-मन्दिर में बैठी हुई ब्रह्म-शक्ति है, जो उत्तर के द्वार से बाह्य-जगत् का चिन्तन कर रही है; पर्जन्य मानो ब्रह्मांड के विशाल-मन्दिर में बैठी हुई ब्रह्म-शक्ति है, जो उत्तर के द्वार से संसार में जल-सेचन कर रही है। ब्रह्म की 'कीर्ति' तथा 'कान्ति' की उपासना करे। जो ऐसा जानकर ब्रह्म की उपासना करता है, वह कीर्तिमान् और कान्तिमान् हो जाता है ॥४॥

अथ—और; यः—जो; अस्य—इस (हृदय) का; प्रत्यङ्—पश्चिम की ओर का; सुषिः—द्वार, छिद्र; सः—वह; अपानः—अपान है; सा—वह; वाक्—(पिण्ड में) वाणी है; सः—वह; अग्निः—(ब्रह्माण्ड में) अग्नि है; तद् एतत्—उस इस (अपान-द्वार) को; ब्रह्मवर्चसम्—ब्रह्म-तेज; अन्नाद्यम्—भोग्य-अन्न; इति—इस (रूप में), ऐसा (जान कर); उपासीत—उपासना करे; ब्रह्मवर्चसी—ब्रह्म-तेज से युक्त; अन्नादः—अन्न-भोग में समर्थ; भवति—होता है; यः एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है ॥३॥

अथ योऽस्योदङ् सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत कीर्तिमान्व्युष्टिमान्भवति य एवं वेद ॥४॥

अथ—और; यः—जो; अस्य—इसका; उदङ्—उत्तर दिशा का; सुषिः—द्वार, छिद्र (है); सः—वह; समानः—समान है; तत्—वह; मनः—(पिण्ड में) मन है; सः—वह; पर्जन्यः—(ब्रह्माण्ड में) मेघ है; तद् एतत्—उस इस (समान-द्वार) को; कीर्तिः च—यश; व्युष्टिः च—और कान्ति (शरीर-लावण्य); इति—इस (रूप में), ऐसा (जान कर); उपासीत—उपासना करे, वर्ते; कीर्तिमान्—कीर्तिशाली; व्युष्टिमान्—शरीर-लावण्य से युक्त; भवति—होता है; यः एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है ॥४॥

इस शरीर-रूपी पिंड में ऊपर का द्वार 'उदान' है, वायु है, ब्रह्मांड में ऊपर का द्वार 'आकाश' है। वायु मानो शरीर के हृदय-मन्दिर में बैठी हुई ब्रह्म-शक्ति है, जो ऊपर के द्वार से बाह्य-जगत् से प्राण खींचती है, आकाश मानो ब्रह्मांड के विशाल-मन्दिर में बैठी हुई ब्रह्म-शक्ति है, जो ऊपर के द्वार से विश्व में जीवन सचार कर रही है। ब्रह्म की 'ओज' तथा 'मह' रूप में उपासना करे। जो ऐसा जानकर ब्रह्म की उपासना करता है, वह ओजस्वी तथा महिमामय अर्थात् महान् हो जाता है ॥५॥

पिंड तथा ब्रह्मांड में ब्रह्म-पुरुष की ये पाच झाकिया हैं—ये पाच हृदय-रूपी स्वर्ग-लोक के मानो द्वारपाल हैं। जो स्वर्ग-लोक के द्वार-पाल इन पाच ब्रह्म-पुरुषो को उक्त प्रकार से जानता है, उसके कुल में वीर सन्तान उत्पन्न होती है। वह स्वर्ग-लोक को पा जाता है, जो स्वर्ग-लोक के द्वारपाल इन पाच ब्रह्म-पुरुषो को इस प्रकार जानता है ॥६॥

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेत-
दोजश्च महश्चेत्युपासीत ओजस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद ॥५॥

अथ—और, य—जो, अस्य—इस (हृदय) का, ऊर्ध्व—ऊपर का, सुषि—द्वार, छिद्र (है), स—वह, उदान—उदान है, स—वह, वायु—(पिण्ड मे) वायु (वात) है, स—वह, आकाश—(ब्रह्माण्ड मे) आकाश है, तद् एतद्—उस इस (उदान-द्वार) को, ओज—शरीर-बल, च—और, मह—महिमा, च—और, इति—इस (रूप में जान कर), उपासीत—उपासना करे, ओजस्वी—शरीर-बल से युक्त, महस्वान्—महिमामय, महान, भवति—हो जाता है, य एवम् वेद—जो इस प्रकार जान लेता है ॥५॥

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स
य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वे-
दास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य
एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद ॥६॥

ते—वे, वै—ही, एते—ये (प्राण-आदि, चक्षु आदि, आदित्य आदि), पञ्च—पाँच, ब्रह्मपुरुषा—ब्रह्म-सेवक पुरुष, स्वर्गस्य लोकस्य—स्वर्ग (स्वर्ग—आनन्दमय को पहुचाने वाले) लोक के, द्वारपा—द्वारपाल हैं, स. य—वह जो, एतान्—इन, एवम्—इस प्रकार, पञ्च—पाँच, ब्रह्मपुरुषान्—

इस पिंड और द्यु-लोकरूपी ब्रह्मांड से परे ब्रह्म-ज्योति प्रदीप्त हो रही है जो संसार की सब वस्तुओं की पृष्ठ पर चारों तरफ़ चमक रही है—जो सबसे ऊंचे लोकों में और जिनसे परे कोई ऊंचा नहीं है उन लोकों में भी प्रदीप्त हो रही है। वही ज्योति पुरुष के भीतर उसके हृदयाकाश में प्रकाश दे रही है। उसे प्रत्यक्ष देखना हो तो—॥७॥

देखो अपने शरीर में। उसी ज्योति की उष्णता स्पर्श से अनुभव होती है। किसी को छूने से जो जीवन की उष्णता अनुभव होती है वह उसी ब्रह्म-ज्योति के कारण है जो ब्रह्मांड तथा पिंड दोनों को

ब्रह्म-निर्देशक पुरुषों को; स्वर्गस्य लोकस्य—स्वर्ग लोक के; द्वारपान्—द्वार-पाल; वेद—जान लेता है; अस्य—इस (ज्ञाता) के; कुले—कुल में; वीरः—वीर (सन्तान); जायते—उत्पन्न होता है; प्रतिपद्यते—(स्वयम्) प्राप्त करता है: स्वर्गम् लोकम्—स्वर्ग लोक को; यः—जो; एतान्—इन; एवम्—इस प्रकार; पञ्च—पांचों; ब्रह्म-पुरुषान्—ब्रह्म-पुरुषों (सेवकों) को; स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्—स्वर्ग लोक के द्वारपाल; वेद—जानता है ॥६॥

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्त-मेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टिः ॥७॥

अथ—और; यद्—जो; अतः—यहाँ से; परः—परे, आगे; दिवः—द्युलोक से; ज्योतिः—प्रकाश, लौ; दीप्यते—प्रदीप्त हो रही है, चमक रही है; विश्वतः—विश्व भर के; पृष्ठेषु—धरातलों पर, छतों पर, ऊँचाइयों पर; सर्वतः पृष्ठेषु—सब ओर (चारों ओर से) धरातलों पर, शिखरों पर; उत्तमेषु—श्रेष्ठ, बहुत ऊँचे; अनुत्तमेषु—जिनसे और कोई उत्तम (उन्नत, श्रेष्ठ) नहीं अर्थात् अति श्रेष्ठ या जो उत्तम (श्रेष्ठ, उन्नत) नहीं अर्थात् निकृष्ट, निम्न कोटि के; लोकेषु—लोकों पर; इदम् वाव तद्—यह ही वह (है); यद् इदम्—जो यह; अस्मिन्—इस; अन्तःपुरुषे—(शरीरधारी) जीव-पुरुष के अन्दर; ज्योतिः—ज्योति है; तस्य—उस (ज्योति) की; एषा—यह; दृष्टिः—देखना (प्रत्यक्ष-दर्शन) है ॥७॥

यत्रैतदस्मिञ्छरीरे संस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैत-त्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति तदे-तद् दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥८॥

यत्र—जिस समय में; एतद्—इसको; अस्मिन्—इस; शरीरे—शरीर में; संस्पर्शेन—छूने से; उष्णिमानम्—उष्णता (गर्मी) को; विजानाति—

आलोकित कर रही है। उसे सुनना हो तो सुनो कान बन्द करके—बादल की गर्ज की भांति, वृषभ के नाद की भांति, जलती हुई अग्नि की सरसराहट की भांति, यह क्या सुनाई देता है ? यह उसी की अनहद ध्वनि है। मत समझो ब्रह्म दिखाई नहीं देता, सुनाई नहीं देता। वह दीखता है, सुनाई देता है—यही समझ कर उसकी उपासना करे। वह दीखता है, सुनाई देता है—जो यह जानता है, जो यह जानता है, वह सबके लिये दर्शनीय हो जाता है और सब जगह उसकी कीर्ति सुनी जाती है ॥८॥

तृतीय प्रपाठक—(चौदहवां खंड)

(शाण्डिल्य-विद्या)

जिस ब्रह्म-ज्योति का अभी वर्णन किया, यह सब 'ब्रह्म' है। ब्रह्म को 'ज'+'ल'+'अन्' इस रूप में उपासना करे। 'ज' का अर्थ यह समझे कि विश्व उसी से जन्म लेता है; 'ल' से यह समझे कि यह उसी में लीन हो जाता है; 'अन्' से यह समझे कि यह उसी से अनुप्राणित

जानता है, (और) तस्य—उस (ज्योति) का, एषा—यह, श्रुतिः—सुनना, प्रत्यक्ष-श्रवण है, यत्र—जिस काल में, एतद्—यह, कर्णौ—कानों को, अपिगृह्य—बन्द करके, निनदम्—शोर (घोर) को (के), इव—समान, नदथुः इव—(वृषभ के) नाद के समान, अग्नेः इव ज्वलतः (ज्वलतः अग्नेः इव) —प्रज्वलित अग्नि (के शोर) की तरह, उपशृणोति—(शब्द-अनाहत-नाद) को सुनता है, तद् एतद्—उस इस (ब्रह्म) को, दृष्टम्—चक्षु का विषय, च—और, श्रुतम् च—श्रोत्र का विषय, इति—ऐसा (मानकर), उपासीत—उपासना करे, चक्षुष्य—दर्शनीय, सशक्त आंख वाला, दूर-सूक्ष्म का द्रष्टा, श्रुतः—प्रसिद्ध या श्रोत्र-इन्द्रिय के विषय का मर्मज्ञ, भवति—हो जाता है, यः एवम् वेद—जो इस प्रकार जान लेता है, यः एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है (द्विरुक्ति आदरार्थ तथा खण्ड समाप्ति द्योतक है) ॥८॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः
पुरुषो यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥१॥

सर्वम्—सब, खलु—निश्चय से, इदम्—यह (दृश्यमान चर-अचर), ब्रह्म—ब्रह्म है, तत्—उस (ब्रह्म) को, जलान् (ज+ल+अन्)—उत्पन्न करनेवाला, स्रष्टा (ज); सबका लय (संहार) करनेवाला, संहर्ता (ल); सबका पालन-पोषण करने वाला धर्ता (अन्); इति—इस रूप में; शान्त—

हो रहा है। परन्तु 'उपासना' तक ही अपने को सीमित न रखे, 'कर्म' करे—क्योंकि पुरुष 'क्रतुमय' है—'कर्ममय' है। जिस प्रकार का इस लोक में कर्म करता है, वैसा ही यहां से चलकर वह आगे होता है। कर्म अवश्य करे ॥१॥

वह ब्रह्म-ज्योति मनोमय है, विज्ञानमय (Consciousness) है; प्राण उसका शरीर है; प्रकाश उसका रूप है; सत्य उसका संकल्प है; आकाश की व्यापकता उसका आत्मा है या वह हृदयाकाश में व्याप्त है। वह सर्व-कर्म-समर्थ है, पूर्ण-काम है, उसमें सब गन्ध हैं, सब रस हैं, यहां जो-कुछ है उस सबमें वह ज्योति पहुंची हुई है, वह वाणी-रहित है, मानापमान के भाव से रहित है ॥२॥

वही ज्योति मेरा आत्मा है, वह मेरे हृदय के अन्तराल में अन्न

शान्त-चित्त से; उपासीत—उपासना करे, ध्याये; अथ खलु—और; क्रतुमयः—कर्ममय, कर्मशील; पुरुषः—जीवात्मा (होता है); यथाक्रतुः—जैसे कर्म करनेवाला; अस्मिन्—इस (मर्त्य-पृथिवी); लोके—लोक में (जीवन में); पुरुषः (शरीररूप-पुरी में व्यापक) जीवात्मा; भवति—होता है; तथा—वैसा (उन कर्मों के अनुसार) ही; इतः—यहां से, इस लोक से; प्रेत्य—जाकर, मरकर; भवति—होता है (अतः); सः—वह (जीव), क्रतुम्—(शुभ) कर्म को; कुर्वीत—करे ॥१॥

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा
सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ॥२॥

मनोमयः—मन (मनन-शक्ति) वाला; प्राण-शरीरः—प्राणरूप शरीर वाला; भा-रूपः—ज्योतिःस्वरूप; सत्यसंकल्पः—सच्चे (उत्तम) संकल्प वाला; आकाशात्मा (आकाश+आत्मा)—हृदयाकाश में व्याप्त, या आकाश (ब्रह्म) जिसमें व्यापक रूप से विद्यमान है; सर्वकर्मा—सब कर्मों का अनुष्ठाता; सर्वकामः—सब प्रकार की कामनाओं का करनेवाला; सर्वगन्धः—सब पदार्थों की गन्ध लेनेवाला (आघ्राता); सर्वरसः—सब पदार्थों का रस लेनेवाला; सर्वम् इदम्—इस सारे (शरीर) में; अभि+आत्तः—चारों ओर (सब ओर) व्याप्त; अवाकी—वर्णनातीत, जो वाक् (वाणी) का विषय नहीं; अनादरः—भौतिक-पदार्थों का आदर (आसक्ति, लगाव) न करनेवाला, अनासक्त ॥२॥

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामा-
काद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या
ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥३॥

के दाने से, जौ से, सरसों से, श्यामाक से, श्यामाक के चावल से भी अणु हूं; और हृदय के अन्तराल में वर्तमान वही मेरी आत्म-ज्योति पृथिवी से भी विशाल हूं, अन्तरिक्ष से भी बड़ी हूं, द्यु-लोक से भी बड़ी हूं, इन सब लोकों से भी बड़ी हूं। विश्व-भर का अन्धकारमय विशाल जड़-जगत् उस चैतन्य-स्वरूप आत्म-सत्ता की एक किरण के भी सम्मुख नहीं टिक सकता ॥३॥

वह विश्वात्मा सर्व-कर्मा है, सर्व-काम है, सर्व-गन्ध है, सर्व-रस है, सब जगह पहुंचा हुआ है, वाणी-रहित है, आदर से ऊपर है, उस पर आदर-अनादर का कोई असर नहीं। वही आत्मा मेरे हृदय के अन्तराल में है, वह ब्रह्म है, यहां से छूट कर मैं उसी को प्राप्त हूंगा—ऐसी जिसे श्रद्धा है उसके ब्रह्म तक पहुंचने में कोई सन्देह नहीं रहता—यह शाण्डिल्य ने कहा है, शाण्डिल्य ने कहा है ॥४॥

एष—यह, मे—मेरे, आत्मा—जीव आत्मा, अन्तर्हृदये—हृदय के बीच में (विद्यमान है), अणीयान्—अति सूक्ष्म, व्रीहेः—चावल से, वा—भी, यवाद् वा—या जौ से, सर्षपाद् वा—या सरसों के बीज से, श्यामाकाद् वा—या सवाई अन्न से, श्यामाक-तण्डुलाद् वा—या सवाई के चावल से, एष—यह, मे—मेरे, आत्मा—व्यापक ब्रह्म, अन्तर्हृदये—हृदयाकाश में, ज्यायान्—अधिक बड़ा (श्रेष्ठ), पृथिव्याः—पृथिवी से, ज्यायान्—अधिक बड़ा, अन्तरिक्षात्—अन्तरिक्ष से, ज्यायान्—अधिक बड़ा, दिवः—द्युलोक से, ज्यायान्—अधिक बड़ा, एभ्यः—इन, लोकेभ्यः—लोकों से (मिलकर भी ये तीनों लोक मेरे आत्मा में व्यापक आत्मा (ब्रह्म) से छोटे हैं, क्योंकि ये ससीम एवं जड़ हैं, वह असीम एवं चित् (चेतन) और आनन्दस्वरूप है) ॥३॥

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर
एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति। यस्य
स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ॥४॥

सर्वकर्मा—(वह ब्रह्म भी) सब (सृष्टि की रचना आदि) कर्म करने वाला, सर्वकामः—पूर्णकाम, सर्वगन्धः—सब गन्ध उसमें ही हैं, सर्वरसः—सम्पूर्णतया रस (आनन्द) मय, पूर्णानन्द, सर्वम् इदम्—इस सब (चराचर जगत् व जीवात्मा) को (मे), अभ्यात्तः—सब ओर से प्राप्त, व्यापक, अवाकी—वाणी की पहुंच से परे, वर्णनातीत, अनादरः—आदर (पक्षपात या आसक्ति) से रहित, निष्पक्ष, एवं निरासक्त, एष आत्मा—यह परमात्मा ही, मे—मेरे, अन्तर्हृदये—

तृतीय प्रपाठक—(पन्द्रहवां खंड)

(प्राणों का संयम ही अक्षय-कोश है)

एक अक्षय-कोश है, मानो खजाने की एक पिटारी है, जिसका अन्तरिक्ष उदर, अर्थात् पेट है, भूमि पैर हैं। यह पिटारी कभी जीर्ण नहीं होती, पुरानी नहीं होती। वह इतना बड़ा कोश है कि चारों दिशाएं उसके चार कोने हैं, द्यु-लोक उसका ऊपर का छिद्र है, यह कोश सब धनों का आधान-स्थान है। इस विशाल-कोश में यह विश्व, अर्थात् यह चराचर-जगत्, श्री, अर्थात् धन के रूप से पड़ा हुआ है ॥१॥

इस विश्व-पिटारी की पूर्व-दिशा यज्ञ-यागादि है, दक्षिण-दिशा

हृदय (में स्थित मुझ आत्मा) के अन्दर (विराजमान) है; **एतद्**—यह; **ब्रह्म**—सब से बड़ा, परमात्मा है; **एतम्**—इस ब्रह्म रूप आत्मा (परमात्मा) को; **इतः**—यहां से; **प्रेत्य**—मरकर, परलोक में; **अभिसम्भवितास्मि**—पा लूंगा, उसमें मग्न हो जाऊँगा; **इति**—यह (विचार); **यस्य**—जिस (उपासक का); **स्याद्**—होवे; **अद्धा**—यथार्थ, वस्तुतः; (और) **न**—नहीं; **विचिकित्सा**—सन्देह; **अस्ति**—है; **इति**—यह; **ह स्म आह**—कहता है, कहा है; **शाण्डिल्यः**—शाण्डिल्य (ऋषि) ने ॥१४॥

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौ-रस्योत्तरं बिलं स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदं श्रितम् ॥१॥

अन्तरिक्ष+उदरः—अन्तरिक्ष रूप उदर (मध्य भाग) वाला (विशाल); **कोशः**—(संसार-रूप, ब्रह्माण्ड-रूप) कोश (खजाना, पिटारी, सन्दूक) है; **भूमिबुध्नः**—पृथिवी (जिसका) मूल (पाद) है, आधार (सन्दूक का निचला हिस्सा) है; **न**—नहीं; **जीर्यति**—(अनादि प्रवाह से) क्षीण होता है, कम पड़ता है, उतना ही रहता है; **दिशः हि**—दिशायें ही; **अस्य**—इस कोश (पिटारी) की; **स्रक्तयः**—कोण (अर्थात् चारों ओर के आवरण-भाग) हैं; **द्यौः**—द्युलोक; **अस्य**—इसका; **उत्तरम्**—ऊपर का; **बिलम्**—छेद (जिससे कुछ निकाला जा सके); **सः एषः कोशः**—वह यह कोश (पिटारा); **वसुधानः**—वसुओं–धनों का धारण करनेवाला या वसुओं–आठों वसु आदि निवास-स्थानों को अपने अन्दर धारण करनेवाला; **तस्मिन्**—उस कोश (ब्रह्माण्ड) में ही; **विश्वम्**—सकल-जगत्; **इदम्**—यह; **श्रितम्**—आश्रित है, स्थित है ॥१॥

तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची तासां वायुर्वत्सः स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदं रोदिति। सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदं रुदम् ॥२॥

द्वन्द्वो का सहन है, पश्चिम-दिशा राज्य-पराक्रम आदि है, उत्तर-दिशा शोभा-सुन्दरता है। इन दिशाओ का पुत्र वायु है—प्राण है, अर्थात् इस अक्षय-कोश की सब से अमूल्य-निधि प्राण-शक्ति है। जो इस प्रकार दिशाओ के पुत्र वायु को—प्राण को—जानता है, वह पुत्र-वियोग होने पर भी आसू नहीं बहाता। सो, मै दिशाओ के वत्स 'वायु' को—प्राण को—जानता हूं, इसलिये मै पुत्र-वियोग के शोक से आंसू नही बहाता ॥२॥

(इस विश्व-कोश की सब निधियो से अमूल्य-निधि पुत्र है, परन्तु पुत्र से भी अमूल्य-निधि प्राण है, सयम है, प्राण पर काबू पा जाना है। मैने वह पा लिया है अत मेरे पास निधियो की निधि, कोशो का कोश है—अक्षय-कोश या खजाने की पिटारी पा जाने का यही आशय है।)

मै इस साधन से, इस साधन से और इस साधन से—सब साधनो से—'अक्षय-कोश' को प्राप्त करूं; सब साधनो से 'प्राण' को

तस्य—उस (ब्रह्माण्ड-कोष) की, प्राची—पूर्व, दिग्—दिशा पार्श्व, जुहू—यज्ञ हवन (कर्म काण्ड), नाम—नामवाली है (यज्ञ हवन आदि उस कोश के पूर्वी-पार्श्व है), सहमाना—सहन शीलता, तप, नाम—नामवाली, दक्षिणा—दक्षिण-दिशा (पार्श्व) है, राज्ञी—ईश्वरभाव, नियन्त्रण नाम—नामवाली, प्रतीची—पश्चिम (दिशा-पार्श्व) है, सुभूता—सुन्दरता, साधुतया रचना, नाम—नामवाली, उदीची—उत्तर (दिशा पार्श्व) है तासाम्—उन दिशाओ का, वायु—वायु (प्राण, जीवात्मा), वत्स—प्रिय बछडा (दाग्धा-भोक्ता) है, स य—वह जो, एतम्—इस, एवम्—इस प्रकार (के), वायुम्—वायु (प्राण) को, दिशाम्—(जहू आदि) दिशाओ का, वत्सम्—प्रिय-बछडा, वेद—जान जाता है, न—नही, पुत्ररोदम्—पुत्र (के अभाव, या दुर्विनीत होने) का रोना, रोदिति—रोना है, दुख मनाता है (उसे योग्य पुत्र का अभाव कभी नही होता); स अहम्—(उपदेष्टा ऋषि कहता है) उस मैने, एतम् एवम् दिशाम् वत्साम्—इस, इस प्रकार के दिशाओ के वत्स का, वेद—जान लिया है (इसलिये मैने), मा—मत, नही, पुत्ररोदम्—योग्य पुत्र के अभाव का रोना, रुदम्—रोया (दुखी हुआ) ॥२॥

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। प्राण प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। भू प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। भुव प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। स्व प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना ॥३॥

प्राप्त करूं; सब साधनों से 'भूः' को प्राप्त करूं; सब साधनों से 'भुवः' को प्राप्त करूं; सब साधनों से 'स्वः' को प्राप्त करूं ॥३॥

मैंने जो यह कहा कि 'प्राण' को प्राप्त करूं, यह इसलिये कहा क्योंकि ये सब वस्तु-जात प्राण ही हैं—इसलिये विश्व के अक्षय-कोश में जो कुछ है, वह सब मैं प्राप्त करूं ॥४॥

मैंने जो यह कहा कि 'भूः' को प्राप्त करूं, इसका यह अभिप्राय है कि मैं विश्व-कोश में श्री-रूप से पड़े हुए पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यु-लोक को प्राप्त करूं ॥५॥

अरिष्टम्—न नश्वर, बिना अपना अपघात किये; **कोशम्**—इस जगती-कोश को; **प्रपद्ये**—प्राप्त होऊँ; **अमुना-अमुना-अमुना**—इस-इस-इस (साधन) से, प्रत्येक उपाय से; **प्राणम्**—प्राण-शक्ति (जीवन-शक्ति) को; **प्रपद्ये**—प्राप्त करूं; **अमुना-अमुना-अमुना**—प्रत्येक सम्भव 'अरिष्ट' उपाय से; **भूः**—'भू' (आगे निर्दिष्ट) को; **प्रपद्ये**—प्राप्त होऊं; **अमुना-अमुना-अमुना**—प्रत्येक संभव 'अरिष्ट' साधन से; **भुवः**—'भुवः' (आगे व्याख्यात) को; **प्रपद्ये**—प्राप्त करूं; **अमुना-अमुना-अमुना**—प्रत्येक संभव 'अरिष्ट' साधन से; **स्वः**—'स्वः' (आगे व्याख्यात) को; **प्रपद्ये**—प्राप्त होऊं; **अमुना-अमुना-अमुना**—प्रत्येक संभव अरिष्ट उपाय से ॥३॥

स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति, प्राणो वा इदं
सर्वं भूतं, यदिदं किंच तमेव तत्प्रापत्सि ॥४॥

सः—वह, उस (मैंने); **यत्**—जो; **अवोचम्**—कहा; **प्राणम् प्रपद्ये**—जीवन-शक्ति को प्राप्त होऊं; **इति**—यह; (उसका तात्पर्य यह है कि) **प्राणः वै**—प्राण ही; **इदम् सर्वम् भूतम् यद् इदम् किंच**—यह सब उत्पन्न चर-अचर भूत हैं और भी यह जो कुछ है; **तम् एव**—उस (प्राण) को ही; **तत्**—उस (निर्दिष्ट रूप वाले) को; **प्रापत्सि**—प्राप्त हुआ हूं-प्राप्त करूँ (यह मेरा उस वाक्य से अभिप्राय था) ॥४॥

अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति, पृथिवीं प्रपद्ये-
ऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥५॥

अथ—और; **यद् अवोचम्**—जो मैंने कहा था; **भूः प्रपद्ये**—'भू' को प्राप्त करूँ; **इति**—यह (वाक्य); **पृथिवीम् प्रपद्ये, अन्तरिक्षम् प्रपद्ये, दिवम् प्रपद्ये**—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु (इन तीनों) लोकों को प्राप्त करूँ; **इति एव**—इस (अभिप्राय से-अर्थ में) ही; **तद्**—वह (वाक्य); **अवोचम्**—कहा था ॥५॥

मैंने जो यह कहा कि 'भुवः' को प्राप्त करूं, इसका यह अभिप्राय है कि मैं विश्व-कोश में श्री-रूप से पड़े हुए अग्नि, वायु तथा आदित्य को प्राप्त करूं ॥६॥

मैंने जो यह कहा कि 'स्व.' को प्राप्त करूं, इसका यह अभिप्राय है कि मैं विश्व-कोश में श्री-रूप से पड़े हुए ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद को प्राप्त करूं ॥७॥

तृतीय प्रपाठक—(सोलहवां खंड)

(जीवन की यज्ञ-रूप कल्पना द्वारा आमरण-ब्रह्मचर्य का विचार, १६-१७ खंड)

सोम-याग के तीन समय होते हैं, प्रातः-मध्य-तृतीय। एक-एक समय को 'सवन' कहते हैं, 'प्रातः-सवन'—'माध्यन्दिन-सवन'—'तृतीत-सवन'। प्रातः सवन में २४ अक्षरों का 'गायत्री', माध्यन्दिन सवन में ४४ अक्षरों का 'त्रिष्टुप्' और तृतीय-सवन में ४८ अक्षरों का 'जगती' छन्द प्रयुक्त होता है। इन तीनों सवनों के देवता क्रमशः 'वसु'-'रुद्र'-'आदित्य' है।

इस खंड में सोम-याग के इस रूप को जीवन पर घटाया गया

अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये वायुं
प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥६॥

अथ—और; यद् अवोचम्—जो मैंने कहा था (कि), भुवः प्रपद्ये—'भुव' को प्राप्त करूँ; इति—यह (वाक्य), अग्निम् प्रपद्ये, वायुम् प्रपद्ये, आदित्यम् प्रपद्ये—(पूर्वोक्त लोकों के अधिपति) अग्नि-वायु-आदित्य को प्राप्त होऊँ, इति एव—इस (अर्थ में) ही, तद् अवोचम्—वह (वचन) कहा था ॥६।

अथ यदवोचं स्वः प्रपद्य इति। ऋग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं
प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचं तदवोचम् ॥७॥

अथ—और; यद् अवोचम्—जो मैंने कहा था (कि); स्वः प्रपद्ये—'स्व' को प्राप्त होऊँ, इति—यह (वाक्य), ऋग्वेदम् प्रपद्ये, यजुर्वेदम् प्रपद्ये, सामवेदम् प्रपद्ये—(पूर्वोक्त अग्नि आदि देवर्षियों द्वारा प्राप्त) ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद (त्रयी विद्या रूप तीनों वेदों) को प्राप्त करूँ—जान जाऊँ, इति एव—इस (अर्थ में) ही; तद् अवोचम्—वह (वचन) कहा था; तद् अवोचम्—वह (वचन) कहा था (द्विरुक्ति खण्ड-समाप्ति द्योतक है)॥७॥

है। यह जीवन मानो सोम-याग है। 'वसु-ब्रह्मचर्य' प्रातः-सवन, है; जीवन के प्रथम २४ वर्ष मानो सोम-याग में पढ़ी जाने वाली गायत्री के २४ अक्षर हैं। 'रुद्र-ब्रह्मचर्य' माध्यन्दिन-सवन है; जीवन के ४४ वर्ष मानो सोम-याग में पढ़े जाने वाले त्रिष्टुप् के ४४ अक्षर हैं। 'आदित्य-ब्रह्मचर्य' तृतीय-सवन है; जीवन के ४८ वर्ष मानो सोम-याग में पढ़ी जाने वाली जगती के ४८ अक्षर हैं। बाह्य यज्ञ-यागादि में लिप्त मानव-समाज को सम्बोधन करते हुए ऋषि कहते हैं :—

यह पुरुष ही मानो एक यज्ञ हो रहा है। इसके जीवन के जो प्रथम २४ वर्ष हैं, वे मानो यज्ञ का प्रातः-सवन है। यज्ञ तथा मनुष्य-जीवन की तुलना करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार गायत्री के २४ अक्षर हैं, यज्ञ में गायत्री छन्द का सवन प्रातःकाल होता है, इस सवन का देवता वसु है, इसी प्रकार पुरुष के जीवन-रूपी यज्ञ के भी जो पहले २४ वर्ष हैं, वे मानो गायत्री के २४ अक्षर हैं, पुरुष के जीवन का प्रथम-भाग, अर्थात् उसके पहले २४ वर्षों का ब्रह्मचर्य का काल गायत्री का प्रातःकाल होने वाला सवन है, जैसे गायत्री के प्रातःसवन का देवता वसु है वैसे इस २४ वर्ष के ब्रह्मचर्य का अधिष्ठाता वसु-ब्रह्मचारी है। वसु और प्राण एक ही बात है, वसु ब्रह्मचारी प्राणों का नियमन करता है। प्राण को वसु इसलिये कहते हैं क्योंकि प्राणों के कारण ही तो सब जीव-धारियों का वास है ॥१॥

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवो-ऽन्वायत्ताः प्राणा वा व वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति ॥१॥

पुरुषः—पुरुष (मनुष्य-जीवन); **वा व**—भी; **यज्ञः**—(एक प्रकार का) यज्ञ (सोम-याग) है; **तस्य**—उस (सोम-यागरूपी-मनुष्य-जीवन) के; **यानि**—जो; **चतुर्विंशति**—(पहले के) चौबीस; **वर्षाणि**—वर्ष हैं; **तत्**—वह; **प्रातः सवनम्** (सोम-याग का) प्रातःकाल का सवन है; **चतुर्विंशति+अक्षरा**—चौबीस अक्षरों वाली; **गायत्री**—गायत्री (नामक) छन्द है; **गायत्रम्**—गायत्री-छन्द में उपनिबद्ध-मंत्र-प्रधान; **प्रातःसवनम्**—प्रातःसवन है; **तद् अस्य**—तो इस (प्रातःसवन रूप जीवन-यज्ञ) के (से); **वसवः**—वसु-देवता या वसुसंज्ञक ब्रह्मचारी; **अन्वायत्ताः**—सम्बन्ध रखते हैं; **प्राणाः वा व**—प्राण (प्राणों का

अगर २४ वर्ष के ब्रह्मचर्य की अवस्था में, इसके ब्रह्मचर्य में कोई बाधा उपस्थित करे, तो वह ब्रह्मचारी अपने प्राणों तथा वसु-रूप अपने ब्रह्मचर्य के संकल्प को सम्बोधन करके कहे, हे प्राणो ! हे वसुओ ! मैंने वसु-ब्रह्मचर्य धारण करने का निश्चय किया था, किन्तु यह तो मेरा प्रातः-सवन था, आप मुझे इस योग्य बनायें कि मैं माध्यन्दिन-सवन तक अपने संकल्प का विस्तार कर सकूं, रुद्र-ब्रह्मचारी बन सकूं, मेरा यह जीवन-यज्ञ प्राणरूप वसु-ब्रह्मचर्य तक पहुंचकर ही लोप न हो जाय। इस प्रकार के संकल्प से वह ऊपर उठ जाता है, मानसिक विकार से छूट जाता है ॥२॥

पुरुष के जो ४४ वर्ष हैं, वे मानो यज्ञ का माध्यन्दिन-सवन हैं। यज्ञ में त्रिष्टुप् के ४४ अक्षर होते हैं; त्रिष्टुप् छन्द का सवन मध्य-

---

पर्याय) ही, वसवः—वसु है, हि—क्योंकि, एते—ये (प्राण), इदम् सर्वम्—इस सब को, वासयन्ति—बसाते है, निवास देते हैं ॥१॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनं सवनमनुसंतनुतेति माऽहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥२॥

तम्—उस (पुरुष या वसु-संज्ञक ब्रह्मचारी) को, चेत्—अगर, एतस्मिन्—इस, वयसि—आयु में, किंचिद्—कुछ भी, कोई भी, उपतपेत्—सतावे, विघ्न डाले, सः—वह (पुरुष या ब्रह्मचारी); ब्रूयात्—कहे, प्राणा वसवः—प्राणरूपी वसु, इदम्—इस, मे—मेरे, प्रातःसवनम्—प्रातःसवन को, चौबीस वर्षों को, माध्यमन्दिनम् सवनम्—माध्यन्दिन-सवन तक (में), अनुसंतनुत—अनुस्यूत (बद्ध) कर दें, मिला दें, इति—यह (कहे); मा—नही, अहम्—मैं, प्राणानाम् वसूनाम्—प्राण-संज्ञक वसुओं के, मध्ये—बीच में, यज्ञः—जीवन-यज्ञ (को), विलोप्सीय—लुप्त करूँ, नष्ट करूँ, इति—ऐसा (कहकर), उद्—उन्नत, ह एव—निश्चय ही, ततः—उस (उपताप, विघ्न-बाधा) से, एति—प्राप्त करता है, (उद् एति—उस ताप से ऊपर उठ जाता है, संकट-मुक्त हो जाता है), अगदः—नीरोग, बाधा-रहित, ह—अवश्यमेव, भवति—हो जाता है ॥२॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनं चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति ॥३॥

अथ—और; यानि—जो, चतुश्चत्वारिंशद्—चवालीस, वर्षाणि—

दिन में होता है; इस सवन का देवता रुद्र है। पुरुष के ४४ वर्ष त्रिष्टुप् के ४४ अक्षर हैं; आयु के द्वितीय-काल का ब्रह्मचर्य त्रिष्टुप् का मध्य-दिन का सवन है; जैसे त्रिष्टुप् के माध्यन्दिन-सवन का देवता रुद्र है, वैसे पुरुष की आयु के द्वितीय-भाग के इस ४४ वर्ष के ब्रह्मचर्य का अधिष्ठाता रुद्र-ब्रह्मचारी है। रुद्र और प्राण एक ही बात हैं, रुद्र-ब्रह्मचारी प्राणों को इतना वश में करता है मानो उन्हें रुला देता है। प्राण को रुद्र इसलिये कहते हैं क्योंकि ये ही जब चल देते हैं, तब सब रोने लगते हैं ॥३॥

अगर ४४ वर्ष के ब्रह्मचर्य की अवस्था में इसके ब्रह्मचर्य में कोई बाधा उपस्थित करे, तो वह ब्रह्मचारी अपने प्राणों तथा रुद्र-रूप अपने ब्रह्मचर्य के संकल्प को सम्बोधन करके कहे, हे प्राणो ! हे रुद्रो ! मैंने रुद्र-ब्रह्मचर्य धारण करने का निश्चय किया था, किन्तु यह तो मेरा माध्यन्दिन-सवन था, आप मुझे इस योग्य बनायें कि मैं तृतीय-सवन तक अपने संकल्प का विस्तार कर सकूं, आदित्य-ब्रह्मचारी बन सकूं, मेरा यह जीवन-यज्ञ प्राण-रूप रुद्र-ब्रह्मचर्य तक पहुंच कर ही लोप न हो

(जीवन के) वर्ष हैं; तत्—वह; माध्यन्दिनम् सवनम्—(इस जीवन-यज्ञ—पुरुष-आयु का) दिन के मध्य में होने वाला सोम-याग के सवन के समान है; **चतुश्चत्वारिंशद्+अक्षरा**—चवालीस अक्षरों वाला; **त्रिष्टुभ्**—त्रिष्टुभ्-छन्द है; **त्रैष्टुभम्**—त्रिष्टुभ्-छन्द वाले मन्त्रों से युक्त; **माध्यन्दिनम् सवनम्**—माध्यन्दिन सवन (होता है); **तत्**—तो; **अस्य**—इस (माध्यन्दिन सवन रूप जीवन-यज्ञ) के (में); **रुद्राः**—ग्यारह रुद्र देवता या रुद्र-संज्ञक ब्रह्मचारी; **अन्वायत्ताः**—सम्बन्धित हैं; **प्राणाः वाव रुद्राः**—प्राणों का नाम ही रुद्र है (रुद्र शब्द का अर्थ प्राण है); **हि**—क्योंकि; **एते**—ये (प्राण) ही; **इदम् सर्वम्**—इस सब (प्राणि-जगत्) को; **रोदयन्ति**—(शरीर से निकलते समय) रुलाते हैं ॥३॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳ सवनं तृतीयसवनमनुसंतनुतेति माऽहं प्राणानां रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥४॥

तम्—उस (पुरुष या रुद्र-संज्ञक ब्रह्मचारी) को; **चेत्**—अगर; **एतस्मिन् वयसि**—इस आयु (के भाग) में; **किंचित्**—कुछ, कोई; **उपतपेत्**—पीड़ा देवे, विघ्न डाले; **सः ब्रूयात्**—वह कहे; **प्राणाः रुद्राः**—रुद्र-नामी प्राण; **इदम् मे माध्यन्दिनम् सवनम्**—इस मेरे माध्यन्दिन-सवन को, चवालीस वर्षों को; **तृतीय-**

जाय। इस प्रकार के संकल्प से वह ऊपर उठ जाता है, मानसिक-विकार से छूट जाता है ॥४॥

पुरुष के जो ४८ वर्ष हैं, वे मानो यज्ञ का तृतीय-सवन हैं। यज्ञ में जगती-छन्द के ४८ अक्षर होते हैं, जगती-छन्द का सवन तृतीय-काल में होता है; इस तृतीय-काल के सवन का देवता आदित्य है। पुरुष के ४८ वर्ष जगती के ४८ अक्षर हैं; आयु के तृतीय भाग का ब्रह्मचर्य जगती का सवन है; जैसे जगती-छन्द के तृतीय-सवन का देवता आदित्य है, वैसे पुरुष की आयु के तृतीय-भाग के इस ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य का अधिष्ठाता आदित्य ब्रह्मचारी है। आदित्य और प्राण एक ही बात है, आदित्य-ब्रह्मचारी के प्राण सूर्य की भांति शुद्ध तथा नियमित होते हैं। प्राण को आदित्य इसलिये कहते हैं क्योंकि जैसे आदित्य सब को लिये हुए है, पकड़े हुए है, वैसे प्राण भी शरीर की सब इन्द्रियों को लिये हुए हैं ॥५॥

सवनम्—तृतीय-सवन तक, अनुसंतनुत—अनुस्यूत (संबद्ध) कर दें, पहुंचा दें (ये प्राण मेरा साथ न छोड़ें), इति—यह (कहे), मा—नहीं, अहम्—मैं, प्राणानाम् रुद्राणाम्—रुद्र नामी प्राणों के (होते हुए), मध्ये—बीच में ही, यज्ञः विलोप्सीय—अपने जीवन-यज्ञ को नष्ट करूँ, इति—ऐसा (कहने पर), ह एव—निश्चय ही, ततः—उस (विघ्न-बाधा) से, उद् एति—ऊपर उठ जाता है, संकट-मुक्त हो जाता है, अगदः ह भवति—अवश्यमेव नीरोग व बाधा-रहित हो जाता है ॥४॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टा-
चत्वारिंशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या
अन्वायत्ताः प्राणा वावाऽऽदित्या एते हीदं सर्वमाददते ॥५॥

अथ—और, यानि—जो, अष्टाचत्वारिंशद्—अड़तालीस, वर्षाणि—(जीवन, पुरुष आयु के) वर्ष हैं, तत्—वह, तृतीय-सवनम्—तृतीय-सवन के समान हैं, अष्टाचत्वारिंशद्+अक्षरा—अड़तालीस अक्षरों वाला, जगती—जगती-छन्द है, जागतम्—जगती-छन्द के मंत्रों से युक्त, तृतीय-सवनम्—तृतीय-सवन है, तद्—तो, अस्य—इस (तृतीय-सवन रूपी जीवन-यज्ञ-पुरुष-आयु) के (में), आदित्याः—बारह आदित्य या आदित्य-संज्ञक ब्रह्मचारी, अन्वायत्ताः—सम्बद्ध हैं, प्राणाः वाव आदित्याः—प्राण ही आदित्य हैं, प्राणों का नाम ही आदित्य है, हि—क्योंकि, एते—ये (आदित्य-नामी प्राण), इदम् सर्वम्—इस सारे (प्राणि-जगत्) को, आददते—ले लेते हैं, आश्रय देते हैं, अपनाते हैं ॥५॥

अगर ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य की अवस्था में इसके ब्रह्मचर्य में कोई बाधा उपस्थित करे, तो वह ब्रह्मचारी अपने प्राणों तथा आदित्य-रूप अपने ब्रह्मचर्य के संकल्प को सम्बोधित करके कहे, हे प्राणो ! हे आदित्यो ! मैंने आदित्य-ब्रह्मचर्य धारण करने का निश्चय किया था, किन्तु यह तो मेरा तृतीय-सवन था, आप मुझे इस योग्य बनायें कि मैं आयु पर्यन्त इस संकल्प का विस्तार कर सकूं, आमरण ब्रह्मचारी रह सकूं, मेरा यह जीवन-यज्ञ प्राण-रूप आदित्य-ब्रह्मचर्य तक पहुंच कर ही लोप न हो जाय। इस प्रकार के संकल्प से वह ऊपर उठ जाता है, मानसिक-विकार से छूट जाता है ।।६।।

यह कथानक चला आ रहा है कि इतरा के पुत्र महिदास ने यह सब जानते हुए कहा था—ऐ मेरे ब्रह्मचर्य में उपस्थित होने वाले विघ्न ! तू मुझे क्यों सता रहा है ? मैं तेरी चोट से हर्गिज नहीं डिगूंगा।

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा आदित्या
इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसंतनुतेति माऽहं प्राणानामादित्यानां
मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ।।६।।

तम्—इस (पुरुष या आदित्य-संज्ञक ब्रह्मचारी) को; **चेद्**—अगर; **एतस्मिन् वयसि**—इस (अड़तालीस वर्ष की) आयु में; **किंचिद्**—कोई भी, कुछ भी; **उपतपेत्**—पीड़ा देवे, विघ्न डाले; **सः ब्रूयात्**—वह कहे; **प्राणाः आदित्याः**—आदित्य नामी प्राण; **इदम्**—इस; **मे**—मेरे; **तृतीयसवनम्**—तृतीय-सवन को, अड़तालीस वर्षों को; **आयुः**—(मनुष्य की पूर्ण) आयु तक; **अनुसंतनुत**—सम्बद्ध करें; **इति**—यह (कहे); **मा अहम्**—नहीं मैं; **प्राणानाम् आदित्यानाम्**—आदित्य-नामी प्राणों के (होते हुए); **मध्ये**—बीच में ही; **यज्ञः**—जीवन-रूप यज्ञ को; **विलोप्सीय**—नष्ट करूँ; **इति**—ऐसा (कहने पर); **ह एव**—निश्चय ही; **ततः**—उस (विघ्न-बाधा) से; **उद् एति**—ऊपर उठ जाता है, संकट-मुक्त हो जाता है; **अगदः ह एव भवति**—निश्चय ही नीरोग व बाधा-रहित हो जाता है ।।६।।

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं म
एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति। स ह षोडशं
वर्षशतमजीवत्प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ।।७।।

एतत्—इस (को); **ह स्म वै**—पुरा काल में; **तद्**—उस (पुरुष-यज्ञ) को; **विद्वान्**—जाननेवाले; **आह**—कहा था; **महिदासः**—महिदास ने; **ऐतरेयः**—इतरा के पुत्र; **सः**—वह; **किम्**—क्यों; **मे**—मुझे; **एतद्**—यह, ऐसे; **उपतपसि**—

कहते हैं कि इस संकल्प से ही महिदास २४+४४+४८=११६ वर्ष तक जीवित रहा। जो इस रहस्य को जानता है वह ११६ वर्ष तक जीता है ॥७॥



११६ वर्ष के आदित्य-ब्रह्मचारी इतरा के पुत्र महिदास ऋषि

पीड़ा देता है, विघ्न डालता है, य: अहम्—जो मैं, अनेन—इस (उपताप) से, न—नहीं, प्रेष्यामि—मरूँगा, इति—ऐसा (यह कह), स:—वह, ह—निश्चयपूर्वक, षोडशम् वर्षशतम्—(२४+४४+४८=११६) एक सौ सोलह वर्ष तक, अजीवत्—जिया था, आयु पाई थी, ह—निश्चय ही, षोडशम् वर्षशतम्—एक सौ सोलह वर्ष तक, प्र जीवति—उत्तमता से जीवन (आयु) पाता है, य: एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है ॥७॥

तृतीय प्रपाठक—(सत्रहवां खंड)

इस खंड में भी मनुष्य-जीवन को यज्ञ-मय बताया गया है। यज्ञ के पांच अंग होते हैं—दीक्षा, उपसद, स्तुत-शस्त्र, दक्षिणा तथा अवभृथ। मनुष्य-जीवन भी पांच प्रकार का है, एक-एक प्रकार के जीवन की यज्ञ के एक-एक अंग के साथ तुलना करते हुए ऋषि कहते हैं :—

जो व्यक्ति खाता है, पीता है, परन्तु इनमें रम नहीं जाता, उसका जीवन मानो 'दीक्षा' का जीवन है ॥१॥

जो व्यक्ति खाता है, पीता है और उसमें रमा रहता है, उसका जीवन मानो 'उपसद' का जीवन है ॥२॥

जो व्यक्ति खूब हंसता है, खूब खाता है और मैथुन करता है, उसका जीवन मानो 'स्तुत-शस्त्र' का, आम जनता द्वारा प्रशंसित उपकरणों का जीवन है ॥३॥

जो व्यक्ति तप, दान, ऋजुता, अहिंसा और सत्य-वचन में जीवन व्यतीत करता है, उसका जीवन मानो 'दक्षिणा' का जीवन है ॥४॥

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः ॥१॥

सः—वह (पुरुष-यज्ञ का कर्ता); यत्—जो; अशिशिषति—खाना तो चाहता है; यत्—जो; पिपासति—पीना चाहता है (पर); यत्—जो; न—नहीं; रमते—(अशनाया-पिपासा में) रस नहीं लेता, फँसता नहीं अथवा (न रमते—रति-क्रिया नहीं करता); ताः—वे ही; अस्य—इस (यजमान) की; दीक्षाः—दीक्षा (यज्ञ-स्वीकृति या यज्ञ-निमित्त व्रत) हैं ॥१॥

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति ॥२॥

अथ—और; यद्—जो; अश्नाति—खाता है; यत्—जो; पिबति—पीता है; यद्—जो; रमते—इनमें रस लेता है, फँसता है; अथवा रति-कर्म करता है; तद्—वह; उपसदैः एति—उपसदों के समान होता है (पाठान्तर-उपसदा+एव+इति—वह उपसदा ही है) ॥२॥

अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति ॥३॥

अथ—और; यद्—जो; हसति—हँसता है; यत्—जो; जक्षति—खाता है; यत्—जो; मैथुनम् चरति—रति-क्रिया करता है, (वह) स्तुत-शस्त्रैः—स्तुत-शस्त्रों से (आम जनता जिन शस्त्रों, उपकरणों की स्तुति करती है उनसे); एव—ही; तद्—वह (जीवन); एति—(समानता को) पाता है ॥३॥

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ॥४॥

जब सोम-याग में सोम-रस को निचोड़ने लगते हैं, तब 'सोष्यति' शब्द का प्रयोग होता है, अर्थात् वह सोम-रस को निचोड़ेगा; जब निचोड़ चुकते हैं, तब 'असोष्ट' शब्द का प्रयोग होता है, अर्थात् वह सोम-रस को निचोड़ चुका। 'सू' धातु 'रस निचोड़ने' और 'जन्म देने'—दोनों अर्थों में प्रयुक्त होती है, अतः 'सोष्यति' तथा 'असोष्ट' का जहां यज्ञ में 'रस निचोड़ेगा' और 'रस निचोड़ा'—ये दो अर्थ होते हैं, वहां मनुष्य के सम्बन्ध में 'सोष्यति' का अर्थ होगा 'जन्म देगा' और 'असोष्ट' का अर्थ होगा 'जन्म दिया'। जीवन-रूपी यज्ञ में व्यक्ति का मनुष्य-रूप में पुनर्जन्म ही 'सोष्यति' तथा 'असोष्ट' है, अर्थात् मनुष्य का दुर्लभ जन्म लेना मानो सोम-रस का चू-पड़ना है, और 'सोष्यति' तथा 'असोष्ट' के अतिरिक्त मनुष्य का मर जाना मानो 'अवभृथ' है ॥५॥

जीवन को यज्ञमय समझने के इस रहस्य को घोर आंगिरस ने देवकी के पुत्र कृष्ण को बताया और उसकी सब जिज्ञासा मिट गई। घोर ऋषि ने कृष्ण से कहा कि उपासक जीवन का अन्तकाल आ

अथ—और, यत्—जो, तप—तप (द्वन्द्व-सहन), दानम्—दान, आर्जवम्—सरलता, अहिंसा—हिंसा न करना, सत्यवचनम्—सच बोलना (पांचों यमों का पालन करना), इति—ये, ताः अस्य दक्षिणा—वे इस (यजमान की) दक्षिणा (दान-द्रव्य) हैं ॥४॥

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवास्यावभृथ ॥५॥

तस्माद्—उस कारण से, आहुः—(जब) कहते हैं कि, सोष्यति—सोम-वल्ली का रस निकालेगा या सन्तान उत्पन्न करेगा, असोष्ट—रस निकाला या सन्तान उत्पन्न की; इति—ऐसा, पुनः—फिर, उत्पादनम्—(पुत्र रूप में) उत्पन्न होना, एव—ही, अस्य—इस (यजमान) का, तत्—वह (सवन) है, मरणम्—(अन्त में) शरीर-त्याग, एव—ही, अवभृथ—यज्ञोपरान्त विहित स्नान (है) ॥५॥

तद्धैतद् घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचा-
पिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्य-
च्युतमसि प्राणसंशितमसीति। तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥६॥

तद् ह एतत्—उस इस (पुरुष-यज्ञ के ज्ञान) को, घोरः—घोर-नामी, आंगिरसः—अंगिरा के पुत्र ने, कृष्णाय—कृष्ण (को), देवकीपुत्राय—देवकी

जाने पर इन तीन वाक्यों का उच्चारण करे—'अक्षितम् असि'—हे भगवन् ! आप अविनाशी हैं, 'अच्युतम् असि'—हे भगवन् ! आप सदा एक-रस है, 'प्राण-संशितम् असि'—हे भगवन् ! आप प्राण से भी तीक्ष्ण हैं, सूक्ष्म हैं। इस पर दो ऋचाएं हैं—॥६॥

द्यु-लोक से भी परे जो ज्योति प्रदीप्त हो रही है, जो प्राचीन से भी प्राचीन वस्तु का कारण है, उपासक लोग, सदा दिन रहने वाली उस अखंड ज्योति का दर्शन करते हैं ॥७॥

अन्धकार से परे जो ज्योति दीख पड़ती है, उसे देखते हुए हम ऊपर-ही-ऊपर उठें। उस सुख-स्वरूप ज्योति को देखते हुए देवों-में-देव सूर्य की उत्कृष्टतर ज्योति को प्राप्त हों, और उसके अनन्तर सब ज्योतियों-में-उत्तम, सब ज्योतियों-में-उत्तम ब्रह्म-ज्योति को प्राप्त हों ॥८॥

के पुत्र; **उक्त्वा**—उपदेश कर; **उवाच**—(अपने विषय में) कहा था कि; **अपिपासः**—प्यास से (कामना से) रहित; **एव**—ही; **सः**—वह (घोर); **बभूव**—हो गया था; **सः**—वह पुरुष (जीवन-यज्ञ कर्ता); **अन्तवेलायाम्**—अन्त में (मृत्यु के) समय आने पर; **एतत्**—इस; **त्रयम्**—तीन को; **प्रतिपद्येत**—करे, कहे, सोचे; **अक्षितम्**—अविनाशी, अव्रण; **असि**—तू है; **अच्युतम्**—न्यून न होनेवाला, एक-रस; **असि**—तू है; **प्राण-संशितम्**—प्राण से भी बढ़कर तीक्ष्ण (सूक्ष्म); **असि**—तू है; **इति**—यह (तीनों वाक्यों को प्राप्त हो); **तत्र**—उस विषय में; **द्वे**—दो; **ऋचौ**—ऋचाएँ; **भवतः**—हैं ॥६॥

आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवा ॥७॥

आत्—अवश्य; **इत्**—ही; **प्रत्नस्य**—पुराने, पूर्ण; **रेतसः**—वीर्य के, बीज के; **ज्योतिः**—ज्योति को; **पश्यन्ति**—देखते हैं; **वासरम्**—दिनभर; **परः**—परे, आगे; **यद्**—जो; **इध्यते**—प्रदीप्त हो रहा है; **दिवा**—दिन में ॥७॥

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरँ स्वः पश्यन्त उत्तरं
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति ॥८॥

उद्—ऊपर; **वयम्**—हम; **तमसः**—अन्धकार से; **परि**—सब ओर; **ज्योतिः**—प्रकाश को; **पश्यन्तः**—देखते हुए; **उत्तरम्**—(पहले से भी) अधिक ऊपर; **स्वः**—स्वर्गलोक, आनन्दमय स्थिति को; **पश्यन्तः**—देखते हुए; **उत्तरम्**—अधिक ऊपर; **देवम्**—देव; **देवत्रा**—देवताओं में या देवों के भी रक्षक; **सूर्यम्**—जगत् के रचयिता, जगत के प्रेरक; **अगन्म**—प्राप्त हो गये, जान लिया;

तृतीय प्रपाठक—(अठारहवां खंड)

(पिंड के वाणी, प्राण, नेत्र, श्रोत्र का ब्रह्माण्ड के अग्नि, वायु, आदित्य, दिक् से समन्वय)

'अध्यात्म' उपासना, अर्थात् इस शरीर-रूपी 'पिंड' में ब्रह्मोपासना करते हुए 'मन' को ब्रह्म का प्रतीक मान कर उपासना करे; 'अधिदैवत' उपासना, अर्थात् विश्व-रूपी 'ब्रह्माण्ड' में ब्रह्मोपासना करते हुए 'आकाश' को ब्रह्म का प्रतीक मानकर उपासना करे। ये दोनों अध्यात्म तथा अधिदैवत उपासनाएं ऋषियों ने कही हैं ॥१॥

यह ब्रह्म चार चरणों वाला है। मन-ब्रह्म का वाणी चरण है, प्राण चरण है; नेत्र चरण है; श्रोत्र चरण है। यह अध्यात्म हुआ। आकाश-ब्रह्म का अग्नि चरण है; वायु चरण है; आदित्य चरण है; दिशाएं चरण हैं। यह अधिदैवत हुआ। ये दोनों अध्यात्म (पिंड-सम्बन्धी) तथा अधिदैवत (ब्रह्माण्ड-सम्बन्धी) उपासनाएं ऋषियों ने कही हैं ॥२॥

ज्योति—ज्योति स्वरूप, उत्तमम् इति—सब से ऊपर, सर्वोत्तम, ज्योति उत्तमम्—सर्वोत्तम ज्योति को, इति—ये ऋचा हैं ॥८॥

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो
ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥१॥

मन—मन को, ब्रह्म—ब्रह्म (सब से बड़ा, महत्वपूर्ण), इति—ऐसे, उपासीत—उपासना करे, इति—यह, अध्यात्मम्—आत्मा (पिण्ड) सम्बन्धी (कथन है), अथ—अब, अधिदैवतम्—देवता (ब्रह्माण्ड) विषयक (कथन है कि), आकाश—आकाश को, ब्रह्म—ब्रह्म है, इति—इस प्रकार, उभयम्—दोनों ही, आदिष्टम्—निर्दिष्ट, उपदिष्ट, भवति—होते हैं, अध्यात्मम् च अधिदैवतम् च—अध्यात्म और अधिदैवत (कथन) ॥१॥

तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म। वाक्पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद
इत्यध्यात्ममथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो
दिशः पाद इत्युभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ॥२॥

तद्—सो, एतद्—यह (मनरूपी), चतुष्पाद्—चार पाद वाला, (चार आधार वाला), ब्रह्म—ब्रह्म है, वाक् पाद—वाणी (पहला) पाद है, प्राण पाद—प्राण या घ्राण (दूसरा) पाद है, चक्षु पाद—नेत्र (तीसरा) पाद

पिंड में वाणी, 'मन-ब्रह्म' का चार चरणों में से एक चरण है, यह ब्रह्मांड के 'आकाश-ब्रह्म' के चरण अग्नि-ज्योति से प्रकाशमान तथा प्रदीप्त हो रही है। जो उपासक ऐसा जानता है वह कीर्ति से, यश से तथा ब्रह्म-तेज से प्रकाशमान तथा प्रदीप्त रहता है ॥३॥

पिंड में प्राण, 'मन-ब्रह्म' का चार चरणों में से एक चरण है, यह ब्रह्मांड के 'आकाश-ब्रह्म' के चरण वायु-ज्योति से प्रकाशमान तथा प्रदीप्त हो रहा है। जो उपासक ऐसा जानता है वह कीर्ति से, यश से, तथा ब्रह्म-तेज से प्रकाशमान तथा प्रदीप्त रहता है ॥४॥

है; **श्रोत्रम् पादः**—कान (चौथा) पाद है; **इति**—यह; **अध्यात्मम्**—मनो-ब्रह्म का निरूपण है; **अथ**—आगे; **अधिदैवतम्**—आकाश-ब्रह्म का (निरूपण यह है कि); **अग्निः पादः**—(देवता आकाश-ब्रह्म का) अग्नि (पहला) पाद है; **वायुः पादः**—वायु (दूसरा) पाद है; **आदित्यः पादः**—सूर्य (तीसरा) पाद है; **दिशः पादः**—दिशाएँ (चौथा) पाद हैं; **इति**—इस प्रकार; **उभयम् एव आदिष्टम् भवति अध्यात्मम् च अधिदैवतम् च**—इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवत दोनों का निरूपण हो जाता है ॥२॥

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च
भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥३॥

वाग् एव—वाणी ही; **ब्रह्मणः**—मनो-ब्रह्म का; **चतुर्थः**—चार-पाद में से एक; **पादः**—पाद है; **सः**—वह (वाक्पाद); **अग्निना**—(अधिदैवत आकाश-ब्रह्म के पाद) अग्नि से (की); **ज्योतिषा**—प्रकाश से (शक्ति से); **भाति**—चमकती है; **च**—और; **तपति च**—ताप देती है; (**भाति च तपति च**—अपने कार्य में समर्थ होती है); **भाति च तपति च**—चमकता है और तपता है, अन्य पर प्रभाव डालता है; **कीर्त्या, यशसा, ब्रह्मवर्चसेन**—कीर्ति (गुण-गान), यश (ख्याति) और ब्रह्म-तेज से; **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥३॥

प्राणः एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च
भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥४॥

प्राणः एव—प्राण ही; **ब्रह्मणः**—(मन-रूप) ब्रह्म का; **चतुर्थः**—चारों में से एक; **पादः**—पाद है; **सः**—वह (प्राण); **वायुना**—(आकाश-ब्रह्म के पाद) वायु से (के); **ज्योतिषा**—प्रकाश से (शक्ति से); **भाति च तपति च**—अपने कार्य में समर्थ होता है; **भाति च तपति च**—चमकता है और तपता है; **कीर्त्या, यशसा, ब्रह्मवर्चसेन**—कीर्ति, यश और ब्रह्म-तेज से; **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥४॥

पिंड में चक्षु, 'मन-ब्रह्म' का चार चरणों में से एक चरण है, यह ब्रह्मांड के 'आकाश-ब्रह्म' के चरण आदित्य-ज्योति से प्रकाशमान तथा प्रदीप्त हो रहा है। जो उपासक ऐसा जानता है वह कीर्ति से, यश से तथा ब्रह्म-तेज से प्रकाशमान तथा प्रदीप्त रहता है ॥५॥

पिंड में श्रोत्र, 'मन-ब्रह्म' का चार चरणों में से एक चरण है, यह ब्रह्मांड के 'आकाश-ब्रह्म' के चरण दिग्-ज्योति से प्रकाशमान तथा प्रदीप्त हो रहा है। जो उपासक ऐसा जानता है वह कीर्ति से, यश से तथा तेज से प्रकाशमान तथा प्रदीप्त रहता है ॥६॥

तृतीय प्रपाठक—(उन्नीसवां खंड)

'आदित्य ब्रह्म है'—यह महर्षियों का आदेश है। इस आदेश की व्याख्या करते हैं—यह संसार पहले 'असत्' ही था, अव्यक्त था।

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च
भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥५॥

चक्षुः एव ब्रह्मणः चतुर्थः पादः—आँख ही (मन-रूप) ब्रह्म का चौथा (चारों में से एक) पाद है, सः—वह (नेत्ररूपी) पाद, आदित्येन—(आकाश-ब्रह्म के पाद) सूर्य से (के), ज्योतिषा—प्रकाश से (शक्ति से), भाति च तपति च—अपने कार्य में समर्थ होता है, भाति च तपति च—चमकता है और तपता है, कीर्त्या, यशसा, ब्रह्मवर्चसेन—कीर्ति, यश और ब्रह्म-तेज से, यः एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है ॥५॥

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च
भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद य एवं वेद ॥६॥

श्रोत्रम् एव—कान ही, ब्रह्मणः—(मन-रूपी) ब्रह्म का, चतुर्थः—चारों में से एक (चौथा), पादः—पाद है, सः—वह (श्रोत्र), दिग्भिः—दिशाओं से (के), ज्योतिषा—प्रकाश से, शक्ति से, भाति च तपति च—अपने कार्य में समर्थ होता है, भाति च तपति च—चमकता है और तपता है (औरों पर प्रभाव डालता है), कीर्त्या, यशसा, ब्रह्मवर्चसेन—कीर्ति से, यश से, और ब्रह्म-तेज से, यः एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है ॥६॥

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत्।
तत्सदासीत्तत्समभवत्तदाण्डं निरवर्तत तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत
तन्निरभिद्यत ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम् ॥१॥

आदित्यः—सूर्य ही, ब्रह्म—(सब से बढ़कर) ब्रह्म है; इति—यह; आदेशः—

वह ब्रह्म ही उस समय 'सत्' था, व्यक्त था। ब्रह्म ने अपनी सत्ता को प्रकट किया, और अण्डाकार प्रकृति-रूप पिंड का आवर्तन शुरू किया। संवत्सर तक उस अण्डे को सेया। उसके दो टुकड़े हो गये, अण्डे के दो कपाल हो गये—एक रजत के वर्ण का, दूसरा सुवर्ण के वर्ण का ॥१॥

इस अण्डे का जो चांदी के वर्ण का टुकड़ा था, वह तो यह पृथिवी है, जो सोने के वर्ण का टुकड़ा था, वह द्युलोक है। अण्डे में जो जेर थी, वह पर्वत हैं, जो झिल्ली थी, वह मेघ और नीहार हैं, जो धमनियां थीं, वे नदियां हैं, जो बस्ति का जल था—मूत्र—वह समुद्र है ॥२॥

(ब्रह्मज्ञानियों का) निर्देश या उपदेश है (कथन है); तस्य—उस (आदित्य-ब्रह्म) का; उपव्याख्यानम्—पुनः व्याख्या है; असत्—(कार्य रूप में अविद्यमान); एव—ही; इदम्—यह (आदित्य-ब्रह्म); अग्रे—(सृष्टि-रचना से) पहले; आसीत्—था; तत्—वह (वास्तव में); सद्—(कारण रूप में) विद्यमान था; तत्—वह (आदित्य-ब्रह्म); समभवत्—उत्पन्न हुआ, प्रकट हुआ; तद्—वह; आण्डम्—अण्डे के समान (हिरण्य-गर्भ रूप में); निरवर्तत—उत्पन्न हुआ; तत्—वह अण्डा; संवत्सरस्य—एक वर्ष के; मात्राम्—परिमाण (काल) तक; अशयत—सोया (उसी रूप में पड़ा रहा) या उसे सेया; तद्—वह; निरभिद्यत—(दो टुकड़ों में) टूट गया; ते—वे; आण्डकपाले—(उस हिरण्यगर्भ) अण्डे के दोनों टुकड़े (खोल); रजतम्—चाँदी; च—और; सुवर्णम्—सोना; च—और; अभवताम्—हो गये ॥१॥

तद्यद्रजतँ सेयं पृथिवी यत्सुवर्णँ सा द्यौर्यज्जरायु ते पर्वता यदुल्बँ
स मेघो नीहारो या धमनयस्ता नद्यो यद् वास्तेयमुदकँ स समुद्रः ॥२॥

तद्—वह; यद्—जो; रजतम्—चाँदी रूप में (अण्डे का टुकड़ा) हो; सा इयम्—वह यह; पृथिवी—पृथिवी है; यत्—जो (टुकड़ा); सुवर्णम्—सोना (हो गया) था; सा द्यौः—वह द्युलोक है; यत्—जो (उस अण्डे में); जरायु—जेर (थी); ते पर्वताः—वे पर्वत हैं; यद् उल्बम्—जो गर्भ-बन्धन (नाड़ी) था; सः—वह; मेघः—बादल; (समेघः—मेघों के सहित); नीहारः—(एवं) कोहरा (हुए); याः—जो; धमनयः—शिराएँ, नसें थीं; ताः—वे; नद्यः—नदियाँ (बनीं); यद्—जो; वास्तेयम्—वस्ति (पेट, मध्य) का; उदकम्—पानी (मूत्र) था; सः—वह ही; समुद्रः—समुद्र (बन गया) ॥२॥

इस अण्डे में से जो जीव उत्पन्न हुआ, यही वह आदित्य है। जब सूर्य उत्पन्न हो रहा था, तब 'उलूलव' अर्थात् उरूरव, उच्च-घोष होने लगे, सब प्राणी उठे, और उनकी कामनाएं उठ खड़ी हुईं। इसी कारण सूर्य के उदय तथा अस्त होने पर पशु-पक्षियों की आवाजें आने लगती हैं, सब प्राणी उठ खड़े होते हैं, उनकी कामनाएं जाग जाती हैं ॥३॥

इस प्रकार आदित्य को ब्रह्म का प्रतीक मानकर जो उसकी उपासना करता है, उसे शीघ्र ही साधु-घोष आ पहुंचते हैं, और उसे हर्षित करते हैं, हर्षित करते हैं ॥४॥

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त्सर्वाणि च भूतानि च सर्वे च कामास्तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामा ॥३॥

अथ—और, यत् तद्—जो वह, अजायत—(उस अण्डे से) उत्पन्न हुआ, स—वह, असौ—यह, आदित्य—सूर्य (ब्रह्म) है, तम् जायमानम्—उसके उत्पन्न होने पर, घोषा—और वे शब्द, जय-जयकार, उलूलव (उरूरव)—बहुत शब्द वाले, अनु+उदतिष्ठन्—बाद में (पीछे) उठे (हुए), सर्वाणि च—और सारे, भूतानि—चर-अचर भूत, सर्वे च—और सारे, कामा—काम्य (वस्त्र अन्न आदि अभीष्ट) भोग, तस्मात्—उस कारण से (आजकल भी), तस्य—उस (आदित्य) के, उदयम् प्रति—उदय होने के साथ, प्रत्यायनम् प्रति—अस्त होने के साथ, घोषा—शब्द, उलूलव—अनेक शब्द वाले, अनु+उत्तिष्ठन्ति—बाद में होने लगते हैं, सर्वाणि च भूतानि—और सारे प्राणी (उठ-जाग जाते हैं कर्म रत होते हैं), सर्वे च कामा—और सारे अभीष्ट भोग (भोगे जाते हैं) ॥३॥

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनं साधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन्निम्रेडेरन् ॥४॥

स य—वह जो, एतम्—इसको, एवम्—इस प्रकार से, आदित्यम् ब्रह्म—सूर्यरूप ही ब्रह्म है, इति—ऐसे, उपास्ते—उपासना करता है, अभ्याशः ह—समीप ही है जल्दी ही, निकट भविष्य में, यत्—कि, एनम्—इस (उपासक) को, साधव—अच्छे, भले, घोषा—शब्द, घोषणायें, च—और, आ गच्छेयुः—आवें, प्राप्त हों, च—और, उप निम्रेडेरन्—वे (घोष) आनन्दित करें, सुख के कारण हों, निम्रेडेरन्—सुखी करें (द्विरुक्ति आदरार्थ व अध्याय-समाप्ति द्योतक है) ॥४॥

(जैसे अंडे के फूटने से प्राणी उत्पन्न होते हैं वैसे सृष्टि-रूप अंडे के फूटने से यह जगत् उत्पन्न हुआ---यह वर्णन इस उपनिषद् में पाया जाता है। वर्तमान वैज्ञानिक सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हैं। एक सिद्धांत है---'Big Bang Theory' और दूसरा सिद्धांत है---'Steady State Theory'। विग वैंग थियोरी का अर्थ यह है कि सृष्टि के प्रारम्भ में---लग-भग एक अरब वर्ष पूर्व---भौतिक-तत्त्व (प्रकृति---Matter) घनी-भूत अवस्था में था। इस घनीभूत अवस्था में विस्फोट हुआ, इसी विस्फोट को वैज्ञानिक विग वैंग या एक्सप्लोज़न कहते हैं। इस विस्फोट से घनीभूत भौतिक-तत्त्व इस विशाल नभोमंडल में विखर कर सूर्य, चन्द्र, तारे, आकाश-गंगा आदि का रूप धारण कर गया। वैज्ञानिकों की अधिक संख्या इसी सिद्धान्त को मान्य समझती है। उपनिषद् का वर्णन भी 'घनीभूत भौतिक-तत्त्व' (Matter in a concentrated state) का अंडे के रूप में उल्लेख करता है, और जैसे आजकल के वैज्ञानिक घनीभूत भौतिक-तत्त्व के विस्फोट से सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन करते हैं वैसे उपनिषद् के ऋषि सृष्टि-रूप अंडे के विस्फोट से इस जगत् की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं। अंडा घनीभूत भौतिक-तत्त्व के सिवा क्या हो सकता है---इसी को उपनिषद् में 'ब्रह्मांड' कहा है।)

चतुर्थ प्रपाठक---(पहला खंड)

(गाड़ीवान रैक्व ऋषि की 'संवर्ग-विद्या', १ से ३ खंड)

प्राचीन-काल में जानश्रुति नामक एक राजा था जिसके पिता, पितामह तथा प्रपितामह तीनों जीवित थे, इसलिये वह 'पौत्रायण', अर्थात् पुत्र-पौत्रों वाला भी कहलाता था। वह श्रद्धा से दान देता था, थोड़ा नहीं बहुत दान देता था, उसके यहां खूब अन्न पकता था।

ॐ जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस।
स ह सर्वत आवसथान्मापयांचक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति ॥१॥

ओम्---ईश्वर का स्मरण कर; जानश्रुतिः---जनश्रुत का पुत्र; ह---पहले कभी; पौत्रायणः---जीवित प्रपितामह-पितामह-पिता वाला; श्रद्धादेयः---श्रद्धा-

उसने जगह-जगह धर्मशालाएं बनवा दी थीं ताकि भिन्न-भिन्न स्थानों से आकर अतिथि लोग उसके यहां भोजन किया करें ॥१॥

एक बार रात्रि को कुछ हंस—अर्थात् परमहंस महात्मा लोग—उसके यहां आ टिके। उनमें से एक ने दूसरे से कहा—ऐ भद्र-नयन ! जानश्रुति पौत्रायण राजा का यश द्यु-लोक के समान फैल रहा है। उससे टक्कर न ले बैठना, कहीं वह तुझे अपने तेज से भस्म न कर डाले ॥२॥

उसे दूसरे महात्मा ने उत्तर दिया—अरे, तुमने इस साधारण-से राजा को ऐसे कैसे कहा जैसे मानो वह गाड़ीवाला रैक्व ऋषि हो। पहले महात्मा ने पूछा, यह गाड़ीवान रैक्व ऋषि कैसा है ?॥३॥

पूर्वक दान करनेवाला, बहुदायी—प्रभूत दान करनेवाला, बहुपाक्य—(भिक्षुओं के लिए) बहुत-सा अन्न का पाक करवानेवाला; आस—था; स ह—उसने; सर्वतः—चारों ओर, आवसथान्—(धर्मशाला आदि) मकान, मापयाञ्चक्रे—बनवाये थे; सर्वतः—सब ओर, सब जगह, एव—ही; मे—मेरा, अत्स्यन्ति—(अन्न) खायेंगे, इति—यह (प्रसिद्ध है) ॥१॥

अथ ह हꣳसा निशायामतिपेतुस्तद्धैवꣳ हꣳसो हꣳसमभ्युवाद
हो होऽयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं
दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीदिति ॥२॥

अथ ह—इसके बाद कभी, हंसा—परमहंस मुनि या हंस पक्षी, निशायाम्—रात्रि में, अतिपेतुः—उड़े, वहां आये, तद् ह—तो, तब, एवम्—इस प्रकार, हंसः—(एक) हंस ने, हंसम्—(दूसरे) हंस को, अभ्युवाद—कहा, हो-हो—हे-हे, अयि—अरे, भल्लाक्ष ! भल्लाक्ष !—भल्लाक्ष भल्लाक्ष !, जानश्रुतेः पौत्रायणस्य—जीवित परदादा-दादा-पितावाले जानश्रुति का, समम् दिवा—दिन के समान, ज्योतिः—तेज; आततम्—चारों ओर फैल रहा है, तत्—तो उस (तेज) को, मा—मत, प्रसाङ्क्षीः—छूना, सम्पर्क में जाना, तत्—वह (तेज), त्वा—तुझ को, मा—नहीं, प्रधाक्षीद्—जला देवे, इति—यह (कहा) ॥२॥

तमु ह परः प्रत्युवाच कम्वर एनमेतत्सन्तꣳ सयुग्वानमिव
रैक्वमात्थेति । यो नु कथꣳ सयुग्वा रैक्व इति ॥३॥

तम् उ—उस (हंस) को; परः—दूसरे (भल्लाक्ष) ने, प्रत्युवाच—जवाब दिया; कम्+उ+अरे (कम्वरे)—किसको अरे, एनम्—इस (जानश्रुति) को; एतत्-सन्तम्—ऐसा होनेवाले को; सयुग्वानम्—गाड़ी के साथ, गाड़ी की

दूसरे महात्मा ने उत्तर दिया, जैसे जूए के खेल में सब से मुख्य पासा 'कृत' कहलाता है, नीचे के पासे 'अय' कहलाते हैं, और 'कृत' के आ पड़ने पर उससे निचले सब 'अय' उसी में आ जाते हैं, इसी प्रकार यह ऋषि 'कृत' के समान है, लोग जो-कुछ भलाई करते हैं उसका फल रैक्व को मिल जाता है। जो व्यक्ति उस रहस्य को जानता है जिसे रैक्व जानता है, वही कुछ जानता है, ऐसा मैंने अन्य महात्माओं से भी कहा है ॥४॥

महात्माओं का यह संवाद जानश्रुति पौत्रायण ने सुन लिया। उसने प्रातःकाल उठते ही अपने सारथि से कहा—ऐ प्यारे ! तू क्या मेरी प्रशंसा गाड़ीवान रैक्व ऋषि की प्रशंसा की तरह करता है ? सारथि ने पूछा—वह गाड़ीवान रैक्व ऋषि कैसा है ? ॥५॥

सवारी वाले; इव—समान; रैक्वम्—रैक्व को (की); आत्थ—तू कहता है (रैक्व के समान होने वाला किसको बता रहा है, रैक्व ही सर्वश्रेष्ठ ज्योतिष्मान् है); इति—यह (पहले से कहा); (पहले ने पूछा कि) यः नु—जो (तू यह रैक्व बता रहा है); कथम्—किस प्रकार का; सयुग्वा—गाड़ीवान; रैक्वः—रैक्व है; इति—यह (पूछा) ॥३॥

यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति। यस्तद्वेद यत्स वेद। स मयैतदुक्त इति ॥४॥

यथा—जैसे; कृताय—कृत—जूए का पासा, अथवा सफल-मनोरथ; विजिताय—जय-प्राप्त पुरुष के; अधरेयाः—नीचे के (निचले पासे या निचले कर्मचारी या जन); संयन्ति—संगत हो जाते हैं, उससे स्वयं मिल जाते हैं; एवम्—इस ही प्रकार; एनम्—इस (रैक्व) को; सर्वम् तद्—सब कुछ वह; अभिसमेति—मिल जाता है, एकत्र हो जाते हैं; यत् किंच—जो कुछ; प्रजाः—प्रजाएं; साधु—पुण्य कर्म; कुर्वन्ति—करती हैं; यः—जो (रैक्व) भी; तद्—उस को; वेद—जानता है; यत्—जिसको; सः—वह जानश्रुति; वेद—जानता है; सः—वह (उसके विषय में); मया—मैंने; एतत्—यह, ऐसे; उक्तः—कहा है; इति—यह (कहा) ॥४॥

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव। स ह संजिहान एव क्षत्तारमुवाच अङ्गारे ह सयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति। यो नु कथं सयुग्वा रैक्व इति ॥५॥

तद् उ ह—उस (कथोपकथन) को; जानश्रुतिः पौत्रायणः—पौत्रायण जानश्रुति ने; उपशुश्राव—सुना; स ह—और उसने; संजिहानः—शय्या छोड़ते हुए; एव—ही; क्षत्तारम्—(अपने) सारथि को; उवाच—(उसके शब्दों में

राजा ने उत्तर दिया, रात को मैंने दो महात्माओं को यह कहते सुना है—"जैसे जूए में 'कृत' (आजकल का ताश के खेल में इक्का) पासे के आ पड़ने पर उससे निचले सब 'अय' (आजकल के ताश के खेल में बादशाह, बेगम, गुलाम आदि) उसी में आ जाते हैं, इसी प्रकार यह ऋषि 'कृत' के समान है, लोग जो-कुछ भी भलाई करते हैं उसका फल रैक्व को मिल जाता है। जो व्यक्ति उस रहस्य को जानता है जिसे रैक्व जानता है—वही कुछ जानता है, ऐसा मैंने अन्य महात्माओं से भी कहा है।"—इसलिये हे सारथि! यह पता लगाओ कि यह रैक्व ऋषि कौन है? ॥६॥

('कृत' का अर्थ 'किया हुआ'—'सफल' भी किया जा सकता है। इस अर्थ में 'कृताय' का अर्थ हुआ—'सफल-मनोरथ'। जैसे विजिताय = विजय प्राप्त, कृताय = सफल मनोरथ व्यक्ति के लिए 'अधरेय' अर्थात् नीचे वाले व्यक्ति उसके साथ सहयोग देते हैं वैसे प्रजा की सब भलाई का फल रैक्व को मिलता है—यह भी उक्त पद का अर्थ हो सकता है।)

सारथि ने खोज की, और लौट कर राजा से बोला, कुछ पता

सारा वृत्तान्त) कहा, अङ्ग—हे प्रियवयस्य, अरे—अरे, ह—ही, सयुग्वानम् इव रैक्वम् आत्थ इति—सयुग्वा रैक्व के समान तू बताता है तो, यः नु—जो (यह है वह), कथम्—किस प्रकार का, सयुग्वा रैक्वः—गाड़ीवान रैक्व है?; इति—यह ॥५॥

यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनँ सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति। यस्तद्वेद यत्स वेद। स मयैतदुक्त इति ॥६॥

यथा—जैसे, कृताय—सफल, विजिताय—विजेता के लिए, अधरेया—नीचे के (सामान्य जन), संयन्ति—एकत्र हो जाते हैं, उससे मिल जाते हैं, एवम्—इस प्रकार, एनम्—इस (रैक्व) को, सर्वम् तद्—सब कुछ वह, अभिसमेति—पास आ जाता है, यत् किंच—जो कुछ, प्रजा—प्रजाएं, साधु—पुण्य कर्म; कुर्वन्ति—करती हैं, यः तद् वेद—जो (रैक्व) उसको जानता है, यत्—जिसको; सः—वह (जानश्रुति), वेद—जानता है, सः—वह (उसके विषय में), मया एतद् उक्त—मैंने यह बात कही है (यह हंसों का वार्तालाप दोहराया) ॥६॥

स ह क्षत्ताऽन्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय।

तँ होवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति ॥७॥

नहीं चला। राजा ने कहा, अरे! उस ऋषि का वहां अन्वेषण करो जहां ब्रह्म-ज्ञानियों को ढूंढा जाना चाहिये, महलों में नहीं, झोंपड़ों में उसकी खोज करो ॥७॥



बैलगाड़ी की छाया के नीचे बैठे रैक्व ऋषि

स ह क्षत्ता—वह सारथि; अन्विष्य—ढूंढ कर; न—नहीं; अविदम्—जाना, पाया; इति—ऐसे (सोच कर); प्रत्येयाय—(राजा के) पास लौट आया; तम् ह—(इस पर) उस (सारथि) को; उवाच—(जानश्रुति ने) कहा; यत्र—जिस स्थान पर; अरे—अरे; ब्राह्मणस्य—ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) की;

सारथि फिर निकला। एक गाडी की छाया के नीचे दाद को खुजलाते हुए एक व्यक्ति को देखकर वह उसके निकट बैठ गया। उससे पूछा—भगवन्! क्या आप ही गाडीवान रैक्व ऋषि हैं? उसने उत्तर दिया—अरे हां! मैं ही रैक्व हूं। सारथि ने लौट कर राजा से कहा—मैंने रैक्व का पता लगा लिया ॥८॥

चतुर्थ प्रपाठक—(दूसरा खंड)

तब जानश्रुति पौत्रायण छः सौ गौएं, एक रत्नमाला और खच्चरों का रथ लेकर चल पड़े और ऋषि के पास पहुंच कर बोले—॥१॥

हे रैक्व! ये छः सौ गौएं हैं, यह रत्नमाला है, यह खच्चरों का रथ है। हे भगवन्! जिस देवता की आप उपासना करते हैं उसका मुझे उपदेश दीजिए ॥२॥

अन्वेषणा—खोज (की जाती है), तद्—उस (स्थान में), एनम्—इस (रैक्व) का, अच्छ—खोज, ढूंढ, इति—यह (कहा) ॥७॥

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोपविवेश तं ह्यभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक्व इत्यहं ह्यरा३ इति ह प्रतिजज्ञे। स ह क्षत्ताऽविदमिति प्रत्येयाय ॥८॥

सः—उस (सारथि) ने, अधस्तात्—नीचे, शकटस्य—गाडी के, पामानम्—पाज (खुजली) का, कषमाणम्—खुजाते हुए (पामानम् कषमाणम्—शरीर खुजलाते हुए), उप+उपविवेश—पास बैठ गया, तम् ह—और उस (रैक्व) को, अभ्युवाद—बात को कहा, त्वम् नु—तुम ही, भगवः—हे भगवन्, सयुग्वा रैक्व—सयुग्वा (गाडीवान) रैक्व (हो), इति—यह (बात को), अहम् हि अरे—अरे मैं ही रैक्व हूं, इति ह—प्रतिजज्ञे—प्रतिज्ञा की, विश्वास दिलाया, स ह क्षत्ता—वह सारथि, अविदम्—(मैंने) जान लिया, पा लिया, इति—यह (सोच कर), प्रत्येयाय—लौट आया ॥८॥

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट् शतानि गवां
निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे। तं ह्यभ्युवाद ॥१॥

तद् उ ह—तो (उसके बाद), जानश्रुति पौत्रायण—पौत्रायण जानश्रुति, षट्—छः, शतानि—सौ, गवाम्—गौओं के, (षट् शतानि गवाम्—छः सौ गौएं), निष्कम्—सुवर्ण, अश्वतरीरथम्—खच्चरी जुते रथ को, तद्—उस (स्थान) को, प्रतिचक्रमे—चल पड़ा, तम् ह अभ्युवाद—(और) उस (रैक्व) को कहा ॥१॥

रैक्वेमानि षट् शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथो नु
म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्स इति ॥२॥

ऋषि बोले—अरे शूद्र ! यह हार और ये गौएं तू अपने पास रख। जानश्रुति पौत्रायण फिर एक सहस्र गौएं, रत्नमाला, खच्चरों का रथ और निज कन्या को लेकर ऋषि के पास पहुंचा ॥३॥

बोला, हे रैक्व ! ये एक सहस्र गौएं हैं, यह रत्नों की माला है, यह खच्चरों का रथ है, यह मेरी कन्या है जिसे मैं आपको देने को तैयार हूं, यह ग्राम जिसमें आप विराजते हैं—यह भी आपकी भेंट है। हे भगवन् ! मुझे आप उपदेश दीजिये ॥४॥

रैक्व—हे रैक्व !; इमानि—ये; षट् शतानि गवाम्—छः सौ गौएँ; अयम्—यह; निष्कः—सुवर्ण (सिक्का); अयम्—यह; अश्वतरीरथः—खच्चरी-जुता रथ है; नु—अवश्य; मे—मुझे; एताम्—इस; भगवः—हे भगवन् !; देवताम्—देवता को (का); शाधि—उपदेश करें; याम्—जिस; देवताम्—देवता को (की); उपास्से—तू उपासना करता है; इति—यह (निवेदन किया) ॥२॥

> तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारे त्वा शूद्र तवैव सह
> गोभिरस्त्विति । तदु ह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः
> सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे ॥३॥

तम् उ ह—उस (जानश्रुति) को; परः—दूसरे (रैक्व) ने; प्रत्युवाच—उत्तर दिया; अह ह अरे—अहो अरे; त्वा—तुझको (उपदेश करूँ); शूद्र—शूद्र; तव—तेरा; एव—ही; सह—साथ; गोभिः—गौओं से (के); अस्तु—(यह सामान) हो, रहे; इति—यह (उत्तर दिया); तद् उ ह—तो; पुनः एव—फिर भी; जानश्रुतिः पौत्रायणः—पौत्रायण जानश्रुति; सहस्रम् गवाम्—हजार गौओं को; निष्कम्—सुवर्ण को; अश्वतरीरथम्—खच्चरी-जुते रथ को; दुहितरम्—(अपनी) पुत्री को; तद्—उस (स्थान) को; आदाय—लेकर; प्रतिचक्रमे—चल पड़ा ॥३॥

> तँ हाभ्युवाद रैक्वेदँ सहस्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ
> इयं जायाऽयं ग्रामो यस्मिन्नास्सेऽन्वेव मा भगवः शाधीति ॥४॥

तम् ह अभ्युवाद—और उस (रैक्व) को कहा; रैक्व—हे रैक्व !; इदम् सहस्रम् गवाम्—यह हजार गौएँ; अयम् निष्कः—यह सुवर्ण; अयम् अश्वतरीरथः—यह खच्चरीजुता रथ; इयम्—यह (मेरी पुत्री); जाया—(अब तेरी) पत्नी; अयम् ग्रामः—यह ग्राम; यस्मिन्—जिसमें; आस्से—तू बैठा है; अनु एव—इसके पश्चात् (यह स्वीकार कर); मा—मुझे; भगवः—हे भगवन् !; शाधि—उपदेश कीजिये; इति—यह (कहा) ॥४॥

ऋषि ने कन्या के मुख को ऊंचे उठाकर कहा—ऐ शूद्र! तुम ये गौएं तो लाये हो, परन्तु मैं कुछ न बोलता, इस कन्या के मुख की लाज रखने के लिए बोलने को बाधित होना पड़ेगा। जहां रैक्व ऋषि ने निवास किया उस स्थान का नाम रैक्व-पर्ण प्रसिद्ध रहा—यह स्थान महावृष नामक उपवनों में से एक था। राजा को ऋषि ने निम्न उपदेश दिया—॥५॥

(ऋषि ने राजा को शूद्र इसलिए कहा क्योंकि वह भोला समझता था कि ऐसे प्रलोभनों से ऋषि के मन को वश में किया जा सकेगा। इन वस्तुओं में से तो रैक्व ने कुछ भी नहीं लिया, परन्तु राजा का उत्साह देखकर उसे उपदेश दे दिया।)

चतुर्थ प्रपाठक—(तीसरा खंड)

हे राजन्! 'अधिदैवत', अर्थात् 'ब्रह्माण्ड (Macroscopic point of view) की दृष्टि से वायु ही 'संवर्ग' है, सब को अपने भीतर समा लेने वाली है। जब आग बुझती है तो वायु में ही लौट जाती है,

---

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाच। आजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति। ते हैते रैक्वपर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास तस्मै होवाच॥५॥

तस्या ह—उस (पुत्री) के, मुखम्—मुख को, उप+उद्गृह्णन्—अपने समीप कर ऊपर उठाते हुए, उवाच—बोला, आ जहार—ले आया, इमा—इन (गौ आदि) को, शूद्र!—अरे शूद्र!, अनेन—(पुत्री के) इस, एव—ही, मुखेन—मुख से (प्रेरित कर), आलापयिष्यथा—मुझसे उपदेश करायेगा, उपदेश करने को बाधित कर रहा है, इति—यह (कहा), ते ह एते—ये ही ये (राजा ने दान में दिये), रैक्वपर्णा—रैक्वपर्ण, नाम—नामवाले (ग्राम हैं), महावृषेषु—महावृष-नामक देश या वन में, यत्र—जहां (राजा ने), अस्मै—इस (रैक्व से उपदेश लेने) के लिए, उवास—निवास किया था, तस्मै ह—उस (राजा) को, उवाच—(रैक्व ने) कहा (उपदेश दिया)॥५॥

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति
यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति॥१॥

वायु—वायु, वाव—ही, संवर्ग—सब को अपने में लय करनेवाला, समाहर्ता है, यदा वै—जब ही, अग्नि—अग्नि, उद्वायति—बुझ जाती है, वायुम् एव—वायु में ही, अपि+एति—लीन हो जाती है, यदा—जब, सूर्य—

जब सूर्य अस्त होता है तो वायु में ही लौट जाता है, जब चन्द्र अस्त होता है तो वह भी वायु में ही लौट जाता है ॥१॥

जब पानी सूखते हैं तो वायु में ही लौट जाते हैं, वायु ही इन सब का संवरण करता है, इन सब को ढांप लेता है। यह अधिदैवत, अर्थात् ब्रह्मांड की दृष्टि से वर्णन हुआ ॥२॥

अब 'अध्यात्म', अर्थात् 'पिंड' (Microscopic point of view) की दृष्टि से सुनो। पिंड, अर्थात् शरीर की दृष्टि से प्राण ही 'संवर्ग' है, सब इन्द्रियों को अपने भीतर समा लेने वाला है। जब मनुष्य सोता है तो वाणी प्राण को ही लौट जाती है, प्राण को ही चक्षु, प्राण को ही श्रोत्र, प्राण को ही मन लौट जाता है, प्राण ही इन सब का संवरण करता है, इन सब को ढांपता है ॥३॥

इसलिये 'संवर्ग' अर्थात् लय-स्थान दो ही हैं—ब्रह्मांड के देवों में 'वायु' तथा पिंड की इन्द्रियों में 'प्राण' ॥४॥

सूर्यः अस्तम् एति—छिपता है; वायुम् एव अप्येति—वायु में ही लीन हो जाता है; यदा चन्द्रः अस्तम् एति—जब चन्द्रमा छिपता है (तो); वायुम् एव अप्येति—वायु में ही लीन होता है ॥१॥

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति वायुर्ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इत्यधिदैवतम् ॥२॥

यदा—जब; **आपः**—जल; **उत्+शुष्यन्ति**—सूखते हैं; **वायुम् एव अपि यन्ति**—वायु में ही लीन हो जाते हैं; **वायुः हि एव**—वायु ही; **एतान्**—इन; **सर्वान्**—सब को; **संवृङ्क्ते**—(अपने में) लीन कर लेता है; **इति**—यह; **अधिदैवतम्**—देवता (ब्रह्माण्ड) सम्बन्धी (वर्णन है) ॥२॥

अथाध्यात्मम्। प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इति ॥३॥

अथ—अब; **अध्यात्मम्**—आत्मा (शरीर-पिण्ड) सम्बन्धी (वर्णन करते हैं); **प्राणः**—प्राण (श्वास-प्रश्वास); **वा व**—ही; **संवर्गः**—अपने में लीन करनेवाला (समाहर्ता) है; **सः**—वह (देही); **यदा**—जब; **स्वपिति**—सोता है (तब); **प्राणम् एव**—प्राण को (में) ही; **वाग्**—वाणी; **अप्येति**—लीन हो जाती है; **प्राणम् चक्षुः**—प्राण में ही आंख; **प्राणम् श्रोत्रम्**—प्राण में ही कान; **प्राणम् मनः**—प्राण में ही मन (लीन हो जाता है); **प्राणः हि एव**—क्योंकि प्राण ही; **एतान् सर्वान्**—इन सब (इन्द्रियों) को; **संवृङ्क्ते**—(अपने में) लीन कर लेता है; **इति**—यह (अध्यात्म वर्णन हुआ) ॥३॥

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ॥४॥

राजन् ! एक बार की बात है कि शौनक कापेय तथा अभिप्रतारि काक्षसेनि को जब भोजन परोसा जा रहा था, तब उनसे एक ब्रह्मचारी ने आकर भिक्षा मांगी। उसे उन्होंने भिक्षा न दी ॥५॥

ब्रह्मचारी ने कहा—अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल—ये चार, एवं वाणी, चक्षु, श्रोत्र तथा मन—ये चार, मानो महात्मा हैं, इन चारों के मुकाबिले में एक देव है—अधिदैवत (ब्रह्मांड की) दृष्टि से 'वायु' तथा अध्यात्म (पिंड की) दृष्टि से 'प्राण'। वह कैसा है ? वह ऐसा है जो इकला होता हुआ इन चारों को खा जाता है, परन्तु फिर भी हे कापेय ! हे अभिप्रतारिन् ! वह भुवनों की रक्षा करता है, अनेक रूपों में वह बस रहा है, फिर भी उसे लोग देखते नहीं। यह अन्न उसी प्राण के लिये तो है, मैं उस प्राण के लिये ही तो भिक्षा मांगता था, परन्तु जिसके लिये अन्न है उसी को तुमने नहीं दिया, तुमने मुझे नहीं, प्राण-ब्रह्म को अन्न देने से इन्कार कर दिया ॥६॥

तौ वै—वे दोनों ही, एतौ द्वौ—ये दो, संवर्गौ—समाहर्ता (प्रलयकर्ता) हैं, वायुः एव—वायु ही, देवेषु—(ब्रह्माण्ड के) देवों में, प्राणः—प्राण (श्वास-प्रश्वास), प्राणेषु—(पिण्ड की) इन्द्रियों में ॥४॥

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं
परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उ ह न ददतु ॥५॥

अथ ह—एक बार ऐसा हुआ कि, शौनकम्—शुनक के पुत्र शौनक को, च—और, कापेयम्—कपि गोत्रवाले, अभिप्रतारिणम्—अभिप्रतारिन्-नामक, च—और, काक्षसेनिम्—कक्षसेन के पुत्र, परिविष्यमाणौ—जिन्हें (रसोइयों द्वारा) भोजन परोसा जा रहा था, उन दोनों को (से), ब्रह्मचारी—(किसी-ब्रह्मज्ञानाभिलाषी) ब्रह्मचारी ने, बिभिक्षे—अन्न-भिक्षा मांगी, तस्मै उ ह—उस ब्रह्मचारी को, न—नहीं, ददतु—(भिक्षा) दी ॥५॥

स होवाच। महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य
गोपास्तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन्बहुधा
वसन्तं यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति ॥६॥

स ह—वह (ब्रह्मचारी), उवाच—बोला, महात्मनः—महान् आत्मा (गतिशीलता, व्यापकत्व) वाले, चतुरः—चारों (अग्नि-सूर्य-चन्द्र-जल तथा वाणी-चक्षु-श्रोत्र-मन) को, देव—देव, एक—एक, कः—कौन-सा है या 'क'-(सुख रूप) देवता-प्रजापति देवता, सः—वह, जगार—निगल जाता है, लीन

शौनक कापेय ने ब्रह्मचारी के कथन पर मनन किया और उसे कहा--निस्संदेह ब्रह्मांड में 'वायु' उन चारों देवों का तथा पिंड में 'प्राण' चारों इन्द्रियों का आत्मा है, ये चारों 'वायु' तथा 'प्राण' की क्रमशः प्रजाएं हैं। 'वायु' तथा 'प्राण' इन चारों को खा भी जाते हैं, और जाग्रत् में इन्हें प्रकट भी कर देते हैं। 'वायु' तथा 'प्राण' सोने के दांत वाले हैं, खा जाते हैं--सब-कुछ अपने भीतर समा लेते हैं, मानो जीवित हों। इनकी महिमा महान् है क्योंकि स्वयं न खाये जाते हुए ही जो खाया नहीं जा सकता उसे भी खा जाते हैं। हे ब्रह्मचारिन्! हम भी ब्रह्मांड में 'वायु-ब्रह्म' तथा पिंड में 'प्राण-ब्रह्म' की उपासना करते हैं। यह कहकर उसने परोसने वाले को कहा कि ब्रह्मचारी को भिक्षा दे दो ॥७॥

कर लेता है; **भुवनस्य**--सम्पूर्ण उत्पन्न 'भू' आदि लोकों का; **गोपाः**--रक्षा, पालन करने वाला; **तम्**--उस (रक्षक और भक्षक--विधर्ता और संहर्ता 'क'-प्रजापतिरूप ईश्वर) को; **कापेय**--हे कापेय!; **न**--नहीं; **अभिपश्यन्ति**--सर्वत्र विद्यमान देखते हैं; **मर्त्याः**--मरण-धर्मा मनुष्य; **अभिप्रतारिन्**--हे अभिप्रतारिन्; **बहुधा**--बहुत प्रकार से (नाना रूपों में--सब में); **वसन्तम्**--निवास करनेवाले, विद्यमान; **यस्मै**--जिस के लिए; **वै**--ही; **एतद्**--यह; **अन्नम्**--अन्न है; **तस्मै**--उसको; **एतद् अन्नम्**--यह अन्न; **न दत्तम्**--नहीं दिया; **इति**--यह (कहा) ॥६॥

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायाऽऽत्मा देवानां जनिता प्रजानां हिरण्यदंष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्तीति वै वयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे दत्तास्मै भिक्षामिति ॥७॥

तद्--उस (कथन) को; **उ ह**--ही; **शौनकः कापेयः**--कापेय शौनक; **प्रतिमन्वानः**--मनन कर स्वीकार करता हुआ; **प्रत्येयाय**--(उस ब्रह्मचारी की) ओर आया (और कहा); **आत्मा**--व्यापक, आधार; **देवानाम्**--(ऊपर कहे पिण्ड और ब्रह्माण्ड के) देवताओं का; **जनिता**--उत्पन्न करनेवाला; **प्रजानाम्**--प्रजाओं का (सब चर-जगत् का); **हिरण्यदंष्ट्रः**--सोने की (अमृत) दाढ़ों वाला (प्रलय करने में सर्वदा समर्थ); **बभसः**--(सब का) भक्षण करने वाला; **अन+सूरिः**--सर्व-प्राणदाता एवं सर्व-प्रेरक; **महान्तम्**--बड़ी; **अस्य**--इस 'क'-प्रजापति की; **महिमानम्**--महत्ता को; **आहुः**--कहते हैं, वर्णन करते हैं; **अनद्यमानः**--स्वयं न खाये जाने वाला, अविनाशी; **यत्**--जो; **अनन्नम्**--अभोज्य (कार्य प्रकृति) को; **अत्ति**--खा जाता है, अपने में लीन कर लेता है; **इति**

उन्होंने ब्रह्मचारी को भिक्षा दे दी। 'वायु' तथा 'प्राण' के सम्बन्ध में यह कथानक सुनाने के बाद रैक्व ने फिर कहा—राजन्! 'ब्रह्मांड' के ४ देवता (अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल) तथा 'वायु' मिलकर पांच होते हैं, इसी प्रकार 'पिंड' की इन्द्रियां (वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन) तथा 'प्राण' मिलकर पांच होते हैं। ये सब दस हैं, और ये दसों मानो 'कृत' हैं, संसार का जुआ खेलने के पासे हैं, इन्हीं में यह विश्व का प्रपंच खेल रहा है। जैसे 'वायु' अग्नि-सूर्य-चन्द्र-जल इन चारों का भक्षण कर जाती है, इन्हें अपना 'अन्न' बना लेती है, जैसे 'प्राण' वाणी-चक्षु-श्रोत्र-मन इन चारों को समेट लेता है, इन्हें अपना 'अन्न' बना लेता है, वैसे विश्व की यह 'विराट्'-शक्ति सबको 'अन्न' बनाकर उसका भक्षण कर रही है, सबकी 'अन्नाद' है, सबको जुए में लगाए बैठी है, सबकी 'भोक्ता' है, और 'द्रष्टा' रूप में वर्तमान है। जो यह जानता है, जो यह जानता है, वह 'द्रष्टा' रूप होकर विचरता है, संसार में 'भोक्ता' होकर रहता है ॥८॥

वै—ऐसे (स्वरूपवाले के) ही, वयम्—हम (ज्ञानी), ब्रह्मचारिन्—हे ब्रह्मचारिन्, आ—सब ओर, पूर्णतया, इदम्—इस (ब्रह्म) को, उपास्महे—उपासना करते हैं, दत्त—(हे सूपकारो!) दो, अस्मै—इस (ब्रह्मचारी) को, भिक्षाम्—अन्न-भिक्षा, इति—यह (कापेय ने कहा) ॥७॥

तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पंचान्ये पचान्ये दश संतस्तत्कृतं
तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दश कृतं सैषा विराडन्नादी तयेदं सर्वं
दृष्टं सर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥८॥

तस्मै—उस ब्रह्मचारी को, उ ह—निश्चय से, ददु—दे दी, ते—वे, वै—ही, एते—ये, पंच—पांच (अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल तथा वायु), अन्ये—दूसरे, पंच—पांच (वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन तथा प्राण), अन्ये—दूसरे, दश—दस, सन्त—होते हैं, तत्—तो (ये दस), कृतम्—पासे हैं या सफल मनोरथ हैं, तस्मात्—इस कारण, सर्वासु—सब, दिक्षु—दिशाओं में, अन्नम् एव—अन्न ही, दशकृतम्—दस तरह के पासे, या दसों प्रकार के मनोरथ, सा—वह, एषा—यह, विराट्—विश्व की विराट्-शक्ति, अन्नादी—सब को अन्न बना कर उसका भक्षण कर रही है, तया—उस विराट्-शक्ति द्वारा, इदम्—यह, सर्वम्—सब; दृष्टम्—देखा जाता है, सर्वम्—सब; अस्य—इसका, इदम्—यह, दृष्टम्—देखा गया, भवति—होता है, अन्नाद—अन्न का भोक्ता,

('संवर्ग'-विद्या का अभिप्राय यह है कि 'वायु' तथा 'प्राण' की तरह 'भोक्ता' बनकर रहे, 'भोग्य' बनकर नहीं; संसार को अपने अन्दर समेटे, दूसरों में सिमिटता न फिरे, जूए के 'कृत' पासे की तरह ऐसा पासा फेंके कि अन्य सब पासे इसी में आ जांय,-सबको हरा दे, सबको 'अन्न' बना दे, 'भोग्य' बना दे। स्वयं संसार का भोक्ता, संसार का राजा बनकर रहे—यह गाड़ीवान रैक्व ऋषि की 'संवर्ग'-विद्या है।

'कृत' का अर्थ हमने जो कृतकृत्य हो गया है, सफल मनोरथ हो गया है—यह भी किया है। इस अर्थ में उक्त सन्दर्भ का यह अर्थ है कि जैसे सफल-मनोरथ व्यक्ति के साथ दूसरे सब व्यक्ति आ मिलते हैं वैसे वायु में ब्रह्मांड के शेष चारों देव तथा प्राण में पिंड की सब इन्द्रियां आ सिमिटती हैं। इनका इस प्रकार वायु तथा प्राण में आ सिमिटना ही रैक्व ऋषि की संवर्ग-विद्या है।)

चतुर्थ प्रपाठक—(चौथा खंड)

(ब्रह्मज्ञानी सत्यकाम की कथा, ४ से ९ खंड)

कहते हैं कि एक बार जबाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माता से पूछा, हे भवति! मेरी इच्छा ब्रह्मचर्य धारण करने की है, मुझे यह तो बताओ, मेरा क्या गोत्र है? ॥१॥

भवति—होता है; **यः**—जो; **एवम्**—इस प्रकार; **वेद**—जानता है; **यः**—जो; **एवम्**—इस प्रकार; **वेद**—जानता है ॥८॥

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे
ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किंगोत्रो न्वहमस्मीति ॥१॥

सत्यकामः—सत्यकाम-नामक; **ह**—पहले किसी समय में; **जाबालः**—जबाला का पुत्र; **जबालाम्**—जबाला-नामक; **मातरम्**—(अपनी) माता को (से); **आमन्त्रयांचक्रे**—आग्रहपूर्वक बोला; **ब्रह्मचर्यम्**—ब्रह्मचर्य (आश्रम); **भवति**—हे पूजनीय माता!; **विवत्स्यामि**—धारण करूँगा; **किं-गोत्रः**—किस गोत्रवाला; **नु**—तो; **अहम्**—मैं; **अस्मि**—हूँ; **इति**—(मेरा गोत्र क्या है?) यह (पूछा) ॥१॥

माता ने पुत्र से कहा, बेटा ! मैं नहीं जानती तू किस गोत्र का है। मैं युवावस्था में अनेक व्यक्तियों की सेवा किया करती थी, उसी समय मैंने तुझे पाया, इसलिये मुझे नहीं मालूम तेरा क्या गोत्र है। बस, जबाला मेरा नाम है, सत्यकाम तेरा नाम है। सो गुरु के पूछने पर कह देना कि तू जाबाल सत्यकाम है ॥२॥

सत्यकाम गौतम-गोत्री हारिद्रुमत मुनि के पास जाकर बोला, हे भगवन् ! मैं आपके पास ब्रह्मचर्य-वास करूंगा, इस कारण मैं आपके चरणों में उपस्थित हुआ हूं ॥३॥

सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि । बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे । साऽहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि । जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि । स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति ॥२॥

सा ह—वह, एनम्—इस (सत्यकाम) को; उवाच—बोली, न अहम् एतद् वेद—नहीं मैं यह जानती हूं; तात—हे प्रिय पुत्र ! ; यद्-गोत्र:—जिस गोत्रवाला, त्वम् असि—तू है; बहु—अत्यधिक, अहम्—मैं, चरन्ती—गृह-धर्म करती हुई, कार्यों मे व्यस्त, परिचारिणी—(पति की) सेवा में रत (मैंने), यौवने—जवानी में; त्वाम्—तुझ को, अलभे—प्राप्त किया था, सा अहम्—वह (पहले कार्य-सेवा में व्यस्त और अब पति-विहीन) मैं, एतद् न वेद—यह नहीं जानती हूं, यद्-गोत्र:—जिस-गोत्रवाला, त्वम् असि—तू है, जबाला तु नाम—जबाला नामवाली तो, अहम् अस्मि—मैं हूं, सत्यकाम: नाम त्वम् असि—सत्यकाम नामवाला तू है, सः—वह तू, सत्यकामः एव जाबाल—जबाला का पुत्र सत्यकाम (मैं हूं यह) ही, ब्रुवीथाः—कह देना, इति—यह (माता ने कहा) ॥२॥

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं
भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति ॥३॥

सः ह—और वह, हारिद्रुमतम्—हरिद्रुमन् के पुत्र, गौतमम्—गौतम गोत्री (के पास); एत्य—जाकर, उवाच—बोला, ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य-व्रत, भगवति—माननीय आप (की सेवा) में, वत्स्यामि—धारण करूंगा; उपेयाम्—उपस्थित हुआ हूं, भगवन्तम्—माननीय (आपके पास); इति—यह (कहा) ॥३॥

मुनि ने पूछा, सोम्य ! तेरा गोत्र क्या है ? उसने उत्तर दिया, हे भगवन् ! मैं नहीं जानता, मेरा क्या गोत्र है। मैंने मातृ-श्री से पूछा था, उन्होंने मुझे उत्तर दिया कि युवावस्था में वे अनेक व्यक्तियों की सेवा किया करती थीं, उसी समय मेरा जन्म हुआ, इसलिये उन्हें नहीं मालूम कि मेरा क्या गोत्र है। माता ने कहा कि जबाला उनका नाम है, सत्यकाम मेरा नाम है। सो भगवन् ! मैं जाबाल सत्यकाम हूं ॥४॥

मुनि कहने लगे, जो ब्राह्मण न हो वह तो ऐसी बात कह नहीं सकता। हे सोम्य ! समिधा ले आ, मैं तुझे उपनयन की दीक्षा दूंगा।

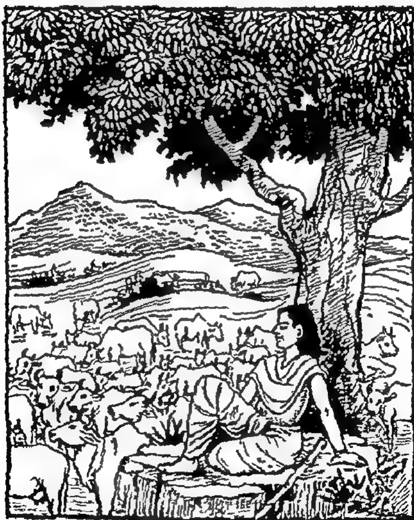
तँ होवाच किंगोत्रो नु सोम्यासीति। स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद्-गोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरँ सा मा प्रत्यब्रवीद् बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साऽहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति। सोऽहँ सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति ॥४॥

तम् ह उवाच—उसको (गौतम ने) कहा; किंगोत्रः—किस गोत्र वाला; नु—तो; सोम्य—हे सुशील ! असि—तू है; इति—ऐसे; सः ह उवाच—उस (सत्यकाम) ने कहा; न अहम् एतद् वेद—नहीं मैं यह जानता हूं; भोः—हे (आदरणीय) ! यद्-गोत्रः अहम् अस्मि—जिस गोत्रवाला मैं हूँ; अपृच्छम्—(मैंने) पूछा था; मातरम्—(अपनी) माता को (से); सा—उसने; मा—मुझको; प्रति+अब्रवीत्—उत्तर में बताया (कहा); बहु अहं चरन्ती—मैंने बहुत अधिक गृह-कर्म करते हुए; परिचारिणी—पति-सेवा में तत्पर; यौवने त्वाम् अलभे—जवानी में तुझे पाया था; सा अहम् एतद् न वेद यद्-गोत्रः त्वम् असि—वह मैं यह नहीं जानती हूं कि जिस-गोत्र वाला तू है; जबाला तु नाम अहम् अस्मि—जबाला नामवाली तो मैं हूँ; सत्यकामः नाम त्वम् असि—सत्यकाम नामवाला तू है; इति—यह (माता ने कहा था); सः अहम्—वह मैं; सत्यकामः जाबालः अस्मि—सत्यकाम जबाला का पुत्र हूं; भोः—हे भगवन्; इति—यह (सत्यकाम ने कहा) ॥४॥

तँ होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधँ सोम्याऽऽहरोप त्वा नेष्ये। न सत्यादगा इति। तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति। ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणावर्तयेति। स ह वर्षगणं प्रोवास। ता यदा सहस्रँ संपेदुः ॥५॥

तम् ह—उस (सत्यकाम) को; उवाच—(गुरु गौतम ने) कहा; न—नहीं; एतद्—यह (बात); अब्राह्मणः—ब्राह्मण से भिन्न; विवक्तुम्—स्पष्ट-

तू सत्य से नहीं डिगा। उसका उपनयन करके मुनि ने कृश तथा निर्बल ४०० गौएं छांटकर उसे कहा, हे सोम्य ! इनके पीछे जाओ, इनकी सेवा करो। गौओं को हांकते समय सत्यकाम ने गुरु से कहा, जब तक ये बछड़े-बछड़ी बढ़कर १,००० नहीं हो जाएंगे, मैं नहीं लौटूंगा। वह वर्षों तक प्रवास में रहा। वे जब सहस्र हो गये ॥५॥



सत्यकाम ४०० गौओं को लेकर उन्हें चराता रहा

तथा कहने के लिए, अर्हति—योग्य (समर्थ) होता है; (विवक्तुम् अर्हति—स्पष्टतया कह सकता है—अतः तू ब्राह्मण ही है); समिधम्—समिधा को, सोम्य !—हे सुशील वत्स; आहर—ले आ, उप त्वा नेष्ये (त्वा उपनेष्ये)—तेरा

चतुर्थ प्रपाठक—(पांचवां खंड)

तब उन गाय-बैलों में से एक बैल ने सत्यकाम को पुकारा—सत्यकाम ! सत्यकाम ने यह सुनकर उत्तर दिया, भगवन् ! क्या आज्ञा है ? बैल ने कहा, हे सोम्य ! हम हजार हो गये हैं, हमें आचार्य-कुल में पहुंचा दो ॥१॥

तुमने इतने साल हमारी सेवा की है इसलिये तुझे 'ब्रह्म' के एक पाद का रहस्य समझा दूं । सत्यकाम ने कहा, भगवन् ! समझाइये ।

उपनयन करूंगा (अपना ब्रह्मचारी शिष्य बनाऊंगा); न—नहीं; सत्यात्—सत्य (कथन) से; अगाः—गया, डिगा; इति—यह (कहकर); तम्—उसको (का); उपनीय—उपनयन (यज्ञोपवीत-संस्कार) करके; कृशानाम्—अति कृश; अबलानाम्—निर्बल (गौओं में से); चतुःशताः—चार सौ; गाः—गौओं को; निराकृत्य—(गो-व्रज से) छांट कर; उवाच—बोला; इमाः—इनको; सोम्य—हे सुशील ! अनुसंव्रज—पीछे-पीछे चलकर घेर (रखवाली कर); इति—यह (कहा); ताः—उनको; अभिप्रस्थापयन्—वन की ओर भेजते हुए; उवाच—बोला; न—नहीं; असहस्रेण—बिना (इनके) हजार हुए; आवर्त्तय—लौटा कर लाना (जब ये हजार हो जाँय तब ही यहाँ लाना); इति—यह (आदेश गुरु ने दिया); (पाठान्तर आवर्त्तेय—लौटा कर लाऊंगा; इति—यह सत्यकाम ने कहा); सः ह—वह (सत्यकाम); वर्षगणम्—कई वर्ष तक; प्रोवास—परदेश में रहा; ताः—वे (गौएं); यदा—जब; सहस्रम्—एक हजार; संपेदुः—हो गई ॥५॥

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद, सत्यकाम ३ इति, भगव इति ह प्रतिशुश्राव ।
प्राप्ताः सोम्य सहस्रं स्मः प्रापय न आचार्यकुलम् ॥१॥

अथ ह—तो, इसके बाद; एनम्—इस (सत्यकाम) को; ऋषभः—गो-पति वृषभ (बैल) ने; अभ्युवाद—पुकारा, कहने लगा; सत्यकाम—हे सत्यकाम; इति—इस (प्रकार); भगवः—हे भगवन् (भाग्यशालिन्) !; इति ह—इस प्रकार; प्रतिशुश्राव—(सत्यकाम ने) उत्तर में कहा; (ऋषभ ने कहा) प्राप्ताः—हो गये; सोम्य—हे सुशील !; सहस्रम्—हजार; स्मः—हैं; (सहस्रम् प्राप्ताः स्मः—हम हजार हो गये हैं); प्रापय—पहुँचा; नः—हमको; आचार्य-कुलम्—आचार्य (गौतम) के घर ॥१॥

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति । ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाच । प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥२॥

तब उसे बैल ने कहा, हे सोम्य! ब्रह्म के चार पाद हैं, चार चरण हैं, जिनमें से एक का नाम 'प्रकाशवान्' है। इस 'प्रकाशवान्'-चरण की चार कलाएं हैं—प्राची-दिक्-कला, प्रतीची-दिक्-कला, दक्षिण-दिक्-कला, उदीची-दिक्-कला ॥२॥

जो व्यक्ति 'ब्रह्म' के चार कलाओं वाले 'प्रकाशवान्-चरण' के रहस्य को जानता हुआ उसकी उपासना करता है वह इस लोक में स्वयं 'प्रकाशवान्' हो जाता है, और जो इस प्रकार ब्रह्म के 'चतुष्कल-प्रकाशवान्-चरण' के रहस्य को जानता हुआ उसकी उपासना करता है वह दूसरे 'प्रकाशवान्' लोकों को भी जीत लेता है ॥३॥

(इस प्रकरण का यह अभिप्राय है कि क्योंकि सत्यकाम गौओं के साथ बैल को लेकर चारों दिशाओं में फिरता रहा इसलिए इस

ब्रह्मणः च—और ब्रह्म का, ते—तुझे, पादम्—पाद (चरण), ब्रवाणि—उपदेश करूं, इति—ऐसे, ब्रवीतु—उपदेश करें, मे—मुझे, भगवान्—आदरणीय आप; इति—यह (सत्यकाम ने प्रार्थना की), तस्मै ह—उस (सत्यकाम) को; उवाच—(ऋषभ ने) कहा, प्राची दिक्—पूर्व दिशा, कला—(एक) अंश (है), प्रतीची दिक्—पश्चिम दिशा; कला—(दूसरा) अंश है, दक्षिणा दिक्—दक्षिण दिशा, कला—(तीसरा) अंश है, उदीची दिक्—उत्तर दिशा, कला—(चौथा) अंश है, एषः वै—यह ही, सोम्य—हे प्रिय!; चतुष्कलः—चार कला (अंश) वाला, पादः—पाद, ब्रह्मणः—ब्रह्म का, प्रकाशवान् नाम—(जिसमें प्रकाश की आधार दिशाएं हैं और स्वयं ज्योति स्वरूप है) प्रकाशवान्' नामवाला (प्रथम पाद है) ॥२॥

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते
प्रकाशवानस्मिंल्लोके भवति प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति
य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥३॥

सः यः—वह जो, एतम्—इसको, एवं विद्वान्—इस प्रकार जानता हुआ, चतुष्कलम्—चार अंशोंवाले, पादम्—पाद को, ब्रह्मणः—ब्रह्म के, प्रकाशवान् इति—'प्रकाशवान्' इस नाम-रूप से, उपास्ते—उपासना करता है, विचार करता है, प्रकाशवान्—प्रकाशित, प्रसिद्ध, अस्मिन् लोके—इस लोक (जन्म) में, भवति—हो जाता है, प्रकाशवतः—प्रकाशयुक्त, ज्योतिष्मान्, ह—अवश्य; लोकान्—लोकों को, जयति—जीत लेता है, अधिकारी होता है, यः एतम् . उपास्ते—जो इस .. उपासना करता है (द्विरुक्ति आदरार्थ, खण्ड-समाप्ति द्योतनार्थ) है ॥३॥

साधना से उसे मानो बैल के द्वारा यह ज्ञान हो गया कि इन चारों दिशाओं में जिनमें मैं फिरता रहा, ब्रह्म का ही प्रकाश फैल रहा है।)

चतुर्थ प्रपाठक--(छठा खंड)

बैल ने फिर कहा--तुझे ब्रह्म के दूसरे चरण का ज्ञान अग्नि देगा। सत्यकाम ने अगले दिन आचार्य-कुल चलने के लिये प्रस्थान कर दिया, और गौओं को हांक दिया। उन्हें चलते हुए जहां सन्ध्या हुई वहां आग जलाकर, गौओं को रोककर, समिधा का आधान करके, अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख बैठ गया ॥१॥

उस समय उसके सामने अग्नि-देवता प्रकट हुआ और पुकारा--सत्यकाम! सत्यकाम ने यह सुनकर उत्तर दिया, भगवन्! क्या आज्ञा है? ॥२॥

अग्निष्टे पादं वक्तेति। स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयां-चकार। ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय, गा उपरुध्य, समिधमाधाय, पश्चादग्नेः प्राङ्पोपविवेश ॥१॥

अग्निः--अग्नि; ते--तुझे; पादम्--(दूसरा) पाद; वक्ता--उपदेश करेगा; इति--यह (ऋषभ ने स्वयं उपदेश कर सूचनार्थ कहा); सः ह--उस (सत्यकाम) ने; श्वः भूते--(आनेवाला) कल होने पर (अगले दिन); गाः--गौओं को; अभिप्रस्थापयांचकार--घर की ओर हांका; ताः--वे (गौएँ); यत्र--जहां, जिस स्थान पर; अभिसायम्--सायंकाल की ओर; बभूवुः--हुईं (उन्हें जब सायंकाल हो गया); तत्र--उस स्थान में; अग्निम्--अग्नि को; उप समाधाय--स्थापित कर (प्रदीप्त कर); गाः--गौओं को; उपरुध्य--रोक कर, घेर कर; समिधम्--समिधा को; आधाय--(अग्नि में) रख कर; पश्चात्--पश्चिम की ओर; अग्नेः--अग्नि के; प्राङ--पूर्वाभिमुख; उप+उपविवेश--पास में बैठ गया ॥१॥

तमग्निरभ्युवाद, सत्यकाम ३ इति, भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥

तम्--उसको; अग्निः--अग्नि ने; अभ्युवाद--आवाज़ दी; सत्यकाम ३!--हे सत्यकाम; इति--ऐसे; भगवः--हे भगवन्; इति ह--ऐसे; प्रतिशुश्राव--(सत्यकाम ने) प्रत्युत्तर दिया ॥२॥

अग्नि-देव ने कहा, हे सोम्य ! 'ब्रह्म' के दूसरे पाद का रहस्य मैं तुझे समझा दूं । सत्यकाम ने कहा, भगवन् ! समझाइये । अग्नि-देव बोले, हे सोम्य ! ब्रह्म के चार पाद हैं जिनमें से एक का नाम 'अनन्तवान्' है । इस 'अनन्तवान्'-चरण की चार कलाएं हैं—पृथिवी-कला, अन्तरिक्ष-कला, द्यौः-कला, समुद्र-कला ॥३॥

जो व्यक्ति 'ब्रह्म' के चार कलाओं वाले 'अनन्तवान्-चरण' के रहस्य को जानता हुआ उसकी उपासना करता है वह इस लोक में 'अनन्तवान्' हो जाता है, और जो इस प्रकार ब्रह्म के 'चतुष्कल-अनन्तवान्-चरण' के रहस्य को जानता हुआ उसकी उपासना करता है वह दूसरे 'अनन्तवान्' लोकों को भी जीत लेता है ॥४॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति । ब्रवीतु मे भगवानिति ।
तस्मै होवाच । पृथिवी कलाऽन्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः
कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥३॥

ब्रह्मणः—ब्रह्म का; सोम्य—हे सुशील; ते—तुझे; पादम्—(दूसरा) चरण; ब्रवाणि—उपदेश दूं; इति—यह; ब्रवीतु—कहें, उपदेश करें, मे—मुझे; भगवान्—आदरणीय आप; इति—यह (सत्यकाम ने कहा), तस्मै ह—उस (सत्यकाम) को, उवाच—(अग्निदेव ने) उपदेश दिया, पृथिवी—पृथ्वी; कला—(एक) अंश है; अन्तरिक्षम् कला—अन्तरिक्ष (दूसरा) अंश है; द्यौः कला—द्युलोक (तीसरा) अंश है, समुद्रः कला—समुद्र (चौथा) अंश है, एषः वै—यह ही; सोम्य—हे सुशील शिष्य, चतुष्कलः—चार कलाओं (अंशों) वाला, पादः—(दूसरा) पाद; ब्रह्मणः—ब्रह्म का, अनन्तवान्—(जिसमें मे अनन्त लोक हैं और जिसका अन्त नहीं) अनन्तवान्, नाम—नामवाला है ॥३॥

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्यु-
पास्तेऽनन्तवानस्मिंल्लोके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जयति
य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते ॥४॥

सः यः एतम् एवम् विद्वान् चतुष्कलम् पादम् ब्रह्मणः अनन्तवान् इति उपास्ते—वह जो (उपासक) ब्रह्म के इस चार अंशों वाले पाद को इस प्रकार जानता हुआ ब्रह्म की 'अनन्तवान्' इस रूप में उपासना करता है; अनन्तवान् अस्मिन् लोके भवति—अनन्तवाला (निःसीम) इस लोक (जन्म) में होता है, अनन्तवतः ह लोकान् जयति—और (पर-जन्म में) अनन्तवान् लोकों का अधिकारी हो जाता है; यः एतम्...उपास्ते—जो इस ...उपासना करता है ॥४॥

(गौ चराते हुए सत्यकाम का एक साथी बैल था जिसने पहला उपदेश दिया। दूसरा साथी अग्नि थी—वह दिन को उससे भोजन बनाता, और रात को उसे तापता था। अग्नि ने उसे भौतिक-प्रकाश तो दिया ही, परन्तु साथ ही यह आध्यात्मिक-प्रकाश भी दिया कि पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु, समुद्र कितने विशाल हैं, मानो अनन्त हैं, इसी प्रकार ब्रह्म भी अनन्त है।)

चतुर्थ प्रपाठक—(सातवां खंड)

अग्नि ने फिर कहा—तुझे ब्रह्म के तीसरे चरण का ज्ञान हंस, अर्थात् सूर्य देगा। सत्यकाम ने अगले दिन आचार्य-कुल चलने के लिये प्रस्थान कर दिया, और गौओं को हांक दिया। उन्हें चलते हुए जहां सन्ध्या हुई वहां आग जलाकर, गौओं को रोककर, समिधा का आधान करके, अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख बैठ गया ॥१॥

उस समय उसके सामने सूर्य-देव प्रकट हुआ और पुकारा—सत्यकाम! सत्यकाम ने यह सुनकर उत्तर दिया, भगवन्! क्या आज्ञा है? ॥२॥

हंसस्ते पादं वक्तेति। स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार। ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय, गा उपरुध्य, समिधमाधाय, पश्चादग्नेः प्राङ्पोपविवेश ॥१॥

हंसः—हंस-पक्षी या सूर्य, आत्मा; **ते**—तुझे, **पादम्**—(तीसरे) पाद को; **वक्ता**—कहेगा, उपदेश करेगा; **इति**—यह (अग्नि ने कहा); **सः ह**—और उसने; **श्वः भूते**—आनेवाला कल होने पर, अगले दिन; **गाः**—गौओं को; **अभिप्रस्थापयांचकार**—(घर की) ओर हांका; **ताः**—वे गौएँ; **यत्र**—जिस स्थान पर; **अभिसायम्**—सायंकाल की ओर; **बभूवुः**—हुईं (जहाँ सायंकाल हुआ); **तत्र**—उस स्थान में; **अग्निम्**—अग्नि को; **उपसमाधाय**—स्थापित कर, प्रज्वलित कर; **गाः**—गौओं को; **उपरुध्य**—रोक-घेर कर; **समिधम् आधाय**—समिदाधान कर; **पश्चाद्**—पश्चिम की ओर; **अग्नेः**—यज्ञ-अग्नि के; **प्राङ्**—स्वयं पूर्वाभिमुख; **उप-उपविवेश**—पास बैठ गया ॥१॥

तं हंस उपनिपत्याभ्युवाद, सत्यकाम ३ इति, भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥

तम्—उस (सत्यकाम) को; **हंसः**—हंस ने; **उपनिपत्य**—(उसके) पास नीचे आकर; **अभ्युवाद**—आवाज़ दी; **सत्यकाम ३**—हे सत्यकाम ३!;

सूर्य-देव ने कहा, हे सोम्य! 'ब्रह्म' के तीसरे पाद का रूप मैं तुझे समझा दूं। सत्यकाम ने कहा, भगवन्! समझाइये। सूर्य-देव बोले, हे सोम्य! ब्रह्म के चार पाद हैं जिनमें से एक का नाम 'ज्योतिष्मान्' है। इस 'ज्योतिष्मान्'-चरण की चार कलाएं हैं—अग्नि-कला, सूर्य-कला, चन्द्र-कला, विद्युत्-कला ।।३।।

जो व्यक्ति 'ब्रह्म' के चार कलाओं वाले 'ज्योतिष्मान्-चरण' के रहस्य को जानता हुआ उसकी उपासना करता है वह इस लोक में 'ज्योतिष्मान्' हो जाता है, और जो इस प्रकार ब्रह्म के 'चतुष्कल-ज्योतिष्मान्-चरण' के रहस्य को जानता हुआ उसकी उपासना करता है वह दूसरे 'ज्योतिष्मान्' लोकों को भी जीत लेता है ।।४।।

इति—ऐसे (कहकर), भगव—हे भगवन्!, इति ह—यह (कहकर),
प्रतिशुश्राव—(सत्यकाम ने) प्रत्युत्तर मे कहा ।।२।।

ब्रह्मण सोम्य ते पाद ब्रवाणीति। ब्रवीतु मे भगवानिति।
तस्मै होवाचाग्नि कला सूर्य कला चन्द्र कला विद्यु-
त्कलैष वै सोम्य चतुष्कल पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ।।३।।

ब्रह्मण—ब्रह्म का, सोम्य!—हे सुशील वत्स!, ते—तुझे, पादम्—पाद (प्राप्ति का साधन), ब्रवाणि—कहूँ, इति—यह (हंस ने कहा), ब्रवीतु—कहें उपदेश करें, मे—मुझे, भगवान्—आदरणीय आप, इति—यह (सत्यकाम ने प्रार्थना की), तस्मै ह—उस (सत्यकाम) को, उवाच—(हंस ने) कहा, अग्नि कला—अग्नि (एक) अंश है, सूर्य कला—सूर्य (इस पाद का दूसरा) अंश है, चन्द्र कला—चन्द्रमा (तृतीय) अंश है, विद्युत् कला—बिजली (चौथा) अंश है, एष वै—यह ही, सोम्य—सुशील!, चतुष्कल—चार अंश वाला पाद—(तीसरा) पाद, ब्रह्मण—ब्रह्म का, ज्योतिष्मान्—ज्योतिष्मान् (ज्योति स्वरूप), नाम—नामवाला है ।।३।।

स य एतमेव विद्वांश्चतुष्कल पाद ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते
ज्योतिष्मानस्मिंल्लोके भवति ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति
य एतमेव विद्वांश्चतुष्कल पाद ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ।।४।।

स य—वह जो, एतम्—इस, एवम् विद्वान्—इस प्रकार जानता हुआ, चतुष्कलम्—चार कला (अंश) वाले, पादम्—चरण का, ब्रह्मण—ब्रह्म के, ज्योतिष्मान्—ज्योति स्वरूप, इति—इस रूप में (नाम से), उपास्ते—उपासना करता है, ज्योतिष्मान्—ज्योति से दीप्त, अस्मिन्—इस, लोके—लोक (जन्म) में, भवति—हो जाता है, ज्योतिष्मत ह—और ज्योति-युक्त,

(वन-वन में भ्रमण करने वाले सत्यकाम का बैल तथा अग्नि के अतिरिक्त तीसरा साथी सूर्य था। सूर्य ने भी उसे यही शिक्षा दी कि अग्नि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्—सबमें ब्रह्म की ही ज्योति छिटक रही है। उसी की ज्योति से सब ज्योतिष्मान् हैं।)

चतुर्थ प्रपाठक—(आठवां खंड)

सूर्य ने फिर कहा—तुझे ब्रह्म के चौथे चरण का ज्ञान मद्गु, अर्थात् वायु देगा। सत्यकाम ने अगले दिन आचार्य-कुल चलने के लिये प्रस्थान कर दिया, और गौओं को हांक दिया। उन्हें चलते हुए जहां सन्ध्या हुई वहां आग जलाकर, गौओं को रोककर, समिधा का आधान करके, अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख बैठ गया ॥१॥

उस समय उसके सामने वायु-देव प्रकट हुआ और पुकारा—सत्यकाम! सत्यकाम ने यह सुनकर उत्तर दिया, भगवन्! क्या आज्ञा है? ॥२॥

लोकान्—लोकों को; **जयति**—जीत लेता, अधिकारी हो जाता है; **यः**—जो; **एतम्**—इस; **एवम् विद्वान्**—इस प्रकार जानता हुआ; **चतुष्कलम्**—चार कला वाले; **पादम्**—पाद (प्राप्ति-साधन) को; **ब्रह्मणः**—ब्रह्म के; **ज्योतिष्मान्**—'ज्योतिष्मान्'; **इति**—इस (नाम से); **उपास्ते**—उपासना करता है ॥४॥

मद्गुष्टे पादं वक्तेति। स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयां-चकार। ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय, गा उपरुध्य, समिधमाधाय, पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥१॥

मद्गुः—मद्गु-नामी (जलचर जीव), प्राण-वायु; **ते**—तुझे; **पादम्**—(ब्रह्म के चौथे) पाद को (का); **वक्ता**—उपदेश करेगा; **इति**—यह (हंस ने उपदेश देने के बाद कहा); **सः ह**—उसने; **श्वः भूते**—कल होने पर, अगले दिन; **गाः**—गौओं को; **अभिप्रस्थापयांचकार**—घर की ओर हांका; **ताः**—वे गौएं; **यत्र**—जिस स्थान पर; **अभिसायम्**—सायंकाल के अभिमुख; **बभूवुः**—हुईं; **तत्र**—उस स्थान पर; **अग्निम् उपसमाधाय**—अग्नि की स्थापना कर; **गाः उपरुध्य**—गौओं को रोक-घेरकर; **समिधम् आधाय**—समिदाधान कर; **पश्चात्**—पश्चिम की ओर; **अग्नेः**—अग्नि के; **प्राङ्**—(स्वयं) पूर्वाभिमुख; **उप+उपविवेश**—पास बैठ गया ॥१॥

तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद, सत्यकाम ३ इति, भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥

तम्—उसको; **मद्गुः**—जलचर जीव मद्गु या प्राण-वायु ने; **उप निपत्य**

वायु-देव ने कहा, हे सोम्य ! 'ब्रह्म' के चतुर्थ-पाद का रूप मैं तुम्हें समझा दूं। सत्यकाम ने कहा, भगवन् ! समझाइये। वायु-देव बोले, हे सोम्य ! ब्रह्म के चार पाद हैं जिनमें से एक का नाम 'आयतनवान्' है। इस 'आयतनवान्'-चरण की चार कलाएं हैं—प्राण-कला, चक्षु-कला, श्रोत्र-कला, मन-कला ॥३॥

जो व्यक्ति ब्रह्म के चार कलाओं वाले 'आयतनवान्-चरण' के रहस्य को जानता हुआ उसकी उपासना करता है वह इस लोक में 'आयतनवान्'—अर्थात् विस्तारवान्—हो जाता है, और जो इस प्रकार ब्रह्म के 'चतुष्कल-आयतनवान्-चरण' के रहस्य को जानता हुआ उसकी उपासना करता है वह दूसरे 'आयतनवान्'-लोकों को भी जीत लेता है ॥४॥

—नीचे पास आकर, अभ्युवाद—आवाज दी, सत्यकाम ३ ! इति—हे सत्यकाम ३ ! (इस रूप में); भगवः—हे भगवन्, इति—ऐसे, तम्—उस (मद्गु) को, प्रतिशुश्राव—प्रतिवचन दिया ॥२॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति । ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाच । प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम ॥३॥

ब्रह्मण—ब्रह्म का; सोम्य !—हे सुशील वत्स !, ते—तुझे, पादम्—(चौथा) पाद (प्राप्ति-साधन); ब्रवाणि—कहूं, उपदेश दूं, इति—यह (कहा), ब्रवीतु—कहें, उपदेश करें; मे—मेरे प्रति, भगवान्—आदरणीय आप, इति—यह (शिष्य ने प्रार्थना की), तस्मै ह—उसको, उवाच—(मद्गु ने) उपदेश किया; प्राणः कला—प्राण (एक) अंश है, चक्षुः कला—नेत्र (दूसरा) अंश है; श्रोत्रम् कला—कर्ण (तृतीय) अंश है, मनः कला—मन (चौथा) अंश है, एष—यह, वै—ही, सोम्य !—प्रिय वत्स !, चतुष्कल—चार अंशों वाला, पादः—(चौथा) पाद (प्राप्ति-साधन), ब्रह्मण—ब्रह्म का, आयतनवान्—'आयतनवान्' (सब को आश्रयदाता), नाम—नाम वाला है ॥३॥

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त आयतनवानस्मिंल्लोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः आयतनवानित्युपास्ते ॥४॥

सः यः—वह जो, एतम्—इस, एवम् विद्वान्—इस प्रकार जानता हुआ चतुष्कलम् पादम्—चार अंगों वाले चरण को, ब्रह्मण—ब्रह्म के, आयतनवान्—'आयतनवान्' (सर्वाधार); इति—इस रूप में, इस नाम से, उपास्ते—

(गौ, अग्नि तथा सूर्य के अतिरिक्त सत्यकाम का चौथा साथी जंगल में वायु था। उसने भी उसे यही शिक्षा दी कि 'ब्रह्मांड' का वायु 'पिंड' का प्राण है, और जैसे शरीर के प्राण पर आंख, कान और मन का अवलम्ब है, वैसे ब्रह्मांड के वायु पर जो ब्रह्मांड का प्राण है, संसार का अवलम्ब—आयतन—है। शरीर की प्राण-शक्ति ब्रह्मांड की वायु-शक्ति है, और वायु-शक्ति ही ब्रह्म-शक्ति है। इस प्रकार सत्यकाम को १६ कलाओं वाले ब्रह्म का ज्ञान हो गया। बैल, अग्नि, सूर्य तथा वायु ने चार-चार कलाओं का उपदेश दिया, इससे ब्रह्म की सोलहों कलाओं का वर्णन हो गया।)

चतुर्थ प्रपाठक—(नौवां खंड)

इस प्रकार ब्रह्म-ज्ञानी बनकर सत्यकाम आचार्य-कुल में लौट आया। आचार्य ने कहा—सत्यकाम ! यह सुनकर सत्यकाम ने उत्तर दिया, कहिये भगवन् ! ॥१॥

आचार्य बोले, सोम्य ! ऐसा भासता है कि तुम तो ब्रह्म-ज्ञानी हो गये हो। तुझे किस ने उपदेश दिया ? सत्यकाम ने उत्तर दिया,

---

सना करता है; आयतनवान्—सब को आश्रय देनेवाला; अस्मिन्—इस; लोके—लोक (जन्म) में; भवति—हो जाता है; आयतनवतः ह—आश्रयप्रदाता; लोकान्—लोकों को (का); जयति—जीत लेता है, अधिकारी हो जाता है; यः—जो; एतम्—इसको; एवम् विद्वान्—इस प्रकार जानता हुआ; चतुष्कलम् पादम्—चार अंशों वाले चरण को; ब्रह्मणः—ब्रह्म के; आयतनवान्—आयतन-वान् (आश्रय-प्रदाता); इति—इस नाम से; उपास्ते—ध्यान-उपासना करता है ॥४॥

प्राप हाऽऽचार्यकुलम् । तमाचार्योऽभ्युवाद
सत्यकाम ३ इति। भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥१॥

प्राप ह—पहुंच गया; आचार्यकुलम्—आचार्य (गौतम) के घर को; तम्—उस (सत्यकाम) को; आचार्यः—आचार्य ने; अभ्युवाद—आवाज़ दी; सत्यकाम ३ !—हे सत्यकाम ३ !; इति—ऐसे; भगवः इति ह प्रतिशुश्राव—'हां, भगवन् !' ऐसे उसने प्रत्युत्तर में कहा ॥१॥

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि, को नु त्वाऽनुशशासेत्यन्ये
मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे, भगवाँस्त्वेव मे कामं ब्रूयात् ॥२॥

ब्रह्मविद्—ब्रह्म-ज्ञानी; इव—के समान; वै—निश्चय ही; सोम्य—

भगवन् ! मुझे यह ज्ञान किसी मनुष्य से तो प्राप्त हुआ नहीं, परन्तु गुरु तो मैं आपको ही मानता हूं—आप मुझे उपदेश दें ॥२॥

मैंने आप-जैसे गुरुओं से सुना है कि आचार्य से सीखी हुई विद्या ही सब से उत्तम होती है। यह सुनकर आचार्य ने उसे कहा, जो-कुछ तूने सीख लिया है इसमें कुछ शेष नहीं रहा, कुछ शेष नहीं रहा ॥३॥

(प्रकृति में आंख खोलकर फिरते हुए जैसे सत्यकाम को बैल, अग्नि, सूर्य तथा वायु से ब्रह्म-ज्ञान हो गया, वैसे जो भी आंखें खोलकर देखेगा उसे ब्रह्म-ज्ञान हुए बिना नहीं रहेगा—यही इसका आशय है।)

चतुर्थ प्रपाठक—(दसवां खंड)

(उपकोसल को अग्नियों द्वारा 'आत्म-विद्या' का उपदेश, १० से १५ खंड)

(सत्यकाम जाबाल अपने गुरु से उपदेश पाकर स्वयं आचार्य बन गये और उनके आश्रम में भी अनेक ब्रह्मचारी दीक्षा पाने लगे। इस खंड में उनकी शिक्षा-दीक्षा की विधि का वर्णन है।)

हे प्रिय वत्स !, भासि—चमकता है, प्रतीत होता है, कः नु—किसने, त्वा—तुझको, अनुशशास—उपदेश दिया है, इति—यह (आचार्य ने पूछा), अन्ये—दूसरों ने, भिन्न, मनुष्येभ्यः—मनुष्यों से, इति ह—इस रूप में, प्रतिजज्ञे—प्रत्युत्तर में जनाया, भगवान्—आदरणीय आप, तु एव—तो ही, मे—मुझे, कामम्—पर्याप्त, यथेच्छ, (पाठान्तर—कामे—कामना के आधार पर, मेरी चाहना समझकर), ब्रूयात्—उपदेश करें ॥२॥

श्रुतं, ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किंचन वीयायेति वीयायेति ॥३॥

श्रुतम्—सुना हुआ है, हि—क्योंकि, एव—ही, मे—मेरा, भगवद्दृशेभ्यः—आपके सदृश (पुरुषों) से, आचार्यात्—आचार्य से, हि एव—ही, विद्या—ज्ञान, विदिता—ज्ञात, साधिष्ठम्—अत्यधिक कल्याण को, सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म को, प्रापयति—प्राप्त कराता है, इति—यह (सुना है), तस्मै ह—उस (शिष्य) को, एतद् एव—यह ही, उवाच—(आचार्य ने) कहा, अत्र ह—इस (विषय) में, न—नहीं, किंचन—कुछ भी, वीयाय—शेष रहा है, इति—यह (कहा), वीयाय इति—अवशिष्ट रहा है (द्विरुक्ति बल देने के लिए है) ॥३॥

कमल नामक ऋषि का वंशज उपकोसल, सत्यकाम जाबाल के आश्रम में ब्रह्मचारी था। वह आचार्य की अग्नियों की १२ वर्ष तक परिचर्या करता रहा। आचार्य अन्य अन्तेवासियों का समावर्तन करता रहा, उसने उपकोसल का समावर्तन कर उसे घर नहीं भेजा ॥१॥

सत्यकाम की पत्नी ने उसे कहा—ब्रह्मचारी ने पर्याप्त तपस्या कर ली है, गृह की अग्नियों की भी बहुत सेवा की है—भोजन के लिये आग जलाता रहा है, अग्निहोत्र के लिये समिधाओं का चयन करता रहा है, घर की सदा दीप्त रहने वाली अग्नि की भी देख-रेख करता रहा है। कहीं ऐसा न हो, अग्नियां क्रुद्ध होकर तुम्हें शाप दे दें, इसलिये इसे जो कुछ शिक्षा देनी हो दे दो। यह सब-कुछ सुनने पर भी आचार्य बिना कुछ कहे ही प्रवास में चले गये ॥२॥

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास।
तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचार। स ह स्माऽन्या-
नन्तेवासिनः समावर्तयंस्तं ह स्मैव न समावर्तयति ॥१॥

उपकोसलः—उपकोसल-नामक; **ह वै**—ही; **कामलायनः**—कमल का वंशज; **सत्यकामे जाबाले**—जबाला के पुत्र सत्यकाम के पास में; **ब्रह्मचर्यम्**—ब्रह्मचर्य को; **उवास**—निवास किया; (**ब्रह्मचर्यम् उवास**—ब्रह्मचर्य धारण किया); **तस्य ह**—उस (आचार्य) की; **द्वादश वर्षाणि**—बारह वर्ष तक; **अग्नीन्** (आहवनीय आदि) अग्नियों को (की); **परिचचार**—सेवा की, सम्पादन किया; **स ह**—वह (आचार्य) तो; **स्म**—था; **अन्यान्**—दूसरे; **अन्तेवासिनः**—शिष्यों को; **समावर्तयन्**—समावर्तन (दीक्षान्त-संस्कार) कराता हुआ; **तम् ह**—उसको; **स्म**—था; **एव**—ही; **न**—नहीं; **समावर्तयति**—दीक्षा समाप्त करता है ॥१॥

तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन्परिचचारीन्मा त्वाऽग्नयः
परिप्रवोचन्प्रब्रूह्यस्मा इति। तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासांचक्रे ॥२॥

तम्—उस (आचार्य) को; **जाया**—(आचार्य की) पत्नी ने; **उवाच**—कहा; **तप्तः**—तप (पूर्ण) कर चुका है; **ब्रह्मचारी**—ब्रह्मचारी (उपकोसल); **कुशलम्**—कुशलता से, भली प्रकार; **अग्नीन्**—अग्नियों की; **परिचचारीत्**—सेवा की है; **मा**—मत; **त्वा**—तुझ (आचार्य) को, **अग्नयः**—(सेवा की हुई) अग्नियां; **परिप्रवोचन्**—धिक्कार दें, शाप दें, अनिष्ट करें; **प्रब्रूहि**—उपदेश कर; **अस्मै**—इस (उपकोसल) को; **इति**—यह (जाया ने कहा); **तस्मै ह**—

उपकोसल को यह देखकर बड़ा कष्ट हुआ। उसने खाना छोड़ दिया। उसे आचार्य-पत्नी ने कहा, हे ब्रह्मचारी! खाना खा, तू खाता क्यों नहीं? ब्रह्मचारी ने उत्तर दिया, मुझ अभागे पुरुष में ये अनेक मार्गों में दौड़ने वाली कामनाएं भरी पड़ी हैं, मैं व्याधि से, कष्ट से परिपूर्ण हूं, मैं खाना नहीं खाऊंगा ॥३॥

घर की अग्नियों ने उसकी व्याकुल अवस्था देखकर आपस में कहा, यह ब्रह्मचारी तप कर चुका है, इसने हमारी भली प्रकार सेवा की है, इसलिये चलो, हम ही इसे उपदेश दे दें। उसे उन्होंने कहा—॥४॥

उस (उपकोसल) को, अप्रोष्य—उपदेश न करके, एव—ही, प्रवासांचक्रे—प्रवास (परदेश-गमन) किया ॥२॥

स ह व्याधिनाऽनशितुं दध्रे। तमाचार्यजायोवाच ब्रह्मचारिन्नशान किं नु नाश्नासीति। स होवाच बहव इमेऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मि नाशिष्यामीति ॥३॥

स ह—उस (शिष्य) ने, वि+आधिना—विशेष (अत्यधिक) मानसिक अशान्ति (दुःख) के कारण, अनशितुम्—न खाना अनशन, दध्रे—धारण किया (भोजन छोड़ दिया), तम्—उसको, आचार्य-जाया—गुरु-पत्नी ने, उवाच—कहा, ब्रह्मचारिन्—हे ब्रह्मचारी!, अशान—भोजन कर, किम् नु—क्यों तो, न—नहीं, अश्नासि—भोजन करता है, इति—यह (कहा), स ह—उस (शिष्य) ने, उवाच—कहा, बहव—बहुत से, इमे—ये, अस्मिन्—इस, पुरुषे—आत्मा में, मनुष्य में, कामा—एषणाएं, नाना+अत्यया—अनेक प्रकार के विघ्न करनेवाली हैं अनेक निकलने के मार्गवाली (बहिर्मुख करनेवाली), वि+आधिभिः—(मैं इन) विशेष मानसिक-दुःखों से प्रतिपूर्ण—भरा हुआ, ग्रस्त, अस्मि—हूं, न—नहीं, अशिष्यामि—भोजन करूंगा, इति—यह (उत्तर दिया) ॥३॥

अथ हाग्नयः समूदिरे। तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति। तस्मै होचुः ॥४॥

अथ ह—इसके बाद, अग्नय—(परिसेवित) अग्नियों ने, समूदिरे—(परस्पर) संवाद किया, विचार-विमर्श किया, तप्त ब्रह्मचारी—ब्रह्मचारी ने तप (पूर्ण) किया है, कुशलम् नः पर्यचारीद्—भली प्रकार हमारी परिचर्या (सेवा) की है; हन्त—तो खुशी से, अस्मै—इसको, प्रब्रवाम—उपदेश करें, इति—ऐसा (सोच कर), तस्मै ह—उसको, ऊचुः—उपदेश दिया ॥४॥

(अस्ल में इतनी तपस्या के बाद जैसे सत्यकाम के हृदय में गौ-अग्नि-सूर्य-वायु को देखकर अपने-आप ब्रह्म-ज्ञान का उदय हुआ था, वैसे उसके शिष्य के हृदय में भी अग्नियों को देखकर अपने-आप यह ज्ञान-ज्योति जगी जिसका यहां आख्यायिका के रूप में वर्णन है।)

हे ब्रह्मचारी! 'प्राण' ब्रह्म है, 'कं' ब्रह्म है, 'खं' ब्रह्म है। ब्रह्मचारी ने कहा, यह तो मैं जानता हूं कि 'प्राण' ब्रह्म है, 'कं' और 'खं' को मैं नहीं जानता। अग्नि-देवों ने उत्तर दिया, जो 'कं' है, वही 'खं' है, और जो 'खं' है, वही 'कं' है—इस प्रकार 'कं' और 'खं' दोनों एक ही हैं। इस प्रकार ब्रह्म का वर्णन करते हुए पिंड के 'प्राण' का तथा 'कं' और 'खं' द्वारा ब्रह्मांड के आकाश का वर्णन किया। (जब ये दोनों एक ही हैं तब 'कं' और 'खं' का एक ही अर्थ हुआ। 'खं' का अर्थ है, 'आकाश'! इस प्रकार अग्नि-देवों के उपदेश का यह अर्थ हुआ कि पिंड में 'प्राण' तथा ब्रह्मांड में (कं+खं) 'आकाश' ये दोनों ब्रह्म के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। परन्तु फिर ब्रह्मांड की ब्रह्म-सत्ता के लिये 'कं' और 'खं' इन दो अक्षरों का प्रयोग क्यों किया? इन दो अक्षरों का प्रयोग ब्रह्म के दो पहलुओं का वर्णन करने के लिये किया गया है। 'कं' का अर्थ है 'सुख-स्वरूप'; 'खं' का अर्थ है 'आकाश'। 'खं', अर्थात् आकाश, 'मात्रा' (Quantity) को अभिव्यक्त करता है; 'कं', अर्थात् सुख, 'गुण' (Quality) को अभिव्यक्त करता है। 'मात्रा' में आकाश से बड़ी कोई वस्तु नहीं, 'गुण' में सुख से बढ़कर कुछ अभिप्रेत नहीं। ब्रह्म मात्रा में आकाश के समान है, ब्रह्म गुण में सुख के समान है। पिंड में (Subjectively) 'प्राण' को ब्रह्म कहा; ब्रह्मांड में (Objectively) गुण (Quality) की दृष्टि से 'कं', अर्थात् सुख को ब्रह्म

प्राणो ब्रह्म। कं ब्रह्म। खं ब्रह्मेति। स होवाच। विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म, कं च तु खं च न विजानामीति। ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति। प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः॥५॥

प्राणः—प्राण (श्वास-प्रश्वास, सब का पालनकर्ता); ब्रह्म—ब्रह्म है; कम्—सुखस्वरूप प्रजापति; ब्रह्म—ब्रह्म है; खम्—आकाशवत् सर्वव्यापक; ब्रह्म—ब्रह्म है; इति—यह (उपदेश दिया); सः ह—उस (शिष्य) ने; उवाच

कहा, मात्रा (Quantity) की दृष्टि से 'खं', अर्थात् आकाश को ब्रह्म कहा, किन्तु 'आकाश'-शब्द में 'कं' और 'खं' दोनों को सम्मिलित कर लिया) ।।५।।

चतुर्थ प्रपाठक—(ग्यारहवां खंड)

जब अग्नियां उपकोसल को सांझा उपदेश दे चुकीं, तब एक-एक अग्नि ने अलग-अलग उपदेश दिया। 'गार्हपत्याग्नि' ने, उस अग्नि ने जो सदा घर में स्थिर बनी रहती हूँ, कभी बुझती नहीं, चार शब्दों का उच्चारण किया—पृथिवी, अग्नि, अन्न, आदित्य। उसने कहा कि ये चारों तुम्हें पृथक्-पृथक् तत्व दीख पड़ते हैं, परन्तु इन सब में एकात्मकता है। आदित्य में जो पुरुष दिखाई देता है वह मैं हूं। मैं वही हूं। अर्थात्, गार्हपत्याग्नि भी उसी 'आदित्य-पुरुष' पर-ब्रह्म का एक रूप है ।।१।।

—कहा; विजानामि—जानता हूं, अहम्—मैं; यत्—कि, प्राणः ब्रह्म—प्राण ब्रह्म है; कम् च—और 'क'-ब्रह्म को, तु—तो, खम् च—'ख'-ब्रह्म को, न विजानामि—नहीं जानता हूं, इति—यह (शिष्य ने कहा), ते ह—उन अग्नियों ने; ऊचुः—कहा; यद्—जो, वाव—ही, कम्—'क' है, तद् एव—वह ही; खम्—'ख' है; यद् एव—जो ही, खम्—'ख' है, तद् एव—वह ही, कम्—'क' है; इति—यह (बताकर), प्राणम् च—और प्राण को, ह—निश्चय से, अस्मै—इस (शिष्य) को, तद्+आकाशम्—उस आकाश को, च—और, ऊचुः—(तीनों अग्नियों ने सम्मिलित) उपदेश दिया (प्राण और आकाश को ब्रह्म रूप में बताया) ।।५।।

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास। पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति। य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ।।१।।

अथ ह—इसके बाद, एनम्—इस (उपकोसल) को, गार्हपत्य—गार्हपत्य (अग्नि) ने, अनुशशास—(पृथक्) उपदेश दिया, पृथिवी, अग्नि, अन्नम्, आदित्यः—पृथ्वी, अग्नि, अन्न और आदित्य, इति—ये (प्रतीक रूप हैं), यः एषः—जो यह, आदित्ये—आदित्य (सूर्य) में, पुरुषः—पुरुष (ब्रह्म), दृश्यते—दिखाई देता है, सः—वह (पुरुष), अहम्—मैं (गार्हपत्य-अग्नि) हूँ; सः एव—वह ही; अहम्—मैं, अस्मि—हूँ; इति—यह (उपदेश दिया) ।।१।।

जो आदित्य में पुरुष के समान दीख रहे ब्रह्म को पृथिवी, अग्नि, अन्न तथा आदित्य में सब जगह गया हुआ जान कर, और यह जान कर कि गार्हपत्याग्नि उसी ब्रह्म का रूप है उसकी उपासना करता है, वह समस्त पाप-कृत्यों को नष्ट कर डालता है, लोकों का स्वामी हो जाता है, पूर्ण आयु को भोगता है, ज्योतिर्मय जीवन व्यतीत करता है, उसके वंश के पुरुषों में कोई क्षीण नहीं होता। हम उस व्यक्ति की इस तथा उस लोक में रक्षा करती हैं—जो 'आदित्य-पुरुष' को इस प्रकार जान कर उसकी उपासना करता है ॥२॥

चतुर्थ प्रपाठक—(बारहवां खंड)

इसके बाद 'अन्वाहार्यपचनाग्नि' ने, उस अग्नि ने जो गार्हपत्याग्नि से आंच ग्रहण करके भोजन बनाने के काम में लाई जाती है, चार शब्दों का उच्चारण किया—जल, दिशाएं, नक्षत्र, चन्द्रमा।

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥२॥

सः यः—वह जो; **एतम्**—इस (आदित्य-गत पुरुष) को; **एवम्**—इस प्रकार (इस रूप में); **विद्वान्**—जानता हुआ; **उपास्ते**—ध्यान करता है; **अपहते**—नष्ट कर देता है; **पाप-कृत्याम्**—पाप-आचरण को; **लोकी भवति**—लोकाधिपति हो जाता है; **सर्वम् आयुः एति**—सारी (पूर्ण) आयु को प्राप्त करता (भोगता) है; **ज्योग् जीवति**—उज्ज्वल (प्रतिष्ठित) जीवन बिताता है; **न**—नहीं; **अस्य**—इस (उपासक) के; **अवर-पुरुषाः**—(उसकी) सन्तति के पुरुष; **क्षीयन्ते**—नष्ट (पतित) होते हैं, अकाल-मृत्यु पाते हैं; **वयम्**—हम (अग्नियाँ); **तम्**—उसको (की); **उपभुंजामः**—पालना करती हैं; **अस्मिन् च लोके**—इस लोक (जन्म) में; **अमुष्मिन् च**—और उस (पर-जन्म) में; **यः एतम्**—जो इस (पुरुष) को; **एवम् विद्वान्**—इस प्रकार जानता हुआ; **उपास्ते**—उपासना करता है ॥२॥

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशासापो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति। य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥१॥

अथ ह—इसके बाद; **एनम्**—इस (उपकोसल) को; **अन्वाहार्यपचनः**—अन्वाहार्यपचन-अग्नि ने; **अनुशशास**—उपदेश दिया; **आपः, दिशः, नक्षत्राणि,**

उसने कहा कि ये चारों तुम्हें पृथक्-पृथक् तत्त्व दीख पड़ते हैं, परन्तु इन सब में एकात्मता है। चन्द्रमा में जो पुरुष दिखाई देता है वह मैं हूं, मैं वही हूं। अर्थात्, अन्वाहार्यपचनाग्नि भी उसी 'चन्द्र-पुरुष' पर-ब्रह्म का एक रूप है॥१॥

जो चन्द्र में पुरुष के समान दीख रहे ब्रह्म को जल, दिशाएं, नक्षत्र तथा चन्द्र में सब जगह गया हुआ जानकर, और यह जान कर कि अन्वाहार्यपचनाग्नि भी उसी ब्रह्म का रूप है उसकी उपासना करता है, वह समस्त पाप-कृत्यों को नष्ट कर डालता है, लोकों का स्वामी हो जाता है, पूर्ण आयु को भोगता है, ज्योतिर्मय जीवन व्यतीत करता है, उसके वंश के पुरुषों में कोई क्षीण नहीं होता। हम उस व्यक्ति की इस तथा उस लोक में रक्षा करती हैं—जो 'चन्द्र-पुरुष' को इस प्रकार जान कर उसकी उपासना करता है॥२॥

चतुर्थ प्रपाठक—(तेरहवां खंड)

इसके बाद 'आहवनीयाग्नि' ने, उस अग्नि ने जो गार्हपत्य से आंच ग्रहण करके अग्निहोत्र के काम आती है, चार शब्दों का उच्चारण किया—प्राण, आकाश, द्यौः, विद्युत्। उसने कहा कि ये चारों तुम्हें पृथक्-पृथक् तत्त्व दीख पड़ते हैं, परन्तु इन सब में एकात्मता है।

चन्द्रमाः—जल, दिशायें, नक्षत्र, और चन्द्रमा, इति—ये (प्रतीक कहे), यः एषः—जो यह, चन्द्रमसि—चन्द्रमा में, पुरुषः—पुरुष (ब्रह्म), दृश्यते—दिखलाई पड़ता है, सः अहम् अस्मि—वह मैं हूं (अन्वाहार्यपचन-अग्नि) हूं, सः एव अहम् अस्मि—वह ही मैं हूं; इति—यह (उपदेश किया)॥१॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति
सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं
तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते॥२॥

सः यः . उपास्ते—वह जो . उपासना करता है (पूर्ववत्)॥२॥

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास। प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति।
य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति॥१॥

अथ ह एनम्—इसके बाद इस (उपकोसल) को, आहवनीयः—आहवनीय (अग्नि) ने; अनुशशास—उपदेश किया, प्राण., आकाश, द्यौः, विद्युत्—प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत्; इति—ये (प्रतीक बताये), यः एषः—जो

विद्युत् में जो पुरुष दिखाई देता है वह मैं हूं, मैं वही हूं। अर्थात्, आहवनीयाग्नि भी उसी 'विद्युत्-पुरुष' पर-ब्रह्म का एक रूप है ॥१॥

जो विद्युत् में पुरुष के समान दीख रहे ब्रह्म को प्राण, आकाश, द्यौः तथा विद्युत् में सब जगह गया हुआ जान कर, और यह जान कर कि आहवनीयाग्नि भी उसी ब्रह्म का रूप है उसकी उपासना करता है, वह समस्त पाप-कृत्यों को नष्ट कर डालता है, लोकों का स्वामी हो जाता है, पूर्ण आयु को भोगता है, ज्योतिर्मय जीवन व्यतीत करता है, उसके वंश के पुरुषों में कोई क्षीण नहीं होता। हम उस व्यक्ति की इस तथा उस लोक में रक्षा करती हैं—जो 'विद्युत्-पुरुष' को इस प्रकार जानकर उसकी उपासना करता है ॥२॥

चतुर्थ प्रपाठक—(चौदहवां खंड)

इसके बाद तीनों अग्नियां एक-स्वर से बोलीं—हे उपकोसल! हे सोम्य! हमारे सम्बन्ध में जो विद्या—'अग्नि-विद्या'—और 'आत्म-विद्या' थी उसका हमने तुझे उपदेश दे दिया। (पिंड का प्राण ब्रह्म

यह; विद्युति—विद्युत् में; पुरुषः—पुरुष; दृश्यते—दिखाई पड़ता है; सः अहम् अस्मि—वह मैं (आहवनीय-अग्नि) हूँ; सः एव अहम् अस्मि—वह ही मैं हूँ; इति—यह (उपदेश दिया) ॥१॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति
सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं
भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥२॥

सः यः एतम्....उपास्ते—(इसका अर्थ पूर्ववत् है) ॥२॥

ते होचुरुपकोसलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या चाचार्यस्तु ते गतिं
वक्तेत्याजगाम हास्याचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल ३ इति ॥१॥

ते ह—(फिर) वे (तीनों अग्नियां); ऊचुः—बोलीं; उपकोसल—हे उपकोसल; एषा—यह (ज्ञान तो); सोम्य—हे सुशील वत्स!; ते—तेरे प्रति; अस्मद्-विद्या—हमारी (हमसे सम्बन्ध रखनेवाली, हमारे विषय में) विद्या (अग्नि-विद्या); आत्म-विद्या च—और आत्मा-संबंधी विद्या (आत्म-ज्ञान) है; आचार्यः—आचार्य (सत्यकाम); तु—तो; ते—तुझे; गतिम्—गति (हमारी पहुंच) को; अथवा (ते गतिम्—तुझे गति—तत्त्वज्ञान तक पहुंचानेवाली स्थिति—ब्रह्म विद्या, परम पुरुषार्थ—को); वक्ता—उपदेश करेंगे; इति—यह (अग्नियों ने कहा); आजगाम ह—(उसी समय) आ पहुंचे; अस्य—इसके;

है, यह 'आत्म-विद्या' का उपदेश था, और ब्रह्मांड की अग्नियां भी ब्रह्म के रूप हैं, यह 'अग्नि-विद्या' का उपदेश था।) इन दोनों विद्याओं की गति कहां तक है—यह तुम्हें आचार्य बतलाएंगे। इतने में आचार्य आ पहुंचे, और उन्होंने उपकोसल को पुकारा—हे उपकोसल! ॥१॥



जाबाल सत्यकाम के शिष्य उपकोसल को घर की अग्नियां शिक्षा दे रही हैं

आचार्यः—आचार्य (सत्यकाम); तम् आचार्यः अभ्युवाद—उसको आचार्य ने पुकारा; उपकोसल ३—हे उपकोसल ३!; इति—इस (रूप में) ॥१॥

उपकोसल ने उत्तर दिया, भगवन् ! क्या आज्ञा है ? आचार्य ने कहा, सोम्य ! तेरा मुख ब्रह्म-ज्ञानियों की तरह चमक रहा है, तुझे किस ने ब्रह्म-ज्ञान दिया ? शिष्य ने मानो सारी घटना को छिपाते हुए उत्तर दिया, मुझे कौन शिक्षा देता ? फिर अग्नियों की तरफ़ संकेत करके उसने कहा, मुझे उपदेश देने वाले इन अग्नियों-जैसे थे, परन्तु बिल्कुल इन-जैसे भी नहीं थे, मानो इन अग्नियों ने ही दैवी रूप धारण कर लिया था। आचार्य ने पूछा, उन्होंने तुझे क्या उपदेश दिया ? ॥२॥

उपकोसल को जो उपदेश मिला था, वह उसने सुना दिया। आचार्य ने कहा, सोम्य ! अग्नियों ने तुझे 'लोकों के सम्बन्ध में ही ज्ञान दिया, यही ज्ञान दिया कि आदित्य-चन्द्र-विद्युत् आदि लोकों में जो तत्त्व है वह ब्रह्म है, मैं तुझे वह ज्ञान दूंगा जिसके जानने से कमल-

---

भगव इति ह प्रतिशुश्राव। ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं भाति को नु त्वाऽनुशशासेति। को नु माऽनुशिष्याद् भो इतीहापेव निह्नुते इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहाग्नीनभ्यूदे। किं नु सोम्य किल तेऽवोचन्निति ॥२॥

भगवः इति ह उपशुश्राव—हां, भगवन् इस रूप में (उसने) उत्तर दिया; ब्रह्मविदः—ब्रह्म-ज्ञानी के; इव—समान; सोम्य ते मुखम् भाति—हे वत्स ! तेरा मुख चमक रहा है; कः नु—किसने; त्वा—तुझको; अनुशशास—उपदेश दिया है; इति—यह (आचार्य ने पूछा); कः नु—कौन; मा—मुझको; अनुशिष्यात्—उपदेश देता; भोः—(हे आचार्य) !; इति—इस प्रकार; इह—इस (विषय) में; अप इव निह्नुते (अप निह्नुते इव)—कुछ छिपाने-सा लगा; (फिर) इमे—इन (अग्नियों) ने; नूनम्—निश्चय ही; ईदृशाः—इन जैसों ने; अन्यादृशाः—अन्य-जैसों ने; इति—इस प्रकार; इह—इस (विषय) में; अग्नीन्—अग्नियों को (की); अभ्यूदे—ओर (संकेत कर) बताया; किम् नु—क्या-क्या तो; सोम्य—सुशील वत्स !; किल—ठीक-ठीक; ते—वे, उन्होंने; अवोचन्—उपदेश किया; इति—यह (आचार्य ने पूछा) ॥२॥

इदमिति ह प्रतिजज्ञे। लोकान्वाव किल सोम्य तेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति। ब्रवीतु मे भगवानिति। तस्मै होवाच ॥३॥

इदम्—यह (उपदेश दिया); इति ह—ऐसे; प्रतिजज्ञे—बता दिया; लोकान्—लोकों को (के विषय में); वाव किल—निश्चय से; सोम्य—हे सुशील शिष्य !; ते—उन्होंने; अवोचन्—उपदेश किया है; अहम् तु—मैं तो; ते—

पत्र जैसे पानी में रहता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता, वैसे मनुष्य पाप-कर्म से लिप्त नहीं होता। उपकोसल ने कहा, भगवन्! मुझे उस विद्या का उपदेश दीजिये। गुरु ने कहना प्रारंभ किया—॥३॥

चतुर्थ प्रपाठक—(पन्द्रहवां खंड)

(सत्यकाम द्वारा उपकोसल को आत्मा के ज्योतिर्मय रूप का उपदेश)

गुरु ने कहा, यह जो आंख में पुरुष दिखाई देता है, यह 'आत्मा' है, यह अमृत है, अभय है—यह 'ब्रह्म' है। जैसे आंख में घी या जल छोड़ने से वे आंख में न रह कर किनारों से निकल जाते हैं, ऐसे ही यह आत्मा आंख में रहता हुआ भी उससे अलग रहता है ॥१॥

इस आत्मा को 'संयद्-वाम' कहा जाता है क्योंकि सब 'वाम'—शोभा—इसी में 'संयत्'—सिमिट—जाती है। उससे, अर्थात्

तुभ्यं, तत्—वह (ज्ञान), वक्ष्यामि—कहूंगा, उपदेश करूंगा, यथा—जैसे, पुष्कर-पलाशे—कमल-पत्र पर, आपः—जल, न—नहीं, श्लिष्यन्ते—चिपकते हैं (कोई प्रभाव डालते हैं), एवम्—इस तरह ही, एवम् विदि—इस प्रकार (मेरे उपदेश के) जाननेवाले पर, पापम् कर्म—पापमय कर्म, न—नहीं, श्लिष्यते—चिपकता है (प्रभाव डालता है), इति—यह (आचार्य ने कहा), ब्रवीतु मे भगवान्—उपदेश करें (बतायें) मुझे आदरणीय आप, इति—यह (उपकोसल ने प्रार्थना की), तस्मै ह—उसको, उवाच—(आचार्य ने) उपदेश किया ॥३॥

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति। तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति ॥१॥

यः एषः—जो यह, अक्षिणि—आंख में (द्रष्टा आत्मा में), पुरुषः—पुरुष का प्रतिबिम्ब (ब्रह्म), दृश्यते—दिखाई देता (विद्यमान) है, एषः—यह ही, आत्मा—आत्मा (पर-ब्रह्म) है, इति ह उवाच—यह ही उपदेश दिया, एतत्—यह ही, अमृतम्—अमर (जन्म-मरण से मुक्त), अभयम्—स्वयं भय-शून्य तथा जीवों के भय दूर करनेवाला है, एतत्—यह ही, ब्रह्म—ब्रह्म है, इति—यह (ज्ञान), तत्—तो, यद्यपि—अगर, अस्मिन्—इस (आंख में), सर्पिः वा—या तो घृत, उदकम् वा—या पानी, सिञ्चति—(कोई) डालता है (तो वह), वर्त्मनी—(आंख की) कोरों को, गच्छति—चला जाता है (परिणाम में आंख से बाहर हो जाता है) ॥१॥

एतं संयद्वाम इत्याचक्षत एतं हि सर्वाणि वामान्य-भिसंयन्ति। सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥२॥

'आत्मा' के स्व-रूप से बढ़कर कोई दिव्य आभा नहीं है । जो ऐसा जानता है, उसके चरणों पर सृष्टि के सभी सौन्दर्य लोट-पोट हो जाते हैं ॥२॥

आत्मा को 'वाम-नी' भी कहते हैं, क्योंकि सृष्टि के सभी सौन्दर्यों का यह आत्मा नेता है, अग्रणी है, रूपवानों की जहां पंक्ति बंधे, वहां आत्मा के ज्ञानवाला सब से अधिक रूपवान् होने से सब से आगे रहता है । 'वाम' का अर्थ है रूप या शोभा । जो ऐसा जानता है वह सब सौन्दर्यों का नेता, अग्रणी हो जाता है ॥३॥

इसे 'भाम-नी' भी कहते हैं, क्योंकि यही—आत्मा ही—सब लोकों में अपनी आभा से प्रकाशमान हो रहा है । जो ऐसा जानता है वह लोकों में प्रकाशमान हो जाता है ॥४॥

एतम्—इस (पुरुष) को ही, संयद्वामः—संयद्वाम; इति—इस (नाम से); आचक्षते—कहते हैं; एतम्—इस (आत्मा—पुरुष) को; हि—क्योंकि; **सर्वाणि**—सारे; **वामानि**—शुभ कर्म, शोभाएं, अच्छाइयाँ; **अभिसंयन्ति**—ओर चलती हैं, इकट्ठी हो जाती हैं; **सर्वाणि**—सारे; **वामानि**—शुभकर्म, शोभाएं; एनम्—इस (ज्ञाता) के पास, **अभिसंयन्ति**—इकट्ठी हो जाती हैं; **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जान जाता है ॥२॥

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि
नयति । सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥३॥

एषः उ एव—यह ही; **वामनीः**—वामनी-संज्ञक है; **एषः हि**—यह ही; **सर्वाणि**—सारे; **वामानि**—शोभाओं, अच्छाइयों को; **नयति**—प्राप्त कराता है; **सर्वाणि वामानि नयति**—सब शोभाओं को प्राप्त कराता है; **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥३॥

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु
भाति । सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥४॥

एषः उ एव—यह ही; **भामनीः**—भामनी (कहलाता) है; **एषः हि**—यह ही; **सर्वेषु लोकेषु**—सारे लोकों में; **भाति**—प्रकाशमान है; **सर्वेषु लोकेषु**—सब लोकों में; **भाति**—प्रकाशमान होता है; **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥४॥

ऐसा ब्रह्मवित् जब मर जाता है, तब उसका दाह-संस्कार चाहे किया जाय चाहे न किया जाय, वह ज्योति को ही प्राप्त होता है। दाह करने की अवस्था में तो अग्नि-रूप ज्योति में उसे डाल ही दिया जाता है, न करने की अवस्था में भी उसका अग्नि-सदृश ज्योतिर्मय रूप हो जाता है। पहले-पहल यह रूप 'अर्चि'—किरण—के सदृश होता है, किरण से बढ़ता हुआ 'दिन' के समान इसका ज्योतिर्मय रूप हो जाता है, उससे बढ़ कर 'पूर्णमासी' के पखवाड़े में, इन पन्द्रह दिनों में जितना प्रकाश है उतने प्रकाश से वह ज्योतिर्मय हो जाता है, उससे बढ़ कर 'छः मासों', मासों से बढ़ कर 'संवत्सर', और संवत्सर से बढ़ कर 'आदित्य' की महान् ज्योति के सदृश उसका रूप तेज से भरपूर हो जाता है। 'आदित्य-ज्योति' से वह चन्द्र-ज्योति, और 'चन्द्र-ज्योति' से 'विद्युत्-ज्योति' को प्राप्त होता है। इस प्रकार विकसित होते हुए पुरुष का 'मानव' से यह 'अमानव' रूप प्रकट होता है ॥५॥

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवा-
भिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्-
षडुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्य-
मादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः ॥५॥

अथ—और; यद् उ च—अगर; अस्मिन्—(मरने पर) इसमें, शव्यम्—शव-कर्म दाह आदि; कुर्वन्ति—करते हैं, यदि च न—और चाहे न करें; अर्चिषम्—ज्योति को, किरण को; एव—ही; अभिसंभवन्ति—(दोनों अवस्थाओं में) प्राप्त होते हैं, अर्चिषः—किरण से; अहः—दिन को; अह्नः—दिन से; आपूर्यमाणपक्षम्—शुक्ल पक्ष को; आपूर्यमाणपक्षात्—शुक्लपक्ष से; यान्—जिन; षड्—छः; उदङ्—उत्तर की ओर; एति—जाता है; (उदङ् एति—उत्तरायण होता है), मासान्—महीनों को, तान्—उनको; मासेभ्यः—(इन उत्तरायण) मासों से; संवत्सरम्—वर्ष को; संवत्सरात्—संवत्सर से; आदित्यम्—सूर्य को; आदित्यात्—सूर्य से; चन्द्रमसम्—चन्द्रमा को; चन्द्रमसः—चन्द्रमा से; विद्युतम्—बिजली को; तत्—तो, वह (उस अवस्था को प्राप्त); पुरुषः—पुरुष (आत्मा); अमानवः—मानव (मनु-सृष्टि का) नहीं रहता (मुक्त हो जाता है) ॥५॥

वही अमानव-ब्रह्म भक्तों को ब्रह्म-मार्ग का प्रदर्शन करता है, यही 'देव-पथ' कहलाता है, 'ब्रह्म-पथ' कहलाता है। इस मार्ग पर चलने-वाले मानव इस आवर्त में—आवागमन के संसार में—लौटकर नहीं आते, लौट कर नहीं आते (देखो मुण्डक १-२, छान्दोग्य ५-१०) ॥६॥

चतुर्थ प्रपाठक—(सोलहवां खंड)

(सृष्टि-यज्ञ तथा आत्म-यज्ञ)

(सृष्टि-यज्ञ का ब्रह्मा आत्म-यज्ञ का 'मन' है, अध्वर्यु आदि 'वाणी' हैं)

सृष्टि में यह जो-कुछ पावन-कार्य हो रहा है, यह मानो 'यज्ञ' हो रहा है। यह पावन-कार्य 'गति' द्वारा हो रहा है; गति ही संसार में पवित्रता उत्पन्न करती है, इसलिये यह गति ही यज्ञ है। जैसे यज्ञ के दो मार्ग हैं, वैसे संसार में 'गति' द्वारा शुद्धि के भी दो मार्ग हैं—'वाणी' तथा 'मन' ॥१॥

स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रति-
पद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ॥६॥

सः—वह (अमानव, मुक्त पुरुष); **एनान्**—इनको; **ब्रह्म**—ब्रह्म को (का); **गमयति**—ज्ञान कराता है; **एषः**—यह; **देव-पथः**—देवताओं का मार्ग; **ब्रह्म-पथः**—ब्रह्म (प्राप्ति) का मार्ग है; **एतेन**—इस (मार्ग) से; **प्रतिपद्यमानाः**—ब्रह्म को प्राप्त करनेवाले (मुक्त); **इमम्**—इस; **मानवम्**—मनु-सृष्टि के, जगत्-संबंधी; **आवर्तम्**—घुम्मरघेरी (आवागमन चक्र) में; **न**—नहीं; **आवर्तन्ते**—लौटते हैं; **न आवर्तन्ते**—नहीं लौटते हैं ॥६॥

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निदꣳ सर्वं पुनाति। यदेष
यन्निदꣳ सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी ॥१॥

एषः—यह; **ह वै**—प्रसिद्ध है; **यज्ञः**—यज्ञ है; **यः**—जो; **अयम्**—यह; **पवते**—पवित्र करता है; **एषः**—यह (वायु); **ह**—ही; **यन्**—चलता हुआ; **इदम् सर्वम्**—इस सब को; **पुनाति**—पवित्र करता है; **यद्**—जो; **एषः**—यह; **यन्**—गति करता हुआ; **इदम् सर्वम् पुनाति**—इस सब को पवित्र (स्वच्छ, निर्मल) करता है; **तस्मात्**—उस कारण से; **एषः**—यह (वायु); **एव**—ही; **यज्ञः**—(पवित्र करनेवाला) यज्ञ है; **तस्य**—उस (यज्ञ) के; **मनः च**—मन; **वाक् च**—और वाणी; **वर्तनी**—(यज्ञ-प्रवर्त्तक) मार्ग हैं ॥१॥

यज्ञ के दो मार्ग कौन-से हैं ? यज्ञ में ब्रह्मा वाणी का प्रयोग नहीं करता, 'मन' द्वारा यज्ञ के मार्ग का संस्कार करता है; होता-अध्वर्यु-उद्‌गाता मन का प्रयोग नहीं करते, 'वाणी' द्वारा ऋचाओं का पाठ करते हैं। ठीक ऐसे सृष्टि-यज्ञ का, अर्थात् सृष्टि में हो रहे गति-रूप यज्ञ का कुछ लोग 'मन' के मार्ग द्वारा, और कुछ लोग 'वाणी' के मार्ग द्वारा अनुष्ठान करते हैं। जहां यज्ञ के प्रारंभ होने के बाद, और समाप्त होने से पूर्व, ब्रह्मा बोल पड़ता है—॥२॥

वहां वह अपने मार्ग को छोड़कर दूसरे ही मार्ग पर चल देता है, उसका अपना काम रह जाता है। सो, यह ऐसे ही है जैसे कोई व्यक्ति एक पांव से चलने लगे, या कोई रथ एक पहिये पर घूमने लगे। ऐसा करने वाला हानि उठाता है, ठीक ऐसे ही यज्ञ में ब्रह्मा

तयोरन्यतरां मनसा सँस्करोति ब्रह्मा। वाचा होताऽध्वर्युरुद्‌गाताऽन्यतराँ स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति ॥२॥

तयो—उन दोनों (मार्गों) में (से), अन्यतराम्—किसी को भी, मनसा—मन (चिन्तन) के द्वारा, संस्करोति—संस्कार (शुद्धि) करता है, ब्रह्मा—ब्रह्मा-नामक ऋत्विग् (और), वाचा—वाणी के द्वारा (स्पष्ट कह कर), होता, अध्वर्यु, उद्‌गाता—(त्रिवेदज्ञ) होता, अध्वर्यु, उद्‌गाता नामक तीनों ऋत्विक्, अन्यतराम्—किसी को भी, स—वह, यत्र—जहां (जिस समय), उपाकृते—प्रारम्भ करने पर, प्रातरनुवाके—प्रातरनुवाक नामी स्तुति-पाठ के, पुरा—पहिले; परिधानीयाया—(समाप्तिसूचक) परिधानीया (ऋचाओं) से, ब्रह्मा—ब्रह्मा (ऋत्विक्), व्यववदति—बोल पड़ता है (मौन तोड़ देता है, मनन छोड़ देता है) ॥२॥

अन्यतरामेव वर्तनीँ सँस्करोति हीयतेऽन्यतरा। यथैकपाद्
व्रजन् रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति।
यज्ञँ रिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति। स इष्ट्वा पापीयान्भवति ॥३॥

(उस बोलने से) अन्यतराम् एव—किसी एक ही, वर्तनीम्—मार्ग को; संस्करोति—संस्कृत कर देता है, हीयते—न्यून (त्रुटिपूर्ण) हो जाती है, अन्यतरा—कोई दूसरी, स—वह, यथा—जैसे, एकपाद्—एक पांव वाला (लंगड़ा), व्रजन्—चलता हुआ, रथ—रथ, वा—या, अथवा, एकेन—एक, चक्रेण—पहिये से, वर्तमान—चक्कर काटता हुआ, युक्त, रिष्यति—(लंगड़ा) दुःख पाता है, (रथ) आगे नहीं बढ़ पाता, एवम्—इस प्रकार, अस्य—इस

का 'मन' में सब बातों पर देख-रेख रखने के बजाय बोलने लगना हानि-कारक है। सृष्टि में हो रहे गति-रूप यज्ञ को भी मन से—ज्ञान से—चलाना जगत् के ब्रह्मा लोगों का काम है। वे ज्ञान के जगत् में विचरते हुए, सृष्टि की गति का संचालन करने के स्थान में, अगर बहुत वाग्विलास में पड़ेंगे, तो सृष्टि का रथ दो पहियों से एक पहिये पर घूमने लगेगा। ऐसा यज्ञ नष्ट हो जायगा, यज्ञ के नष्ट होने पर यजमान भी नष्ट हो ही जायगा, और यज्ञ करना भी एक पाप का ही साधन बनेगा ॥३॥

जहां यज्ञ के प्रारंभ होने के पीछे, और समाप्त होने के पूर्व, ब्रह्मा कुछ नहीं बोलता, वहां <u>'मन' का कार्य ब्रह्मा करता रहता है</u>, 'वाणी' का कार्य अध्वर्यु-होता-उद्गाता—ये तीन करते हैं, और इस प्रकार 'मन' तथा 'वाणी' ये दोनों मार्ग अपना-अपना कार्य करते हैं, किसी मार्ग को हानि नहीं पहुंचती ॥४॥

यह ऐसे ही है जैसे कोई व्यक्ति एक पांव के स्थान में दोनों से चले, या कोई रथ एक पहिये पर घूमने के बजाय दोनों पर

(यजमान) का; **यज्ञः**—यज्ञ; **रिष्यति**—नष्ट (फल-शून्य) हो जाता है; **यज्ञम्**—यज्ञ (के); **रिष्यन्तम्**—विनष्ट हो जाने पर; **यजमानः**—यज्ञकर्ता; **अनु रिष्यति**—(पीछे-पीछे) फल-शून्य हो जाता है; **सः**—वह; **इष्ट्वा**—(दोषपूर्ण) यज्ञ करके; **पापीयान्**—और अधिक पाप-भागी; **भवति**—हो जाता है ॥३॥

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदत्युभे एव वर्तनी संस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा ॥४॥

अथ—और; **यत्र**—जिस (यज्ञ) में; **उपाकृते प्रातरनुवाके**—प्रातरनुवाक के आरम्भ हो जाने पर; **न**—नहीं; **पुरा**—पहले; **परिधानीयायाः**—(अन्त में बोले जाने वाली) परिधानीया (ऋचाओं) से; **ब्रह्मा**—ब्रह्मा; **व्यववदति**—बोलता है, मौन तोड़ता है, मनन छोड़ता है; **उभे**—दोनों; **एव**—ही; **वर्तनी**—मार्गों (मन और वाणी) को; **संस्कुर्वन्ति**—(चारों ऋत्विग्) संस्कृत करते हैं; (तब) **न**—नहीं; **हीयते**—क्षीण होता है; **अन्यतरा**—कोई भी मार्ग ॥४॥

स यथोभयपाद् व्रजन् रथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति। यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनुप्रतितिष्ठति। स इष्ट्वा श्रेयान्भवति ॥५॥

घूमे। जैसे ये प्रतिष्ठित होते हैं, स्थिर होते हैं, वैसे जिस यज्ञ में 'मन' तथा 'वाणी' का ठीक-ठीक प्रयोग होता है, वह यज्ञ डगमगाता नहीं, और यजमान यज्ञ करके श्रेष्ठतर हो जाता है। सृष्टि में हो रहे गति-यज्ञ को स्थिर रखने के लिये 'मन' तथा 'वाणी' दोनों के प्रयोग की आवश्यकता है ॥५॥

('मन' में सकल्प करके उसे 'वाणी' द्वारा प्रकट करना ही यज्ञ है। 'मन' में विचार स्पष्ट न हो, और 'वाणी' द्वारा यूं ही बोलते जाना, यही हम-सब करते हैं, यह अयज्ञीय बात है। ऋषि ने यज्ञ के दृष्टांत से दिखलाया कि जैसे यज्ञ में 'मन' तथा 'वाणी' दोनों के प्रयोग से यज्ञ बनता है, ऐसे ही जीवन-रूपी यज्ञ में इन दोनों का समन्वय होना चाहिये। 'मन' तथा 'वाणी' के दो पहियों पर जीवन की गाड़ी ठीक चलती है—दोनों को साथ-साथ एक-दूसरे का सहायक बनकर चलना चाहिए, ऐसा न हो कि मन अलग चले, वाणी अलग चले। उपनिषदों में जो बाहर हो रहा है उसे भीतर दिखाने का प्रयत्न किया है। बाहर का यज्ञ भीतर हो रहे यज्ञ का प्रतीक है। बाहर के यज्ञ में ब्रह्मा यज्ञ कराता है, परन्तु वाणी से बोलता नहीं, अध्वर्यु वाणी से बोलते हैं, भीतर के प्राण-यज्ञ में ब्रह्मा का काम मन करता है, जो बोलता नहीं परन्तु काम वही चलाता है, अध्वर्यु-होता-उद्गाता का काम वाणी करती है। बाहर का यज्ञ तो भीतर के प्राण-यज्ञ का प्रतीक है—इस बात को इस उपनिषद् में स्पष्ट किया है।)

सः—वह, यथा—जैसे; उभयपाद्—दोनों पांव वाला; व्रजन्—चलता हुआ; रथः वा—या रथ; उभाभ्याम्—दोनों; चक्राभ्याम्—पहियों से; वर्तमानः—युक्त, चक्कर काटता हुआ, प्रतितिष्ठति—प्रतिष्ठित होता है, सफल होता है; एवम्—इस ही प्रकार; अस्य—इस (यजमान) का; यज्ञः—यज्ञ; प्रतितिष्ठति—सफल (पूर्ण) होता है, यज्ञम् प्रतितिष्ठन्तम्—यज्ञ के पूर्ण होने पर; यजमानः—यजमान भी; अनुप्रतितिष्ठति—सफलता प्राप्त करता है, प्रतिष्ठा पाता है; सः—वह (यजमान); इष्ट्वा—यज्ञ करके; श्रेयान्—अधिक श्रेष्ठ; भवति—हो जाता है ॥५॥

चतुर्थ प्रपाठक—(सत्रहवां खंड)

प्रजापति ने पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः—इन लोकों को तपाया। जब वे तपे, तो उनके रस निचोड़े—पृथिवी से 'अग्नि', अन्तरिक्ष से 'वायु' और द्यौः से 'आदित्य'—ये तीन देवता, अर्थात् ये तीन ऋषि ही रस हैं ॥१॥

इन तीनों देवताओं, अर्थात् इन तीनों ऋषियों को तपाया, जब वे तपे, तो उनके रस को निचोड़ा—अग्नि से 'ऋक्', वायु से 'यजु' और आदित्य से 'साम' हुआ ॥२॥

उसने ऋक्-यजु-साम नाम की त्रयी-विद्या को तपाया। वह तपी, तो उसका रस निचोड़ा—ऋक् से 'भूः', यजु से 'भुवः' और साम से 'स्वः'—ये तीन व्याहृतियां उत्पन्न हुईं ॥३॥

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानानां रसान्प्रा-
वृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः ॥१॥

प्रजापतिः—प्रजापति ने; लोकान्—लोकों को; अभ्यतपत्—तपाया; तेषाम्—उन; तप्यमानानाम्—तपाये हुए (लोकों) के; रसान्—रसों को, सार को; प्रावृहत्—खींच लिया, निकाला; अग्निम्—अग्नि को; पृथिव्याः—पृथिवी से; वायुम्—वायु को; अन्तरिक्षात्—अन्तरिक्ष से; आदित्यम्—सूर्य को; दिवः—द्यु-लोक से ॥१॥

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानां
रसान्प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात् ॥२॥

सः—उस (प्रजापति) ने; एताः—इन; तिस्रः—तीनों; देवताः—देवताओं को; अभ्यतपत्—तपाया; तासाम् तप्यमानानाम्—तपाई गई उन (देवताओं) के; रसान्—रसों को, सार को; प्रावृहत्—खींचा, निकाला; अग्नेः—अग्नि (देवता) से; ऋचः—ऋचाओं को; वायोः—वायु से; यजूंषि—यजुर् मंत्रों को; सामानि—साम-मंत्रों को; आदित्यात्—आदित्य (सूर्य) से ॥२॥

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान्प्रावृहद्
भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥३॥

सः—उस (प्रजापति) ने; एताम्—इस; त्रयीं विद्याम्—'ऋग्-यजुः-साम' रूप त्रयी विद्या को; अभ्यतपत्—तपाया; तस्याः तप्यमानायाः—तपाई हुई उस (त्रयी विद्या) के; रसान्—रसों को, सार को; प्रावृहत्—निकाला; भूः इति—'भूः' इसको; ऋग्भ्यः—ऋचाओं से; भुवः इति—'भुवः' इसको; यजुर्भ्यः—यजुः मन्त्रों से; स्वः इति—'स्वः' इसको; सामभ्यः—साम-मंत्रों से ॥३॥

यदि ऋचा-पाठ में होता से अशुद्धि हो जाय, तो गार्हपत्याग्नि में 'भूः स्वाहा'—कहकर आहुति दे दे। 'भूः' व्याहृति ऋग्वेद का ही तो रस है, इस प्रकार ऋचा के ही रस से, ऋचा के वीर्य से ऋचा-पाठ के घाव की मानो पूर्ति हो जाती है ॥४॥

यदि यजु-पाठ में अध्वर्यु से अशुद्धि हो जाय, तो दक्षिणाग्नि (अन्वाहार्यपचनाग्नि) में 'भुवः स्वाहा'—कहकर आहुति दे दे। 'भुवः' व्याहृति यजु का ही तो रस है, इस प्रकार यजु के ही रस से, यजु के वीर्य से यजु-पाठ के घाव की मानो पूर्ति हो जाती है ॥५॥

यदि साम-पाठ में उद्गाता से अशुद्धि हो जाय, तो आहवनीयाग्नि में 'स्वः स्वाहा'—कहकर आहुति देदे। 'स्वः' व्याहृति साम

तद्यदृक्तो रिष्येद् भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयादृचामेव
तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टं संदधाति ॥४॥

तद्—तो, यदि—अगर, ऋक्तः—ऋचा से (ऋचा सम्बन्धी); रिष्येत्—त्रुटि हो, भूः स्वाहा इति—'भू स्वाहा' इस मन्त्र से; गार्हपत्ये—गार्हपत्य अग्नि में, जुहुयात्—हवन करे, ऋचाम्—ऋचाओं के, एव—ही; तद्—उस, रसेन—सार से, ऋचाम्—ऋचाओं में, वीर्येण—ओज-बल से, ऋचाम्—ऋचाओं की, यज्ञस्य—यज्ञ की, विरिष्टम्—क्षति, त्रुटि को, संदधाति—जोड़ता है, पूरी करता है ॥४॥

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद् भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्य-
जुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टं संदधाति ॥५॥

अथ—और, यदि—अगर, यजुष्टः—यजु से (यजु सम्बन्धी), रिष्येत्—त्रुटि हो, भुवः स्वाहा इति—'भुव स्वाहा' इस मन्त्र से, दक्षिणाग्नौ—दक्षिणाग्नि में, जुहुयात्—हवन करे, यजुषाम्—यजु मन्त्रों के, एव—ही, तद्—उस, रसेन—रस (सार) से, यजुषाम् वीर्येण—यजु मन्त्रों के बल-ओज से, यजुषाम्—यजु मन्त्रों की, यज्ञस्य विरिष्टम्—यज्ञ की त्रुटि को, संदधाति—जोड़ता है, पूरी करता है ॥५॥

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्साम्नामेव
तद्रसेन साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्टं संदधाति ॥६॥

अथ यदि—और अगर, सामतः—साम-मन्त्रों से (साम-सम्बन्धी), रिष्येत्—त्रुटि हो; स्वः स्वाहा इति—'स्व स्वाहा' इस मन्त्र से, आहवनीये—आहवनीय-अग्नि में; जुहुयात्—हवन करे; साम्नाम् एव—साम-मन्त्रों के ही, तद्—उस; रसेन—रस (सार) से; साम्नाम् वीर्येण—साम-मन्त्रों के बल-वीर्य से; साम्नाम्—

का ही तो रस है, इस प्रकार साम के ही रस से, साम के वीर्य से साम-पाठ के घाव की मानो पूर्ति हो जाती है ॥६॥

सो, जिस प्रकार कोई लवण के द्वारा—टंक के द्वारा—सोने को सोने से जोड़ दे, चांदी को चांदी से, कलई को कलई से, सीसे को सीसे से, लोहे को लोहे से और लकड़ी को चमड़े से जोड़ दे ॥७॥

—इसी प्रकार, लोकों के रस देवता, देवताओं के रस त्रयी-विद्या, और त्रयी-विद्या के रस 'भूर्भुवः स्वः' से यज्ञ के घाव को—उसकी त्रुटि को—पूरा जाता है। जहां इस बात को जानने वाला ब्रह्मा होता है, वहां मानो यज्ञ का औषध पहले से मौजूद है ॥८॥

जहां इस बात को जानने वाला ब्रह्मा होता है, वहां यज्ञ 'उत्तराभिगामी', अर्थात् उत्तरोत्तर फल-प्रद होता है। इस प्रकार के ब्रह्मा

साम-मंत्रों की; यज्ञस्य—यज्ञ की; विरिष्टम्—त्रुटि को; संदधाति—जोड़ता है, पूरी करता है ॥६॥

तद्यथा लवणेन सुवर्णं संदध्यात्सुवर्णेन रजतं रजतेन
त्रपु त्रपुणा सीसं सीसेन लोहम् लोहेन दारु दारु चर्मणा ॥७॥

तद्—तो; यथा—जैसे; लवणेन—रासायनिक नमक से, टाँका आदि से; सुवर्णम्—सोने को; संदध्यात्—जोड़ देते हैं; सुवर्णेन—सोने से; रजतम्—चाँदी को; रजतेन—चाँदी से; त्रपु—राँगा को; त्रपुणा—राँग से; सीसम्—सीसे को; सीसेन—सीसे से; लोहम्—लोहे को; लोहेन—लोहे से; दारु—लकड़ी को; दारु—लकड़ी को (दो लकड़ियों को); चर्मणा—चमड़े से ॥७॥

एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य
विरिष्टं संदधाति। भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति ॥८॥

एवम्—इस ही प्रकार; एषाम्—इन (पृथिवी आदि); लोकानाम्—लोकों के; आसाम्—इन (अग्नि आदि); देवतानाम्—देवताओं के; अस्याः—इस (ऋग् आदि); त्रय्याः विद्यायाः—त्रयी विद्या (वेदों) के; वीर्येण—वीर्य (सार) से; यज्ञस्य—यज्ञ की; विरिष्टम्—त्रुटि (टूट-फूट) को; संदधाति—जोड़ देता है; ठीक कर देता है; भेषजकृतः—भेषज (उचित औषध, विधि-विधान, उपाय, उपचार) से किया हुआ; ह वै—निश्चय से; एव—ही; यज्ञः—यज्ञ (होता है); यत्र—जिस (यज्ञ) में; एवंविद्—इस प्रकार जाननेवाला; ब्रह्मा—ब्रह्मा (ऋत्विक्); भवति—होता है ॥८॥

एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवत्येवंविदं ह
वा एषा ब्रह्माणमनुगाथा यतो यत आवर्तते तत्तद्गच्छति ॥९॥

के लिये ही यह गाथा प्रसिद्ध है कि जहां-जहां से कोई लौटने लगता है वहां-वहां ही वह सहायता के लिये जा पहुंचता है ॥९॥

जैसे कुरु लोगों को उस इकले वीर ने घोड़ों से रक्षा की थी, वैसे मनन-शील ब्रह्मा यद्यपि अकेला ऋत्विक् होता है, तो भी वह यज्ञ की, यजमान की, और अन्य सभी ऋत्विजों की रक्षा करता है। इसलिये ऐसा जानने वाले को ही ब्रह्मा निर्वाचित करे, ऐसा न जानने वाले को नहीं, ऐसा न जानने वाले को नहीं ॥१०॥

एषः—यह; ह वै—ही; उदक्—उत्तर (उन्नति, उद्गति, उन्नत अवस्था); प्रवण—झुका हुआ, रुझानवाला; उदक्-प्रवणः—उत्तर (उच्च-से-उच्च स्थिति) की ओर रुखवाला (पहुंचानेवाला); यज्ञः—यज्ञ है; यत्र एवंविद् ब्रह्मा भवति—जिस (यज्ञ) में इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मा होता है, एवंविदम्—इस प्रकार जाननेवाले; ह वै— ही; एषा—यह, ब्रह्माणम् अनु—ब्रह्मा को लक्ष्य कर, ब्रह्मा के विषय में; गाथा—कथा, लोकोक्ति है, यतः यतः—जहाँ-जहाँ से, आवर्त्तते—(यज्ञ) लौट आता है (त्रुटि के कारण आगे नहीं बढ़ पाता), त्रुटिपूर्ण हो जाता है; तत्-तत्—उस-उस (त्रुटि के) स्थान को (पूर्ण करने के लिए), गच्छति—(ब्रह्मा ऋत्विक्) पहुंचता है (त्रुटि दूर कर देता है) ॥९॥

> मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरूनश्वाभिरक्षत्येवंविद्ध
> वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति।
> तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥१०॥

मानवः—मनन-शील, ब्रह्मा—ब्रह्मा: एव—ही, इकला, ऋत्विक्—ऋत्विक् (याजयिता); कुरून्—(यज्ञ में) कर्मशील—यजमान-होता-अध्वर्यु-उद्‌गाता आदि को; (जैसे) कुरून्—कुरु देश के योद्धाओं को; अश्वा—(सवारी की) घोड़ी; अभिरक्षति—चारों ओर से रक्षा करती है, (ऐसे ही) एवं विद्—इस प्रकार जाननेवाला; ह वै—निश्चय से, ब्रह्मा—ब्रह्मा, यज्ञम्—(सम्पूर्ण) यज्ञ को; यजमानम्—यज्ञ-कर्ता को, सर्वान् च—और सारे, ऋत्विजः—ऋत्विजों को (भी); अभिरक्षति—सर्वत्र रक्षा करता है (त्रुटि-क्षति नहीं होने देता); तस्माद्—इस कारण से, एवं विदम् एव—इस प्रकार जाननेवाले ही, ब्रह्माणम्—ब्रह्मा को; कुर्वीत—(यज्ञ में वरण) करे, न—नहीं, अनेवंविदम्—इससे अनभिज्ञ को; न अनेवंविदम्—जो ऐसे नहीं जानता उसको ब्रह्मा न वर ' कृ रे (द्विरुक्ति आदरार्थ, अध्याय-प्रपाठक-समाप्त्यर्थ है) ॥१०॥

पंचम प्रपाठक—(पहला खंड)

(प्राण तथा इन्द्रियों का विवाद—प्राण की तरह महान् बनने की प्रेरणा, १-२ खंड)

'प्राण' सब इन्द्रियों में 'ज्येष्ठ', अर्थात् सब से बड़ा, और 'श्रेष्ठ', अर्थात् सब से उत्तम है—जो ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ को जानता है, वह स्वयं भी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है ॥१॥

'वाणी' 'वसिष्ठ' है—सब-कुछ ढांप लेती है। चतुर-वाणी वाले की सब बातें ढक जाती हैं। जो वसिष्ठ को जानता है, वह अपनों में वसिष्ठ हो जाता है ॥२॥

'चक्षु' 'प्रतिष्ठा' है—आंखों से देखकर ही ऊंच-नीच से मनुष्य डांवांडोल नहीं होता। जो प्रतिष्ठा को जानता है, वह इस तथा उस लोक में प्रतिष्ठित हो जाता है ॥३॥

ॐ। यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै
श्रेष्ठश्च भवति। प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥१॥

ओ३म्—प्रभु ईश्वर का ओम्-नाम स्मरण कर; यः—जो; ह वै—ही; ज्येष्ठम् च—ज्येष्ठ (आयु में वृद्ध–बड़ा) को; श्रेष्ठम् च—और श्रेष्ठ (गुणों में प्रशस्यतम) को; वेद—जानता है; ज्येष्ठः च—ज्येष्ठ भी; श्रेष्ठः च—और श्रेष्ठ भी; भवति—हो जाता है; प्राणः—प्राण (श्वास-प्रश्वास); वा व—ही; ज्येष्ठः च—ज्येष्ठ; श्रेष्ठः च—और श्रेष्ठ (है) ॥१॥

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति वाग्वाव वसिष्ठः ॥२॥

यः ह वै—जो ही; वसिष्ठम्—वसिष्ठ (बसानेवाले, श्रेष्ठ वसु) को; वेद—जानता है; वसिष्ठः—बसानेवाला, निवास देनेवाला; स्वानाम्—अपने (सम्बन्धी आदियों) का; भवति—होता है; वाम्—वाणी; वा व—ही; वसिष्ठः—वसिष्ठ है ॥२॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिँश्च
लोकेऽमुष्मिँश्च चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥३॥

यः ह वै—जो ही; प्रतिष्ठाम्—प्रतिष्ठा (स्थिति) देनेवाली को; वेद—जानता है; ह—अवश्य; प्रतितिष्ठति—प्रतिष्ठा (आदर) पाता है, स्थान पाता है; अस्मिन् च लोके—इस लोक (पृथिवी लोक या इस जन्म) में; अमुष्मिन् च लोके—उस लोक (परलोक, पर-जन्म) में; चक्षुः—नेत्र; वा व—ही; प्रतिष्ठा—प्रतिष्ठा है ॥३॥

'श्रोत्र' 'संपद्' है—सुनने वाला ही कुछ कर सकता है। जो संपद् को जानता है, उसकी दैवी तथा मानुषी कामनाएं सम्पन्न होती हैं ॥४॥

'मन' 'आयतन' है—मन में सब इन्द्रियां ठहरी रहती हैं। जो आयतन को जानता है, वह अपनों का आयतन बन जाता है ॥५॥

एक बार प्राणों में, अर्थात् प्राण तथा इन्द्रियों में, विवाद उठ खड़ा हुआ कि उनमें सर्व-श्रेष्ठ कौन है? हर-एक कहने लगा, 'अहं श्रेयान्', 'अहं श्रेयान्'—मैं बड़ा हूं, मैं बड़ा हूं ॥६॥

वे प्राणि-जगत् के पिता 'प्रजापति' के पास गये और बोले, भगवन्! हम में कौन श्रेष्ठ है? प्रजापति ने उत्तर दिया, तुम में से

यो ह वै संपदं वेद सं हास्मै कामाः पद्यन्ते
दैवाश्च मानुषाश्च श्रोत्रं वाव संपत् ॥४॥

यः ह वै—जो तो, सपदम्—सपदा (समृद्धि) को, वेद—जानता है, ह—निश्चय ही, अस्मै—इसके लिए, कामाः—कामनाएँ, भोग, संपद्यन्ते—सम्पन्न होते है, पूरे होते है, दैवाः च—देवताओं (अग्नि आदि, विद्वान्) सम्बन्धी, मानुषाः च—और मनुष्यों के (भोग), श्रोत्रम्—कान (इन्द्रिय), वा व—ही; संपद्—सपद् है ॥४॥

यो ह वै आयतनं वेदायतनं ह स्वानां भवति। मनो ह वा आयतनम् ॥५॥

यः ह वै—जो तो, आयतनम्—आश्रय, आधार को, वेद—जानता है, आतयनम् ह—निश्चय ही आश्रय-(दाता), स्वानाम्—अपनों का, भवति—होता है, मनः—मन, ह वै—ही, आयतनम्—आश्रय (आधार)-दाता (है) ॥५॥

अथ ह प्राणा अहं श्रेयसि व्यूदिरेऽहं श्रेयानस्म्यहं श्रेयानस्मीति ॥६॥

अथ ह—इसके बाद, प्राणाः—(सामान्य) प्राण (इन्द्रियां-वाणी आदि), अहम् श्रेयसि—अहं श्रेयस् (अपने बड़प्पन) के विषय में, व्यूदिरे (वि + ऊदिरे)—विवाद करने लगे (कि), अहम्—मैं, श्रेयान्—सर्व-श्रेष्ठ, अस्मि—हूं, अहम् श्रेयान् अस्मि—मैं बड़ा हूं, इति—इस (रूप में) ॥६॥

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन्को नः श्रेष्ठ इति। तान्होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ॥७॥

ते ह—वे; प्राणाः—प्राण (मिलकर); प्रजापतिम् पितरम्—(अपने) पिता प्रजापति को; एत्य—पास जाकर, ऊचुः—बोले, भगवन्—हे आदरणीय पिता, कः—कौन, नः—हमारा (हममें से); श्रेष्ठः—सर्वश्रेष्ठ है, इति—यह (निवेदन किया); तान्—उनको; ह उवाच—(प्रजापति ने) कहा; यस्मिन् वः

जिसके निकल जाने पर शरीर अत्यन्त घृणित दीख पड़े, वही तुम म से श्रेष्ठ है ॥७॥

पहले वाणी बाहर निकल गई। साल भर बाहर रहकर लौटी और अन्य इन्द्रियों से बोली, मेरे बिना कैसे जीवन-निर्वाह हुआ? उन्होंने उत्तर दिया, जैसे गूंगे बिना बोले, प्राण द्वारा प्राण लेते, चक्षु द्वारा देखते, श्रोत्र से सुनते और मन से विचार करते हैं, ऐसे ही हम भी रहे। वाणी अपनी यथार्थता समझ गई, और शरीर में प्रविष्ट हो गई ॥८॥

फिर चक्षु बाहर निकल गये। साल भर बाहर रहकर लौटे, तो अन्य इन्द्रियों से बोले, हमारे बिना कैसे बीती? उन्होंने उत्तर दिया,

---

उत्क्रान्ते (वः यस्मिन् उत्क्रान्ते)—तुम में से जिसके निकल जाने पर; शरीरम् (तुम्हारा आधार) शरीर; पापिष्ठतरम्—अधिक पापी (बुरा, हीन); इव—(की) तरह; दृश्येत—दिखलाई पड़े; सः—वह; वः—तुम्हारा (तुम में); श्रेष्ठः—श्रेष्ठ है; इति—यह (निर्णय किया) ॥७॥

सा ह वागुच्चक्राम। सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति। यथाऽकला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति। प्रविवेश ह वाक् ॥८॥

सा ह—वह; वाग्—वाणी; उच्चक्राम—(शरीर से) बाहर हो गई, निकल गई; सा—वह (वाणी); संवत्सरम्—वर्षभर; प्रोष्य—प्रवास करके (बाहर रहकर); पर्येत्य (परि+एत्य)—लौट कर आकर; उवाच—बोली; कथम्—कैसे; अशकत—सके, समर्थ हुए; ऋते—बिना; मत्—मुझसे; जीवितुम्—जीने के लिए; (कथम् मद् ऋते जीवितुम् अशकत—मेरे बिना कैसे जी सके (जीवित रहे); इति—यह (वाणी ने पूछा); यथा—जैसे; अकलाः—गूंगे; अवदन्तः—न बोलते हुए (वाणी के व्यापार से रहित); प्राणन्तः—साँस लेते हुए; प्राणेन—प्राण (श्वास-प्रश्वास) द्वारा; पश्यन्तः—देखते हुए; चक्षुषा—नेत्र से; शृण्वन्तः—सुनते हुए; श्रोत्रेण—कान द्वारा; ध्यायन्तः—ध्यान (चिन्तन-मनन) करते हुए; मनसा—मन (अन्तःकरण) से (जीते हैं); एवम्—इस ही प्रकार (जीवित रहे); इति—यह (प्राणों ने बताया); प्रविवेश ह—(शरीर में) प्रविष्ट हो गई; वाक्—वाणी ॥८॥

चक्षुर्होच्चक्राम। तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति। यथाऽन्धाः अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति। प्रविवेश ह चक्षुः ॥९॥

जैसे अन्धे बिना देखे, प्राण द्वारा प्राण लेते, वाणी द्वारा बोलते, कानों द्वारा सुनते और मन द्वारा विचार करते हैं, ऐसे ही हम भी रहे। चक्षु अपनी यथार्थता समझ गये, और शरीर में प्रविष्ट हो गये ॥९॥

फिर श्रोत्र बाहर निकल गये। साल भर बाहर रहकर लौटे, तो अन्य इन्द्रियों से बोले, हमारे बिना कैसे जीवित रहे? उन्होंने उत्तर दिया, जैसे बहरे बिना सुने, प्राण द्वारा प्राण लेते, वाणी से बोलते, आंख से देखते और मन से विचार करते हैं, ऐसे ही हम भी रहे। श्रोत्र अपनी यथार्थता समझ गये, और शरीर में प्रविष्ट हो गये ॥१०॥

चक्षु ह—नेत्र भी, उच्चक्राम—निकला तत् सवत्सरम् प्रोष्य परिएत्य उवाच—वह (नेत्र) वर्ष भर बाहर रह कर, फिर लौट आकर बोला, कथम् मद् ऋते जीवितुम् अशकत—मेरे बिना कैसे जीवित रह सके, इति—यह (आंख ने पूछा), यथा—जैसे, अन्धा—अन्धे, अपश्यन्त—न देखते हुए (दृष्टि-हीन), प्राणेन प्राणन्त—प्राण से सांस लेते हुए, वाचा—वाणी से, वदन्त—बोलते हुए, श्रोत्रेण शृण्वन्त—कान से सुनते हुए, मनसा ध्यायन्त—मन से मनन चिन्तन करते हुए (जीते हैं), एवम्—ऐसे (हम जीवित रहे), इति—यह (अन्य इन्द्रिया ने) कहा, प्रविवेश ह चक्षु—आंख फिर (शरीर में) प्रविष्ट हो गई ॥९॥

श्रोत्रं होच्चक्राम। तत्सवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति। यथा बधिरा अशृण्वन्त प्राणन्त प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति। प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥१०॥

श्रोत्रम् ह—कान भी, उच्चक्राम—बाहर निकल गया, तत् सवत्सरम् प्रोष्य परि-+एत्य उवाच—वह (श्रोत्र) वर्षभर बाहर रह कर लौट कर बोला, मद् ऋते कथम् जीवितुम् अशकत—मेरे बिना कैसे जीवित रह सके, इति—यह (कान ने पूछा), बधिरा—बहरे, अशृण्वन्त—न सुनते हुए, प्राणेन प्राणन्त—प्राण से सांस लेते हुए, वाचा वदन्त—वाणी से बोलते हुए, चक्षुषा पश्यन्त—आंख से देखते हुए, मनसा ध्यायन्त—मन (अन्तःकरण) से मनन-चिन्तन-ध्यान करते हुए (जीते हैं), एवम्—इस प्रकार (हम जीवित रहे), इति—यह (अन्य इन्द्रियों ने कहा), प्रविवेश ह श्रोत्रम्—कान भी (शरीर में) प्रविष्ट हो गया ॥१०॥

फिर मन बाहर निकल गया। साल भर बाहर रह कर लौटा, तो अन्य इन्द्रियों से बोला, मेरे बिना कैसे बने रहे ? उन्होंने उत्तर दिया, जैसे बालक सोचते-विचारते नहीं, परन्तु प्राण से प्राण लेते, वाणी से बोलते, नेत्र से देखते और श्रोत्र से सुनते हैं, वैसे ही हम भी रहे। मन भी अपनी हैसियत समझ गया, और शरीर में प्रविष्ट हो गया ॥११॥

अब जब प्राण निकलने को उद्यत हुआ, तब उसने दूसरे प्राणों, अर्थात् इन्द्रियों को इस तरह उखाड़ दिया जैसे खूंटे से बंधा हुआ एक उत्तम घोड़ा दौड़ने लगे, तो खूंटों को उखाड़ फेंके। यह देख कर इन्द्रियां प्राण के निकट आकर बोलीं, भगवन् ! तुम फूलो-फलो, तुम्हीं हम सब में श्रेष्ठ हो, तुम यहां से मत जाओ ॥१२॥

मनो होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति। यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति । प्रविवेश ह मनः ॥११॥

मनः ह—मन भी; **उच्चक्राम**—(शरीर से) बाहर निकल गया; **तत् संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्य उवाच**—वह (मन) वर्ष भर बाहर रहकर लौट आकर बोला; **मद् ऋते कथम् जीवितुम् अशकत**—मेरे बिना कैसे जी सके ?; **इति**—यह (पूछा); **यथा**—जैसे; **बालाः**—बच्चे; **अमनसः**—मनन-शक्ति से रहित; **प्राणेन प्राणन्तः**—प्राण से साँस लेते हुए; **वाचा वदन्तः**—वाणी से बोलते हुए; **चक्षुषा पश्यन्तः**—आँख से देखते हुए; **श्रोत्रेण शृण्वन्तः**—कान से सुनते हुए (जीते हैं); **एवम्**—इस प्रकार (हम जीवित रह सके); **इति**—यह (अन्य इन्द्रियों ने उत्तर दिया); **प्रविवेश ह मनः**—(फिर) मन भी (शरीर में) प्रविष्ट हो गया ॥११॥

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्स यथा सुहयः पड्वीश-
शङ्कून्संखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत्तं हाभिसमे-
त्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति ॥१२॥

अथ ह—इसके बाद; **प्राणः**—प्राण ने भी; **उच्चिक्रमिषन्**—बाहर निकलना चाहा; **सः**—उस (प्राण) ने; **यथा**—जैसे; **सुहयः**—अच्छा (मज़बूत) घोड़ा; **पड्वीश-शंकून्**—पाद-बन्धन (पिछाड़ी) के खूंटों को, **संखिदेत्**—उखाड़ फेंके (उखाड़ डालता है); **एवम्**—इस प्रकार; **इतरान्**—(अपने से) भिन्न (अपान आदि); **प्राणान्**—प्राणों को या इन्द्रियों को; **समखिदत्**—उखाड़ दिया, हिला दिया; **तम् ह**—और उसको; **अभिसमेत्य**—ओर पास आकर; **ऊचुः**—

तब वाणी कहने लगी, मैं क्या वसिष्ठ हूं, तुम्हीं वसिष्ठ हो; चक्षु ने कहा, मैं क्या प्रतिष्ठा हूं, तुम्हीं प्रतिष्ठा हो ॥१३॥

श्रोत्र ने कहा, मैं क्या संपदा हूं, तुम्हीं संपदा हो; मन ने कहा, मैं क्या आयतन हूं, तुम्हीं आयतन हो ॥१४॥

इसीलिये इन्द्रियों को वाणी-नाम से नहीं पुकारते, चक्षु-नाम से, श्रोत्र-नाम से, मन-नाम से भी नहीं पुकारते, तभी इन सब इन्द्रियों को 'प्राण' ही नाम से पुकारते हैं क्योंकि वही ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है, वसिष्ठ है, संपदा है, आयतन है ॥१५॥

(वे प्राण) बोले, भगवन्—हे भगवन् (प्राण)!, एधि—(यहां ही) रहो (मत निकलो); त्वम् नः श्रेष्ठः असि—तू ही हममें श्रेष्ठ है, मा—मत, उत्क्रमी—बाहर निकल, इति—यह (प्राणों ने कहा) ॥१२॥

अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठाऽसीति ॥१३॥

अथ ह—इसके बाद, एनम्—इस (प्राण) को, वाग् उवाच—वाणी बोली; यद् अहम्—जो मैं, वसिष्ठः—श्रेष्ठ वसु या बसानेवाली, अस्मि—हूं (तो), त्वम्—तू, तद्-वसिष्ठः—उस (वाणी) को भी बसानेवाला, असि—है, इति—यह (वाणी ने कहा), अथ ह एनम् चक्षुः उवाच—इसके बाद इस (प्राण) को नेत्र ने कहा, यद् अहम्—जो मैं (वाणी), प्रतिष्ठा अस्मि—प्रतिष्ठा हूं (तो); त्वम्—तू, तत्-प्रतिष्ठा असि—उस (मुझ वाणी) को भी प्रतिष्ठित करनेवाला है ॥१३॥

अथ हैनं श्रोत्रमुवाच यदहं संपदस्मि त्वं तत्संपदसीत्यथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति ॥१४॥

अथ ह एनम् श्रोत्रम् उवाच—इसके बाद इस (प्राण) को कान ने कहा, यद् अहम् संपद् अस्मि—जो मैं (कान) सपद् हूं (तो), त्वम्—तू, तत्-संपद्—उस (कान) की भी सपद्, असि—है, इति—यह (कान ने कहा), अथ ह एनम् मनः उवाच—इसके बाद इस (प्राण) को मन बोला, यद् अहम् आयतनम् अस्मि—जो मैं आयतन हूं (तो), त्वम्—तू, तद्-आयतनम्—उस (मन) का भी आयतन (आधार), असि—है, इति—यह (मन ने कहा) ॥१४॥

न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते। प्राणा इत्येवाचक्षते। प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति ॥१५॥

न वै—न तो (इन्हें क्रम से) वाच—वाणियां, न चक्षूंषि—न नेत्र, न श्रोत्राणि—न कान, न मनांसि—न मन, इति—इन (नामों से), आचक्षते—

(यह कथा बृहदारण्यक ६ष्ठ अध्याय १म ब्राह्मण में भी लग-भग इन्हीं शब्दों में पाई जाती है ।)

पंचम प्रपाठक—(दूसरा खंड)

(मंथ-रहस्य)

प्राण ने इन्द्रियों से कहा, मेरा अन्न क्या होगा ? इन्द्रियों ने उत्तर दिया, कुत्ते से लेकर पक्षियों तक सब का जो अन्न है, वही तेरा अन्न होगा । 'अन' शब्द से ही 'अन्न' बना है—'अन' का अर्थ है 'प्राण' । जो 'अन', अर्थात् प्राण-शक्ति देता है, वह 'अन्न' है । 'अन' से 'अन्न' बनता है, यह तो प्रत्यक्ष है । जो यह जानता है उसके लिये कोई वस्तु 'अनन्न' नहीं होती, 'अनन्न', अर्थात् 'अन्न' न होना, उसके लिये सब जगह अन्न-ही-अन्न, अर्थात् जीवन-ही-जीवन हो जाता है ॥१॥

फिर प्राणों ने इन्द्रियों से कहा, मेरा वस्त्र—ओढ़ना—क्या होगा ? इन्द्रियों ने उत्तर दिया, जल । तभी खाना खाने से पहले

कहते हैं; प्राणाः—प्राण; इति एव—इस (नाम से) ही; आचक्षते—कहते हैं; प्राणः—प्राण; हि एव—ही; एतानि—ये; सर्वाणि—सब (इन्द्रियां); भवति—हो जाता है ॥१५॥

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति । यत्किंचिदिदमाश्वभ्य
आशकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतदनस्यान्नमनो ह वै
नाम प्रत्यक्षं, न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवतीति ॥१॥

सः ह—उस (प्राण) ने; उवाच—कहा; किम्—क्या; मे—मेरा; अन्नम्—भक्ष्य अन्न; भविष्यति—होगा; इति—यह (कहा); यत्—जो; किंचिद्—कुछ; इदम्—यह (अन्न); आ श्वभ्यः—कुत्तों तक के लिए; आ शकुनिभ्यः—पक्षियों तक के लिए (अर्थात् जो छोटे-बड़े प्राणियों के लिए अन्न है); इति ह—यह; ऊचुः—(उन इन्द्रियों ने) कहा; तद् वै—वह ही; एतद्—यह; अनस्य—प्राण का; अन्नम्—अन्न है; अनः—'अनः'; ह वै—ही; नाम—नाम; प्रत्यक्षम्—स्पष्ट विदित है; न ह वै—नहीं ही; एवं विदि—इस प्रकार जाननेवाले में (के लिए); किंचन—कुछ भी, तनिक भी; अनन्नम्—अन्न का अभाव (कमी); भवति—होता है; इति—यह (निश्चित है) ॥१॥

स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचु-
स्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः
परिदधति । लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति ॥२॥

और पीछे जल-पान करते हैं। यह जल-पान मानो प्राण को वस्त्र पहनाना है। जो ऐसा करता है वह वस्त्र-लाभ करता है और कभी नग्न नहीं होता ॥२॥

(इस प्रकार प्राण-रक्षा के लिये अन्न तथा जल दोनो आवश्यक हैं।)

यह रहस्य सत्यकाम जाबाल ने व्याघ्रपद के वंशज गोश्रुति को देकर कहा, यदि यह उपदेश सूखे पेड को भी दिया जाय, तो उसमें भी शाखाएं निकल आवें, और पत्ते फूट निकलें। (इस प्राण-विद्या के ज्ञान से श्रद्धा-हीन व्यक्ति के जीवन में भी प्रभु-भक्ति की सरसता फूट पडती है—यही अभिप्राय है।) ॥३॥

(नीचे जो स्थल है यह कुछ विस्तार से वृहदारण्यक ६ अध्याय ३य ब्राह्मण मे भी आता है।)

स ह—उस (प्राण) ने, उवाच—कहा, किम्—क्या, मे—मेरा, वास—आच्छादन, वस्त्र, भविष्यति—होगा, इति—यह (कहा) आपः—जल, इति ह—(वस्त्र होगा) यह बात, ऊचुः—(इन्द्रियां ने) कही तस्माद् वै—उस कारण से ही, एतद्—इस (अन्न) को, अशिष्यन्त—खाना आरम्भ करते हुए, पुरस्तात्—(भाजन मे) पहले उपरिष्टात् च—और (भाजन के) बाद, अद्भिः—जलों से, परिदधति—ढक देते हैं आच्छादित कर देते हैं (तब वह प्राण), लम्भुक—प्राप्तकर्ता ह—ही वास—कपडे का (का) भवति—हो जाता है, अनग्न—न नंगा (कपडे पहिने), भवति—हो जाता है ॥२॥

तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायोक्त्वोवाच यद्यप्येनच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥३॥

तद् ह—उस, एतत्—इस (ज्ञान, विद्या) को, सत्यकाम—सत्यकाम ने, जाबाल—जबाला के पुत्र, गोश्रुतये—गोश्रुति-नामक को वैयाघ्रपद्याय—व्याघ्रपद के पुत्र, उक्त्वा—कहकर, उपदेश कर उवाच—कहा था, यदि अपि—अगर, एनत्—इस (विज्ञान) को, शुष्काय—सूखे, स्थाणवे—ठूंठ को, ब्रूयात्—कहा जावे (तो), जायेरन्—पैदा हो जावें, एव—ही, अस्मिन्—इस में, शाखा—शाखायें, प्ररोहेयु—जम आवें, खिल जावें, पलाशानि—पत्ते, इति—यह (वचन कहा था) ॥३॥

यदि कोई 'महत्त्व' को पाना चाहे, तो अमावस्या की रात में जब और कुछ दिखाई न दे—अपना संकल्प-ही-संकल्प दिखाई दे—दीक्षा ग्रहण करे। फिर उसी मास की पूर्णमासी को, उस समय जब वह संकल्प मानो घोर-अन्धकार से पूर्ण-प्रकाश में विकसित हो उठे, सब ओषधियों (सर्वौषध) के रस को दधि तथा मधु के साथ मथ ले, और उसे एक तरफ़ रख दे। इसी को 'मन्थ' कहते हैं, मथा हुआ होने के कारण 'मन्थ'। फिर प्राण की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने वाले—'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा'—इस वाक्य का उच्चारण करके अग्नि में आज्य (घृत) की आहुति दे, और 'सर्वौषध रस'–'दधि'–'मधु' का जो 'मन्थ' रखा था, उसमें स्रुवे से चू रहा घृत टपका दे ॥४॥

फिर, 'वसिष्ठाय स्वाहा'—'प्रतिष्ठायै स्वाहा'—'संपदे स्वाहा'—'आयतनाय स्वाहा'—प्राण की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने वाले वाक्यों का उच्चारण करके आज्य की आहुति दे, और उसी 'मन्थ' में स्रुवे से चू-रहा घृत टपका दे ॥५॥

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्यां रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥४॥

अथ यदि—और अगर; महत्—बड़प्पन को; जिगमिषेत्—जाना चाहे, प्राप्त करना चाहे; अमावस्यायाम्—अमावस्या के दिन; दीक्षित्वा—दीक्षित होकर, दीक्षा लेकर; पौर्णमास्याम् रात्रौ—पौर्णमासी रात्रि में; सर्व-औषधस्य—सब ओषधियों के; मन्थम्—पिसी हुई लुगदी को; दधि-मधुनोः—दही और शहद में; उपमथ्य—भली प्रकार मथ कर; ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा—'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा'; इति—इस मंत्र से (बोलकर); अग्नौ—अग्नि में; आज्यस्य—घी की; हुत्वा—आहुति देकर; मन्थे—उपरोक्त मन्थ में; संपातम्—गिरती बूंद को; अवनयेत्—नीचे गिरा दे; टपका दे ॥४॥

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्संपदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेद् आयतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥५॥

वसिष्ठाय स्वाहा—'वसिष्ठाय स्वाहा'; इति—इस मंत्र से; अग्नौ आज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातम् अवनयेत्—अग्नि में घी की आहुति देकर मन्थ में गिरती

इसके बाद अग्नि के समीप सरक कर 'मन्थ' को अंजलि में लेकर जप करे—हे प्राण ! तेरा नाम 'अम' है—यह जो-कुछ है, वह तेरी 'अमा' है—'अम' की शक्ति 'अमा' हुई—'अ-मा', अर्थात् जिसे मापा नहीं जा सकता, अपरिमेय ! हे प्राण, आप ज्येष्ठ हो, श्रेष्ठ हो, राजा हो, अधिपति हो—आप मुझे ज्येष्ठता, श्रेष्ठता, राज्य तथा आधिपत्य प्राप्त करायें—मैं यह सब-कुछ हो जाऊं, ज्येष्ठ हो जाऊं, श्रेष्ठ हो जाऊं, राजा और अधिपति हो जाऊं ॥६॥

इसके बाद इस ऋचा से क्रमपूर्वक मन्थ का आचमन करे—'तत्सवितुर्वृणीमहे'—'हम उस प्राण-रूप सविता के गुणों को वरते हैं'—यह बोल कर आचमन करे। फिर, 'वय देवस्य भोजनम्'—

बूंद को टपका दे, प्रतिष्ठायै स्वाहा इति —प्रतिष्ठायै स्वहा, इस मंत्र से , सम्पदे स्वाहा इति —'सम्पदे स्वाहा' यह मंत्र बोल कर , आयतनाय स्वाहा इति —'आयतनाय स्वाहा' इस मंत्र से ॥५॥

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपत्यमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदं स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यं श्रैष्ठ्यं राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदं सर्वमसानीति ॥६॥

अथ—इसके बाद, प्रतिसृप्य—(अग्नि के समीप) सरक कर, अञ्जलौ—अंजलि में, मन्थम्—मन्थ को, आधाय—रखकर, लेकर, जपति—(अगले मंत्र में) जप करता है, उच्चारण करता है, अम—अम (निर्मर्याद, निःसीम, सब के समीप, सर्वव्यापक), नाम—नामवाला, असि—तू है, अमा—समीप, हि—ही, ते—तेरे, सर्वम् इदम्—यह सब कुछ, स हि—वह (तू) ज्येष्ठः—आयु में सब से बड़ा, श्रेष्ठः—सर्वश्रेष्ठ, राजा+अधिपतिः—राजा और शासक है, सः—वह (तू), मा—मुझ को, ज्यैष्ठ्यम्—ज्येष्ठता (आयु की वृद्धि), श्रैष्ठ्यम्—श्रेष्ठता (गुणों में वृद्धि), राज्यम्—राज्य, आधिपत्यम्—शासन, गमयतु—प्राप्त करा, प्रदान कर, अहम् एव—मैं भी, इदम् सर्वम्—यह सब कुछ, असानि—हो जाऊं (इन गुणों—विशेषताओं से युक्त हो जाऊं), इति—इस (मंत्र का जप करे) ॥६॥

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति, तत्सवितुर्वृणीमह इत्याचामति, वयं देवस्य भोजनमित्याचामति, श्रेष्ठं सर्वधातममित्याचामति, तुरं भगस्य धीमहीति सर्वं पिबति ॥७॥

अथ खलु—तत्पश्चात्, एतया—इस, ऋचा—ऋचा से, पच्छः—एक-एक पाद से क्रमपूर्वक, आचामति—आचमन करता है, खाता है, तत्—उस

'हम उस प्राण-देव के भोजन का वरण करते हैं'—यह कह कर आचमन करे। फिर, 'श्रेष्ठं सर्वधातमम्'—'श्रेष्ठ और सबको धारण करने वाले संकल्प का धारण करते हैं'—यह कह कर आचमन करे। फिर, 'तुरं भगस्य धीमहि'—'हम भगवान् के तेजोमय रूप का ध्यान करते हैं'—यह कह कर सारा मन्थ पी जाय ॥७॥

(इस सम्पूर्ण स्थल का अभिप्राय यह है कि 'ज्येष्ठ'-'श्रेष्ठ'-'वसिष्ठ'-प्रतिष्ठा'-'सम्पद्'-'आयतन' बनने के संकल्प-रूपी बीज को निराशा-रूप अमावस की घोर निशा में बो दे। अर्थात्, ऐसे समय में इनका बीज मन में बोयें, जब इनकी कोई आशा ही न दिखाई देती हो। इस प्रकार 'ज्येष्ठ' आदि होने के बीज को अंकुरित करके खिला दे, ऐसे जैसे पूर्णमासी की चांदनी छिटकती है। फिर स्थावर (औषध), जंगम (दधि), तथा विहंगम (मधु) के सार-तत्त्व को लेकर उनमें प्राण की भावना करे, यह सोचें कि स्थावर-जगत् मुझे महानता की तरफ़ ले जा रहा है, जंगम-जगत् मुझे महानता की तरफ़ ले जा रहा है, विहंगम-जगत् मुझे महानता की तरफ़ ले जा रहा है। ये भावनाएं औषध-दधि-मधु में करता हुआ इन सबका 'मन्थ' बनाकर मन्त्रों का जाप करके उसे पी जाय, इस प्रकार ऊंची भावनाओं से भावित किये हुए मन्थ का पान करने से संकल्प दृढ़ होता है, और महान् बनने की इच्छा वाला स्वयं महान् हो जाता है।)

इसके पश्चात् कंस-पात्र और चमस को धोकर रख दे, और

(तेज) को; **सवितुः**—जगत्प्रेरक, जगद्रचयिता के; **वृणीमहे**—वरण करते हैं, अपने अन्दर धारण करते हैं; **इति**—ऐसा (बोलकर); **आचामति**—पीता है, खा लेता है; **वयम्**—हम; **देवस्य**—दिव्य-गुण वाले, सर्वप्रकाशक के; **भोजनम्**—भोज्य-पदार्थ को; **इति**—ऐसा (बोलकर); **आचामति**—पी लेता है, खाता है; **श्रेष्ठम्**—सर्वथा कल्याणकर, सर्वोत्तम; **सर्वधातमम्**—सब को धारण करने वालों में श्रेष्ठ को; **इति**—ऐसा बोल कर; **आचामति**—खा-पी लेता है; **तुरम्**—गति देनेवाले तेज को; **भगस्य**—सब ऐश्वर्यों के स्वामी के; **धीमहि**—हम ध्यान करें, हम धारण करें; **इति**—ऐसे बोल कर; **सर्वम्**—सारे को; **पिबति**—पी जाता है ॥७॥

निर्णिज्य कंसं चमसं वा पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा वाचंयमोऽप्रसाहः स यदि स्त्रियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात् ॥८॥

अग्नि-कुण्ड के पीछे चर्म पर या भूमि पर बैठ जाय। वाणी का संयम करके, काम-क्रोधादि पर विजय पा कर सो जाय, और यदि स्वप्न में स्त्री के दर्शन करे—स्त्री-रूपा मातृ-शक्ति के दर्शन करे—तो समझे कि काम सफल हुआ ॥८॥

इस विषय में एक श्लोक भी है—'जब अभीष्ट कार्यों के समय स्वप्न में स्त्री को—स्त्री-रूपा मातृ-शक्ति को—देखे, तो समझ ले कि मातृ-शक्ति का आशीर्वाद मिला, समृद्धि होगी, ऐसा स्वप्न देखने पर, ऐसा स्वप्न देखने पर ॥९॥

पंचम प्रपाठक—(तीसरा खंड)

(श्वेतकेतु तथा राजा जैवलि प्रवाहण के पांच प्रश्न, ३ से १० खंड)

एक समय आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु पंचाल-देश के क्षत्रियों की समिति में आया। उसे जैवलि प्रवाहण (छा० १-८-१ में भी इस

निर्णिज्य—साफ करके, कंसम्—कांस्य पात्र को, चमसम् वा—और चमचे को, पश्चात्—पश्चिम की ओर, अग्नेः—अग्नि के, संविशति—शयन करता है, चर्मणि वा—चर्म (मृग-चर्म) पर, स्थण्डिले वा—या मट्टी के चबूतरे पर, वाक्यंयमः—वाणी का संयमी, चुप, अप्रसाहः—राग-द्वेष से अनभिभूत, उद्वेग से शून्य, सोत्साह, सः—वह, यदि—अगर, स्त्रियम्—स्त्री को, पश्येत्—(स्वप्न में) देखे (तो), समृद्धम्—भली प्रकार सम्पन्न, सफल, समृद्धि-प्रद हुआ है, कर्म—यज्ञ-क्रिया, इति—ऐसे, विद्यात्—जाने, समझे ॥८॥

तदेष श्लोकः। यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने तस्मिन्स्वप्ननिदर्शन इति ॥९॥

तद्—तो, एषः—(इस विषय में) यह, श्लोकः—पद्यमय उक्ति है, यदा—जब, कर्मसु—कर्मों में, काम्येषु—कामना की सिद्धि के लिए किये गये, स्त्रियम्—स्त्री को, स्वप्नेषु—सपनों में, पश्यति—देखता है, समृद्धिम्—समृद्धि को, सफलता को, ऐश्वर्य को, तत्र—उस (कर्म) में, जानीयात्—जाने; तस्मिन्—उस, स्वप्न-निदर्शने—स्वप्न के दीखने पर, तस्मिन् स्वप्न-निदर्शने—उस स्वप्न के दीखने पर ॥९॥

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानां समितिमेयाय। तं ह प्रवाहणो
जैवलिरुवाच, कुमारानु त्वाऽशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति ॥१॥

श्वेतकेतुः ह—श्वेतकेतु-नामी, आरुणेयः—अरुणवंशी, पञ्चालानाम्

राजा का वर्णन है) ने पूछा, कुमार ! क्या तुम अपने पिता से शिक्षा पा चुके ? श्वेतकेतु ने उत्तर दिया, हां, भगवन् ! ॥१॥

जैबलि ने पूछा, (१) क्या तुम्हें मालूम है कि मर कर मनुष्य यहां से कहां जाता है ? कुमार ने उत्तर दिया, भगवन् ! मैं नहीं जानता । (२) क्या तुम्हें मालूम है कि लौटकर कैसे आते हैं ? उसने उत्तर दिया, भगवन् ! मैं नहीं जानता । (३) क्या तुम्हें मालूम है कि 'देवयान' और 'पितृयाण' के मार्ग कहां अलग-अलग होते हैं ? उसने उत्तर दिया, भगवन् ! मैं नहीं जानता ॥२॥

राजा ने आगे पूछा, (४) क्या तुम्हें मालूम है कि इतने प्राणियों के मरते रहने पर भी वह लोक भर क्यों नहीं जाता ?

—पंचाल देश की; **समितिम्**—सभा को (में); **एयाय**—आया, उपस्थित हुआ; **तम् ह**—उसको; **प्रवाहणः**—प्रवाहण (नामी) ने; **जैबलिः**—जीवल के पुत्र; **उवाच**—कहा (पूछा); **कुमार**—हे कुमार !; **त्वा**—तुझको, **अनु+अशिषत्**—शिक्षित किया है, शिक्षा दी है; **पिता**—(तेरे) पिता ने; **इति**—यह (बात पूछी); **अनु (अशिषत्)**—शिक्षा दी है; **हि**—ही; **भगवः**—हे भगवन्; **इति**—यह (श्वेतकेतु ने बताया) ॥१॥

वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति । न भगव इति । वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त ३ इति । न भगव इति । वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति । न भगव इति ॥२॥

वेत्थ—(क्या तू) जानता है; **यद्**—जो, जैसे; **इतः**—यहां से इस लोक से; **अधि**—ऊपर की ओर, परलोक में; **प्रजाः**—प्रजाएं (प्राणी); **प्रयन्ति**—जाती हैं; **इति**—यह (प्रथम बात); **न भगवः**—नहीं भगवन् !; **इति**—यह (उत्तर में कहा); **वेत्थ**—(क्या तू) जानता है; **यथा**—जैसे; **पुनः**—फिर; **आवर्तन्ते**—लौट आती हैं; **इति**—(यह दूसरी बात तू क्या जानता है); **न भगवः**—हे भगवन् नहीं (मैं जानता); **इति**—ऐसे (कहा); **वेत्थ**—(क्या तू) जानता है; **पथोः**—मार्गों के; **देवयानस्य**—देवयान के; **पितृयाणस्य च**—और पितृयाण के; **व्यावर्तना**—फटना, अलग होना, अन्तर; **इति**—यह (तीसरी बात); **न भगवः इति**—हे भगवन् नहीं (जानता), यह (कहा) ॥२॥

वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यत ३ इति । न भगव इति । वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति । नैव भगव इति ॥३॥

वेत्थ—जानता है; **यथा**—जैसे; **असौ**—यह; **लोकः**—ऊर्ध्व-लोक, परलोक; **न**—नहीं; **संपूर्यते**—(जीवात्माओं से) भर जाता है; **इति**—यह (चौथी

उसने उत्तर दिया, भगवन् ! मैं नहीं जानता । (५) क्या तुम्हें मालूम है कि 'जल' पांचवी आहुति में जाकर किस प्रकार 'पुरुष' बनकर बोलने लगते हैं ? उसने उत्तर दिया, भगवन् मैं नहीं जानता ॥३॥

तब राजा ने कहा, तो तूने कैसे कह दिया था कि तू शिक्षा ग्रहण कर चुका ? जो इन बातों को नहीं जानता वह कैसे कह सकता है कि उसने शिक्षा ग्रहण कर ली ? श्वेतकेतु ने अपने को परास्त अनुभव किया, वह पिता के घर लौट आया, और उसे कहा—आपने मुझे बिना पूरी शिक्षा दिये ही कह दिया कि तुझे सब सिखा दिया ॥४॥

उस 'क्षत्रिय-बन्धु', अर्थात् कुक्षत्रिय ने मुझ से पांच प्रश्न पूछे,

---

बात); न भगव—हे भगवन् नहीं (मैं जानता), इति—यह कहा, वेत्थ—(क्या तू) जानता है, यथा—जैसे, पञ्चम्याम्—पांचवीं, आहुतौ—आहुति दिये जाने पर, आप—जल, पुरुषवचस—पुरुष की वाणी वाले अर्थात् सशरीरी जीव, भवन्ति—हो जाते है, इति—यह (पांचवीं बात), न एव—नहीं ही, भगव—हे भगवन्, इति—यह (उत्तर दिया) ॥३॥

अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा, यो हीमानि न विद्यात्कथं सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति । स हाऽऽयस्तः पितुरर्धमेयाय तं होवाचाऽननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाऽशिषमिति ॥४॥

अथ—तो फिर, किम्—किस आधार पर, कैसे, क्यों, अनुशिष्ट—(मैं पिता द्वारा) शिक्षित हूं, अवोचथा—तूने कहा था, य हि—जो, इमानि—इन (पांच बातों) को, न विद्यात्—न जाने, कथम्—कैसे, क्योंकर, स—वह, अनुशिष्टः—(अपने को) शिक्षित, ब्रुवीत—कहे, इति—यह (सुन कर), स ह—वह, आयस्तः—दुःखी हुआ, पितु—(अपने) पिता के, अर्धम्—पास, एयाय—आया, पहुंचा, तम् ह—उस (पिता) को, उवाच—बोला, अननुशिष्य—शिक्षा (उपदेश) न देकर, वाव किल—ही, मा—मुझको, भगवान्—पूजनीय आपने, अब्रवीत्—कह दिया (कि), त्वा—तुमको, अनु+अशिषम्—मैंने उपदेश (शिक्षा) दिया, इति—ऐसे ॥४॥

पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां नैकंचनाशकं विवक्तुमिति । स होवाच यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाऽहमेषां नैकंचन वेद । यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यमिति ॥५॥

मैं उनमें से एक का भी तो उत्तर न दे सका। पिता ने पूछा, वे प्रश्न क्या थे ? प्रश्नों को सुनकर उसने कहा कि जैसे ये प्रश्न तूने मुझे सुनाये हैं, मैं भी इनमें से किसी का उत्तर नहीं जानता। अगर मैं इनका उत्तर जानता होता, तो तुझे क्यों न बतलाता ? ॥५॥

श्वेतकेतु का पिता गौतम स्वयं राजा के पास पहुंचा। राजा ने उसकी पूजा की। प्रातःकाल जब राजा सभा में गया, तो गौतम भी वहां पहुंचा। राजा ने कहा, भगवन् ! गौतम ! कोई मानुष-धन

पञ्च—पाँच; मा—मुझको (से); राजन्यबन्धुः—(कु)क्षत्रिय-पुत्र ने; प्रश्नान्—प्रश्नों को; अप्राक्षीत्—पूछा; तेषाम्—उनमें के; न—नहीं; एकंचन—एक को भी; अशकम्—समर्थ हुआ; विवक्तुम्—विवेचन करना, उत्तर देना; (विवक्तुम् न अशकम्—उत्तर न दे सका); इति—यह (श्वेतकेतु ने कहा); स ह—उस (पिता आरुणि) ने; उवाच—कहा; यथा—जैसा; मा—मुझको; त्वम्—तूने; तद्+एतान्—उन-इन (प्रश्नों) को, अवदः—बताया है, वर्णन किया है; यथा—जैसे; अहम्—मैं (स्वयम्); एषाम्—इनमें के; न—नहीं; एकञ्चन—किसी एक को भी; वेद—जानता हूं; यदि—अगर; अहम्—मैं; इमान्—इन (प्रश्नों के उत्तर) को; अवेदिष्यम्—जानता होता; कथम्—कैसे, क्यों; ते—तुझे; न—नहीं; अवक्ष्यम्—कहता, उपदेश देता; इति—यह (आरुणि ने कहा) ॥५॥

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय। तस्मै ह प्राप्तायार्हां चकार। स ह प्रातः सभाग उदेयाय। तं होवाच मानुषस्य भगवन्गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति। स होवाच तवैव राजन्मानुषं वित्तम्। यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति। स ह कृच्छ्री बभूव ॥६॥

स ह गौतमः—वह गौतम गोत्री (आरुणि); राज्ञः—राजा के; अर्धम्—पास, घर; एयाय—आया, पहुंचा; तस्मै ह—उसके लिए (का); प्राप्ताय—आये हुए; अर्हांचकार—(राजा ने) स्वागत-सत्कार किया; स ह—और वह (राजा); प्रातः—(अगले दिन) प्रातःकाल में; सभागः—सभा में गया हुआ (उपस्थित); उदेयाय—(गौतम के लिए आदरार्थ) उठ खड़ा हुआ; तम् ह—उस (गौतम) को; उवाच—बोला; मानुषस्य—मनुष्य-सम्बन्धी; भगवन् गौतम—आदरणीय गौतम !; वित्तस्य—धन का; वरम्—वर; वृणीथाः—वरण कर, माँग; इति—यह (कहा); सह—उस (गौतम) ने; उवाच—कहा; तव एव—तेरा ही; राजन्—हे राजा !; मानुषम्+वित्तम्—मनुष्यों का धन (रहे, हो); याम् एव—जिस ही; कुमारस्य—कुमार (श्वेतकेतु) के; अन्ते—पास में

मांग लो ! गौतम ने उत्तर दिया, राजन् ! मानुष-धन तो आप अपने पास रखो, मेरे पुत्र कुमार श्वेतकेतु से जो प्रश्न आपने किये थे, मुझे तो उन्हीं का उत्तर दीजिये ॥६॥



श्वेतकेतु का पिता गौतम राजा जैवलि प्रवाहण के पास ब्रह्म-विद्या के लिये पहुंचा

(सामने), वाचम्—वाणी को; अभाषथाः—कहा था (प्रश्न किये थे), ताम् एव—उस ही (वाणी) को; मे—मुझे; ब्रूहि—कह, बता, इति—यह (निवेदन किया); सः ह—(यह सुन कर) वह (राजा), कृच्छ्री बभूव—दुःखी हुआ, असमंजस में पड गया ॥६॥

यह सुनकर राजा असमंजस में पड़ गया। सोच-विचार कर उसने आज्ञा दी कि कुछ काल तक यहीं मेरे पास रहो। फिर, राजा ने गौतम को कहा, देख गौतम ! तूने मुझसे इन प्रश्नों का उत्तर पूछा तो है, परन्तु यह स्मरण रख कि तुझसे पहले यह विद्या किसी ब्राह्मण को नहीं मिली। इसीलिये सब देशों में क्षत्रियों का ही शासन रहा है। फिर उसे राजा ने उपदेश देना प्रारम्भ किया ॥७॥

पंचम प्रपाठक—(चौथा खंड)

पहले राजा पांचवें प्रश्न का उत्तर देते हैं कि 'जल' किस प्रकार पांचवीं आहुति में 'पुरुष' बनकर बोलने लगते हैं—

हे गौतम ! वह देखो 'द्यु-लोक' यज्ञ की अग्नि है। उस अग्नि में सूर्य समिधा है, किरणें धुंआ हैं, दिन ज्वाला हैं, चन्द्र अंगार है, नक्षत्र चिनगारियां हैं ॥१॥

तँ ह चिरं वसेत्याज्ञापयांचकार। तँ होवाच। यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति। तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति। तस्मै होवाच ॥७॥

तम् ह—उस (गौतम) को; **चिरम्**—देर तक, कुछ समय तक; **वस**—(यहाँ ही) निवास कर; **इति**—यह; **आज्ञापयांचकार**—आज्ञा दी; **तम् ह उवाच**—और उसको (राजा ने) कहा; **यथा**—जैसे; **मा**—मुझको; **त्वम्**—तूने; **अवदः**—(उपदेश के लिए) कहा है; **यथा**—जैसे; **इयम्**—यह; **न**—नहीं; **प्राक्**—पहले; **त्वत्तः**—तुझ से; **पुरा**—पूर्व समय में; **विद्या**—विद्या; **ब्राह्मणान्**—ब्राह्मणों को; **गच्छति**—(वंश-परम्परा से) जाती रही है, प्राप्त हुई है; **तस्माद् उ**—उस कारण से ही; **सर्वेषु लोकेषु**—सब लोकों में; **क्षत्रस्य**—क्षत्रिय का; **एव**—ही; **प्रशासनम्**—हुकूमत; **अभूद्**—रही; या (**पुरा क्षत्रस्य प्रशासनम् अभूत्**—आज से पहिले इस विद्या का क्षत्रिय द्वारा ही उपदेश—प्रशासनम्—हुआ करता था); **इति**—यह (कहकर); **तस्मै ह**—उस (गौतम) को; **उवाच**—कहा, उपदेश देने लगा ॥७॥

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥१॥

असौ—यह; **वाव**—ही; **लोकः**—लोक (द्यु लोक); **गौतम**—हे गौतम; **अग्निः**—(यज्ञाग्नि के समान) अग्नि है; **तस्य**—उस (अग्नि) का; **आदित्यः**—सूर्य; **एव**—ही; **समिद्**—समिधा (रूप) है; **रश्मयः**—(सूर्य की) किरणें;

इस द्यु-रूप यज्ञाग्नि में देव-गण श्रद्धा को, अर्थात् जल को आहुति देते हैं, और उस आहुति से राजा सोम, अर्थात् 'वाष्प' उत्पन्न होते हैं। सृष्टि में हो रहे द्यु-यज्ञ में जल को यह पहली आहुति है ॥२॥

पंचम प्रपाठक—(पांचवां खंड)

फिर देखो वह पर्जन्य ! यह पर्जन्य यज्ञ की दूसरी अग्नि है। उस अग्नि में वायु समिधा है, अभ्र धुआं है, विद्युत् ज्वाला है, वज्र अंगारे हैं, गर्जन चिनगारियां हैं ॥१॥

इस पर्जन्य-रूप यज्ञाग्नि में देव-गण सोम-राजा, अर्थात् जलीय-वाष्प की आहुति देते हैं और उस आहुति से 'वर्षा' होती है। सृष्टि में हो रहे 'पर्जन्य-यज्ञ' में जल का दूसरी आहुति में यह रूप हो जाता है ॥२॥

धूम—धूम (रूप) हैं अह—दिन, अर्चि—लपट, लौ, चन्द्रमा—चन्द्रमा, अङ्गारा—अंगार (रूप) है, नक्षत्राणि—नक्षत्र, विस्फुलिंगा—अग्नि-कण चिनगारी (रूप) हैं ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुते सोमो राजा सम्भवति ॥२॥

तस्मिन्—उस, एतस्मिन्—इस, अग्नौ—आदित्य अग्नि में, देवा—दिव्य प्राकृतिक शक्तियां श्रद्धाम्—जल को जुह्वति—होमते हैं तस्या—उस आहुते—(जल रूप) आहुति से, सोम राजा—वाष्प रूप सोम राजा सम्भवति—उत्पन्न होता है ॥२॥

पर्जन्यो वा व गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समित्
धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिंगा ॥१॥

पर्जन्य—मेघ वा व—ही गौतम—हे गौतम अग्नि—(यज्ञ की) अग्नि (के रूप में है) तस्य—उस (अग्नि का) वायु एव—वायु ही समिद—समिधा (रूप में उद्दीपक) है अभ्रम्—धुंध-कोहरा आदि धूम—धूम (है) विद्युत्—बिजली अर्चि—लपट (है) अशनि—पृथिवी पर गिरनी बिजली, अङ्गारा—अंगार (रूप) है ह्रादुनय—बादल की गरज तड़क विस्फुलिङ्गा—चिनगारियां (हैं) ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा सोमं राजानं
जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्षं सम्भवति ॥२॥

तस्मिन् एतस्मिन्—उस इस, अग्नौ—(पर्जन्य) अग्नि में देवा—देव-गण, सोमम् राजानम्—दीप्यमान वाष्प (सोम) को, जुह्वति—होमते हैं,

पंचम प्रपाठक—(छठा खंड)

फिर देखो यह पृथिवी ! यह पृथिवी यज्ञ की तीसरी अग्नि है। इस अग्नि में संवत्सर समिधा है, आकाश धुंआ है, रात्रि ज्वाला है, दिशाएं अंगारे हैं, अवान्तर-दिशाएं चिनगारियां हैं ॥१॥

इस पृथिवी-रूप यज्ञाग्नि में देव-गण वर्षा की आहुति देते हैं, और उस आहुति से 'अन्न' उत्पन्न होता है। सृष्टि में हो रहे 'पृथिवी-यज्ञ' में जल का तीसरी आहुति में यह रूप हो जाता है ॥२॥

पंचम प्रपाठक—(सातवां खंड)

फिर देखो यह पुरुष ! यह पुरुष यज्ञ की चतुर्थ अग्नि है। इस अग्नि में वाणी समिधा है, प्राण धुंआ है, जिह्वा ज्वाला है, आंख अंगारे हैं, कान चिनगारियां हैं ॥१॥

तस्याः आहुतेः—उस (सोम-वाष्प रूप) आहुति से; वर्षम्—वर्षा; संभवति—उत्पन्न होती है ॥२॥

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदाकाशो
धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिंगाः ॥१॥

पृथिवी—पृथ्वी; वा व—ही; गौतम—हे गौतम !; अग्निः—(यज्ञ की) अग्नि (के रूप में है); तस्याः—उस (पृथिवी) का; संवत्सरः—पूरा साल; एव—ही; समिद्—समिधा-(रूप) है); आकाशः—आकाश; धूमः—धूम (धुंआ) है; रात्रिः—रात; अर्चिः—लपट; दिशः—दिशाएं; अङ्गाराः—अंगार; अवान्तरदिशः—दिशाओं के कोण, ऊर्ध्व और अधर आदि; विस्फुलिंगाः—चिनगारियां हैं ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति तस्या आहुतेरन्नं संभवति ॥२॥

तस्मिन् एतस्मिन्—उस-इस; अग्नौ—(पृथिवी रूप) अग्नि में; देवाः—देवगण; वर्षम्—वर्षा को; जुह्वति—होमते हैं; तस्याः आहुतेः—उस (वर्षा-रूप) आहुति से; अन्नम्—अन्न; संभवति—उत्पन्न होता है ॥२॥

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो
धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिंगाः ॥१॥

पुरुषः—(जीवधारी) मनुष्य; वा व—ही; गौतम—हे गौतम; अग्निः—(यज्ञ की) अग्नि है; तस्य—उस (पुरुष) अग्नि की; वाग् एव—वाणी ही; समिद्—समिधा (रूप) है; प्राणः—श्वास-प्रश्वास; धूमः—धुंआ; जिह्वा—

इस पुरुष-रूप यज्ञाग्नि में देव-गण अन्न की आहुति देते हैं, और उस आहुति से 'रेतस्'—'वीर्य'—उत्पन्न होता है। सृष्टि में हो रहे 'पुरुष-यज्ञ' में जल का चतुर्थ आहुति में यह रूप हो जाता है ॥२॥

पंचम प्रपाठक—(आठवां खंड)

फिर देखो यह स्त्री ! यह स्त्री यज्ञ की पंचम अग्नि है ॥१॥

इस स्त्री-रूप यज्ञाग्नि में देव-गण रेतस् की आहुति देते हैं, और उस आहुति से गर्भ होता है। सृष्टि में हो रहे 'स्त्री-यज्ञ' में जल का पंचम आहुति में यह रूप, अर्थात् गर्भ-रूप हो जाता है ॥२॥

(हवनकुंड में समिधा-सामग्री-घृत से अग्निहोत्र होता है—इससे आहुति ऊपर 'द्यु' को जाती है। द्यु-लोक को यज्ञ माना जाय, तो वहां हो रहे यज्ञ के बाद आहुति 'पर्जन्य' अर्थात् बादल में जाती है, क्योंकि आहुति के द्यु में जाने के बाद ही 'पर्जन्य' अर्थात्

जीभ; अर्चि—लपट, चक्षु—आंख, अङ्गारा—अगारे, श्रोत्रम्—कान; विस्फुलिंगाः—चिनगारियां है ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः संभवति ॥२॥

तस्मिन् एतस्मिन्—उस-इस; अग्नौ—(पुरुष रूप) अग्नि में, देवाः—देव-गण; अन्नम्—अन्न को, जुह्वति—होमते हैं, तस्याः आहुते—उस (अन्न रूप) आहुति में; रेतः—वीर्य; संभवति—उत्पन्न होता है ॥२॥

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स
धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिंगाः ॥१॥

योषा—नारी, स्त्री, वाव—ही, गौतम—हे गौतम ! अग्निः—(यज्ञ की) अग्नि (के रूप में है), तस्याः—उस (नारी) का, उपस्थः—प्रजननेन्द्रिय; एव—ही; समिद्—समिधा (रूप) है, यद्—जो, उपमन्त्रयते—मैथुन द्वारा सम्पर्क स्थापित करती है; सः—वह; धूम—धुआं, योनिः—योनि, अर्चिः—लपट; यद्—जो, अन्तःकरोति—लिङ्ग को (उसके) अन्दर करता है, ते—वे; अङ्गाराः—अंगार हैं, अभिनन्दाः—रति-सुख, विस्फुलिङ्गाः—चिनगारियां हैं ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति ॥२॥

तस्मिन् एतस्मिन्—उस-इस; अग्नौ—(नारी-रूप) अग्नि में, देवाः—देवगण, रेतः—वीर्य को; जुह्वति—होमते हैं, तस्याः आहुते—उस (वीर्य-रूप) आहुति में; गर्भः—गर्भ; संभवति—उत्पन्न हो जाता है ॥२॥

बादल बनता है। 'पर्जन्य' को यज्ञ माना जाय, तो वहां हो रहे यज्ञ के बाद आहुति 'अन्न' में जाती है। क्योंकि 'पर्जन्य' से ही 'अन्न' उत्पन्न होता है। 'अन्न' को यज्ञ माना जाय, तो उसमें हो रहे यज्ञ के बाद आहुति 'वीर्य' में जाती है, क्योंकि 'अन्न' से 'वीर्य' बनता है। 'वीर्य' को यज्ञ माना जाय, तो उसमें हो रहे यज्ञ के बाद आहुति 'गर्भ' में जाती है, क्योंकि 'वीर्य' से 'गर्भ' उत्पन्न होता है। इस प्रकार हवन-कुंड में हो रहे यज्ञ से सूत्र उठाकर जहां-जहां आहुति पहुंचती है, जिस-जिस क्रम से पहुंचती है, वहां-वहां यज्ञ की कल्पना की गई है और गर्भाधान को भी एक पवित्र यज्ञ कहा गया है। आहुति-द्यु-पर्जन्य-अन्न-वीर्य---इस प्रकार पांचवीं आहुति, अर्थात् वीर्य के पड़ने पर पर्जन्य का जल पुरुष-रूप हो उठता है, और बोलने लगता है।)

पंचम प्रपाठक---(नौवां खंड)

इस प्रकार पांचवीं आहुति में जल पुरुष की तरह बोलने लगते हैं। वह उल्व में लिपटा हुआ गर्भ दस या नौ मास तक, या जिस समय तक भी हो, माता के अन्दर शयन कर उत्पन्न होता है ॥१॥

वह उत्पन्न होकर जितनी भी आयु हो, तब तक जीता है। मर जाने के बाद उसे यहां से अग्नियां ही निर्दिष्ट स्थान को ले जाती

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति स उल्वावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते ॥१॥

इति तु---इस रूप में तो; **पञ्चम्याम्**---पांचवीं; **आहुतौ**---(वीर्य-रूप) आहुति होने पर; **आपः**---(श्रद्धा-नामी प्रथम आहुति रूप) जल; **पुरुष-वचसः**---पुरुषों के समान वाणीवाले या देह-रूप; **भवन्ति**---हो जाते हैं; **सः**---वह; **उल्व+आवृतः**---जरायु (झिल्ली) से लिपटा हुआ; **गर्भः**---गर्भ; **दश वा**---या तो दस; **नव वा**---या नौ; **मासान्**---महीनों तक; **अन्तः**---अन्दर (मां के पेट में); **शयित्वा**---सो कर (रहकर); **यावद् वा**---या जितना भी समय (भिन्न-भिन्न योनियों के कारण); **अथ**---इसके बाद; **जायते**---उत्पन्न हो जाता है ॥१॥

स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति यत एवेतो यतः संभूतो भवति ॥२॥

सः---वह; **जातः**---उत्पन्न हुआ (होकर); **यावद्+आयुषम्**---जितना

हैं। जहां से यहां आया था, यहां से जहां जायगा—यह-सब अग्नि ही करती है ॥२॥

पंचम प्रपाठक—(दसवां खंड)

(मृत्यु के बाद आत्मा की गति—देवयान-पितृयाण एवं उत्तरायण-दक्षिणायन मार्गों का वर्णन)

हे गौतम ! जो लोग उत्पत्ति के इस क्रम को जानते हैं, और जो 'निष्काम-कर्मी' अरण्य में श्रद्धा और तप से उपासना में लीन रहते हैं, वे मृत्यु के बाद ज्योतिर्मय रूप की क्रमिक शृंखला में से गुजरते हैं। पहले-पहल उनका रूप 'अर्चि'—किरण—के सदृश प्रकाशमान होता है, किरण से बढ़ता हुआ 'दिन' के समान (जिसमें असंख्य किरणें होती हैं) इनका ज्योतिर्मय रूप हो जाता है, उससे बढ़कर 'पूर्णमासी' के पखवाड़े में, इन पन्द्रह दिनों में जितना प्रकाश है उतने प्रकाश से ये ज्योतिर्मय हो जाते हैं, उससे बढ़कर 'उत्तरायण' के छः मासों में ॥१॥

आयु का भोग है उतने काल तक जीवति—जीवित रहता है (बाद में), तम्—उस, प्रेतम्—मृत शरीर छोड़ने वाले को, दिष्टम्—(कर्म भोग से) निर्दिष्ट लोक (योनि) को, इतः—यहां से (इस जन्म या शरीर से), अग्नय—(श्मशान की) अग्नियां, एव—ही, हरन्ति—ले जाती हैं, यतः—जहां से (जिस अग्नि—द्युलोक-अग्नि से), एव—ही इतः—आया था, यतः—जिससे (नारी-रूप अग्नि से), संभूतः—उत्पन्न, भवति—होता है ॥२॥

तद्य इत्थं विदुः। ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्य-र्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान् ॥१॥

तद्—तो, ये—जो (बाल-सन्यासी, ऊर्ध्वरेता पुरुष), इत्थम्—इस प्रकार से (आवागमन-चक्र को), विदुः—जानते हैं, ये च—और जो, इमे—ये (ज्ञानी मुमुक्षु), अरण्ये—वन में (वानप्रस्थ में), श्रद्धा—श्रद्धा, तपः—तप (इन्द्रिय जय) को, इति—ऐसे, उपासते—सेवन (अनुष्ठान) करते हैं, ते—वे, अर्चिषम्—ज्योति की, अभिसंभवन्ति—ओर उन्मुख होते हैं, अर्चिषः—ज्योति से, अहः—दिन को, अह्नः—दिन से, आपूर्यमाणपक्षम्—शुक्ल-पक्ष को, आपूर्यमाणपक्षात्—शुक्ल-पक्ष से, यान्—जिन, षट्—छः, उदङ्—उत्तर की ओर, एति—(सूर्य) हो जाता है, मासान्—मासों तक, तान्—उन (मासों) को ॥१॥

छः मासों से—उत्तरायण से—बढ़कर 'संवत्सर,' और संवत्सर से बढ़कर 'आदित्य' की महान् ज्योति के सदृश वे तेज से भरपूर हो जाते हैं। 'आदित्य-ज्योति' से वे चन्द्र-ज्योति, और 'चन्द्र-ज्योति' से 'विद्युत्-ज्योति' को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर, प्रकाश से प्रकाश में विकसित होते हुए पुरुष का 'मानव' से यह 'अमानव'-रूप प्रकट होता है, फिर वही 'अमानव' अन्य ब्रह्म-भक्तों को 'ब्रह्म-मार्ग' का प्रदर्शन करता है, यही 'देवयान-मार्ग' कहलाता है ॥२॥

इसके विपरीत, जो 'सकाम-कर्मी', ग्राम में रहकर, कुएं-बावड़ी बनवा कर, शुभ-कार्यों में दान देकर भगवान् की उपासना करते हैं, वे मृत्यु के बाद मन्द-ज्योति की क्रमिक-शृंखला में से गुजरते हैं। पहले-पहल उनका रूप 'धूम' सदृश होता है, धूम से बढ़ता हुआ 'रात्रि' के समान इनकी मन्द-ज्योति होती है, उससे बढ़कर 'अमावास्या' की रात्रि के समान वे ज्योतिर्विहीन हो जाते हैं, उससे बढ़कर

मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो
विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥२॥

मासेभ्यः—(उत्तरायण) मासों से; संवत्सरम्—वर्ष को; संवत्सरात्—वर्ष से; आदित्यम्—सूर्य को; आदित्यात्—सूर्य से; चन्द्रमसम्—चन्द्र-लोक को; चन्द्रमसः—चन्द्र-लोक से; विद्युतम्—विद्युत् (बिजली या विशेष दीप्तिवाले लोक को); तत्पुरुषः—वह (ऊर्ध्व-गति को प्राप्त) आत्मा; अमानवः—मानव-रूप (जीवात्मा) से ऊपर; सः—वह (मुक्त अमानव); एनान्—इन (अन्य मुमुक्षुओं) को; ब्रह्म—ब्रह्म तक; गमयति—पहुँचा देता है; एषः—यह; देवयानः—देव (ब्रह्म को) प्राप्त करानेवाला (देवयान-नामक); पन्थाः—मार्ग है; इति—(यह भी बताया) ॥२॥

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते
धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षा-
द्यान्षड् दक्षिणैति मासांस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥३॥

अथ—और; ये—जो; इमे—ये (मनुष्य); ग्रामे—गाँव-बस्ती में; इष्ट+आपूर्ते—इष्ट (यज्ञ करने) और आपूर्त (लोकोपकारक कार्य—धर्मार्थ कुआं आदि का निर्माण); दत्तम्—दान देना; इति—इस रूप में; उपासते—लीन रहते हैं; ते—वे; धूमम्—धुएं की (मन्द-ज्योति की); अभिसंभवन्ति—ओर उन्मुख हो जाते हैं; धूमाद्—धूम से; रात्रिम्—रात्रि को; रात्रेः—रात से;

छः मासों में, अर्थात् छः मास तक की ज्योतिर्विहीनता में—'दक्षिणायन' में पहुंचते हैं—परन्तु ये सकाम-भावना से काम करने वाले 'संवत्सर' को, अर्थात् उससे भी बढ़े हुए साल भर के अन्धकारमय लोक को नहीं जाते ॥३॥

तो, ये सकाम-कर्मी कहां जाते हैं? 'दक्षिणायन' से वे 'पितृ-लोक' को पहुंचते हैं, पितृ-लोक से 'आकाश' को, आकाश से 'चन्द्रमा' को, अर्थात् 'चन्द्र-लोक' में जा पहुंचते हैं। 'चन्द्र-लोक' सोम राजा का लोक है—'सोम-लोक' है। जो सकाम-कर्मी लोग हैं, जिन्होंने फल की आशा से कुएं-बावड़ी बनवाये, दान दिये—उनके कर्मों का यह भोग है, इसे वे सोम-लोक में जा भोगते हैं ॥४॥

चन्द्र-लोक में वे तब तक रहते हैं, जब तक उनके कर्म क्षीण नहीं हो जाते। उसके बाद वे जिस मार्ग से गये थे उसी को लौट आते हैं, अर्थात् चन्द्र-लोक से आकाश को लौट आते हैं। आकाशीय दशा से वायवीय दशा को, वायु से धूम-सदृश दशा को, धूम से अभ्र-सदृश दशा को ॥५॥

अपरपक्षम्—कृष्ण-पक्ष को, अपरपक्षात्—कृष्ण-पक्ष से, यान् षड्—जिन छ, दक्षिणा—दक्षिण की ओर, एति—आता है, (दक्षिणा एति—दक्षिणायन होता है); मासान्—मासों पर, तान्—उन (मासों) को, न एते—(उसके बाद ब्रह्मनिष्ठों की तरह) नहीं ये, संवत्सरम्—वर्ष को, अभिप्राप्नुवन्ति—प्राप्त होते हैं ॥३॥

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्र-
मसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति ॥४॥

(किन्तु) मासेभ्य—मासों से (दक्षिणायन से), पितृलोकम्—पितृ-लोक को; पितृलोकाद्—पितृलोक से, आकाशम्—आकाश को, आकाशात्—आकाश से; चन्द्रमसम्—चन्द्रमा को, एष—यह (चन्द्रमा), सोम राजा—सोम (अमृत) राजा है, तद्—वह (सोम), देवानाम्—देव-गण का, अन्नम्—भोज्य है; तम्—उसको, देवा—देव-गण, भक्षयन्ति—खाते हैं ॥४॥

तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते। यथैतमा-
काशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति ॥५॥

तस्मिन्—उस (चन्द्र-लोक में), यावत्—जबतक, संपातम्—(कर्म-क्षय जन्य) नीचे गिरना (च्युत होना); (यावत् संपातम्—कर्म-क्षय होने तक);

अभ्र से मेघ को, मेघ में आकर वे बरस पड़ते हैं, बरसकर धान, जौ, ओषधि, वनस्पति, तिल, माष—किसी में भी जा पैदा होते हैं। बस, इनमें से निकलना कठिन हो जाता है। जो-जो भी अन्न खाता है, उसके वीर्य से उस-जैसी ही सन्तान उत्पन्न होती है। पशु पशु को उत्पन्न करता है, मनुष्य मनुष्य को। निकलना इसलिए कठिन हो जाता है कि मनुष्य-योनि में आने के लिये यह आवश्यक है कि जीव जिस अन्न में है वह अन्न किसी मनुष्य के अन्दर जाय, पशु के अन्दर नहीं, यही कठिनता है ॥६॥

ये 'चन्द्र-लोक' से जो लौटते हैं, अगर यहां से जाते समय उनका आचरण यहां अच्छा रहा था, तो शीघ्र ही वे अच्छी योनि में आ

उषित्वा—रह कर; बाद में; एतम् एव—इस ही (जिससे ऊपर चढ़े थे); अध्वानम्—मार्ग को; पुनः—फिर; निवर्तन्ते—लौट पड़ते हैं; यथा+इतम्—यथा-प्राप्त (जिससे चन्द्रलोक को आये थे उस); आकाशम्—आकाश को; आकाशाद्—आकाश से; वायुम्—वायु को; वायुः—वायु; भूत्वा—होकर; धूमः—धुंआ; भवति—होता है; धूमः भूत्वा—धुंआ होकर; अभ्रम्—पानी धारण करनेवाला कोहरा-धुंध आदि; भवति—हो जाता है ॥५॥

> अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति। त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति ॥६॥

अभ्रं भूत्वा—अभ्र होकर; मेघः भवति—मेघ बन जाता है; मेघः भूत्वा—मेघ बन कर; प्रवर्षति—खूब बरसता है; ते—वे; इह—यहाँ, इस अवस्था में; व्रीहि-यवाः—धान और जौ; ओषधि-वनस्पतयः—ओषधियां और वनस्पतियाँ; तिल-माषाः—तिल और उड़द; इति—इस रूप में; जायन्ते—उत्पन्न होते हैं; अतः—इस (मेघ से उत्पन्न अन्न की स्थिति) से; वै खलु—निश्चय से; दुः+निष्प्रपतरम्—निकलना महा कठिन है; यः यः—जो-जो; अन्नम्—भोज्य अन्न को; अत्ति—खाता है; यः—जो; रेतः—वीर्य; सिंचति—(योषा-अग्नि) में डालता है, होमता है; तद्—वह; भूयः—फिर, और अधिक (अधिकाधिक, बार-बार); एव—ही; भवति—(उत्पन्न) होता है ॥६॥

> तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ॥७॥

तद्—तो; ये—जो (मनुष्य); रमणीयचरणाः—सुन्दर (पुण्य) आच-

पहुंचते हैं, ब्राह्मण-योनि में, क्षत्रिय योनि में, वैश्य-योनि में; जिनका आचरण यहां बुरा रहा था, वे शीघ्र ही बुरी योनि में पहुंच जाते हैं, कुत्ते की योनि में, सुअर की योनि में, चाण्डाल की योनि में (देखो भगवद्गीता, ८-६—'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्') ॥७॥

(इस राजा ने जीव के भौतिक-आधार—Materialistic basis of life—ढूंढने में कमाल कर दिया है। राजा का कथन है कि निष्काम-कर्मी तो उत्तरायण से, देवयान-मार्ग से जाते हैं, और मुक्त हो जाते हैं, सकाम-कर्मी दक्षिणायन से, पितृयाण-मार्ग से जाते हैं, और अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न जन्म लेते हैं। जन्म लेने से पूर्व वे वर्षा द्वारा बरसते हैं, और भिन्न-भिन्न अन्नों में जा पड़ते हैं। पशु उस अन्न को खा ले, तो वे पशु के वीर्य द्वारा पशु जन्म लेते हैं, मनुष्य उस अन्न को खा ले, तो वे मनुष्य के वीर्य द्वारा मनुष्य-जन्म लेते हैं। अन्न का दाना-दाना कर्मों के अनुसार ही पशु अथवा मनुष्य द्वारा खाया जाता है, और जिसने मनुष्य-जन्म लेना है वह जीव जिस अन्न में आ पड़ा है उसे मनुष्य ही खाता है, जिसने पशु-जन्म लेना है वह जीव जिस अन्न में है उसे पशु ही खाता है। जब तक कोई नहीं खाता तब तक जीव अन्न में बंधा पड़ा रहता है—यह इस ऋषि की काल्पनिक उड़ान है।

पहला प्रश्न यह था कि मर कर मनुष्य यहां से कहां जाता है? उसका उत्तर दे दिया—निष्काम-उपासक उत्तरायण में देव-

---

रण (कर्म) वाले (होते हैं), अभ्याशः ह—शीघ्र ही (आशा की जा सकती है); यत्—कि, ते—वे, रमणीयाम्—सुन्दर, सुखमय, योनिम्—जाति को, आपद्येरन्—प्राप्त होवें, ब्राह्मणयोनिम् वा—ब्राह्मण-जाति को, क्षत्रिययोनिम् वा—या क्षत्रिय-जाति को, वैश्ययोनिम् वा—या वैश्य योनि को, अथ—और, ये—जो; इह—यहां, इस जन्म में, कपूयचरणाः—निन्दित (पाप) आचरण (कर्म) वाले हैं; अभ्याशः ह—निकट भविष्य में, शीघ्र ही (आशा की जाती है), यत्—कि; ते—वे (दुराचारी); कपूयाम्—गर्हित, बुरी; योनिम्—जन्म-जाति को, आपद्येरन्—प्राप्त होवें; श्व-योनिम् वा—या तो कुत्ते की जाति को, सूकर-योनिम् वा—या सुअर की योनि को; चाण्डालयोनिम् वा—या चाण्डाल-(निकृष्ट कर्म करनेवाले) की जाति को ॥७॥

यान से 'ब्रह्मलोक' को जाता है, जो 'शुक्ल-गति' या 'सौरी-गति' है; सकाम-उपासक दक्षिणायन में पितृयाण से 'चन्द्रलोक' को जाता है, जो 'कृष्ण-गति' या 'चान्द्रमसी-गति' है। गीता के ८म अध्याय में भी यही बात निम्न श्लोकों में कही है :—

यत्र काले त्वनावृत्तिम् आवृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ।।२३।।
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।।२४।।
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ।।२५।।
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिम् अन्ययाऽऽवर्तते पुनः ।।२६।।

दूसरा प्रश्न यह था कि तुम्हें मालूम है कि लौटकर कैसे आते हैं? उसका उत्तर भी दे दिया—कुछ निष्काम-कर्मी ब्रह्म को पहुंचकर 'आदित्य-लोक' को चले जाते हैं, आदित्य की ज्योति के समान ज्योतिर्मय हो जाते हैं; सकाम-कर्मी 'चन्द्र-लोक' को जाकर फिर आकाश, धूम, अभ्र, मेघ, अन्न, वीर्य आदि मार्गों से लौट आते हैं, और अपने पूर्व संचित कर्मों के अनुसार शुभाशुभ जन्म ग्रहण करते हैं। तीसरा प्रश्न यह था कि 'देवयान' और 'पितृयाण' के मार्ग कहां अलग-अलग होते हैं? उसका उत्तर भी दे दिया। देवयान के मार्ग से जाने वाले 'अयन' (आधे वर्ष) से 'संवत्सर' (वर्ष) को चले जाते हैं, पितृयाण के मार्ग से जाने वाले 'अयन' से संवत्सर को न जाकर, पितृ-लोक को चले जाते हैं। अब चौथा प्रश्न रह गया—इतने प्राणियों के मरते रहने पर भी वह लोक भर क्यों नहीं जाता? इस प्रश्न का राजा उत्तर देते हैं :—)

देवयान और पितृयाण—इन दोनों में से जो किसी एक से भी नहीं जाते, वे छोटे-छोटे जन्तु, कीट-पतंग की तरह—बार-बार जन्म

अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः ।।८।।

लेने वाले बनते हैं—उनका 'जायस्व-म्रियस्व'—'जन्म-मरण'—यह तीसरा मार्ग है। इसलिये वह लोक भर नहीं जाता। अपने को पाप से बचाना चाहिये ताकि इन कीट-पतगो की तरह जन्मते-मरते न रहें, आवागमन के चक्कर में ही बराबर न पडे रहें। किसी ने कहा है—॥८॥

सोने का चुराने वाला, शराब पीने वाला, गुरु-तल्प-गामी, ब्रह्म-ज्ञानी को मारने वाला—ये चारो पतित हो जाते हैं, और पाचवा वह जो इनके साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध रखता है ॥९॥

अथ—और जो, एतयो—इन (देवयान तथा पितृयाण या पुण्य और पाप) दोनो, पथो—मार्गों मे, न—नही, कतरेणचन—किसी से (भी जाते हैं—कर्म-योनि में न होकर भोग-योनि के होते हैं), तानि इमानि—वे ये, क्षुद्राणि—क्षुद्र (तुच्छ, छोटे-छोटे), असकृद्—बार-बार, आवर्तीनि—(जन्म में) लौटनेवाले (जन्म लेनेवाले), भूतानि—प्राणी, भवन्ति—होते हैं, जायस्व—पैदा हो, म्रियस्व—मर जाओ, (जायस्व म्रियस्व—जीना-मरना, मरना जीना), इति एतत्—इस रूप में यह, तृतीयम्—तीसरा, स्थानम्—स्थिति, अवस्था है, तेन—उस (तीसरी स्थिति) के कारण, असौ—यह (ऊपर का) लोक—लोक (पर-लोक), न—नही, सपूर्यते—भरता है (भर कर खाली होता रहता है), तस्मात्—उस कारण से, उस (आवागमन के चक्र) से, जुगुप्सेत—घृणा करे, बचने का उपाय सोचे, उसमें न फसे, तद्—तो, एष—यह, श्लोक—पुराना स्मृति-वाक्य भी है ॥८॥

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा
च। एते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरंस्तैरिति ॥९॥

स्तेन—चोर, हिरण्यस्य—सुवर्ण का हित रमणीय (उपादेय) वस्तु का, सुराम्—शराब को, पिबन्—पीने वाला (सुरापायी, मद्यप), गुरु—गुरु के तल्पम्—आसन (शय्या) को (पर), आवसन्—बैठनेवाला (गुरु का आदर न करनेवाला, गुरु निन्दक), ब्रह्महा—ब्राह्मणघाती, वेद निन्दक, च—और, एते—ये, पतन्ति—गिरते हैं, अधोगति (अवनति) या निकृष्ट योनि को प्राप्त होते हैं, चत्वारः—चार, पञ्चम—पाँचवा, च—और, आचरन्—व्यवहार करनेवाला, सम्पर्क रखनेवाला, तैः—उन (चार पापियों से), इति—यह (स्मार्त-वचन है) ॥९॥

जिन यज्ञ-रूप पांच अग्नियों का इस ग्रन्थ में उल्लेख किया गया है, उन्हें जो ठीक-ठीक जानता है, वह इन लोगों के सम्पर्क में आता हुआ भी पाप से लिप्त नहीं होता। जो इस रहस्य को जानता है वह शुद्ध, पवित्र रहता तथा पुण्य-लोकों को प्राप्त करता है ॥१०॥

(ऐसा वर्णन मुंडक १-२; छांदोग्य ४-१५, ८-६-५; वृहदा० ५-१० में भी है। कई विद्वान् जो ज्योतिःशास्त्र के ज्ञाता हैं, कहते हैं कि देवयान तथा पितृयाण-मार्ग भूगोल-सम्बन्धी असली मार्ग हैं। पृथ्वी से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त ब्रह्म-पथ है, जो एकदम प्रकाशमय है। पृथ्वी से सूर्यलोक तक का मार्ग प्रकाशमय है ही। उसके आगे चन्द्र-नामक नक्षत्र का प्रकाश मिलता है। यह चन्द्र वह चन्द्र नहीं है, जो पृथ्वी का उपग्रह है। ज्योतिःशास्त्र में सूर्य के आगे ऐसे तारा माने गये हैं, जिनका प्रकाश चन्द्रमा की तरह घटता-बढ़ता है। सूर्यलोक के बाद वही चन्द्र-लोक मिलता है। उसके बाद विद्युत्-लोक है। विद्युत्-लोक के बाद ब्रह्म-लोक है। उत्तरायण में सूर्य पृथ्वी से उत्तर की तरफ़ रहता है, पृथ्वी से उत्तर की तरफ़ ही ब्रह्मलोक है, अतः उत्तरायण में पृथ्वी से ब्रह्मलोक तक एकदम सीधा प्रकाश का मार्ग रहता है, और उपासक मरकर इस देवयान-मार्ग से एकदम सीधा ब्रह्म-लोक में पहुंच जाता है। कैसे पहुंचता है? मरकर उसका लिंग-शरीर प्रकाशमय हो जाता है, ज्योतिर्मय हो जाता है, इसी को 'अर्चि' कहा है। प्रकाश का सजातीय होने

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद न स ह तैरप्याचरन्पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥१०॥

अथ ह यः—और जो; **एतान्**—इन; **एवम्**—इस प्रकार; **पञ्च अग्नीन्**—पांच (द्यु-लोक आदि) अग्नियों को (पंचाग्नि-विद्या को); **वेद**—जानता है; **न**—नहीं; **स ह**—वह तो; **तैः**—उन (चार पापियों से); **अपि**—भी; **आचरन्**—आचरण (व्यवहार, सम्पर्क) करता हुआ (किन्तु पहले चार पाप न करता हुआ); **पाप्मना**—पाप-कर्म से; **लिप्यते**—लिप्त होता है (पाप-भागी होता है); **शुद्धः**—शुद्ध; **पूतः**—पवित्र; **पुण्यलोकः**—पुण्यफलभागी; **भवति**—होता है; **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार (पंचाग्नि-विद्या को) जानता है; **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है (द्विरुक्ति बल देने और खण्ड समाप्तिद्योतक है) ॥१०॥

से यह प्रकाशमय-शरीर प्रकाश के मार्ग के द्वारा सूर्यलोक, फिर चन्द्रलोक, फिर विद्युत्-लोक और फिर ब्रह्मलोक में पहुंच जाता है। सूर्य के दक्षिणायन होने पर सूर्य पृथ्वी के दक्षिण में चला जाता है। ऐसी हालत में जो उपासक मरेगा वह पहले प्रकाशमय---'अर्चिमय'---शरीर से सूर्यलोक की तरफ ही जायगा, क्योंकि बिना सूर्यलोक गये ब्रह्मलोक को जा नहीं सकता। इसलिये मार्ग तो यह भी देवयान ही कहलायगा, परन्तु आत्मा पहले सूर्य की तरफ दक्षिण को गया, फिर ब्रह्मलोक की तरफ, जो पृथ्वी से सदा उत्तर को ही रहता है, उत्तर को गया---इससे यह मार्ग कुछ टेढा हो गया---इसलिए यह तिर्यग्-देवयान कहलाता है। पितृयाण का मार्ग तिर्यग्-देवयान की तरह दक्षिणायन का ही मार्ग है। इसमें भी सूर्य पृथ्वी के दक्षिण में ही होता है, परन्तु इसमें आत्मा ज्योति-रूप नहीं होता, अन्धकार-रूप होता है। निष्काम-कर्मियों का लिंग-शरीर प्रकाशमय होता है, अतः वह प्रकाश के सहारे चलता है, सकाम-कर्मियों का लिंग-शरीर अन्धकारमय होता है, अतः वह रात्रि-कृष्णपक्ष आदि के सहारे चलता हुआ पृथ्वी के उपग्रह चन्द्रलोक में पहुंचकर कर्मों का आनन्दमय फल भोगता है। ये दो गतियां उपासकों की हैं, दोनों उत्तम हैं। एक देव-गति, दूसरी पितर-गति है, तीसरी---सीधी आवागमन की---मनुष्य-गति है।

अर्चि., अह, पक्ष, अयन, संवत्सर आदि के विषय में कई लोग, जैसा हमने अभी कहा, यह अर्थ करते हैं कि आत्मा इन लोकों में---पहले सूर्यलोक, फिर विद्युत्-लोक और अन्त में ब्रह्मलोक में जाता है, और कई यह अर्थ करते हैं कि ये शब्द उसकी आध्यात्मिक दशा को सूचित करते हैं। 'अर्चि' का अर्थ है, किरण-की-सी उज्ज्वल आत्मिक-दशा, 'अह' का अर्थ है, दिन-की-सी उज्ज्वल आत्मिक दशा। मरने के बाद जीव की आर्चिषी, आह्निकी, पाक्षिकी, वार्षिकी, सौरी, चान्द्रमसी, वैद्युती, ब्राह्मी---ये उजेले-की-सी आत्मानुभव की दशाएं होती हैं। इसी प्रकार आकाशीय, वायवीय, धूम्रीय, अभ्रीय भी आत्मा की अनुभव की धीमी-धीमी प्रकाशमय दशाएं ही हैं।

इस राजा ने अपने विचार के अनुसार यहां जीवात्मा की तीन गति बतलाई हैं---एक निष्काम-कर्मियों की, इसे 'मोक्ष' कहते हैं; दूसरी सकाम-कर्मियों की, इसे 'स्वर्ग' कहते हैं; तीसरी मरने-जीने वालों की, इसे 'आवागमन' कहते हैं। इस तीसरी अवस्था की तुलना बृहदारण्यक (४-४-३) में तृणजलायुका---सुंडी---से की है, और कहा है कि जैसे सुंडी तिनके के अन्त पर पहुंचकर, दूसरा कोई सहारा पकड़कर, अपने को खींच लेती है, वैसे आत्मा इस शरीर के अन्त पर पहुंचकर, दूसरे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीर का सहारा लेकर अपने को खींच लेता है---यही पुनर्जन्म है।)

पंचम प्रपाठक---(ग्यारहवां खंड)

(अश्वपति का 'वैश्वानर-ब्रह्म' क्या है, इस सम्बन्ध में उपदेश, ११ से २४ खंड)

उपमन्यु का वंशज प्राचीनशाल, पुलुष का वंशज सत्ययज्ञ, भल्लव का वंशज इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष का वंशज जन, अश्वतराश्व का वंशज बुडिल---ये पांचों बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं के स्वामी थे, वेदों के महान् पंडित भी थे। एक बार ये इकट्ठे हुए और विचार करने लगे कि 'आत्मा' क्या है, 'ब्रह्म' क्या है? ॥१॥

वे इस निश्चय पर पहुंचे कि अरुण का वंशज उद्दालक आजकल

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसांचक्रुः को नु आत्मा किं ब्रह्मेति ॥१॥

प्राचीनशालः---प्राचीनशाल नामी; औपमन्यवः---उपमन्यु का पुत्र; सत्ययज्ञः---सत्ययज्ञ-नामी; पौलुषिः---पुलुष का पुत्र; इन्द्रद्युम्नः---इन्द्रद्युम्न-नामी; भाल्लवेयः---भल्लववंशी; जनः---जन-नामक; शार्कराक्ष्यः---शर्कराक्ष का पुत्र; बुडिलः---बुडिल-नामी; आश्वतराश्विः---अश्वतराश्व का पुत्र; ते ह एते---वे ये; महाशालाः---बड़े गृहस्थ, अत्यधिक योग्य; महाश्रोत्रियाः---बड़े वेद-वक्ता एवं कर्मकाण्डी; समेत्य---इकट्ठे होकर, मीमांसांचक्रुः---विचार करने लगे; कः नु---कौन तो; आत्मा---आत्मा-(पद-वाच्य); किम्---कौन; ब्रह्म---ब्रह्म-(पद-वाच्य) है; इति---ऐसे ॥१॥

ते ह संपादयांचक्रुरुद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं हन्ताभ्यागच्छामेति तं हाभ्याजग्मुः ॥२॥

'वैश्वानर-आत्मा' की खोज में लगा हुआ है, चलो उसके पास चलें। वे उसके पास पहुंचे ॥२॥

उन्हें आया देखकर उद्दालक ने सोचा, ये महाशाल, महा-श्रोत्रिय मुझ से ब्रह्म-ज्ञान-विषयक प्रश्न करेंगे, मैं उनकी सब बातों का उत्तर न दे सकूंगा, चलो, किसी अन्य गुरु के पास उन्हें ब्रह्म-ज्ञान के लिये भेज दूं ॥३॥

फिर उनसे कहा, हे महानुभाव! केकेय देश का राजा अश्वपति आजकल 'वैश्वानर-आत्मा' की खोज में लगा हुआ है, चलो, हम सब मिलकर उसी के पास चलें। तब वे सब उसके पास चल दिये ॥४॥

ते ह—और उन्होंने, समपादयाञ्चक्रु—निर्णय किया, उद्दालक वै—उद्दालक ही, भगवन्त—हे माननीयो!, अयम्—यह, आरुणि—अरुण का पुत्र, सम्प्रति—अब (आजकल), इमम्—इस, आत्मानम्—आत्म-पद-वाच्य को, वैश्वानरम्—वैश्वानर (विश्व प्रेरक, सर्वप्राणियों में विद्यमान), अध्येति—अध्ययन (मनन) कर रहा है, तम्—उसको, हन्त—प्रसन्न होकर, अभ्यागच्छाम—पास जावें, उपस्थित हों, इति—यह (निर्णय कर), तम् ह—उसको (वे), अभ्याजग्मु—पास गये ॥२॥

स ह सम्पादयाञ्चकार प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति ॥३॥

स ह—और उसने, सम्पादयाञ्चकार—निर्णय किया, विचारा, प्रक्ष्यन्ति—पूछेंगे, माम्—मुझ को (से), इमे—ये, महाशाला महाश्रोत्रिया—बड़े भारी गृहस्थ और बड़े वेदज्ञ कर्मकाण्डी, तेभ्य—उनको, न—नहीं, सर्वम् इव—पूरी तरह, प्रतिपत्स्ये—(विषय का) प्रतिपादन कर सकूंगा, हन्त—तो, अहम्—मैं, अन्यम्—दूसरे को, अभि+अनुशासानि—बताऊं, नाम लूं, इति—यह (सोचा) ॥३॥

तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं हन्ताभ्यागच्छामेति तं हाभ्याजग्मु ॥४॥

तान् ह उवाच—उन (पांचों) को (उद्दालक ने) कहा, अश्वपति—अश्वपति-नामक, वै—ही, भगवन्त—हे माननीयो!, अयम्—यह, कैकेय—केकेय देश का राजा, सम्प्रति—अब, आजकल, इमम् आत्मानम् वैश्वानरम्—इस वैश्वानर आत्मा को, अध्येति—अध्ययन (मनन) कर रहा है, तम् हन्त अभ्यागच्छाम—तो उसके पास चलें, इति—ऐसे (निर्णय कर), तम् ह अभ्याजग्मु—उसके पास पहुंचे ॥४॥

जब वे उसके पास पहुंचे, तो राजा ने उनकी अलग-अलग सेवा करने की आज्ञा दी, और अगले दिन प्रातःकाल उठकर उनके पास पहुंचा और बोला—मेरे जनपद में कोई चोर नहीं है, कोई कृपण नहीं है, कोई मद्यप नहीं है, कोई अनाहिताग्नि नहीं है, कोई अविद्वान् नहीं है, व्यभिचारी नहीं है—फिर व्यभिचारिणी तो हो ही कैसे सकती है ? हे महानुभाव ! मैं हाल में ही एक यज्ञ करने वाला हूं, जितना-जितना एक-एक ऋत्विक् को धन दूंगा उतना-उतना आपको भी दूंगा। आप मेरे यहां ही निवास करें ॥५॥

उन्होंने कहा, मनुष्य जिस प्रयोजन से घूम रहा हो, जिस बात की खोज में हो, उसे वही कहना चाहिये। सुना है, आप आजकल

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयांचकार। स ह प्रातः संजिहान उवाच न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति ॥५॥

तेभ्यः ह—उन; प्राप्तेभ्यः—आये हुओं (अभ्यागतों) के लिए; पृथक्—अलग-अलग; अर्हाणि—पूजा-सत्कार, सेवा; कारयांचकार—करवाई; सः ह—वह; प्रातः—प्रातःकाल में; संजिहानः—शय्या छोड़कर या घर से बाहर जाता हुआ; उवाच—बोला; न—नहीं है; मे—मेरे; स्तेनः—चोर; जनपदे—देश, क्षेत्र में; न कदर्यः—न कायर या कंजूस; न मद्यपः—न शराबी; न+अनाहिताग्निः—न नित्य अग्निहोत्र न करने वाला; न अविद्वान्—न अज्ञानी (मूर्ख); न स्वैरी—न व्यभिचारी (तो); स्वैरिणी—व्यभिचारिणी स्त्री; कुतः—कहाँ से (हो सकती है); यक्ष्यमाणः—(निकट भविष्य में) यज्ञानुष्ठान करनेवाला; वै—ही; भगवन्तः—हे पूजनीयो! ; अहम्—मैं; अस्मि—हूँ; यावद्—जितना; एकैकस्मै—एक-एक (प्रत्येक); ऋत्विजे—ऋत्विक् को; धनम्—धन; दास्यामि—दूंगा; तावद्—उतना ही; भगवद्भ्यः—आप को; दास्यामि—दूंगा; वसन्तु—रहें, निवास करें; भगवन्तः—आप सब; इति—यह (वचन कहा) ॥५॥

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तं हैव वदेदात्मान-
मेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति ॥६॥

ते ह—और उन्होंने; ऊचुः—कहा; येन ह एव—जिस ही; अर्थेन—प्रयोजन से; पुरुषः—मनुष्य; चरेत्—घूमे, स्वयं आचरण करे, पास आवे; तम् ह एव—उसको ही; वदेत्—कहे, बतावे; आत्मानम् एव इमम् वैश्वानरम्—इस वैश्वानर आत्मा को ही; संप्रति—आजकल; अध्येषि—अध्ययन (मनन)

'वैश्वानर-आत्मा' का विशेष अध्ययन कर रहे हैं, आप हमें इसी का उपदेश दें ॥६॥

राजा ने कहा, प्रातःकाल में इस बात का उत्तर दूंगा। अगले दिन प्रातःकाल हाथ में समिधा लेकर वे राजा के पास पहुंचे। वैसे



वैश्वानर-आत्मा की खोज में जिज्ञासु अश्वपति कैकेय के पास पहुंचे

कर रहे हो; तम् एव—उसको ही, नः—हमें; ब्रूहि—कहो, बताओ, उपदेश दें; इति—यह (मुनियों ने कहा) ॥६॥

तान्होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति। ते ह समित्पाणयः
पूर्वाह्णे प्रति चक्रमिरे। तान्हानुपनीयैवैतदुवाच ॥७॥

तो, शिष्य का उपनयन करके उसे दीक्षा दी जाती थी, परन्तु राजा इन महात्माओं के विनय-भाव को देखकर इतना प्रसन्न हुआ कि उनका बिना उपनयन किये ही उन्हें उपदेश देने लगा ॥७॥

पंचम प्रपाठक---(बारहवां खंड)

राजा ने पहले उपमन्यु के वंशज प्राचीनशाल से पूछा, तू किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना करता है ? उसने उत्तर दिया, हे राजन् ! मैं तो 'द्यु-लोक' को---इस तारों से जगमगाते आसमान को---आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूं। राजा ने कहा, ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है। उसके विशाल रूपों में जो तेजोमय-रूप है, तू उसकी उपासना करता है। तेजोमय-रूप को राजा ने 'सुतेजा' कहा। 'सुतेजा' के आदि दो अक्षर 'सु त' को लेकर राजा कहता है, क्योंकि तू वैश्वानर के सुतेजा रूप की आराधना करता है, इसीलिये तेरे घर में 'सुत'-'प्रसुत'-आसुत' हैं, अर्थात् तेरे घर में सोम-रस की धाराएं 'सुत', अर्थात् बह रही हैं ॥१॥

तान् ह---उन (मुनियों) को; उवाच---(राजा ने) कहा; प्रातः---(कल) प्रातः काल; वः---तुम्हें; प्रतिवक्तास्मि---प्रतिवचन (उत्तर) दूंगा, उपदेश दूंगा; इति---यह (कहा); ते ह---और वे (मुनि); समित्पाणयः---समिधायें हाथ में लिये हुए; पूर्वाह्ने---प्रातःकाल के बाद; प्रति चक्रमिरे---(राजा के) पास पहुंच गये; तान् ह---उन (मुनियों) को; अनुपनीय---बिना उपनयन विधि किये; उपनयन-विधि न करके; एव---ही; एतद्---यह; उवाच---कहा ॥७॥

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति । दिवमेव भगवो राजन्निति होवाच । एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ॥१॥

औपमन्यव---हे उपमन्यु के पुत्र (प्राचीनशाल); कम्---किस; त्वम्---तू; आत्मानम्---आत्मा को (की); उपास्से---उपासना (चिन्तन-मनन) करता है; इति---(यह पूछा); दिवम्---द्यु-लोक को; एव---ही; भगवः---आदरणीय; राजन्---हे राजन्; इति ह---यह ही; उवाच---(औपमन्यव ने) कहा; एषः वै---यह तो; सुतेजाः---सुतेजा-(अत्यधिक अच्छे तेज वाला) नामक; आत्मा---आत्मा; वैश्वानरः---वैश्वानर (है); यम्---जिस; त्वम्---

तभी परमेश्वर के आशीर्वाद से तुझे भरपेट खाना मिलता है, प्रिय-वस्तु दृष्टिगोचर होती है। जो इस प्रकार 'वैश्वानर-आत्मा' के तेजोमय-रूप की उपासना करता है, उसे परमेश्वर के आशीर्वाद से भरपेट भोजन मिलता है, प्रिय-वस्तुएं देखने को मिलती हैं, उसके कुल में ब्रह्म-तेज दीख पड़ता है। यह तेजोमय द्यु-लोक, 'वैश्वानर-आत्मा' का, जिसे तू खोज रहा है, 'मूर्धा' है, एक अंश है। तेरा मूर्धा गिर जाता, अगर तू ब्रह्म के पूर्ण-रूप के जानने के लिये मेरे पास न आता ॥२॥

पंचम प्रपाठक—(तेरहवां खंड)

फिर पुलुष के वंशज सत्ययज्ञ को सम्बोधित करके राजा ने पूछा, ऐ प्राचीनयोग्य ! बुजुर्गों में लायक, तू किसे 'आत्मा' समझकर उसकी

त्वं, आत्मानम् उपास्से—आत्मा की उपासना करता है, तस्मात्—उस कारण से, अतएव, तव—तेरे, सुतम्—सोम का सवन, प्रसुतम्—विशेष सवन, आसुतम्—सब ओर सवन ही सवन, कुले—कुल में, दृश्यते—दिखाई देता है ॥१॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं
कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते । मूर्धा त्वेष
आत्मन इति होवाच। मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

अत्सि—खाता है भोगता है, अन्नम्—अन्न को, पश्यसि—देखता है, प्रियम्—प्रिय लगनेवाले (पुत्र आदि) को, अत्ति—खाता है, अन्नम्—अन्न को, पश्यति—देखता है, प्रियम्—प्रिय को, भवति—होता है अस्य—इसके, ब्रह्मवर्चसम्—ब्रह्म-तेज, कुले—कुल में, यः—जो, एतम्—इस (द्यु-लोक) को, एवम्—इस प्रकार, आत्मानम् वैश्वानरम्—वैश्वानर-आत्मा को, उपास्ते—उपासना करता है, मूर्धा—मस्तक, सिर, तु—तो, एष—यह (द्यु-लोक) है, आत्मनः—आत्मा का इति ह—यह (वचन), उवाच—कहा, मूर्धा—सिर, ते—तेरा, व्यपतिष्यत्—गिर जाता, नीचा हो जाता, यत्—जो, माम्—मुझको (मेरे पास), न—नहीं, आगमिष्यः—आता ॥२॥

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति ।
आदित्यमेव भगवो राजन्निति होवाच। एष वै विश्वरूप आत्मा
वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥१॥

अथ ह—इसके बाद, उवाच—(राजा ने) कहा, सत्ययज्ञम् पौलुषिम्—पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ को, प्राचीनयोग्य—हे प्राचीनयोग्य, प्राचीनां (बुजुर्गों)

उपासना करता है ? उसने उत्तर दिया, हे राजन् ! मैं तो 'आदित्य' को—इस सूर्य को—आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूं। राजा ने कहा, ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है। उसके अनेक-रूपों में जो विश्व-रूप—विश्व का प्रकाशक रूप है—उसकी तू उपासना करता है। 'वैश्वानर-आत्मा' के विश्व-रूप—विश्व के प्रकाशक रूप—की तू उपासना करता है। इसलिये तेरे कुल में विश्व रूप दिखाई देते हैं ॥१॥

परमेश्वर के आशीर्वाद से तेरे यहां रथ चलते हैं, दासियां हैं, हार हैं, भरपेट भोजन है, सुहावने दृश्य हैं—यही सब तो विश्वरूप है। जो इस प्रकार 'वैश्वानर-आत्मा' के विश्व-रूप की उपासना करता है, उसे परमेश्वर के आशीर्वाद से भरपेट भोजन मिलता है, प्रिय वस्तुएं देखने को मिलती हैं, उसके कुल में ब्रह्म-तेज दीख पड़ता है। यह विश्व-रूप-आदित्य 'वैश्वानर-आत्मा' का, जिसे तू खोज रहा है, 'चक्षु' है, एक अंश है। तू अन्धा हो जाता अगर तू ब्रह्म के पूर्ण-रूप के जानने के लिये मेरे पास न आता ॥२॥

में भी योग्य; **कम् त्वम् आत्मानम् उपास्से**—तू किस आत्मा की उपासना करता है; **इति**—यह (कहा); **आदित्यम्**—आदित्य (सूर्य) को; **एव**—ही; **भगवः राजन्**—हे आदरणीय राजन्; **इति ह उवाच**—यह कहा; **एषः**—यह (आदित्य); **वै**—तो; **विश्वरूपः**—विविध रूप वाला, सब को रूप देनेवाला, सर्वप्रकाशक; **आत्मा वैश्वानरः**—वैश्वानर आत्मा है; **यम् त्वम् आत्मानम् उपास्से**—तू जिस आत्मा की उपासना करता है; **तस्मात्**—अतएव; **तव**—तेरे; **बहु**—बहुत से; **विश्वरूपम्**—अनेक रूप (विशेषताएं, विचित्रताएं); **कुले**—कुल में; **दृश्यते**—दिखाई पड़ती हैं ॥१॥

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासी निष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाचान्धोऽभविष्यो यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

प्रवृत्तः—चलने को तय्यार (कसा-कसाया, जुता हुआ); **अश्वतरीरथः**—खच्चरी-जुता रथ; **दासी, निष्कः**—दासियां और सुवर्ण; **अत्सि अन्नम्**—अन्न खाता है; **पश्यसि प्रियम्**—प्रिय वस्तु देखता है; **अत्ति अन्नम्**—अन्न खाता है; **पश्यति प्रियम्**—प्रिय वस्तु देखता है; **भवति अस्य ब्रह्मवर्चसम् कुले**—इसके कुल में ब्रह्म-तेज रहता है; **यः**—जो; **एतम्**—इस (आदित्य) को; **एवम्**—इस

पंचम प्रपाठक—(चौदहवां खंड)

फिर, भल्लव के वंशज इन्द्रद्युम्न को सम्बोधित करके राजा ने पूछा, वैयाघ्रपद्य ! तू किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना करता है ? उसने उत्तर दिया, राजन् ! मैं तो 'वायु' को आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूं। राजा ने कहा, ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है। इसके अनेक रूपों में जो 'पृथग्-वर्त्मा—भिन्न-भिन्न मार्गों में वायु की तरह बहने वाला उसका रूप है—तू उसकी उपासना करता है। उसी के अनुग्रह से तेरे पास नाना भेंटें आती हैं, और नाना-रथ-श्रेणियां तेरे पीछे चलती हैं ॥१॥

प्रकार, आत्मानम् वैश्वानरम्—वैश्वानर-आत्मा को (की), उपास्ते—उपासना करता है, चक्षुः+तु+-एतद्—आंख तो यह (आदित्य) है; आत्मन—वैश्वानर-आत्मा का, इति ह उवाच—यह कहा; अन्धः—अन्धा; अभविष्यत्—हो जाता, यत्—जो, माम् न आगमिष्य—मेरे पास न आता; इति—यह (राजा ने सत्ययज्ञ को) कहा ॥२॥

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति।
वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै पृथग्वर्त्माऽऽत्मा वैश्वानरो यं
त्वमात्मानमुपास्से। तस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति ॥१॥

अथ ह—इसके बाद, उवाच—(राजा ने) कहा (पूछा), इन्द्रद्युम्नम्—इन्द्रद्युम्न को, भाल्लवेयम्—भल्लव-वंशी, वैयाघ्रपद्य—हे व्याघ्रपद के पुत्र; कम् त्वम् आत्मानम् उपास्से—तू किस आत्मा की उपासना करता है, इति—यह (पूछा), वायुम्—वायु को, एव—ही; भगवः राजन्—हे आदरणीय राजन्; इति ह उवाच—यह कहा; एषः वै—यह तो, पृथग्वर्त्मा—पृथग्वर्त्मा (भिन्न-भिन्न मार्ग या गति-प्रवाह-वाला) नामक, आत्मा वैश्वानरः—वैश्वानर आत्मा है; यम् त्वम् आत्मानम् उपास्से—जिस आत्मा की तू उपासना करता है; तस्माद्—उस (उपासना) से; त्वाम्—तुझ को; पृथक्—अलग-अलग, भिन्न-भिन्न प्रकार की, भिन्न दिशाओं से; बलयः—भोग्य (अन्न-वस्त्र) आदि भेंटें; आयन्ति—आती हैं, पृथक्—अनेक; रथश्रेणयः—रथों की पंक्तियां, अनुयन्ति—(चलते समय) अनुगमन करती हैं ॥१॥

उसी के अनुग्रह से तू अन्न को खाता है, प्रिय-जनों को देखता है। जो इस प्रकार 'वैश्वानर-आत्मा' के नाना मार्गों में गये हुए रूपों की उपासना करता है, उसे प्रभु के आशीर्वाद से भरपेट भोजन मिलता है, प्रिय-वस्तुएं देखने को मिलती हैं, उसके कुल में ब्रह्म-तेज दीख पड़ता है। यह पृथक्-पृथक् मार्गों में बहने वाला वायु, 'वैश्वानर-आत्मा' का, जिसे तू खोज रहा है, 'प्राण' है। तेरा प्राण निकल जाता अगर तू ब्रह्म के पूर्ण-रूप के जानने के लिये मेरे पास न आता ॥२॥

पंचम प्रपाठक—(पन्द्रहवां खंड)

फिर, शार्कराक्ष के वंशज जन को सम्बोधित करके राजा ने पूछा, तू किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना करता है ? उसने उत्तर दिया, हे राजन् ! मैं तो 'आकाश' को आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूं। राजा ने कहा, ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है। इसके अनेक रूपों में जो

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते । प्राणस्त्वेष आत्मन इति होवाच । प्राणस्त उदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

अत्सि अन्नम्—तू अन्न खाता है; पश्यसि प्रियम्—प्रिय वस्तु को देखता है; अत्ति अन्नम् पश्यति प्रियम्—(वह भी) अन्न खाता और प्रिय वस्तु के दर्शन करता है; भवति अस्य ब्रह्मवर्चसम् कुले—इसके कुल में ब्रह्म-तेज होता है; यः—जो; एतम् एवम् आत्मानम् वैश्वानरम् उपास्ते—इस प्रकार (रूप) के इस वैश्वानर-आत्मा की उपासना करता है; प्राणः—प्राण (श्वास-प्रश्वास); तु—तो; एषः—यह (वायु); आत्मनः—आत्मा का; इति ह उवाच—यह (राजा ने) बताया; प्राणः—प्राण; ते—तेरा; उदक्रमिष्यत्—निकल जाता; यत्—जो; माम् न आगमिष्यः—मेरे पास न आता; इति—यह (भी कहा) ॥२॥

अथ होवाच जनं शार्कराक्ष्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ॥१॥

अथ ह उवाच—इसके बाद (राजा ने) कहा; जनम्—जन-नामी (मुनि) को; शार्कराक्ष्य—हे शर्कराक्ष के पुत्र !; कम् त्वम् आत्मानम् उपास्से—तू किस आत्मा की उपासना करता है; इति—यह (पूछा); आकाशम् एव—आकाश को ही; भगवः राजन्—हे आदरणीय राजन् !; इति ह उवाच—यह कहा; एषः—

'बहुल'—बहुत, अनन्त-रूप है, उसकी तू उपासना करता है। इसी कारण तेरे पास बहुत प्रजा तथा धन है ॥१॥

उसी के अनुग्रह से तू अन्न को खाता है, प्रिय-जनों को देखता है। जो इस प्रकार 'वैश्वानर-आत्मा' के बहुल-रूप की उपासना करता है, उसे प्रभु के प्रसाद से भरपेट भोजन मिलता है, प्रिय वस्तुएं देखने को मिलती हैं, उसके कुल में ब्रह्म-तेज दीख पड़ता है। यह अनन्त आकाश, 'वैश्वानर-आत्मा' का, जिसे तू खोज रहा है, मध्य-भाग है, धड़ है। तेरा धड़ नष्ट हो जाता अगर तू ब्रह्म के पूर्ण-रूप के जानने के लिये मेरे पास न आता ॥२॥

पंचम प्रपाठक—(सोलहवां खंड)

फिर, अश्वतराश्व के वंशज बुडिल को सम्बोधित करके राजा ने पूछा, वैयाघ्रपद्य ! तू किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना

यह (आकाश), वै—तो, बहुल—विशाल, असीम, 'बहु'—सब को अपने अन्दर 'ल'—लीन करने (समाने) वाला, आत्मा वैश्वानर—वैश्वानर आत्मा है, यम् त्वम् आत्मानम् उपास्से—जिस आत्मा की तू उपासना करता है, तस्मात्—उस (उपासना) से ही, त्वम्—तू भी, बहुल—बहुतायत (अधिकता) वाला, असि—है, प्रजया च—प्रजा (सन्तान) से, धनेन च—और धन से ॥१॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। सन्देहस्त्वेष आत्मन इति होवाच। सन्देहस्ते व्यशीर्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

अत्सि अन्नम् पश्यसि प्रियम्—तू अन्न खाता है, प्रिया का दर्शन करता है, अत्ति अन्नम् पश्यति प्रियम् भवति अस्य ब्रह्मवर्चसम् कुले—(वह भी) अन्न खाता, प्रिया का दर्शन करता है और उसके कुल में ब्रह्म-तेज बना रहता है, य—जो, एतम् एवम् आत्मानम् वैश्वानरम् उपास्ते—इस इस प्रकार के (बहुल रूपवाले) वैश्वानर-आत्मा की उपासना करता है, सन्देह—(शरीर-स्तम्भक) धड़ (शरीर का मध्यभाग), तु—तो, एष—यह (बहुल आकाश), आत्मन—आत्मा का, इति ह उवाच—यह कहा, सन्देह—धड़, ते—तेरा, व्यशीर्यद्—टूट जाता, बिखर जाता, यत् माम् न आगमिष्य—जो तू मेरे पास न आता ॥२॥

अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यप एव भगवो राजन्निति होवाचैष वै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं रयिमान्पुष्टिमानसि ॥१॥

करता है ? उसने उत्तर दिया, हे राजन् ! मैं तो 'जल' को आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूं। राजा ने कहा, ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है। इसके अनेक रूपों में जो 'रयि'—सम्पत्ति, ऐश्वर्य—रूप है, उसकी तू उपासना करता है। इसी कारण तू रयिमान् अर्थात् सम्पत्तिमान् तथा पुष्टिमान् है ॥१॥

उसी के अनुग्रह से तू अन्न खाता है, प्रिय देखता है। जो इस प्रकार 'वैश्वानर-आत्मा' के रयि-रूप की उपासना करता है, उसे प्रभु के प्रसाद से अन्न मिलता है, वह प्रिय-दर्शन होता है, उसके कुल में ब्रह्म-वर्चस दीख पड़ता है। यह रयि-रूप जल, 'वैश्वानर-आत्मा' का, जिसे तू खोज रहा है, बस्ति-प्रदेश—मूत्राशय—है। तेरा बस्ति-प्रदेश नष्ट हो जाता, अगर तू ब्रह्म के पूर्ण-रूप के जानने के लिये मेरे पास न आता ॥२॥

अथ ह उवाच—और (राजा ने) कहा; बुडिलम् आश्वतराश्विम्—अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल को; वैयाघ्रपद्य !—हे व्याघ्रपद के पुत्र ! कम् त्वम् आत्मानम् उपास्से—तू किस आत्मा की उपासना करता है; इति—यह (कहा); अपः—जलों को; एव—ही; भगवः राजन्—आदरणीय राजन् ! इति ह उवाच—यह कहा; एषः—यह (जल); वै—तो; रयिः—धन-संपत्ति (दाता); आत्मा वैश्वानरः—वैश्वानर-आत्मा है; यम् त्वम् आत्मानम् उपास्से—तू जिस आत्मा की उपासना करता है; तस्मात्—उस (उपासना) से ही; त्वम्—तू; रयिमान्—धनैश्वर्य-संपन्न (और); पुष्टिमान्—अत्यधिक पुष्ट या पोषक पदार्थों से संपन्न; असि—है ॥1॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। बस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच। बस्तिस्ते व्यभेत्स्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

अत्सि अन्नम्...उपास्ते—अर्थ पूर्ववत् है; बस्तिः—मूत्राशय; तु—तो; एषः—यह (जल) है; आत्मनः—आत्मा का; इति ह उवाच—यह कहा (बताया); बस्तिः—मूत्राशय; ते—तेरा; व्यभेत्स्यत्—फट जाता; यत् माम् न आगमिष्यः—जो मेरे पास न आता ॥२॥

पंचम प्रपाठक—(सत्रहवां खंड)

फिर, अरुण के वंशज उद्दालक को सम्बोधित करके राजा ने पूछा, हे गौतम ! तू किसे 'आत्मा' समझकर उसकी उपासना करता है ? उसने उत्तर दिया, हे राजन् ! मैं तो 'पृथिवी' को आत्मा मान-कर उसकी उपासना करता हूं । राजा ने कहा, ठीक है, 'वैश्वानर-आत्मा' का यह रूप तो है ही, परन्तु पूर्ण-रूप यह नहीं है । इसके अनेक रूपों में जो 'प्रतिष्ठा'—सबको सम्भालने वाला—रूप है, उसकी तू उपासना करता है । इसी कारण तू प्रजा और पशुओं से प्रतिष्ठित हो रहा है ॥१॥

उसी के अनुग्रह से तू अन्न खाता है, प्रिय देखता है । जो इस प्रकार 'वैश्वानर-आत्मा' के प्रतिष्ठा, अर्थात् स्थिरता के रूप की उपा-सना करता है, उसे प्रभु-प्रसाद से अन्न मिलता है, वह प्रिय-दर्शन होता है, उसके कुल में ब्रह्म-वर्चस दीख पड़ता है । यह पृथिवी का प्रतिष्ठा रूप, 'वैश्वानर-आत्मा' के, जिसे तू खोज रहा है, पांव हैं । तेरे पांव सूख जाते, अगर तू ब्रह्म के पूर्ण-रूप के जानने के लिये मेरे पास न आता ॥२॥

अथ होवाचोद्दालकमारुणिं गौतम कं त्वमात्मानमुपास्स इति ।
पृथिवीमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो
यं त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥१॥

अथ ह उवाच—इसके बाद (राजा) बोला, उद्दालकम् आरुणिम्—अरुण के पुत्र उद्दालक को, गौतम—हे गौतम-कुलोत्पन्न, कम् त्वम् आत्मानम् उपास्से—तू किस आत्मा की उपासना करता है, पृथिवीम्—पृथ्वी को, एव—ही, भगव राजन् !—हे आदरणीय राजन् !, एष—यह (पृथिवी), वै—तो, प्रतिष्ठा (सब का) आधार-आश्रय, आत्मा वैश्वानर—वैश्वानर-आत्मा है, तस्मात्—उस (उपासना) से ही, त्वम्—तू, प्रतिष्ठित—प्रतिष्ठायुक्त, असि—है, प्रजया च—प्रजा (वंश-परम्परा) से, पशुभिः च—और गौ-आदि पशुओं से ॥१॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं
कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते । पादौ त्वेतावात्मन
इति होवाच । पादौ ते व्यम्लास्येतां यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

अत्सि अन्नम्....उपास्ते—(अर्थ पूर्ववत्), पादौ—पांव, तु—तो, एतौ—ये दोनों, आत्मन—आत्मा के, इति ह उवाच—यह कहा, पादौ—

पंचम प्रपाठक—(अठारहवां खंड)

इतना कह चुकने के बाद अश्वपति कैकेय ने उन सब उपासकों को सम्बोधित करके कहा, आप लोग 'वैश्वानर-आत्मा' को भिन्न-भिन्न तौर से जानते रहे, उसके पृथक्-पृथक् रूप की उपासना करते रहे, और अन्न खाकर जैसी तृप्ति होती है वैसी तृप्ति का जीवन व्यतीत करते रहे। जो इस प्रादेश-मात्र 'वैश्वानर-आत्मा' की—उस आत्मा की जिसकी आप लोग एक-एक 'प्रदेश' में, एक-एक अंश में उपासना करते रहे हैं—यह समझकर उपासना करता है मानो वह एक प्रदेश में ही नहीं है, अपितु सर्वत्र विद्यमान है, वह सब लोकों में, सब भूतों में, सब आत्माओं में, अन्न खाकर मनुष्य को जैसी तृप्ति होती है वैसी तृप्ति का अनुभव करता है ॥१॥

दोनों पांव; ते—तेरे; व्यम्लास्येताम्—मुरझा जाते, सूख जाते; यत् माम् न आगमिष्यः—जो मेरे पास न आता ॥२॥

तान्होवाच ते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वांसोऽन्नमत्थ। यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥१॥

तान् ह—उन सब को; उवाच—(राजा ने) कहा; ते—वे; वै खलु—निश्चय से; यूयम्—तुम सब; पृथक् इव—अलग-अलग रूप में; इमम्—इस; आत्मानम् वैश्वानरम्—वैश्वानर-आत्मा को; विद्वांसः—जानने वाले; अन्नम्—अन्न को; अत्थ—खाते हो; यः तु—जो तो; एतम्—इस (आत्मा) को; एवम्—इस (आगे बताये) रूप में; प्रादेशमात्रम्—प्रत्येक देश में (सर्वत्र) व्यापक; द्युलोक (प्रथम रूप) से पृथिवी (छठे रूप) तक के परिमाण वाले (सर्वव्यापक) या अंगुष्ठमात्र; अभिविमानम्—सब को ही (दुःख आदि में) प्रतीत होने वाले या सब का विशेष रूप से ज्ञान (मान) करनेवाले (सर्वज्ञ); आत्मानम्—आत्मा को; वैश्वानरम्—सब के प्रेरक, सर्वरूप, सब को सर्वदा प्राप्त (ब्रह्म को); उपास्ते—उपासना (ध्यान-मनन-चिन्तन) करता है; सः—वह; सर्वेषु—सब; लोकेषु—लोकों में (स्थिति-अवस्थाओं) में; सर्वेषु भूतेषु—सब चराचर जगत् में; सर्वेषु—सब; आत्मसु—आत्मयुक्त शरीरों में (सब योनियों में); अन्नम् अत्ति—अन्न-भोक्ता होता है (उसे कभी कमी नहीं होती—पूर्ण-काम हो जाता है) ॥१॥

उस सर्वत्र विद्यमान 'वैश्वानर-आत्मा' का विराट् रूप देखो। तेजोमय-द्यु-लोक उसका मूर्धा है, विश्वरूप-आदित्य उसका चक्षु है, पृथग्वर्त्मा-वायु उसका प्राण है, अनन्त-आकाश उसका धड़ है, ऐश्वर्य-रूप-जल उसका बस्ति-प्रदेश है, पृथिवी उसके पांव हैं, यज्ञ की वेदी उसकी छाती है, यज्ञ की कुशा उसके रोम हैं, गार्हपत्याग्नि उसका हृदय है, अन्वाहार्यपचनाग्नि उसका मन है, आहवनीयाग्नि उसका मुख है ॥२॥

(इस प्रकार 'विश्व' में 'नर'—Cosmic man—रूप की कल्पना करके राजा ने 'वैश्वानर' का वर्णन कर दिया।)

पंचम प्रपाठक—(उन्नीसवां खंड)

(विश्व एक 'विराट्-नर' है—'वैश्वानर' है। उसका और इस नर-देह का, अर्थात् ब्रह्माड का और पिड का आपस में सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त संसार में सब जगह यज्ञ हो रहा है—ब्रह्माड में भी, पिड में भी। पिड, अर्थात् 'नर' में हो रहे यज्ञ को, ब्रह्माड, अर्थात् 'वैश्वानर' के यज्ञ से जोडते हुए अश्वपति कहने लगे—)

उपासक के पास जो भोजन पहले-पहल आये, उसे यज्ञ की आहुति के समान समझे। भोजन करते हुए मुख में जो पहला ग्रास डाले, उसे

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥२॥

तस्य ह वै एतस्य—उस-इस ही, आत्मनः वैश्वानरस्य—वैश्वानर-आत्मा का, मूर्धा—सिर, मस्तक, सुतेजा—द्युलोक है, चक्षुः—आँख, विश्वरूपः—आदित्य (सूर्य) है, प्राणः—श्वास-प्रश्वास, पृथग्वर्त्मा+आत्मा—वायु है, संदेहः—धड़, बहुलः—आकाश है, बस्ति—मूत्राशय, रयि—जल है, पृथिवी एव—पृथिवी ही, पादौ—पाँव हैं, उरः—छाती, एव—ही, वेदिः—यज्ञ-वेदी, लोमानि—छाती के बाल, बर्हिः—कुशा, हृदयम्—हृदय, गार्हपत्यः—गार्हपत्य-अग्नि, मनः—मन (अन्तःकरण); अन्वाहार्यपचनः—अन्वाहार्यपचन-अग्नि, आस्यम्—मुख; आहवनीय—आहवनीय-अग्नि है ॥२॥

तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ॥१॥

तद्—सो, यद्—जो; भक्तम्—भात (अन्न); प्रथमम्—सब से पहले;

यज्ञ में डाली हुई प्रथम आहुति समझे, और बोले—'प्राणाय स्वाहा'—'यह आहुति मैं नर-देह के प्राण-देवता को देता हूं'! इस प्रकार नर-देह का प्राण तृप्त होता है ॥१॥

प्राण के तृप्त होने से चक्षु तृप्त होती है। यह नर-देह उस वैश्वानर के तत्त्वों से बना है, पिंड ब्रह्मांड का ही अंश है, अतः पिंड में चक्षु के तृप्त होने पर ब्रह्मांड में सूर्य तृप्त होता है, सूर्य के तृप्त होने पर द्यौ तृप्त होता है, द्यौ के तृप्त होने पर सूर्य तथा द्यौ पर जो भी आश्रित हैं, वे तृप्त होते हैं। इस प्रकार उपासक तृप्ति-भावना को जब पिंड से ब्रह्मांड तक फैला देता है, नर से वैश्वानर तक तृप्ति-ही-तृप्ति का विस्तार कर देता है, तब स्वयं प्रजा, पशु, भोग-सामग्री, तेज और ब्रह्मवर्चस से तृप्त हो जाता है ॥२॥

आगच्छेत्—प्राप्त हो; **तद्**—वह (भोजन); **होमीयम्**—होम के लिये है; आहुति-सामग्री के तुल्य है; **सः**—वह; **याम्**—जिस; **प्रथमाम्**—पहली; **आहुतिम्**—आहुति को (अन्न के ग्रास को); **जुहुयात्**—हवन करे, ग्रहण करे, मुंह में डाले; **ताम्**—उसको; **जुहुयात्**—(मंत्र बोल कर) हवन करे; **प्राणाय स्वाहा**—'प्राणाय स्वाहा' (देह के प्राण के लिए सुहुत हो); **इति**—इस (मंत्र को बोलकर; **प्राणः**—प्राण; **तृप्यति**—तृप्त (पुष्ट) होता है ॥१॥

> प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किंच द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

प्राणे तृप्यति—प्राण के तृप्त हो जाने पर; **चक्षुः तृप्यति**—नेत्र तृप्त हो जाता है; **चक्षुषि तृप्यति**—नेत्र के तृप्त हो जाने पर; **आदित्यः तृप्यति**—सूर्य तृप्त हो जाता है; **आदित्ये तृप्यति**—सूर्य के तृप्त होने पर; **द्यौः तृप्यति**—द्युलोक तृप्त हो जाता है; **दिवि तृप्यन्त्याम्**—द्यु-लोक के तृप्त होने पर; **यत् किंच**—जो कुछ भी; **द्यौः च**—द्युलोक; **आदित्यः च**—और सूर्य; **अधितिष्ठतः**—अपने में रखते (धारण करते) हैं; **तत्**—वह सब; **तृप्यति**—तृप्त हो जाता है; **तस्य**—उस सब की; **अनुतृप्तिम्** (**तृप्तिम् अनु**)—तृप्ति के पीछे; **तृप्यति**—(यह अन्न का होता) तृप्त होता है; **प्रजया**—सन्तान से; **पशुभिः**—पशुओं से; **अन्नाद्येन**—खाद्य (भोज्य) अन्न से; **तेजसा**—शरीर की कान्ति से; **ब्रह्मवर्चसेन**—(स्वाध्याय-मनन आदि मानसिक) ब्रह्म-तेज से; **इति**—यह (बताया) ॥२॥

पंचम प्रपाठक (बीसवां खंड)

भोजन के समय मुख में जो दूसरा ग्रास डाले, उसे यज्ञ में डाली हुई द्वितीय आहुति समझे, और बोले—'व्यानाय स्वाहा'—'यह आहुति मैं नर-देह के व्यान-देवता को देता हूं।' इस प्रकार नर-देह का व्यान तृप्त होता है ॥१॥

व्यान के तृप्त होने से श्रोत्र तृप्त होता है। पिंड में श्रोत्र के तृप्त होने पर ब्रह्मांड में चन्द्रमा तृप्त होता है, चन्द्रमा के तृप्त होने पर दिशाएं तृप्त होती हैं, दिशाओं के तृप्त होने पर दिशाओं तथा चन्द्रमा पर जो भी आश्रित हैं, वे तृप्त होते हैं। इस प्रकार उपासक तृप्ति-भावना को जब पिंड से ब्रह्मांड तक, नर से वैश्वानर तक तृप्ति-ही-तृप्ति फैला देता है, तब स्वयं प्रजा, पशु, भोग्य-सामग्री, तेज और ब्रह्म-वर्चस से तृप्त हो जाता है ॥२॥

अथ यां द्वितीया जुहुयात्तां जुहुयाद् व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ॥१॥

अथ—इसके बाद, याम् द्वितीयाम्—जिस दूसरी (अन्न आहुति) को, जुहुयात्—हवन करे, ताम्—उसको, जुहुयात्—हवन करे, व्यानाय स्वाहा—(व्यान-प्राण की तृप्ति के लिए) 'व्यानाय स्वाहा', इति—यह (मंत्र बोलकर), व्यानः तृप्यति—(शरीर की) व्यान-वायु तृप्त हो जाती है ॥१॥

व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किंच दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

व्याने तृप्यति—व्यान के तृप्त हो जाने पर, श्रोत्रम् तृप्यति—कान तृप्त हो जाता है, श्रोत्रे तृप्यति—कान के तृप्त होने पर, चन्द्रमाः तृप्यति—चन्द्रमा तृप्त हो जाता है, चन्द्रमसि तृप्यति—चन्द्रमा के तृप्त हो जाने पर, दिशः तृप्यन्ति—दिशाएं तृप्त हो जाती हैं, दिक्षु तृप्यन्तीषु—दिशाओं के तृप्त हो जाने पर, यत् किंच—जो कुछ भी, दिशः च—दिशाएं, चन्द्रमाः च—और चन्द्रमा, अधितिष्ठन्ति—अपने अन्दर धारण करते हैं, तत् तृप्यति—वह तृप्त हो जाता है, तस्य—उस (सब) की, तृप्तिम् अनु—तृप्ति के पीछे (कारण से), तृप्यति—(वह अन्न का होता भी) तृप्त हो जाता है, प्रजया ..इति—(अर्थ पूर्ववत्) ॥२॥

पंचम प्रपाठक—(इक्कीसवां खंड)

भोजन के समय मुख में जो तीसरा ग्रास डाले, उसे यज्ञ में डाली हुई तृतीय आहुति समझे, और बोले—'अपानाय स्वाहा'—'यह आहुति में नर-देह के अपान-देवता को देता हूं।' इस प्रकार नर-देह का अपान तृप्त होता है ॥१॥

अपान के तृप्त होने से वाणी तृप्त होती है। पिंड में वाणी के तृप्त होने पर ब्रह्मांड में अग्नि तृप्त होती है, अग्नि के तृप्त होने पर पृथिवी तृप्त होती है, पृथिवी के तृप्त होने पर जो पृथिवी और अग्नि पर आश्रित हैं, वे तृप्त होते हैं। इस प्रकार उपासक तृप्ति-भावना को जब पिंड से ब्रह्मांड तक, नर से वैश्वानर तक फैला देता है, तब स्वयं प्रजा, पशु, भोग्य-सामग्री, तेज और ब्रह्म-वर्चस से तृप्त हो जाता है ॥२॥

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति ॥१॥

अथ—और; **याम् तृतीयां जुहुयात्**—जो तीसरी (अन्न-आहुति) का होम करे; **ताम् जुहुयात्**—उसका होम करे; **अपानाय स्वाहा**—'अपानाय स्वाहा'; **इति**—इस मंत्र से; **अपानः**—अपान (वायु); **तृप्यति**—तृप्त हो जाता है ॥१॥

अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किंच पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

अपाने तृप्यति—अपान-वायु के तृप्त हो जाने पर; **वाक् तृप्यति**—वाणी तृप्त हो जाती है; **वाचि तृप्यन्त्याम्**—वाणी के तृप्त हो जाने पर; **अग्निः तृप्यति**—अग्नि तृप्त हो जाता है; **अग्नौ तृप्यति**—अग्नि के तृप्त हो जाने पर; **पृथिवी तृप्यति**—पृथिवी तृप्त हो जाती है; **पृथिव्याम् तृप्यन्त्याम्**—पृथ्वी के तृप्त हो जाने पर; **यत् किं च**—जो कुछ भी; **पृथिवी च**—पृथिवी; **अग्निः च**—और अग्नि; **अधितिष्ठतः**—अपने में धारण करते—रखते हैं; **तत् तृप्यति**—वह तृप्त हो जाता है; **तस्य**—उस (सब) की; **तृप्तिम् अनु**—तृप्ति के पीछे (कारण से); **तृप्यति**—(यह अन्न का होता भी) तृप्त हो जाता है; **प्रजया...इति**—(अर्थ पूर्ववत्) ॥२॥

पंचम प्रपाठक—(बाईसवां खंड)

भोजन के समय मुख में जो चौथा ग्रास डाले, उसे यज्ञ में डाली चतुर्थ आहुति समझे, और बोले—'समानाय स्वाहा'—'यह आहुति में नर-देह के समान-देवता को देता हूं।' इस प्रकार नर-देह का समान तृप्त होता है ॥१॥

समान के तृप्त होने पर मन तृप्त होता है। पिंड में मन के तृप्त होने पर ब्रह्मांड में मेघ तृप्त होता है, मेघ के तृप्त होने पर विद्युत् तृप्त होती है, विद्युत् के तृप्त होने पर जो विद्युत् और मेघ पर आश्रित है, वे तृप्त होते हैं। इस प्रकार उपासक तृप्ति-भावना को जब पिंड से ब्रह्मांड तक, नर से वैश्वानर तक फैला देता है, तब स्वयं प्रजा, पशु, भोग्य-सामग्री, तेज और ब्रह्म-वर्चस से तृप्त हो जाता है ॥२॥

पंचम प्रपाठक—(तेईसवां खंड)

भोजन के समय मुख में जो पांचवां ग्रास डाले, उसे यज्ञ में डाली हुई पंचम आहुति समझे और बोले—'उदानाय स्वाहा'—'यह आहुति

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात्तां जुहुयात्समानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति ॥१॥

अथ—इसके बाद; याम् चतुर्थीम् जुहुयात्—जिस चौथी (अन्न-आहुति) का होम करे, ताम् जुहुयात्—उसका होम करे, समानाय स्वाहा—'समानाय स्वाहा', इति—इस (मन्त्र को बोलकर); समानः—समान नामी शरीर-गत वायु; तृप्यति—तृप्त हो जाती है॥ १॥

समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किंच विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

समाने तृप्यति—समान के तृप्त हो जाने पर, मनः तृप्यति—मन तृप्त हो जाता है, मनसि तृप्यति—मन के तृप्त हो जाने पर; पर्जन्य—मेघ, तृप्यति—तृप्त हो जाता है; पर्जन्ये तृप्यति—मेघ के तृप्त होने पर; विद्युत् तृप्यति—बिजली तृप्त हो जाती है; विद्युति तृप्यन्त्याम्—बिजली के तृप्त हो जाने पर, यत् किंच—जो कुछ भी, विद्युत् च—बिजली; पर्जन्यः च—और मेघ, अधितिष्ठत—अपने अन्दर धारण करते हैं; तत् तृप्यति—वह तृप्त हो जाता है; तस्य - इति—(अर्थ पूर्ववत्) ॥२॥

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति ॥१॥

में नर-देह के उदान-देवता को देता हूं।' इस प्रकार नर-देह का उदान तृप्त होता है ॥१॥

उदान के तृप्त होने पर वायु तृप्त होता है। पिंड में वायु के तृप्त होने पर ब्रह्मांड में आकाश तृप्त होता है, आकाश के तृप्त होने पर जो वायु तथा आकाश पर आश्रित हैं, वे तृप्त होते हैं। इस प्रकार उपासक तृप्ति भावना को जब पिंड से ब्रह्मांड तक, नर से वैश्वानर तक फैला देता है, तब स्वयं प्रजा, पशु, भोग्य-सामग्री, तेज और ब्रह्म-वर्चस से तृप्त हो जाता है ॥२॥

पंचम प्रपाठक—(चौबीसवां खंड)

जो कोई इस रहस्य को न जानता हुआ अग्निहोत्र करता है, वह ऐसा हवन करता है जैसे कोई अंगारों को हटाकर राख में हवन करे ॥१॥

अथ—और; याम्—जिस; पञ्चमीम्—पांचवीं आहुति (अन्न ग्रास) को; जुहुयात्—होम करे (ग्रहण करे); ताम्—उसको; जुहुयात्—होम करे (ग्रहण करे); उदानाय स्वाहा—'उदानाय स्वाहा'; इति—यह (मंत्र बोलकर); उदानः—उदान नामी (शरीर-गत) वायु, तृप्यति—तृप्त हो जाती है ॥१॥

उदाने तृप्यति त्वक् तृप्यति त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्या-माकाशस्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किंच वायुश्चाकाशश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

उदाने तृप्यति—उदान के तृप्त होने पर; त्वक्—त्वचा; तृप्यति—तृप्त हो जाती है; त्वचि तृप्यन्त्याम्—त्वचा के तृप्त हो जाने पर; वायुः तृप्यति—वायु तृप्त हो जाती है; वायौ तृप्यति—वायु के तृप्त हो जाने पर; आकाशः तृप्यति—आकाश तृप्त हो जाता है; आकाशे तृप्यति—आकाश के तृप्त हो जाने पर; यत् किंच—जो कुछ भी; वायुः च—वायु; आकाशः च—और आकाश; अधितिष्ठतः—अपने अन्दर धारण करते-रखते हैं; तत् तृप्यति—वह सब तृप्त हो जाता है; तस्य अनु. . . इति—(अर्थ पूर्ववत्) ॥२॥

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारा-
नपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक्तत्स्यात् ॥१॥

सः यः—वह जो; इदम्—इस (रहस्य) को; अविद्वान्—न जानने वाला; अग्निहोत्रम्—इस (जठराग्नि-हवन) अग्निहोत्र को; जुहोति—होमता है,

जो कोई इस रहस्य को जानकर अग्निहोत्र करता है, उसका सब लोकों में, सब प्राणियों में, सब आत्माओं में हवन-ही-हवन हुआ करता है ॥२॥

जो कोई इस रहस्य को जानता हुआ अग्निहोत्र करता है, उसके सारे पाप ऐसे जल जाते हैं जैसे सरकंडे के ऊपर की रुई अग्नि में डाली हुई सर्र से राख हो जाती है ॥३॥

इसीलिये इस रहस्य को जानने वाला स्वयं जो भोजन करता है, उसे तो यज्ञ समझता ही है, अगर चाण्डाल को भी भोजन देता है, भले ही उच्छिष्ट भोजन दे, उसे भी 'वैश्वानर-आत्मा' में किया गया होम ही समझता है, इस पर यह श्लोक भी है—॥४॥

करता है, यथा—जैसे, मानो, अङ्गारान्—अंगारों (जलती अग्नि) को, अपोह्य—अलग हटाकर, भस्मनि—राख में, जुहुयात्—हवन करे, तादृक्—वैसा, उसके समान ही, तत्—वह, स्यात्—होता है ॥१॥

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु
लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति ॥२॥

अथ—और, यः—जो, एतद्—इस (रहस्य) को, एवम्—इस प्रकार, इस रूप में, विद्वान्—जानता हुआ, अग्निहोत्रम् जुहोति—इस अग्निहोत्र को करता है, तस्य—उस (होता) का, सर्वेषु लोकेषु—सब लोकों में, सर्वेषु भूतेषु—सब प्राणियों में, सर्वेषु आत्मसु—सब आत्माओं में, हुतम्—हवन (अन्न-ग्रहण), भवति—होता है ॥२॥

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवꣳ हास्य सर्वे पाप्मानः
प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥३॥

तद्—तो, यथा—जैसे, इषीका-तूलम्—सरकंडे की रुई, अग्नौ—अग्नि में, प्रोतम्—डाली हुई, प्रदूयेत—अच्छी तरह तत्काल नष्ट हो जाती है, एवम् ह—इस प्रकार ही, अस्य—इस (होता) के, सर्वे—सारे, पाप्मान—पाप, पाप-कर्म, शरीर की अस्वस्थता, प्रदूयन्ते—नष्ट हो जाते हैं, यः—जो, एतत्—इसे, एवम्—इस प्रकार, विद्वान्—जानता हुआ, अग्निहोत्रम्—अग्निहोत्र को, जुहोति—करता है ॥३॥

तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि
हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतꣳ स्यादिति । तदेष श्लोकः ॥४॥

तस्माद् उ ह—अतएव, एवंविद्—इस प्रकार (वैश्वानर-यज्ञ को) जानने वाला, यद्यपि—अगर, चण्डालाय—चाण्डाल को, उच्छिष्टम्—बचा भोजन

जैसे भूख से व्याकुल बालक माता के आस-पास बैठ जाते हैं, ऐसे ही सब प्राणी अग्निहोत्र की उपासना करते हैं, अग्निहोत्र की उपासना करते हैं—जीवन में हर जगह यज्ञ को ही देखते हैं ॥५॥

(मनुष्य अपने जीवन को एक यज्ञ समझे। यज्ञ में जैसे आहुतियां दी जाती हैं, वैसे मुख में डाले एक-एक ग्रास को आहुति समझकर डाले। आहुति यज्ञ-कुंड में पड़ी नहीं रहती, वह अग्नि द्वारा सूक्ष्म होकर सृष्टि में फैल जाती है। हम मुख में पहला ग्रास डालते हुए कहें—'प्राणाय स्वाहा'—यह ग्रास एक आहुति है, जो हम प्राण की अग्नि में डालते हैं। प्राण इस आहुति से 'नर-देह' की आंख की ज्योति उत्पन्न करे, परन्तु वहीं तक रुक न जाय। यह ग्रास हमारे 'नर-देह' की 'आंख' से लेकर विश्व के 'विराट्-देह'—'वैश्वानर-आत्मा'—के 'आदित्य' तक सबके कल्याण के लिए अपने को फैला दे। जैसे भोजन करने से, अन्न खाने से हमें वैयक्तिक-तृप्ति होती है, वैसे मुख में डाली हुई पहली आहुति का यह फल हो कि आदित्य तक सब जड़-चेतन-रूप समष्टि-जगत् की अखंड तृप्ति के हम कारण बनें। 'नर' (Individual being) का आत्मा ही तृप्त न हो, 'वैश्वानर' (Social being) का आत्मा भी तृप्त हो। इसी प्रकार दूसरे ग्रास को भी एक आहुति समझकर मुंह में

या जूठा भोजन; **प्रयच्छेत्**—दे देवे; **आत्मनि**—अपने, आत्मा में; **ह एव**—ही; **तद्**—वह (उच्छिष्ट भोजन); **वैश्वानरे**—वैश्वानर आत्मा (अग्नि) में; **हुतम्**—हवन किया, दिया हुआ; **स्यात्**—होता है; **इति**—ऐसे; **तद् एषः श्लोकः**—तो (इसकी पुष्टि में) यह श्लोक भी है ॥४॥

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते। एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥५॥

यथा—जैसे; **इह**—यहां, इस संसार में; **क्षुधिताः**—भूखे; **बालाः**—बालक; **मातरम्**—माता को (के); **परि+उपासते**—चारों ओर (घेर कर) बैठ जाते हैं; **एवम्**—इस ही प्रकार; **सर्वाणि**—सारे; **भूतानि**—प्राणी; **अग्निहोत्रम्**—इस (वैश्वानर-जाठराग्नि रूप) अग्निहोत्र (अन्न-ग्रहण) को; **उपासते**—सेवन करते हैं; **इति**—यह (श्लोक है); **अग्निहोत्रम् उपासते**—अग्निहोत्र करते हैं; **इति**—ऐसे (द्विरुक्ति आदरार्थ व प्रपाठक-समाप्ति की द्योतक है)॥५॥

डाले और कहे—'व्यानाय स्वाहा'—यह ग्रास दूसरी आहुति है, जो हम व्यान की अग्नि में डालते हैं। व्यान इस आहुति से 'नर-देह' में श्रोत-शक्ति उत्पन्न करे, और वही न रुककर विश्व के 'विराट्-देह' में चन्द्र तक सबका कल्याण करे, और सब प्राणियो में वैसी अखड-तृप्ति दिखाई दे जैसी मनुष्य को भोजन करने के बाद प्राप्त होती है। तीसरा ग्रास तीसरी आहुति है। इसे मुख में डालता हुआ—'अपानाय स्वाहा' कहे। इस आहुति से 'नर-देह' में वाणी तथा 'विराट्-देह' में अग्नि तक सब जगह तृप्ति-ही-तृप्ति का राज्य हो—'व्यष्टि' तथा 'समष्टि' में कही अतृप्ति न रहे। 'समानाय स्वाहा' कहकर चौथा ग्रास खाये, जो चौथी आहुति है। यह ग्रास शरीर में मन को और विश्व में मेघ तक तृप्ति फैला दे। पाचवा प्राण उदान है, अत पाचवा ग्रास खाता हुआ कहे—'उदानाय स्वाहा'। उदान-रूपी-अग्नि में पडी हुई पाचवी आहुति शरीर के वायु तथा विश्व के 'विराट्-देह' के आकाश में तृप्ति का स्रोत बहा दे। इस प्रकार 'वैश्वानर-आत्मा' की साधना का अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपनी तृप्ति से ही सन्तुष्ट न हो, विश्व की तृप्ति को अपना ध्येय बनाये, और एक-एक ग्रास इसी उद्देश्य से मुह में डाले। परन्तु प्रश्न होता है कि अगर 'नर-देह' (पिंड) की तरह 'विराट्-देह' (ब्रह्माड) की तृप्ति आवश्यक है, तो जैसे 'नर-देह' का 'आत्मा' है, वैसे 'विराट्-देह' का कौन-सा आत्मा है? इसी 'विराट्-देह' के आत्मा को उपनिषद् में 'वैश्वानर-आत्मा' कहा है। इस 'वैश्वानर-आत्मा' की खोज में प्राचीनशाल, सत्य-यज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, बुडिल तथा उद्दालक निकले थे और अश्वपति के पास गये थे। इन लोगों में से कोई द्यु को, कोई आदित्य को, कोई वायु को, कोई आकाश को, कोई जल को, और कोई पृथिवी को सब-कुछ मानकर उसकी उपासना में लीन था। हम भी तो आजकल पाच भूतों को ही सब-कुछ माने बैठे हैं। उपनिषत्कार का कथन है कि ये भूत 'वैश्वानर-आत्मा' के देह हैं, और देह के भी भिन्न-भिन्न अंग हैं। जैसे मनुष्य की आख, नाक, कान आदि अलग-अलग मनुष्य का शरीर नहीं है, वैसे द्यु-आदित्य-वायु-पृथिवी-

आकाश-जल आदि 'विराट्-पुरुष' के मूर्धा, चक्षु, प्राण, पांव, धड़ तथा बस्ति-प्रदेश हैं, उसके भिन्न-भिन्न अंग हैं। इन अंगों से मिलकर ही 'वैश्वानर' का देह बनता है, और उस 'वैश्वानर' का आधार-भूत तत्त्व ही 'वैश्वानर-आत्मा' है। द्यु-लोक को वैश्वानर मत समझो यह तो उसका तेजोमय एक रूप है, मूर्धा है; आदित्य को ही वैश्वानर मत समझो, यह तो उसका विश्व-रूप है, चक्षु है; वायु उसका पृथग्वर्त्मा-रूप है, प्राण है; आकाश उसका बहुल-रूप है, धड़ है; जल उसका रयि-रूप है, बस्ति-प्रदेश है; पृथिवी उसका प्रतिष्ठा-रूप है, पांव है। इस प्रकार उसके एक-देश—प्रादेश—की उपासना मत करो, उसके पूर्ण-रूप की उपासना करो, और उसी की उपासना 'वैश्वानर-आत्मा' की उपासना है। एक-एक नर को नहीं, 'वैश्वानर-आत्मा' को इन ऋषियों की तरह खोजो, और एक-एक नर की तृप्ति नहीं, 'वैश्वानर-आत्मा' की तृप्ति—जड़-चेतन सम्पूर्ण जगत् की तृप्ति—का उपाय करो, यही राजा अश्वपति कैकेय का वैश्वानर—Cosmic soul—सम्बन्धी उपदेश है।

षष्ठ प्रपाठक—(पहला खंड)

(श्वेतकेतु को उसके पिता का 'सदेवेदमग्र आसीत्' का उपदेश, १ से ७ खंड)

प्राचीन-काल में अरुण का वंशज श्वेतकेतु था। उसे उसके पिता ने कहा, हे श्वेतकेतु ! जाओ, किसी आश्रम में ब्रह्मचर्य धारण करके रहो। हे सोम्य ! हमारे कुल में ऐसा कोई नहीं हुआ जो वेदों का अध्ययन किये बिना 'ब्रह्म-बन्धु' होकर ही रह गया हो, अर्थात् उसकी

ॐ श्वेतकेतुर्हाऽऽरुणेय आस। तँ ह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यम्। न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥१॥

ओम्—ओम्-वाच्य प्रभु (आदिगुरु) का स्मरण कर; **श्वेतकेतुः**—श्वेतकेतु; **ह**—पहले कभी; **आरुणेयः**—अरुण का पौत्र; **आस**—था; **तम् ह**—उस (श्वेतकेतु) को; **पिता**—उसके पिता (आरुणि) ने; **उवाच**—कहा (कि); **श्वेतकेतो**—हे श्वेतकेतु; **वस**—वास कर, धारण कर; **ब्रह्मचर्यम्**—ब्रह्मचर्य-व्रत को; (**वस ब्रह्मचर्यम्**—ब्रह्मचर्य—वेद-विद्या-आत्मविद्या की प्राप्ति के लिए

योग्यता केवल इतनी हो कि ब्राह्मण उसके बन्धु हैं, सम्बन्धी हैं, स्वयं वह कुछ नहीं जानता ॥१॥

वह १२ वर्ष की आयु में आचार्य के पास गया और २४ वर्ष की आयु में सब वेदों को पढकर, बडा मनस्वी, अपने को वेदज्ञ मानने वाला और गर्व से फूला हुआ लौटकर आया।

उसे पिता ने कहा, बेटा श्वेतकेतु! तू जो अपने को बडा मनस्वी, वेदों का ज्ञाता मानकर लौटा है और बडी अकड़ में फिरता है, यह

आचार्य कुल में निवास कर), न वै—नहीं तो, नहीं ही, सोम्य—हे सुशील, अस्मत्कुलीन—हमारे कुल में उत्पन्न, अननूच्य—न अध्ययन (स्वाध्याय) करके, अशिक्षित, ब्रह्मबन्धु—ब्राह्मण जिसके बन्धु हैं, स्वयं ब्राह्मण अर्थात् वेदज्ञ या शिक्षित नहीं (ऐसे), इव—के समान, भवति—होता है, इति—यह (कहा) ॥१॥

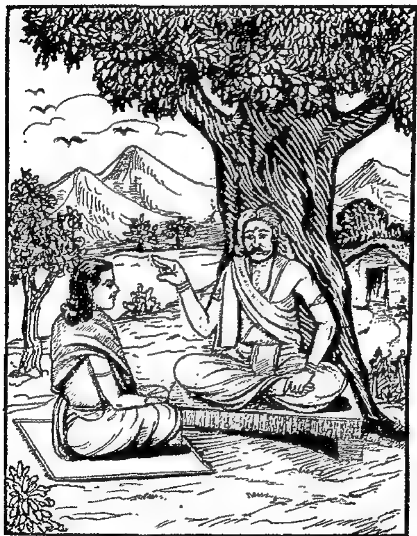
> स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय। तं ह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः ॥२॥

स ह—वह, द्वादशवर्ष—बारह वर्ष की आयु का, उपेत्य—(आचार्य-कुल में) पहुंच कर, चतुर्विंशति-वर्ष—चौबीस वर्ष का (तक), सर्वान्—सारे, वेदान्—वेदों को, अधीत्य—पढ कर, महामना—अत्यधिक मनस्वी, अपने को बडा (विद्वान्) समझने वाला, अनूचानमानी—शिक्षित होने के अभिमान वाला, स्तब्ध—अकडवाला, उद्दण्ड, अविनीत, एयाय—(घर वापिस) आया, तम् ह पिता उवाच—(घर आये) उसको पिता ने कहा, श्वेतकेतो—अरे श्वेतकेतु, यत् नु—जो तू, सोम्य—सुशील पुत्र!, इदम्—ऐसे, महा-मना—बडा मनस्वी (विचारक), अनूचानमानी—पंडिताभिमानी, स्तब्ध—अभिमान में पूरा, असि—हो रहा है, उत—क्या, तम्—उस, आदेशम्—गुरु के रहस्य निर्देश को, अप्राक्ष्य—तूने पूछा था (जाना था) ॥२॥

> येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति।
> कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥३॥

येन—जिस रहस्य निर्देश से, अश्रुतम्—(शास्त्र द्वारा) न सुना (जाना) हुआ (भी), श्रुतम्—सुना (जाना) हुआ, भवति—हो जाता है, अमतम्—न (स्वयं) मनन किया हुआ, मतम्—मनन किया हुआ, अविज्ञातम्—गहराई से

तो बतला कि तूने अपने गुरु से कभी वह 'आदेश' भी पूछा जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है, अविज्ञात विज्ञात हो जाता है ॥२-३॥



श्वेतकेतु को उसके पिता 'सदेवेदमग्र आसीत्' तथा 'तत्त्वमसि' का उपदेश दे रहे हैं

न जाना (अनिदिध्यासित); विज्ञातम्—गहराई से जाना हुआ (होता है); इति—यह (कहा); कथम् नु—कैसा, किस प्रकार का; भगवः—हे आदरणीय पिता!; सः आदेशः—वह रहस्य-निर्देश; भवति—होता है; इति—(यह श्वेतकेतु ने पूछा) ॥३॥

श्वेतकेतु ने पिता से पूछा, हे भगवन् ! वह 'आदेश' किस प्रकार का है ? पिता ने उत्तर दिया, हे सोम्य ! जिस प्रकार मिट्टी के एक ढेले के जानने से संसार के सभी मिट्टी से बने पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, वे सब पदार्थ मिट्टी के विकार हैं, वाणी से कहने मात्र की वस्तु है, नाम उनका अलग है, वास्तव में मिट्टी ही सत्य-वस्तु है ॥४॥

हे सोम्य ! जैसे लोहमणि, अर्थात् लोह-चुम्बक के जानने से संसार के सभी लोहे से बने पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, वे सब पदार्थ लोहे के विकार हैं, वाणी से कहने मात्र की वस्तु है, नाम उनका अलग है, वास्तव में लोहा ही सत्य-वस्तु है ॥५॥

हे सोम्य ! जैसे एक नुहरने के जानने से संसार के सब सीसे से बने पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, वे सब पदार्थ सीसे के विकार

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातँ
स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥४॥

यथा—जैसे, सोम्य !—हे सुशील !, एकेन—एक ही, मृत्-पिण्डेन—मट्टी के डले से, सर्वम्—सारा ही, मृन्मयम्—मिट्टी से बना, विज्ञानम्—जाना हुआ, स्यात्—हो जाता है, वाचारम्भणम्—वाणी का प्रसार या आलम्बन (वाणी का विषय, वाग्विलास), विकारः—(मूल वस्तु से अन्य रूप में) परिवर्तित वस्तु, नामधेयम्—कहलाने वाला है (वास्तव में उसकी अलग सत्ता नहीं, वह मूल उपादान से भिन्न वस्तु नहीं); मृत्तिका—मट्टी, इति एव—यह ही, सत्यम् —सत्तावाली (वस्तु) है ॥४॥

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातँ
स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥५॥

यथा—जैसे, सोम्य—हे सुशील कुमार; एकेन—एक ही, लोहमणिना—लोह-चुम्बक से, सर्वम्—सब; लोहमयम्—लोहे से बना पदार्थ; विज्ञातम् स्यात्—ज्ञात हो जाता है; वाचारम्भणम् विकारः नामधेयम्—लोहे का विकार (चक्कू-दरान्ती-कील) आदि कहलाने वाला तो वाणी का विलास मात्र ही है; लोहम्—लोहा; इति एव—यह ही, सत्यम्—सत्ता वाला है ॥५॥

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातँ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवँ सोम्य स आदेशो भवतीति ॥६॥

यथा—जैसे; सोम्य—हे सुशील ! एकेन—एक, नख-निकृन्तनेन—

हैं, वाणी से कहने मात्र की वस्तु हैं, नाम उनका अलग है, वास्तव में सीसा ही सत्य-वस्तु है। हे सोम्य ! इस प्रकार का वह 'आदेश' है ॥६॥

श्वेतकेतु ने उत्तर दिया, मेरे गुरु इस 'आदेश' को नहीं जानते होंगे, क्योंकि अगर जानते होते, तो मुझे क्यों न बतलाते ? तो पिताजी, आप ही मुझे बतायें ! पिता ने कहा, तथास्तु ॥७॥

षष्ठ प्रपाठक—(दूसरा खंड)

हे सोम्य ! सृष्टि के प्रारम्भ में 'सत्' ही था—एक, अद्वितीय। कई आचार्यों का यह कहना है कि सृष्टि के प्रारम्भ में 'असत्' ही था—एक, अद्वितीय। अगर यह बात मान लें कि सृष्टि के प्रारम्भ में 'असत्' था, तो यह मानना पड़ता है कि उस 'असत्' से 'सत्' हुआ ॥१॥

नख द्वारा कुरेदने से; सर्वम्—सब; कार्ष्णायसम्—कृष्णायस (सीसा) से बना पदार्थ; विज्ञातम् स्यात्—ज्ञात हो जाता है; वाचारम्भणम् विकारः नामधेयम्—सीसे का विकार (बने पदार्थ) तो वाणी का विलासमात्र ही है; कृष्णायसम्—सीसा; इति एव—यह (मूल तत्त्व) ही; सत्यम्—सत्ता वाला है; एवम्—इस ही प्रकार का; सोम्य—हे सुशील; सः—वह; आदेशः—(गुरु का) रहस्य-निर्देश; भवति—होता है; इति—यह (पिता ने उत्तर दिया) ॥६॥

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति ।
भगवांस्त्वेव मे तद् ब्रवीत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥७॥

न वै—नहीं ही; नूनम्—निश्चय से; भगवन्तः—आदरणीय; ते—वे (मेरे गुरु-आचार्य); एतत्—इसको; अवेदिषुः—जानते थे; यद्—जो; हि—क्योंकि; एतत्—इसको; अवेदिष्यन्—जानते होते; कथम्—क्यों; मे—मुझे; न—नहीं; अवक्ष्यन्—कहते, उपदेश देते, बताते; इति—यह (सत्य है); भगवान्—आदरणीय आप; तु—तो; एव—ही; मे—मुझे; तद्—उसको; ब्रवीतु—बतावें; इति—यह (श्वेतकेतु ने निवेदन किया); तथा—वैसे, बहुत अच्छा; इति ह उवाच—यह (पिता ने) कहा ॥७॥

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्धैक आहु-
रसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत ॥१॥

सद्—सत्तावाला; एव—ही; सोम्य—हे सुशील पुत्र; इदम्—यह; अग्रे (जगद्-रचना से) पहले; आसीत्—(सत्ता वाला) था; एकम्—इकला

परन्तु हे सोम्य ! यह कैसे हो सकता है ? 'असत्' से 'सत्' कैसे हो सकता है ? इसलिये यही मानना ठीक है कि प्रारम्भ में 'सत्' ही था—एक, अद्वितीय ॥२॥

(एक अद्वितीय—इसका अर्थ अद्वैती तो यह करते हैं कि वह एक है, अद्वितीय है, परन्तु द्वैती यह अर्थ करते हैं कि वह एक, अद्वितीय है—अर्थात् उसके समान दूसरा कोई नहीं। असल में देखा जाय तो इस प्रकरण का प्रारम्भ करते हुए कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में 'सत्' था, 'असत्' नहीं था। एक, अद्वितीय का यह अर्थ ज्यादा सगत प्रतीत होता है कि वह एक था, अर्थात् 'सत्' था—इससे अधिक द्वैत-अद्वैत के झगड़े में पड़ने का आचार्य का अभिप्राय नहीं मालूम पड़ता।)

उस 'सत्'-रूप चेतन-शक्ति ने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊं, पैदा हो जाऊं। उसने 'तेज' को रचा। तेज ने इच्छा की कि मैं बहुत

ही, अद्वितीयम्—जिसके समान दूसरा न हो, अनुपम, तत्—तो, ह—निश्चय से, एके—कई (विचारक), आहु—कहते हैं, असद् एव इदम् अग्रे आसीत्—असत् (अभाव) ही यह (जगद् रचना से) पहिले था, एकम् एव अद्वितीयम्—इकला ही अनुपम, तस्मात्—उस (पूर्व विद्यमान), असत—अभाव से ही, सद्—यह सत् (दृश्यमान जगत्), जायत (अजायत)—उत्पन्न हुआ ॥१॥

कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच। कथमसत
सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥२॥

कुत—कहां से, कैसे, तु—तो, खलु—निश्चय ही, सोम्य—हे सुशील पुत्र, एवम्—इस प्रकार, स्यात्—हो सकता है, इति ह उवाच—यह (पिता ने) कहा, कथम्—कैसे, असत—अभाव से, सत्—भावमय वस्तु, जायेत—पैदा हो सकती है, इति—यह, सत् तु एव—सत् (भाव) ही तो, सोम्य इदम् अग्रे आसीत् एकम् एव अद्वितीयम्—हे सुशील पुत्र जगद्-रचना से पहले एक और असदृश (अनुपम) सत् (सत्तावाला) ही था ॥२॥

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत
बहु स्यां प्रजायेयेति। तदपोऽसृजत। तस्माद्यत्र क्व च
शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥३॥

तद्—उस (सत्) ने, ऐक्षत—इच्छा की, देखा, बहु—बहुत, एक से अनेक, स्याम्—हो जाऊं, प्रजायेय—प्रजा वाला बनूं, अपना वंश चलाऊं, इति

हो जाऊं, पैदा हो जाऊं। उसने 'जल' को रचा। इसीलिये गर्म होने पर पसीना आ जाता है, ये जल तेज से ही पैदा हो जाते हैं ॥३॥

जलों ने इच्छा की कि हम बहुत हो जाएं, उन्होंने 'अन्न' को रचा, इसीलिये जहां कहीं बरसता है, वहीं प्रभूत अन्न होता है—जल से ही अन्न उत्पन्न होता है ॥४॥

षष्ठ प्रपाठक—(तीसरा खंड)

अपने भाव को और अधिक विशद करते हुए पिता ने कहा, तेज-जल-अन्न—इन तीन भूतों से तीन ही बीज बनते हैं—अण्डज, जीवज, उद्भिज्ज। 'अण्डज', अंडे से होने वाले; 'जीवज', जरायु से होने वाले; 'उद्भिज्ज', पृथ्वी भेदकर होने वाले ॥१॥

—यह; तत्—उसने; तेजः—तेज को; असृजत—बनाया, उत्पन्न किया; तत् तेजः ऐक्षत—उस तेज ने देखा (इच्छा की); बहु स्याम् प्रजायेय—एक से अनेक हो जाऊं और वंश चलाऊं; इति—यह; तद्—उसने; अपः—जलों को; असृजत—उत्पन्न किया; तस्माद्—उस कारण से; यत्र क्व च—जहां कहीं; शोचति—(शरीर) गर्म होता है; स्वेदते वा—तो पसीना आ जाता है; पुरुषः पुरुष (प्राणी-मनुष्य); तेजसः—तेज से; एव—ही; तद्—वह (उस रूप में); आपः—जल; अधिजायन्ते—उत्पन्न होते हैं ॥३॥

ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति। ता अन्नमसृजन्त। तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥४॥

ताः—उन; आपः—जलों ने; ऐक्षन्त—देखा, चाहा, विचारा; बह्व्यः—एक से अनेक; स्याम—हो जायें; प्र जायेमहि—प्रजावाले हों; इति—यह; ताः—उन्होंने; अन्नम्—अन्न को (पृथिवी को); असृजन्त—पैदा किया; तस्मात्—उस कारण से; यत्र क्व च—जहां कहीं भी; वर्षति—वर्षा होती है; भूयिष्ठम्—अत्यधिक; अन्नम्—अन्न; भवति—होता है; अद्भ्यः—जलों से; एव—ही; तत्—वह; अन्नाद्यम्—खाद्य अन्न, अनाज; अधिजायते—उत्पन्न होता है ॥४॥

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्यण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति ॥१॥

तेषाम्—उन; खलु—अवश्य; एषाम्—इन; भूतानाम्—प्राणियों के; त्रीणि—तीन; एव—ही; बीजानि—बीज; भवन्ति—होते हैं; अण्डजम्—अण्डज, अण्डा; जीवजम्—जरायुज; उद्भिज्जम्—जमीन फोड़ कर उत्पन्न होने वाला (वृक्ष-आदि); इति—ये (तीन) ॥१॥

फिर, उस 'सत्'-रूप चेतन-शक्ति ने सोचा, 'तेज'-'जल'-'अन्न'—इन तीन देवताओं से बने 'अण्डज'-'जीवज'-'उद्भिज्ज'—इन तीन बीजों में जीवात्मा के साथ प्रवेश करके संसार में 'नाम' और 'रूप' का विस्तार कर दूं ॥२॥

संसार के पदार्थों को तीन संख्या से आवृत कर दूं, तीन संख्या से आवृत कर दूं। बस, उस 'सत्'-रूप चेतन-शक्ति ने तेज-जल-अन्न—इन तीन देवताओं से बने अण्डज-जीवज-उद्भिज्ज—इन तीनों बीजों में जीवात्मा के साथ प्रवेश करके नाम और रूप वाले जगत् का विस्तार कर दिया ॥३॥

इस संसार के विस्तार में उसने पदार्थों को तीन बार आवृत—तीन बार आवृत कर दिया। हे सोम्य! अग्नि-जल-अन्न तथा अन्य

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन
जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ॥२॥

सा—वह, उस, इयम्—इस, देवता—सद्-रूप चेतन शक्ति (निमित्त कारण) ने, ऐक्षत—सोचा, हन्त—तो, अहम्—मैं, इमा—इन, तिस्र—तीन (तेज, अप्, अन्न—पृथिवी), देवता—दिव्य पदार्थों को, अनेन—इस, जीवेन आत्मना—जीवात्मा के द्वारा, अनुप्रविश्य—(आत्मा में विद्यमान होने से) अनु (साथ-साथ) प्रवेश करके, नामरूपे—संज्ञा और संज्ञी, वाच्य और वाचक रूप में (दृश्य-जगत) को, व्याकरवाणि—स्पष्ट कर दूं, विस्तार कर दूं, इति—यह ॥२॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति। सेयं देवतेमास्तिस्रो
देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥३॥

तासाम्—उन देवताओं के, त्रिवृतम्—तीन संख्या से युक्त, तिकड़ी को, त्रिवृतम्—तिकड़ी को, एक+एकाम्—एक-एक (तीनों की एक-एक पदार्थ में स्थिति), करवाणि—कर दूं, सा इयम् देवता—वह यह 'सद्'-देवता, इमा तिस्र देवता—इन तीनों (तेज-जल-अन्न) देवताओं को (में), अनेन एव जीवेन आत्मना अनु प्रविश्य—इस ही जीवात्मा के द्वारा (अन्तर्यामी होने से) साथ-साथ प्रवेश करके, नाम-रूपे—नाम (संज्ञा) और रूप (आकृति) को (इनसे युक्त दृश्य-जगत् का), व्याकरोत्—विस्तृत कर दिया, स्पष्ट कर दिया ॥३॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्यथा नु खलु सोम्येमा-
स्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥४॥

पदार्थों को इन तीनों देवताओं से तीन बार आवृत कैसे किया यह मुझसे समझ ॥४॥

षष्ठ प्रपाठक—(चौथा खंड)

इस सामने जलती हुई अग्नि का जो रक्त-वर्ण है वह 'तेज' का रूप है, जो शुक्ल-वर्ण है वह 'जल' का रूप है, जो कृष्ण-वर्ण है वह 'अन्न' का रूप है। अग्नि के इन तीनों आवरणों को अलग-अलग कर दिया जाय, तो अग्नि कहां रहती है? अग्नि तो केवल वाणी का व्यवहार करने के लिये तेज-जल-अन्न के विकार का नाम है। सत्य तो वे तीन रूप ही हैं ॥१॥

इस सूर्य को देखो। इसका जो रक्त-वर्ण है वह 'तेज' का रूप है, जो शुक्ल-वर्ण है वह 'जल' का रूप है, जो कृष्ण-वर्ण है वह 'अन्न'

तासाम्—उन देवताओं के; **त्रिवृतम् त्रिवृतम्**—तीन संख्या में अलग-अलग विद्यमानों को; **एकैकाम्**—एक-एक में ही स्थिति (विद्यमानता); **अकरोत्**—कर दी; **यथा नु खलु**—और जैसे; **इमाः तिस्रः देवताः**—ये तीनों देवता; **त्रिवृत् त्रिवृत्**—तीन की संख्या में अलग-अलग विद्यमान; **एकैका**—प्रत्येक पदार्थ में रहकर एक स्थान में विद्यमान; **भवति**—होती है; **तत्**—वह बात; **मे**—मुझ से; **विजानीहि**—जान; **इति**—यह (पिता ने कहा) ॥४॥

यदग्ने रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य। अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥१॥

यद्—जो; **अग्नेः**—अग्नि का; **रोहितम्**—लाल; **रूपम्**—रूप-रंग है; **तेजसः**—तेज (देवता) का; **तत्**—वह; **रूपम्**—रूप है; **यत्**—जो; **शुक्लम्**—श्वेत (रूप है); **तद्**—वह; **अपाम्**—जलों का (रूप है); **यत्**—जो; **कृष्णम्**—काला (रूप है); **तद्**—वह; **अन्नस्य**—अन्न (पृथिवी) का (रूप है); **अपागात्**—दूर हो जाय, हट जाय; **अग्नेः**—अग्नि से; **अग्नित्वम्**—अग्निपना; **वाचारम्भणम् विकारः नामधेयम्**—(अग्नि में अग्नित्व-रूप) विकार तो वाग्विलासमात्र ही है (नाम को ही है); **त्रीणि रूपाणि**—(अग्नित्व को बनाने वाले) ये तीनों रूप; **इति+एव**—इस रूप में ही; **सत्यम्**—वास्तविक सत्ता वाले हैं (अग्नित्व) नहीं ॥१॥

यदादित्यस्य रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां
यत्कृष्णं तदन्नस्य। अपागादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं
विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥२॥

का रूप है। सूर्य के इन तीनों आवरणों को अलग-अलग कर दिया जाय, तो सूर्य कहां रहता है? सूर्य तो केवल वाणी का व्यवहार करने के लिये तेज-जल-अन्न के विकार का नाम है। सत्य तो वे तीन रूप ही हैं ॥२॥

चन्द्रमा क्या है? चन्द्र का रक्त-वर्ण 'तेज' का, शुक्ल-वर्ण 'जल' का, और कृष्ण-वर्ण 'अन्न' का रूप है। इन तीनों आवरणों को अलग-अलग कर दिया जाय, तो चन्द्रमा कहां रहता है? चन्द्रमा तो केवल वाणी का व्यवहार करने के लिये तेज-जल-अन्न के विकार का नाम है। सत्य तो वे तीन रूप ही हैं ॥३॥

विद्युत् का भी रक्त-वर्ण 'तेज' का, शुक्ल-वर्ण 'जल' का, कृष्ण-वर्ण 'अन्न' का रूप है। इन तीनों आवरणों के बिना विद्युत् क्या है?

यद् आदित्यस्य—जो आदित्य (सूर्य) का, रोहितम् रूपम्—लाल रूप-रंग है, तेजसः तद् रूपम्—वह तेज का रूप है; यत् शुक्लम् तद् अपाम्—जो श्वेत (रूप है) वह जलों का (रूप है), यत् कृष्णम् तद् अन्नस्य—जो काला (रूप) है वह अन्न (पृथ्वी) का (रूप है), अपागात्—दूर हो गया, आदित्यात्—सूर्य से; आदित्यत्वम्—सूर्यत्व; वाचारम्भणम् विकारः नामधेयम्—(आदित्य में आदित्य-रूप) विकार तो वाणी का विस्तार-मात्र है (नाम को ही है), त्रीणि रूपाणि इत्येव सत्यम्—ये तीन रूप ही वास्तव में सत्य (सत्तावान्) हैं ॥२॥

यच्चन्द्रमसो रोहित्ँ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां
यत्कृष्णं तदन्नस्य। अपागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणं
विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥३॥

यत् चन्द्रमसः—जो चन्द्रमा का, रोहितम् रूपम्—लाल रूप-रंग है, तेजसः तद् रूपम्—तेज (तत्त्व) का वह रूप है, यत् शुक्लम् तद् अपाम्—जो शुक्ल रूप है वह जलों का रूप है, यत् कृष्णम्—जो काला रूप है, तद् अन्नस्य—वह रूप अन्न (पृथ्वी) का है; अपागात्—दूर हो जाता है, चन्द्रात्—चन्द्रमा से, चन्द्रत्वम्—चन्द्र रूप (पना), वाचारम्भणं सत्यम्—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

यद्विद्युतो रोहित्ँ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां
यत्कृष्णं तदन्नस्य। अपागाद्विद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणं
विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥४॥

यद् विद्युतः रोहितम् रूपम्—जो बिजली का लाल रूप है; तेजसः तद् रूपम्—वह तेज का रूप-रंग है; यत् शुक्लम् तद् अपाम्—जो श्वेत रूप है वह रूप

यह तो वाणी के व्यवहार का एक नाम-मात्र है, सत्य तो वे तीन रूप ही हैं ॥४॥

इस रहस्य को जानते हुए ही प्राचीन-काल के महाशाल, महा-श्रोत्रिय कहा करते थे, आज से कोई मत कहना कि हमारे लिये संसार में कुछ भी अश्रुत या अविज्ञात है। संसार के सभी पदार्थ इन तीन के मिलने ही से तो बने हैं, इन तीन को जान लिया, तो सब जान लिया ॥५॥

जो रक्त-वर्ण-सा दिखाई दिया, यह समझ लिया कि वह 'तेज' का रूप है; जो शुक्ल-सा दीखा, समझ लिया कि वह 'जल' का रूप है; जो कृष्ण-सा दीखा, समझ लिया कि वह 'अन्न' का रूप है ॥६॥

जलों का है; यत् कृष्णम्—जो काला रूप है; तद् अन्नस्य—वह रूप अन्न का है; अपागात्—दूर हो जाता है; विद्युतः—बिजली से; विद्युत्-त्वम्—बिजली (पना); वाचारम्भणम्. . . सत्यम्—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य
कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति । ह्येभ्यो विदांचक्रुः ॥५॥

एतद् ह वै तद्—इस उस (विज्ञान) को; विद्वांसः—जानने वाले; आहुः स्म—कहते थे; पूर्वे—पहले, प्राचीन; महाशालाः—बड़े गृहस्थ; महाश्रोत्रियाः—प्रकाण्ड वेदज्ञ एवं कर्मकाण्डी; न—नहीं; नः—हमारे लिए, हममें से; अद्य—आज; कश्चन—कोई भी व्यक्ति; अश्रुतम्—शास्त्र से न जाना हुआ; अमतम्—मनन-चिन्तन न किया हुआ; अविज्ञातम्—भली प्रकार न जाना हुआ (तत्त्व है, ऐसे); उदाहरिष्यति—कहेगा, उदाहरण के तौर पर कहेगा; हि—क्योंकि; एभ्यः—इन (रूपों से); विदांचक्रुः—(उन्होंने) जान लिया था ॥५॥

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदां-
चक्रुर्यदु शुक्लमिवाभूदित्यपां रूपमिति तद्विदां-
चक्रुर्यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदांचक्रुः ॥६॥

यत् उ—जो भी; रोहितम् इव—लाल-सा; अभूत्—हुआ; इति—ऐसे, तो; तेजसः तद् रूपम्—तेज का वह रूप है; इति—ऐसे; तद्—उसको; विदांचक्रुः—जान लिया, समझ लिया; यद् उ शुक्लम् इव अभूत्—जो तो सफ़ेद-सा हुआ; इति—ऐसे; अपाम् रूपम् इति तद् विदांचक्रुः—यह जलों का रूप है ऐसे उसको जान लिया; यद् उ—जो तो; कृष्णम् इव अभूत्—काला-सा हुआ; इति—ऐसे को; अन्नस्य रूपम् इति तद् विदांचक्रुः—अन्न (पृथ्वी) का रूप है, ऐसे उसको जान लिया ॥६॥

जो अविज्ञात-सा प्रतीत हुआ वह इन तीन देवताओं का ही समास होगा—यह उन्होंने जान लिया। हे श्वेतकेतु, जैसे मैंने तुझे 'ब्रह्मांड' में बताया, ऐसे अब मैं तुझे यह बताऊंगा कि पुरुष के शरीर, अर्थात् 'पिंड' में आकर किस प्रकार प्रत्येक पदार्थ तीन आवरणों, अर्थात् 'अन्न'-'जल'-'तेज' के मेल से बना है ॥७॥

षष्ठ प्रपाठक—(पांचवां खंड)

पहले 'अन्न' को लो। खाने के बाद अन्न तीन भागों में बंट जाता है। उसका स्थूल-तत्त्व विष्ठा बन जाता है, मध्यम-तत्त्व मांस, और सूक्ष्म-तत्त्व 'मन' बन जाता है ॥१॥

यद्वविज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समास
इति तद्विदांचक्रुर्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं
प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥७॥

यद् उ—और जो, अविज्ञातम् इव—अज्ञात-सा, अस्पष्ट-सा, अभूत्—हुआ; इति—ऐसे (तो), एतासाम्—इन; देवतानाम्—देवताओं का, एव—ही, समासः—सम्मिश्रण, सम्मिलित (रूप है), इति—ऐसे, तद्—उसको, विदांचक्रुः—जान लेते थे; यथा नु खलु—जैसे तो, सोम्य—हे प्रियदर्शन पुत्र, इमाः—ये, तिस्रः—तीनों (तेज, अप्, अन्न—पृथिवी), देवताः—(ब्रह्माण्ड में) देवताएं, पुरुषम्—पुरुष शरीर को, प्राप्य—पाकर, पहुंच कर, (पुरुषम् प्राप्य—पुरुष-शरीर में), त्रिवृत्-त्रिवृत्—तीन-तीन रूप धारण करने वाली, एकैका—एक-एक, भवति—हो जाती है, तत्—वह, मे—मेरा (मुझ से), विजानीहि—जान ले, इति—ऐसे (पिता ने कहा) ॥७॥

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातु-
स्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥१॥

अन्नम्—अन्न, अशितम्—खाया हुआ, त्रेधा—तीन प्रकार का तीन रूप में, विधीयते—किया जाता है (हो जाता है), तस्य—उसका, यः—जो, स्थविष्ठ—अधिक स्थूल, धातु—भाग, अंश है, तत्—वह, पुरीषम्—मल, यः—जो, मध्यमः—बीच का (न स्थूल न सूक्ष्म), तत्—वह, मांसम्—मांस (बनता है); यः—जो, अणिष्ठ—अत्यधिक सूक्ष्म होता है, तत्—वह, मनः—मन (बन जाता है) ॥१॥

'जल' भी पीने पर तीन भागों में बंट जाते हैं। उनका स्थूल-तत्त्व मूत्र बन जाता है, मध्यम-तत्त्व रुधिर, और सूक्ष्म-तत्त्व 'प्राण' बन जाता है ॥२॥

'तैजस'-पदार्थ घी-मक्खन आदि खाने पर तीन भागों में बंट जाते हैं। उनका स्थूल-तत्त्व अस्थि बन जाता है, मध्यम-तत्त्व मज्जा और सूक्ष्म-तत्त्व 'वाणी' बन जाती है ॥३॥

इसीलिये हे सोम्य ! 'मन' अन्न से बनता है, 'प्राण' जल से, और 'वाणी' तेज से बनती है। श्वेतकेतु ने कहा, पिताजी, जरा इस बात को फिर से समझाइये। पिता ने कहा, बहुत अच्छा ॥४॥

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं
भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ॥२॥

आपः—जल; **पीताः**—पान किये हुए; **त्रेधा विधीयन्ते**—तीन रूप में हो जाते हैं; **तासाम्**—उन (जलों) का; **यः स्थविष्ठः धातुः**—जो अति स्थूल भाग है; **तत्**—वह; **मूत्रम्**—पेशाब; **भवति**—होता है; **यः मध्यमः**—जो बीच का मध्यम (भाग है); **तत्**—वह; **लोहितम्**—रुधिर (बन जाता) है; **यः**—जो; **अणिष्ठः**—अति सूक्ष्म है; **सः प्राणः**—वह श्वास-प्रश्वास है ॥२॥

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि
भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ॥३॥

तेजः—तेज; **अशितम्**—खाया हुआ; **त्रेधा विधीयते**—तीन रूप में किया जाता (हो जाता) है; **तस्य यः स्थविष्ठः धातुः**—उसका जो अति स्थूल धातु (अंश-भाग) है; **तत्**—वह; **अस्थि**—हड्डी; **भवति**—होता (बनता) है; **यः मध्यमः**—जो बीच का (मध्यम) भाग है; **सः**—वह; **मज्जा**—मज्जा (बनता) है; **यः अणिष्ठः**—जो अति सूक्ष्म है; **सा**—वह; **वाक्**—वाणी (बन जाती है) ॥३॥

अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति
भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥४॥

अन्नमयम्—अन्न से बना; अन्न पर आश्रित; **हि**—ही; **सोम्य**—हे प्रिय !; **मनः**—मन है; **आपोमयः**—जल-निर्मित, जल पर आश्रित; **प्राणः**—श्वास-प्रश्वास (जीवन) है; **तेजोमयी**—तेज-निर्मित, तेज पर आश्रित; **वाग्**—वाणी है; **इति**—यह (बताया); **भूयः एव**—फिर और अधिक; **मा**—मुझ को; **भगवान्**—आप; **विज्ञापयतु**—समझावें; **इति**—यह (श्वेतकेतु ने कहा); **तथा**—वैसे, अच्छा !; **सोम्य**—प्रिय सुशील; **इति ह उवाच**—ऐसे (पिता ने) कहा ॥४॥

षष्ठ प्रपाठक—(छठा खंड)

हे सोम्य ! जब दही मथा जाता है, तब उसका जो सूक्ष्म अंश ऊपर उठ आता है, वह मक्खन बनता है ॥१॥

ठीक इसी तरह, हे सोम्य ! जब अन्न खाया जाता है, तब उसका जो सूक्ष्म अंश ऊपर को उठ आता है, वह 'मन' बनता है ॥२॥

और, ठीक इसी तरह, हे सोम्य ! जब जल पीया जाता है, तब उसका जो सूक्ष्म अंश ऊपर को उठ आता है, वह 'प्राण' बनता है ॥३॥

और, ठीक इसी तरह, हे सोम्य ! जब तेजोमय पदार्थ घी-मक्खन आदि खाये जाते हैं, तब उनका जो सूक्ष्म अंश ऊपर को उठ आता है, वह 'वाणी' बन जाती है ॥४॥

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति ॥१॥

दध्नः—दही की, सोम्य—हे प्रिय, मथ्यमानस्य—बिलोयी जाती हुई की, यः—जो, अणिमा—सूक्ष्मता (सूक्ष्म अंश) है, सः—वह, ऊर्ध्वः—ऊंचा, ऊपर, समुदीषति—उठ आता है ऊपर पहुंच जाता है, तत्—वह सर्पिः—घी, भवति—होता है ॥१॥

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा
स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति ॥२॥

एवम् एव खलु—इस प्रकार ही, सोम्य—हे सुपुत्र श्वेतकेतु, अन्नस्य—अन्न की, अश्यमानस्य—खाये जाते हुए, भुक्त, यः अणिमा—जो सूक्ष्मता (सूक्ष्म भाग) है, सः ऊर्ध्वः समुदीषति—वह ऊपर उठ जाता है, तत्—वह, मनः—मन, भवति—हो जाता है ॥२॥

अपां सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति ॥३॥

अपाम्—जलों का, सोम्य—हे सुशील ! , पीयमानानाम्—पिये हुए, यः अणिमा—जो सूक्ष्म भाग है, सः ऊर्ध्वः समुदीषति—वह ऊपर उठ जाता है, स प्राण भवति—वह प्राण होता है ॥३॥

तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ॥४॥

तेजसः—तेज का, सोम्य—हे सुशील पुत्र, अश्यमानस्य—खाये हुए, यः अणिमा—जो सूक्ष्म तत्त्व है, सः ऊर्ध्वः समुदीषति—वह ऊपर उठ आता है, सा वाग् भवति—वह वाणी होती है ॥४॥

इसीलिये हे सोम्य ! मन 'अन्नमय' है, प्राण 'आपोमय' है, और वाक् 'तेजोमयी' है। श्वेतकेतु ने कहा, पिताजी, अभी इसे और अधिक स्पष्ट करके समझाइये। पिता ने कहा, तथास्तु ॥५॥

षष्ठ प्रपाठक—(सातवां खंड)

हे सोम्य ! यह पुरुष सोलह कलाओं वाला है। अगर तुम पन्द्रह दिन तक खाना न खाओ, किन्तु भरपेट जल पीते रहो, तो जल पीते रहने के कारण प्राण नहीं टूटेगा—प्राण जलमय जो है ॥१॥

श्वेतकेतु ने पन्द्रह दिन तक खाना नहीं खाया। फिर पिता के पास आकर बोला, पिताजी, कहिये, अब क्या करूं ? पिता ने कहा,

---

अन्नमयँ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति ।
भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥५॥

अन्नमयम्—अन्न से बना, अन्न पर आश्रित; **हि**—ही; **सोम्य**—हे सोम्य; **मनः**—मन (होता है); **आपोमयः**—जल से बना, जल पर आश्रित; **प्राणः**—प्राण (होता है); **तेजोमयी**—तेज से बनी, तेज पर आश्रित; **वाग्**—वाणी (होती है); **इति**—यह (पिता ने बताया); **भूयः एव मा भगवान् विज्ञापयतु**—फिर और इससे भी अधिक आप मुझको समझावें; **इति**—यह (पुत्र ने कहा); **तथा**—बहुत अच्छा; **सोम्य**—हे पुत्र; **इति ह उवाच**—ऐसे (आगे का) उपदेश दिया ॥५॥

षोडशकलः सोम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माऽशीः काम-
मपः पिबापोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति ॥१॥

षोडशकलः—(प्राण आदि) सोलह कलाओं (अंगों, अंशों) वाला; **सोम्य**—हे सोम्य !; **पुरुषः**—शरीरी जीवात्मा (होता है); **पञ्चदश**—पन्द्रह; **अहानि**—दिन तक; **मा**—मत; **अशीः**—भोजन कर; **कामम्**—यथेच्छ; **अपः**—जल; **पिब**—पी; **आपोमयः**—जल-निर्मित; **प्राणः**—प्राण; **पिबतः**—(पानी) पीने वाले का; **न विच्छेत्स्यते**—नहीं वियुक्त होगा (शरीर छोड़ेगा); **इति**—यह, ऐसे ॥१॥

स ह पञ्चदशाहानि नाऽऽशाथ हैनमुपससाद । किं ब्रवीमि भो इत्यृचः
सोम्य यजूँषि सामानीति स होवाच । न वै मा प्रतिभांति भो इति ॥२॥

सः ह—उस (श्वेतकेतु) ने; **पञ्चदश अहानि**—पन्द्रह दिन तक; **न**—नहीं; **आश**—भोजन किया; **अथ ह**—और इसके बाद; **एनम्**—इस (अपने पिता) के; **उपससाद**—पास आकर बैठ गया, पास आया; **किम्**—

ऋक्-यजु-साम के मन्त्र मुझे सुनाओ । श्वेतकेतु ने कहा, पिताजी, वे तो मुझे सूझते ही नहीं, स्मरण ही नहीं आ रहे ॥२॥

पिता ने कहा, हे सोम्य ! जैसे बहुत बड़ी प्रज्वलित अग्नि का जुगनू—जितना एक अंगारा बच रहे, तो वह अपने से अधिक को, एक ढेर को, नहीं जला सकता, इसी तरह हे सोम्य ! तेरी सोलह कलाओं में से केवल एक कला बच रही है, इसलिये तू वेदों का स्मरण नहीं कर सक रहा । अच्छा, अब खाकर आओ ॥३॥

मैंने जो तुझे उपदेश दिया उसे तू अब समझेगा । श्वेतकेतु ने भोजन किया । पिता के पास आया । अब पिता ने जो-कुछ पूछा उस सबका उसने उत्तर दिया । तब पिता ने कहा—॥४॥

यथा, ब्रवीमि—बोलूं, भो—हे (पिता), इति—ऐसे (कहा), ऋचः—ऋचाओं को, सोम्य—हे सोम्य, यजूंषि—यजुर्वेद के मन्त्रों को, सामानि—साम-मन्त्रों को, इति—ऐसे, स ह उवाच—उसने कहा, न वै—नहीं तो, मा—मुझको, प्रतिभान्ति—सूझते हैं, प्रतीत होते हैं, भो—हे पिता, इति—ऐसे (कहा) ॥२॥

तं होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेदेवं सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशान ॥३॥

तम् ह उवाच—उस (पुत्र) को (पिता ने) कहा, यथा—जैसे, सोम्य—हे सोम्य, महतः—बड़ी, अभ्याहितस्य—प्रज्वलित (अग्नि) का, एकः—एक, अङ्गारः—अंगारा, खद्योतमात्रः—जुगनू के (प्रकाश के) बराबर, परिशिष्टः—बचा हुआ स्यात्—हो, तेन—उस (अंगारे) से, ततः—उससे, अपि—भी (तनिक बड़े), बहु—बहुत को, बड़े को, न—नहीं, दहेत्—जला सकता, एवम्—इस ही प्रकार, सोम्य—हे सोम्य, ते—तेरी, षोडशानाम्—(प्राण आदि) सोलहों, कलानाम्—कलाओं (अंशों) में, एका कला—एक अंश, अतिशिष्टा—बाकी बची, स्यात्—होवे, तया—उससे, एतर्हि—इस समय, वेदान्—वेदों को, न—नहीं, अनुभवसि—अनुभव कर रहा है, जान सक रहा है, अशान—तू भोजन कर ॥३॥

अथ मे विज्ञास्यसीति स हाशाथ हैनमुपससाद ।
तं ह यत्किंच पप्रच्छ सर्वं ह प्रतिपेदे ॥४॥

अथ—और अब, मे—मेरे (वचन को), विज्ञास्यसि—जान जायगा, इति—यह (कहा), सः ह—और उसने, आश—भोजन किया, अथ—तत्पश्चात्, ह एनम् उपससाद—इस (अपने पिता) के पास आ बैठा, तम् ह—

हे सोम्य ! जैसे बहुत बड़ी प्रज्वलित अग्नि का जुगनू-जितना एक अंगारा बच रहे, और उसे तिनकों से फिर से प्रज्वलित कर दिया जाय, तो वह अपने से अधिक को, एक भारी ढेर को भी जला देता है ॥५॥

इसी प्रकार, हे सोम्य ! तेरी सोलह कलाओं में से एक कला बच रही थी। वह अन्न से सुलगाई गई, और फिर चमक उठी, और इससे अब फिर तुम्हें वेद स्मरण हो आये। इसलिये, हे सोम्य ! मन 'अन्नमय' है, प्राण 'जलमय' है, और वाणी 'तेजोमयी' है। श्वेतकेतु यह सुनकर पिता की बात को समझ गया, समझ गया ॥६॥

उस (श्वेतकेतु) से; यत् किंच—जो कुछ भी; पप्रच्छ—पूछा; सर्वम् ह—(उस) सारे को; प्रतिपेदे—प्रतिपादन किया, उत्तर दिया ॥४॥

तँ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकमंगारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरुपसमाधाय प्राज्वलयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत् ॥५॥

तम् ह उवाच—उस (पुत्र) को (पिता ने) कहा; **यथा**—जैसे; **सोम्य**—हे प्रियवत्स !; **महतः**—बड़े; **अभ्याहितस्य**—प्रज्वलित (अग्नि) का; **एकम्**—एक; **अङ्गारम्**—अंगारा; **खद्योतमात्रम्**—जुगनू के बराबर; **परिशिष्टम्**—बचे हुए; **तम्**—उसको; **तृणैः**—तिनकों द्वारा; **उपसमाधाय**—सुलगा कर; **प्राज्वलयेत्**—प्रज्वलित करे; **तेन**—उससे; **ततः**—उस ढेर से; **अपि**—भी; **बहु**—अधिक को; **दहेत्**—जला देवे ॥५॥

एवँ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टाभूत्साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्नमयँ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥६॥

एवम्—इस प्रकार; **सोम्य**—हे सोम्य !; **ते षोडशानाम् कलानाम् एका कला अतिशिष्टा अभूत्**—तेरी सोलह कलाओं (अंशों) में से एक अंश बच रहा था; **सा**—वह (कला); **अन्नेन**—अन्न से; **उपसमाहिता**—सुलगाई हुई, प्रदीप्त; **प्राज्वालीत्**—प्रदीप्त हो गई; **तया**—उस (कला) से; **एतर्हि**—इस समय; **वेदान् अनुभवसि**—वेदों को जान सक रहा है; **अन्नमयम् हि सोम्य मनः**—हे सोम्य मन अन्नमय है; **आपोमयः प्राणः**—प्राण जलमय है; **तेजोमयी वाग्**—वाणी तेजोमयी है; **इति**—ऐसे; **तद् ह**—उस (कथन या उपदेश) को; **अस्य**—इस (पिता) के; **विजज्ञौ**—(श्वेतकेतु ने) जान लिया, समझ गया; **इति**—यह; **विजज्ञौ इति**—इसको समझ गया, (द्विरुक्ति आदरार्थ, और खण्ड-समाप्ति सूचक है) ॥६॥

षष्ठ प्रपाठक—(आठवां खंड)
(श्वेतकेतु को उसके पिता का 'तत्त्वमसि' उपदेश, ८ से १६ खंड)

उद्दालक आरुणि ने 'सदेवेदमग्र आसीत्' का उपदेश देने के बाद अपने पुत्र श्वेतकेतु को फिर कहा, हे सोम्य ! मुझ से स्वप्न के अन्त, अर्थात सुषुप्ति को भी समझ ले। जब हम पुरुष के विषय में 'स्वपिति'—गाढ़ निद्रा में सोता है—यह कहते हैं, तब वह 'सत्', अर्थात ब्रह्म के साथ मिल गया होता है, 'स्व' को—अपने वास्तविक 'स्व'-रूप को—पहुंचा होता है। 'स्वपिति' इसीलिये कहते हैं, क्योंकि उस समय वह 'स्व' में, अर्थात् अपनेपन में गया होता है ॥१॥

जैसे डोर में बंधी हुई चिड़िया दिशा-दिशा में उड़-उड़कर जाती है, कहीं ठिकाना न पाकर जहां बंधी होती है वहीं आकर आश्रय पाती है, हे सोम्य ! इसी प्रकार मन दिशा-दिशा में उड़कर जाता

उद्दालको हाऽऽरुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानी-
हीति। यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति
स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति ॥१॥

उद्दालकः ह आरुणि—अरुण के पुत्र उद्दालक ने, श्वेतकेतुम् पुत्रम् उवाच—(अपने) पुत्र श्वेतकेतु को कहा, स्वप्नान्तम्—स्वप्न के अन्त (परिणाम) सुषुप्ति अवस्था को, मे—मुझ से, सोम्य—हे विनीत पुत्र, विजानीहि—जान ले, समझ ले, इति—यह (कहा), यत्र—जहां, जिस अवस्था में एतत्+पुरुषः—यह सशरीर-आत्मा, स्वपिति नाम—सोता है, सता—सद् (ब्रह्म) से, सोम्य—हे प्रिय, तदा—तब, संपन्न—युक्त (मग्न-लीन), भवति—होता है, स्वम्—(ब्रह्म में युक्त) अपने (स्वरूप) में, अपीतः (अपि+इतः)—लीन, प्राप्त, भवति—होता है, तस्मात्—उस कारण से, एनम्—इस जीवात्मा को, स्वपिति—'स्वपिति', इति—ऐसे, आचक्षते—कहते हैं, स्वम् हि—क्योंकि अपने (स्वरूप) को, अपि+इतः—प्राप्त, लीन, भवति—होता है ॥१॥

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा
बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रा-
यतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति ॥२॥

स—वह, यथा—जैसे, शकुनिः—पक्षी, सूत्रेण—सूत से, डोर से; प्रबद्धः—बंधा हुआ; दिशम् दिशम्—प्रत्येक दिशा में, पतित्वा—उड़ कर,

है, कहीं ठिकाना न पाकर सुषुप्तावस्था में प्राण का ही आकर सहारा लेता है—क्योंकि प्राण ही मन को बांधने वाला खूंटा है। यह प्राण ही उसका 'सत'-रूप या 'स्व'-रूप है जिसमें जीव सुषुप्तावस्था के समय पहुंच जाता है ॥२॥

फिर पिता ने कहा, हे सोम्य ! भूख-प्यास का तत्त्व मुझ से समझ ले। भूख-प्यास में से पहले 'भूख' पर ऋषि कहते हैं—हे सोम्य ! जब हम किसी पुरुष के विषय में कहते हैं कि वह भूखा है, तब उसका यही अभिप्राय होता है कि उसके खाये हुए अन्न को जल ले जा रहे हैं। खाया हुआ पदार्थ द्रव-रूप में, अर्थात् जल-रूप में होकर ही शरीर में पहुंचता है। क्योंकि अन्न को शरीर में सब स्थानों में पहुंचाने का काम जल का है, इसलिये जल को 'अशनाय' कहते हैं। 'अश' का अर्थ है भोजन, 'नाय' का अर्थ है, ले जाने वाला। ठीक इसी तरह जैसे ग्वाले को 'गो-नाय', साईस को 'अश्व-नाय', सेनापति को 'पुरुष-नाय' कहते हैं। जब जल, अन्न को शरीर में सब जगह पहुंचा देता

अन्यत्र—दूसरी जगह; **आयतनम्**—आश्रय, आधार को; **अलब्ध्वा**—न पाकर; **बन्धनम्**—बांधने के स्थान खूंटे का; **उपश्रयते**—आश्रय लेता है (उस पर बैठ जाता है); **एवम् एव खलु**—इस ही प्रकार; **सोम्य**—हे विनीत पुत्र! ; **तत् मनः**—वह मन; **दिशम् दिशम्**—प्रत्येक दिशा में; **पतित्वा**—उड़कर; **अन्यत्र आयतनम् अलब्ध्वा**—अन्यत्र सहारा न पाकर; **प्राणम् एव**—प्राण (आत्मा) का ही; **उपश्रयते**—सहारा लेता है (यह ही उसका शयन-स्वप्न है); **प्राण-बन्धनम्**—प्राण (आत्मा) रूपी बन्धन वाला; **हि**—ही; **सोम्य**—हे प्रिय पुत्र; **मनः**—मन है; **इति**—यह (विज्ञान दिया) ॥२॥

अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहीति। यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नामाप एव तदशितं नयन्ते। तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति। तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥३॥

अशना-पिपासे—अशना (भूख) और पिपासा (प्यास) इन दोनों को; **मे**—मुझ से; **सोम्य**—हे सोम्य; **विजानीहि**—जान ले; **इति**—यह (भी कहा); **यत्र**—जहां, जिस अवस्था में; **एतत् + पुरुषः**—यह पुरुष (सशरीर आत्मा); **अशिशिषति नाम**—खाना चाहता है, भूखा होता है; **आपः**—जल; **एव**—ही; **तद्**—उस; **अशितम्**—खाये अन्न को; **नयन्ते**—(अन्न के रस रूप होने पर शरीर में) ले जाते हैं; **तद् यथा**—तो जैसे; **गो-नायः**—गाय को ले जाने वाला

है, तब उसी अन्न से शरीर-रूपी अंकुर उत्पन्न होता है। हे सोम्य, अब सोचने की बात यह है कि क्या अन्न से उत्पन्न होने वाला यह शरीर-रूपी-अंकुर बिना मूल के, बिना जड के है ? ॥३॥

सो, शरीर का मूल अन्न के बिना कहां हो सकता है ? जैसे शरीर को अंकुर माना जाय, तो उसका मूल अन्न है, वैसे अन्न को अंकुर माना जाय, तो उसका मूल क्या है ? अन्न का मूल जल है ! जैसे अन्न का मूल जल है, वैसे जल को अंकुर माना जाय, तो उसका मूल क्या है ? जल का मूल तेज है। (तभी तो जल के प्रपात में से बिजली निकल पडती है)। जैसे जल का मूल तेज है, वैसे तेज को अंकुर माना जाय, तो उसका मूल क्या है ? तेज का मूल, हे सोम्य ! 'सत्' है। हे सोम्य, इस सम्पूर्ण प्राणि-जगत् का मूल 'सत्' है, इसका आयतन 'सत्' है, इसकी प्रतिष्ठा 'सत्' है ॥४॥

ग्वाला, अश्व-नायः—घोडे को ले जाने वाला, सारथि, पुरुषनाय—पुरुष को ले जानेवाला, सेना-नायक, इति—इन (शब्दों का प्रयोग होता है), एवम्—इस ही प्रकार, तद्+अप—उन जलों को, आचक्षते—कहते हैं, अश+नाया—अश (भोजन) को नाया (ले जाने वाली 'आप'), इति—ऐसे (इस नाम से), तत्र—उस स्थिति में, एतत्—इस (शरीर रूपी), शुङ्गम्—अंकुर को, उत्पतितम्—ऊपर उठे हुए, प्रगट हुए, सोम्य—हे सोम्य, विजानीहि—जान, समझ कि, न—नहीं, इदम्—यह (शरीर रूपी) अंकुर, अमूलम्—बिना जड का, निराधार, भविष्यति—होगा, इति—यह (समझ ले) ॥३॥

तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ। तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ। सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥४॥

तस्य—उस (शरीररूपी अंकुर) का, क्व—कहां, मूलम्—जड, आधार (उत्पत्ति-स्थान), स्यात्—हो सकता है, अन्यत्र—दूसरी जगह, अतिरिक्त, अन्नात्—अन्न से, (अन्नाद् अन्यत्र—अन्न के अतिरिक्त), एवम् एव खलु—इस ही प्रकार, सोम्य—हे सोम्य, अन्नेन शुङ्गेन—अन्नरूपी अंकुर से, आपः—जल को, मूलम्—(अन्न के) आधार, अन्विच्छ—अन्वेषण कर, ढूंढ, अद्भिः—जलरूपी, सोम्य—हे सोम्य, शुङ्गेन—अंकुर से, तेजः—तेज को, मूलम् (जल का) आश्रय, अन्विच्छ—ढूंढ, समझ, तेजसा—तेज रूपी, सोम्य—हे

भूख से 'सत्' तक पहुंचकर अब 'प्यास' पर ऋषि कहते हैं—हे सोम्य ! जब हम किसी पुरुष के विषय में कहते हैं कि वह प्यासा है, तब उसका यही अभिप्राय होता है कि उसके पीये हुए जल को तेज ले जा रहा है, अग्नि सुखा रही है। क्योंकि जल को सुखाने का काम तेज का है, इसलिये तेज को 'उदन्या' कहते हैं, 'उदन्या' का अर्थ है 'प्यास'—'उदन्' (उदक) का अर्थ है, जल,'नय' का अर्थ है, ले जाने वाला। ठीक इसी तरह जैसे ग्वाले को 'गो-नाय', साईस को 'अश्व-नाय', सेनापति को 'पुरुष-नाय' कहते हैं, वैसे 'उदन्या', अर्थात् 'उदन्-नाय' प्यास को कहते हैं। जब तेज जल को शरीर में से सोख लेता है, तब फिर जल की आवश्यकता होती है, उसी जल से शरीर-रूपी अंकुर उत्पन्न होता है। हे सोम्य, अब सोचने की बात यह है कि क्या जल से उत्पन्न होने वाला यह शरीर-रूपी अंकुर बिना मूल के, बिना जड़ के है ? ॥५॥

सोम्य; शुङ्गेन—अंकुर से; सत्—सद् (ब्रह्म-शक्ति को जिससे यह जगत् उत्पन्न हुआ है) को; मूलम्—(तेज का) मूल (उत्पत्ति-स्थान); अन्विच्छ—समझ, जान ले; सन्मूलाः—'सत्' से ही उत्पन्न; इमाः—ये; सर्वाः—सारी; प्रजाः—उत्पन्न वस्तुएं हैं; सद्+आयतनाः—'सत्' ही इनका आयतन (आश्रय-स्थान) है; सत्+प्रतिष्ठाः—'सत्' में ही ये प्रतिष्ठित हैं ॥४॥

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते। तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति। तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥५॥

अथ—और; यत्र—जिस (अवस्था) में; एतत्+पुरुषः—यह (सशरीर) आत्मा; पिपासति नाम—पिपासा (प्यास) अनुभव करता है; तेजः एव—तेज ही; तत्—उस; पीतम्—पिये जल को; नयते—ले जाता है (सुखा देता है); तद्यथा गोनायः अश्वनायः पुरुषनायः इति—तो जैसे गो-नाय, अश्व-नाय, और पुरुष-नाय ये (विशेषण होते हैं); एवम्—इस ही प्रकार; तत्—उस (ले जाने वाले, सुखाने वाले); तेजः—तेज को; आचष्टे—कहता है; पुकारता है; उदन्या—उदन्या (जल को ले जाने वाला); इति—इस (नाम से); तत्र—वहां; एतद् एव—यह (तेज) ही; शुङ्गम्—अंकुर (जिज्ञासा का विषय) को; उत्पतितम्—उत्पन्न हुए, उभर आये; सोम्य—हे सोम्य; विजानीहि—जान (कि); न—नहीं; इदम्—यह (तेज); अमूलम्—बिना जड़ (उत्पत्ति स्थान) का; भविष्यति—होगा; इति—यह (ज्ञान, समझ) ॥५॥

तो, शरीर का मूल जल के बिना कहां हो सकता है ? जैसे शरीर को अंकुर माना जाय, तो उसका मूल जल है, वैसे जल को अंकुर माना जाय, तो उसका मूल क्या है ? जल का मूल तेज है। जैसे जल का मूल तेज है, वैसे तेज को अंकुर माना जाय, तो उसका मूल क्या है ? 'तेज' का मूल, हे सोम्य ! 'सत्' है। हे सोम्य, इस सम्पूर्ण प्राणि-जगत् का मूल 'सत्' है, इसका आयतन 'सत्' है, इसकी प्रतिष्ठा 'सत्' है। इस प्रकार 'भूख' तथा 'प्यास' इन दोनों डोरों को पकड़कर हम 'सत्' के पास ही पहुंचते हैं। हे सोम्य ! जैसा पहले कहा जा चुका है, 'सत्' से प्रारम्भ होकर अन्न-जल-तेज—ये तीन देवता ही विकसित होकर पुरुष की रचना करते हैं; मरते समय क्रम उलट जाता है—वाणी मन में लीन हो जाती है (वह बोलना बन्द कर देता है), मन प्राण में (वह कुछ समझ नहीं सकता), प्राण तेज में (वह ठंडा होने लगता है), और तेज उस परम देवता 'सत्' में लीन हो जाता है ॥६॥

तस्य क्व मूलं, स्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ। तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ। सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः। यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम् ॥६॥

तस्य क्व मूलम् स्यात्—उसका कहां मूल (उत्पत्ति-स्थान) हो सकता है; अन्यत्र अद्भ्यः—जलों के अतिरिक्त, अद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजः मूलम् अन्विच्छ—हे सोम्य ! जलरूपी अंकुर (सहारे) से तेज को (जलों का) मूल (उत्पत्ति-स्थान) जान, तेजसा सोम्य शुङ्गेन सत् मूलम् अन्विच्छ—हे सोम्य ! तेजरूपी अंकुर (सहारे) से, सत् (ब्रह्म-शक्ति) को (तेज का) मूल (उत्पत्ति-स्थान) जान, सन्मूलाः . सत्-प्रतिष्ठा—अर्थ पूर्ववत्, यथा नु खलु—जैसे तो; इमाः—ये; तिस्रः—(अन्न-जल-तेज) तीनों, देवता—देवता; पुरुषम्—सशरीर आत्मा को, प्राप्य—पाकर (पिण्ड शरीर में आकर), त्रिवृत्-त्रिवृत्—तीन-संख्या वाली अलग-अलग विद्यमान, एकैका—प्रत्येक पदार्थ में एक-एक; भवति—हो जाती है, तद्—वह, उक्तम्—कह दिया, बता दिया है, पुरस्ताद्—पहले, एव—ही, भवति—हो जाता है, अस्य—इस, सोम्य—हे सोम्य !; पुरुषस्य—(सशरीर) आत्मा का, प्रयतः—मरते हुए की; वाग्—वाणी;

वह परम-देवता 'सत्' क्या है ? वह स्थूल नहीं, 'अणिमा' है—सूक्ष्म-तम है; यह सब स्थूल-शरीर उसी सूक्ष्म का शरीर है; यह स्थूल-शरीर सत्य नहीं, वही सत्य है; वह आत्मा है; हे श्वेत-केतु, 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, अर्थात् 'सत्' है, तेरा शरीर 'तत्त्व-वस्तु' नहीं। अथवा, 'तत्त्वमसि'—'तू वह है' —तू भी उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नहीं है। श्वेतकेतु ने कहा, भगवन् ! इस रहस्य को मुझे फिर समझाइये। पिता ने कहा, तथास्तु ॥७॥

(ऋषि का कहना है कि भूख-प्यास तो ऐसी चीजें हैं जो हर-एक को लगती हैं। इन पर ही विचार किया जाय तब भी इनकी डोर पकड़ कर मनुष्य इसी परिणाम पर पहुंचता है कि इनका कारण भी वह 'सत्' ही है। भूख-प्यास 'सत्' नहीं, इनके पीछे जो है, जो इनका कारण है, वही 'सत्' है।)

मनसि—मन में; संपद्यते—युक्त (लीन) हो जाती है; मनः—मन; प्राणे—प्राण में (लीन हो जाता है); प्राणः—प्राण; तेजसि—तेज में (लीन हो जाता है); तेजः—तेज; परस्याम्—परम; देवतायाम्—(सत्-रूप) देवता में (लीन हो जाता है) ॥६॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥७॥

सः यः—वह जो; एषः—यह, अणिमा—अणु, सूक्ष्मातिसूक्ष्म है; ऐतदात्म्यम्—इस आत्मावाला; इदम्—यह दृश्यमान जड़ जगत्; सर्वम्—सारा ही; (ऐतदात्म्यम् इदम् सर्वम्—इस दृश्यमान जड़ जगत् में यह अणिमा—सूक्ष्मातिसूक्ष्म परम-आत्मा व्यापक है); तत्—वह (अणिमा) ही; सत्यम्—सत् है; सः—वह (अणिमा व सत् ही); आत्मा—परम-आत्मा है; तत्—वह (ऐतदात्म्य—इस आत्मा वाला); त्वम्—तू (आत्मा) भी; असि—है; (तत् त्वम् असि—वह परमात्मा ब्रह्म तेरे अन्दर भी व्यापक है या तत्त्वम् असि—तत्त्व स्वरूप तू है या तू भी सत् है); श्वेतकेतो—हे श्वेतकेतु; इति—यह (पिता ने) बताया; भूयः. . . होवाच—अर्थ पूर्ववत् ॥७॥

षष्ठ प्रपाठक—(नौवां खंड)

हे सोम्य ! जैसे मधु-मक्खियां मधु को बनाती हैं, नाना-प्रकार के फलों के वृक्षों के रसों को लेकर अनेक रसों का एक रस बना देती हैं ॥१॥

वे रस शहद के छत्ते में पहुंचकर यह विवेक नहीं कर सकते कि मैं इस वृक्ष का रस हूं या उस वृक्ष का रस हूं, इसी प्रकार, हे सोम्य, ये सब प्राणी 'सत्' में पहुंच कर नहीं जानते कि हम 'सत्' में आ पहुंचे हैं ॥२॥

वे यहां व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, भालू, कीट, पतंग, दंश, मशक, जो होते हैं वही रहते हैं—जैसे भिन्न-भिन्न वृक्षों का रस शहद में

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति, नानात्ययानां
वृक्षाणां रसान्समवहारमेकतां रसं गमयन्ति ॥१॥

यथा—जैसे, सोम्य—हे प्रिय पुत्र, मधु—शहद को, मधुकृत—मधु-मक्खियां, निस्तिष्ठन्ति—तत्परता से संचित करती हैं, नानात्ययानाम्—अनेक अत्यय (दूरी या दिशा) वाले (भिन्न-भिन्न प्रकार के), वृक्षाणाम्—वृक्षों के, रसान्—रसों को, समवहारम्—संचय करके, लाकर, एकताम्—एक-रूप, समान रूपवाले; रसम्—रस को, गमयन्ति—प्राप्त कराती है (बना देती हैं) ॥१॥

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं
वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः
सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति ॥२॥

ते—वे (रस); यथा—जैसे; तत्र—उस (संचय) में, न—नहीं, विवेकम्—ज्ञान, भेद, लभन्ते—प्राप्त करते हैं, (विवेकम् न लभन्ते—भेद नहीं करते); अमुष्य—अमुक; अहम्—मैं, वृक्षस्य—वृक्ष का, रसः—रस, अस्मि—हूं; अमुष्य अहम् वृक्षस्य रसः अस्मि—अमुक वृक्ष का मैं रस हूं, इति—ऐसे; एवम् एव—इस प्रकार ही, खलु—तो, सोम्य—हे प्रिय वत्स, इमाः सर्वाः प्रजाः—ये सारी प्रजाएं (जीव-प्राणी); सति—सत् (जगदादिकारण सत्स्वरूप ब्रह्म) में, संपद्य—प्राप्त होकर, न विदुः—नहीं जानती हैं (कि), सति—सत् में; संपद्यामहे—हम सब प्राप्त हैं, उसमें लीन हैं, इति—ऐसे ॥२॥

त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा
पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति ॥३॥

ते—वे, जीव-प्राणी; इह—यहां, इस लोक में; व्याघ्रः वा—बघेला, सिंहः वा—या शेर; वृकः वा—या भेड़िया; वराहः वा—या सूअर, कीटः वा—

अपने रूप को खो देता है, वैसे ये जीव सत् में पहुंच कर अपने रूप को नहीं खो देते—और फिर भिन्न-भिन्न रूपों में पैदा होते हैं। क्या ही अच्छा हो कि शहद में रस की तरह वे जीव 'सत्' में अपने को खो दें, अपने भिन्न-भिन्न रूपों को अपना समझने के स्थान में अपने 'सत्'-रूप को अपना समझें ॥३॥

वह जो 'अणिमा' है, सूक्ष्म-तत्त्व है, यह सब स्थूल-जगत् उसी का शरीर है; यह शरीर सत्य नहीं, वही सत्य है; वह 'सत्' ही आत्मा है; हे श्वेतकेतु, 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, अर्थात् 'सत्' है, तेरा शरीर 'तत्त्व-वस्तु' नहीं। अथवा, 'तत्त्व-मसि'—'तू वह है'—तू भी उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नहीं है। श्वेतकेतु ने कहा, भगवन्! इस रहस्य को मुझे फिर समझाइये। पिता ने कहा, तथास्तु ॥४॥

षष्ठ प्रपाठक—(दसवां खंड)

हे सोम्य! जैसे पूर्व की नदियां पूर्व को बहती हैं, पश्चिम की पश्चिम को—परन्तु तत्त्वतः समुद्र से वाष्प द्वारा जो पानी उठा,

---

या कीड़ा-मकौड़ा; पतङ्गः वा—या पतंगा अथवा पक्षी; दंशः वा—या डांस मक्खी; मशकः वा—या मच्छर; यद्-यद्—जो-जो (जिस-जिस योनि के); भवन्ति—होते हैं; तद्—वह ही; आभवन्ति—जन्म लेते हैं (पुनः जन्म-मरण चक्र में सद्-ब्रह्म को न जानने के कारण पड़ते हैं) ॥३॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥४॥

सः यः एषः अणिमा—वह जो यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म (सत्—जगदादिकारण ब्रह्म है); ऐतदात्म्यम् इदम् सर्वम्—इस सब (दृश्य-जगत्) का यह ही सूक्ष्म आत्मा (ब्रह्म) उसमें व्यापक है; तत्—वह (सद् ब्रह्म); सत्यम्—त्रिकालाबाधित है; सः आत्मा—वह (अणिमा) ही परम-आत्मा है; तत्—वह (एतदात्मता—परम-आत्मावाला); त्वम्—तू (आत्मा) है (तेरे आत्मा में भी वह परमात्मा व्यापक है); श्वेतकेतो—हे श्वेतकेतु!; इति—ऐसे; भूयः एव. . . .उवाच—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति, समुद्र एव भवन्ति, ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीति ॥१॥

वही समुद्र में जा पहुंचा, समुद्र बन गया, और वहां पहुंच कर उसे यह ज्ञान नहीं रहता कि मैं अमुक हूं, मैं अमुक हूं ॥१॥

हे सोम्य ! इसी प्रकार संसार के प्राणि-मात्र 'सत्' से आते हैं, परन्तु यह नहीं जानते कि वे 'सत्' से आये हैं। वे यहां व्याघ्र, सिंह, भेडिया, भालू, कीट, पतंग, दंश, मशक जो-कुछ होते हैं, वही रहते हैं—जैसे भिन्न-भिन्न नदियां समुद्र में अपने रूप को खो देती हैं, वैसे ये जीव सत् में पहुंचकर अपने रूप को नहीं खो देते, और फिर भिन्न-भिन्न रूपों में पैदा होते हैं। क्या ही अच्छा हो कि समुद्र में नदी की तरह ये जीव 'सत्' में अपने को खो दें ॥२॥

वह जो 'अणिमा' है, सूक्ष्म-तत्त्व है, यह सब स्थूल-जगत् उसी का शरीर है, वही सत्य है, वह 'सत्' ही आत्मा है, हे श्वेतकेतु, 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'सत्य' है, अर्थात् 'सत्' है, तेरा शरीर 'तत्त्व-वस्तु' नहीं। अथवा, 'तत्त्वमसि'—'तू वह है'—तू भी

इमा—ये सोम्य—हे सुशील, नद्य—नदियां, पुरस्तात्—पूर्व दिशा से, प्राच्य—पूर्व दिशा की ओर,, स्यन्दन्ते—बहती हैं, पश्चात्—पश्चिम से, प्रतीच्य—पश्चिम की ओर, ता—वे, समुद्रात्—समुद्र (पहिले समुद्र से उत्पन्न *भाप्प से निर्मित बादल से*) से, समुद्रम्—(*मूल कारण*) समुद्र में अपियन्ति—लीन हो जाती हैं, समुद्र—समुद्र, एव—ही, भवति—हो जाता है, ता—वे (नदियां), यथा—जैसे, न विदु—नहीं जानती हैं, इयम् अहम् अस्मि—(इस समुद्र में) यह मैं हूं, इति—इस प्रकार, इयम् अहम् अस्मि इति—यह मैं हूं इस प्रकार॥१॥

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छा-
महं इति । त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो
वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति ॥२॥

एवम् एव—इस प्रकार ही, खलु—तो, सोम्य—हे सुशील पुत्र, इमा सर्वा प्रजा—ये सारी प्रजाएं (जीव प्राणी), सत—सत (ब्रह्म) से, आगम्य—आकर, न विदु—नहीं जानती हैं, सत—सत् (ब्रह्म में), आगच्छामहे—आये हैं, इति—ऐसे, ते इह व्याघ्र तदा भवन्ति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो
इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

स य एष ह उवाच—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नहीं है। श्वेतकेतु ने कहा, भगवन् ! इस रहस्य को मुझे फिर समझाइये। पिता ने कहा, तथास्तु ॥३॥

षष्ठ प्रपाठक—(ग्यारहवां खंड)

हे सोम्य ! अगर किसी महान् वृक्ष के मूल में प्रहार करें, तो रस बह पड़ता है, परन्तु वृक्ष जीवित रहता है; मध्य में प्रहार करें तब भी रस बह निकलता है, परन्तु वृक्ष जीवित रहता है; चोटी पर प्रहार करें तब भी रस बहता रहता है, परन्तु वृक्ष जीवित रहता है—वृक्ष में जीवन प्रभूत-मात्रा में है इसलिये वह पृथिवी से रस-पान करता हुआ हरा-भरा खड़ा रहता है ॥१॥

जीव जब इस वृक्ष की एक शाखा को छोड़ देता है तो वह सूख जाती है, दूसरी को छोड़ देता है तो वह सूख जाती है, तीसरी को

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥१॥

अस्य—इस; सोम्य—हे सुशील; महतः—बड़े; वृक्षस्य—वृक्ष के; यः—जो; मूले—जड़ में; अभि+आ+हन्यात्—चोट करे (काटे); जीवन्—जीता हुआ; स्रवेत्—(उससे) पानी निकलता है; यः—जो कोई; मध्ये—बीच में; अभ्याहन्यात्—चोट मारे, काटे (तो); जीवन् स्रवेत्—जीते हुए ही पानी चूता है; यः—जो कोई; अग्रे—आगे, ऊपर के भाग में; अभ्याहन्यात्—चोट करे, काटे (तो); जीवन्—जीता हुआ ही; स्रवेत्—पानी छोड़ता है (स्वयं नहीं मरता); सः एषः—वह यह (वृक्ष); जीवेन आत्मना—जीव-आत्मा से; अनु प्रभूतः—अनु (उस आत्मा की शक्ति से) प्रभूत (जीवन-शक्ति-सम्पन्न); पेपीयमानः—(पृथ्वी से रसों को) खूब पीता हुआ; मोदमानः—हर्ष-सम्पन्न; तिष्ठति—ठहरता है—खड़ा रहता है ॥१॥

अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति, द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति, तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति, सर्वं जहाति सर्वः शुष्यत्येवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच ॥२॥

अस्य—इस (वृक्ष) की; यत्—जो (यदि); एकाम्—एक; शाखाम्—शाखा (टहनी) को; जीवः—जीव; जहाति—छोड़ देता है; अथ—तो; सा—वह; शुष्यति—सूख जाती है; द्वितीयाम्—दूसरी को; जहाति—छोड़ता है; अथ—तो; सा शुष्यति—वह सूख जाती है; तृतीयाम्—तीसरी (शाखा)

छोड देता है तो वह सूख जाती है, सारे को छोड देता है तो सम्पूर्ण वृक्ष सूख जाता है। हे सोम्य ! ऐसे ही मनुष्य-शरीर को भी समझ लो। (इससे प्रतीत होता है कि ऋषि वृक्ष में जीव मानते हैं।) ॥२॥

जब जीव शरीर से अलग हो जाता है तब शरीर ही मरता है, जीव नहीं मरता। वह जो 'अणिमा' है, सूक्ष्म तत्त्व है, यह सब स्थूल-जगत् उसी का शरीर है, वही सत्य है, वह 'सत्' ही आत्मा है, हे श्वेतकेतु, 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, अर्थात् 'सत्' है, तेरा शरीर 'तत्त्व-वस्तु' नहीं। अथवा, 'तत्त्वमसि'—'तू वह है'—तू भी उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नहीं है। श्वेतकेतु ने कहा, भगवन् ! इस रहस्य को मुझे फिर समझाइये। पिता ने कहा, तथास्तु ॥३॥

षष्ठ प्रपाठक—(बारहवां खंड)

पिता ने कहा, वट-वृक्ष का फल लाओ। श्वेतकेतु ने कहा, पिताजी, ले आया। तोडो इसे। तोड दिया। इसमें क्या देखते हो ? भगवन् !

को, जहाति—छोडता है, अथ सा शुष्यति—तो वह सूख जाती है, सर्वम्—सारे (वृक्ष) को, जहाति—छोड देता है (तो), सर्वं शुष्यति—सारा (वृक्ष) सूख जाता है, एवम् एव—इस प्रकार ही, खलु—निश्चयपूर्वक, सोम्य—हे सुशील पुत्र, विद्धि—(जीवन मरण के रहस्य को) जान, इति ह उवाच—यह (पिता ने) कहा ॥२॥

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति। स य एषो
ऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति।
भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

जीव+अपेतम्—जीव से छोडा हुआ, जीव शून्य, वाव किल—निश्चय ही इदम्—यह (शरीर), म्रियते—मर जाता है, न—नहीं, जीवः—जीव (आत्मा), म्रियते—मरता है, इति—यह (पिता ने बताया), सः यः एषः—इति ह उवाच—अर्थ पूर्ववत ॥३॥

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति। भिन्धीति। भिन्नं भगव इति।
किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्धीति।
भिन्ना भगव इति। किमत्र पश्यसीति। न किंचन भगव इति ॥१॥

न्यग्रोध-फलम्—वड का फल, अतः—यहां (वाटिका) से, आहर—ला, इति—यह (आज्ञा दी), इदम्—यह (फल) है, भगव—हे भगवन्,

इसमें बहुत से छोटे-छोटे दाने हैं ! प्यारे, इन दानों में से एक को तोड़ो । पिताजी, तोड़ दिया। इसमें क्या देखते हो ? पिताजी, इसमें तो कुछ भी नहीं दीखता ॥१॥

पिता ने कहा, हे सोम्य ! जिसे तू 'कुछ नहीं' कह रहा है, जिस अणु-रूप को तू नहीं देख पा रहा, हे सोम्य ! इस अणु-रूप में से ही यह महान् वट-वृक्ष खड़ा हो जाता है । इस बात पर श्रद्धा कर ॥२॥

वह जो 'अणिमा' है, सूक्ष्म-तत्त्व है, यह सब स्थूल-जगत्—उसी का शरीर है; वही सत्य है; वह 'सत्' ही आत्मा है; हे श्वेत-

---

इति—यह (श्वेतकेतु ने कहा); भिन्धि—(इसे) तोड़; इति—ऐसे (आज्ञा दी); भिन्नम्—(इसे) तोड़ दिया; भगवः—हे भगवन् !; इति—यह (कहा); किम्—क्या; अत्र—यहां, इसमें; पश्यसि—देखता है; इति—यह (पिता ने पूछा); अण्व्यः इव—बहुत छोटे-छोटे से; इमाः—ये; धानाः—धान के-से बीज, दाने; भगवन्—हे भगवन् !; इति—ऐसे (कहा); आसाम्—इनमें के; अङ्ग—प्रिय !; एकाम्—एक (दाने) को; भिन्धि—तोड़; इति—यह (पिता ने आज्ञा दी); भिन्ना—तोड़ दी; भगवः—हे भगवन्; इति—यह (कहा); किम् अत्र पश्यसि—इसमें क्या देख रहा है; इति—यह (पूछा); न किंचन भगवः—हे भगवन् कुछ भी तो नहीं (देख रहा हूं); इति—यह (श्वेतकेतु ने उत्तर दिया) ॥१॥

तँ होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति। श्रद्धत्स्व सोम्येति ॥२॥

तम् ह उवाच—उस (श्वेतकेतु) को (पिता ने) कहा; यम् वै—जिस ही; सोम्य—हे प्रिय; एतम्—इस; अणिमानम्—सूक्ष्मता को, सूक्ष्म वस्तु को; न—नहीं; निभालयसे—देख पा रहा है, ढूंढ पा रहा है; एतस्य वै—इस ही; सोम्य—हे सोम्य !; एषः—यह; अणिम्नः—सूक्ष्म वस्तु का (से); एवम्—इस प्रकार का; महान्—बड़ा; न्यग्रोधः—बड़ का वृक्ष; तिष्ठति—(तेरे सामने) खड़ा है (ऐसे ही अणिमा (सद्) से यह विशाल-जगत् बन कर दिखाई दे रहा है); श्रद्धत्स्व—विश्वास कर, श्रद्धा रख, सच मान; सोम्य—प्रिय पुत्र; इति—यह (कहा) ॥२॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

सः यः एषः . . . ह उवाच—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

केतु ! 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, अर्थात् 'सत्' है, तेरा शरीर 'तत्त्व-वस्तु' नहीं । अथवा, 'तत्त्वमसि'—'तू वह है' —तू भी उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नहीं। श्वेतकेतु ने कहा, भगवन् ! इस रहस्य को मुझे फिर समझाइये । पिता ने कहा, तथास्तु ॥३॥

षष्ठ प्रपाठक—(तेरहवां खंड)

पिता ने कहा, यह लवण पानी में डाल कर प्रातःकाल मेरे पास आना । श्वेतकेतु ने वैसा ही किया । पिता ने अगले दिन कहा, प्यारे ! रात्रि को जो लवण पानी में रखा था, उसे ले आ । श्वेतकेतु पानी में रखे लवण को खोजने लगा, पर वह कहीं न मिला ॥१॥

पिता ने कहा, प्यारे ! लवण पानी में लीन हो गया है । इसे ऊपर से आचमन कर, कैसा है ? लवण है । मध्य से आचमन कर, कैसा है ? लवण है । नीचे से आचमन कर, कैसा है ? लवण है ।

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति । स ह तथा चकार । तँ होवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग तदाहरेति । तद्धावमृश्य न विवेद ॥१॥

लवणम्—नमक को, एतद्—इस, उदके—पानी में, अवधाय—डालकर, अथ—और, मा—मुझे (मेरे पास), प्रात—प्रात काल में, उपसीदथा—उपस्थित हो, इति—यह (कहा), सः ह—और उसने, तथा—वैसे ही, चकार—किया, तम् ह उवाच—उसको (पिता ने) कहा, यद्—जिस, दोषा—रात्रि में, लवणम्—नमक को, उदके—जल में, अव+आधाः—डाला था, अङ्ग—हे प्रिय, तद्—उसको, आहर—ले आ, तद्—उस (जल को), ह—ही, अवमृश्य—भली प्रकार देख-भाल कर भी, न—नहीं, विवेद—(नमक को) जाना, पाया ॥१॥

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति । कथमिति । लवणमिति । मध्यादाचामेति । कथमिति । लवणमित्यन्तादाचामेति । कथमिति । लवणमित्यभिप्रास्यैतदथ मोपसीदथा इति । तद्ध तथा चकार । तच्छश्वत्संवर्तते । तँ होवाचात्र वाव किल तत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥२॥

यथा—जैसे, विलीनम्—घुल गया है, एव—ही, अङ्ग—हे प्रिय, अस्य—इस (नमक-घुले पानी) के, अन्ताद्—अन्त (निचले भाग) से, आचाम इति—आचमन कर, कथम् इति—(यह) कैसा है, लवणम् इति—नमक वाला है, मध्यात्—(पानी के) बीच से, आचाम इति—आचमन कर (पी),

फिर पिता ने कहा, इसे चखकर मेरे पास आ। श्वेतकेतु ने वैसा ही किया और पिता से आकर कहा, लवण तो वैसे-का-वैसा ही है, नष्ट नहीं हुआ। पिता ने कहा, हे सोम्य! वह 'सत्' जिससे सृष्टि बनी है, वह भी यहीं है, वह दीख नहीं रहा, परन्तु निश्चय से वह है यहीं ॥२॥

वह जो 'अणिमा' है, सूक्ष्म-तत्त्व है, यह सब स्थूल-जगत्—उसी का शरीर है; वही सत्य है; वह 'सत्' ही आत्मा है; हे श्वेतकेतु, 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, 'सत्' है, तेरा शरीर 'तत्त्व-वस्तु' नहीं। अथवा, 'तत्त्वमसि'—'तू वह है'—तू भी उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नहीं है। श्वेतकेतु ने कहा, भगवन्! इस रहस्य को मुझे फिर समझाइये। पिता ने कहा, तथास्तु ॥३॥

षष्ठ प्रपाठक—(चौदहवां खंड)

हे सोम्य! जैसे कोई गंधार देश के किसी व्यक्ति को आंखें बांध कर निर्जन स्थान में लाकर छोड़ दे, वह जैसे सब दिशाओं को

कथम् इति—(यह) कैसा है?; **लवणम् इति**—नमक-मिला है; **अन्तात्**—(उपरले) अन्त (भाग) से; **आचाम इति**—पी; **कथम् इति**—यह कैसा है; **लवणम् इति**—(यह भी) नमक वाला है; **अभिप्राश्य**—सब ओर से खाकर-चखकर; (पाठान्तर—**अभिप्रास्य**—छोड़ कर, वहां ही रख कर); **एतद्**—इस (पानी) को; **अथ मा उपसीदथाः इति**—बाद में मेरे पास उपस्थित हो; **तद् ह**—उस (कार्य) को; **तथा**—वैसे; **चकार**—किया (छोड़ कर या खाकर पास आ गया); **तद्**—वह (लवण); **शश्वत्**—नित्य, लगातार; **संवर्तते**—(जल में) विद्यमान है; **तम् ह उवाच**—उसको कहा; **अत्र वा व किल**—इस (दृश्य जड़-जगत्) में निश्चय ही; **सद्**—(सूक्ष्म-अणु) सद्-ब्रह्म को; **सोम्य**—हे सुशील!; **न निभालयसे**—तू नहीं देख पा रहा है; **अत्र एव किल इति**—यहां (इस जगत् में) ही निश्चय से (वह सूक्ष्म अणु सद्-ब्रह्म) है ॥२॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

सः यः एषः . . . ह उवाच—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥१॥

शोर मचा कर गुंजा देता है, और चिल्लाता है कि आखें बांध कर मुझे पकड़ लाये, आंखें बांधे ही छोड दिया ॥१॥

जैसे कोई उसके बन्धन को खोल कर उसे कहे, अमुक दिशा में गंधार देश है, उधर चला जा, वह बुद्धिमान् गांव-गांव पूछता हुआ गंधार देश को पहुंच जाता है, ठीक इसी तरह, आचार्य को, गुरु को पाकर यह भटकता हुआ पुरुष अपने 'सत' रूप को पाने के लिये चल देता है। इस संसार में बंधे रहने की अवधि तो उतनी ही है जितनी देर तक कोई रास्ते पर डालने वाला गुरु आखों पर बंधी पट्टी खोल नहीं देता। उसके बाद तो 'सत्' की प्राप्ति हो ही जाती है ॥२॥

यथा—जैसे, **सोम्य**—हे पुत्र !, **पुरुषम्**—(किसी) पुरुप को, **गन्धारेभ्य**—गन्धार देश से, **अभिनद्ध+अक्षम्**—(कपडे से) बधी आंख वाले, **आनीय**—लाकर, **तम्**—उसको, **तत**—तदनन्तर, **अतिजने**—निर्जन स्थान मे, **विसृजेत्**—छोड दिया जाय, **स**—वह, **यथा**—जैसे, **तत्र**—वहा, उस (वन) मे, **प्राङ् वा**—या तो पूव की ओर, **उदङ् वा**—या उत्तर की ओर, **अधराङ् वा**—या दक्षिण की ओर, **प्रत्यङ् वा**—या पश्चिम की ओर (चलता है, मार्ग न पाने से), **प्रध्मायीत**—जोर-जोर से चिल्लावे, रोवे, **अभिनद्धाक्ष**—बधी आख वाला, **आनीत**—लाया गया था, **अभिनद्धाक्ष**—बधी आख वाला, **विसृष्ट**—(वन में) छोड दिया गया ॥१॥

तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति। स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति ॥२॥

तस्य—उसके, **यथा**—जैसे, ज्यो ही, **अभिनहनम्**—(आख के) बन्धन (पट्टी) को, **प्रमुच्य**—छोड कर, अलग कर, **प्रब्रूयात्**—कहा जाय, **एताम् दिशम्**—इस दिशा की ओर, **गन्धारा**—गन्धार देश है, **एताम् दिशम्**—इस ओर, **व्रज**—चला जा, **इति**—ऐसे (कहे), **स**—वह, **ग्रामात्**—(एक) गाव से, **ग्रामम्**—(दूसरे) गाव को, **पृच्छन्**—पूछता हुआ, **पण्डित**—सुशिक्षित, **मेधावी**—बुद्धिमान्, **गन्धारान्**—गन्धार देश, **एव**—ही, **उपसम्पद्येत**—पहुच जाय, **एवम् एव**—इस प्रकार ही, **इह**—इस विषय म सद् के रहस्य को, **आचार्यवान्**—श्रेष्ठ आचार्य का शिष्य, **पुरुष**—पुरुष (आत्मा), **वेद**—जान लेता है, **तस्य**—उस (ब्रह्मज्ञ) का, **तावत् एव**— तब तक ही, **चिरम्**—(मोक्ष में) देर है, **यावत्**—जबतक, **न**—नही, **विमोक्ष्ये**—(अज्ञान को)

वह 'सत्' ही 'अणिमा' है, सूक्ष्म-तत्त्व है; यह सब स्थूल-जगत् उसी का शरीर है; वही सत्य है; वह 'सत्' ही आत्मा है; हे श्वेत-केतु, 'तत्त्वमसि'—तू, अर्थात् तेरा आत्मा 'तत्त्व' है, 'सत्' है, अर्थात् तेरा शरीर 'तत्त्व-वस्तु' नहीं। अथवा, 'तत्त्वमसि'—'तू वह है'—तू भी उसकी तरह 'सत्' है, 'असत्' नहीं है। श्वेतकेतु ने कहा, भगवन् ! इस रहस्य को मुझे फिर समझाइये। पिता ने कहा, तथास्तु ॥३॥

षष्ठ प्रपाठक—(पन्द्रहवां खंड)

हे सोम्य ! रोगी पुरुष को चारों तरफ़ से उसके बन्धु-बान्धव घेर लेते हैं और पूछते हैं, मुझे पहचानते हो, मुझे पहचानते हो ? जब तक उसकी वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में, और तेज परम-देवता में लीन नहीं हो जाता तब तक वह पहचानता जाता है ॥१॥

छोड़ेगा या (शरीर को) छोड़ेगा; अथ—इसके बाद; संपत्स्ये—(उस सद्-ब्रह्म को) लीन हो जायगा, पा लेगा (मुक्त हो जायगा) ॥२॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

सः यः एषः. . . .ह उवाच—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

पुरुषँ सोम्योपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति। तस्य यावन्न वाङ्‍ मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति ॥१॥

पुरुषम्—मनुष्य को; सोम्य—हे प्रिय पुत्र !; उपतापिनम्—रोग-ग्रस्त (ज्वर-ग्रस्त) को; ज्ञातयः—सम्बन्धी (कुटुम्बी) जन; पर्युपासते—चारों ओर घेर कर बैठते हैं (और पूछते हैं); जानासि—(क्या तू) जानता है, पहचानता है; माम्—मुझको; जानासि माम्—मुझको पहचानता है; इति—ऐसे; तस्य—उस (रोगी) की; यावत्—जबतक; न—नहीं; वाक्—वाणी; मनसि—मन में; संपद्यते—लीन होती है; मनः—मन; प्राणे—प्राण में; प्राणः—प्राण; तेजसि—तेज में; तेजः—तेज; परस्याम् देवतायाम्—परम-देवता (सद्-ब्रह्म) में; तावत्—तबतक; जानाति—(सब को) जानता-पहचानता है ॥१॥

जब उसकी वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज उस परम-देवता में लीन हो जाता है, तब वह किसी को नहीं पहचानता ॥२॥

यह परम-देवता जिसमें वह लीन हो जाता है—यही 'अणिमा' है, 'सूक्ष्म-तत्त्व' है; यह सब स्थूल-जगत् उसी का शरीर है; वही सत्य है; वह 'सत्' ही आत्मा है; हे श्वेतकेतु, 'तत्त्वमसि'। श्वेतकेतु ने कहा, भगवन् ! इस रहस्य को मुझे फिर समझाइये। पिता ने कहा—तथास्तु ॥३॥

षष्ठ प्रपाठक—(सोलहवां खंड)

हे सोम्य ! किसी पुरुष को पकड़ कर लाया गया और उस पर यह दोष लगा कर कि इसने चोरी की है, उसके लिये परशु गरम किया गया। अगर उसने वास्तव में चोरी की है, तो तपे हुए परशु की बात सुनकर ही उसका चेहरा झूठ प्रकट कर देता है। झूठ से

अथ यदास्य वाङ् मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ॥२॥

अथ—और, यदा—जब, अस्य—इस रोगी की, वाग् मनसि संपद्यते—वाणी मन में लीन हो जाती है, मनः प्राणे—मन प्राण में, प्राणः तेजसि—प्राण तेज में, तेजः परस्याम् देवतायाम्—तेज परम-देवता (सद्-ब्रह्म) में, अथ—तो, न जानाति—नहीं जानता-पहचानता ॥२॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

सः य. एष.... ह उवाच—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

पुरुषं सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपाहार्षीत्स्तेयमकार्षीत्परशुमस्मै तपतेति। स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते। सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते ॥१॥

पुरुषम्—(किसी) मनुष्य को, सोम्य—हे प्रिय, उत—और, या, हस्तगृहीतम्—हाथ से पकड़े हुए को, आनयन्ति—(न्याय के लिए) लाते हैं, अपाहार्षीत्—(इसने) अपहरण (बिना पूछे चीज उठाना) किया है, स्तेयम्—चोरी, अकार्षीत्—की है, परशुम्—फरसा (से), अस्मै—इसके लिये (को), तपत—दाग दो, इति—यह (निवेदन किया), स—वह (अपराधी), यदि—अगर; तस्य—उस (चोरी) का, कर्ता—करनेवाला, भवति—होता है;

अपने को ढककर, झूठ का सहारा लेकर, वह तपे हुए परशु को पकड़ लेता है, और जल जाता है, मारा जाता है ॥१॥

अगर उसने चोरी नहीं की होती, तो उसके चेहरे से ही सत्य टपक पड़ता है। सत्य से अपने को ढक कर, सत्य का सहारा लेकर, वह तपे हुए परशु को पकड़ लेता है, वह जलता नहीं, छूट जाता है ॥२॥

जैसे सत्य का सहारा लेने वाला जलता नहीं, वैसे उस 'सत्' का सहारा लेने वाला, 'सत्' से अपने को ढक लेने वाला संसार के ताप से परितप्त नहीं होता। यह संसार उसी का आत्म-रूप है; वह सत्य है; वह 'सत्' ही आत्मा है; हे श्वेतकेतु, 'तत्त्वमसि'।

ततः—उससे, तब से; **एव**—ही; **अनृतम्**—झूठ को; **आत्मानम्**—अपना, आवरण; **कुरुते**—करता है; **आत्मानम् कुरुते**—अपना लेता है, (झूठ को) आवरण (सहारा) बना लेता है; **सः**—वह; **अनृताभिसन्धः**—असत्य का सहारा लेने वाला; **अनृतेन**—झूठ से; **आत्मानम्**—अपने आप को; **अन्तर्धाय**—छिपा कर, ढक कर; **परशुम्**—फरसे को; **तप्तम्**—तपे हुए, लाल हुए; **प्रतिगृह्णाति**—पकड़ लेता है; **सः**—वह; **दह्यते**—जल जाता है; **अथ**—और; **हन्यते**—मारा जाता है ॥१॥

अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते। स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते ॥२॥

अथ यदि—और अगर; **तस्य अकर्ता**—उस (चोरी) का न करनेवाला; **भवति**—होता है; **ततः एव**—उस (कारण) से ही, तब से ही; **सत्यम्**—सत्य को (सद्-ब्रह्म को); **आत्मानम् कुरुते**—अपना लेता है; **सः**—वह; **सत्याभिसन्धः**—सत्याश्रयी; **सत्येन**—सत्य से; **आत्मानम्**—अपने आप को; **अन्तर्धाय**—छिपा कर, ढक कर; **परशुम् तप्तम्**—तपे (लाल) परशु को; **प्रतिगृह्णाति**—पकड़ लेता है; **सः न दह्यते**—वह नहीं जलता; **अथ**—और; **मुच्यते**—छुटकारा पा लेता है ॥२॥

स यथा तत्र नादाह्येतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥३॥

सः—वह, उसको; **यथा**—जैसे; **तत्र**—वहां (न्यायालय में परशु ने); **न**—नहीं; **अदाहि**—जलाया; **ऐतदात्म्यम् इदम् सर्वम्**—वह अणिमा (सद् ब्रह्म) ही इस सब का आत्मा (सब में व्यापक) है; **तत् सत्यम्**—वह सूक्ष्म (सद्-ब्रह्म) ही सत्य है; **सः**—वह ही; **आत्मा**—परम-आत्मा है; **तत्**—वह (ऐतदात्म्य—इस आत्मा

यह सुन कर श्वेतकेतु अपने पिता के उपदेश को समझ गया, समझ गया ॥३॥

('तत्त्वमसि' वाक्य पर द्वैत-अद्वैत-सम्बन्धी बहुत विवाद रहता है। 'तत्त्वमसि' का एक अर्थ तो 'तत्'-'त्वम्'-'असि'---'तू वह है'---'वह', अर्थात् 'ब्रह्म'---यह किया जाता है, इसका दूसरा अर्थ 'तत्त्वम्'-'असि'---'तू तत्त्व है'---'तत्त्व', अर्थात् 'सत्' है---'सार है' यह भी होता है। इस उपनिषद् में यह दर्शाया जा रहा है कि जैसे नमक के पानी मे घुल जाने पर भी नमक नष्ट नही होता, 'सत्' रहता है, जैसे वट-वृक्ष के बीज मे पेड के न दीखने पर भी उसी में वृक्ष 'सत्'-रूप में मौजूद है, इसी प्रकार हे श्वेतकेतु ! ससार मे परमात्मा के और शरीर में जीवात्मा के न दीखने पर भी ब्रह्माड में वह 'सत्' है, और उस 'सत्' की तरह, पिंड मे तू---अर्थात् आत्मा---'सत्' है। पिंड तथा ब्रह्माड का 'तत्त्व' यह पिंड तथा ब्रह्माड नही, परन्तु इनमें वर्तमान 'सत्' है, जिससे ये अनुप्राणित हो रहे है। उपनिषदो का प्रतिपाद्य विषय द्वैत-अद्वैत के झमेले मे पडना नही, उपनिषदो का उद्देश्य शरीर में से खीच कर मनुष्य को आत्मा की तरफ ले जाना, और प्रकृति मे से खीच कर ब्रह्म की तरफ ले जाना है। उनका कथन है कि हम शरीर मे रमे रहते है---यह ठीक नही है, हम प्रकृति में रमे रहते है---यह भी ठीक नही है। पिंड में यथार्थ-सत्ता शरीर की नही, 'आत्मा' की है, ब्रह्माड में यथार्थ-सत्ता प्रकृति की नही, 'ब्रह्म' की है। पिंड मे 'आत्मा' को लक्ष्य बनाओ, ब्रह्माड में 'ब्रह्म' को लक्ष्य बनाओ---वास्तविक 'तत्त्व' यही है, वास्तविक 'सत्' यही है।)

इस प्रकरण मे यह भी कहा है कि मृत्यु के समय वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज मे और तेज उस परम देवता म

से युक्त) ही, त्वम् असि---तू (जीवात्मा) है, श्वेतकेतो---हे श्वेतकेतु, इति---ऐसे (उपदेश दिया), तद्---उस (आदेश-रहस्य) को, ह---निश्चयपूर्वक, अस्य---इस (पिता) से, विजज्ञौ---(श्वेतकेतु) ने जान लिया, इति---ऐसे, विजज्ञौ इति---ऐसे जान लिया (द्विरुक्ति आदरार्थ, और अध्याय-समाप्ति सूचक है) ॥३॥

लीन हो जाता है। इसका क्या अर्थ है ? जब तक मनुष्य जीवित रहता है तब तक उसकी वाणी काम करती रहती है। मृत्यु के समय पहले वाणी बन्द हो जाती है, परन्तु मन में वह विचार करता रहता है, मन भी जब काम करना बन्द कर देता है तब भी प्राण चलता रहता है, जब प्राण भी चलता प्रतीत नहीं होता और शरीर में गर्मी रहती है तब तक उसे हम मरा नहीं समझते। जब तेज---गर्मी---भी चली जाती है तब हम कहते हैं कि यह परम धाम में---मृत्यु में---चला गया। इसी प्रक्रिया का वर्णन करने के लिये वाणी, मन, प्राण, तेज, परम-धाम का क्रम दिया है।)

सप्तम प्रपाठक---(पहला खंड)

(नारद और सनत्कुमार, १ से २६ खंड)

(षष्ठ प्रपाठक में 'सत्' को अन्तिम सत्ता कहा गया है। इस प्रपाठक में उसी 'सत्' को 'भूमा' कहा गया है, परन्तु उस तक पहुंचने के लिये सब अवान्तर सीढ़ियों का इसमें उल्लेख है।)

कहते हैं कि एक बार सनत्कुमार, अर्थात् सदा कुमार-रूप रहने वाले ऋषि के पास नारद मुनि पहुंचे और उनसे कहा, भगवन् ! मुझे ज्ञान दीजिये। ऋषि ने कहा, जो-कुछ तुम पहले जानते हो वह बतलाओ, तब मैं उससे आगे तुम्हें शिक्षा दूंगा ॥१॥

ॐ। अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तं
होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति स होवाच ॥१॥

ओम्---सर्वरक्षक आदि गुरु भगवान् का स्मरण कर; **अधीहि**---शिक्षा दीजिये; **भगवः**---हे भगवन्; **इति ह**---यह (कह कर); **उपससाद**---पास आया, उपस्थित हुआ; **सनत्कुमारम्**---सनत्कुमार (देवर्षि) को; **नारदः**---नारद मुनि; **तम् ह उवाच**---उसको (सनत्कुमार ने) कहा; **यद्**---जो (कुछ); **वेत्थ**---जान लिया (चुका) है; **तेन**---उससे; **मा**---मुझ को; **उपसीद**---पास आ; (**तेन मा उपसीद**---वह पहिले मुझे बता); **ततः**---उससे, उसके बाद; **ते**---तुझे; **ऊर्ध्वम्**---ऊपर, आगे; **वक्ष्यामि**---उपदेश करूंगा; **इति**---यह (कहा) ॥१॥

नारद ने कहा, भगवन्! मैंने ऋग्वेद पढ़ा है, और यजुर्वेद, सामवेद, चौथा आथर्वण, पांचवां इतिहास-पुराण, वेदों के वेद (अर्थात्, जिससे वेद स्पष्ट हो जाते हैं), पित्र्य (शुश्रूषा-विज्ञान), राशि (गणित), दैव-विद्या (उत्पात-विज्ञान), निधि-शास्त्र (अर्थ-शास्त्र), वाकोवाक्य (तर्क-शास्त्र या कानून), एकायन (नीति-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र), देव-विद्या (निरुक्त), ब्रह्म-विद्या (ब्रह्म का ज्ञान), भूत-विद्या (भौतिकी, रसायन तथा प्राणि-शास्त्र), क्षत्र-विद्या (धनुर्विद्या), नक्षत्र-विद्या (ज्योतिष), सर्प-विद्या (विष-ज्ञान), देव-जन-विद्या (ललित-कला)—इनको भी पढ़ा है ॥२॥

भगवन्! यह सब-कुछ पढ़कर मैं 'मन्त्रवित्' हुआ हूं, 'आत्म-वित्' नहीं हुआ—मुझे शब्द-ज्ञान तो हो गया है, आत्म-ज्ञान नहीं

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थ-
मितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं
निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां
क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥२॥

स ह उवाच—उस (नारद) ने कहा ऋग्वेदम्—ऋग्वेद को भगव—हे भगवन्, अध्येमि—पढ़ता हूं, पढ़ चुका हूं, यजुर्वेदम्—यजुर्वेद को, सामवेदम्—सामवेद को, आथर्वणम्—अथर्ववेद को चतुर्थम्—चौथे इतिहास-पुराणम्—इतिहास-पुराण को, पञ्चमम्—पांचवें वेदानाम्—वेदों के वेदम्—वेद (ज्ञान कराने वाले, ज्ञापक) को (वेदानाम् वेदम्—वेदों के ज्ञान-साधन व्याकरण आदि वेदांगों को), पित्र्यम्—पितृ-कर्म (पितृ शुश्रूषा शास्त्र या गृह-विज्ञान) को, राशिम्—गणित शास्त्र को, दैवम्—(दैविक) उत्पात विज्ञान को, निधिम्—अर्थशास्त्र को, वाकोवाक्यम्—तर्कशास्त्र या विधान-(कानून) विज्ञान को, एकायनम्—नीति शास्त्र (धर्म-शास्त्र) को, देव-विद्याम्—निरुक्त शास्त्र को, ब्रह्म-विद्याम्—ब्रह्म विद्या (तत्सम्बन्धी शास्त्रीय चर्चा) को, भूत विद्याम्—प्राणि-शास्त्र, या भौतिकी शास्त्र को, क्षत्र-विद्याम्—धनुर्वेद (सैनिक-प्रशिक्षण) को, नक्षत्र-विद्याम्—ज्योतिश्शास्त्र को, सर्प देवजन विद्याम्—सर्प विद्या (सर्प-चिकित्सा) और देवजन विद्या (ललित-कला) को एतद्—इस (सब) को, भगव—हे भगवन्, अध्येमि—शिक्षा पा रहा हूं (पा चुका हूं) ॥२॥

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य-
स्तरति शोकमात्मविदिति। सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य
पारं तारयत्विति। तं होवाच यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥३॥

हुआ। हे भगवन् ! मैंने आप-सरीखे महात्माओं से सुना है—'तरति शोकम् आत्मवित्', जो आत्मा को जान जाता है वह दुःख-सागर को तर जाता है। भगवन् ! मैं शोक-सागर में डूबा जा रहा हूं, आप मुझे इससे पार उतारिये। यह सुनकर सनत्कुमार ने नारद से कहा, तूने अब तक जो सीखा है, वह नाम-मात्र है ॥३॥

ये ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, आथर्वण आदि जो-कुछ तुमने पढ़ा है, ये 'नाम'-ज्ञान हैं। आत्मवित् बनने के लिये नाम-ज्ञान तो सीढ़ी का पहला पाया है। तू नाम की उपासना कर—नाम से, अर्थात् शब्द-ज्ञान से शुरू कर, परन्तु यहीं तक रुक मत जा ॥४॥

सः अहम्—वह मैं; भगवः—हे भगवन्; मन्त्रविद्—(मूल पाठमात्र) मन्त्रों का ज्ञाता; एव—ही; अस्मि—हूं; न—नहीं; आत्मविद्—जीवात्मा (अपने स्वरूप) और परमात्मा (ब्रह्म) का साक्षात्कर्ता; श्रुतम्—सुना है (जाना है); हि—ही, क्योंकि; एव—ही; मे—मेरा (मैंने); भगवद्दृशेभ्यः—आप जैसे माननीयों से; तरति—पार कर जाता है; शोकम्—दुःख-सागर को; आत्मविद्—आत्मज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी; इति—यह (सुना है); सः अहम्—वह मैं; भगवः—हे भगवन्; शोचामि—शोक-मग्न हूं; तम्—उस; मा—मुझको; भगवान्—माननीय आप; शोकस्य—दुःख-सागर के; पारम्—पार; तारयतु—तार दो; (पारम् तारयतु—पार कर दो); इति—यह (प्रार्थना की); तम् ह उवाच—उस (नारद) को (देवर्षि ने) कहा; यद् वै किंच एतद्—जो भी कुछ यह; अध्यगीष्ठाः—तूने अध्ययन किया है; नाम—शब्द-अर्थ का ज्ञानमात्र; एव—ही; एतत्—यह है ॥३॥

> नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहास-
> पुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाको-
> वाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या
> नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या नामैवैतन्नामोपास्स्वेति ॥४॥

नाम वै—शब्द-ज्ञान मात्र ही है; ऋग्वेद....देवजन विद्या—अर्थ पूर्व-वत्; नाम+एव+एतत्—यह शब्द-मात्र का ही ज्ञान है; नाम—(इस) शब्दार्थ सम्बन्ध की; उपास्स्व—उपासना कर, ज्ञान प्राप्त कर (यह ही आत्म-ज्ञान का आधार है); इति—यह (कहा) ॥४॥

जो 'नाम' को ब्रह्म जानकर उसकी उपासना करता है, वह जहाँ तक नाम की गति है, वहीं तक निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन्! नाम से बढ़कर भी कुछ है? ऋषि ने



नारद ने सनत्कुमार को कहा—'मैं मन्त्रवित् हूं, आत्मवित् नहीं हूं'

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकाम-
चारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय
इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥५॥

सः यः—वह जो; नाम—शब्दार्थ ज्ञान को; ब्रह्म—बड़ा, श्रेष्ठ है, इति—यह (समझ कर); उपास्ते—उपासना करता है, यावत्—जितनी, जहातक;

उत्तर दिया, हां, है! नारद ने कहा, तो भगवन्! आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥५॥

सप्तम प्रपाठक—(दूसरा खंड)

ऋषि ने कहा, 'वाणी' नाम से बड़ी है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, आथर्वण आदि सभी विद्याओं को, जिन्हें तुमने पढ़ा है, वाणी जतलाती है, परन्तु इनसे अधिक बातों को भी वाणी ही जतलाती है। उदाहरणार्थ, द्यु, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, हिंस्र-जन्तु, कीट, पतंग, चींटी—इन सबका ज्ञान भी वाणी द्वारा ही होता है। इनके अतिरिक्त, धर्म-अधर्म, सत्य-अनृत, साधु-असाधु, सहृदय-असहृदय—इन सबका ज्ञान भी वाणी ही देती है। यदि वाणी न होती, तो न धर्म-अधर्म का ज्ञान होता, न

नाम्नः—शब्दार्थ ज्ञान की; गतम्—गति (पहुंच) है; तत्र—वहां, उसमें; यथाकामचारः—यथेष्ट विचरण करनेवाला, निर्विघ्न प्रवेश वाला; भवति—हो जाता है; यः नाम ब्रह्म इति उपास्ते—जो नाम को ब्रह्म (श्रेष्ठ) जानकर उपासना (ज्ञान-सम्पादन) करता है; अस्ति—(क्या) है; भगवः—हे भगवन्; नाम्नः—नाम से; भूयः—अधिक, बढ़कर; इति—यह (नारद ने पूछा); नाम्नः वा व—नाम से भी; भूयः—बढ़कर; अस्ति—है; इति—यह (देवर्षि ने कहा); तत्—उसको; मे—मुझे; भगवान्—आप; ब्रवीतु—कहें, बतावें; इति—यह (नारद ने प्रार्थना की) ॥५॥

> वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवांश्च मनुष्यांश्च पशूंश्च वयांसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च। यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति ॥१॥

वाग्—वाणी; वा व—तो, ही; नाम्नः—नाम से; भूयसी—बड़ी, बढ़ कर है; वाग् वै—वाणी ही; ऋग्वेदम्—ऋग्वेद को; विज्ञापयति—प्रगट करती है; ज्ञान कराती है; यजुर्वेदम्...सर्पदेवजनविद्याम्—अर्थ पूर्ववत्;

सत्य-असत्य का ज्ञान होता, न अच्छे-बुरे का ज्ञान होता, न हृदयानुकूल-प्रतिकूल का ज्ञान होता। वाणी ही इन सबका ज्ञान कराती है। 'नाम' से बढ़कर 'वाणी' है, 'नाम' का ज्ञान अपने तक रहता है, 'वाणी' द्वारा ज्ञान दूसरे तक पहुंचता है। इसलिये, हे नारद ! 'वाणी' की उपासना कर ॥१॥

(परन्तु जो 'वाणी' को ब्रह्म जानकर उसकी उपासना करता है, वह जहां तक वाणी की गति है, वहीं तक निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन् ! वाणी से बढ़कर भी कुछ है ? ऋषि ने उत्तर दिया, हां है ! नारद ने कहा, तो भगवन् ! आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥२॥

दिवम् च—और द्युलोक को, पृथिवीम् च—और पृथिवी को, वायुम् च—और वायु को, आकाशम् च—और आकाश को, आपः च—और जलों को, तेजः च—और तेज (अग्नि) को, देवान् च—और देवों को, मनुष्यान् च—और मनुष्यों को, पशून् च—और पशुओं को, वयांसि च—और पक्षियों को, तृण-वनस्पतीन्—घास और वृक्षों को, जड़ी बूटियों को, श्वापदानि—हिंसक जीवों को, आकीट-पतङ्ग-पिपीलकम्—कीड़े, पतङ्गे (भुनगे) और चीटियों तक को, धर्मम् च—और धर्म को, अधर्मम् च—और अधर्म को, सत्यम् च—सत्य को, अनृतम् च—झूठ, असत्य को, साधु च असाधु च—अच्छे (उचित) और बुरे (अनुचित) को, हृदयज्ञम् च—हृदय (दिल की बात) को जानने वाले को (कृतज्ञ को), अहृदयज्ञम् च—और हृदय को न जानने वाले (अकृतज्ञ) को, यद् वै—जो, वाग्—वाणी, न अभविष्यत्—न होती, न—न तो, धर्मः—धर्म, न अधर्मः—न ही अधर्म, व्यज्ञापयिष्यत्—विदित कराया (बताया) जा सकता, न सत्यम्. . . अहृदयज्ञः—अर्थ पूर्ववत्, वाग् एव—वाणी ही, एतत् सर्वम्—इस सब को (का), विज्ञापयति—ज्ञान कराती है, (अतः) वाचम् उपास्स्व—वाणी की ही उपासना कर (सदुपयोग कर), इति—यह (देवर्षि ने कहा) ॥१॥

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो
भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय
इति वाचो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

सः यः—वह जो, वाचम् ब्रह्म इति उपास्ते—वाणी को ब्रह्म (बड़ा) जानकर उपासना करता है, यावद् वाचः गतम्—जहां तक वाणी की पहुंच (विस्तार) है; तत्र अस्य—उस (क्षेत्र) में इसका, यथाकामचारः—अभीष्ट विचरण, अबाध गति; भवति—होती है, यः वाचम् ब्रह्म इति उपास्ते—जो

सप्तम प्रपाठक—(तीसरा खंड)

ऋषि ने कहा, 'मन' (Knowing) वाणी से बड़ा है। जैसे दो आंवले, दो बेर, या दो बहेड़े बन्द मुट्ठी में अनुभव किये जा सकते हैं, ऐसे ही 'नाम' तथा 'वाणी' ये दोनों ही मन में अनुभव किये जाते हैं। यह मनुष्य पहले मन में ही सोचता है कि 'मन्त्र' पढ़ूं या 'कर्म' करूं—जब मन में सोचता है, तब मन्त्र पढ़ने लगता है, कर्म करने लगता है। 'पुत्र'-'पशु' की मन में इच्छा करता है, तो इन्हें पा लेता है, 'इस-लोक' तथा 'उस-लोक' की इच्छा करता है, तो उन्हें पा लेता है। इसलिये मन ही मानो आत्मा है, मन ही मानो लोक है, मन ही मानो ब्रह्म है। 'मन' की प्रेरणा से ही 'वाणी' 'नाम' का—शब्द का—उच्चारण करती है, अतः 'मन', हे नारद! 'नाम' तथा 'वाणी'—इन दोनों से बड़ा है। तू 'मन' की उपासना कर ॥१॥

वाणी को ब्रह्म (अधिक श्रेष्ठ) जान कर उसका सदुपयोग करता है; अस्ति भगवः वाचः भूयः—भगवन् क्या वाणी से भी बढ़ कर (कुछ) है; इति—यह (नारद ने पूछा); वाचः—वाणी से; वा व—भी; भूयः अस्ति—बढ़ कर (श्रेष्ठ) है; इति—यह (देवर्षि ने कहा); तत् मे भगवान् ब्रवीतु—उसको मुझे आप बतावें; इति—यह (नारद ने प्रार्थना की) ॥२॥

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वामलके द्वे वा कोले द्वौ वाऽक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति। स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्स्वेति ॥१॥

मनः वा व—मन तो; वाचः भूयः—वाणी से बढ़ कर है; यथा वै—जैसे; द्वे—दो; वा—या; आमलके—आंवलों का; द्वे वा—या दो; कोले—बेरों का; द्वौ वा—या दो; अक्षौ—बहेड़ों का; मुष्टिः—मुट्ठी; अनुभवति—अनुभव करती है; एवम्—इस ही प्रकार; वाचम् च नाम च—वाणी को और नाम को; मनः—मन; अनुभवति—जानता है; सः—वह (मनुष्य); यदा—जब; मनसा—मन से; मनस्यति—मनन (विचार) करता है; मन्त्रान्—मन्त्रों को; अधीयीय—पढ़ूं; इति—ऐसे; अथ—तो; अधीते—पढ़ता है; कर्माणि—कर्मों को; कुर्वीय—करूं; इति—ऐसे (सोचता) है; अथ—तो; कुरुते—कर्म करता है; पुत्रान् च—और पुत्रों को; पशून् च—और पशुओं को; इच्छेय—चाहूं;

परन्तु जो 'मन' को ब्रह्म जानकर उसकी उपासना करता है, वह जहां तक मन की गति है, वहीं तक निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन् ! मन से बढ़कर भी कुछ है ?. ऋषि ने उत्तर दिया, हां है ! नारद ने कहा, तो भगवन् ! आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥२॥

सप्तम प्रपाठक—(चौथा खंड)

ऋषि ने कहा, 'संकल्प' (Willing) मन से बडा है। मनुष्य जब संकल्प करता है, विचार का बीज मन में डालता है, तब मन उस संकल्प का बार-बार मनन करता है, मनन के बाद वह वाणी को प्रेरणा देता है, वाणी प्रेरणा पाकर नाम, अर्थात् शब्द का उच्चारण करती है। 'नाम' सम्पूर्ण कर्म-कांड की इकाई है, क्योंकि नाम में मन्त्र समा जाते है, शब्दों के समूह को ही तो मन्त्र कहते है, और मन्त्र में कर्म-कांड समा जाता है ॥१॥

इति—ऐसे (सोचता है), अथ—तत्पश्चात्, इच्छते—(उनकी) चाहना करता है, इमम् च—और इस (पृथिवी), लोकम्—लोक को, अमुम् च—और उस (द्युलोक) को; इच्छेय—चाहू, पहुचू, अथ इच्छते—तो ही चाहता है, पहुच जाता है, मनः हि—मन ही; आत्मा—सतत गति (ज्ञान) करनेवाला है, मनः हि—मन ही; लोकः—लोक (आधार, प्रतिष्ठा) है, मन हि—मन ही, ब्रह्म—ब्रह्म (बडा, श्रेष्ठ) है, मनः उपास्स्व—मन की उपासना कर (शुभ मनन-चिन्तन कर); इति—यह (बताया) ॥१॥

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथा-
कामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो
भूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

स यः . उपास्ते—अर्थ पूर्ववत्, अस्ति भगवः मनसः भूयः—हे भगवन् ! मनसे भी बडा कुछ है; इति—यह (पूछा), मनसः वा व भूयः अस्ति—मन से भी बडा (बढ कर) है, इति—यह (देवर्षि ने कहा), तत् मे भगवान् ब्रवीतु इति—उसे मुझे आप बताइयें यह (नारद ने प्रार्थना की) ॥२॥

संकल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति। ताम् नाम्नीरयति। नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥१॥

संकल्पः—विचार, कर्तव्याकर्तव्य का विवेचन, वा व—ही; मनसः भूयान्—मन से बढ कर है, यदा वै—जब, संकल्पयते—विवेचन, विचार

मन से लेकर नाम तक सबका एकमात्र आधार 'संकल्प' है, संकल्प ही इनका आत्मा है, संकल्प में ही ये निवास करते हैं। ब्रह्मांड तथा पिंड में संकल्प-ही-संकल्प दिखाई देता है, द्यु तथा पृथिवी में एक ही संकल्प दिखाई दे रहा है, देखो ये दोनों कैसे एक-दूसरे पर आश्रित हैं, आकाश तथा वायु में एक ही संकल्प काम कर रहा है, पानी और तेज में भी मानो संकल्प चल रहा है, उस संकल्प से मानो वर्षा होती है, वर्षा में जो संकल्प काम कर रहा है, उससे मानो अन्न होता है, अन्न में जो संकल्प चल रहा है उससे मानो प्राण होता है, प्राण के संकल्प से मन्त्र, मन्त्र के संकल्प से कर्म, कर्म के संकल्प से लोक, लोक के संकल्प से सब-कुछ चल रहा है। हे नारद ! विश्व में सब जगह संकल्प-ही-संकल्प है, इसलिये तू 'संकल्प' की उपासना कर ।।२।।

करता है; **अथ**—तत्पश्चात्; **मनस्यति**—मनन करता है; **अथ**—तब ही; **वाचम्**—वाणी को; **ईरयति**—(बोलने के लिए) प्रेरित करता है; **ताम् उ**—उस (वाणी) को ही; **नाम्नि**—नाम (शब्द-संज्ञा) में; **ईरयति**—प्रेरित करता है; **नाम्नि**—नाम में; **मन्त्राः**—(कर्म-निर्देशक) वेद-मन्त्र; **एकम् भवन्ति**—एक हो जाते हैं, समा जाते हैं; **मन्त्रेषु**—वेद-मन्त्रों में; **कर्माणि**—कर्म (समा जाते हैं) ।।१।।

तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पन्तापश्च तेजश्च। तेषां संक्लृप्त्यै वर्षं संकल्पते वर्षस्य संक्लृप्त्या अन्नं संकल्पतेऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते प्राणानां संक्लृप्त्यै मन्त्राः संकल्पन्ते मन्त्राणां संक्लृप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते कर्मणां संक्लृप्त्यै लोकः संकल्पते लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वं संकल्पते। स एष संकल्पः संकल्पमुपास्स्वेति ।।२।।

तानि—वे (नाम से लेकर मन तक); **ह वै**—निश्चय ही; **एतानि**—ये; **संकल्प + एकायनानि**—संकल्प के एकमात्र आधार वाले हैं (एकमात्र संकल्प ही इनका आधार या निवास-स्थान है); **संकल्पात्मकानि**—वस्तुतः संकल्परूप ही हैं; **संकल्पे**—संकल्प में ही; **प्रतिष्ठितानि**—प्रतिष्ठा (स्थिति) वाले, स्थिर हैं; **समक्लृपताम्**—संकल्प (सा) किया हुआ है (संकल्प पर आश्रित); **द्यावा-पृथिवी**—द्युलोक और पृथिवी लोक; **समकल्पेताम्**—संकल्प वाले (संकल्पाश्रित) हैं; **वायुः च आकाशम् च**—वायु और आकाश; **समकल्पत**—संकल्पमय

जो सकल्प को ब्रह्म मान कर उसकी उपासना करता है, वह ध्रुव, प्रतिष्ठित तथा सताप-रहित होकर, सकल्प के ध्रुव, प्रतिष्ठित तथा सताप-रहित लोक को मानो सिद्धि प्राप्त कर लेता है, परन्तु सकल्प की जहा तक गति है, वहीं तक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन्! सकल्प से बढ कर भी कुछ है? ऋषि ने उत्तर दिया, हा है! नारद ने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥३॥

(सकल्पाश्रित) ही हैं, आप च तेज च—जल और तेज (अग्नि), तेषाम्—उन (सब द्युलोक आदि) की, सक्लृप्त्यै—सकल्प (प्रतिष्ठा स्थिति) के आश्रय (निमित्त) से, वर्षम्—वर्षा, सकल्पते—समथ (सम्पन्न) होती है, वर्षस्य—वर्षा की, सक्लृप्त्यै—समथता पर, अन्नम् सकल्पते—अन्न सम्पन्न (समर्थ) होता है, अन्नस्य सक्लृप्त्यै—अन्न के सम्पन्न होने पर, प्राणा सकल्पन्ते—प्राण सम्पन्न (शक्तिशाली) होते हैं, प्राणानाम्—प्राणो की, सक्लृप्त्यै—सशक्त होने पर, मन्त्रा—मन्त्र, वेदाध्ययन, सकल्पन्ते—सपन्न हो सकता है, मन्त्राणाम्—वेदाध्ययन की, सक्लृप्त्यै—सामर्थ्य होने पर, कर्माणि—कर्तव्य कर्म, सकल्पन्ते—सशक्त होते हैं कर्मणाम्—कर्मों की, सक्लृप्त्यै—सम्पनता होने पर, लोक—लोक, जनता, सकल्पते—सकल्पमय होती है, लोकस्य—लोक (जनता) के, सक्लृप्त्यै—सकल्प (सामर्थ्य सम्पन्नता) के आधार पर, सर्वम्—सब कुछ, सारा विश्व, सकल्पते—सम्पन्न हो रहा है चल रहा है, स एष—वह ही यह, सकल्प—विचार, विवेचन, सामर्थ्य (का रूप) है सकल्पम् उपास्स्व—(हे नारद) तू सकल्प (विचार) की उपासना (सम्यक प्रयोग) कर, इति—यह (कहा) ॥२॥

॥ स य सकल्प ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुव प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति यावत्सकल्पस्य गत तत्रास्य यथाकामचारो भवति य सकल्प ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव सकल्पाद्भूय इति सकल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥३॥

स य सकल्पम ब्रह्म इति उपास्ते—वह जो सकल्प (विचार विवेचन) को ब्रह्म (सर्वश्रेष्ठ) जानकर उपासना (उपयोग) करता है, क्लृप्तान्—(अपने कर्मों के कारण पूर्व) निर्धारित या रचित, वै—ही, स—वह (उपासक, सकल्प-कर्ता), लोकान्—लोको (योनियो स्थितियो) को, ध्रुवान्—सुनिश्चित, ध्रुव—स्वय स्थिर चित्त, प्रतिष्ठितान्—प्रतिष्ठा प्राप्त (लोको को), प्रतिष्ठित—स्वय भी स्थिर, अव्यथमानान्—व्यथा (पीडा) से रहित या

सप्तम प्रपाठक—(पांचवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'चित्त' (Feeling) संकल्प से बड़ा है। जब किसी विषय की 'चेतना' होती है, अनुभूति होती है, तभी संकल्प उठता है। संकल्प के बाद 'मन'-'वाणी'-'नाम'-'मन्त्र'-'कर्म' का चक्कर चल पड़ता है ॥१॥

संकल्प-मन-वाणी आदि सब का एकमात्र आधार चित्त है, अनुभूति है, चित्त ही इनका मानो आत्मा है, चित्त में ही इनका निवास है, इसीलिये भले ही कोई व्यक्ति 'बहुविद्' हो, पंडित हो, अगर वह चित्त-रहित हो गया है, तो उसे ऐसे ही मानते हैं जैसे वह हो ही नहीं! यदि वह कुछ जानता था, या जानता है, तो क्या इस प्रकार अचित्त होता? वह व्यक्ति जो कुछ नहीं जानता, न

पीड़ा न देनेवाले; **अव्यथमानः**—स्वयं भी पीड़ा से रहित (स्वस्थ); **अभिसिद्धयति**—सिद्ध कर लेता है, प्राप्त कर लेता है; **यावत् संकल्पस्य**—जहांतक, जितना संकल्प का; **तत्रास्य . . . ब्रवीतु इति**—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

चित्तं वाव संकल्पाद्भूयो यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥१॥

चित्तम्—चेतना (समझदारी); **वा व**—तो; **संकल्पाद्**—संकल्प से; **भूयः**—बढ़कर है; **यदा वै**—जब ही; **चेतयते**—चेतता है, होशियार होता है; **अथ**—तत्पश्चात्; **संकल्पयते**—संकल्प (दृढ़ निश्चय) करता है; **अथ मनस्यति**—तब मनन करता है; **अथ**—तब; **वाचम् ईरयति**—वाणी को प्रेरित करता है; **ताम् उ**—उस (वाणी) को भी; **नाम्नि ईरयति**—नाम (शब्द) में प्रेरित करता है; **नाम्नि मन्त्राः एकम् भवन्ति**—नाम में मन्त्र एक हो जाते (समा जाते) हैं; **मन्त्रेषु कर्माणि**—और मन्त्रों में कर्म (समा जाते हैं) ॥१॥

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैनमाहुर्यदयं वेद यद्वा अयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादित्यथ यद्यल्पविच्चित्तवान्भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते। चित्तं ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति ॥२॥

तानि ह वै—निश्चय ही वे (संकल्प से नाम तक) सब; **चित्तैकायनानि**—चित्त पर आधार (आश्रय) वाले; **चित्तात्मानि**—चित्त रूप (चेतना-स्वरूप); **चित्ते प्रतिष्ठितानि**—चित्त में प्रतिष्ठित (स्थिति पानेवाले); **तस्माद्**—उस

होने के बराबर हैं। इसके विपरीत भले ही कोई व्यक्ति 'अल्पविद्' हो, थोड़ा जानता हो, अगर वह चित्त-वान् है, तो सब उसकी बात सुनते हैं। चित्त ही इनका एकमात्र आधार है, चित्त ही आत्मा है, चित्त ही प्रतिष्ठा है, हे नारद! तू 'चित्त' की उपासना कर ॥२॥

जो चित्त को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह ध्रुव, प्रतिष्ठित तथा संताप-रहित होकर चित्त के ध्रुव, प्रतिष्ठित तथा संताप-रहित लोक को मानो सिद्धि प्राप्त कर लेता है, परन्तु चित्त की जहां तक गति है वहीं तक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन्! चित्त से बढ़कर भी कुछ है? ऋषि ने उत्तर दिया, हां है! नारद ने कहा, तो भगवन्! आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥३॥

कारण से, अतएव, यद्यपि—चाहे, बहुविद्—बहुत जानने वाला भी, अचित्त (यदि) चित्त-(चेतना) शून्य, भवति—होता है (तो), न अयम् अस्ति—नहीं यह (होश में) है, इति+एव—इस प्रकार ही, एनम्—इसको, आहु—कहते हैं, यत्—कि, जो, अयम्—यह, वेद—जानता (होता), यद् वा—अथवा, विद्वान्—जाननेवाला है (तो), न—नहीं, इत्थम्—इस प्रकार, अचित्त—चित्त-(चेतना) शून्य, स्याद्—होता, इति—ऐसा (कहते हैं), अथ—और, यदि—अगर, अल्पविद्—थोड़ा जाननेवाला, चित्तवान्—चित्त (चेतना) वाला, भवति—होता है, तस्मै एव उत—उसकी ही, शुश्रूषन्ते—सुनना चाहते हैं, सेवा-परिचर्या करते हैं, चित्तम् हि एव—क्योंकि चित्त ही, एषाम्—इन सब (नाम से सकल्प तक) का, एकायनम्—एकमात्र आधार है, चित्तम्—चेतना, आत्मा—स्वरूप है, चित्तम् प्रतिष्ठा—चित ही इनका आश्रय है, चित्तम् उपास्स्व (हे नारद) तू चित्त (चेतना) की उपासना कर (आश्रय ले), इति—यह (देवर्षि ने बताया) ॥२॥

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिद्ध्यति। यावच्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ताद्भूय इति चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥३॥

स यः—वह जो, चित्तम् ब्रह्म इति उपास्ते—चित्त ही ब्रह्म (सर्वश्रेष्ठ) है ऐसा जान कर उपासना करता है (चेतन रहता है), चित्तान्—चेतना वाले (चित्त से युक्त), वै स लोकान् अब्रवीतु इति—अर्थ पूर्ववत् जानें ॥३॥

सप्तम प्रपाठक—(छठा खंड)

ऋषि ने कहा 'ध्यान' (Concentration) चित्त से, अनुभूति से बड़ा है। अनुभूतियां अनेक होती हैं, ध्यान एक होता है—एक अनुभूति का होना ध्यान है। यह पृथिवी मानो ध्यान में लीन है, अन्तरिक्ष-द्यौ-जल-पर्वत-देव-मनुष्य—सभी मानो ध्यान-मग्न हैं! संसार के नर-नारियों में जो महत्ता को प्राप्त करते हैं, वे ध्यान के थोड़े-बहुत अंश से ही महत्त्व प्राप्त करते हैं। जो लोग 'अल्प' हैं, तुच्छ हैं, वे भी ध्यान के सहारे ही कलह करते हैं, चुगली करते हैं, एक-दूसरे की निन्दा करते हैं; जो लोग 'प्रभु' हैं, महान् हैं, वे भी ध्यान के थोड़े-बहुत अंश से ही प्रभुता प्राप्त करते हैं! हे नारद! तू 'ध्यान' की उपासना कर ॥१॥

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देव-मनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति ॥१॥

ध्यानम्—चित्त की एकाग्रता; **वा व**—ही; **चित्ताद् भूयः**—चित्त से बढ़कर है; **ध्यायति इव**—मानों ध्यान कर रही है; **पृथिवी**—पृथिवी; **ध्यायति इव**—मानो ध्यान-मग्न है; **अन्तरिक्षम्**—अन्तरिक्ष; **ध्यायति इव द्यौः**—मानो द्युलोक ध्यान कर रहा है; **ध्यायन्ति इव आपः**—मानो जल भी ध्यानमग्न हैं; **ध्यायन्ति इव पर्वताः**—मानो पर्वत भी ध्यान-मग्न हैं; **ध्यायन्ति इव देव-मनुष्याः**—देव और मनुष्य या देवों के समान (विद्वान्) मनुष्य मानों ध्यानमग्न हैं (क्योंकि पृथिवी आदि सब एक-रस हैं, इनमें विक्षिप्तता नहीं है); **तस्मात्**—अतएव; **ये**—जो; **इह**—यहां, इस संसार में; **मनुष्याणाम्**—मनुष्यों में से (कोई); **महत्ताम्**—बड़प्पन को, प्रतिष्ठा को; **प्राप्नुवन्ति**—प्राप्त करते हैं; **ध्यान+आपाद+अंशाः**—ध्यान-संपत्ति के कुछ अंशवाले, कुछ-न-कुछ ध्यान (एकाग्रता) वाले; **इव**—के समान; **एव**—ही; **ते**—वे (महान् मनुष्य); **भवन्ति**—होते हैं; **अथ**—और; **ये**—जो (तो); **अल्पाः**—तुच्छ, छोटे (होते हैं); **कलहिनः**—झगड़ालू; **पिशुनाः**—परोक्ष में निन्दा करनेवाले; **उपवादिनः**—समीप में (मुंह पर, प्रत्यक्ष) निन्दा करनेवाले; **ते**—वे (होते हैं); **अथ ये**—और जो; **प्रभवः**—समर्थ, शासक हैं; **ध्यानापादांशा इव**—ध्यान (एकाग्रता)

जो ध्यान को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है वह जहा तक ध्यान की गति हैं वहाँ तक निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन्! ध्यान से बढकर भी कुछ है? ऋषि ने उत्तर दिया, हां है! नारद ने कहा, तो भगवन्! आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥२॥

सप्तम प्रपाठक—(सातवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'विज्ञान' ध्यान से बडा है। अनेकों में एक अनुभूति को ध्यान कहते हैं, परन्तु वह अनुभूति अच्छी या बुरी दोनों प्रकार की हो सकती है। तभी पष्ठ खंड में कहा कि ध्यान से हम 'अल्प', अर्थात् छोटे और 'प्रभु', अर्थात् बडे दोनों हो सकते हैं। विज्ञान की सहायता से, अल्प (छोटा) होने के स्थान में प्रभु (बडा)

के कुछ-न-कुछ अश वाला के समान, एव—ही, ते—वे (प्रभु), भवन्ति—होते है, ध्यानम् उपास्स्व—(हे नारद) तू ध्यान की उपासना कर (चित्तवृत्तियो को एकाग्र कर), इति—यह (देवर्षि ने उपदेश दिया) ॥१॥

स यो ध्यान ब्रह्मेत्युपास्ते यावदध्यानस्य गत तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो ध्यान ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद्भूय इति ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

स यः—वह जो, ध्यानम्—चित्त की एकाग्रता को, ब्रह्म—ब्रह्म (बडा, श्रेष्ठ), इति—ऐसा जान कर, उपास्ते—उपासना करता है, यावद् ध्यानस्य ब्रवीतु इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

विज्ञान वाव ध्यानाद्भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेद विजानाति यजुर्वेदँ सामवेदमाथर्वण चतुर्थमितिहासपुराण पञ्चम वेदाना वेद पित्र्यँ राशि दैव निधि वाकोवाक्यमेकायन देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्याँ सर्पदेवजनविद्यां दिव च पृथिवीं च वायु चाकाश चापश्च तेजश्च देवाँश्च मनुष्याँश्च पशूँश्च वयाँसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलक धर्मं चाधर्मं च सत्य चानृत च साधु चासाधु च हृदयज्ञ चाहृदयज्ञ चान्न च रस चेम च लोकममु च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति ॥१॥

विज्ञानम्—विज्ञान (विशिष्ट—गहराई म ज्ञान), वा व—तो, ध्यानाद् भूय—ध्यान से बढकर है, विज्ञानेन—विज्ञान से, एव—ही, ऋग्वेदम् विजानाति—ऋग्वेद के मर्म को जान लेता है, यजुर्वेदम् अहृदयज्ञम् च—अर्थ पूर्ववत्, अन्नम् च—और अन्न को, रसम् च—रस (स्वाद, आनन्द) को, इमम्

होने के ध्यान को मनुष्य अपना लेता है। विज्ञानद्वारा ही ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-आथर्वण आदि, द्यु-पृथिवी-वायु-आकाश आदि, धर्म-अधर्म-सत्य-अनृत आदि का ज्ञान होता है, इसलिये हे नारद ! तू 'विज्ञान' की उपासना कर ॥१॥

जो विज्ञान को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह विज्ञान तथा ज्ञान दोनों लोकों की मानो सिद्धि प्राप्त कर लेता है, परन्तु विज्ञान की जहां तक गति है वहीं तक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन् ! विज्ञान से बढ़कर भी कुछ है ? ऋषि ने उत्तर दिया, हां है ! नारद ने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥२॥

सप्तम प्रपाठक—(आठवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'बल' विज्ञान से बड़ा है। विज्ञान तो मानसिक है, बल शारीरिक-मानसिक-आत्मिक सभी प्रकार का है। एक बल-

---

लोकम्—इस पृथिवी लोक को या इस जन्म को; अमुम् च—और उस द्युलोक को या उस पर-जन्म को; विज्ञानेन एव विजानाति—विज्ञान से ही जानता है; विज्ञानम् उपास्स्व—तू विज्ञान की उपासना कर (विज्ञानी बन); इति—यह (देवर्षि ने उपदेश दिया) ॥१॥

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतोऽभिसिध्यति यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भूय इति विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

सः यः विज्ञानम् ब्रह्म इति उपास्ते—वह जो विज्ञान को ब्रह्म (बड़ा, श्रेष्ठ) जानकर उपासना (संपादन) करता है; विज्ञानवतः—विज्ञान से युक्त, वैज्ञानिक; वै—ही; सः—वह (विज्ञानी); लोकान्—लोकों को या विद्वान्-जनों को; ज्ञानवतः—(और) ज्ञानी (जनों) को; अभिसिध्यति—सिद्ध कर लेता है, वश में कर लेता है, प्रभावित करता है; यावद् विज्ञानस्य... ब्रवीतु इति —अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन्परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन्द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति ॥१॥

वान् सौ विज्ञानवानों को कंपा देता है। विज्ञानवान् जब बलवान् होता है, तब कुछ करने को उठ खड़ा होता है, जब उठ खड़ा होता है, तब किसी गुरु की सेवा में पहुंचता है, गुरु-सेवा से वह गुरु के निकट पहुंच जाता है, उसका प्रिय हो जाता है, फिर उसे गुरु-प्रसाद मिलता है जिससे वह तत्त्व-ज्ञान का 'द्रष्टा', 'श्रोता', 'मन्ता', 'बोद्धा', 'कर्त्ता', और 'विज्ञाता' हो जाता है ॥१॥

बल से ही पृथिवी ठहरी हुई है, बल से आकाश, बल से द्यु-लोक, बल से पर्वत, बल से देव और मनुष्य, बल से पशु-पक्षी-तृण-वनस्पति-श्वापद-कीट-पतंग-पिपीलिका ठहरे हुए हैं। भगवान् के नियम-रूपी बल से सब लोक अपनी मर्यादा में स्थित हैं। हे नारद! तू 'बल' की उपासना कर ॥२॥

बलम्—बल (शारीरिक-मानसिक-आत्मिक), शक्ति, वा च—भी, विज्ञानात्—विशिष्ट (गहरे) ज्ञान से, भूयः—बढ़कर है, अपि ह—निश्चय से, शतम्—सौ, विज्ञानवताम्—विज्ञानियों के, (शतम् विज्ञानवताम्—सैकड़ों विज्ञानियों को), एकः—इकला, बलवान्—ताकतवर, आकम्पयते—कंपा देता है; सः—वह (मनुष्य), यदा—जब, बली—बलवान्, भवति—होता है; अथ—तो, उत्थाता—उठनेवाला, उन्नत होनेवाला, प्रगति करनेवाला, भवति—होता है, उत्तिष्ठन्—उठा (उन्नत) हुआ, परिचरिता—परिचर्या (गुरु की सेवा) करनेवाला, भवति—होता है, परिचरन्—(गुरु की) सेवा करनेवाला, उपसत्ता—(शिक्षा के लिए गुरु के) पास बैठनेवाला, उपनीत, विद्याधिकारी, गुरु का स्नेह-पात्र, भवति—हो जाता है, उपसीदन्—पास बैठा हुआ, स्नेह-पात्र बना, द्रष्टा—ज्ञाता, भवति—हो जाता है, श्रोता—गुरु-उपदेश या शास्त्र का सुननेवाला, भवति—होता है, मन्ता भवति—मनन करनेवाला, विचारक होता है, बोद्धा भवति—ज्ञानी हो जाता है, कर्त्ता भवति—(ज्ञान पूर्वक) कर्म करनेवाला हो जाता है, विज्ञाता भवति—(अन्त में) विज्ञानी हो जाता है ॥१॥

बलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता
बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः
श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं बलेन लोकस्तिष्ठति बलमुपास्स्वेति ॥२॥

बलेन वै—बल से ही; पृथिवी तिष्ठति—पृथ्वी स्थित है; बलेन अन्तरिक्षम्—बल से अन्तरिक्ष; बलेन द्यौः—बल से द्युलोक, बलेन पर्वताः—बल

जो बल को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह बल की जहां तक गति है वहीं तक निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन्! बल से बढ़कर भी कुछ है? ऋषि ने उत्तर दिया, हां है! नारद ने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥३॥

सप्तम प्रपाठक—(नौवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'अन्न' बल से बड़ा है। इसीलिए अगर कोई दस रात तक कुछ न खाये, उसके बाद अगर जीता रहे, तो वह 'अद्रष्टा'-'अश्रोता'-'अमन्ता'-'अबोद्धा'-'अकर्ता'-'अविज्ञाता' हो जाता है—उसका मन काम करना छोड़ देता है, पर जब उसे अन्न प्राप्त हो जाता है, तब वह फिर से देखने, सुनने, मानने, जानने, काम करने और समझने वाला बन जाता है। हे नारद! तू 'अन्न' की उपासना कर ॥१॥

से पर्वत; **बलेन देव-मनुष्याः**—बल से देवता और मनुष्य; **बलेन**—बल से; **पशवः च . . . उपास्स्व इति**—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथाकाम-
चारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो बलाद्भूय
इति बलाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥३॥

सः यः बलम् . . . ब्रवीतु इति—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

अन्नं वाव बलाद् भूयस्तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्यु ह जीवेदथवाऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्ताऽविज्ञाता भवत्यथान्नस्याऽऽये द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्स्वेति ॥१॥

अन्नम्—अन्न; **वा व**—तो ही; **बलाद् भूयः**—बल से बढ़कर है; **तस्माद्**—अतएव; **यद्यपि**—अगर; **दशरात्रीः**—दस रात (दिन) तक; **न**—नहीं; **अश्नीयात्**—भोजन करे; **यदि उ ह**—तब भी अगर; **जीवेत्**—जीता रहे; **अथवा**—तो, या; **अद्रष्टा**—न देख सकनेवाला; **अश्रोता**—न सुननेवाला; **अमन्ता**—मनन करने में असमर्थ; **अबोद्धा**—न जान सकनेवाला; **अकर्ता**—कर्म करने में अशक्त; **अविज्ञाता**—अविज्ञानी; **भवति**—हो जाता है (अन्न के अभाव में सब इन्द्रियां क्षीण-दुर्बल हो जाती हैं); **अथ**—इसके बाद; **अन्नस्य**—अन्न के; **आये**—प्राप्त होने पर (भोजन कर लेने पर); **द्रष्टा भवति. . .उपास्स्व इति**—अर्थ पूर्ववत् ॥१॥

जो अन्न को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह अन्न और पान के लोको की मानो सिद्धि प्राप्त कर लेता है, परन्तु अन्न की जहां तक गति है वहीं तक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन् ! अन्न से बढ़कर भी कुछ है ? ऋषि ने उत्तर दिया, हां है ! नारद ने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥२॥

सप्तम प्रपाठक—(दसवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'जल' अन्न से बड़े हैं। तभी जब वृष्टि अच्छी नहीं होती, तो प्राण यह सोचकर दुःखी होते हैं कि इस बार अन्न थोड़ा होगा; और जब अच्छी वृष्टि होती है, तो प्राण यह सोचकर आनन्द मनाते हैं कि इस बार अन्न बहुत होगा। जल ही मानो मूर्त-

---

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान्पानवतोऽभिसिध्यति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्भूय इत्यन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

स. यः अन्नम् ब्रह्म इति उपास्ते—वह जो अन्न को ब्रह्म (बड़ा) जानकर उपासना (अन्न-भोग) करता है, अन्नवतः—अनवारे अन्न से भरे-पूरे, वै—ही, सः—वह (उपासक), लोकान्—लोकों को, देश को, जन्म को, पानवतः—(पीने के) पानीवाले, जल की प्रचुरता वाले (लोकों को), अभिसिध्यति—सिद्ध कर लेता है, प्राप्त होता है, यावद् अन्नस्य ब्रवीतु इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

आपो वावान्नाद्भूयस्यस्तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद् द्यौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पशवश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकमाप एवेमा मूर्ता अप उपास्स्वेति ॥१॥

आपः—जल, वाव—तो, ही, अन्नाद् भूयस्यः—अन्न से बढ़कर है, तस्मात्—अतएव, यदा—जब, सुवृष्टिः—अच्छी (प्रचुर) वर्षा, न भवति—नहीं होती (तो); व्याधीयन्ते—दुःख-ग्रस्त हो जाते हैं, चिन्तित होते है, प्राणाः—श्वास-प्रश्वास, इन्द्रिया, जीवन शक्ति, अन्नम्—अन्न, कनीयः—थोड़ा, भविष्यति—होगा, इति—यह (सोचकर), अथ—और, यदा सुवृष्टिः भवति—जब अच्छी वर्षा हो जाती है, आनन्दिनः—आनन्द से युक्त, प्रसन्न, प्राणाः

रूप धारण करके हमारे सामने खड़े हैं—ये पृथिवी, आकाश, द्यौ, ये पर्वत, ये देव और मनुष्य, ये पशु-पक्षी-तृण-वनस्पति-श्वापद-कीट-पतंग-पिपीलिका—ये सब मूर्त-रूप धारण किये मानो जल ही हैं। हे नारद ! तू 'जल' की उपासना कर ॥१॥

जो जल को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह सब कामनाओं को पा जाता है, तृप्त हो जाता है, परन्तु जल की जहां तक गति है वहीं तक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन् ! जल से बढ़कर भी कुछ है ? ऋषि ने उत्तर दिया, हां है ! नारद ने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥२॥

सप्तम प्रपाठक—(ग्यारहवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'तेज' जल से बड़ा है। यह तेज ही जब वायु को साथ लेकर आकाश को तपाता है तब सब कह उठते हैं, सूखा पड़

भवन्ति—प्राण हो जाते हैं; अन्नम् बहु भविष्यति—अन्न बहुत होगा; इति—यह (सोचकर); आपः एव—जल ही; इमाः—ये; मूर्ताः—मूर्तिधारी, प्रत्यक्ष, साक्षात्; या—जो; इयम्—यह; पृथिवी—पृथिवी; यद् अन्तरिक्षम्. . . .अपः उपास्स्व इति—अर्थ पूर्ववत् ॥१॥

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामाँस्तृप्तिमान्भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

सः यः—वह जो; अपः—जलों को; ब्रह्म इति उपास्ते—ब्रह्म (बड़ा, श्रेष्ठ) जानकर उपासना करता है (वह); आप्नोति—प्राप्त कर लेता है; सर्वान्—सारे; कामान्—कामनाओं को, भोगों को; तृप्तिमान्—सदा तृप्त; भवति—होता है, रहता है; यावद्—जहांतक; अपाम्—जलों की; गतम् तत्र. . . .ब्रवीतु इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

तेजो वावाद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायुमागृह्याकाशमभितपति तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्भिरा-ह्रादाश्चरन्ति। तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति। तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तेज उपास्स्वेति ॥१॥

तेजः—तेज (अग्नि); वा व—तो ही; अद्भ्यः—जलों से; भूयः—

रहा है, तपिश बढ रही है, अवश्य बरसेगा। तेज पहले अपने करसब दिखलाकर जल की सृष्टि करता है। तेज ही ऊपर तिरछी बिजलियों के साथ गर्जनाएं करता हुआ चलता है। यह देखकर लोग कह उठते हैं, चमक रहा है, गरज रहा है, अब बरसेगा—यह तेज ही अपना रूप प्रकट कर फिर जल की सृष्टि करता है। हे नारद! तू 'तेज' की उपासना कर ॥१॥

जो तेज को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह स्वयं तेजस्वी हो जाता है, तेजवान्-प्रकाशवान्-अन्धकाररहित लोकों को मानो वह सिद्धि प्राप्त कर लेता है, परन्तु तेज की जहां तक गति है वहीं तक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या

बढकर है, तद् वै एतद्—वह (तेज-अग्नि) ही, वायुम्—वायु को, आगृह्य—रोक कर, पकडकर, आकाशम्—आकाश को, अभितपति—तपाता है, तद्—तो, तब, आहुः—(लोग) कहते हैं, निशोचति—गरमा रहा है, नितपति—खूब तप रहा है, वर्षिष्यति—वर्षा होगी, वै—निश्चय से, इति—ऐसा (कहते हैं), तेज एव—तेज ही, तत्—उसको, पूर्वम्—पहले, दर्शयित्वा—दिखला कर, प्रगट कर, अथ—बाद में, अपः—जलों को, सृजते—उत्पन्न करता है, तद् एतद्—वह ही यह (तेज), ऊर्ध्वाभिः—ऊपर होनेवाली, च—और, तिरश्चीभिः च—और तिरछी (अगल-बगल में होनेवाली), विद्युद्भिः—बिजलियों से, आह्रादाः—बिजली की कडक, चरन्ति—चलते हैं, उत्पन्न होते हैं, तस्मात्—उस कारण से (उसे देखकर), आहुः—(लोग) कहते हैं, विद्योतते—बिजली चमक रही है, स्तनयति—बादल गरज रहा है, वर्षिष्यति—वर्षा होगी, वै—निश्चय से, इति—ऐसे (कहते हैं), तेज एव—तेज ही, तत्—उस (वर्षा स्थिति) को, दर्शयित्वा—दिखला कर, प्रगट कर, अथ अपः सृजते—बाद में जलों को उत्पन्न करता है, तेजः—तेज को (की), उपास्स्व—(हे नारद) तू उपासना (उचित-उपयोग) कर, इति—यह (उपदेश देवर्षि सनत्कुमार ने दिया) ॥१॥

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान्भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिद्ध्यति यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति तेजसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

सः यः—वह जो, तेजः ब्रह्म इति उपास्ते—तेज को ब्रह्म (बडा) जानकर उपासना करता है, तेजस्वी—तेजसम्पन्न, वै—निश्चय से, सः—वह (हो

भगवन् ! तेज से बढ़कर भी कुछ है ? ऋषि ने उत्तर दिया, हां है ! नारद ने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥२॥

सप्तम प्रपाठक—(बारहवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'आकाश' तेज से बड़ा है। आकाश तेज का आश्रय स्थान जो ठहरा। आकाश में ही सूर्य और चन्द्र ये दोनों हैं, आकाश में ही विद्युत्, नक्षत्र और अग्नि है। आकाश से पुकारा जाता है; आकाश से सुना जाता है, आकाश से उत्तर दिया जाता है, आकाश में रमण होता है या नहीं होता, आकाश में पैदा होते हैं, अंकुर आकाश की तरफ़ फूटते हैं। हे नारद ! तू 'आकाश' की उपासना कर ॥१॥

जाता है); तेजस्वतः—तेज से संपन्न (तेजःप्रधान); लोकान्—लोकों को; भास्वतः—दीप्ति (प्रकाश) से युक्त; अपहततमस्कान्—अन्धकार से रहित (लोकों को); अभिसिद्धयति—सिद्ध (प्राप्त) कर लेता है; यावत् तेजसः (तेज का). . . . ब्रवीतु इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्य-
ग्निराकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत
आकाशे न रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति ॥१॥

आकाशः—आकाश; वा व—ही तो; तेजसः—तेज से; भूयान्—बढ़ कर है; आकाशे वै—आकाश में ही; सूर्याचन्द्रमसौ—सूर्य और चन्द्र; उभौ—दोनों; विद्युत्—बिजली; नक्षत्राणि—नक्षत्र; अग्निः—अग्नि (तेज) हैं; आकाशेन—आकाश (के माध्यम) से; आह्वयति—बुलाता है; आकाशेन—आकाश (के माध्यम) से; शृणोति—सुनता है; आकाशेन—आकाश (के माध्यम) से; प्रतिशृणोति—प्रत्युत्तर सुनता है; आकाशे—आकाश में; रमते—रमण (क्रीड़ा-खेलकूद) करता है; या आकाशे रमते—आकाश में जी लगता है; आकाशे—(उत्पात से युक्त) आकाश में; न—नहीं; रमते—(मन) लगता है; आकाशे—आकाश (सावकाश-स्थान) में; जायते—(प्राणी) उत्पन्न होता है; आकाशम् अभि—आकाश की ओर; जायते—(अंकुर) उत्पन्न होता है; आकाशम्—आकाश को (की); उपास्स्व—(हे नारद) तू उपासना कर; इति—यह (सनत्कुमार ने बताया) ॥१॥

जो आकाश को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह प्रकाश वाले और आकाश वाले, खुले, बाधा-रहित, विशाल लोकों को मानो सिद्धि प्राप्त कर लेता है, परन्तु आकाश की जहां तक गति है वहाँ तक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन्! आकाश से बढ़कर भी कुछ है? ऋषि ने उत्तर दिया, हां है! नारद ने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥२॥

सप्तम प्रपाठक—(तेरहवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'स्मृति' आकाश से बड़ी है। आकाश में तो शब्द आता है और चला जाता है, स्मृति में तो शब्द स्थिर होकर बैठ जाता है। अगर किसी स्थान पर अनेक व्यक्ति आकर बैठ जायं, स्मरण-शक्ति किसी में न हो, तो पास-पास बैठे हुए भी वे एक-दूसरे

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स लोकान्प्रकाश-
वतोऽसंबाधानुरुगायवतोऽभिसिद्धयति। यावदाकाशस्य गत
तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव
आकाशाद्भूय इत्याकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

सः यः—वह जो, आकाशम्—आकाश को, ब्रह्म इति—ब्रह्म (बड़ा, श्रेष्ठ) जानकर, उपास्ते—उपासना करता है, आकाशवतः—आकाश (अवकाश) वाले, वै—निश्चय से, सः—वह (उपासक), लोकान्—लोकों को, प्रकाश-वतः—प्रकाश (से युक्त) वाले, असंबाधान्—रुकावट (बाधा) से रहित, उरुगायवतः—बहुत विस्तारवाले, बहुत अन्न-समूह वाले (लोकों को), अभि-सिद्धयति—सिद्ध (प्राप्त) कर लेता है, यावद् आकाशस्य ब्रवीतु इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

स्मरो वावाकाशाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्नस्मरन्तो नैव ते कंचन
शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन्। यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ
विजानीरन् स्मरेण वै पुत्रान्विजानाति स्मरेण पशून् स्मरमुपास्स्वेति ॥१॥

स्मरः—स्मृति (याददाश्त), वा व—ही तो, आकाशाद् भूयः—आकाश से भी बढ़कर है, यद्यपि—चाहे, बहवः—बहुत से मनुष्य, आसीरन्—बैठे हों, अस्मरन्तः—न स्मरण करते हुए, याद न आने पर, न एव—नहीं ही; ते—वे (मनुष्य); कंचन—किसी (की बात) को; शृणुयुः—सुन सकेंगे; न मन्वीरन्—न मनन करेंगे, न विजानीरन्—न जान पायेंगे, यदा वा व—जब

की बात न सुन सकेंगे, न जान सकेंगे, न समझ सकेंगे। हां, अगर उनकी स्मरण-शक्ति लौट आये, तो वे एक-दूसरे की बात सुन सकेंगे, जान सकेंगे, समझ सकेंगे। प्राणी स्मृति-शक्ति द्वारा ही पुत्रों को, पशुओं को पहचानता है। हे नारद! तू 'स्मृति' की उपासना कर ॥१॥

जो 'स्मृति' को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह स्मृति की जहां तक गति है वहीं तक निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन्! स्मृति से बढ़कर भी कुछ है? ऋषि ने उत्तर दिया, हां है! नारद ने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥२॥

सप्तम प्रपाठक—(चौदहवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'आशा' स्मृति से बड़ी है। स्मृति का 'भूत' से सम्बन्ध है, आशा स्मृति को साथ लेकर 'भविष्यत्' से सम्बन्ध जोड़ती है। आशा से प्रदीप्त होकर ही स्मृति मन्त्रों का स्मरण करती है, आशा से ही मनुष्य कर्म करता है, आशा से ही पुत्र-पशु, इस लोक

ही तो; ते—वे; स्मरेयुः—याद करेंगे; अथ—तो; शृणुयुः—(एक-दूसरे की बात को) सुनेंगे; अथ मन्वीरन्—और मनन (विचार) करेंगे; अथ विजानीरन्—और जानेंगे; स्मरेण वै—स्मृति से ही; पुत्रान्—पुत्रों को; विजानाति—जानता-पहचानता है; स्मरेण—स्मृति से; पशून्—पशुओं को (जानता है); स्मरम्—स्मृति-शक्ति को (की); उपास्स्व—तू उपासना कर; इति—यह (बताया) ॥१॥

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद्भूय इति स्मराद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

सः यः—वह जो; स्मरम्—स्मरण-शक्ति को; ब्रह्म इति—ब्रह्म (बड़ा, श्रेष्ठ) जानकर; उपास्ते—उपासना करता है (उसे क्षीण नहीं होने देता); यावत् स्मरस्य (स्मृति का)....ब्रवीतु इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छत आशामुपास्स्वेति ॥१॥

आशा—अप्राप्त वस्तु की भविष्य में प्राप्ति की चाहना (उम्मेद); वा व—तो; स्मराद्—स्मृति से भी; भूयसी—बढ़ कर, बड़ी है; आशा-इद्धः—आशा से प्रदीप्त; वै—निश्चय से; स्मरः—स्मृति; मन्त्रान्—वेद-मंत्रों को

उस लोक की इच्छा करता है। हे नारद ! तू 'आशा' की उपासना कर ॥१॥

१जो 'आशा' को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, उसकी सब कामनाएं आशा से भी बढ़कर पूर्ण होती हैं, उसके सब आशीर्वाद अमोघ होते हैं, फलते हैं, परन्तु जहां तक आशा की गति है वहीं तक वह निर्बाध गति प्राप्त करता है। नारद ने पूछा, तो क्या भगवन् ! आशा से बढ़कर भी कुछ है ? ऋषि ने उत्तर दिया, हां है ! नारद ने कहा, तो भगवन्, आप मुझे उसका उपदेश दीजिये ॥२॥

सप्तम प्रपाठक—(पन्द्रहवां खंड)

१ऋषि ने कहा, 'प्राण' आशा से बड़ा है। आशा भी तो प्राण के लिये—जीवन के लिये—ही होती है। जिस प्रकार अरे चक्र की

(का), अधीते—अध्ययन करता है, कर्माणि कुरुते—कर्म करता है, पुत्रान् च—और पुत्रों को, पशून् च—और पशुओं को, इच्छते—आशा करता है, चाहना करता है, इमम् च लोकम्—इस (पृथिवी) लोक को, इस जन्म को, अमुम् च—और उस (द्युलोक) को, पर-जन्म को, इच्छते—चाहता है (आशा करता है), आशाम्—आशा को, उपास्स्व—तू उपासना कर (उसकी पूर्ति के लिए प्रयत्न कर), इति—यह बताया ॥१॥

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयाऽस्य सर्वे कामाः समृद्ध्यन्त्यमोघा हास्याशिषो भवन्ति। यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आशाया भूय इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥२॥

सः यः—वह जो, आशाम्—आशा को, ब्रह्म इति—ब्रह्म (बड़ा) जान कर, उपास्ते—उपासना करता है, आशया—(इसी) आशा से, अस्य—इस (उपासक) के, सर्वे कामाः—सारी कामनाएं (अभिलाषाएं), समृद्ध्यन्ति—समृद्ध (पूर्ण) होती हैं, अमोघाः—सफल, ह—अवश्य, अस्य—इसके, आशिषः—आशीर्वाद, भवन्ति—होते हैं, यावद् आशाया (आशा का) ब्रवीतु इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितं प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥१॥

नाभि में अर्पित होते हैं, इसी प्रकार 'नाम' से लेकर 'आशा' तक सब अरे प्राण-रूपी चक्र में समर्पित हैं। सब-कुछ प्राण के सहारे चल रहा है, प्राण को लक्ष्य में रखकर चल रहा है, प्राण के लिये चल रहा है। प्राण ही पिता है, प्राण माता है, प्राण भ्राता है, प्राण भगिनी है, प्राण आचार्य है, प्राण ब्राह्मण है ॥१॥

अगर कोई जीवित पिता को, माता को, भाई को, बहिन को, आचार्य को, ब्राह्मण को—कुछ अनुचित-सा भी कह दे तो लोग कहते हैं, धिक्कार है तुझे ! तू 'पितृहा' है, 'मातृहा', भ्रातृहा', 'स्वसृहा', 'आचार्यहा', 'ब्राह्मणहा' है ॥२॥

प्राणः—प्राण, जीवन, स्वयं जीवात्मा; **वै**—निश्चय ही; **आशायाः**—आशा से; **भूयान्**—बढ़कर है; **यथा वै**—जैसे; **अराः**—अरे; **नाभौ**—(पहिये की) नाभि में; **समर्पिताः**—संलग्न, पिरोये हुए होते हैं; **एवम्**—इस प्रकार; **अस्मिन्**—इस; **प्राणे**—प्राण में; **सर्वम्**—सब (नाम से आशा तक); **समर्पितम्**—सम्बद्ध है; **प्राणः**—श्वास-प्रश्वास; **प्राणेन**—प्राण (जीवात्मा) से; **याति**—गति करता है; **प्राणः**—आत्मा; **प्राणम्**—श्वास-प्रश्वास को; **ददाति** देता है; **प्राणाय**—प्राण (स्वयं आत्मा) के लिए; **ददाति**—देता है; **प्राणः**—प्राण; **ह**—निश्चय से; **पिता**—पिता है; **प्राणः माता**—प्राण (के होने पर) ही माता; **प्राणः भ्राता**—प्राण ही भाई; **प्राणः स्वसा**—प्राण ही बहन; **प्राणः आचार्यः**—प्राण ही आचार्य; **प्राणः ब्राह्मणः**—प्राण (होने पर) ही ब्राह्मण होता है ॥१॥

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाचार्यं वा ब्राह्मणं वा किंचिद्भृशमिव प्रत्याह धिक्त्वास्त्वित्येवैनमाहुः पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति ॥२॥

सः—वह; **यदि**—अगर, **पितरम् वा**—(अपने) पिता को; **मातरम् वा**—या माता को; **भ्रातरम् वा**—या भाई को; **स्वसारम् वा**—या बहिन को; **आचार्यम् वा**—या (अपने) आचार्य को; **ब्राह्मणम् वा**—या (किसी) ब्राह्मण को; **किंचिद्**—कुछ; **भृशम् इव**—अधिक अनुचित; **प्रत्याह** (धृष्टता से) जवाब देता है (तो); **धिक्**—धिक्कार; **त्वा**—तुझ को; **अस्तु+इति+एव+एनम्**—हो, इस प्रकार ही इस (प्रतिकूल-भाषी) को; **आहुः**—(लोग) कहते हैं; **पितृहा**—पितृ-घाती; **वै**—निश्चयपूर्वक; **त्वम् असि**—तू है; **मातृहा वै त्वम् असि**—तू माता का हत्यारा है; **भ्रातृहा वै त्वम् असि**—निश्चय ही भाई

परन्तु अगर प्राण निकलने के बाद इन्हें शरीर-सहित कोई अग्नि में भस्म कर दे, और शूल से उलट-पलट करे, तो कोई नहीं कहता कि तू 'पितृहा'-'मातृहा'-'भ्रातृहा'-'स्वसृहा'-'आचार्यहा'-'ब्राह्मणहा' है ॥३॥

प्राण ही तो यह सब-कुछ है। जो इस प्रकार देखता है, इस प्रकार मानता है, इस प्रकार जानता है—'नाम' से प्रारम्भ कर 'प्राण' तक पहुंच जाता है, उसे 'अतिवादी' कहते हैं, वह आगे-ही-आगे बढ़ रहा है, कहीं अटकता नहीं, जहां पहुंचता है उससे आगे की बात करने लगता है। अगर ऐसे व्यक्ति को कोई कहे कि तू तो 'अतिवादी' है,

---

का घातक तू है, स्वसृहा वै त्वम् असि—तू भगिनी घातक है, आचार्यहा वै त्वम् असि—तू निश्चय से (अपने) आचार्य का हत्यारा है, ब्राह्मणहा वै त्वम् असि—तू ब्राह्मणघाती है, इति—इस प्रकार (कहते हैं) ॥२॥

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणान् शूलेन समास व्यतिषं दहेन्नैवैनं ब्रूयु पितृहाऽसीति न मातृहाऽसीति न भ्रातृहाऽसीति न स्वसृहाऽसीति नाचार्यहाऽसीति न ब्राह्मणहाऽसीति ॥३॥

अथ—और, यदि—अगर, अपि—भी, एनान्—इन (पिता आदि) को, उत्क्रान्त-प्राणान्—जिनके प्राण निकल गये हैं प्राण शून्य, मृत, शूलेन—(गर्म) शूल (सूली, काण्टा) से, समासम्—इकट्ठा ही व्यतिषम्—उलट-पुलट कर, थोड़ा-थोड़ा, दहेत्—जला देवे, न एव एनम्—नहीं ही इसको, ब्रूयु—कहेंगे, पितृहा असि इति—तू पितृ घाती है न मातृहा असि इति—न ही तू माता का हत्यारा है न भ्रातृहा असि इति—न ही तू भ्रातृ घाती है, न स्वसृहा असि इति—न ही तू भगिनीघातक है न आचार्यहा असि इति—न ही तू आचार्य का हत्यारा है, न ब्राह्मणहा असि—न ही तू ब्राह्मण का हत्यारा है, इति—ऐसे (कहेंगे) ॥३॥

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति तं चेद्ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत ॥४॥

प्राण—प्राण (के होने पर), हि—क्योंकि, एव—ही, एतानि—ये, सर्वाणि—सब (पिता आदि रूप), भवति—होता है (प्राण के चलने या जीवात्मा के होने पर ही ये सब सम्बन्ध सभव होते हैं), स वै एष—वह यह, एवम् पश्यन्—इस प्रकार देखता हुआ, एवम् मन्वान—इस प्रकार मनन चिन्तन करता हुआ, एवम् विजानन्—इस प्रकार विजाता, अतिवादी—पहुंच से परे या आगे की बात करनेवाला, भवति—हो जाता है, तम्—उस (अतिवादी) को,

बहुत बातें करता है, बकवादी है, तो उसे यही उत्तर दे कि मैं आगे-ही-आगे बढ़ना चाहता हूं—इस दृष्टि से 'अतिवादी' हूं, इस बात को छिपाता नहीं हूं, हां, बकवादी होने के कारण 'अतिवादी' नहीं हूं ॥४॥

सप्तम प्रपाठक—(सोलहवां खंड)

ऋषि ने कहा, यथार्थ में 'अतिवादी' तो वह है जो आगे-ही-आगे बढ़ते हुए 'सत्य' का 'अतिवादी' बन जाय। नारद ने कहा, तो भगवन्! मुझे 'सत्य' से 'अतिवादी' बना दीजिये। ऋषि ने कहा, तुझे सत्य के ही जानने की इच्छा करनी चाहिये। नारद ने कहा, तो भगवन्! मुझे 'सत्य' का उपदेश दीजिये ॥१॥

सप्तम प्रपाठक—(सत्रहवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'सत्य' वही बोलता है जिसे 'ज्ञान' होता है, जिसे 'ज्ञान' नहीं होता वह 'सत्य' नहीं बोलता, इसलिये तुझे 'सत्य' के

चेद्—अगर; ब्रूयुः—कहें (कि); अतिवादी—इनसे आगे की बात कहनेवाला; असि—है; इति—ऐसे (तो); अतिवादी अस्मि—मैं अतिवादी (इनसे आगे की बात कहनेवाला) हूं; इति—यह; ब्रूयात्—कहे, स्वीकार कर ले; न—नहीं; अपह्नुवीत—छिपावे, इनकार करे ॥४॥

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति। सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति। सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

एषः तु—यह तो; वै—निश्चित ही; अतिवदति—परे की बात बताता है; यः—जो; सत्येन—सत्य (यथार्थ बात) द्वारा; अतिवदति—बढ़ कर बात कहता है; सः अहम्—वह मैं; भगवः—हे भगवन्!; सत्येन—सत्य के कारण; अतिवदानि—इससे आगे की बात कहनेवाला होऊं; इति—यह (कहा); सत्यम् तु एव—सत्य को ही तो; विजिज्ञासितव्यम्—जानने की इच्छा करनी चाहिये; इति—ऐसे; सत्यम्—सत्य को; भगवः—हे भगवन्; विजिज्ञासे—मैं जानना चाहता हूं; इति—यह (नारद ने प्रार्थना की) ॥१॥

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति। नाविजानन् सत्यं वदति। विजानन्नेव सत्यं वदति। विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

यदा वै—जब ही; विजानाति—सम्यक्तया जान लेता है; अथ—तो, तब; सत्यम्—सत्य (यथार्थ) बात; वदति—बोलता है; न—नहीं; अवि-

लिये 'ज्ञान' की, अर्थात् 'विज्ञान' के जानने की इच्छा करनी चाहिये। नारद ने कहा, तो भगवन्, मुझे 'विज्ञान' का उपदेश दीजिये ॥१॥

सप्तम प्रपाठक—(अठारहवां खंड)

सप्तम प्रपाठक—(उन्नीसवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'मति' उसी को प्राप्त होती है जो 'श्रद्धा' करता है, बिना 'श्रद्धा' के 'मनन' नहीं होता, 'श्रद्धा' वाला ही 'मनन' करता है, इसलिये तुझे 'श्रद्धा' के जानने की इच्छा करनी चाहिये। नारद ने कहा, तो भगवन्, मुझे 'श्रद्धा' का उपदेश दीजिये ॥१॥

जानन्—न जाननेवाला, बिना जाने, सत्यम् वदति—सत्य कह सकता है, विजानन् एव सत्यम् वदति—ज्ञाता ही सत्य बोलता है, विज्ञानम्—विशिष्ट (गम्भीर) ज्ञान, तु एव—ही तो, विजिज्ञासितव्यम्—जानना चाहिये, इति—ऐसे, विज्ञानम—विशिष्ट (सम्यग्) ज्ञान को, भगव. विजिज्ञासे—हे भगवन्! मैं जानना चाहता हू, इति—यह (नारद ने कहा) ॥१॥

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति। नामत्वा विजानाति। मत्वैव विजानाति।
मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

यदा वै—जब ही, मनुते—मनन करता है, अथ—तब ही, विजानाति—सम्यक्तया जानता है, न—नहीं, अमत्वा—मनन न करके, बिना मनन चिन्तन किये, विजानाति—जान सकता है, मत्वा एव—मनन करके ही, विजानाति—जान पाता है, मति—मनन शक्ति, तर्क शक्ति, तु एव—ही तो, विजिज्ञासितव्या—जाननी चाहिये, इति—यह (देवर्षि ने कहा), मतिम्—मति (मनन) को, भगव विजिज्ञासे—हे भगवन्! मैं जानना चाहता हू, इति—यह (नारद ने कहा) ॥१॥

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते। नाश्रद्दधन्मनुते। श्रद्दधदेव मनुते।
श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति। श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

यदा वै—जब ही, श्रद्दधाति—श्रद्धा (कर्तव्य-कर्म या ज्ञेय विषय में आदर-भाव, सत्य पर विश्वास) करता है, अथ—तब, मनुते—मनन करता है, ऊहापोह (चिन्तन) करता है, न—नहीं, अश्रद्दधत्—बिना श्रद्धा रखता हुआ,

सप्तम प्रपाठक—(बीसवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'श्रद्धा' उसी को प्राप्त होती है जो 'निष्ठा' वाला होता है, बिना 'निष्ठा' के 'श्रद्धा' नहीं होती, 'निष्ठा' से ही 'श्रद्धा' उत्पन्न होती है, इसलिये तुझे 'निष्ठा' के जानने की इच्छा करनी चाहिये। नारद ने कहा, तो भगवन्, मुझे 'निष्ठा' का उपदेश दीजिये ॥१॥

सप्तम प्रपाठक—(इक्कीसवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'निष्ठा' उसी को प्राप्त होती है जो 'कर्मण्य' होता है, बिना 'कर्मण्यता' के 'निष्ठा' नहीं होती, 'कृति-भाव' से ही 'निष्ठा' प्राप्त होती है, इसलिये तुझे 'कृति' के जानने की इच्छा करनी चाहिये। नारद ने कहा, तो भगवन्, मुझे 'कृति' का उपदेश दीजिये ॥१॥

मनुते—मनन करता है; **श्रद्दधत्**—श्रद्धा करता हुआ; **एव**—ही; **मनुते**—मनन करता है; **श्रद्धा तु एव**—श्रद्धा ही तो; **विजिज्ञासितव्या**—जाननी चाहिये; **इति**—यह (कहा); **श्रद्धाम् भगवः विजिज्ञासे**—श्रद्धा को हे भगवन् ! मैं जानना चाहता हूं; **इति**—यह (नारद ने कहा) ॥१॥

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति। नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्दधाति। निस्तिष्ठन्नेव स श्रद्दधाति। निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति। निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

यदा वै—जब ही; **निस्तिष्ठति**—निष्ठा (तत्परता, तन्मयता, लगाव) करता है; **अथ**—तब; **श्रद्दधाति**—श्रद्धा करता है; **न**—नहीं; **अनिस्तिष्ठन्**—निष्ठा न रखनेवाला; **श्रद्दधाति**—श्रद्धा करता है; **निस्तिष्ठन् एव**—निष्ठा रखता हुआ ही; **श्रद्दधाति**—श्रद्धा करता है; **निष्ठा**—निष्ठा; **तु एव**—ही तो; **विजिज्ञासितव्या**—जाननी चाहिये; **इति**—यह (सनत्कुमार ने कहा); **निष्ठाम् भगवः विजिज्ञासे**—निष्ठा को हे भगवन् ! मैं जानना चाहता हूं; **इति**—यह (नारद ने प्रार्थना की) ॥१॥

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति। नाकृत्वा निस्तिष्ठति। कृत्वैव निस्तिष्ठति। कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

यदा वै—जब; **करोति**—कर्म करता है; **अथ**—तब; **निस्तिष्ठति**—निष्ठा से युक्त होता है; **न**—नहीं; **अकृत्वा**—न करके, बिना कर्म किये; **निस्तिष्ठति**—निष्ठा करता है; **कृत्वा एव निस्तिष्ठति**—कर्म करके ही निष्ठा करता है; **कृतिः**—कर्म, क्रिया; **तु एव**—ही तो; **विजिज्ञासितव्या**—जाननी

सप्तम प्रपाठक—(बाईसवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'कृति' अर्थात् 'कर्मण्यता' में भी तभी प्रेरणा मिलती है जब 'सुख' प्राप्त होता है, बिना 'सुख' के कोई कुछ नहीं करता, सुख मिलने से ही मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है, इसलिये तुझे 'सुख' के जानने की इच्छा करनी चाहिये। नारद ने कहा, तो भगवन्, मुझे 'सुख' का उपदेश दीजिये ॥१॥

सप्तम प्रपाठक—(तेईसवां खंड)

ऋषि ने कहा, 'यो वै भूमा तत्सुखम्'—जो 'भूमा' है, असीम है, निरतिशय है, महान् है, वही सुख है; 'न अल्पे सुखमस्ति'—जो 'अल्प' है, ससीम है, परिमित है, क्षुद्र है, उसमें सुख नहीं है। 'भूमा ही सुख है', इसलिये 'भूमा' को जानने की इच्छा करनी चाहिये। नारद ने कहा, तो भगवन्, मुझे 'भूमा' का उपदेश दीजिये ॥१॥

चाहिये, इति—यह (कहा), कृतिम् भगवः विजिज्ञासे—कर्म (क्रिया) को हे भगवन्! मैं जानना चाहता हू, इति—यह (प्रार्थना नारद ने की) ॥१॥

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति। नासुखं लब्ध्वा करोति। सुखमेव लब्ध्वा करोति। सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। सुखं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

यदा वै—जब ही, सुखम्—सुख को, लभते—पाता है, अथ—तब ही, करोति—कर्म करता है, न—नही, असुखम्—दुःख को, लब्ध्वा—पाकर (बिना सुख पाये), करोति—कर्म करता है, सुखम् एव लब्ध्वा करोति—सुख को ही पाकर (मनुष्य) कर्म करता है, सुखम् तु एव विजिज्ञासितव्यम्—सुख को ही तो जानना चाहिये, इति—यह (बताया), सुखम् भगवः विजिज्ञासे—सुख को हे भगवन्! मैं जानना चाहता हू, इति—यह (नारद ने निवेदन किया) ॥१॥

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥१॥

यः वै—जो ही, भूमा—बडा, महान्, असीम, बहुत, तत्—वह ही, सुखम्—सुख, सुखप्रद है, न—नही, अल्पे—छोटे (थोडे) में, सुखम् अस्ति—सुख है, भूमा—असीम, महान्, निरतिशय, एव—ही, सुखम्—सुख है, भूमा—असीम, महान् (को), तु एव—तो ही; विजिज्ञासितव्यः—जानना चाहिये, इति—यह (कहा), भूमानम् भगवः विजिज्ञासे—भूमा को हे भगवन्! मैं जानना चाहता हू, इति—यह (नारद ने कहा) ॥१॥

सप्तम प्रपाठक—(चौबीसवां खंड)

ऋषि ने कहा, जिस परम-शुद्ध अवस्था में आत्मा अन्य वस्तु को न देखता है, न सुनता है, न जानता है, वही 'भूमा' है; जहां आत्मा अन्य वस्तु को देखता है, सुनता है, जानता है, वही 'अल्प' है। जो 'भूमा' है वह 'अमृत' है; जो 'अल्प' है वह 'मर्त्य' है—मरण-धर्मा है। नारद ने पूछा, भगवन्! यह 'भूमा' किसमें प्रतिष्ठित है? ऋषि ने उत्तर दिया, भूमा अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है। या यह कहें कि वह महिमा में भी प्रतिष्ठित नहीं है? ॥१॥

इस लोक में गाय, घोड़े, हाथी, सोना, दास, पत्नी, भूमि और घर—इनको 'महिमा' कहा जाता है, परन्तु मैं इन्हें 'महिमा' नहीं कहता। ऋषि ने कहा, मैं तो कहता हूं, ये एक-दूसरे में प्रतिष्ठित

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्य-न्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति ॥१॥

यत्र—जहां, जिस अवस्था में; **न**—नहीं; **अन्यत्**—दूसरे को; **शृणोति**—सुनता है; **न अन्यद् विजानाति**—नहीं अन्य को जानता है; **सः भूमा**—वह ही (स्थिति) भूमा (निरतिशय, असीम) है; **अथ**—और; **यत्र**—जहां; **अन्यत् शृणोति**—दूसरे को सुनता है; **अन्यद् विजानाति**—दूसरे को जानता है; **तद्**—वह; **अल्पम्**—छोटा, थोड़ा, तुच्छ है; **यः वै**—जो ही; **भूमा**—निरतिशय, बड़ा, महान् है; **तद्**—वह; **अमृतम्**—अमर (अविनाशी) है; **यद् अल्पम्**—जो अल्प (तुच्छ) है; **तत्**—वह; **मर्त्यम्**—मरणशील, विनाशी है; **सः**—वह (भूमा); **भगवः**—हे भगवन्; **कस्मिन्**—किसमें, किस आधार पर; **प्रतिष्ठितः**—स्थित है; **इति**—यह (पूछा); **स्वे**—अपनी; **महिम्नि**—महिमा (के आधार) पर; **यदि वा**—अथवा, वस्तुतः; **न**—नहीं; **महिम्नि**—अपने माहात्म्य में भी (क्योंकि उस भूमा को आधार या आश्रय की आवश्यकता ही नहीं); **इति**—यह (देवर्षि ने बताया) ॥१॥

गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति। नाहमेवं ब्रवीमि। ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति ॥२॥

गो+अश्वम्—गाय-घोड़े, **इह**—इस (जगत्) में; **महिमा**—बड़प्पन; **इति**—ऐसे; **आचक्षते**—कहते हैं; **हस्ति-हिरण्यम्**—हाथी और सोना; **दासभार्यम्**—नौकर-चाकर और पत्नी; **क्षेत्राणि**—कृषि के क्षेत्र; **आयतनानि**—घर; **इति**—

हैं—वह क्या 'महिमा' जो किसी दूसरे में प्रतिष्ठित हो, किसी दूसरे के सहारे खड़ी हो ।।२।।

सप्तम प्रपाठक—(पच्चीसवां खंड)

'भूमा' किसी में प्रतिष्ठित नहीं, वही नीचे है, वही ऊपर है, वह पीछे है, सामने है, दाएं है, बाएं है—'स एवेदं सर्वम्'—वही यह सब कुछ है। भगवान् के इस 'भूमा' रूप के दर्शन करने के बाद भक्त अपने को भूमा-रूप में ही देखने लगता है—यही 'अहंकारादेश' है। जैसे 'भूमा' को भक्त सब जगह देखने लगता है, वैसे 'अहं' को—अपने को—भी नीचे, ऊपर, पीछे, सामने, दाएं, बाएं—सब जगह देखने लगता है, वह अनुभव करता है, 'अहमेवेदं सर्वम्'—मैं ही यह सब कुछ हूं, मैं स्वल्प नहीं हूं, महान् हूं ।।१।।

ऐसे (कहे जाते हैं), न अहम् एवम् ब्रवीमि—नहीं मैं इस प्रकार (इस रूप में आधाराऽऽधेय भाव) कहता हूं (क्योंकि जिसे आधार की अपेक्षा हो वह आधार से बढ़कर 'भूमा' नहीं हो सकता, मैं तो), ब्रवीमि—कहता हूं, इति ह उवाच—ऐसा कह कर (सनत्कुमार ने) कहा, अन्य—एक, हि—ही, अन्यस्मिन्—दूसरे में, (अन्य अन्यस्मिन्—परस्पर, आपस में), प्रतिष्ठित—स्थितिवाला है (भूमा स्व महिमा में, स्व-महिमा भूमा में स्थित है, भूमा और महिमा एक ही बात है, शब्द-भेद है, अर्थ-भेद नहीं, अत उनमें आधाराऽऽधेय भाव नहीं), इति—यह (बताया) ।।२।।

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः
स एवेदं सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं
पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति ।।१।।

स—वह (भूमा), एव—ही, अधस्तात्—नीचे है, स—वह, उपरिष्टात्—ऊपर है, स पश्चात्—वह पश्चिम की ओर, स पुरस्तात्—वह ही सामने (आगे) पूर्व की ओर, स दक्षिणतः—वह दाहिनी ओर, स उत्तरतः—वह उत्तर की ओर, स एव—वह ही, इदम् सर्वम्—इस सब में है, ये सब उस भूमा के ही रूप हैं, यह सब-कुछ है, अथ—अब, अतः—इसके आगे, अहङ्कार+आदेश—स=वह के स्थान में अहम्=मैं के रूप में आदेश (वर्णन-स्पष्टीकरण) है, अहम् एव अधस्तात्—मैं ही नीचे हूं, अहम् उपरिष्टात्—मैं ही ऊपर हूं, अहम् पश्चात्—मैं पश्चिम (पीछे) की ओर, अहम् पुरस्तात्—मैं पूर्व (आगे) की ओर, अहम् दक्षिणतः—मैं दक्षिण की ओर,

इसके बाद 'आत्मा' में 'सः' और 'अहं' का—'वह' और 'मैं' का, 'उसका' और 'मेरा'—यह सब भेद मिट जाता है, यही 'आत्मा-देश' है। भक्त अनुभव करता है कि आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, पीछे आत्मा है, आगे आत्मा है, दाएं आत्मा है, बाएं आत्मा है, 'आत्मैवेदं सर्वम्'—आत्मा ही यह सब-कुछ है। हमारी दृष्टि शरीर पर पड़ती है, हम शरीर को सब-कुछ समझते हैं, उसकी दृष्टि आत्मा पर पड़ती है, वह आत्मा को सब-कुछ समझने लगता है। वह ऐसा देखकर, ऐसा मानकर, ऐसा जानकर आत्मा में रत हो जाता है, आत्मा में खेलने लगता है, आत्मा के साथ जुड़ जाता है, आत्मानन्द हो जाता है, वह 'स्वराट्' हो जाता है—अपने भीतर के प्रकाश से

अहम् उत्तरतः—मैं उत्तर की ओर हूं; अहम् एव—मैं ही; इदम् सर्वम्—इस सब में हूं; इति—यह (अहङ्कार-आदेश है) ॥१॥

अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदँ सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाँ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥२॥

अथ—अब; अतः—इसके आगे; आत्म+आदेशः—'आत्मा' शब्द से आदेश (वर्णन-स्पष्टीकरण); एव—ही है; आत्मा एव अधस्तात्—आत्मा (ब्रह्म प्रकृति-पुरी में और जीवात्मा शरीर-पुरी में) ही नीचे की ओर; आत्मा—उपरिष्टात्—आत्मा ऊपर की ओर; आत्मा पश्चात्—आत्मा पश्चिम (पीछे) की ओर; आत्मा पुरस्तात्—आत्मा पूर्व (आगे) की ओर; आत्मा दक्षिणतः—आत्मा दक्षिण की ओर; आत्मा उत्तरतः—आत्मा उत्तर की ओर; आत्मा एव—आत्मा (जीवात्मा एवं परमात्मा) ही; इदम् सर्वम्—(क्रमशः) इस (शरीर एवं प्रकृति) सब में है; सः वै एषः—वह ही यह (उपासक); एवम् पश्यन्—इस प्रकार देखता हुआ; एवम् मन्वानः—इस प्रकार मनन-चिन्तन करनेवाला; एवम् विजानन्—इस प्रकार सम्यक्तया ज्ञाता; आत्मरतिः—अपने (स्वरूप) में रति (अवस्थिति) वाला; आत्म-क्रीडः—अपने (स्वरूप) में क्रीडा करनेवाला; आत्ममिथुनः—अपने स्वरूप में (आत्मा में विद्यमान ब्रह्म के कारण) जोड़े-वाला; आत्मानन्दः—आत्मा में (ब्रह्म के) आनन्द-रस का भोक्ता; सः—वह (उपासक); स्व-राड्—अपने शासन वाला (प्रकृति के शासन से मुक्त) या स्वयं-ज्योति; भवति—हो जाता है; तस्य—उसका; सर्वेषु लोकेषु—सब

चमक उठता है। उसकी सब लोकों में निर्बाध गति हो जाती है, परन्तु जो इससे भिन्न मार्ग का अवलम्बन करते हैं, भगवान् के 'भूमा-रूप' के साथ 'अहं-रूप' का 'आत्म-रूप' में समन्वय नहीं करते, वे विनाश-शील लोकों को जाते हैं, उनकी सब लोकों में निर्बाध गति नहीं होती ॥२॥

सप्तम प्रपाठक—(छब्बीसवां खंड)

जो व्यक्ति 'भूमा'-रूप को अपने आत्मा में देख लेता है, मान लेता है, जान लेता है, उसे इस बात का प्रत्यक्ष हो जाता है कि आत्मा से ही 'प्राण' का विकास है, आत्मा से ही 'आशा' का जन्म है, आत्मा से ही 'स्मृति' का प्रकाश है, आत्मा से ही 'आकाश', आत्मा से ही 'तेज', आत्मा से ही 'जल', आत्मा से ही 'जन्म और मृत्यु', आत्मा से ही 'अन्न', आत्मा से ही 'बल', आत्मा से ही 'संकल्प', आत्मा से

लोकों में, कामचारः—यथेच्छ गमन, निर्बाध पहुंच, भवति—हो जाती है, अथ—और, ये—जो, अन्यथा—अन्य प्रकार से, अतः—इससे, (अतः अन्यथा—इस निर्दिष्ट रूप से भिन्न रूप में), विदुः—जानते हैं (मिथ्याज्ञानी होते हैं); अन्य-राजानः—औरों (प्रकृति आदि) के राज्य वाले (पराधीन, बद्ध), ते—वे, क्षय्य-लोकाः—क्षीण होनेवाले लोकों के निवासी, भवन्ति—होते हैं, तेषाम्—उनका, सर्वेषु लोकेषु—सब लोकों में, अकामचारः—कुण्ठित गति, भवति—होती है (वे सब लोकों में स्वेच्छा से नहीं जा सकते) ॥२॥

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशाऽऽत्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामाऽऽत्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वमिति ॥१॥

तस्य ह वै एतस्य—निश्चय ही उस इस, एवम् पश्यतः—इस प्रकार (बाह्य इन्द्रियों से) देखने-जाननेवाले, एवम् मन्वानस्य—इस प्रकार (मन से) मनन-चिन्तन करनेवाले, एवम् विजानतः—इस प्रकार (बुद्धि से) विज्ञान-बोध करनेवाले के, आत्मतः—आत्मा से (के होने पर), प्राण—प्राण (जीवन, श्वास-प्रश्वास) होता है, आत्मतः आशा—आत्मा से आशायें (भविष्य में अप्राप्त की प्राप्ति की चाहना), आत्मतः—आत्मा से, स्मरः—स्मृति, आत्मतः आकाशः—आत्मा से आकाश (अवकाश), आत्मतः तेजः—आत्मा से तेज, आत्मतः आपः—आत्मा से जल, आत्मतः—आत्मा के होने पर ही, आविर्भाव-तिरोभावौ

ही 'मन' और आत्मा से ही 'कर्म' का उदय है---आत्मा से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ है ॥१॥

किसी ने कहा है---जो आत्मा के 'भूमा'-रूप को देख लेता है, वह मृत्यु को नहीं देखता, रोग को नहीं देखता, दुःख को नहीं देखता। 'भूमा' का साक्षात् करने वाला सब-कुछ देख लेता है, सब तरह से सब-कुछ पा लेता है, उसके लिये कुछ बच नहीं रहता। वह पहले एक रूप में होता है, फिर तीन रूपों में आ जाता है, फिर पांच, सात, नौ और ग्यारह रूपों में विकास के मार्ग पर चल पड़ता है। बढ़ता-बढ़ता एक-सौ दस, बीस हजार एक, और फिर अनन्त भेदों वाला हो जाता है। इस भेद-मार्ग में से निकलकर आत्म-रूप में आने के लिये पहले 'आहार-शुद्धि' आवश्यक है। इन्द्रियों के विषय ही आहार हैं। आहार-शुद्धि होने पर 'सत्त्व-शुद्धि' हो जाती है, अन्तःकरण की मलिनता दूर हो जाती है, अन्तःकरण की शुद्धि से 'ध्रुव-स्मृति' होती है, अपने ध्रुव---'भूमा'---रूप का स्मरण हो आता है, अपने ध्रुव-रूप का

---उत्पत्ति-प्रलय या जन्म-मरण; **आत्मतः अन्नम्**---आत्मा से अन्न; **आत्मतः बलम्**---आत्मा से बल (शक्ति); **आत्मतः विज्ञानम्**---आत्मा से विशिष्ट-ज्ञान; **आत्मतः ध्यानम्**---आत्मा से एकाग्रता; **आत्मतः चित्तम्**---आत्मा से ही चेतना; **आत्मतः संकल्पः**---आत्मा से संकल्प; **आत्मतः मनः**---आत्मा से मनन-शक्ति; **आत्मतः वाग्**---आत्मा से वाणी; **आत्मतः मन्त्राः**---आत्मा से वेद-पाठ; **आत्मतः कर्माणि**---आत्मा से कर्म; **आत्मतः**---आत्मा (की सत्ता) से; **एव**---ही; **इदम् सर्वम्**---यह सब (आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाला जड़-चेतन जगत्) होता है, विकास पाता है; **इति**---यह (देवर्षि सनत्कुमार ने उपदेश दिया) ॥१॥

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखतां सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिराहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तं स्कन्द इत्याचक्षते तं स्कन्द इत्याचक्षते ॥२॥

तद् एषः श्लोकः---तो (इसके समर्थन में) यह प्राचीन श्लोक (सूक्ति) है; **न**---नहीं; **पश्यः**---द्रष्टा, तत्त्वज्ञानी; **मृत्युम्**---मरण को; **पश्यति**---देखता--अनुभव करता है (जन्म-मरण-चक्र से मुक्त हो जाता है); **न रोगम्**---

स्मरण हो आने पर सब गाँठें खुल जाती हैं। इस प्रकार भगवान् सनत्कुमार ने नारद मुनि के मानसिक मल का मर्दन करके, अन्धकार-रूपी नदी के पार ले जाकर, उसे आत्मा के 'भूमा'-रूप का दर्शन करा दिया, इसलिये सनत्कुमार ऋषि को 'स्कन्द' भी कहते हैं, 'स्कन्द' भी कहते हैं ॥२॥

(वर्तमान-मनोवैज्ञानिक मन के तीन विभाग करते हैं, 'ज्ञान', 'इच्छा', 'कृति' जिन्हें अंग्रेजी में Knowing, Feeling, Willing कहते हैं। ऋषि ने इस उपाख्यान में 'मन'-'संकल्प'-'चित्त' शब्द का इन्हीं तीनों के लिये प्रयोग किया है। इस उपदेश में ऋषि एक शृंखला से चलते हुए पहले नारद को उच्चतम 'मानसिक'-स्तर' पर ले गये हैं, फिर वहां से 'भौतिक-स्तर' पर ले आये हैं, क्योंकि

न (शारीरिक) व्याधि को, न उत—न ही, दुःखताम्—(मानसिक) क्लेश को; सर्वम्—सब कुछ (ज्ञेय) को, ह—अवश्य, पश्यः पश्यति—तत्त्व-ज्ञानी जान लेता है, सर्वम्—सब कुछ, आप्नोति—प्राप्त कर लेता है, सर्वशः—सब प्रकार से, सब ओर से, इति—यह (श्लोक है), सः—वह (द्रष्टा या आत्मा); एकधा—एक रूप; भवति—होता है, त्रिधा भवति—तीन रूप में होता है, पञ्चधा—पांच प्रकार (रूप) का, सप्तधा—सात रूप का, नवधा—नौ रूप का, च एव—और; पुनः च—और फिर, एकादशः—ग्यारह रूप वाला, स्मृत—कहा गया है; शतम् च दश च—एक सौ दस (रूप वाला), एकः च सहस्राणि च विंशतिः—बीस हज़ार एक (रूपवाला सृष्टि-काल में हो जाता है), आहार-शुद्धौ—भोजन की पवित्रता होने पर, सत्त्व-शुद्धिः—अन्तःकरण में निर्मलता (आती है), सत्त्व-शुद्धौ—अन्तःकरण के निर्मल होने पर, ध्रुवा—स्थिर, निश्चल, स्मृतिः—(भूमा रूप का) स्मरण (होता है), स्मृति-लम्भे—(भूमा रूप के) स्थिर स्मरण प्राप्त होने पर, सर्व-ग्रन्थीनाम्—सब गांठों (बन्धनों) का, विप्रमोक्षः—खुल जाना, नष्ट होना (सम्भव हो जाता है), तस्मै—उस (नारद) को, मृदितकषायस्य—कषाय (मानसिक मल) से शून्य, तमसः—अन्धकार से, पारम्—पार; (तमसः पारम्—अन्धकार से रहित, स्वयं-ज्योति आत्मा का रूप), दर्शयति—दिखलाता है, ज्ञान करा दिया, भगवान्—आदरणीय; सनत्कुमारः—सनत्कुमार ने; तम्—उस (देवर्षि सनत्कुमार) को; स्कन्द—स्कन्द (अज्ञान का शोषण-विनाश करनेवाला), इति—इस (नाम से); आचक्षते—कहते हैं; तम् स्कन्दः इति आचक्षते—उसको स्कन्द नाम से भी कहते हैं (द्विरुक्ति अध्याय समाप्ति-द्योतनार्थ है) ॥२॥

मानसिक का आधार भौतिक ही तो है। फिर भौतिक से उठाकर वे नारद को 'आत्मिक-स्तर' पर ले गये हैं, जिसमें 'सत्य'-'विज्ञान'-'मति'-'श्रद्धा'-'निष्ठा'-'कृति'-'सुख'-'भूमा'-'अहंकारादेश'-'आत्मा-देश' का वर्णन है, और इस 'आत्मिक-स्तर' से फिर उसे 'भौतिक-स्तर' पर ले आये हैं, क्योंकि सत्त्व-शुद्धि आहार-शुद्धि के बिना नहीं होती। जो लोग भौतिक को मानसिक तथा आत्मिक से पृथक् करते हैं, उनके लिये ऋषि सनत्कुमार के उपाख्यान में विशेष शिक्षा भरी हुई है।)

अष्टम प्रपाठक—(पहला खंड)

('हृदयाकाश' में ब्रह्म को ढूंढो, १ से ६ खंड)

ब्रह्म 'भूमा'-रूप है, यह पहले कहा। परन्तु उसे कहां ढूंढें—इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ऋषि कहते हैं:—

यह शरीर ब्रह्म की नगरी है—'ब्रह्म-पुर' है; इसमें एक 'दहर', अर्थात् छोटा-सा कमल के सदृश हृदय-रूपी मन्दिर है; इस छोटे-से हृदय-मन्दिर में छोटा-सा हृदयाकाश है; उस आकाश के भीतर जो छिपा है, उसे खोजना चाहिये, उसे जानना चाहिये ॥१॥

अगर कोई कहे कि इस छोटी-सी ब्रह्म-पुरी में कहां तो छोटा-सा कमल के सदृश हृदय-रूपी मन्दिर, कहां उस छोटे-से हृदय-रूपी-

---

ॐ अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश-स्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥१॥

ओम्—आदि गुरु ओम्पद-वाच्य ईश्वर का स्मरण कर; **अथ**—तो; **यद्**—जो; **इदम्**—यह; **अस्मिन्**—इस; **ब्रह्मपुरे**—ब्रह्म-नगरी (शरीर) में; **दहरम्**—छोटा, अणु-सा; **पुण्डरीकम्**—कमल-जैसा; **वेश्म**—घर-सा (हृदय) है; **दहरः**—छोटा-सा; **अस्मिन्**—इस (हृदय रूप घर) में; **अन्तः**—अन्दर; **आकाशः**—आकाश (अवकाश) है; **तस्मिन्**—उस (हृदयाकाश) में; **यद्**—जो; **अन्तः**—(उसके) अन्दर है; **तद्**—उसको (की); **अन्वेष्टव्यम्**—ढूंढना, खोजना चाहिये; **तद् वाव**—उसकी ही; **विजिज्ञासितव्यम्**—जानने की इच्छा करनी चाहिये; **इति**—यह (जिज्ञासा है) ॥१॥

तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रूयात् ॥२॥

मन्दिर में छोटा-सा हृदयाकाश। उस आकाश में क्या पड़ा है जिसे तुम कहते हो, उसे खोजना चाहिये, उसे जानना चाहिये ॥२॥

तो, ऐसी शंका करने वाले को उपासक उत्तर दे—अरे, जितना बड़ा यह आकाश तुम्हें दीख रहा है उतना बड़ा यह हृदय-मन्दिर के भीतर का आकाश है; जैसे ये द्यु और पृथिवी आकाश के भीतर मानो किसी ने ठीक स्थान पर रख-से दिये हैं, वैसे ही ये हृदयाकाश में भी समाहित हैं। अग्नि और वायु, सूर्य और चन्द्र, विद्युत् और नक्षत्र, वर्तमान और भूत-भविष्यत्—ये सब जैसे ब्रह्मांड में दिखाई दे रहा है, वैसे ही पिंड के हृदयाकाश में भी वर्तमान है ॥३॥

तम्—उस (जिज्ञासु) को, चेद्—अगर, ब्रूयु—कहें, यद् इदम्—जो यह, अस्मिन् ब्रह्मपुरे—इस ब्रह्म-नगरी (शरीर) में, दहरम् पुण्डरीकम् वेश्म—छोटा कमल-जैसा घर-जैसा है, (और) दहरः अस्मिन् अन्तः आकाशः—सूक्ष्म इस (घर) के अन्दर आकाश है (तो), किम्—क्या, कौन-सा, तद्—वह (शेष पदार्थ), अत्र—इस (आकाश) में, विद्यते—विद्यमान है, यद् अन्वेष्टव्यम्—जिसको ढूंढना चाहिये, यद् वा व—(और) जिसको ही, विजिज्ञासितव्यम्—जानना चाहिये, इति—यह (कहें तो), स—वह (जिज्ञासु), ब्रूयात्—कहे (उत्तर दे) ॥२॥

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावा-
पृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ
विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति ॥३॥

यावान्—जितना या जैसा, वै—तो, अयम्—यह (बाह्य), आकाश—आकाश है, तावान्—उतना, वैसा, एषः—यह, अन्त हृदये—हृदय के अन्दर, आकाश—आकाश है, उभे—दोनों, अस्मिन्—इस (हृदयाकाश) में, द्यावापृथिवी—द्यु-लोक और पृथिवी-लोक, अन्तः एव—अन्दर ही, समाहिते—भली प्रकार रखे हुए (विद्यमान) हैं, उभौ—दोनों, अग्नि च वायु च—अग्नि और वायु, सूर्याचन्द्रमसौ—सूर्य और चन्द्रमा, उभौ—दोनों, विद्युत्—बिजली, नक्षत्राणि—नक्षत्र (तारे), यत्—जो, च—और, अस्य—इस (जीवात्मा) का, इह—इस लोक में, अस्ति—है, यत् च—और जो, न—नहीं, अस्ति (विद्यमान) है, (न+अस्ति—नष्ट हो चुका और भविष्यत् में होगा), सर्वम् तद्—वह सब कुछ, अस्मिन्—इस (हृदयाकाश) में, समाहितम्—(आशय-वासना रूप में) भली प्रकार सुरक्षित रखा है, इति—यह (उत्तर दे) ॥३॥

इस पर अगर कोई कह उठे कि यदि शरीर-रूपी इस ब्रह्म-पुरी में सब-कुछ समाया हुआ है, सब 'भूत', सब 'कामनाएं', तो जब यह शरीर-रूपी ब्रह्म-पुरी जरा-जीर्ण हो जाती है, या जब इसका ध्वंस हो जाता है, तब इन 'भूतों', इन 'कामनाओं' का क्या बच रहता है ? ।।४।।

ऐसी शंका करने वाले को उपासक उत्तर दे—अरे, इस शरीर के जरा-जीर्ण होने पर वह हृदयाकाश में रहने वाला जीर्ण नहीं होता, न शरीर के नाश से उसका नाश होता है। यह हृदयाकाश झूठा नहीं, सच्चा ब्रह्म-पुर है, इसमें पहुंचकर सब कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं। इस हृदयाकाश में निवास करने वाला आत्मा पापों से अलग है, जरा और मृत्यु से छूटा हुआ है, भूख और प्यास से परे है, सत्य-काम—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन सत्य कामनाओं वाला और सत्य-संकल्प है। जैसे प्रजाएं राजा के शासन के अनुसार जब अपने-अपने काम में जुट जाती हैं, तब जिस-जिस प्रदेश, जनपद या क्षेत्र

तं चेद्ब्रूयुरस्मिँश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वँ समाहितँ सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैनज्जरा वाप्नोति प्रध्वँसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ।।४।।

तम् चेद् ब्रूयुः—अगर उस (जिज्ञासु) को कहें; **अस्मिन्**—इस; **चेद्**—अगर; **इदम्**—यह; **ब्रह्मपुरे**—ब्रह्म-नगरी (शरीर) में; **सर्वम्**—सब कुछ; **समाहितम्**—सुरक्षित रखा है; **सर्वाणि च**—और सारे; **भूतानि**—भूत; **सर्वे च कामाः**—और सारे काम्य-भोग; **यदा**—जब; **एनत्**—इस (ब्रह्म-नगरी शरीर) को; **जरा वा**—या तो बुढापा; **आप्नोति**—आ पहुंचता है; **प्रध्वंसते वा**—या (यह) नष्ट हो जाता है, टूट-गिर जाता है; **किम्**—क्या, कुछ; **ततः**—उसके बाद; **अतिशिष्यते**—रह जाता है; **इति**—यह (कहें) ।।४।।

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ।।५।।

सः—वह (जिज्ञासु); **ब्रूयात्**—(उत्तर में) कहे; **न**—नहीं; **अस्य**—इस (शरीर) के; **जरया**—बुढापे से; **एतत्**—यह (हृदयाकाश में विद्यमान आत्मा); **जीर्यति**—बूढा होता है, शिथिल होता है; **न**—नहीं; **वधेन**—वध

की कामना करती है, वह-वह उन्हें राजा के अनुग्रह से प्राप्त हो जाता है, ऐसे ही मनुष्य जब हृदयाकाश में बसने वाले आत्मा के आदेश के अनुसार अपने जीवन में जुट जाता है, तब आत्मा के अनुग्रह से उसकी कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं ॥५॥

और, जैसे इस लोक में अपने कर्म से, अपनी भुजाओं से उपार्जित सम्पत्ति, भोग लेने के बाद क्षीण हो जाती है, अर्थात् कर्मों से जीता हुआ 'कर्मजित्-लोक' समाप्त हो जाता है, वैसे ही उस लोक में दानादि पुण्य-कर्मों से उपार्जित—'पुण्यजित्-लोक' भी, भोग लेने

(नाश) से, अस्य—इस (शरीर) के, हन्यते—(यह आत्मा) मरता है, एतत्—यह (आत्मा) तो, सत्यम्—सदा सत्तावाला, वास्तविक, ब्रह्मपुरम्—ब्रह्म की नगरी है (ब्रह्म इसमें निवास करता है), अस्मिन—इस ब्रह्मपुर (आत्मा) मे, कामा—कामनाए, समाहिता—सुरक्षित रखी हैं, एष—यह, आत्मा—आत्मा; अपहतपाप्मा—पाप-कर्मों से दूर, विजरः—बुढ़ापे से रहित, अजर, विमृत्यु—मृत्यु से रहित (अमर), विशोकः—मानसिक क्लेशों से मुक्त, वि-जिघत्स—भूख के दुःख (अशनाया) से बरी, अपिपास—पिपासा से शून्य, सत्यकाम—सच्ची कामनाओं वाला, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष—ये कामनाए हैं, सत्य-सकल्प—सच्चे (सफल) सकल्प (विचार) करनेवाला है, यथा हि एव—जैसे, इह—इस लोक मे, प्रजा—प्रजाए, अनु+आविशन्ति—अनुवर्तन (पालन, चेष्टा) करती हैं, यथा+अनुशासनम्—राजाज्ञा के अनुकूल, यम यम्—जिस-जिस, अन्तम्—उद्देश्य या सीमान्त को, अभिकामा—कामना वाली, भवन्ति—होती हैं, यम् जनपदम्—जिस जनपद (देश-भाग) को, यम् क्षेत्रभागम्—जिस क्षेत्र के विभाग को, तम् तम् एव—उस-उस ही को, उपजीवन्ति—(पाकर) भोग करती हैं ॥५॥

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते
तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु
लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च
सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥६॥

तद् यथा—तो जैसे, इह—इस जगत् में, कर्मजित—कर्म से जीता (अर्जित), लोकः—स्थिति, अवस्था, क्षीयते—(कर्म भोगने के बाद) क्षीण हो जाती है, पास नहीं रहती, एवम् एव—इस प्रकार ही, अमुत्र—उस लोक (जन्म) में, पुण्यजितः—पुण्योपार्जित; लोकः—लोक, स्थिति, क्षीयते—(पुण्य समाप्त होने पर) नष्ट हो जाती है, तद् ये—तो जो, इह—इस ससार (जन्म)

के बाद समाप्त हो जाता है। जो इस जन्म में 'आत्मा' को, और आत्मा की सच्ची कामनाओं को ढूंढे बिना परलोक को चल देते हैं, उनकी सब लोकों में निर्बाध गति नहीं होती; जो इस जन्म में 'आत्मा' को, और आत्मा की सच्ची कामनाओं को पाकर इस लोक से कूच करते हैं, उनकी सब लोकों में निर्बाध गति होती है ॥६॥

अष्टम प्रपाठक—(दूसरा खंड)

आत्मा को पा लेने वाले के लिये कहीं बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं होती, वह सब कामनाओं को आत्मा में पा लेता है। अगर उसे 'पितृ-लोक' की कामना होती है, तो उसके संकल्प-मात्र से उसे चारों तरफ़ पितृ-रूप के दर्शन होने लगते हैं, और वह 'पितृ-लोक' से सम्पन्न होकर अपने को महिमाशाली अनुभव करता है ॥१॥

में; **आत्मानम्**—आत्मा को, ब्रह्म को; **अननुविद्य**—न जान कर, न पाकर; **व्रजन्ति**—चले जाते हैं, मर जाते हैं; **एतान् च**—और इन; **सत्यान्**—सत्य, वास्तविक; **कामान्**—(धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप) कामनाओं को; **तेषाम्**—उनका; **सर्वेषु लोकेषु**—सब लोकों में; **अकामचारः**—प्रतिहत (कुण्ठित) गति; **भवति**—होती है (निर्बाध गति नहीं होती); **अथ**—और; **ये**—जो; **आत्मानम्**—आत्मा-परमात्मा को; **अनुविद्य**—जान कर, प्राप्त कर, खोज कर; **व्रजन्ति**—चले जाते हैं, मर जाते हैं; **एतान् च सत्यान् कामान्**—और इन वास्तविक कामनाओं को; **तेषाम्**—उनका; **सर्वेषु लोकेषु**—सब लोकों में; **कामचारः** यथेच्छ गमन, निर्बाध गति; **भवति**—होती है ॥६॥

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन संपन्नो महीयते ॥१॥

सः—वह; **यदि**—अगर; **पितृलोक-कामः**—पिता (पूर्व पुरुषों) के लोक (सुख-साधन) की कामनावाला; **भवति**—होता है (तो); **संकल्पाद् एव**—इच्छामात्र से ही; **अस्य**—इस (आत्म-ज्ञानी) के; **पितरः**—पिता (पूर्व-पुरुष); **समुत्तिष्ठन्ति**—उठ खड़े होते हैं, दीख पड़ते हैं; **तेन**—उस; **पितृ-लोकेन**—पितृ-लोक (सुख-साधन) से; **सम्पन्नः**—युक्त, समृद्ध; **महीयते**—(स्वयम् को) महिमाशाली समझता है ॥१॥

यदि उसे 'मातृ-लोक' की कामना होती है, तो उसके संकल्पमात्र से उसे चारों तरफ माताएं-ही-माताएं दीख पड़ती हैं, और वह 'मातृ-लोक' से सम्पन्न होकर अपने को महिमाशाली अनुभव करता है ॥२॥

यदि उसे 'भ्रातृ-लोक' की कामना होती है, तो उसके संकल्प-मात्र से उसे चारों तरफ भाई-ही-भाई नजर आने लगते हैं, और वह 'भ्रातृ-लोक' से सम्पन्न होकर अपने को महिमाशाली अनुभव करता है ॥३॥

यदि उसे 'स्वसृ-लोक' की कामना होती है, तो उसके संकल्प-मात्र से उसे चारों तरफ बहिन-ही-बहिन दिखाई देती हैं, और वह 'स्वसृ-लोक' से सम्पन्न होकर अपने को महिमाशाली अनुभव करता है ॥४॥

यदि उसे 'सखि-लोक' की कामना होती है, तो उसके संकल्प-मात्र से उसे सर्वत्र सखा-ही-सखा दिखाई देते हैं, और वह 'सखि-लोक' से सम्पन्न होकर अपने को महिमाशाली अनुभव करता है ॥५॥

अथ यदि मातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन संपन्नो महीयते ॥२॥

अथ यदि—और अगर, मातृलोककाम—मातृ-लोक (सुख-साधन) की इच्छा वाला, भवति—होता है, संकल्पाद् महीयते—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन भ्रातृलोकेन संपन्नो महीयते ॥३॥

अथ यदि—और अगर, भ्रातृ-लोककाम—भाइयों के स्थिति की कामनावाला, भवति महीयते—अर्थ पूर्ववत ॥३॥

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन संपन्नो महीयते ॥४॥

अथ यदि—और अगर, स्वसृ-लोककाम—बहिनों के लोक (सुख-साधन) की कामनावाला, भवति स्वसारः (बहनें) महीयते—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

अथ यदि सखिलोककामो भवति संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन संपन्नो महीयते ॥५॥

अथ यदि—और अगर, सखिलोककाम—मित्रों के लोक (सुख-साधन) की कामना वाला, भवति सखायः (मित्र) महीयते—अर्थ पूर्ववत् ॥५॥

यदि उसे 'गन्ध-माल्य-लोक' की कामना होती है, तो उसके संकल्प-मात्र से उसे सब जगह गन्ध और माला का ही अनुभव होता है, और वह 'गन्ध-माल्य-लोक' से सम्पन्न होकर महिमाशाली हो जाता है ॥६॥

यदि उसे 'अन्न-पान-लोक' की कामना होती है, खाने-पीने में ही मजा लेना चाहता है, तो उसके संकल्प-मात्र से खान-पान की वस्तुएं एकत्रित हो जाती हैं, और वह 'अन्न-पान-लोक' से सम्पन्न होकर गौरव अनुभव करता है ॥७॥

यदि उसे 'गीत-वादित्र-लोक' की कामना होती है, तो उसके संकल्प-मात्र से गाना-बजाना उठ पड़ता है, और वह 'गीत-वादित्र-लोक' से सम्पन्न होकर महिमा पा लेता है ॥८॥

यदि उसे 'स्त्री-लोक' की कामना होती है, तो उसके संकल्प-मात्र से स्त्रियां-ही-स्त्रियां प्रकट हो जाती हैं, और वह 'स्त्री-लोक' से सम्पन्न होकर अपने को गौरवशाली अनुभव करता है ॥९॥

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन संपन्नो महीयते ॥६॥

अथ यदि—और अगर; गन्ध-माल्यलोक-कामः—गन्ध-माल्य (सुगन्ध और माला) के लोक (सुख-साधन) की कामना वाला; भवति. . . .महीयते—अर्थ पूर्ववत् ॥६॥

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन संपन्नो महीयते ॥७॥

अथ यदि—और अगर; अन्न-पान-लोककामः—अन्न-पान (खाद्य और पेय) के लोक (सुख-साधन) की कामना वाला; भवति. . . .महीयते—अर्थ पूर्ववत् ॥७॥

अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन संपन्नो महीयते ॥८॥

अथ यदि—और अगर; गीत-वादित्र-लोककामः—गीत-वादित्र (गाना-बजाना) के लोक (सुख-साधन) की कामनावाला; भवति. . . . महीयते—अर्थ पूर्ववत् ॥८॥

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन संपन्नो महीयते ॥९॥

संक्षेप में, जिस-जिस विषय को वह चाहता है, जिस-जिस विषय की कामना करता है, वह उसके संकल्प-मात्र से उठ खड़ा होता है, और वह उससे सम्पन्न होकर महिमा अनुभव करता है ॥१०॥

अष्टम प्रपाठक—(तीसरा खंड)

तो यह क्या है ? यह स्त्री की कामना, गन्ध-माल्य और गीत-वादित्र की कामना का उल्लेख क्यों किया ? मनुष्य की जो सत्य-कामनाएं, ऊंची कामनाएं हैं, वे अनृत से, नीची कामनाओं से ढकी रहती हैं—'सत्याः कामाः अनृतापिधानाः' ('हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'—ईशोपनिषद्, १५)। तो ये स्त्री-गन्ध-माल्यादि की अनृत-कामनाएं ब्रह्म-ज्ञान की सत्य-कामनाओं को ढके रहती हैं। जो यहां से मर कर चला गया उसे कोई फिर यहां कैसे देख सकता है ? उन्हें यहां देखने की इच्छा एक अनृत इच्छा है—मनुष्य की इस इच्छा में 'सत्य' को 'अनृत' ने ढका हुआ है ॥१॥

अथ यदि—और अगर, स्त्री-लोककाम—स्त्री (पत्नी) के लोक (सुख-साधन) की कामना वाला, भवति . महीयते—अर्थ पूर्ववत् ॥९॥

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य
संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते ॥१०॥

यम् यम्—जिस-जिस, अन्तम्—उद्देश्य को, प्रदेश को, अभिकाम—चाहनेवाला, भवति—होता है, यम्—जिस, कामम्—भोग को, कामयते—चाहता है, स—वह (भोग), अस्य—इसके, संकल्पाद् एव—संकल्प से ही, समुत्तिष्ठति—उठ खडा होता है, दीख पडता है, तेन सम्पन्नः महीयते—उससे युक्त (समृद्ध) हुआ (स्वयं को) महिमाशाली समझता है ॥१०॥

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषां सत्यानां सता-
मनृतमपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते ॥१॥

ते—वे, इमे—ये, सत्याः—सच्चे, वास्तविक, कामा—भोग, कामनाएं, अनृत+अपिधाना—अनृत (असत्य) से आवृत (ढकी हुई) हैं, तेषाम्—उन (कामनाओं) का, सत्यानाम्—सच्चे, वास्तविक, सताम्—सत्तावाले, अनृतम्—झूठ, अपिधानम्—आवरण, ढक्कन है, यः यः—जो-जो, हि—ही, अस्य—इस (मनुष्य) का, इतः—यहां से (इस लोक से), प्रैति—मरकर चला जाता है, न—नहीं, तम्—उसको, इह—इस जगत् में, दर्शनाय—देखने के लिए, लभते—प्राप्त करता है, (दर्शनाय लभते—देख पाना है) ॥१॥

जो यहां इसके जीवित हैं, या जो मर चुके हैं, और जो-कुछ वह चाहता है परन्तु पा नहीं सकता—उस सबको हृदय-मन्दिर में वर्तमान ब्रह्म के पास पहुंचकर यह पा लेता है। हृदय-मन्दिर में सत्य-कामनाएं मौजूद रहती हैं, परन्तु विषयों के प्रति तृष्णा का उन पर आवरण चढ़ा रहता है—'सत्याः कामाः अनृतापिधानाः'। तृष्णाओं के इस अनृत-आवरण के कारण ही वह अपने सत्य-स्वरूप को नहीं पहचान पाता। जैसे पृथिवी में दबी हुई सुवर्ण की निधि को, उसके ऊपर चलते-फिरते भी नहीं जान पाते, ठीक ऐसे सब जीव-जन्तु सुषुप्ति-अवस्था में ब्रह्म-लोक में दिन-प्रतिदिन पहुंचते हुए भी आत्मा की निधि को नहीं पा सकते क्योंकि तृष्णा-रूपी अनृत के आवरण से उनकी चेतना ढकी रहती है। आत्मा के यथार्थ-रूप को जो जान जाता है, वह अनृत-कामनाओं के आवरण को हटाकर सत्य-कामनाओं को अपनाता है ॥२॥

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ॥२॥

अथ—और; ये च—और जो; अस्य—इस (मनुष्य) के; इह—इस लोक में; जीवाः—जीवित; ये च—और जो; प्रेताः—मृत; यत् च—और जिस; अन्यद्—अन्य को, दूसरे को; इच्छन्—चाहता हुआ; न लभते—नहीं पाता है; सर्वम् तद्—वह सब कुछ; अत्र—यहां, इस (ब्रह्मलोक) में; गत्वा—जाकर, पहुंच कर; विन्दते—पा लेता है; अत्र हि—यहां (इस लोक—इस जन्म में) ही; अस्य—इसके; एते सत्याः कामाः—ये सच्चे वास्तविक भोग (कामनाएं); अनृतापिधानाः—असत्य से आवृत हैं; तद् यथा अपि—तो जैसे भी; हिरण्य-निधिम्—सुवर्ण-कोष को; निहितम्—(पृथिवी में) रखे (गाड़े) हुए; अक्षेत्रज्ञाः—क्षेत्र (पृथिवी—खेत) को न जानने वाले; उपरि-उपरि—(खेत के) ऊपर-ऊपर; संचरन्तः—चलते-फिरते; न—नहीं; विन्देयुः—प्राप्त कर पाते हैं; एवम् एव—इस प्रकार ही; इमाः—ये; सर्वाः प्रजाः—सारी प्रजाएं; अहः अहः—प्रतिदिन; गच्छन्त्यः—(सुषुप्ति-अवस्था में) जाती हुई; एतम्—इस; ब्रह्मलोकम्—ब्रह्म के निवास स्थान हृदयाकाश को; न—नहीं; विन्दन्ति—प्राप्त करती हैं; अनृतेन—

वह आत्मा 'हृदय' में है। 'हृदय' को 'हृदय' कहते भी इसीलिये हैं क्योंकि 'हृदि+अयम्'—'वह हृदय में है'। जो इस रहस्य को दिन-प्रतिदिन जानता है वह, उसे बाहर ढूढने के स्थान में हृदय के भीतर ढूढता है, और वहीं मानो स्वर्ग को पा जाता है ॥३॥

जब यह जीव निर्मल होकर, इस शरीर से उठकर, अर्थात् इस शरीर में आत्म-भावना को त्यागकर, उस परम-ज्योति को प्राप्त होकर अपने शुद्ध-रूप में प्रकट होता है, तब उसी को 'आत्मा' कहा जाता है—यही 'अमृत' है, 'अभय' है, यही 'ब्रह्म' है—इसी ब्रह्म का नाम 'सत्य' है ॥४॥

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृदय-
मिति तस्माद्धृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥३॥

स' वै एष—वह यह, आत्मा—जीवात्मा, हृदि—हृदय में (विद्यमान है), तस्य—उस (हृदय) का, एतद् एव—यह ही, निरुक्तम्—निर्वचन है, हृदि+अयम्—हृदय में यह है, इति—यह (निर्वचन है), तस्माद्—उस कारण से, हृदयम्—हृदय (हृदय का नाम) है, अह' अह'—प्रतिदिन, वै—ही, एवंवित्—इस प्रकार जाननेवाला, स्वर्गम् लोकम्—स्वर्ग (सुख प्रधान) लोक (अवस्था) को, एति—जाता है प्राप्त करता है ॥३॥

अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योति-
रुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतद-
मृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ॥४॥

अथ—और, य एष—जो यह, सम्प्रसाद—निर्मल, पाप से रहित (जीवात्मा), अस्मात्—इस, शरीरात्—शरीर (की आसक्ति) से समुत्थाय—ऊपर उठकर, शरीर छोड कर, परम् ज्योति—परम प्रकाशमय (उत्तम ज्योति) ब्रह्म को, उपसम्पद्य—प्राप्त कर, स्वेन—अपने, रूपेण—(शुद्ध निर्मल) रूप से, अभिनिष्पद्यते—युक्त हो जाता है (अपने वास्तविक स्वरूप को पहिचान लेता है—माया-मोह से छूट जाता है), एष आत्मा—यह (स्वरूप को प्राप्त) ही आत्मा है, इति ह उवाच—यह भी कहा (कि), एतद् अमृतम्—यह अमर है, अभयम्—निर्भय है, एतद्—यह, ब्रह्म—ब्रह्म (बडा) है, इति—यह (कहा), तस्य—उस, ह वै—निश्चय से, एतस्य—इस, ब्रह्मण—ब्रह्म का, नाम—संज्ञा, नाम, सत्यम् इति—सत्य' यह है ॥४॥

'सत्य' में 'स+ति+य'—ये तीन अक्षर हैं (बृहदा० ५, ५, १)। यह जो 'सत्' है, यह 'अमृत', अर्थात् ब्रह्म का द्योतक है; यह जो 'ति' है, यह 'मर्त्य', अर्थात् 'जगत्' का द्योतक है; जो 'यम्' है, यह दोनों को मिलाने का सूचक है—क्योंकि इससे 'अमृत' तथा 'मर्त्य' दोनों की प्राप्ति होती है, इसलिये 'यम्' दोनों का बन्धक है। जो व्यक्ति दिन-प्रतिदिन सत्य के इस रहस्य को जानता है, अमृत और मर्त्य का, ब्रह्म और जगत् का समन्वय करता रहता है, जगत् से ब्रह्म और ब्रह्म से जगत् के दर्शन करता रहता है, वह मानो स्वर्ग-लोक को पा जाता है ॥५॥

अष्टम प्रपाठक—(चौथा खंड)

'अमृत' और 'मर्त्य'-लोक (Spiritual and Material Worlds) आपस में एक-दूसरे से टूट न जायं, इस हेतु यह 'आत्मा' एक पुल के समान है, यह आत्मा इन दोनों लोकों की विधृति है, दोनों को

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति तद्यत्सत्-
तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति यदने-
नोभे यच्छति तस्माद्यमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥५॥

तानि—वे; **ह वै**—निश्चय से; **एतानि**—ये; **त्रीणि**—तीन; **अक्षराणि**—अक्षर ('सत्य' पद में) हैं; **सत्+ति+यम् इति**—'सत्', 'ति'; 'यम्' इस रूप में; **तद यद् 'सत्'**—तो जो 'सत्' (अक्षर) है; **तद् अमृतम्**—वह (उसका अर्थ) अमर है; **अथ यत्**—और जो; **ति**—'ति' अक्षर है; **तत् मर्त्यम्**—वह (उसका भाव) मरणशील है; **अथ यत्**—और जो; **यम्**—'यम्' अक्षर है; **तेन**—उससे; **उभे**—दोनों (अमृत व मर्त्य, सत् और ति) को; **यच्छति**—नियमन करता है; **यद्**—जो; **अनेन**—इससे; **उभे**—दोनों को; **यच्छति**—नियम में रखता है; **तस्माद्**—अतएव; **यम्**—यह 'यम्' (कहलाता है); **अहः अहः**—प्रतिदिन; **वै**—ही; **एवंवित्**—इस प्रकार (रूप में) जानने वाला; **स्वर्गम् लोकम् एति**—स्वर्गलोक (सुख-स्थिति) को प्राप्त होता है ॥५॥

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय। नैतं
सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतं
सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः ॥१॥

अथ—और; **यः आत्मा**—जो आत्मा है; **सः**—वह; **सेतुः**—पुल, दो छोरों को मिलानेवाला; **विधृतिः**—धारण करनेवाला; **एषाम्**—इन;

धारण करने वाला है। दिन-रात, जरा-मृत्यु-शोक, सुकृत-दुष्कृत—इस पुल के इधर-इधर इस मर्त्य-लोक में ही रह जाते हैं, उस पार अमृत-लोक, अर्थात् ब्रह्म-लोक में नहीं जा सकते ॥१॥

(इस स्थल पर उपनिषत्कार ने भौतिक तथा आध्यात्मिक—इन दोनों में जो खाई और परस्पर-विरोध दिखाई देता है उसे पाटने का प्रयत्न किया है। उसका कहना है कि इन दोनों को अलग-अलग समझना गलती है, दोनों में अपना विकास करना ही वास्तविक विकास है। इन दोनों को मिलाने वाला आत्मा है।)

इस पुल के इस पार से ही सब पाप लौट आते हैं—जब तक 'जीव' अपने शुद्ध 'आत्मा' के रूप में आकर ब्रह्म-लोक के साथ ऐसे नहीं जुड़ जाता जैसे पुल नदी के दो पाटों को मिला देता है, तभी तक उसके साथ पाप का सम्पर्क है, उसके बाद, उस पार का लोक पाप से पृथक् है, वह ब्रह्म-लोक है। इसलिये इस पुल को पार करके

लोकानाम्—लोकों के, असंभेदाय—नष्ट-भ्रष्ट, तहस-नहस न होने देने के लिए, न एतम्—नहीं इस, सेतुम्—सेतु-रूप (आत्मा) को, अहोरात्रे—दिन-रात (काल), तरतः—पार करते है, रौंदते-नष्ट करते है (काल की पहुच से बाहर—त्रिकालातीत है), न जरा—न बुढ़ापा (अजर है), न मृत्यु—न मृत्यु (अमर है); न शोक—न शोक (आनन्दस्वरूप है), न सुकृतम् न दुष्कृतम्—न पुण्य-कर्म और न पाप-कर्म (कर्मबन्धन से रहित है), सर्वे—सारे, पाप्मान—पाप, अतः—इस (आत्मा) से, निवर्तन्ते—(पास जाकर) लौट जाते हैं (अपापविद्ध—निष्पाप-निष्कलंक है), अपहतपाप्मा—पाप से मुक्त, हि—ही, एष—यह, ब्रह्मलोकः—ब्रह्म का निवास-स्थान (आत्मा) है (जिसमे रहते ब्रह्म का ज्ञान होता है) ॥१॥

तस्माद्वा एतꣳ सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति तस्माद्वा एतꣳ सेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः ॥२॥

तस्माद् वै—उस कारण से ही, एतम्—इस, सेतुम्—सेतु (आत्मा) को, तीर्त्वा—पार कर, प्राप्त कर (जानकर), अन्धः सन्—अन्धा (ज्ञान-शून्य) होता हुआ, अनन्धः—समाखा, आखोंवाला (ज्ञानी), भवति—हो जाता है, विद्धः सन्—(पाप से) बिंधा हुआ, अविद्धः—न बिंधा हुआ (अपापविद्ध), भवति—हो जाता है, उपतापी—ज्वर-ग्रस्त (मानसिक तापवाला); सन्—

अन्धा सुजाखा हो जाता है, विद्ध अविद्ध हो जाता है, रोगी नीरोग हो जाता है, इसीलिये इस पुल को पार करने पर रात भी दिन के समान हो जाती है, सब अन्धकार दूर हो जाता है, इस ब्रह्म-लोक में सदा प्रकाश-ही-प्रकाश रहता है ।।२।।

जो इस ब्रह्म-लोक को 'ब्रह्मचर्य' से ढूंढते हैं, उन्हीं को ब्रह्म-लोक प्राप्त होता है, उनकी सब लोकों म ... है ।।३।।

अष्टम प्रपाठक—(पांचवां खंड)

जिसे कर्म-कांडी लोग 'यज्ञ' कहते हैं, वह 'ब्रह्मचर्य' ही है। 'यज्ञ' शब्द 'यत्+ज्ञ' से बना है, इसका अर्थ है, जिससे ब्रह्म जाना जाय। 'ब्रह्मचर्य' से ही उस 'ज्ञाता'—'ब्रह्म'—को जाना जाता है। जिसे

होता हुआ; अनुपतापी—ज्वर-मुक्त, स्वस्थ (पश्चाताप से मुक्त-स्व-स्थ); तस्माद् वै—उस कारण से ही; एतम्—इस; सेतुम्—सेतु-रूप (आत्मा को); तीर्त्वा—तर कर, पार कर (जानकर); अपि—भी; नक्तम्—अन्धकारमयी रात्रि; (नक्तम् अपि—रात्रि भी); अहः एव—(प्रकाशमान) दिन ही; अभिनिष्पद्यते—सम्पूर्णतया निष्पन्न हो जाता है (अविद्यान्धकार नष्ट हो कर विद्या-सूर्य उदित हो जाता है); सकृद्—निरन्तर; विभातः—प्रकाशमय, ज्योतिर्मय; हि एव—ही; एषः—यह (आत्मा); ब्रह्म-लोकः—ब्रह्म का निवास-स्थान है ।।२।।

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।।३।।

तद्—तो; ये—जो (मुमुक्षु); एव—ही; एतम् ब्रह्मलोकम्—इस ब्रह्म के अधिष्ठान (आत्मा) को; ब्रह्मचर्येण—वेदानुशीलन, अखण्ड इन्द्रिय-निग्रह (ब्रह्मचर्य), ब्रह्म-जिज्ञासा से; अनुविन्दन्ति—खोजते, प्राप्त करते, साक्षात् करते हैं; तेषाम् एव—उनका ही (उनको ही प्राप्त); एषः ब्रह्मलोकः—यह ब्रह्म-लोक (स्वरूप में अवस्थान) है; तेषाम्—उन (आत्म-ब्रह्मज्ञानियों) का; सर्वेषु लोकेषु कामचारः भवति—सब लोकों में अबाध गति (पहुंच) होती है (वे सब को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष करते हैं) ।।३।।

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते ।।१।।

अथ यद्—और जो कोई (ब्रह्मज्ञान का साधन); यज्ञः—यज्ञ है; इति—ऐसे; आचक्षते—कहते हैं; (वास्तव में) ब्रह्मचर्यम् एव—ब्रह्मचर्य

कर्म-काडी लोग 'इष्ट' कहते हैं, यह भी 'ब्रह्मचर्य' ही है, 'ब्रह्मचर्य' के द्वारा ही उपासक उसकी तीव्र इच्छा मन में जगाकर 'आत्मा' को प्राप्त करता है ॥१॥

जिसे कर्म-कांडी लोग 'सत्रायण-यज्ञ' कहते हैं, यह भी 'ब्रह्मचर्य' ही है, क्योंकि 'ब्रह्मचर्य' से ही 'सत्'-रूप 'आत्मा' का त्राण होता है; जिसे कर्म-कांडी 'मौन' कहते हैं, यह भी 'ब्रह्मचर्य' ही है, क्योंकि 'मौन' 'मन' से बना है, और 'ब्रह्मचर्य' से ही 'आत्मा' प्राप्त होता तथा उसका 'मनन' होता है ॥२॥

(का रूप) ही है, तद्—वह (यज्ञ), ब्रह्मचर्येण हि एव—क्योंकि ब्रह्मचर्य से ही, य—जो, ज्ञाता—(आत्मा) ज्ञानी है, तम्—उस (यज्ञ-यजनीय) को, विन्दते—पा जाता है, अथ यद्—और जो कोई (ब्रह्म-ज्ञान का साधन), इष्टम्—इष्ट (इष्टि-कर्म) है, इति—ऐसे, आचक्षते—कहते हैं, (वस्तुत) ब्रह्मचर्यम् एव तद्—वह (इष्टि भी) ब्रह्मचर्य (का रूप) ही है, ब्रह्मचर्येण हि एव—क्योंकि ब्रह्मचर्य से ही, इष्ट्वा—देव-पूजा, संगति (मेल) कर, आत्मानम्—आत्मा (स्व स्वरूप) को, अनुविन्दते—ढूंढ लेता है, प्राप्त कर लेता है ॥१॥

अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण
ह्येव सत आत्मनस्त्राण विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते
ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते ॥२॥

अथ यत्—और जो (आत्म ज्ञान का साधन), सत्त्रायणम्—सत्रायण (नामक) याग-विशेष है, इति आचक्षते—ऐसे कहते हैं, ब्रह्मचर्यम् एव तत्—ब्रह्मचर्य (का नाम) ही वह (सत्रायण) है, ब्रह्मचर्येण हि एव—क्योंकि ब्रह्मचर्य से ही, सत—(सदा) सत्तावाले (अविनाशी), आत्मन—आत्मा की, स्वय की, त्राणम्—रक्षा, विन्दते—प्राप्त करता है, अथ यत्—और जो, मौनम्—मुनि-भाव (मनन-शीलता) को (ब्रह्म-ज्ञान का साधन है), इति—इस प्रकार, आचक्षते—कहते है, ब्रह्मचर्यम् एव तद्—(वस्तुत) ब्रह्मचर्य (का रूप) ही वह (मौन) है, ब्रह्मचर्येण हि एव—क्योंकि ब्रह्मचर्य से ही, आत्मानम्—आत्म-स्वरूप को, अनुविद्य—खोजकर, प्राप्त कर, जानकर, मनुते—मनन करता है (वास्तविक मनन तब ही होता है) ॥२॥

जिसे कर्म-कांडी 'अनाशकायन-यज्ञ' कहते हैं, यह भी 'ब्रह्मचर्य' ही है, 'अनाश' का अर्थ है, जो नष्ट नहीं होता, 'ब्रह्मचर्य' से जिस आत्म-रूप को उपासक प्राप्त करता है, वह 'आत्मा' नष्ट नहीं होता। जिसे कर्म-कांडी 'अरण्यायन', अर्थात् ब्रह्म को ढूंढने के लिये जंगल में चले जाना कहते हैं, यह भी 'ब्रह्मचर्य' है। 'अरण्यायन' में दो शब्द हैं, 'अर' और 'ण्य'। यहां से तीसरा जो द्यु-लोक है, वहां 'अर' और 'ण्य' नामक दो समुद्र हैं और 'ऐरंमदीय'-नामक एक सरोवर है। वहां एक 'अश्वत्थ'-नामक वृक्ष है, जिसमें से सोम-रस सदा टपका करता है। प्रभु की बनाई हुई सोने की वहां एक अपराजिता ब्रह्म-पुरी है (ब्रह्म को जिसने पा लिया, वह मानो ब्रह्म-पुरी में रहने लगा। उसका भोजन सोम-रस है, जो अश्वत्थ नामक वृक्ष से टपकता है। अश्वत्थ का अर्थ है अ+श्व+स्थ--अर्थात् जो आज है, कल नहीं रहेगा। ब्रह्म का ज्ञान इसी से तो होता है, यह जानने से कि संसार आज है, कल नहीं है, क्षण-भंगुर है। कर्म-कांडी जिसे अरण्यायन कहते हैं, उसे उपनिषत्कार ने यहां ज्ञान-पक्ष में घटाने का प्रयत्न किया है। अरण्यायन का अर्थ वतलाते हुए उपनिषत्कार ने कहा है कि यह शब्द 'अर' तथा 'ण्य' से बना है, अर तथा ण्य--ये दो समुद्र हैं। उपनिषद् का आध्यात्मिक अर्थ करने वालों का कहना है कि ब्रह्म-रंध्र में सहस्रार-कमल है जिसमें दो

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दतेऽथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्। अरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके। तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयँ सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितँ हिरण्मयम् ॥३॥

अथ यत्—और जो; **अनाशकायनम्**—अनाशकायन (अनश्वरता) यज्ञ-विधि (ब्रह्म-ज्ञान का साधन है); **इति आचक्षते**—ऐसे कहते हैं; **ब्रह्मचर्यम् एव तद्**—ब्रह्मचर्य ही वह (अनाशकायन) है; **एषः हि**—क्योंकि यह; **आत्मा**—आत्मा; **न**—नहीं; **नश्यति**—नष्ट होता है (अविनाशी-अक्षर है); **यम्**—जिस (आत्मा) को; **ब्रह्मचर्येण अनुविन्दते**—ब्रह्मचर्य से प्राप्त (ज्ञान) करता है; **अथ यत्**—और जो; **अरण्यायनम्**—अरण्यायन (आत्म-ज्ञान का साधन है); **इति आचक्षते**—इस प्रकार कहते हैं; (वस्तुतः) **ब्रह्मचर्यम् एव तद्**—ब्रह्मचर्य (का रूप) ही वह (अरण्यायन—अरण्य में निवास—वानप्रस्थाश्रम) है; **तद्**—

केन्द्र हैं जो शक्ति के भंडार हैं। इन्हीं दो केन्द्रों को अर तथा ण्य कहा गया है। 'अरण्ये उपवसन्ति' (मुंडक, १-२-११) का अर्थ जंगल में जा बसना नहीं, अपितु मस्तिष्क के सहस्रार-चक्र के दो शक्ति-केन्द्रों में ध्यान लगाना है, ये दोनों केन्द्र शक्ति के समुद्र हैं।) ॥३॥



अश्वत्थ-वृक्ष (क्षण-भंगुरता) में से सदा सोम-रस (ज्ञान) टपकता है

तौ, उसमें; अरः च—'अर' (नामक), ज्ञान, ह वै—निश्चय से, ण्यः च—और 'ण्य'-नामक, कर्म, अर्णवौ—दो समुद्र-(समान सरोवर), ब्रह्मलोके—ब्रह्म-लोक में हैं, तृतीयस्याम्—तीसरे, इतः—इस (पृथिवी-लोक) में, दिवि—द्यु-लोक में; तद्—वहां, उसमें, ऐरम्मदीयम्—(इरा—अन्न, जल, प्रकृति)

जो 'ब्रह्मचर्य' से 'ब्रह्म-लोक' में 'अर' और 'ण्य' इन दो समुद्रों को पा जाते हैं, उन्हीं का 'ब्रह्म-लोक' हो जाता है, उनकी सब लोकों में निर्बाध गति हो जाती है ॥४॥

(उपनिषदों के रहस्य को समझने के लिये यह समझना आवश्यक है कि ऋषि लोग सदा 'पिंड' तथा 'ब्रह्मांड' की एकता का प्रतिपादन किया करते थे। जो 'ब्रह्मांड' में है, वह 'पिंड' में है; जो 'पिंड' में है, वह 'ब्रह्मांड' में है। किसी वस्तु को बाहर भी देख सकते हैं, भीतर भी; बाहर स्थूल-जगत् है, भीतर संकल्पमय सूक्ष्म-जगत् है। तभी इस प्रपाठक के द्वितीय खंड में कहा है कि हृदयाकाश में आत्मा के दर्शन करने वाले के संकल्प से ही सब-कुछ उठ खड़ा होता है। इसी विचार-क्रम को पंचम खंड में दर्शाया है। ब्रह्मांड में दो समुद्र हैं—आसमान का, तथा पृथिवी का। पिंड में भी 'अर' और 'ण्य'—'कर्म' तथा 'ज्ञान'—ये दो समुद्र हैं। ब्रह्मांड में पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यु—ये तीन लोक हैं, पिंड में शरीर पृथिवी-लोक है, मन अन्तरिक्ष-लोक है, आत्मा द्यु-लोक है। कई लोग 'शरीर' में ही विचरण करते हैं, कई 'मन' के लोक में, कई 'आत्मा' के लोक में। आत्मिक-लोक तीसरा लोक है, यह पिंड का द्यु-लोक है। ब्रह्मांड में निर्मल निर्झर होते हैं, पिंड के द्यु-लोक में

मेघज्योति से युक्त, अन्न आदि से आनन्द देनेवाला; **सरः**—सरोवर है; **तद्**—उसमें; **अश्वत्थः**—(कल न रहनेवाला) पीपल का वृक्ष है (जो); **सोम-सवनः**—अमृत को चुआनेवाला (जिससे अमृत झरता रहता है); **तद्**—उसमें; **अपराजिता**—अपराजिता (जिसे अब्रह्मचारी एवं साधनविहीन नहीं पा सके) —नामक; **पूः**—नगरी है; **ब्रह्मणः**—ब्रह्म की; (और) **प्रभुविमितम्**—प्रभु (भगवान् से) नापा हुआ (जिसके परिमाण को प्रभु ही जानता है); **हिरण्मयम्**—सुवर्ण-कोष है ॥३॥

तद्य एवैतावरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति
तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥४॥

तद्—तो; **ये**—जो (मुमुक्षु-उपासक); **एतौ**—इन दोनों; **अरम् च ण्यम् च**—'अर'-नामक ज्ञान और 'ण्य'-नामक कर्म; **अर्णवौ**—समुद्रों को; **ब्रह्मलोके**—ब्रह्म-पुरी में; **ब्रह्मचर्येण अनुविन्दन्ति**—ब्रह्मचर्य से प्राप्त (ज्ञात) करते हैं; **तेषाम् एव....भवति**—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

'ऐरमदीय' सरोवर है—आनन्द का सोता है। ब्रह्माड में सोम-रस है, पिंड में 'अश्वत्थ' से अमृत का झरना बहा करता है। 'अ+श्व+स्थ' का अर्थ है, जो कल नही रहेगा। पिंड के ब्रह्म-लोक में प्रवेश करके ही तो यह ज्ञान होता है कि यह सब-कुछ क्षणिक है, यह कल नही रहेगा। ससार की क्षण-भगुरता की भावना ही अश्वत्थ-वृक्ष है, जिससे अमरता का सोम-रस झरता है। इस सारे प्रकरण का अर्थ यह है कि हृदयाकाश मे ब्रह्म की एक सुवर्ण-मय नगरी है, इस नगरी के पास 'कर्म' और 'ज्ञान' के समुद्र है, पास ही 'आनन्द' का झरना बह रहा है, इधर-उधर 'अमरता' का रस टपकाने वाले, ससार की निस्सारता का ज्ञान कराने वाले पौधे लहलहा रहे हैं। उपासक को ऋषि कहता है कि 'ब्रह्माड' से मुह फेरकर, अन्दर की, 'पिंड' की नगरी की सैर कर, तू जिस आनन्द को बाहर ढूढता फिरता है, वह तुझे अन्दर मिल जायगा।)

अष्टम प्रपाठक—(छठा खंड)

'ब्रह्म-लोक' को 'ब्रह्मचर्य' से प्राप्त किया जाता है, परन्तु जो 'ब्रह्म-लोक' को जाता है, उसके प्राण आख-कान आदि इन्द्रियो से न निकलकर ब्रह्म-रध्र से निकलते हैं। आख के विषयों में जीवन-भर लीन रहने वाले के प्राण आखों से, श्रोत्र के विषयो में लीन रहने वाले के प्राण श्रोत्रो से, और ब्रह्म में लीन रहने वाले के प्राण मूर्धा में जो नाड़ी जाती है, उससे निकलते हैं, वह वहा से 'ब्रह्म-लोक' को पहुंचता है। इस विचार को विशद करते हुए ऋषि कहते हैं—

पिंड में हृदय मानो सूर्य है। उससे पिंगल, शुक्ल, नील, पीत, लोहित वर्ण की नाडिया सूक्ष्म रस से भरी हुई किरणो की तरह

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ता पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति
शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्य
पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहित ॥१॥

अथ—और, या एता—जो ये, हृदयस्य—हृदय की, नाड्य—नाडिया, ता—वे, पिंगलस्य—पिंगल (तनिक पीले) वर्ण का, अणिम्न—सूक्ष्मातिसूक्ष्म, तिष्ठन्ति—विद्यमान हैं, शुक्लस्य—सफेद, नीलस्य—नीले, पीतस्य—पीले, लोहितस्य—लाल, इति—ऐसे, असौ वै आदित्य—यह

चारों तरफ़ फैल रही हैं। ब्रह्मांड में सूर्य मानो जगत् का हृदय है। उससे पिंगल, शुक्ल, नील, पीत, लोहित वर्ण की किरणें रस से भरी हुई नाड़ियों की तरह चारों तरफ़ फैल रही हैं ॥१॥

जैसे एक 'महापथ'—लम्बा-चौड़ा रास्ता—निकट के तथा दूर के दोनों ग्रामों को पहुंच जाता है, इसी प्रकार आदित्य की किरणें पिंड तथा ब्रह्मांड दोनों लोकों को पहुंचती हैं। वे आदित्य से चलकर इन नाड़ियों में चली आती हैं, और इन नाड़ियों से चलकर आदित्य में पहुंच जाती हैं। पिंड तथा ब्रह्मांड का यह आदान-प्रदान होता रहता है ॥२॥

जब यह सोता है, स्वप्न भी नहीं ले रहा होता, उस समय 'सुषुप्ति-स्थान' में यह बिखरा नहीं रहता, 'समस्त' हो जाता है, 'प्रसन्न'

सूर्य ही; पिंगलः—तनिक-सा पीला है; एवः शुक्लः—यह ही सफ़ेद है; एवः नीलः—यह ही नीला है; एवः पीतः—यह ही पीला है; एवः लोहितः—यह (सूर्य ही) लाल है ॥१॥

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते। ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते। तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥२॥

तद् यथा—तो जैसे; महापथः—बड़ा (चौड़ा) मार्ग; आततः—विस्तृत (फैला हुआ); उभौ ग्रामौ—दोनों ग्रामों को; गच्छति—जाता, पहुंचता है; इमम् च—इस (ग्राम) को; अमुम् च—उस (दूसरे) ग्राम को; एवम् एव—इस ही प्रकार; एताः—ये; आदित्यस्य—सूर्य की; रश्मयः—किरणें; उभौ लोकौ—दोनों लोकों को; गच्छन्ति—जाती हैं; इमम् च—इस (पृथ्वी) लोक को (मनुष्य-देह को); अमुम् च—उस (अन्तरिक्ष) लोक को; अमुष्माद्—इस; आदित्यात्—आदित्य (सूर्य) से; प्रतायन्ते—फैलती हैं; ताः—वे (रश्मियां); आसु—इन; नाडीषु—नाड़ियों में; सृप्ताः—पहुंची हुई, सरकती हुई हैं; आभ्यः—इन; नाडीभ्यः—नाड़ियों से; प्रतायन्ते—फैलती हैं; ते—वे; अमुष्मिन्—इस; आदित्ये—सूर्य में; सृप्ताः—पहुंची हैं ॥२॥

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति। तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा संपन्नो भवति ॥३॥

तद्—तो; यत्र—जहां (जिस अवस्था में); एतत्-सुप्तः—यह सोया हुआ (मनुष्य); समस्तः—समाहित, सब विषयों से उपरत (शून्य); संप्रसन्नः—

हो जाता है। उस समय हृदय की इन्हीं नाड़ियों में पहुंचा होता है, उस समय उसे कोई पाप छू तक नहीं जाता, उस समय सूर्य की रश्मियों से नाड़ियों में आये तेज के साथ इसका सम्पर्क हो रहा होता है ॥३॥

जब यह निर्बल हो जाता है, तब इसके चारों तरफ बैठे बन्धु-बान्धव पूछते हैं, क्या मुझे पहचानते हो, क्या मुझे पहचानते हो, और जब तक यह शरीर से निकल नहीं जाता तब तक पहचानता है ॥४॥

परन्तु जब शरीर से निकलता है, तब साधारण पुरुष का आत्मा तो इन्हीं हृदय की रश्मि-रूप नाड़ियों से किसी एक में से निकल जाता है। ये नाड़ियां आंख, कान, नाक आदि सभी इन्द्रियों को गई हैं। जिस विषय में जीवन-भर रमा रहा होता है, उसी विषय की नाड़ी

अत्यधिक प्रसन्न, मलों से रहित, स्वप्नम्—स्वप्न को, न विजानाति—नहीं जानता है, नहीं अनुभव करता है, आसु—इन, तदा—तब, नाडीषु—नाड़ियों में, सृप्तः—पहुंचा हुआ, भवति—होता है (लीन होता है), तम्—उस आत्मा को (उस समय), न—नहीं, कश्चन—कोई भी, पाप्मा—पाप, बुराई, स्पृशति—छूता है, तेजसा—तेज से, हि—ही, तदा—तब, सपन्न—युक्त, भवति—होता है ॥३॥

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति। स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥४॥

अथ—और, यत्र—जहां, एतद्—यह, अबलिमानम्—निर्बलता को, नीत—प्राप्त, भवति—होता है (जब यह निर्बल हो जाता है), तम्—उस (मनुष्य) को, अभितः—चारों ओर, आसीनाः—बैठे हुए, आहुः—कहते हैं, जानासि—(क्या) तू जानता है, माम्—मुझको, जानासि माम्—क्या मुझको जानता-पहचानता है, इति—ऐसे (कहते हैं), स—वह (आत्मा), यावत्—जबतक, अस्मात्—इस, शरीरात्—शरीर से, अनुत्क्रान्तः भवति—नहीं निकलता (इस शरीर को नहीं छोडता) है, तावत्—तबतक, जानाति—जानता-पहचानता है ॥४॥

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते। स ओमिति वा होद्वा मीयते। स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥५॥

अथ—और, यत्र—जिस समय में, एतद्—यह (आत्मा), अस्मात् शरीरात्—इस शरीर से, उत्क्रामति—निकलता है, अथ—तो, एतैः एव—इन

से, उसी इन्द्रिय-द्वार से निकल जाता है। ब्रह्म का उपासक 'ओ३म्' का उच्चारण करता हुआ ऊपर को प्रयाण करता है। इधर इसका मनस्तत्त्व (Etherial body) क्षीण होता है, और वह आदित्य-लोक को पहुंच जाता है, सौरी-दशा को प्राप्त हो जाता है। यह सौरी-दशा 'ब्रह्म-लोक' का द्वार है—ब्रह्म-ज्ञानी इस द्वार में से निकलकर 'ब्रह्म-लोक' में पहुंच जाते हैं, दूसरे यहां रुक जाते हैं (छा० ४-१५, ५-१०; मुंडक १-२) ॥५॥

इस पर किसी की उक्ति (कठ ६-१६; प्रश्न ३-६,७; बृहदा० ४-२-३) है—हृदय की एक-सौ-एक नाड़ियां हैं, उनमें से एक (Carotid Artery), मूर्धा की ओर निकलती है, उस नाड़ी से ऊपर की ओर चढ़ता हुआ ब्रह्मविद् अमृतत्व को प्राप्त करता है, दूसरी नाडियों से निकलने में भिन्न-भिन्न गति होती है, हां, निकलने में भिन्न-भिन्न गति होती है ॥६॥

ही; **रश्मिभिः**—किरणों से (के द्वारा), नाड़ियों से; **ऊर्ध्वम्**—ऊपर की ओर; **आक्रमते**—चढ़ता है (निकलता है); **सः**—वह (ज्ञानी); **ओम् इति**—'ओम्' यह (ध्यान करता हुआ); **वा ह**—निश्चय पूर्वक; **उद् वा**—ऊपर को ओर (सुषुम्णा नाड़ी द्वारा); **मीयते**—प्राण-त्याग करता है; **सः**—वह (ज्ञानी); **यावत्**—जितना; **क्षिप्येत्**—चलता है; **मनः**—मन; (**यावद् क्षिप्येत् मनः**—जितनी देर में मन जाता है अर्थात् एकदम या ज्यों ही मन—अन्तःकरण—क्षीण होता है); **तावत्**—त्यों ही, उतने समय में; **आदित्यम्**—आदित्य लोक को, सौरी (सूर्य सम्बन्धी) दशा को; **गच्छति**—पहुंच जाता है; **एतद् वै खलु**—यह आदित्य लोक (सौरी-दशा) ही; **लोकद्वारम्**—ब्रह्मलोक का द्वार है (जो); **विदुषाम्**—ज्ञानियों को (तो); **प्रपदनम्**—अन्दर प्रवेश का साधन (पहुंचाने वाला) है; **निरोधः**—(यह द्वार) रोकने वाला है; **अविदुषाम्**—अज्ञानियों को (अज्ञानी ब्रह्मलोक को प्राप्त नहीं हो सकते) ॥५॥

तदेष श्लोकः। शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभि निःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥६॥

तद् एषः श्लोकः—तो इसकी पुष्टि में यह श्लोक (कथन) भी है; **शतम् च एका च**—एक सौ एक; **हृदयस्य**—हृदय की; **नाड्यः**—नाड़ियां हैं; **तासाम्**—उनमें की; **मूर्धानम्**—मस्तक को (की); **अभि**—ओर; **निःसृता**—निकली-जाती है; **एका**—एक; **तया**—उस (नाड़ी) से; **ऊर्ध्वम्**—ऊपर की

अष्टम प्रपाठक—(सातवां खंड)

(प्रजापति, इन्द्र तथा विरोचन की कथा, ७ से १५ खंड)

(इस प्रकरण को समझने के लिये माण्डूक्योपनिषद् की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं को समझना चाहिये।)

'प्रजापति' ने घोषणा की कि हृदयाकाश में जिस आत्मा का निवास है वह पापों से अलग है, जरा और मृत्यु से छूटा हुआ है, भूख और प्यास से परे है, सत्य-काम और सत्य-संकल्प है—उसी की खोज करनी चाहिये, उसी को जानना चाहिये। जो उस 'आत्मा' को ढूंढकर जान लेता है, वह सब लोकों को और सब कामनाओं को पा लेता है ॥१॥

ओर, आयन्—(मरते समय) आता हुआ, अमृतत्वम् एति—अमर हो जाता है, विष्वङ्—बिखरी हुई, भिन्न-भिन्न गति देनेवाली, अन्याः—अन्य (दूसरी नाड़ियां), उत्क्रमणे—प्राण निकलने पर, शरीर छोड़ने पर, भवन्ति—होती हैं, उत्क्रमणे भवन्ति—शरीर छोड़ने पर (अन्य नाड़ियों में निकलनेवाला आत्मा भिन्न-भिन्न योनियों को प्राप्त होता है) ॥६॥

य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः। स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥१॥

यः आत्मा—जो आत्मा, अपहतपाप्मा—निष्पाप, निष्कलुष, विजरः—अजर, विमृत्युः—अमर, विशोकः—शोकरहित, वि-जिघत्सः—भूख के कष्ट से मुक्त, अपिपासः—जल-पान की इच्छा से मुक्त, सत्यकामः—सच्ची (सफल) कामनावाला, पूर्णकाम, सत्यसंकल्पः—सच्चे (उचित) संकल्पवाला (है), सः अन्वेष्टव्यः—उसका अन्वेषण (खोज, ज्ञान) करना चाहिये, सः विजिज्ञासितव्यः—उसको जानना चाहिये, सः—वह (ज्ञानी), सर्वान् च लोकान् आप्नोति—सब लोकों को प्राप्त करता है, सर्वान् च कामान्—और सब कामनाओं को, यः—जो, तम् आत्मानम्—उस आत्मा को, अनुविद्य—खोज कर, विजानाति—जान लेता है, इति—यह (वचन), ह—पुराकाल में, प्रजापतिः—प्रजापति ने, उवाच—कहा था ॥१॥

प्रजापति की यह घोषणा देव तथा असुर दोनों के कानों में जा पड़ी। उन्होंने मन-ही-मन कहा, चलो, उस आत्मा का पता चलायें, जिसे पा जाने से सब लोकों और सब कामनाओं की प्राप्ति हो जाती है। देवों में से 'इन्द्र' और असुरों में से 'विरोचन' इसी गवेषणा में निकल पड़े। वे दोनों हाथ में समिधा लेकर, एक-दूसरे के बिना जाने, प्रजापति के पास आ पहुंचे ॥२॥

उन्होंने प्रजापति के आश्रम में आकर ३२ वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पूर्वक निवास किया। 'आत्मा' का नाममात्र सुनकर तो चले नहीं जाना था, उसका साक्षात्कार करना था। साक्षात्कार के लिये, अर्थात् जीवन में आत्म-तत्त्व को ढाल लेने के लिये ३२ साल का समय कोई

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे । ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामानिति । इन्द्रो हैव देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम् । तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः ॥२॥

तद् ह—उस (कथन) को; उभये—दोनों; देव+असुराः—देवता और असुरों ने; अनु—कर्ण-परम्परा से या बाद में; बुबुधिरे—जाना; ते ह—और उन्होंने; ऊचुः—कहा; हन्त—अरे; तम् आत्मानम्—उस आत्मा को; अनु+इच्छामः—अन्वेषण करें; यम् आत्मानम्—जिस आत्मा को; अन्विष्य—खोज करके, ढूंढ कर; सर्वान् च लोकान् आप्नोति सर्वान् च कामान्—सब लोकों और सब कामनाओं को (ज्ञानी) प्राप्त कर लेता है; इति—यह (कहा-मंत्रणा की); इन्द्रः—इन्द्र; ह एव—ही; देवानाम्—देवताओं में से; अभिप्रवव्राज—(प्रजापति की) ओर चल पड़ा; विरोचनः—विरोचन; असुराणाम्—असुरों में से; तौ ह—और वे दोनों; असंविदानौ—एक-दूसरे को न जानते-पहिचानते हुए; एव—ही; समित्पाणी—समिधाएं हाथ में लेकर; प्रजापति-सकाशम्—प्रजापति के पास; आजग्मतुः—आये ॥२॥

तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्तावयास्तमिति तौ होचतुर्य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्तावास्तमिति ॥३॥

तौ ह—और उन दोनों ने; द्वात्रिंशतम्—बत्तीस; वर्षाणि—वर्ष तक; ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य-व्रत (पूर्वक); ऊषतुः—निवास किया; तौ ह—उन दोनों

बहुत भी नहीं था। इसके अनन्तर प्रजापति ने उनसे पूछा, किस इच्छा से तुम आश्रम में आसन जमाये हो? उन्होंने कहा, भगवन्! आपकी घोषणा चारों तरफ गज रही थी कि 'आत्मा' पापों से अलग है, जरा और मृत्यु से छूटा हुआ है, भूख और प्यास से परे है, सत्य-काम और सत्य-सकल्प है—उसी को खोजना चाहिये, उसी को जानना चाहिये, जो उस 'आत्मा' को ढूढकर जान लेता है वह सब लोकों को और सब कामनाओं को पा लेता है—बस, हम उसी 'आत्मा' की खोज में आपके आश्रम में आकर आसन जमाये बैठे हैं ॥३॥

प्रजापति ने उन दोनों से कहा, यह जो आख में पुरुष दीखता है, यह 'आत्मा' है, फिर कहा, यही 'अमृत' है, 'अभय' है, यही 'ब्रह्म' है। उन दोनों ने पूछा, भगवन्! यह जो जल में दीखता है, जो दर्पण में दीखता है—यह कौन-सा आत्मा है? प्रजापति ने उत्तर दिया, इनमें भी वही आत्मा दीख पडता है, जो आख में दिखाई देता है ॥४॥

को, प्रजापति उवाच—प्रजापति ने कहा, किम्—क्या, इच्छन्तौ—चाहते हुए, किस कामना से, अवास्तम्—रह रहे हो, इति—यह (पूछा), तौ ह—उन दोनों ने, ऊचतु—कहा, य आत्मा विजानाति—अर्थ पूर्ववत्, इति—इस, भगवत—आपके, वच—वचन को, वेदयन्ते—(हमें अन्य) बताते हैं, तम् इच्छन्तौ—उस (आत्मा) के (ज्ञान की) इच्छा से, अवास्तम्—रह रहे हैं, इति—यह (उत्तर दिया) ॥३॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचै-तदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेत्यथ योऽय भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चाय-मादर्शे कतम एष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वेतेषु परिख्यायत इति होवाच ॥४॥

तौ ह—उन दोनों को, प्रजापति उवाच—प्रजापति ने कहा, य एष—जो यह, अक्षिणि—आख मे, पुरुष—पुरुष (का प्रतिबिम्ब), दृश्यते—दिखलाई पडता है, एष आत्मा—यह ही आत्मा है, इति ह उवाच—और यह भी कहा, एतद्—यह, अमृतम् अभयम्—अमर और भय रहित है, एतद् ब्रह्म—यह ही ब्रह्म है, इति—यह (बताया), अथ—इसके बाद (दोनो ने पूछा), य अयम्—जो यह, भगव—हे भगवन्, अप्सु—जल मे, परिख्यायते—भली प्रकार जाना जाता—दीखता है, य च अयम्—और जो यह, आदर्शे—दर्पण मे, कतम—कौन-सा, एष—यह (आत्मा) है, इति—यह (पूछा),

अष्टम प्रपाठक—(आठवां खंड)

फिर प्रजापति ने उन दोनों से कहा, पानी के बर्तन में तुम दोनों अपने को देखो, और फिर 'आत्मा' के विषय में जो-कुछ समझ न पड़े, वह मुझ से पूछो। उन्होंने पानी के बर्तन में देखा। प्रजापति ने पूछा, क्या दीखता है? उन्होंने कहा, भगवन्! हमें अपना पूर्ण रूप दीख रहा है, लोम से नख तक, अपना प्रतिरूप, अपनी छाया ॥१॥

प्रजापति ने उन दोनों से फिर कहा, सुन्दर अलंकार और वस्त्र धारण करके, साफ़-सुथरे होकर, पानी के बर्तन में देखो। उन दोनों ने सुन्दर अलंकार और सुन्दर वस्त्र धारण किये, अपने को साफ़-

---

एषः उ एव—यह (आत्मा) ही; **एषु**—इन में; **सर्वेषु एतेषु**—इन सब में; **परिख्यायते**—दीख (जान) पड़ता है; **इति ह**—यह; **उवाच**—(प्रजापति ने) कहा ॥४॥

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीयस्तन्मे प्रब्रूतमिति तौ होदशरावेऽवेक्षांचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आ लोमभ्य आ नखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥१॥

उद-शरावे—पानी के बर्तन में; **आत्मानम्**—अपने आप को; **अवेक्ष्य**—भली प्रकार देखकर; **यद्**—जो; **आत्मनः**—आत्मा के (विषय में); **न**—नहीं; **विजानीयः**—जान सको; **तत्**—वह; **मे**—मुझे; **प्रब्रूतम्**—कहो, बताओ; **इति**—यह (आज्ञा दी); **तौ ह**—उन दोनों ने; **उद-शरावे**—जल-पात्र में; **अवेक्षांचक्राते**—(अपने को) देखा; **तौ ह**—उन दोनों को; **प्रजापतिः उवाच**—प्रजापति ने कहा; **किम् पश्यथः**—क्या-कुछ देखते हो; **इति**—यह (पूछा); **तौ ह ऊचतुः**—उन दोनों ने कहा; **सर्वम् एव इदम्**—सब ही यह (पूर्णतया); **आवाम्**—हम दोनों; **भगवः**—हे भगवन्!; **आत्मानम्**—अपने आप (स्वरूप) को; **पश्यावः**—देखते हैं; **आ लोमभ्यः**—रोएं-रोएं तक; **आ नखेभ्यः**—नख तक; **प्रतिरूपम्**—हूबहू अपना प्रतिबिम्ब; **इति**—यह (कहा) ॥१॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति तौ ह साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षांचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ॥२॥

तौ ह प्रजापतिः उवाच—उन दोनों को प्रजापति ने कहा; **साधु + अलंकृतौ**—भली प्रकार आभूषित; **सुवसनौ**—सुन्दर वस्त्र वाले; **परिष्कृतौ**—साफ़-सुथरे; **भूत्वा**—होकर; **उदशरावे**—जल-पात्र में; **अवेक्षेयाम्**—(अपने आपको) देखो; **इति**—यह (आज्ञा दी); **तौ ह**. . . **इति**—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

सुथरा किया, और पानी के बर्तन में देखने लगे। प्रजापति ने उनसे पूछा, क्या दीखता है ? ॥२॥

उन्होंने कहा, भगवन् ! जैसे हम सुन्दर अलंकार, सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए हैं, साफ-सुथरे हैं, इसी प्रकार हम दोनों के प्रति-



प्रजापति इन्द्र तथा विरोचन को आत्मा का उपदेश दे रहे हैं

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृताविति एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ॥३॥

तौ ह ऊचतुः—उन दोनों ने कहा; यथा एव—जैसे ही, इदम्—यह,

बिम्ब भी सुन्दर अलंकार वाले, सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए और साफ़-सुथरे हैं। प्रजापति ने कहा, 'जागृतावस्था' में जिसे तुम देखते हो, यह 'आत्मा' है, यह 'अमृत' है, 'अभय' है, यह 'ब्रह्म' है। वे दोनों यह सुनकर शान्त-हृदय होकर चल दिये ॥३॥

उन्हें इस प्रकार जाते देखकर प्रजापति ने अपने हृदय में कहा, ये दोनों 'आत्मा' को बिना उपलब्ध किये, बिना जाने जा रहे हैं। इन दोनों में से जो कोई 'देह ही आत्मा है'—इस उपनिषद् के अनुयायी बनेंगे, वे पराजित हो जायेंगे। विरोचन तो शान्त-हृदय हो गया, और असुरों के पास पहुंचा। वह तो 'विरोचन' था, शरीर को रोचमान रखने में, सजाने-बजाने में ही उसका चित्त था। उसने असुरों को 'देह ही आत्मा है'—इस उपनिषद् का उपदेश दिया। उसने कहा, देह ही आत्मा है, इसी देह-रूप आत्मा की पूजा करनी चाहिये, सेवा करनी चाहिये—इसी की पूजा से, इसी की सेवा से मनुष्य दोनों लोकों को प्राप्त कर लेता है, इस लोक को, और उस लोक को ॥४॥

आवाम्—हम दोनों; भगवः—हे भगवन्; साधु+अलंकृतौ—अच्छे आभूषण वाले; सुवसनौ—सुन्दर वस्त्र वाले; परिष्कृतौ च—और साफ़-सुथरे हैं; एवम् एव—इस ही प्रकार; [इमौ—ये दोनों (प्रतिबिम्ब); भगवः...ब्रह्म इति—अर्थ पूर्ववत्; तौ ह—और वे दोनों; शान्त-हृदयौ—शान्त (शंका-शून्य) हृदय (अन्तःकरण) वाले; प्रवव्रजतुः—चल दिये ॥३॥

तौं हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचानुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वाऽसुरा वा ते पराभविष्यन्तीति स ह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति ॥४॥

तौ ह—उन दोनों को; अनु+ईक्ष्य—बाद में देखकर (सोचकर); प्रजापतिः उवाच—प्रजापति ने (मन में) कहा; अनुपलभ्य—न प्राप्त कर; आत्मानम्—आत्मा को; अननुविद्य—न जान (खोज) कर; व्रजतः—जाते हैं; यतरे—(देव-असुरों में) से जौन-से; एतद्+उपनिषदः—इस उपनिषद् (आत्म-ज्ञान) वाले; भविष्यन्ति—होंगे; (आत्मा के इस देह-रूप को आत्मा करके जानेंगे); देवाः वा—चाहे देव; असुराः वा—या असुर; ते—वे; परा-

इसलिये आज दिन तक जो 'दान' नहीं देता, किसी वस्तु में 'श्रद्धा' नहीं रखता, 'यज्ञ' नहीं करता, उसे कहते हैं—यह 'असुर' है। देह को आत्मा कहना 'आसुरोपनिषद्' है। असुर लोग शरीर को गन्धमाला से सजाते हैं, और समझते हैं कि इस लोक को जीत लिया, और मरने पर शरीर का वस्त्र-अलंकार आदि से संस्कार करते हैं, समझते हैं कि इस प्रकार उस लोक को जीत लिया ॥५॥

भविष्यन्ति—पराभूत होंगे, पीछे रह जायेंगे, हारेंगे, इति—यह (सोचा), स ह—वह, शान्त हृदय —शान्त हृदय वाला, एव—ही, विरोचन —विरोचन (विविध भोगों में रुचिवाला), असुरान्—असुरों के पास, जगाम—गया, पहुंचा, तेभ्यः ह—और उनको, एताम्—इस, उपनिषदम्—आत्म-ज्ञान को, प्रोवाच—कहा, बताया, आत्मा—देह, शरीर, एव—ही, इह—इस जगत् में, महय्य—पूजनीय है, महत्त्व देना चाहिये, आत्मा—शरीर (की), परिचर्य—सेवा करनी चाहिये, देख-भाल रखनी चाहिये, आत्मानम् एव—शरीर को ही, इह—इस जन्म में, इस जगत् में, महयन्—महत्त्व देता हुआ, आत्मानम् परिचरन्—आत्मा की देख-भाल (सेवा) करता हुआ, उभौ लोकौ—दोनों लोकों को, अवाप्नोति—प्राप्त कर लेता है, इमम् च—इस लोक को, अमुम् च—उस (परलोक) को, इति—यह (असुरों को बताया) ॥४॥

> तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बतेत्य-
> सुराणां ह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेना-
> लङ्कारेणेति सँस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥५॥

तस्माद्—उस कारण से, अपि—भी, अद्य—आज, इह—यहां, अद-दानम्—दान न करनेवाले, अश्रद्दधानम्—श्रद्धा न रखनेवाले, अयजमानम्—यज्ञ न करने वाले (मनुष्य) को, आहु—(लोग) कहते हैं (कि), आसुर—असुरों की प्रकृति (स्वभाव-बर्ताव) वाला, बत—निश्चय से (यह है), इति—यह (कहते हैं), असुराणाम्—(स्वार्थपरायण) असुरों का, हि—ही, एषा—यह, उपनिषद्—विचार-शैली, देहात्म-वाद है, प्रेतस्य—मृत (व्यक्ति) के, शरीरम्—शरीर को, भिक्षया—अन्न (खाद्य-वस्तु) से, वसनेन—वस्त्र से, अलंकारेण—आभूषण से, इति—इन वस्तुओं से, संस्कुर्वन्ति—संस्कार करते (सजाते) हैं, एतेन हि—इस (संस्कार) से ही, अमुम् लोकम्—उस पर-लोक को, जेष्यन्त—जीतनेवाले, प्राप्त करनेवाले, मन्यन्ते—(अपने आप को) समझते हैं ॥५॥

अष्टम प्रपाठक—(नौवां खंड)

इन्द्र देवों के पास नहीं पहुंचा। उसे यह भय उत्पन्न हो गया कि प्रजापति के उपदेश से वह आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझा। वह सोचने लगा, जैसे जल में दीखने वाली छाया शरीर के अलंकृत होने पर अलंकृत हो जाती है, सुवस्त्र से सुवस्त्र हो जाती है, परिष्कृत होने पर परिष्कृत हो जाती है, इसी प्रकार शरीर के अन्धे होने पर, काणे होने पर, लूले-लंगड़े होने पर यह छाया भी तो अन्धी, काणी और लूली-लंगड़ी दीखने लगती है, शरीर का नाश हो जाय, तो यह भी नष्ट हो जाती है। सो यह जल में छाया के रूप में दीखने वाला प्रतिबिम्ब आत्मा कैसे हो सकता है? मुझे इस सिद्धान्त में कोई भलाई नहीं दीख पड़ती ॥१॥

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेव नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥१॥

अथ ह—और; इन्द्रः—इन्द्र (पूर्णकाम, सर्वैश्वर्य सम्पन्न) ने तो; **अप्राप्य**—न पहुंच कर; **एव**—ही; **देवान्**—देवताओं को (के पास); **एतद्**—इस; **भयम्**—भय को; **ददर्श**—देखा, विचारा; **यथा+एव**—जैसे ही; **खलु**—तो; **अयम्**—यह (देह-रूप आत्मा); **अस्मिन् शरीरे**—इस शरीर में (के); **साधु+अलंकृते**—भली प्रकार सजाने पर; **साध्वलंकृतः**—सजावट वाला; **भवति**—होता है; **सुवसने**—अच्छे कपड़े पहिनने पर; **सुवसनः**—सुन्दर वस्त्र वाला; **परिष्कृते**—साफ-सुथरा होने पर; **परिष्कृतः**—साफ-सुथरा (होता है); **एवम्**—इस प्रकार; **एव**—ही; **अयम्**—यह (देहाभिमानी आत्मा); **अस्मिन्**—इस (शरीर के); **अन्धे**—अन्धा होने पर; **अन्धः**—अन्धा; **भवति**—होता है; **स्रामे**—काणा होने पर; **स्रामः**—काणा; **परिवृक्णे**—कटा-फटा (लूला-लंगड़ा) होने पर; **परिवृक्णः**—लूला-लंगड़ा (हो जाता है); (और) **अस्य एव शरीरस्य**—इस ही शरीर के; **नाशम् अनु**—नाश के पीछे; **एषः**—यह (प्रतिबिम्ब रूप आत्मा); **नश्यति**—नष्ट हो जाता है; **न+अहम्**—नहीं मैं; **अत्र**—इन (विचार) में; **भोग्यम्**—औचित्य, भलाई, फल; **पश्यामि**—देखता-समझता हूं; **इति**—यह (विचार किया) ॥१॥

वह हाथ में समिधा लेकर फिर लौट आया। उसे प्रजापति ने कहा, हे इन्द्र! तुम तो विरोचन के साथ शान्त-हृदय होकर चले गये थे, अब फिर किस चाहना से वापस लौट आये हो? उसने कहा, भगवन्! जल में दीखने वाली यह छाया जैसे शरीर के अलंकृत होने पर अलंकृत, सुवस्त्र होने पर सुवस्त्रित और परिष्कृत होने पर परिष्कृत हो जाती है, वैसे शरीर के अन्धे होने पर अन्धी, काणे होने पर काणी, लूले-लंगड़े होने पर लूली-लंगड़ी और शरीर के नाश होने पर नष्ट भी तो हो जाती है। मुझे शरीर को ही आत्मा मानने का यह सिद्धान्त कुछ ठीक नहीं जंचा ॥२॥

प्रजापति ने उत्तर दिया, हे इन्द्र! तूने ठीक समझा, मैं तुझे आत्मा का स्वरूप समझाने के लिये और उपदेश दूंगा। तुम ३२ वर्ष और मेरे पास ब्रह्मचर्य-पूर्वक वास करो। उसने प्रजापति के निकट और ३२ वर्ष वास किया, तब प्रजापति ने उसे कहा ॥३॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तँ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्धं विरोचनेन किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥२॥

सः—वह इन्द्र; समित्पाणिः—समिधा हाथ में लेकर, पुनः—फिर, एयाय—(प्रजापति के पास) आया, तम् ह प्रजापतिः उवाच—उसको प्रजापति ने कहा (पूछा), मघवन्—हे इन्द्र!; यत्—जो, शान्त-हृदयः—शान्त (शंका-शून्य) हृदयवाला, प्राव्राजीः—चला गया था, सार्धम्—साथ, विरोचनेन—विरोचन के, किम् इच्छन्—क्या चाहता हुआ, पुनः—फिर; आगमः—तू आया है, इति—यह (पूछा), सः ह—उस (इन्द्र) ने; उवाच—कहा (उत्तर दिया), यथा एव पश्यामि इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिँशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिँशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥३॥

एवम् एव—इस प्रकार का ही, एषः—यह (छाया-रूप आत्मा) है; मघवन्—हे इन्द्र!; इति ह उवाच—और यह कहा; एतम्—इस (आत्मा) को; तु—तो; एव—ही, ते—तेरे प्रति, तुझे; भूयः—फिर, और अधिक;

अष्टम प्रपाठक—(दसवां खंड)

जो यह 'स्वप्नावस्था' में महिमाशाली होकर विचरता है, यही 'आत्मा' है, यह 'अमृत' है, 'अभय' है, यही 'ब्रह्म' है। यह सुनकर इन्द्र शान्त-हृदय होकर चल दिया, परन्तु देवों के पास पहुंचने से पहले ही उसे यह भय दीखने लगा कि यद्यपि यह ठीक है कि शरीर अन्धा हो जाय, तो स्वप्नावस्था में विचरने वाला अन्धा नहीं होता, शरीर काणा हो जाय, तो वह काणा नहीं होता, शरीर के दोष से वह दूषित नहीं होता ।।१।।

न शरीर के वध से वह मरता है, न इसके काणा होने से वह

अनुव्याख्यास्यामि—व्याख्या (स्पष्ट) करूंगा; वस—रह; अपराणि—दूसरे; द्वात्रिंशतम्—बत्तीस; वर्षाणि—वर्ष तक; इति—यह (कहा); सः ह—वह इन्द्र; अपराणि द्वात्रिंशतम् वर्षाणि—दूसरे (दोबारा) बत्तीस वर्ष तक; उवास निवास किया, वहां रहा; तस्मै ह उवाच—उस (इन्द्र) को (प्रजापति ने) कहा (उपदेश दिया) ।।३।।

य एव स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श तद्यद्यपीद ँ शरीर-मन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ।।१।।

यः एवः—जो यह; स्वप्ने—स्वप्न में (स्वप्नमय निद्रा में); महीयमानः—महिमा अनुभव करनेवाला; चरति—विचरता है (इधर-उधर भटकता है); एषः—यह (स्वप्नचारी) ही; आत्मा—आत्मा है; इति ह उवाच—यह कहा; एतद् अमृतम् अभयम्—यह अमर और अभय है; एतद् ब्रह्म—यह ही ब्रह्म है; इति—यह (कहा); सः ह—वह (इन्द्र); शान्त-हृदयः—शान्त (शंकाशून्य) हृदयवाला; प्रवव्राज—चल पड़ा; सः ह—उसने; अप्राप्य एव देवान्—देवताओं के पास न पहुंच कर ही; एतद् भयम् ददर्श—यह भय देखा (विचारा); तद्—तो, वह; यद्यपि—यद्यपि; इदम् शरीरम्—यह शरीर; अन्धम्—अन्धा; भवति—होता है; (परन्तु) अनन्धः—न अन्धा (समाखा); सः—वह (स्वप्न-चारी आत्मा); भवति—होता है; यदि—अगर; स्रामम्—(शरीर) काणा; अस्रामः—(यह आत्मा) न काणा; न एव—नहीं ही; एषः—यह (स्वप्नदर्शी आत्मा); अस्य—इस (शरीर) के; दोषेण—दोष (कमी) से; दुष्यति—कमी वाला होता है ।।१।।

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छा-दयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ।।२।।

काणा होता है, परन्तु स्वप्न में ऐसा तो प्रतीत होता है कि कोई इसे मार रहा है, इसका पीछा कर रहा है, स्वप्न में इसे अप्रिय अनुभव होते हैं, कभी-कभी रोने भी लगता है। मुझे स्वप्न के द्रष्टा को आत्मा मानने के सिद्धान्त में भी कोई भलाई नहीं दीखती ॥२॥

वह हाथ में समिधा लेकर फिर लौट आया। उसे प्रजापति ने कहा, हे इन्द्र ! तुम तो शान्त-हृदय होकर चले गये थे, अब फिर किस चाहना से वापस लौट आये हो ? उसने कहा, भगवन् ! यद्यपि यह ठीक है कि शरीर अन्धा हो जाय तो वह अन्धा नहीं होता, काणा हो जाय तो वह काणा नहीं होता, शरीर के दोष से वह दूषित नहीं होता ॥३॥

न शरीर के वध से वह मरता है, न काणा होने से काणा होता है, परन्तु फिर भी ऐसा तो अनुभव होता है जैसे कोई इसे मार रहा है, इसका पीछा कर रहा है, स्वप्न में इसे अप्रिय अनुभव होता है, कभी-कभी यह रोने भी लगता है। मुझे यह सिद्धान्त कुछ ठीक नहीं जंचा। प्रजापति ने उत्तर दिया, हे इन्द्र ! तूने ठीक समझा, मैं तुझे

न—नहीं, वधेन—घात से, अस्य—इस (शरीर) के, हन्यते—मरता है, न अस्य—न इसके, स्राम्येण—काणेपन से, स्रामः—काणा, घ्नन्ति—मारते है, तु—तो, एव—(ही) मानो, एनम्—इस (स्वप्नात्मा) को, विच्छादयन्ति इव—मानो इसका पीछा कर भगा रहे हैं, अप्रियवेत्ता—अप्रिय (अनिष्ट) का जानने-समझनेवाला, इव—के समान, भवति—होता है; अपि रोदिति इव—कभी-कभी तो रोता है, न अहम् अत्र भोग्यम् पश्यामि—मैं इसमे कोई भलाई (फल) नही समझ पा रहा हू, इति—यह (सोचा) ॥२॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तँ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच तद्यद्यपीदं भगवः शरीर-मन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥३॥

सः समित्पाणिः . . दुष्यति—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवा-प्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवमेवैष मघव-न्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिँ-शतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिँशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥४॥

न वधेन . . ह उवाच—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

आत्मा का स्वरूप समझाने के लिये और उपदेश दूंगा। तुम ३२ वर्ष और मेरे पास ब्रह्मचर्य-पूर्वक वास करो। उसने प्रजापति के निकट और ३२ वर्ष वास किया, तब प्रजापति ने उसे कहा ॥४॥

अष्टम प्रपाठक—(ग्यारहवां खंड)

सोने के बाद जहां पहुंच कर यह 'समस्त' हो जाता है, बिखरा न रहकर सिमिट-सा जाता है, 'प्रसन्न' हो जाता है—स्वप्न को भी नहीं जानता—ऐसी 'सुषुप्तावस्था' में जिसके स्वरूप की कुछ-कुछ झांकी दीखती है, वही 'आत्मा' है, वह 'अमृत' है, 'अभय' है, वही 'ब्रह्म' है। यह सुनकर इन्द्र शान्त-हृदय होकर चल दिया, परन्तु देवों के पास पहुंचने से पहले ही उसे यह भय दीखने लगा कि सुषुप्तावस्था में तो यह अपने को भी नहीं जानता। 'मैं यह हूं'—ऐसा अनुभव उसे नहीं होता, और न ही इन भूतों के विषय में उसे कुछ भी ज्ञान रहता है, मानो उस अवस्था में वह नाश में ही लीन हो जाता है। सुषुप्तावस्था में पहुंच जाने वाली सत्ता को आत्मा मानने के सिद्धान्त में मुझे कोई भलाई नहीं दीखती ॥१॥

तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥१॥

तद्—तो; **यत्र**—जिस (अवस्था) में; **एतत्+सुप्तः**—यह सोया हुआ (निद्रामग्न); **समस्तः**—समाहित, अन्तःकरण की वृत्तियों में अलिप्त; **संप्रसन्नः**—निर्मल (राग-द्वेष आदि मलों से मुक्त), खूब खुश; **स्वप्नम्**—किसी भी स्वप्न को; **न विजानाति**—नहीं जानता (अनुभव करता) है; **एषः**—यह ही; **आत्मा**—आत्मा है; **इति ह उवाच**—और यह भी (प्रजापति ने) बताया; **एतद् अमृतम्**....**भयम् ददर्श**—अर्थ पूर्ववत्; **न+अह**—न ही तो; **खलु**—निश्चय से; **अयम्**—यह (गहरी निद्रा में सोया हुआ, सुषुप्त आत्मा); **एवम्**—इस प्रकार, इस रूप में; **संप्रति**—अब, अच्छी तरह से (सम्यग्); **आत्मानम्**—अपने आपको; **जानाति**—जानता है; **अयम्**—यह; **अहम्**—मैं (स्वयं भी); **अस्मि**—हूं, सत्तावान् हूं; **इति**—ऐसे; **नो**—नहीं; **एव**—ही; **इमानि भूतानि**—इन भूतों (जड़-चेतन) को; **विनाशम् एव**—नाश को ही; **अपि+इतः**—प्राप्त

वह हाथ में समिधा लेकर फिर लौट आया। उसे प्रजापति ने कहा, हे इन्द्र! तुम तो शान्त-हृदय होकर चले गये थे, अब फिर किस चाहना से वापस लौट आये हो? उसने कहा, भगवन्! सुषुप्तावस्था में पहुंच कर इसे यह भी तो ज्ञान नहीं रहता कि मैं यह हूं, न उस समय यह इन भूतों को ही जान पाता है, मानो नष्ट हुआ-सा होता है। मुझे यह सिद्धान्त कुछ ठीक नहीं जंचा ॥२॥

प्रजापति ने उत्तर दिया, हे इन्द्र! तूने ठीक समझा, मैं तुझे आत्मा का स्वरूप समझाने के लिये और उपदेश दूंगा। सुषुप्तावस्था में आत्मा की जो झलक दीख पड़ती है, वही आत्मा है, उससे अतिरिक्त वह और कुछ नहीं है। तुम और ५ वर्ष आश्रम में वास करो। उसने प्रजापति के निकट और ५ वर्ष वास किया। इस प्रकार इन्द्र ने प्रजापति के निकट १०१ वर्ष तक तपस्या की। इसीलिये यह कथानक प्रसिद्ध है कि इन्द्र ने १०१ वर्ष तक प्रजापति के निकट ब्रह्मचर्य-वास किया था। पांच वर्ष बीत जाने पर प्रजापति ने इन्द्र को समझाना शुरू किया—॥३॥

(नष्टप्राय), भवति—हो जाता है, न अहम् अत्र भोग्यम् पश्यामि—नहीं मैं इसमें कुछ सार्थकता (यथार्थता) समझ पाता हूं, इति—यह (भय देखा) ॥१॥

स समित्पाणि पुनरेयाय तं ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्त-हृदय प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच नाह खल्वयं भगव एवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥२॥

स समित्पाणि पश्यामि इति—अर्थ पूर्ववत ॥२॥

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्माद्वसापराणि पञ्च वर्षाणीति स हापराणि पञ्च वर्षाण्युवास तान्येकशतं सम्पेदुरेतत्तद्यदाहुरेकशतं ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास तस्मै होवाच ॥३॥

एवम् एव—इस प्रकार ही, एष—यह (सुषुप्ति-गत आत्मा) है, मघवन् हे इन्द्र, इति ह उवाच—यह कहा, एतम्—इस (जिज्ञास्य आत्मा) का, तु एव—तो ही, ते—तुझे, भूय—फिर, और अधिक, अनुव्याख्यास्यामि—उपदेश करूंगा, नो—नहीं, एव—ही, अन्यत्र—भिन्न, अतिरिक्त, एतस्माद्—इस (सुषुप्त) आत्मा से, वस—रह, निवास कर, अपराणि—और, पञ्च—पांच,

अष्टम प्रपाठक—(बारहवां खंड)

हे इन्द्र ! यह शरीर तो मरण-धर्मा है, मृत्यु से ग्रसा हुआ है। यह मरण-धर्मा शरीर उस अमृत-रूप अशरीर आत्मा का अधिष्ठान है, उसके रहने का स्थान है। आत्मा स्वभाव से अशरीर है, परन्तु जब तक इस शरीर के साथ अपने को एक समझ कर रहता है, तब तक उसे भी सुख-दुःख लगा ही रहता है क्योंकि सुख-दुःख तो शरीर का धर्म ही है। जब तक शरीर के साथ यह अपनी एकता बनाये रक्खेगा सुख-दुःख से नहीं छूट सकेगा, अपने अशरीर-रूप में आने पर इसे सुख-दुःख छू नहीं सकेंगे ॥१॥

वर्षाणि—वर्षों तक; इति—यह (कहा); सः ह—वह (इन्द्र); अपराणि—दूसरे, और; पञ्च वर्षाणि उवास—पांच वर्षों तक वहां रहा; तानि—वे (वर्ष); एकशतम्—एक-सौ-एक; संपेदुः—(मिल कर) हो गये; एतद् तद्—यह ही वह (उक्ति) है; यद् आहुः—जो कहते हैं (कि); एकशतम् ह वै वर्षाणि—एक-सौ-एक वर्षों तक; मघवान्—इन्द्र; प्रजापतौ—प्रजापति के पास में; ब्रह्मचर्यम् उवास—ब्रह्मचर्यपूर्वक रहा था; तस्मै—उस (इन्द्र) को; ह उवाच—(प्रजापति ने) उपदेश दिया ॥३॥

मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥१॥

मघवन्—हे इन्द्र !; मर्त्यम्—मरण-धर्मा; वै—ही; इदम्—यह; शरीरम्—शरीर है; आत्तम्—गृहीत, ग्रस्त; मृत्युना—मृत्यु से; तद्—वह (शरीर); अस्य—इस; अमृतस्य—अमर; अशरीरस्य—शरीर से रहित (भिन्न); आत्मनः—आत्मा का; अधिष्ठानम्—रहने का स्थान (है); आत्तः—गृहीत, ग्रस्त; वै—ही; सशरीरः—(अपने अधिष्ठान) शरीर के साथ (यह आत्मा भी); प्रिय+अप्रियाभ्याम्—प्रिय (सुख) और अप्रिय (दुःख) से; न वै—नहीं तो; सशरीरस्य—शरीर से युक्त (शरीर के रहते); सतः—विद्यमान, होते हुए; प्रिय+अप्रिययोः—प्रिय (सुख) और (अप्रिय) दुःख की; अपहतिः—निवृत्ति, नाश; अस्ति—संभव है; अशरीरम्—शरीर (के बन्धन) से मुक्त; वा व—तो; सन्तम्—होते हुए (होने पर) आत्मा को; न—नहीं, प्रिय-अप्रिये—सुख-दुःख; स्पृशतः—छूते हैं (व्यापते हैं) ॥१॥

वायु, अभ्र, विद्युत्, गर्जना—ये भी तो अशरीर ही हैं, कहां है इनका शरीर ? जिस प्रकार ये 'आकाश' में रहते हैं, पर शरीर न होने के कारण दीखते नहीं, हां, अपने दृश्य-रूप में तब प्रकट होते हैं जब परम-ज्योति 'सूर्य' से इनका सम्पर्क होता है, सूर्य की गर्मी पाकर वायु अपने असली रूप को धारण कर बहने लगता है, सूर्य की गर्मी से ही अभ्र प्रकट होते हैं, विद्युत् चमकती है, गर्जना प्रकट होती है ॥२॥

इसी प्रकार आत्मा भी अशरीर है, वह 'शरीर' में रहता है, परन्तु जब उसका भी परम-ज्योति 'ब्रह्म' के साथ सम्पर्क हो जाता है, तब वह भी अपने असली रूप को धारण कर लेता है। जैसे वायु आकाश में रहता हुआ भी दीखता नहीं था, परन्तु सूर्य के सम्पर्क से जब वायु बहने लगता है तब मानो दीखने लगता है, ऐसे ही शरीर में रहता हुआ भी आत्मा दीखता नहीं परन्तु जब परम-ज्योति ब्रह्म का सम्पर्क हो जाता है, तब वह भी मानो दीखने लगता है, वह अपने शुद्ध-रूप में प्रकट हो जाता है। इस अवस्था में जो पहुंच जाता है,

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मा-दाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभि निष्पद्यन्ते ॥२॥

अशरीरः—शरीर से मुक्त (बिना शरीर का), वायु—वायु है, अभ्रम्—बादल, विद्युत्—बिजली, स्तनयित्नुः—बादल की गरज, अशरीराणि—बिना शरीर के, एतानि—ये (वायु आदि) हैं, तद् यथा—तो जैसे, एतानि—ये सब, अमुष्मात्—इस, आकाशात्—आकाश से, समुत्थाय—उठकर, परम् ज्योतिः—श्रेष्ठ ज्योति (सूर्य) को, उपसपद्य—पास जाकर, सम्पर्क में आकर, स्वेन रूपेण—अपने रूप (सत्ता) से, अभिनिष्पद्यन्ते—सम्पन्न (प्रगट) होते हैं ॥२॥

एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमपुरुष स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ॥३॥

एवम् एव—इस प्रकार ही, एषः—यह (आत्मा), सप्रसादः—निर्मल (सुख-दुःख, राग-द्वेष से मुक्त), अति प्रसन्न, अस्मात्—इस, शरीरात्—शरीर से, समुत्थाय—उठकर (इसे छोड़ कर), परम् ज्योति—ज्योति स्वरूप (ब्रह्म) को, उपसंपद्य—प्राप्त कर, पास पहुंच कर, जान कर, स्वेन रूपेण—अपने (असली)

उसी को 'उत्तम-पुरुष' कहते हैं। जब मनुष्य इस अवस्था में पहुंच जाता है—शरीर में रहता हुआ भी अपने को अशरीरी अनुभव करने लगता है—तब वह खाता हुआ, खेलता हुआ, स्त्रियों के साथ आनन्द मनाता हुआ, सैर करता हुआ, इस प्रकार विचरता है जैसे यह शरीर, ये बन्धु-बान्धव, ये आस-पास के लोग उसे कुछ याद ही नहीं। वह संसार के जो काम करता है, ऐसे करता है जैसे शरीर के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं, परम-ज्योति के सम्पर्क में आने के कारण वह अपने को शरीर से अलग देख लेता है। वह ऐसा स्पष्ट देख लेता है कि जैसे रथ के साथ घोड़ा जुता होता है वैसे ही उसका प्राण, उसका आत्मा इस शरीर-रूपी रथ के साथ जुता हुआ है, वह स्वयं शरीर नहीं है, न शरीर तथा आत्मा का कोई मूल-गत सम्बन्ध है ॥३॥

आकाश में जहां भी आंख जड़ी-हुई है, वहीं 'चाक्षुष-पुरुष', वह आत्मा बैठा है, और इस विशाल जगत् को मानो झरोखों में बैठा

रूप से; **अभिनिष्पद्यते**—युक्त हो जाता है (अपने को पहचान लेता है); **सः**—वह (आत्मज्ञ); **उत्तमपुरुषः**—उत्कृष्ट (प्रकृति एवं अविद्या से ऊपर उठा) पुरुष (आत्मा) है; **सः**—वह; **तत्र**—वहां (उस अवस्था में); **पर्येति**—पहुंच जाता है; **जक्षत्**—खाता हुआ; **क्रीडन्**—क्रीड़ा करता हुआ; **रममाणः**—आनन्द लेता हुआ (रति में लीन हुआ); **स्त्रीभिः वा**—या तो स्त्रियों के साथ; **यानैः वा**—या सवारियों द्वारा; **ज्ञातिभिः वा**—या बन्धु-बान्धवों से; **न**—नहीं; **उपजनम्**—समीपवर्ती वस्तु या उपकरण; **स्मरन्**—याद करता हुआ; **इदम्**—इस; **शरीरम्**—शरीर को; **सः**—वह; **यथा**—जैसे; **प्रयोग्यः**—जोड़ने योग्य, प्रयोग करने लायक (घोड़ा आदि) साधन; **आचरणे**—सवारी (रथ आदि) में; **युक्तः**—जुड़ा हुआ; **एवम् एव**—इस ही प्रकार; **अस्मिन् शरीरे**—इस शरीर में; **प्राणः**—श्वास-प्रश्वास, इन्द्रियां या स्वयं आत्मा; **युक्तः**—(इस शरीर साधने से) युक्त है (स्वयं शरीर नहीं, अपितु उससे भिन्न है) ॥३॥

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्मा-ऽभिव्याहाराय वागथ यो वेदेदं शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ॥४॥

अथ—और; **यत्र**—जहां; **आकाशम्**—आकाश में; **अनुविषण्णम्**—अनुषक्त, संलग्न, संबद्ध; **चक्षुः**—आंख; **सः**—वह; **चाक्षुषः**—आंख से सम्बद्ध,

झांक रहा है। आंख क्या है? यह कोई स्वतन्त्र-वस्तु नहीं है, उसी के देखने का साधन है—जो देख रहा है, वही 'आत्मा' है। नासिका गन्ध ग्रहण करने के लिये है, यह साधन है, जो गन्ध ग्रहण करता है, वही 'आत्मा' है। वाणी व्यवहार करने के लिये है, यह साधन है, जो व्यवहार करता है, वही 'आत्मा' है। श्रोत्र सुनने के लिये है, यह साधन है, जो सुनता है, वही 'आत्मा' है ॥४॥

मन आत्मा का दैव-चक्षु है, दिव्य-नेत्र है, इससे यह आगे-पीछे, भूत-भविष्यत् सब देखता है, इसी दिव्य-चक्षु द्वारा मन में ही, कल्पना में ही मनुष्य रमण करता है, परन्तु यह भी आत्मा का साधन है, जो मन के द्वारा मनन करता है, वही 'आत्मा' है ॥५॥

(इन्द्र ने जो यह समझा था कि सुषुप्त होने पर आत्मा जड़ अवस्था में चला जाता है, उसका समाधान दे दिया। सुषुप्त होने

आख (साधन) से उपयोग लेनेवाला, पुरुषः—पुरुष (जीवात्मा) है, दर्शनाय—देखने के लिये, चक्षुः—आख (उसका साधन) है, अथ यः—और जो (आत्मा), वेद—जानता (विचारता) है, इदम्—इस (अमुक वस्तु) को, जिघ्राणि—सूघू, इति—ऐसे, सः आत्मा—वह (सोचने वाला) ही आत्मा है, गन्धाय—गन्ध ज्ञान के लिए, घ्राणम्—घ्राण इन्द्रिय है, अथ य वेद इदम्—और जो जानता (सोचता) है कि इसको, अभिव्याहराणि—वाणी द्वारा कहू (प्रकट करू), इति—ऐसे (सोचने वाला ही), सः आत्मा—वह आत्मा है, अभिव्याहाराय—कहने (बोलने) के लिए, वाग्—वाणी (साधन) है, अथ यः वेद—और जो यह जानता-सोचता है (कि), इदम्—इसको, शृणवानि—सुनू, इति—ऐसे, सः—वह (श्रोता ही), आत्मा—आत्मा है, श्रवणाय—सुनने के लिए, श्रोत्रम्—कान (साधन) है ॥४॥

अथ यो वेदेद मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥५॥

अथ यः वेद—और जो यह जानता (सोचता) है (कि), इदम्—इस पर, मन्वानि—मनन-चिन्तन करू, इति—ऐसे (जाननेवाला), सः—वह ही, आत्मा—आत्मा है, मनः—मन तो, अस्य—इस (जीवात्मा) का, दैवम्—दिव्य (अन्तःकरण), चक्षुः—आख (ज्ञान-साधन) है, सः वै एषः—वह ही (मन्ता) यह (आत्मा), एतेन दैवेन चक्षुषा—इस दिव्य नेत्र, मनसा—मन से, एतान्—इन, कामान्—काम्य (भोगो) को, पश्यन्—देखता (मनन करता) हुआ, रमते—आनन्द भोगता (अनुभव करता) है ॥५॥

पर शरीर की सुषुप्ति-अवस्था होती है, और आत्मा का सुपुप्त-स्थान होता है'। जिसकी सुषुप्ति-अवस्था होती है, वह शरीर तो जड़ समान हो जाता है, परन्तु जिसका सुपुप्त-स्थान होता है, वह आत्मा तो अपने स्वरूप में पहुंच जाता है। उसका अपना स्वरूप चैतन्य है, आनन्द है---इसीलिये तो सुषुप्त होकर उठने पर उस अवस्था को स्मरण करके कहता है कि बड़ा आनन्द पाया। आत्मा जब तक शरीर से रला-मिला रहता है, तब तक अपने शुद्ध रूप में तो आता ही नहीं, सुपुप्त होकर ही इसका शरीर से थोड़ी देर के लिये सम्बन्ध छूटता है। यह तभी छूटता है जब आत्मा जाग्रत तथा स्वप्न-स्थानों को छोड़कर सुपुप्त-स्थान में चला जाता है। जैसे मरने पर आत्मा शरीर को छोड़ देता है, शरीर से अलग हो जाता है, वैसे सुपुप्त-स्थान में जाकर भी आत्मा कुछ देर के लिये शरीर से अलग-सा हो जाता है। मरकर तो कोई उसी शरीर में लौटकर आता नहीं, अतः वह नहीं जान सकता कि शरीर से अलग होकर वह किस अवस्था में पहुंच गया था, परन्तु सुषुप्त होकर हर-एक व्यक्ति जाग उठता है---तब जो सुषुप्त-समय के आनन्द को स्मरण करता है, वह आनन्द अपने शुद्ध-स्वरूप में जाने पर जो उसे हुआ था, उसी को स्मरण करता है। हे इन्द्र ! सुषुप्त-समय में आत्मा नहीं सोता, शरीर सोता है; आत्मा जड़वत् नहीं होता, शरीर जड़वत् होता है। उस समय की अवस्था को जानकर ही तो तू आत्मा के स्वरूप को जान सकता है। यही विचार माण्डूक्योपनिषद् तथा बृहदा० में क्रमशः २-१ तथा ४-२,३ में कहे गये हैं।)

जो देव-गण इस संसार के साथ अधिक सम्पर्क न रखकर ब्रह्म-लोक में विचरण करते हैं, ब्रह्म-ध्यान में लीन रहते हैं, वे इसी 'आत्मा' की उपासना किया करते हैं, इसीलिये सब लोक और सब

य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥६॥

ये—जो; एते—ये; ब्रह्मलोके—ब्रह्म के लोक (निवास-स्थान आत्मा) में (लीन हैं); तम् वै—उस; एतम्—इस; देवाः—ज्ञानी (आत्म-लीन); आत्मानम्

कामनाएं उनके वश में रहती हैं। जो उस आत्मा को ढूंढकर जान लेता है वह सब लोकों और सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है—ऐसा प्रजापति ने इन्द्र से कहा, प्रजापति ने कहा ॥६॥

अष्टम प्रपाठक—(तेरहवां खंड)

मैं आत्मा के 'श्याम'-रूप से, उस रूप से जो श्याममय अर्थात् अन्धकारमय है, जिसे मैं कुछ नहीं जानता, उसके 'शबल'-रूप को, चितकबरे रूप को, उस रूप को जिसमें कुछ-कुछ स्पष्टता का आभास होता है, प्राप्त करूं; 'शबल'-रूप को देखकर यह समझ जाऊं कि यह वही 'श्याम'-रूप है, जो कुछ दीख नहीं पड़ता था। जैसे घोड़ा बालों को झाड़ कर गर्दन झाड़ देता है, जैसे चन्द्र राहु के ग्रास से छूट जाता है, इसी प्रकार आत्मा के यथार्थ रूप को जानकर मैं पापों को झाड़ दूं, शरीर को फेंक दूं, संसार के सब कृत्यों से निवृत्त होकर अकृत ब्रह्म-लोक में जा पहुंचूं, जा पहुंचूं ॥१॥

—आत्मा को, उपासते—उपासना करते हैं (मग्न रहते हैं); तस्मात्—उस कारण से, तेषाम्—उन देवों (आत्मज्ञों) को, सर्वे च लोकाः—सारे लोक, आत्ताः—प्राप्त होते हैं, सर्वे च कामाः—सारी भोग्य कामनाएं, सः—वह, सर्वान् च लोकान् आप्नोति—सब लोकों को प्राप्त होता है, सर्वान् च कामान्—सब कामनाओं को, यः—जो, तम् आत्मानम्—उस आत्मा (जीवात्मा और परमात्मा) को, अनुविद्य—खोज कर, विजानाति—जान लेता है, इति ह—यह (वचन), प्रजापतिः उवाच—प्रजापति ने कहा, प्रजापतिः उवाच—प्रजापति ने (इन्द्र को) कहा ॥६॥

> श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि
> विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं
> कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामीत्यभिसम्भवामीति ॥१॥

श्यामात्—काले रंग से, तमोगुण की प्रधानता से, भोग-योनि से, शबलम्—बहुरंगी, चितकबरा, रजोगुण की प्रधानता को, कर्म-योनि को; प्रपद्ये—प्राप्त होऊं, पहुंचूं, शबलात् श्यामं प्रपद्ये—इस रजोगुण की प्रधानता से अपने काले (तम प्रधानता) को पहचानूं, अश्व इव—घोड़े की तरह, रोमाणि—बालों को, विधूय—झाड़कर, दूर कर, पापम्—पाप को, चन्द्रः इव—चन्द्रमा की तरह, राहोः—राहु के, पृथिवी की छाया के, मुखात्—मुख से, मध्य से; प्रमुच्य—छूट कर, धूत्वा—छोड़कर, अलग कर; शरीरम्—शरीर

(आत्मा के 'श्याम' से 'शवल' रूप को ही जान सकते हैं, बिल्कुल 'स्पष्ट', प्रत्यक्ष रूप को नहीं, क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय नहीं।)

अष्टम प्रपाठक—(चौदहवां खंड)

संसार 'नाम' (Name) तथा 'रूप' (Form) का ही समुदाय है। ये नाम-रूप आकाश में—जो खाली स्थान दीख रहा है—उसमें हैं। संसार क्या है ? 'नाम', 'रूप' और 'आकाश' ! इन तीनों के बीच में जो है, वह 'ब्रह्म' है, वह 'अमृत' है, वह 'आत्मा' है। प्रजापति ने आत्मा के सम्बन्ध में उपदेश दिया है इसलिये मैं प्रजापति की सभा में रहूं, उसके घर पर रहूं; ब्राह्मणों में, क्षत्रियों में और वैश्यों में यश प्राप्त करूं; मैंने यश को पा लिया, यशों-के-यश को पा लिया—

को; **अकृतम्**—न किये हुए, कर्म-बन्धन से रहित; **कृतात्मा**—सफल-काम, आत्मा (स्वयं को) को जाननेवाला; **ब्रह्मलोकम्**—ब्रह्म-पद (मोक्ष) को; **अभिसंभवामि**—प्राप्त करूं; **इति**—यह (ही प्रार्थना है); **अभिसंभवामि इति**—अवश्य प्राप्त होऊं ॥१॥

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म तदमृतँ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशः श्येतमदत्कमदत्कँ श्येतं लिन्दु माऽभिगां लिन्दु माऽभिगाम् ॥१॥

आकाशः वै—आकाश (आत्मा) ही; **नामरूपयोः**—नाम (संज्ञा), रूप (संज्ञी-वस्तु) का; **निर्वहिता**—निर्वाह (स्पष्टीकरण) करनेवाला (ज्ञाता) है; **ते**—वे दोनों (नाम और रूप); **यद्+अन्तरा**—जिसके मध्य में (विद्यमान) हैं; अथवा (**ते यद्+अन्तरा**—उनके भी अन्दर जो अन्तर्यामी विद्यमान है); **तद् ब्रह्म**—वह ही ब्रह्म है; **तद् अमृतम्**—वह ही अमर है; **सः आत्मा**—वह ही सब में प्राप्त (व्याप्त) है; (मैं उपासक-जिज्ञासु) **प्रजापतेः**—प्रजापति (गुरु) की; **सभाम्**—सभा, मण्डली को; **वेश्म**—घर को (गुरु-कुल) को; **प्रपद्ये**—प्राप्त होऊं (अधिकारी बनूं); **यशः**—यशस्वी; **अहम् भवामि**—मैं होऊं; **ब्राह्मणानाम्**—ब्राह्मणों (ज्ञानियों) के; **यशः**—यश को; **राज्ञाम्**—राजाओं (नियन्ताओं) के; **यशः**—यश को; **विशाम्**—वैश्यों (सामान्य-जनता) के; **यशः**—यश को; **अहम्**—मैं; **अनुप्रापत्सि**—प्राप्त करूं; **सः ह अहम्**—वह मैं (जीवात्मा); **यशसाम् यशः**—यशस्वियों में भी यशस्वी; **श्येतम्**—पीले-सा, सफ़ेद; **अदत्कम्** (अ+दत्कम्) स्वयं दांतों (भोग-साधनों) से शून्य (होकर भी); **अदत्कम्**

शरीर से पृथक् आत्मा का दर्शन कर लिया। मैं अब योनि में शयन न करूं, जन्म-मरण के बंधन से छूट जाऊं क्योंकि यह योनि दांतों वाली तो नहीं है—'अ-दत्क' है—परन्तु फिर भी बिना दांतों के ही खा जाती है—'अदत्-क' है ॥१॥

अष्टम प्रपाठक—(पन्द्रहवां खंड)

यह 'आत्म-ज्ञान' ब्रह्मा ने प्रजापति को सुनाया, प्रजापति ने मनु को, मनु ने इसका सब प्रजाओं को उपदेश दिया। उपासक को चाहिये कि आचार्य-कुल में जाकर गुरु की सेवा करे, उसके बाद जो समय बचे उसमें यथाविधि वेदों का अध्ययन करे। तदनन्तर समावर्तन संस्कार होने पर शुद्ध प्रदेश में कुटुम्ब के साथ स्वाध्याय करता हुआ, धार्मिक कार्यों को करता हुआ, सब इन्द्रियों का आत्मा में निग्रह करता हुआ, तीर्थ-स्थानों में ही नहीं उनके अतिरिक्त भी सर्वत्र सब भूतों

(अदत्+कम्) खा जानेवाली (जन्म-मरण के चक्र में फंसानेवाली), श्वेतम्—पीलाभ, लिन्दु—स्त्री-योनि को (पुनः जन्म) का, मा—मत, नहीं, अभिगाम्—प्राप्त होऊं, लिन्दु मा अभिगाम्—योनि को प्राप्त होऊं ॥१॥

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्य आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥१॥

तद् ह एतद्—उस (पूर्व-व्याख्यात) इस (ज्ञान) को, ब्रह्मा—ब्रह्मा ने, प्रजापतये—प्रजापति को, उवाच—उपदेश दिया था, प्रजापतिः—प्रजापति ने, मनवे—मनु (राजर्षि) को, मनुः—मनु ने, प्रजाभ्यः—प्रजाओं को, आचार्यकुलात्—आचार्य-कुल (गुरु-कुल) से, वेदम्—वेदों को, अधीत्य—अध्ययन (अर्थ सहित ज्ञान) कर, यथाविधानम्—विधि (नियम) पूर्वक, गुरोः—गुरु के, कर्म—कार्य (गुरु-दक्षिणा या सेवा शुश्रूषा आदि), अतिशेषेण—पूर्णता से (समाप्त कर), अभिसमावृत्य—लौट कर (समावर्तन विधि करा कर पुनः आकर), कुटुम्बे—कुटुम्ब (पितृ-गृह) में, शुचौ—पवित्र, निर्मल, देशे—स्थान में, स्वाध्यायम्—वेद के मनन चिन्तन को, अधीयानः—अध्ययन करता हुआ, (स्वाध्यायम् अधीयानः—प्रणव तथा गायत्री का जप करता हुआ, स्वयं वेदाध्ययन करता हुआ), धार्मिकान्—(अन्यों को) धार्मिक (धर्म-तत्पर),

के प्रति अहिंसा का व्यवहार करता हुआ विचरे। जो इस प्रकार विचरता है, वह इस जन्म में ही आयु-पर्यन्त 'ब्रह्म-लोक' में ही विचरण करता है, और शरीर त्यागने पर फिर लौटकर नहीं आता, फिर लौटकर नहीं आता ॥१॥

विदधत्—करता हुआ, बनाता हुआ; **आत्मनि**—आत्मा में; **सर्वेन्द्रियाणि**—सब इन्द्रियों को; **संप्रतिष्ठाप्य**—स्थापित कर (निग्रह कर); **अहिंसन्**—न हिंसा करता हुआ; **सर्वभूतानि**—सब प्राणियों को; **अन्यत्र**—भिन्न, सिवाय; **तीर्थेभ्यः**—तीर्थों (वेदाज्ञा) से (वेद-विहित दस्यु-हनन आदि के अतिरिक्त अहिंसा-व्रत का पालन करता हुआ); **सः खलु**—वह (यथाविधि स्नातक-जिज्ञासु); **एवम् वर्तयन्**—इस प्रकार बर्ताव (व्यवहार) करता हुआ; **यावद्+आयुषम्**—जीवन पर्यन्त; **ब्रह्मलोकम् अभिसंपद्यते**—ब्रह्म-लोक (ब्रह्म-ज्ञान एवं आत्म-ज्ञान) को प्राप्त कर लेता है; **न च**—और नहीं; **पुनः**—फिर; **आवर्तते**—ब्रह्म-लोक से लौटता है (च्युत होता है); **न च पुनः आवर्त्तते**—फिर दोबारा जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ता है॥१॥

धारावाही हिन्दी में

सचित्र

एकादशोपनिषद्

[मूल तथा शब्दार्थ एवं व्याख्या सहित]

द्वितीय भाग

[बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर]

विषय-सूची

बृहदारण्यक-उपनिषद्

प्रथम अध्याय—(पहला ब्राह्मण)

(सृष्टि का हय, वाजी, अर्वा तथा अश्व-रूप में एवं ब्रह्म का मृत्यु रूप में वर्णन)

उपनिषदों के ऋषि 'ज्ञात' से 'अज्ञात' का वर्णन करते हुए 'पिंड' से 'ब्रह्मांड' का वर्णन किया करते थे—उनकी वर्णन-शैली का यह मूलमन्त्र था। उपनिषत्काल में जो यज्ञ होते थे, उन्हें भी वे परमार्थ में ही घटाने का यत्न करते थे। इन्हीं यज्ञों में 'अश्वमेध'-यज्ञ था। जिस प्रकार यज्ञ-मण्डप में 'अश्वमेध'-यज्ञ हो रहा है, इसी प्रकार मानो इस विशाल ब्रह्मांड में भी 'अश्वमेध'-यज्ञ ही रचा जा रहा है, यह सृष्टि-रूप-यज्ञ एक 'विराट्-अश्वमेध'-यज्ञ है। कैसे ? ऋषि कहते हैं :—

सृष्टि ही मानो मेध्य-अश्व है, विराट् अश्व है। इस 'विराट्-अश्व' का सिर 'उषा' है, इसकी आंख 'सूर्य' है, इसका प्राण 'वायु' है, इसका खुला हुआ मुंह 'वैश्वानर-अग्नि' है, इस मेध्य-अश्व का आत्मा 'संवत्सर' है—'समय' है। इसकी पीठ 'द्यु-लोक' है, इसका उदर 'अन्तरिक्ष-लोक' है, इसके खुर 'पृथिवी-लोक' है, पासे 'दिशाएं' है, पसलियां 'अवान्तर-दिशाएं' है, अंग 'ऋतुएं' है, जोड़ 'मास और

ॐ उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्माऽश्वस्य मेध्यस्य। द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यं दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसानि। ऊवध्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो यद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक् ॥१॥

ओम्—सर्वरक्षक आदि गुरु ईश्वर का नाम स्मरण कर; उषाः वै—उषा (प्रातः सूर्योदय से पूर्व की आभा) ही; अश्वस्य—भोग्य, गतिमय, व्यापक

अर्धमास' हैं, स्थिति-स्थान 'अहोरात्र' हैं, अस्थियां 'नक्षत्र' हैं, मांस 'बादल' हैं, पेट में पड़ा आधा-पचा भोजन सिकता—'रेत'—है, अंतड़ियां 'नदियां' हैं, जिगर-फेफड़े 'पहाड़' हैं, लोम 'ओषधि तथा वनस्पतियां' हैं, पूर्वार्ध 'उदीयमान-सूर्य' है, उत्तरार्ध 'अस्त होता हुआ सूर्य' है। अश्व जैसे जंभाई लेता है, सृष्टि में वह 'चमकना' है, अश्व जैसे शरीर को झाड़ता है, सृष्टि में वह 'कड़कना' है, अश्व जैसे मूत्रोत्सर्ग करता है, सृष्टि में वह 'बरसना' है, अश्व जैसे हिनहिनाता है, सृष्टि में वह 'गरजना' है ॥१॥

(सृष्टि का); **मेध्यस्य**—जानने योग्य, संस्कृत करने योग्य; (**अश्वस्य मेध्यस्य**—इस जानने योग्य, पालन योग्य, उपयोगी अश्व—विराट् जगत्—सृष्टि का); **शिरः**—सिर (स्थानीय) है; **सूर्यः**—सूर्य; **चक्षुः**—नेत्र समान; **वातः**—वायु; **प्राणः**—प्राण (श्वास-प्रश्वास); **व्यात्तम्**—(खुला) मुख; **अग्निः**—अग्नि; **वैश्वानरः**—वैश्वानर (संज्ञक अग्नि); **संवत्सरः**—पूर्ण वर्ष (काल); **आत्मा**—शरीर (धड़) है; **अश्वस्य मेध्यस्य**—इस ज्ञेय, अश्वरूप विराड्-जगत् का; **द्यौः**—द्यु-लोक; **पृष्ठम्**—पीठ; **अन्तरिक्षम्**—अन्तरिक्ष (आकाश); **उदरम्**—पेट के समान; **पृथिवी**—पृथ्वी; **पाजस्यम्**—पाद-तल (तलवा); **दिशः**—दिशाएं; **पार्श्वे**—(दक्षिण-वाम) पासे; **अवान्तरदिशः**—(मध्यवर्ती) उप-दिशाएं; **पर्शवः**—पसलियां; **ऋतवः**—छः ऋतु; **अंगानि**—अंग हैं; **मासाः च अर्धमासाः च**—पूर्णमास और पक्ष (कृष्ण-शुक्ल); **पर्वाणि**—पर्व (पोरे, जोड़); **अहोरात्राणि**—दिन-रात; **प्रतिष्ठा**—स्थिति-स्थान (आधार); **नक्षत्राणि**—नक्षत्र; **अस्थीनि**—हड्डियां हैं; **नभः**—बादल; **मांसानि**—मांस; **ऊवध्यम्**—उदर-स्थित भोजन; **सिकताः**—रेत (बालू); **सिन्धवः**—नदियां; **गुदाः**—पेट की अन्तड़ियां (नाड़ियां); **यकृत् च**—जिगर; **क्लोमानः च**—और पिपासा-स्थान (जिगर के पास का अंग); **पर्वताः**—पहाड़; **ओषधयः च वनस्पतयः च**—ओषधियां और वनस्पतियां; **लोमानि**—रोएं, बाल हैं; **उद्यन्**—उगता हुआ सूर्य; **पूर्वार्द्धः**—नाभि से ऊपर (अगला) भाग; **निम्लोचन्**—छिपता हुआ सूर्य; **उत्तरार्धः**—नाभि से निचला (पिछला) भाग; **यद् विजृम्भते**—जो जम्हाई लेता है (जम्हाई); **तद् विद्योतते**—वह बिजली चमकती है (बिजली की चमक); **यद् विधूनुते**—जो शरीर को कंपाता (फुरफुरी लेता) है (अंग-चालन); **तत् स्तनयति**—वह (मानों) बादल की गरज है; **यत् मेहति**—जो मूत्र करता है; **तद् वर्षति**—वह पानी का बरसना है; **वाग् एव**—जगत् की वाणी (शब्द); **अस्य**—इस (मेध्य-अश्व-विराड्-जगत्) की; **वाग्**—वाणी (हिनहिनाना) है ॥१॥

अश्व के आगे-पीछे जैसे उसकी महिमा को गाने वाले घुंघरू लगाये जाते हैं, सृष्टि में 'दिन'-रूपी घुंघरू उसकी अगली और 'रात्रि'-रूपी घुंघरू उसकी पिछली महिमा का बखान कर रहे हैं। दिन का उदय 'पूर्व-समुद्र' से होता है, रात्रि का प्रारंभ 'अपर-समुद्र' से होता है। (कोई समय था जब कि भारत के पूर्व-भाग में भी समुद्र था, यह भूगर्भ-वेत्ताओं ने पता लगाया है। उसी काल में ये उपनिषद् लिखी गई होंगी।) ये दोनों—दिन और रात—सृष्टि-रूपी अश्व को आगे और पीछे दोनों तरफ़ से महिमा बनकर घेरे हुए हैं। अश्व के चार नाम हैं—'हय'-'वाजी'-'अर्वा'-'अश्व'। यह सृष्टि 'हय' है, अर्थात् 'हेय' है, 'त्याज्य' है। 'देव-गण' इस सृष्टि-रूपी घोड़े पर इसे 'हय' समझ कर बैठते हैं, इसे त्यागना है यह समझ कर, इसका भोग करते हैं। यह सृष्टि 'वाजी' है, अर्थात् वाज-वाली, अन्नवाली है, 'भोग्य' है। 'गन्धर्वगण', अर्थात् विलासी लोग इस सृष्टि रूपी घोड़े पर इसे 'वाजी' समझ कर बैठते हैं, संसार भोग के ही लिये है, यह समझ कर इसका भोग करते हैं। यह सृष्टि 'अर्वा' है, 'अर्व', अर्थात् 'वध' का स्थान है, हिंसा से ही यहां काम चलता है। 'असुर-गण' इस सृष्टि-रूपी घोड़े पर इसे 'अर्वा' समझ कर बैठते हैं, संसार में संहार द्वारा ही अपनी जीवन-यात्रा करते हैं। यह सृष्टि 'अश्व' है, 'अश', अर्थात् 'भोजन' मिल जाने का स्थान है। 'मनुष्य-गण', साधारण-लोग इस सृष्टि-रूपी घोड़े पर इसे 'अश्व' समझ कर बैठते हैं, पेट भर जाय, जीवन-यात्रा का निर्वाह हो जाय, इतने मात्र से सन्तुष्ट रहते हैं। इस प्रकार देव, गन्धर्व, असुर तथा मनुष्य इस सृष्टि-रूपी विराट् अश्व को हय, वाजी, अर्वा, अश्व रूप में सवारी

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी
रात्रिरेनं पश्चान्महिमाऽन्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा
अश्वं महिमानावभितः संबभूवतुः। हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी
गन्धर्वानर्वासुरानश्वो मनुष्यान् समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः ॥२॥

अहः वै—दिन (सृष्टि-रचना) ही; अश्वम्—(विराड्-जगत् रूप) अश्व के, पुरस्तात्—पहले, आगे; महिमा—बड़प्पन, महत्त्व; अनु+अजायत—उत्पन्न हुआ; तस्य—उस (दिन) का, पूर्वे—पूर्व दिशा के, पूर्ण, समुद्रे—समुद्र

कर रहे हैं। इन सब का बन्धु, इन सब का कारण 'समुद्र' है—'समुद्र' अर्थात् जिस में सब दौड़ते हुए जाकर मानो जैसे बन्धु में लीन हो जाते हों वैसे उसमें लीन हो जाते हैं। वही कारण-रूप 'प्रकृति' अथवा 'पर-ब्रह्म' ही मानो समुद्र है जिसमें सब ऐसे लीन हो जाते हैं जैसे बन्धु में सब प्रेम से समा जाते हैं ॥२॥

प्रथम अध्याय—(दूसरा ब्राह्मण)

(मृत्यु तथा सृष्टि)

इस प्रकरण में ऋषि ने ब्रह्म की कल्पना 'मृत्यु' के रूप में की है। ब्रह्म को मृत्यु-रूप मानकर कैसे पहले जड़-जगत् उत्पन्न हुआ, जड़ के उत्पन्न होने के बाद कैसे चेतन-जगत् उत्पन्न हुआ—इस सब आध्यात्मिक प्रक्रिया का साहित्यिक वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं :—

में, ब्रह्म में; योनिः—उत्पत्ति-स्थान, आधार है; रात्रिः—रात, प्रलय; एनम्—इस (उत्पन्न विराड्-जगत्-रूप) अश्व की; पश्चात्—पिछली, पीछे; महिमा—महत्त्व; अनु+अजायत—हुई; तस्य—उस (रात्रि रूप महिमा) का; अपरे—दूसरे, पश्चिम दिशा में (के); समुद्रे—समुद्र में; योनिः—उत्पत्ति-स्थान है; एतौ—ये दोनों (दिन और रात या सृष्टि-रचना और प्रलय); वै—ही; अश्वम् अभितः—(विराड्-जगद्-रूप) अश्व के चारों ओर; महिमानौ—महिमाएं; संबभूवतुः—सम्भव हुई; (यह विराड्-जगत्-रूप अश्व) हयः—हेय-त्याज्य (रूप से); भूत्वा—होकर; देवान्—देवों (इन्द्रिय-जयी विद्वानों) को; अवहत्—वहन करता (सवारी देता) है, आगे-आगे ले जाता है; वाजी—वीर्य-पराक्रम-भोग्य सामग्री से युक्त (रूप में होकर); गन्धर्वान्—आमोद-प्रमोद में लीन संसारी मनुष्यों को; अर्वा—हिंस्र (रूप होकर—हत्या-घात के साधन) होकर; असुरान्—अपने स्वार्थ में लीन असुरों (दुष्ट-स्वभाव मनुष्यों) को; अश्वः—भोग-सामग्री वाला, भोग्य होकर; मनुष्यान्—मनुष्यों को (आगे-आगे ले जाता है); समुद्रः—समुद्र, परमात्मा; एव—ही; अस्य—इस अश्व (विराड्-जगत्) का; बन्धुः—बन्धन स्थान, नियन्ता है; समुद्रः—परमात्मा ही; योनिः—इसका उत्पत्ति-स्थान (निमित्त कारण) है ॥२॥

सृष्टि के प्रारंभ में यहा, यह जो-कुछ दीख रहा है, कुछ नहीं था। भूखी मृत्यु से यह सब ढक चुका था। मृत्यु का क्या काम है ? यह खा जाती है। भूखा हो तो खाता है। और जो इस विशाल को खा जाये, कितनी उसकी भूख होगी ! परन्तु मृत्यु खाती भी क्या है, पेट में ही तो रख लेती है। खाने वाला वस्तु को पेट ही में तो रख लेता है। मृत्यु ने भी यह सब जगत् पेट में ढाप रखा था। मृत्यु का रूप ही 'अशनाया' है, 'भूख' है। इस प्रकरण में मृत्यु ब्रह्म के उस रूप का नाम है, जिसने संसार को भोजन बनाकर अपने में ढाप रखा है। मृत्यु-रूप-ब्रह्म का प्रकृति ही तो शरीर था। प्रलयावस्था में जब प्रकृति-रूपी इस शरीर को वह खा गया, तो उसका अपना शरीर भी न रहा, खाये किस से, और खाये क्या ? सृष्टि की अवस्था में अपने शरीर से ही तो वह अपने शरीर को खा रहा था—यही तो मत्स्य-न्याय है ! बड़ी मछली छोटी मछली को निगल रही है, कोई भोक्ता है, कोई भोग्य है। ब्रह्म के मृत्यु-रूप शरीर में ही तो यह चर्वण चल रहा है। जब इस चर्वण के होते-होते चर्वण को ही कुछ न रहा, प्रलय हो गई, तब मृत्यु रह गई, और उसकी भूख रह गई, बाकी कुछ न रहा। अब मृत्यु अपनी क्षुधा-पूर्ति का क्या उपाय करे ? ऐसी अवस्था में उसका मन किया कि फिर 'आत्मन्वी' हो जाऊं, फिर शरीर धारण करूं, अब फिर सृष्टि की रचना करूं, ताकि फिर खा-खाकर अपनी भूख मिटाऊं ! उसने अर्चना शुरू की, परमाणुओं की खुशामद शुरू की कि आओ भाई, करो मदद, सृष्टि को बना डालें ! इस प्रकार अर्चना करते हुए उसने परमाणुओं में गति दी। मृत्यु-रूप-

नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्। अशनाययाऽशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुताऽऽत्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वं कं ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद ॥१॥

न एव—नहीं ही, इह—यहां, किंचन—कुछ भी, अग्रे—(जगदुत्पत्ति से) पहिले, आगे, आसीत्—था, मृत्युना—मृत्यु (अथवा जगत् के संहर्ता प्रभु) से, एव—ही, इदम्—यह (अवकाश-स्थान), आवृतम्—घिरा हुआ, व्याप्त, आसीत्—था, अशनायया—अशनाया (भूख, कर्म-फलभोग की इच्छा)

ब्रह्म की इस अर्चना से 'आप्' उत्पन्न हुए, अर्थात् द्रवावस्था में प्रकृति प्रकट हुई। 'आप्' का अर्थ यहां जल नहीं, अपितु द्रवावस्था के रूप में प्रकृति है। यह देखकर कि अब उसका शरीर बनने लगा उसे 'कम्' हुआ, 'कम्' अर्थात् सुख हुआ। 'अर्च' का 'अर्' और 'कम्' का 'क' मिलकर 'अर्+क'='अर्क' बनता है—क्योंकि 'अर्चना' करते हुए उसे 'कम्' अर्थात् सुख हुआ था इसीलिये द्रवावस्था-रूप प्रकृति को 'अर्क' कहते हैं, यही 'अर्क' का 'अर्कत्व' है। जो इस प्रकार अर्क के अर्कत्व को जानता है उसे सुख प्राप्त होता है ॥१॥

यह 'आप्' और 'अर्क' एक ही बात है—प्रकृति की द्रवावस्था का नाम 'आप्' है, और इसी का नाम 'अर्क' है। 'आप्', अर्थात् द्रवावस्था प्रकृति का जो शर था, अर्थात् ऊपर-ऊपर का हिस्सा था, वह महान् हो गया, कड़ा हो गया। आधे बिलोये दही में ऊपर-ऊपर जो झाग आ जाती है उसे 'शर' कहते हैं, वह मक्खन बनकर कड़ी

से (आवृत था); अशनाया—भूख, भोग की कामना; हि—वास्तव में; मृत्युः—मृत्यु (का कारण) है; तत्—उस मृत्यु ने; मनः—चिन्तन, संकल्प; अकुरुत—किया; (मनः अकुरुत—चिन्तन-ईक्षण-संकल्प किया); आत्मन्वी—आत्मा वाला (देह-मूर्ति, प्रगट); स्याम्—होऊं (अपने को व्यक्त करूं); इति—यह (मनन किया); सः—वह (मृत्यु—संहर्ता); अर्चन्—पूजा (संकल्प-मनन) करता हुआ; अचरत्—फिरने लगा, गतिमय हुआ; तस्य—उसका; अर्चतः—अर्चना (पूजा) करते हुए; आपः—जल (तन्मात्राएं); अजायन्त—उत्पन्न हुईं; अर्चते वै मे—अर्चना करने वाले मेरे लिए; कम्—जल, सुख; अभूद्—उत्पन्न हुआ; इति—यह; तद् एव—वह (अर्चना करते हुए 'क'—जल का होना) ही; अर्कस्य—'अर्क' शब्द की; अर्कत्वम्—अर्कता ('अर्च+क' रूप में निरुक्ति-व्युत्पत्ति) है; कम्—जल व सुख; ह वै—ही, भी; अस्मै—इसके लिए; भवति—होता है; यः—जो; एवम्—इस प्रकार; एतत्—यह, इस; अर्कस्य—'अर्क' शब्द की; अर्कत्वम्—अर्कता (रूप, व्युत्पत्ति) को; वेद—जान लेता है ॥१॥

आपो वा अर्कस्तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत। सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्ततााग्निः ॥२॥

आपः—जल; वै—ही; अर्कः—'अर्क' (शब्द का वाच्य) है; तद् यद्—तो जो; अपाम्—जलों का; शरः—कठोर भाग, ऊपर तैरता भाग; आसीत्—

हो जाती है, ऐसे ही 'आप्' का ऊपर का हिस्सा जमकर कड़ा पड़ गया, वही 'पृथिवी' बन गया, नीचे का हिस्सा तरल होकर 'जल' बन गया। उसमें फिर मृत्यु-रूप-ब्रह्म ने श्रम किया। उसके श्रम करने पर, और तप उठने पर, उसके तेज का रस निकल पड़ा, जिसे 'अग्नि' कहा जाता है। इस प्रकार 'आप्', अर्थात् द्रवावस्था प्रकृति से जल, पृथिवी और अग्नि—ये तीन पदार्थ उत्पन्न हो गये ॥२॥

अब मृत्यु-रूप-ब्रह्म ने अपने तेजोमय-रूप शरीर को तीन स्थानों में बांट लिया। उसका 'अग्नि'-रूप पृथिवी पर रहा, 'आदित्य'-रूप द्यु में और 'वायु'-रूप अन्तरिक्ष में चला गया। इस प्रकार तेजोमय ब्रह्म का प्राण तीन स्थानों में बंट गया, और द्यु-लोक से लेकर पृथिवी तक विशाल शरीर को धारण कर तेजोमय-रूप वह ब्रह्म जड़-जगत् के रूप में शरीर-धारी हो गया। उसके विशाल जड़-जगत्-रूपी शरीर का वर्णन कौन करे ! पूर्व-दिशा उसका सिर है, और देखो 'वह' और 'वह'—उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पूर्व—दूर तक जा रही ये दिशाएं उसकी दोनों भुजाएं हैं। पहले सृष्टि को अश्व मानकर वर्णन किया गया है, इसलिये इस सृष्टि-रूपी-अश्व को कोई पूंछ भी तो चाहिये ! वह देखो, पश्चिम-दिशा उसकी पूंछ है, और देखो 'वह' और 'वह'—

था, तत्—वह, समहन्यत—इकट्ठा हुआ, कठोर (दृढ) हुआ, सः—वह (जल का सहत शर); पृथिवी—पृथिवी (रूप), अभवत्—हो गया, तस्याम्—उस (पृथिवी) मे, अश्राम्यत्—(सहर्ता मृत्यु-रूप ब्रह्म ने) श्रम किया, तस्य—उस; श्रान्तस्य—(पहले) श्रम किये हुए; तप्तस्य—(अतएव) तपे हुए का, तेजः—तेज; रसः—सार; निरवर्तत—निकला, प्रगट हुआ; अग्निः—(उसका ही नाम) अग्नि है ॥२॥

स त्रेधात्मानं व्यकुरुतादित्यं तृतीयं वायुं तृतीयं स एष प्राणस्त्रेधा विहितः। तस्य प्राची दिक्शिरोऽसौ चासौ चेर्मौ। अथास्य प्रतीची दिक्पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितो यत्र क्व चैति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान् ॥३॥

सः—उस (अग्नि) ने; त्रेधा—तीन रूप में; आत्मानम्—अपने (स्वरूप) को; व्यकुरुत—विकृत किया, परिवर्तित किया; आदित्यम्—सूर्य; तृतीयम्—तीसरा (तीनों में से एक); वायुम् तृतीयम्—तीनों मे से एक (तीसरे) वायु को, (तीसरा स्वयं अग्निरूप); सः एषः—वह यह; प्राणः—प्राण; त्रेधा—

उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम—दूर तक जा रही ये दिशाएं उसकी दोनों रानें हैं। दक्षिण और उत्तर दिशा उसके दोनों पासे हैं, द्यौः पीठ है, अन्तरिक्ष उदर है, पृथिवी छाती है, और यह विशाल-काय सृष्टि-रूपी-अश्व जो मृत्यु-रूप-ब्रह्म का ही शरीर है, 'आप्' में से, द्रवावस्था-रूप प्रकृति में से उठकर खड़ा हुआ है, इसलिये उसी में प्रतिष्ठित है। जो इस रहस्य को जानता है वह जहां-कहीं जाता है वहीं प्रतिष्ठा पाता है ॥३॥

(उपनिषदों तथा गीता में इस विशाल विश्व को ही ब्रह्म का प्रत्यक्ष-शरीर कहा है। जैसे आत्मा का शरीर यह पिंड प्रत्यक्ष दीखता है वैसे ब्रह्म का शरीर यह ब्रह्मांड प्रत्यक्ष दीख रहा है। ब्रह्म को देखने कहीं दूर जाना नहीं पड़ता, यह विशाल पृथिवी, यह असीम आकाश, यह अथाह समुद्र, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारे—यही प्रत्यक्ष ब्रह्म है, यही ब्रह्म का शरीर है।)

जड़-जगत् उत्पन्न होने के बाद उसका एक शरीर पूरा हो गया, अब उसके अन्दर अपने दूसरे शरीर को, चेतन-जगत् को, जिस जगत्

तीन रूप में; **विहितः**—किया गया; **तस्य**—उस (जड़-जगत्) का; **प्राची दिक्**—पूर्व दिशा; **शिरः**—सिर (स्थानीय) है; **असौ च असौ च**—यह और यह (पूर्व दिशा से दक्षिण और उत्तर के भाग या कोण); **ईर्मौ**—बाहु हैं; **अथ**—और; **अस्य**—इस (जड़-जगत्) की; **प्रतीची दिक्**—पश्चिम दिशा; **पुच्छम्**—पूंछ (पिछला या निचला भाग) है; **असौ च असौ च**—यह और यह (पश्चिम दिशा से उत्तर-दक्षिण के भाग या कोण); **सक्थ्यौ**—रान, जांघ हैं; **दक्षिणा च**—दक्षिण दिशा; **उदीची च**—और उत्तर दिशा; **पार्श्वे**—पासे हैं; **द्यौः**—द्यु-लोक; **पृष्ठम्**—पीठ है; **अन्तरिक्षम्**—अन्तरिक्ष (अवकाश); **उदरम्**—पेट है; **इयम्**—यह (पृथिवी); **उरः**—छाती है; **सः एषः**—वह यह (त्रि-रूप तेज); **अप्सु**—जलों में; **प्रतिष्ठितः**—स्थिति (आधार) वाला है; **यत्र क्व च**—जहां कहीं भी; **एति**—आता-जाता है; **तद् एव**—वहां ही; **प्रतितिष्ठति**—प्रतिष्ठा (स्थान-आदर) पाता है; **एवम्**—इस प्रकार; **विद्वान्**—जानने वाला (ज्ञानी) ॥३॥

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनꣳ समभवदशनाया मृत्युस्तद्यद्रेत आसीत्स संवत्सरोऽभवत्। न ह पुरा ततः संवत्सर आस तमेतावन्तं कालमबिभः। यावान्संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत तं जातमभिव्याददात्स भाणकरोत्सैव वागभवत् ॥४॥

में 'मन' तथा 'वाणी' का व्यवहार होता है—उसे उत्पन्न करने की कामना उठी। उसने चाहा मेरा दूसरा शरीर भी हो जाय। पहले मृत्यु-रूप-ब्रह्म को संसार को खा जाने की भूख लगी थी, तो उसने प्रलय पर जाकर दम लिया था, जहां कुछ न रहा था; अब उसे सृष्टि उत्पन्न करने की भूख लगी है, अब वह प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न करने की अपनी भूख को मिटाकर ही दम लेगा, भूख से मर जो रहा है, ब्रह्म ठहरा तो क्या! अपने इस दूसरे शरीर, अर्थात् चेतन-जगत् को उत्पन्न करने के लिये उसने 'मन' को 'वाणी' से जोड़ दिया—ऐसी सृष्टि होने लगी जो 'मन' तथा 'वाणी' से काम लेने लगी। ब्रह्म की प्रथम-शरीर की रचना के लिये जो भावना थी, उसने 'आप्' का रूप धारण किया था जिससे जड़-जगत् की सृष्टि हुई, अर्थात् 'आप्' से जल, पृथिवी और अग्नि पैदा हुए, अब इस द्वितीय-शरीर, अर्थात् चेतन-जगत् की रचना के लिये ब्रह्म की जो भावना हुई उसने 'संवत्सर' का, काल का, समय का रूप धारण किया। चेतन-जगत् की उत्पत्ति से पहले संवत्सर का, समय का ज्ञान नहीं था। अग्नि-आदित्य-वायु, अर्थात् जड़-जगत् के लिये दिन-रात की मर्यादा क्या अर्थ रखती है, जीव-धारी के लिये ही समय का ज्ञान कुछ अर्थ रखता था, अतः चेतन-जगत् की उत्पत्ति के अनन्तर समय का विभाग काम में आने लगा। तो, अब तक क्या संवत्सर, अर्थात् समय था ही नहीं? था, परन्तु छिपा हुआ था, और इतनी देर तक छिपा रहा जितनी देर से अब यह प्रकट हो रहा है। महान् काल तक जड़-जगत् ही रहा, इतनी देर तक संवत्सर का नामोनिशान न था, इसके अनन्तर जब चेतन-जगत् हुआ तब संवत्सर की, काल की रचना की गई। जब संवत्सर उत्पन्न हुआ, तो मृत्यु-रूप-ब्रह्म ने उसकी तरफ अपना

सः—उस (संहर्ता 'मृत्यु' नामी ब्रह्म) ने, अकामयत—कामना की, चाहा, द्वितीयः—दूसरा (पिण्ड रूप), मे—मेरा, आत्मा—शरीर (व्यक्त रूप), जायेत—हो जाये, इति—यह (कामना की), सः—वह, उसने, मनसा—मन के साथ, वाचम्—वाणी को, मिथुनम्—(इन दोनों का) जोड़ा, समभवत्—हो गया, उत्पन्न किया, अशनाया—(कामना रूप) भूख, मृत्युः—मृत्यु है, तद्—तो, यद्—जो, रेत—जल, वीर्य, आसीत्—था, सः—वह, संवत्सरः—

भूखा मुंह खोला, सोचा अब सृष्टि उत्पन्न हो गई, फिर खाना शुरू करूं! इतने में संवत्सर चिल्ला पड़ा, भाण्-भाण् करने लगा, बस तभी से 'वाणी' की उत्पत्ति हो गई, 'भाण्' शब्द 'वाणी' से जो मिलता है। सृष्टि के इस द्वितीय-क्रम के, अर्थात् जड़-जगत् से चेतन-जगत् के आने में जबकि 'वाणी' का व्यवहार प्रारम्भ हुआ, बहुत भारी समय लगा, इतना समय कि मृत्यु-रूप-ब्रह्म भूख से व्याकुल होकर समय की प्रतीक्षा न कर सका, समय को ही खाने को दौड़ पड़ा। तब जाकर 'वाक्-शक्ति' का जन्म हुआ, उस शक्ति का जो जड़ तथा चेतन का भेद करती है, जो अदृश्य-रूप में 'मन' तथा दृश्य-रूप में 'वाणी' कहलाती है ॥४॥

अब उस मृत्यु-रूप-ब्रह्म ने सोचा, मैं तो अपनी भूख मिटाने के लिये एक विशाल शरीर की रचना कर फिर उसे खाने में लग जाना चाहता था, यह क्या, यह तो नन्ही-सी-बच्ची—'वाणी'—उत्पन्न हो गई, इसे खा जाऊंगा, तो क्या अन्न बनेगा! ऐसा सोचकर उसने इस छोटी-सी वाणी से ही यह सब रच डाला, ऋचाएं, यजु, साम, छन्द, यज्ञ,

वर्ष (काल); **अभवत्**—हो गया; **न ह**—नहीं तो; **पुरा**—पहले; **ततः**—उससे; **संवत्सरः**—वर्ष (काल का ज्ञान); **आस**—था; **तम्**—उसको; **एतावन्तम्**—इतने; **कालम्**—समय तक; **अबिभः**—धारण (पालन-पोषण) किया; **यावान्**—जितना; **संवत्सरः**—वर्ष (होता है); **तम्**—उसको; **एतावतः**—इतने; **कालस्य**—समय के; **परस्तात्**—बाद में; **असृजत**—बनाया, उत्पन्न किया; **तम् जातम्**—उत्पन्न हुए उसको (के); **अभि**—ओर; **व्याददात्**—(मुख) खोला; **सः**—उसने (डर कर); **भाण्**—'भाण्' शब्द (भण्—अव्यक्ते शब्दे); **अकरोत्**—किया; अथवा (**भाण् अकरोत्**—कुछ कहा); **सा एव**—वह ही; **वाग् अभवत्**—वाणी हुई (तब से वाणी का प्रसार हुआ) ॥४॥

स ऐक्षत यदि वा इममभिमं स्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति स तया वाचा तेनात्मनेदं सर्वमसृजत यदिदं किचर्चो यजूंषि सामानि च्छन्दांसि यज्ञान्प्रजाः पशून्। स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वं सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं वेद ॥५॥

सः ऐक्षत—उस (मृत्यु—संहर्ता ब्रह्म) ने सोचा; **यदि वै**—अगर (मैं); **इमम्**—इस (वाणी रूप कुमार) को; **अभिमंस्ये**—मारूंगा या इसका ही अभिमान

मनुष्य और पशु। इस प्रकार उसका चेतन-जगत् के रूप में दूसरा शरीर भी तय्यार हो गया। अब जो-जो कुछ उसने रचा था, उसे फिर खाने लगा। वह सब खा जाता है, तभी मृत्यु को 'अदिति' कहते हैं, अदिति का अदितिपन ही यही है कि वह सब 'अद्-भक्षणे' के अनुसार भक्षण कर जाता है, सफा-चट्ट कर जाता है। जो इस प्रकार अदिति के अदिति-रूप को जानता है, वह सबका 'अत्ता' हो जाता है, संसार का सब-कुछ उसके सामने 'अन्न' की तरह ढेर हो जाता है ॥५॥

अब तक सृष्टि-रूप दो यज्ञ हुए—'जड़-जगत्' और 'चेतन-जगत्'। उस मृत्यु-रूप-ब्रह्म ने फिर कामना की, एक भारी यज्ञ से फिर यज्ञ करूं। इस उद्देश्य से उसने श्रम किया। उसके श्रम तथा तप कर चुकने पर उसके 'यशोवीर्य' का उदय हुआ। 'प्राण' ही

करूंगा तो, कनीयः—छोटा, अल्पल्प, अन्नम्—भोग्य पदार्थ, करिष्ये—रचूंगा (जो पर्याप्त नहीं होगा); इति—ऐसे (विचार कर), सः—उसने, तया वाचा—उस वाणी के द्वारा, तेन आत्मना—उस आत्मा (शरीर) से, इदम् सर्वम्—इस सब को, यद् इदम् किंच—जो यह कुछ (दिखाई देता) है, ऋचः ऋग्वेद को, यजूंषि—यजुर्वेद को, सामानि—सामवेद को, छन्दांसि—अथर्ववेद को, यज्ञान्—यज्ञों (सत्कर्मों) को, प्रजाः—प्रजाओं को, पशून्—पशुओं को; सः—उस (मृत्यु) ने, यद् यद् एव असृजत—जो-जो ही रचा (बनाया), तत् तद्—उस-उस को ही, अत्तुम्—खाने के लिए, अध्रियत—रखा (सब ही अन्त में विनाश होनेवाला ही था), सर्वम् वै—सब को ही, अत्ति—खा लेता है, इति—अतः, तद्—वह (खाना-प्रलय करना), अदितेः—अदिति (मृत्यु-ब्रह्म) की, अदितित्वम्—अदिति-स्वरूप या शब्दार्थ है, सर्वस्य एतस्य—इस (उत्पन्न) सारे (पदार्थों) का, अत्ता—भोक्ता; भवति—होता है, सर्वम्—सब कुछ ही, अस्य—इसका, अन्नम्—भोग्य (वस्तु), भवति—होता है, यः—जो, एवम्—इस प्रकार, एतद्—इस, अदितेः—अदिति (मृत्यु) की, अदितित्वम्—सर्वभोग्यत्व (सब का संहर्ता—प्रलयकर्ता रूप) को, वेद—जानता है ॥५॥

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति। सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशोवीर्यमुदक्रामत्। प्राणा वै यशोवीर्यं तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरं श्वयितुमध्रियत तस्य शरीर एव मन आसीत् ॥६॥

सः—उस (रचयिता) ने, अकामयत—कामना की, भूयसा—(इन दो यज्ञों से) अधिक बड़े, यज्ञेन—यज्ञ (रचना) से; यजेय—यजन करूं (और

'यशोवीर्य' हैं। 'यशोवीर्य का उदय हुआ'—का अभिप्राय है, यशस्वी और वीर्यवान् प्राणों का सब जगह संचार हुआ। यद्यपि सृष्टि उत्पन्न हो जाने पर उसने उसका भक्षण प्रारम्भ कर दिया था, तथापि इस भक्षण के साथ-साथ सृष्टि में प्राण-शक्ति का विस्तार बढ़ता गया, बढ़ती होती ही चली गई, और बढ़ती होती ही जा रही है। भक्षण होते हुए भी बढ़ती होते जाना मृत्यु-रूप-ब्रह्म का भारी तीसरा यज्ञ है। प्राणों के सब जगह फैल जाने पर ब्रह्म का शरीर—जड़-चेतन—बढ़ने लगा। जैसे कृषक का मन खेत में लगा रहता है, वैसे मृत्यु-ब्रह्म का मन अपने शरीर की वृद्धि में लगा रहा ॥६॥

मृत्यु-ब्रह्म ने कामना की कि मेरे शरीर की 'वृद्धि' तो होती जा रही है, यह शरीर यों ही न फूलता जाय, इसमें 'पवित्रता' अवश्य हो। उसने यह चाहा कि मैं 'आत्मन्वी'—आत्मा, अर्थात् शरीर

उत्कृष्ट रचना करूं); इति—यह (कामना की); सः अश्राम्यत्—उसने श्रम किया; सः तपः अतप्यत—उसने तप भी किया; तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य—श्रम और तप किये हुए उसका; यशःवीर्यम्—यशोवल; उदक्रामत्—ऊपर उठा, निकला, उत्पन्न हुआ; प्राणाः—प्राण (श्वास-प्रश्वास, इन्द्रियां); वै—ही; **यशोवीर्यम्**—यशोवीर्य (शब्द के वाच्य) हैं; तत्—तो; **प्राणेषु उत्क्रान्तेषु**—प्राणों के उत्पन्न हो जाने पर; **शरीरम्**—(उनका अधिष्ठान) शरीर; **श्वयितुम्**—गति करने और वृद्धि के लिये; **अध्रियत**—धारण किया; (**श्वयितुम् अध्रियत**—गति करने और निरन्तर बढ़ने लगा); **तस्य**—उसका; **शरीरे एव**—शरीर में ही; **मनः आसीत्**—मन था (शरीर का ही मनन करता था) ॥६॥

सोऽकामयत मेध्यं म इदं स्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति। ततोऽश्वः समभवद्यदश्वत्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम्। एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद। तमनवरुध्यैवामन्यत। तं संवत्सरस्य परस्तादात्मन आलभत। पशून्देवताभ्यः प्रत्यौहत्। तस्मात्सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्ते। एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति तस्य संवत्सर आत्माऽयमग्निरर्कस्तस्येमे लोका आत्मानस्तावेतावर्काश्वमेधौ। सो पुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेवाप पुनर्मृत्युं जयति नैनं मृत्युराप्नोति मृत्युरस्यात्मा भवत्येतासां देवतानामेको भवति ॥७॥

सः अकामयत—फिर उसने चाहा; **मेध्यम्**—पवित्र, **मे**—मेरा; **इदम्**—यह शरीर या यशोवीर्य (प्राण); **स्यात्**—होवे; **आत्मन्वी**—उत्कृष्ट आत्मा (शरीर) वाला; **अनेन**—इस (पवित्र हुए शरीर) से; **स्याम्**—मैं होऊं; **इति**

वान्ता—तो होऊं, परन्तु 'मेध्य', अर्थात् पवित्र शरीर वाला होऊं। क्योंकि मृत्यु-ब्रह्म का शरीर बढ़ता जा रहा था, इसलिये इसे 'अश्व' कहते हैं, 'अश्व' का अर्थ है, बढ़ना, फूलना, और क्योंकि वह उसे 'मेध्य'—पवित्र—चाहता था, इसलिये इस विकसित सृष्टि का नाम 'अश्वमेध' हुआ। यही अश्वमेध का अश्वमेधपना है, और जो इस रहस्य को समझता है वही अश्वमेध के वास्तविक-रूप को जानता है। जैसे 'अश्वमेध' का घोड़ा एक वर्ष तक बिना रोके खुला विचरता है, वैसे सृष्टि-रूप-अश्व को मृत्यु-ब्रह्म ने बिना रोके बढ़ने दिया, परन्तु फिर जैसे अश्वमेध के घोड़े को वापस बुला लिया जाता है, वैसे संवत्सर के बाद फिर उस अश्व-रूप-सृष्टि का ब्रह्म ने अपने में ग्रहण कर लिया, तभी तो एक वर्ष बाद शीत-उष्ण-शरद्-वसन्त का चक्र फिर दोबारा चल पड़ता है। सृष्टि का जो मुख्य—'अश्व'-रूप—था उसका तो मृत्यु-ब्रह्म ने स्वयं भोग लगाया, और जो गौण—'पशु'-रूप—था उसे अन्य देवताओं के सुपुर्द कर दिया। मृत्यु-ब्रह्म तो सूर्य-चन्द्र-पृथिवी आदि को भोगता है, और सूर्य-चन्द्र-पृथिवी आदि अन्य-अवान्तर-जगत् को भोगते हैं। इस प्रकार यह विशाल-संसार सब देवताओं का सिखा-सिखाया प्राजापत्य-भोग है—यह मानो एक निरन्तर अश्व-मेध-यज्ञ हो रहा है।

—यह (चाहा), ततः—उसके बाद, उससे, अश्व—गति व वृद्धिवाला, समभवत्—हो गया, यद्—जो, अश्वत्—बढ़ा था, तद्—वह, मेध्यम्—पवित्र, मेधा-बुद्धि का पात्र (ज्ञेय), यज्ञिय (यज्ञ का अधिकारी), अभूत्—हुआ, इति—अतएव, तद्—वह, अश्वमेधस्य—अश्वमेध (शब्द की), अश्वमेधत्वम्—अश्वमेध (अर्थ) है (जो बढ़ने के साथ पवित्र, समझदार एवं सत्कर्मकर्ता हो), एष ह वै—यह ही, अश्वमेधम्—अश्वमेध को, वेद—(वस्तुतः) जानता है, यः एनम् एवं वेद—जो इसको इस प्रकार जानता है, तम्—उसको, अनवरुध्य—न रुक कर (न रुकनेवाला), एव—ही, अमन्यत—माना, समझा, तम्—उसको, संवत्सरस्य—वर्ष के, परस्तात्—बाद, आत्मने—अपने लिए, आत्मा के लिए, आलभत—ग्रहण (स्वीकार) किया, पशून्—पशुओं को, देवताभ्यः—देवताओं के लिए, प्रत्यौहत्—समर्पित कर दिया, तस्मात्—उस कारण से, सर्वदेवत्यम्—सब देवताओं के लिए हितकर, प्रोक्षितम्—शुद्ध-पवित्र, प्राजापत्यम्—प्रजापति-सम्बन्धी, आलभन्ते—स्वीकार करते हैं, लेते हैं, एष ह वै—यह ही,

(उपनिषदों में याज्ञिक-क्रियाओं को हेय माना है। जहां-तहां उनका कर्मकांड-परक अर्थ न करके ज्ञानकांड-परक अर्थ किया है। इस स्थल में भी अश्वमेध-यज्ञ का कर्मकांड-परक अर्थ न करके ज्ञानकांड-परक अर्थ किया गया है।)

अथवा, यह जो 'सूर्य' तप रहा है, यह भी 'अश्वमेध'-यज्ञ हो रहा है। 'संवत्सर' इसका शरीर है। 'संवत्सर' के अन्दर-ही-अन्दर यह अपना यज्ञ पूरा कर लेता है। तपना ही इसका यज्ञ है। अथवा यह 'अग्नि', जिसे 'अर्क' भी कह सकते हैं, 'अश्वमेध' ही कर रही है। 'लोक' इसके शरीर हैं, सब लोकों में यह व्याप्त है। 'अश्व' बढ़ने का नाम है, सब लोकों में निहित अग्नि सभी को बढ़ा रही है, यह 'अश्वमेध' ही है! इस प्रकार ये दोनों 'अर्क'—सूर्य तथा अग्नि—'अश्वमेध' ही हैं। अन्त में जाकर सूर्य, अग्नि आदि सब देवता मृत्यु-ब्रह्म में एक ही हो जाते हैं—वही इन सब पर छा रहा है। वह मृत्यु को जीत लेता है, उसे मृत्यु प्राप्त नहीं होती, मृत्यु उसका आत्मा हो जाता है, वह इन देवताओं में एक हो जाता है, जो इस रहस्य को जान लेता है ॥७॥

अश्वमेधः—अश्वमेध (पद-वाच्य) है; **यः एषः**—जो यह; **तपति**—तप रहा है, तप करता है; **तस्य**—उस (आदित्य) का; **संवत्सरः**—वर्ष; **आत्मा**—शरीर (धड़) है; **अयम्**—यह; **अग्निः**—अग्नि; **अर्कः**—अर्क (पद-वाच्य) है; **तस्य**—उसके; **इमे**—ये; **लोकाः**—लोक-लोकान्तर; **आत्मानः**—शरीर हैं; **तौ एतौ**—वे ये दोनों (अग्नि और सूर्य); **अर्क+अश्वमेधौ**—अर्क और अश्वमेध (पदों से अभिप्रेत) हैं; **सा+उ**—वह तो; **पुनः**—फिर; **एका+एव**—एक ही; **देवता**—देवता; **भवति**—होता है (रह जाता है); **मृत्युः एव**—(जिसका नाम) मृत्यु (संहर्त्ता ब्रह्म) ही है; **अप पुनः मृत्युम् जयति (पुनः मृत्युम् अपजयति)**—फिर मृत्यु (मरण) को जीत लेता (अपने से दूर कर देता) है; **न+एनम्**—नहीं इसको; **मृत्युः**—मौत (विनाश); **आप्नोति**—प्राप्त होती है; **मृत्युः**—मृत्यु (संहारक ब्रह्म); **अस्य**—इस (ज्ञानी) का; **आत्मा**—शरीर (धर्ता, पोषक); **भवति**—हो जाता है; **एतासाम्**—इन; **देवतानाम्**—देवताओं का (में); **एकः**—एक; **भवति**—हो जाता है (देव-रूप हो जाता है) ॥७॥

प्रथम अध्याय—(तीसरा ब्राह्मण)

(प्राण के सम्बन्ध में देवासुर-कथा)

प्रजापति की दो प्रकार की सन्तानें थीं, देव और असुर। देव छोटे और असुर बड़े थे। वे ब्रह्मांड में, अर्थात् पृथिव्यादि लोकों में, और पिंड में, अर्थात् इन्द्रियादि लोकों में अपना आधिपत्य पाने के लिये एक-दूसरे से स्पर्धा करने लगे। देवों ने सोचा, ये ब्रह्मांड तथा पिंड तो यज्ञ हैं, फिर क्यों न उद्गीथ द्वारा हम असुरों से आगे बढ़ जांय ॥१॥

उन्होंने 'वाणी' को कहा, तू हमारा उद्गाता बन। वाणी ने कहा, अच्छा। यह ब्रह्मांड में तथा पिंड में उद्गाता बन देवों के लिये गाने लगी। उसने यह तो कह दिया कि मेरे कर्म का फल सब देव, अर्थात् सब इन्द्रियां भोगेंगी, परन्तु साथ यह भी चाहने लगी कि जो अच्छा-अच्छा फल हो, वह मैं अपने लिये रख लूं। उसकी इस स्वार्थ-भावना को असुरों ने जान लिया। वे कहने लगे, इस उद्गाता द्वारा

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति ॥१॥

द्वयाः—दो (प्रकार के), ह—ही, प्राजापत्याः—प्रजापति के (पुत्र), देवाः च—(एक तो) देव (शुभ सकल्प-कर्म-वाणी वाले), असुराः च—(और दूसरे) असुर (अशुभ सकल्प-कर्म-वाणी वाले), अतः—अतएव, कानीयसा—छोटे, गिनती में कम, एव—ही, देवाः—देव, ज्यायसाः—बड़े, अधिकसंख्यक, असुराः—असुर, ते—वे (देव-असुर), एषु लोकेषु—इन लोकों में, अस्पर्धन्त—स्पर्धा (डाह-कलह) करने लगे, ते ह देवाः—उन देवों ने, ऊचुः—(आपस में) कहा, हन्त—अरे, तो; असुरान्—असुरों को, यज्ञे—यज्ञ (शुभ कर्म) में, उद्गीथेन—उद्गीथ (प्रणव-जप, ईश्वर स्तुति-गान) से, अत्ययाम—अतिक्रमण कर जाएं, पीछे छोड़ दें, आगे बढ़ जाएं, इति—यह (कहा) ॥१॥

ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायत्।
यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणं वदति तदात्मने।
ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मना-
ऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥२॥

ते ह—उन देवों ने, वाचम्—वाणी को; ऊचुः—कहा, त्वम्—तू; न—हमारे लिए; उद्गाय—गान कर, इति—यह (कहा), तथा+इति—

देव लोग हमसे आगे निकलना चाहते हैं ? उन्होंने जाकर वाणी को पाप से बींध दिया, वही जो पाप कहलाता है, उससे । अब वाणी 'अप्रतिरूप' अर्थात् झूठ भी बोलने लगी, यह झूठ—अर्थात् पाप । इससे देव सफल न हुए ॥२॥

तब देवों ने 'प्राण' को कहा, तू उद्गाता बन । प्राण ने कहा, अच्छा। वह ब्रह्मांड में तथा पिंड में उद्गाता बन देवों के लिये गाने लगा । उसने यह तो कह दिया कि मेरे कर्म का फल सब देव, अर्थात् सब इन्द्रियां भोगें, परन्तु साथ ही यह भी चाहने लगा कि जो अच्छा-अच्छा फल हो, वह मैं अपने लिये रख लूं । उसकी इस स्वार्थ-भावना को असुरों ने जान लिया । वे कहने लगे, इस उद्गाता द्वारा देव लोग हमसे आगे निकलना चाहते हैं ? उन्होंने जाकर प्राण को पाप से बींध दिया, वही जो पाप कहलाता है, उससे । अब प्राण 'अप्रतिरूप', अर्थात् बुरा भी सूंघने लगा, यह दुर्गन्ध—अर्थात् पाप । इससे देव सफल न हुए ॥३॥

वैसे ही हो, बहुत अच्छा; **तेभ्यः**—उन (देवों) के लिए; **वाग्**—वाणी ने; **उदगायत्**—गान किया; **यः**—जो; **वाचि**—वाणी में; **भोगः**—भोग (फल) है; **तम्**—उस (भोग) को; **देवेभ्यः**—देवों के लिए; **आगायत्**—गान (प्रार्थना) की; **यत्**—जो; **कल्याणम्**—शुभ; **वदति**—बोलती है; **तद्**—उसको; **आत्मने**—अपने लिए (गान किया); **ते**—उन (असुरों) ने; **विदुः**—जान लिया; **अनेन वै**—इस (वाणी) रूप ही; **नः**—हम से; **उद्गात्रा**—उद्गाता द्वारा; **अत्येष्यन्ति**—आगे बढ़ेंगे; **इति**—यह (जान लिया); **तम्**—उसको; **अभिद्रुत्य**—ओर दौड़ कर, हमला कर; **पाप्मना**—पाप से; **अविध्यन्**—बींध दिया, युक्त कर दिया; **सः यः**—वह जो; **सः पाप्मा**—वह पाप है; **यद् एव इदम्**—जो ही यह, जिस ही इस; **अप्रतिरूपम्**—उलटा, प्रतिकूल, अनुचित, असत्य; **वदति**—बोलती है; **सः एव सः पाप्मा**—वह ही वह पाप है ॥२॥

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः प्राण उदगायद्यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणं जिघ्रति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा ॥३॥

अथ ह—इसके बाद; **प्राणम्**—प्राण, घ्राण (नासिका) को; **ऊचुः**—बोले; **त्वम् नः उद्गाय इति**—तू हमारे लिए उद्गान कर; **तथा इति**—वैसे ही

तब देवों ने 'चक्षु' को कहा, तू उद्गाता बन। चक्षु ने कहा, अच्छा। वह ब्रह्मांड में तथा पिंड में उद्गाता बन देवों के लिये गाने लगा। उसने यह तो कह दिया कि मेरे कर्म का फल सब देव, अर्थात् सब इन्द्रियां भोगें, परन्तु साथ ही यह भी चाहने लगा कि जो-जो अच्छा फल हो, वह मैं अपने लिये रख लूं। उसकी इस स्वार्थ-भावना को असुरों ने जान लिया। वे कहने लगे, इस उद्गाता द्वारा देव लोग हम से आगे निकलना चाहते हैं? उन्होंने चक्षु को पाप से बींध दिया, वही जो पाप कहलाता है, उससे। अब चक्षु 'अप्रतिरूप', अर्थात् बुरा भी देखने लगा। इससे देव सफल न हुए ॥४॥

तब देवों ने 'श्रोत्र' को कहा, तू उद्गाता बन। श्रोत्र ने कहा, अच्छा। वह ब्रह्मांड में तथा पिंड में उद्गाता बन देवों के लिये गाने

हो, तेभ्य—उन (देवों के लिए), प्राण—घ्राण (नासिका) ने, उदगायत्—उद्गान किया, यः—जो, प्राणे—नासिका में, भोगः—घ्राण-शक्ति (भोग) है, तम् देवेभ्य आगायत्—उसका देवों के लिए गान किया, यत्—जो; कल्याणम्—अच्छा (शुभ), जिघ्रति—सूंघती है, तद् आत्मने—वह अपने लिए; ते विदुः सः पाप्मा—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यश्चक्षुरुदगायत्।
यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने।
ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मना-
ऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा ॥४॥

अथ ह—इसके बाद, चक्षु—नेत्र को, ऊचु—कहा, त्वम् नः उद्गाय इति—तू हमारे लिए उद्गान (स्तुति) कर, तथेति—बहुत अच्छा (कहकर), चक्षु उदगायत्—नेत्र ने उद्गान (स्तुति) की, य. चक्षुषि भोग—जो नेत्र में भोग (दर्शन-शक्ति) है, तम् देवेभ्यः आगायत्—उसका देवों के लिए गान किया, यत् कल्याणम्—जो शुभ, पश्यति—देखता है, तद् आत्मने—वह अपने (अपनी प्रीति के) लिए, ते विदु सः पाप्मा—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः श्रोत्रमुदगायद्य
श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं शृणोति तदात्मने।
ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मना-
ऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं शृणोति स एव स पाप्मा ॥५॥

अथ ह—इसके बाद, श्रोत्रम्—कान को, ऊचु—बोले, त्वम् नः उद्गाय इति—तू हमारे लिए उद्गान (स्तुति) कर, तथा इति—तथास्तु; तेभ्यः

लगा। उसने यह तो कह दिया कि मेरे कर्म का फल सब देव, अर्थात् सब इन्द्रियां भोगें, परन्तु साथ ही यह भी चाहने लगा कि जो-जो अच्छा फल हो, वह मैं अपने लिये रख लूं। उसकी इस स्वार्थ-भावना को असुरों ने जान लिया। वे कहने लगे, इस उद्गाता द्वारा देव लोग हम से आगे निकल जाना चाहते हैं? उन्होंने श्रोत्र को पाप से बींध दिया। अब श्रोत्र 'अप्रतिरूप', अर्थात् बुरा भी सुनने लगा। इससे देव सफल न हुए ॥५॥

तब देवों ने 'मन' को कहा, तू उद्गाता बन। उसने कहा, अच्छा। वह ब्रह्मांड में तथा पिंड में उद्गाता बन देवों के लिये गाने लगा। उसने यह तो कह दिया कि मेरे कर्म का फल सब देव, अर्थात् सब इन्द्रियां भोगें, परन्तु साथ ही यह भी चाहने लगा कि जो-जो अच्छा फल हो, वह मैं अपने लिये रख लूं। उसकी इस स्वार्थ-भावना को असुरों ने जान लिया। वे कहने लगे, इस उद्गाता से देव लोग हम से आगे निकलना चाहते हैं? उन्होंने मन को पाप से बींध दिया। अब मन 'अप्रतिरूप', अर्थात् बुरा संकल्प भी करने लगा। इससे देव सफल न हुए॥६॥

श्रोत्रम् उदगायत्—उनके लिए कान ने गान (स्तुति) किया; **यः श्रोत्रे भोगः**—जो कान में भोग (कर्म-फल या श्रवण-शक्ति) है; **तम् देवेभ्यः आगायत्**—उसको देवों के लिए गान किया; **यत् कल्याणम् शृणोति तद् आत्मने**—जो अच्छा-अच्छा सुनता है व अपने लिए (रख लिया); **ते विदुः. . .सः पाप्मा**—अर्थ पूर्ववत् ॥५॥

अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो मन उदगायद्यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणं संकल्पयति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं संकल्पयति स एव स पाप्मैवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेनाः पाप्मनाऽविध्यन् ॥६॥

अथ ह—इसके बाद; **मनः**—मन (अन्तःकरण) को; **ऊचुः**—बोले; **त्वम् नः उद्गाय इति**—तू हमारे लिये उद्गीथ का गान कर; **तथा इति**—तथास्तु (कहकर); **तेभ्यः मनः उदगायत्**—उनके लिए मन ने उद्गान किया; **यः**—जो; **मनसि**—मन में; **भोगः**—भोग (मननशक्ति या कर्मफल) है; **तम् देवेभ्यः आगायत्**—उसको देवों के लिये गान (प्रार्थना) किया; **यत् कल्याणम्**—जो अच्छा (शुभ); **संकल्पयति**—सोचविचार (मनन) करता है; **तद् आत्मने**—

तब देवो ने मुख में निवास करने वाले 'प्राण' को कहा, तू उद्-
गाता बन। उसने कहा, अच्छा। वह ब्रह्माड तथा पिड में उद्गाता
बन देवो के लिये गाने लगा। असुरो ने कहा, अच्छा, अब इसके
सहारे देव लोग हम से आगे निकलना चाहते हैं? उन्होने स्वार्थ-
हीन प्राण के सामने आकर ज्यो ही उसे पाप से बींधना चाहा कि
जैसे मिट्टी का ढेला पत्थर से टकराकर चूर-चूर हो जाता है, वैसे
ही असुर भी प्राण से टकराकर चूर-चूर हो गये, और विध्वस होते हुए
ढेले की तरह चारो-तरफ बिखर कर नष्ट हो गये। तब देव बढे,
असुर हारे। जो इस रहस्य को जान लेता है वह आत्मा के ससर्ग में
आ जाता है, और उससे द्वेष करने वाले शत्रु परास्त हो जाते हैं ॥७॥

यह अपने लिए (रख लिया), ते विदु स पाप्मा—अथ पूर्ववत एवम् उ खलु
—इस प्रकार ही तो, एता —य देवता —(ज्ञानसाधन इन्द्रिय रूप) देवता
पाप्मभि —पापो से, उपासृजन्—लिप्त हो गये एवम—इस प्रकार एता—
इन (इन्द्रियो) को, पाप्मना—पाप से, अविध्यन्—असुरो ने बींध दिया (युक्त
कर दिया) ॥६॥

अथ हेममासन्य प्राणमूचुस्त्व न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष
प्राण उदगायत्ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य
पाप्मनाविध्यन्स यथाऽश्मानमृत्वा लोष्ठो विध्वंसेतैवं
हैव विध्वसमाना विष्वञ्चो विनेशुस्ततो देवा अभवन परा
सुरा भवत्यात्मना परास्य द्विषन्भ्रातृव्यो भवति य एव वेद ॥७॥

अथ ह—इसके बाद इमम्—इस आसन्यम्—मुख में रहने वाले
प्राणम्—प्राण को, श्वास प्रश्वास को ऊचु—कहा त्वम् न उद्गाय इति—तू
हमारे लिए उद्गीथ-गान कर तथा+इति—तथास्तु कहकर तेभ्य —उन
देवो के लिए, एष प्राण —इस प्राण ने उदगायत्—उद्गान किया ते—उन
(असुरो) ने, विदु —जाना, समझा अनेन वै—इस ही न —हम उद्गात्रा—
उद्गाता द्वारा, अत्येष्यन्ति—पराजित करेंगे हम पीछे छोड आगे बढ जायगे
इति—यह (जानकर), तम्—उस (प्राण) को अभिद्रुत्य—झपट्टे में हमला
(आक्रमण) कर, पाप्मना—पाप से अविध्यन—बींध (युक्त कर) दिया, स —
वह, यथा—जैसे, अश्मानम्—पत्थर को ऋत्वा—जाकर (पास पहुँच कर),
लोष्ठ —मट्टी का ढेला, विध्वसेत—नष्ट हो जाय (जाता है), एवम् ह एव—
इस प्रकार ही, विध्वसमाना —(वे पाप) नष्ट भ्रष्ट (टूट फूट) होते हुए,
विष्वञ्च —चारो ओर, इधर-उधर, विनेशु —नष्ट हो गये, तत —उसके बाद,

देव अपनी विजय देखकर बोले, कहां है वह जिसने हमारा इस प्रकार साथ दिया ? उन्हें मालूम हुआ, अरे यह—'अयम'—तो मुख के भीतर—'आस्ये'—बैठा हुआ है। इसीलिये प्राण को 'अयास्य' कहते हैं, और 'आंगिरस' भी कहते हैं। 'अयम्' का 'अय', और 'आस्ये' का 'आस्य' मिलकर 'अयास्य' बना, और क्योंकि वह अंगों का रस है, अतः उसे 'आंगिरस' कहा गया ॥८॥

इस प्राण-देवता को 'दूर्' भी कहते हैं, मृत्यु प्राण से दूर भागती है। जो इस रहस्य को समझता है उससे मृत्यु दूर रहती है ॥९॥

तब; **देवाः**—देव; **अभवन्**—सत्ता-सम्पन्न हो गये (जीत गये); **परा (अभवन्)** पराभूत हो गये, हार गये; **असुराः**—असुर (दुष्प्रवृत्तियाँ, पापात्मा, दुराचारी); **भवति**—(युक्त) होता है; **आत्मना**—आत्मा से (अपने स्वरूप से); **अस्य**—इसका; **द्विषन्**—द्वेष करता हुआ; **भ्रातृव्यः**—शत्रु; **परा भवति**—पराजित होता है; **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥७॥

ते होचुः क्व नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेत्ययमास्येऽन्तरिति
सोऽयास्य आंगिरसोऽङ्गानाँ हि रसः ॥८॥

ते ह ऊचुः—उन देवों ने (आपस में) कहा (पूछा, जानना चाहा); **क्व नु**—कहाँ तो; **सः**—वह; **अभूत्**—था, रहता है; **यः**—जो; **नः**—हमको; **इत्थम्**—इस प्रकार; **असक्त**—आसक्त हुआ, हमारा साथ दिया; **इति**—यह (पूछा); **अयम्**—यह (हमारा साथी); **आस्ये**—मुख में (के); **अन्तः**—अन्दर (रहता है); **इति**—यह (उत्तर मिला); **सः**—वह; **अयास्यः**—(मुख-निवासी होने के कारण) अयास्य (कहलाता) है; (और) **आंगिरसः**—(उसका) आंगिरस (नाम भी) है; **अङ्गानाम्**—अंगों का; **हि**—क्योंकि, **रसः**—सारभूत या आनन्दित (प्रफुल्लित) करनेवाला है ॥८॥

सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरँ ह्यस्या मृत्युर्दूरँ
ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद ॥९॥

सा वै एषा—वह ही यह (प्राणनामी); **देवता**—देवता (इन्द्रिय-राज); **दूः**—'दू'; **नाम**—नामवाली है; **हि**—क्योंकि; **दूरम्**—दूर, परे-परे; **अस्याः**—इस देवता (प्राण) से; **मृत्युः**—मौत (रहती है); **दूरम्**—दूर; **ह वै**—निश्चय ही; **अस्मात्**—इस (ज्ञानी) से; **मृत्युः**—मौत; **भवति**—रहती है; **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥९॥

प्राण-देवता ने इन्द्रियों के पापों को, जो कि उनकी मानो मृत्यु हैं, उनमें से हटाकर जहाँ इन दिशाओं का अन्त है वहाँ पहुँचा दिया, वहाँ इनके पापों को ले जाकर रख दिया। पापी लोग लुके-छिपे ही तो रहते हैं, मानो दिशाओं के अन्त में रहते हों। ऐसे जनों का संसर्ग न करे, न ही ऐसी जगह जाय, कहीं ऐसा न हो कि पाप का, जो मृत्यु-रूप है, उसका संसर्ग हो जाय ॥१०॥

प्राण-देवता इन्द्रियों के पाप-रूप-मृत्यु को दूर हटाकर इन्हें मृत्यु के पार लंघा ले गया ॥११॥

उसने पहले-पहल 'वाणी' को मृत्यु के पार लंघाया। वाणी जब

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां दिशामन्तस्तद्गमयांचकार तदासां पाप्मनो विन्यदधा-त्तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति ॥१०॥

सा वै एषा—वह ही यह (प्राण संज्ञक), **देवता**—देवता, **एतासाम्**—इन, **देवतानाम्**—(वाणी आदि) इन्द्रियों के, **पाप्मानम्**—पाप को, **मृत्युम्**—विनाशक (मृत्युरूप), **अपहत्य**—नष्ट कर, दूर भगा कर, **यत्र**—जहाँ, **आसाम्**—इन, **दिशाम्**—दिशाओं का, **अन्त**—अन्त है, **तद्**—वहाँ, **गमयांचकार**—चलता कर दिया, बहुत दूर पहुँचा दिया, **तद्**—वहाँ, **आसाम्**—इन (इन्द्रिय-नामी देवों) के, **पाप्मन**—पापों को, **विन्यदधात्**—रख (गाड़) दिया, **तस्मात्**—उस कारण से, **न**—नहीं, **जनम्**—मनुष्य (समुदाय) में, **इयात्**—जावे, **न**—नहीं, **अन्तम्**—(दिशाओं के) अन्त को (निर्जन स्थान को), **इयात्**—जावे, (**न अन्तम् इयात्**—किसी कार्य में अन्त (अति) न करे), **न इत्**—न कहीं, **पाप्मानम् मृत्युम्**—पाप-रूप मृत्यु (नाश) को, **अनु+अव+आयानि**—पुन (उससे) ससक्त, अनुगत होऊं (पाप फिर से न चिपट जाय), **इति**—यह (ध्यान रक्खे) ॥१०॥

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्याथैना मृत्युमत्यवहत् ॥११॥

सा वै एषा—उस ही इस (प्राण), **देवता**—देवता ने, **एतासाम्**—इन (इन्द्रिय), **देवतानाम्**—देवों के, **पाप्मानम् मृत्युम्**—विनाशक पाप (स्वार्थ) को, **अपहत्य**—दूर हटा कर, **अथ**—बाद में, **एना**—इन (देवता इन्द्रियों) को, **मृत्युम्**—मृत्यु को (में), **अत्यवहत्**—पार कर दिया, पाप से मुक्त कर दिया ॥११॥

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते ॥१२॥

मृत्यु के बन्धन से छूट गई, वह 'अग्नि' हो गई। ब्रह्मांड की 'अग्नि' ही तो पिंड में कैद होकर 'वाणी' हो गई थी। यह वाणी ही मृत्यु के पार पहुंची हुई अग्नि-रूप में देदीप्यमान हो रही है ॥१२॥

फिर 'घ्राण' को पार लंघाया। 'घ्राण' जब मृत्यु के बन्धन से छूट गया, वह 'वायु' होगया। ब्रह्मांड की 'वायु' ही तो पिंड में कैद होकर 'घ्राण' हो गई थी। यह घ्राण ही मृत्यु के पार पहुंच कर वायु होकर बह रहा है ॥१३॥

फिर 'चक्षु' को पार लंघाया। 'चक्षु' जब मृत्यु के बन्धन से छूट गया, वह 'आदित्य' हो गया। ब्रह्मांड का 'आदित्य' ही तो पिंड में कैद होकर 'चक्षु' होगया था। यह चक्षु ही मृत्यु के पार पहुंच कर आदित्य होकर तप रहा है ॥१४॥

सा वै—वह (प्राण-देवता) ही; **वाचम् एव**—वाणी को ही; **प्रथमाम्**—प्रथम, पहिले; **अत्यवहत्**—पार ले गया; **सा**—वह (वाणी); **यदा**—जब; **मृत्युम्**—मृत्यु (पाप) को (से); **अत्यमुच्यत**—सर्वथा छूट गई; **सः**—वह; **अग्निः**—अग्नि; **अभवत्**—हो गई; **सः अयम् अग्निः**--वह यह अग्नि; **परेण**—परे, दूर; **मृत्युम्**—मृत्यु को; **अतिक्रान्तः**—लांघी हुई, पार कर गई; **दीप्यते**—प्रदीप्त हो रही है, चमक रही है ॥१२॥

अथ प्राणमत्यवहत्स यदा मृत्युमत्यमुच्यत स
वायुरभवत्सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते ॥१३॥

अथ—तत्पश्चात्; **प्राणम्**—घ्राण (नासिका) को; **अत्यवहत्**—पार कराया; **सः यदा मृत्युम् अत्यमुच्यत**—वह (प्राण, घ्राण) जब मृत्यु से सर्वथा मुक्त हो गया; **सः वायुः अभवत्**—वह वायु हो गया; **सः अयम् वायुः**—वह यह वायु; **परेण**—दूर; **मृत्युम् अतिक्रान्तः**—मृत्यु से मुक्त; **पवते**—वह रहा है ॥१३॥

अथ चक्षुरत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभ-
वत्सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति ॥१४॥

अथ—(नासिका के) पश्चात्; **चक्षुः**—नेत्र को; **अति+अवहत्**—पार ले गया; **तद्**—वह (नेत्र); **यदा**—जब; **मृत्युम् अत्यमुच्यत**—मृत्यु को छोड़ गया; **सः आदित्यः अभवत्**—वह आदित्य (सूर्य) हो गया; **सः असौ आदित्यः**—वह यह आदित्य (सूर्य); **परेण**—परे, दूर; **मृत्युम् अतिक्रान्तः**—मृत्यु से उन्मुक्त हुआ; **तपति**—तप रहा है, गर्मी दे रहा है ॥१४॥

फिर 'श्रोत्र' को पार लंघाया। 'श्रोत्र' जब मृत्यु के बन्धन से छूट गया, वह 'दिशाएं' हो गया। ब्रह्मांड की 'दिशाएं' ही तो पिंड में कैद होकर 'श्रोत्र' हो गई थीं। ये श्रोत्र ही मृत्यु के पार पहुंच कर दिशाएं बनी हुई हैं ॥१५॥

फिर 'मन' को पार लंघाया। 'मन' जब मृत्यु के बन्धन से छूट गया, वह 'चन्द्रमा' हो गया। ब्रह्मांड का 'चन्द्र' ही तो पिंड में कैद होकर 'मन' हो गया था। यह मन ही मृत्यु के पार पहुंचकर चन्द्र बनकर अपनी आभा दिखा रहा है। जो इस रहस्य को जान लेता है उसे प्राण-देवता मृत्यु से पार तरा ले जाता है ॥१६॥

(यहां तक प्राण के द्वारा, विराट्-रूप इस ब्रह्मांड तथा क्षुद्र-रूप इस पिंड में एकात्मता दर्शाई गई है। इन्द्रिय तथा प्राण के सम्बन्ध में ऐसा ही वर्णन केन ३, प्रश्न २-३, बृहदा० ३-१ में भी पाया जाता है।)

इस प्रकार सब इन्द्रियों को मृत्यु के पार लंघा चुकने के बाद

अथ श्रोत्रमत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत ता दिशो-
ऽभवँस्ता इमा दिशः परेण मृत्युमतिक्रान्ताः ॥१५॥

अथ—(नेत्र के) बाद, श्रोत्रम्—कान को, अत्यवहत्—मुक्त (पार) किया, तत्—वह (कान), यदा—जब, मृत्युम् अत्यमुच्यत—मृत्यु को पीछे छोड़ गया, ताः—वे, दिशः—दिशाएं (अवकाश), अभवन्—हो गईं; ताः इमाः दिशः—वे ये दिशाएं, परेण—दूर, मृत्युम्—मृत्यु को, अतिक्रान्ताः—पार कर चुकी हैं, मृत्यु से मुक्त हैं ॥१५॥

अथ मनोऽत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा
अभवत्सोऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भात्येवं
ह वा एनमेषा देवता मृत्युमतिवहति य एवं वेद ॥१६॥

अथ—(इन सब के) बाद, मनः—मन को, अत्यवहत्—(मृत्यु से) पार ले गया, तद्—वह (मन), यदा—जब, मृत्युम् अत्यमुच्यत—मृत्यु से छूट गया, सः—वह, चन्द्रमाः—चन्द्रमा; अभवत्—हो गया, सः असौ चन्द्रः—वह यह चन्द्रमा, परेण—दूर; मृत्युम् अतिक्रान्तः—मृत्यु से मुक्त, भाति—चमक रहा है; एवम् ह वै—इस प्रकार ही, एनम्—इस (ज्ञाता) को; एषा—यह (प्राण); देवता—देवता, मृत्युम् अतिवहति—मृत्यु से पार कर देता है; यः एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है ॥१६॥

अथात्मनेऽन्नाद्यमागायद्यद्धि किंचान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत इह प्रतितिष्ठति ॥१७॥

'प्राण' ने अपने लिये खाना गाया। ('खाना गाया' का क्या अर्थ है ? गाने में गाने वाला जो गाता है, वह दूसरों को मिलता है, उसका मानो प्रवाह बहने लगता है, और दूसरे लोग उस प्रवाह का पान करने लगते हैं। चक्षु आदि अन्य इन्द्रियां तो अपने लिये सोचने लगी थीं, प्राण ने अपने लिये नहीं दूसरों के लिये सोचा, अपना बल दूसरों को दिया, ठीक ऐसे, जैसे गाते हुए गाने वाला अपना संगीत दूसरों के हृदयों तक में बैठा देता है। 'खाना गाया' का अर्थ है, प्राण का जो-कुछ खाना था, भोजन था, और इस भोजन से उसे जो बल मिला था, उसे संगीत की तरह सिर्फ़ अपना ही बल न रखकर दूसरों का बल बना दिया, सब इन्द्रियों में अपने बल को बांट दिया। प्राण ने पहले अपना बल 'वाणी' को दिया, वह अग्नि-सदृश हो गई, फिर वह बल 'प्राण' को दिया, वह वायु-सदृश हो गया, फिर वह बल 'चक्षु' को दिया, वह आदित्य-सदृश हो गया, 'श्रोत्र' को दिया, वह दिशाओं-सदृश हो गया, 'मन' को दिया, वह चन्द्र-सदृश हो गया। इस प्रकार अपना बल दूसरों को देना ही प्राण का गाना है, इस गाने-रूपी खाने से प्राण बलशाली हो गया।) **जो-कुछ अन्न खाया जाता है, प्राण ही तो खाता है, प्राण ही में तो जाकर वह ठहरता है।१७॥**

इन्द्रियां बोलीं, अन्न ही तो दुनिया में सब-कुछ है, वह तूने अपने

अथ—इसके बाद; **आत्मने**—अपने लिए; **अन्नाद्यम्**—भोज्य अन्न को; **आगायत्**—गान किया (प्रार्थना की); **यद् यद् हि**—जो-जो (जो कुछ) ही; **अन्नम्**—अन्न; **अद्यते**—खाया जाता है; **अनेन**—अन (प्राण) से, इससे, इस (प्राण) के द्वारा; **एव**—ही; **तद्**—वह (अन्न); **अद्यते**—खाया जाता है; **इह**—इस (प्राण) में; **प्रतितिष्ठति**—प्रतिष्ठा (आधार) पाता है, स्थिर होता है।।१७।।

ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा इदं सर्वं यदन्नं तदात्मन आगासीरनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति ते वै माऽभिसंविशतेति तथेति तं समन्तं परिण्यविशन्त। तस्माद्यदनेनान्नमत्ति तेनैतास्तृप्यन्त्येवं ह वा एनं स्वा अभिसंविशन्ति भर्ता स्वानां श्रेष्ठः पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद य उ हैवंविदं स्वेषु प्रतिप्रतिर्बुभूषति न हैवालं भार्येभ्यो भवत्यथ य एवैतमनुभवति यो वैतमनु भार्यान् बुभूर्षति स हैवालं भार्येभ्यो भवति ॥१८॥

लिये गा लिया। हमें भी इस अन्न में हिस्सा दो। प्राण ने कहा, हिस्सा चाहती हो, तो मुझ में अच्छी तरह से प्रविष्ट हो जाओ। इन्द्रियों ने कहा, अच्छा, और यह कहकर प्राण में चारों ओर से प्रवेश कर गई। इसी से प्राण जो खाता है उससे इन्द्रियां तृप्त हो जाती हैं। जो इस रहस्य को जानता है, प्राण का अनुसरण करता है, स्वयं खाकर ही तृप्त नहीं हो जाता, इन्द्रियां जैसे प्राण में वैसे उसके अपने मानो उसी में प्रवेश कर जाते हैं, अपनों का वह भर्ता हो जाता है, श्रेष्ठ कहलाता है, अग्र-गामी, अन्नाद और अधिपति हो जाता है। अपनों में ही अगर कोई प्राण-सरीखे स्वार्थहीन व्यक्तियों का शत्रु उठ खड़ा होता है तो वह, जैसे असुर समर्थ नहीं हो सके, वैसे समर्थ नहीं हो सकता, किसी का भर्ता नहीं बन सकता। जो प्राण

ते—वे, देवाः—देव (इन्द्रियां), अब्रुवन्—बोलीं, एतावद् वै—इतना ही, इदम्—यह, सर्वम्—सारा; यद् अन्नम्—जो अन्न है; तद्—उस (अन्न) को, आत्मने—अपने लिए, आगासीः—गायन किया, प्राप्त किया, माग लिया, नः—हमको, अस्मिन्—इस, अन्ने—अन्न में, अनु आभजस्व—भाग दे, बांट कर दे, इति—यह (कहा), ते वै—वे सब (इन्द्रिय-देवता), मा—मुझ को (में), अभिसंविशत—सब ओर से प्रवेश करो (मेरे में लीन हो जाओ, मेरा ही अवयव हो जाओ), इति—यह (प्राण-देवता का वचन सुनकर), तथा+इति—वैसे ही (करते हैं), तम्—उसको (में), समन्तम्—पूर्णतया, सब ओर, परि+नि+अविशन्त—प्रविष्ट हो गये, लीन हो गये, तस्मात्—उस कारण से, यद्—जो, अनेन—इस (प्राण) के द्वारा, अन्नम्—अन्न को, अत्ति—खाता है, तेन—उस (भुक्त अन्न) से, एताः—ये (इन्द्रिय-देवता), तृप्यन्ति—तृप्त (छक) हो जाते हैं, एवम् ह वै—इस प्रकार ही, एनम्—इस (ज्ञाता) को, स्वाः—अपने बन्धु-बान्धव, अभिसंविशन्ति—(उसके पास) एकत्र हो जाते हैं, भर्ता—भरण-पोषण करनेवाला, स्वानाम्—बन्धु-बान्धवों का, श्रेष्ठः—श्रेष्ठ (माननीय), पुरः—आगे, एता—चलने वाला, (पुरः एता—अग्रणी, नेता), भवति—होता है, अन्नादः—(स्वयं भी) अन्न का भोक्ता, अधिपतिः—शासक, पालक, यः एवम् वेद—जो इस प्रकार (प्राण के रहस्य को) जानता है, यः उ ह—जो तो, एवंविदम्—ऐसे प्राण को जाननेवाले के प्रति, स्वेषु—अपने बन्धु-बान्धवों में; प्रति पतिः—प्रतिकूल, प्रतिस्पर्धी (प्राण का ज्ञान न होते हुए भी) पति-रक्षक, बुभूषति—होना चाहता है (वह), न ह एव—नहीं ही; अलम्—(पालन करने में) समर्थ; भार्येभ्यः—भरण करने योग्य (आश्रित) जनों

की स्वार्थ-हीनता को अनुभव करता है, जो भरण-योग्य व्यक्तियों का पालन करना चाहता है, वह प्राण की तरह 'भर्ता' बनकर इन्द्रियों को 'भार्या'—पोष्य—बनाने में समर्थ हो जाता है, ठीक ऐसे जैसे प्राणरूपी 'भर्त्ता' की इन्द्रियां मानो 'भार्या' हैं ॥१८॥

यह 'अयास्य'—प्राण—'आंगिरस' है, क्योंकि यह अंगों का रस है। प्राण अंगों का रस है, और क्योंकि प्राण अंगों का रस है इसलिये जिस-किसी अंग से प्राण निकल जाता है, वही सूख जाता है, अंगों का रस जो ठहरा ॥१९॥

यह 'बृहस्पति' भी कहलाता है। 'वाणी' बृहती है, महान् है, और

के लिये; भवति—होता है; (य उ ह एवंविदं प्रति स्वेषु पतिः बुभूषति, भार्येभ्यः अलम् न ह एव भवति—जो प्राण-रहस्य-ज्ञाता के अपने ही बन्धुओं में बिना भरण-पोषण किये ही प्रतिस्पर्धी होना चाहता है, वह आश्रितों के भरण-पोषण में समर्थ नहीं होता); अथ—और; यः एव—जो ही; एतम्—इस (प्राण की स्वार्थहीनता और पर-पोषकता) को; अनुभवति—अनुभव करता है, समझता है; यः वै—जो ही; एतम्—इस (प्राण) के; अनु—अनुसार; भार्यान्—भरण योग्य (आश्रितों) को; बुभूर्षति—भरण, (पालन-पोषण) करना चाहता है; सः ह एव—वह ही; अलम्—(भरण करने में) समर्थ; भार्येभ्यः—आश्रित-जनों के लिए; भवति—होता है ॥१८॥

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः प्राणो वा अङ्गानां रसः प्राणो हि वा अङ्गानां रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चा-ङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानां रसः ॥१९॥

सः—वह; अयास्यः—मुख में रहने वाला (अयास्यः—बिना परिश्रम के इन्द्रिय-जेता); आङ्गिरसः—आङ्गिरस (कहलाता है); अङ्गानाम् हि—क्योंकि (वह प्राण) अंगों का; रसः—रस (सार, जीवनप्रद, आनन्दयिता) है; प्राणः—प्राण; वै—ही; अङ्गानाम् रसः—अंगों का रस है; प्राणः हि—क्योंकि प्राण; वै—ही; अङ्गानाम् रसः—अंगों का रस है; तस्मात्—अतएव; यस्मात् कस्मात् च—जिस किसी; अङ्गात्—अंग से; प्राणः—प्राण; उत्क्रामति—निकल जाता है; तद् एव—वह ही; शुष्यति—सूख जाता है, नीरस हो जाता है; एषः हि वै—क्योंकि यह (प्राण) ही; अङ्गानाम् रसः—अंगों का रस (जीवन) है ॥१९॥

एष उ एव बृहस्पतिर्वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः ॥२०॥

एषः उ एव—यह (प्राण) ही तो; बृहस्पतिः—बृहस्पति (–संज्ञक) है;

यह वाणी का भी पति है क्योंकि वाणी को इसी ने तो मृत्यु के पार लंघाया था, इसलिये यह बृहस्पति है ॥२०॥

यह 'ब्रह्मणस्पति' भी कहलाता है। 'वाणी' ब्रह्म है, उसका यह पति है, इसलिये ब्रह्मणस्पति है ॥२१॥

प्राण ही साम है। 'वाणी' 'सा' है, 'प्राण' 'अम' है, 'सा' और 'अम' मिलकर ही साम का सामपन बनता है। अथवा प्राण को 'साम' इसलिये कहते हैं क्योंकि यह घुण के समान है, मच्छर के समान है, हाथी के समान है, तीनों लोकों के समान है, इस सम्पूर्ण-विश्व के समान है, प्राण ही तो सब में समाया हुआ है, सब के समान है, इसलिये प्राण ही साम है। समानता और साम मिलते-जुलते-से शब्द जो ठहरे। जो प्राण के इस साम-रूप को जानता है वह साम-रूप की 'सायुज्यता' और 'सलोकता' को प्राप्त होता है। 'सायुज्यता', अर्थात् समानता, 'सलोकता', अर्थात् एक ही जगह रहना। ऐसा व्यक्ति प्राण के समान स्वार्थ-हीन हो जाता है, उसके साथ एक हो जाता है, उसी के लोक में वास करता है ॥२२॥

वाग् वै—वाणी (का नाम), बृहती—बृहती (है), तस्याः—उस बृहती (वाणी) का, एष—यह (प्राण), पतिः—स्वामी, रक्षक है, तस्माद् उ—इस कारण से, बृहस्पतिः—(यह प्राण) बृहस्पति (नामवाला) है ॥२०॥

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग् वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः ॥२१॥

एषः उ एव—यह (प्राण) ही तो, ब्रह्मणस्पतिः—ब्रह्मणस्पति (नाम वाला) है, वाग् वै—वाणी (का नाम) ही, ब्रह्म—'ब्रह्मन्' है, तस्याः—उस (ब्रह्म-संज्ञक वाणी) का, एष पतिः—यह रक्षक (स्वामी) है, तस्माद् उ—अतएव, ब्रह्मणस्पतिः—(यह प्राण) ब्रह्मणस्पति (नामवाला) है ॥२१॥

एष उ एव साम वाग् वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्। यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव सामाश्नुते साम्नः सायुज्यं सलोकतां य एवमेतत्साम वेद ॥२२॥

एष उ एव—यह (प्राण) ही तो, साम—साम (संज्ञक) है, वाग् वै सा—वाणी (का वाचक) 'सा' है, अम एष—यह (प्राण) 'अम' (साथ रहने-वाला, अनिवार्य), सा च अम च इति—(साम में दो पद हैं) 'सा' और 'अम' ये (दोनों मिलकर साम हुआ), तत्—वह, साम्नः—साम को, सामत्वम्—

प्राण ही उद्‌गीथ है। 'वाणी' गीथा है, प्राण 'उत्' है। प्राण 'उत्' इसलिये है क्योंकि प्राण से ही तो सब उठ खड़ा हुआ है, और उठ खड़े होकर सब प्रभु का गुण-गान कर रहे हैं। यह खड़े-खड़े जो सब जगह प्राण द्वारा प्रभु का गान हो रहा है, यही उद्‌गीथ है ॥२३॥

प्राण ही वाणी द्वारा प्रभु का गुण-गान करता है, इस विषय में एक आख्यायिका है। किसी समय ब्रह्मदत्त चैकितानेय सोम-पान कर रहे थे। वे बोले, अयास्य-आंगिरस प्राण अगर वाणी के बिना उद्‌गीथ का गान करे, तो सोम राजा उसका सिर फोड़ दे। अर्थात्, प्राण इकला उद्‌गीथ-गान नहीं कर सकता, वाणी तथा प्राण के मेल से ही उद्‌गीथ-गान हो सकता है ॥२४॥

साम-रूप (वाणी और प्राण का योग) है; यद्+उ+एव—(अथवा) जो तो; **समः**—समान; **प्लुषिणा**—घुण या दीमक (चींटी) के; **समः**—समान; **मशकेन**—मच्छर के; **समः**—समान; **नागेन**—हाथी के; **समः**—समान; **एभिः त्रिभिः लोकैः**—इन तीन लोकों के; **समः**—समान; **अनेन सर्वेण**—इस सब (दृश्यमान चर-अचर जगत्) के; **तस्माद् उ एव**—इस कारण से ही; **साम**—'साम' (कहलाता) है; **अश्नुते**—प्राप्त होता है, भोग करता है; **साम्नः** साम की; **सायुज्यम्**—समान योग, समानरूपता को; **सलोकताम्**—सह-निवास को; **यः एवम्**—जो इस प्रकार; **एतत् साम**—इस साम को; **वेद**—जानता है ॥२२॥

एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्प्राणेन हीदं सर्वमु-
त्तब्धं वागेव गीथोच्च गीथा चेति स उद्गीथः ॥२३॥

एषः उ वै—यह साम ही तो; **उद्गीथः**—उद्गीथ (प्रणव-गान, स्तुति-गान) है; **प्राणः वै**—प्राण ही; **उद्**—उत् (शब्द से वाच्य) है; **प्राणेन हि**—क्योंकि प्राण से ही; **इदम् सर्वम्**—यह सब कुछ; **उत्तब्धम्**—(अपने) ऊपर थामा हुआ है; **वाग् एव**—वाणी (का नाम) ही; **गीथा**—गीथा (गायक) है; **उत् च**—(ऊपर उठानेवाला प्राण) उत्; **गीथा च**—और (गायक वाणी) गीथा; **इति**—ये (मिलकर); **सः उद्गीथ**—वह (रूप) उद्गीथ है ॥२३॥

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाचायं त्यस्य
राजा मूर्धानं विपातयताद्यदितोऽयास्य आङ्गिरसोऽन्ये-
नोदगायदिति वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति ॥२४॥

तद्—तो; **ह**—कभी पहले; **अपि**—भी; **ब्रह्मदत्तः**—ब्रह्मदत्त (नामी) ने; **चैकितानेयः**—चिकितान के पौत्र; **राजानम्**—(औषध-राज) सोम को; **भक्षयन्**—(यज्ञ में) खाते हुए; **उवाच**—कहा था; **अयम् राजा**—यह राजा

वाणी साम-गान करती है, परन्तु साम का धन, उसका सर्वस्व 'स्वर' है। जो साम के धन को जानता है, वह धनी होता है। 'स्वर' ही साम का धन है, इसलिये ऋत्विक् का कार्य करना हो, तो स्वर ठीक करे। स्वर से सम्पन्न वाणी से ऋत्विक्-कार्य करे। तभी तो यज्ञ में स्वर वाले को ढूंढते हैं, जिसकी वाणी में स्वर का धन होता है। जो इस प्रकार साम के धन को, सुरीली-वाणी को जानता है, वह साम का धनी हो जाता है ॥२५॥

सोम, त्यस्य—उसके, मूर्धानम्—सिर को, विपातयतात्—गिरा देवे, फोड दे (लज्जित, नतमस्तक कर दे), यद्—जो, इतः—इससे, यहाँ से (आगे), अयास्यः आंगिरसः—मुख्यवर्ती अंगों का सार (प्राण), अन्येन—(वाणी से) भिन्न दूसरे से, उदगायत्—गान किया हो, वाचा च—वाणी से, हि एव—ही, सः—उसने, प्राणेन च—और प्राण से (वे द्वारा), उदगायत्—उद्गीथ-गान किया था, इति—ऐसे ॥२४॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वं तस्य वै स्वर एव स्वं तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन्वाचि स्वरमिच्छेत तया वाचा स्वरसंपन्नयार्त्विज्यं कुर्यात्तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव। अथो यस्य स्वं भवति भवति हास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद ॥२५॥

तस्य ह—उस ही, एतस्य—इस, साम्नः—साम के, यः—जो, स्वम्—धन (सम्पादक साधन) को, वेद—जान लेता है, भवति ह—होता ही है, अस्य—इस (ज्ञाता) का, स्वम्—धन, तस्य वै—उस (साम) का, स्वरः—स्वर, एव—ही, स्वम्—सम्पत्ति (साधक) है, तस्मात्—अतएव, आर्त्विज्यम्—ऋत्विक् (उद्गाता) का कर्म, करिष्यन्—करना चाहता हुआ, वाचि—वाणी में, स्वरम्—(मधुर) स्वर को, इच्छेत—चाहे, तया—उस, वाचा—वाणी से; स्वर-संपन्नया—स्वर से युक्त (सधी हुई), आर्त्विज्यम्—ऋत्विक् (उद्गाता) का कर्म; कुर्यात्—करे, तस्मात्—उस कारण से, यज्ञे—यज्ञ में, स्वरवन्तम्—(मधुर) स्वर वाले (उद्गाता) को, दिदृक्षन्ते—(यजमान) देखना चाहते (तलाश करते) हैं, एव—ही, अथ उ—और (उसको देखते हैं), यस्य—जिस (उद्गाता) का, स्वम्—(स्वर रूप) धन, भवति—होता है, भवति ह अस्य स्वम्—निश्चय ही इस (ज्ञाता) का भी (स्वर-रूप) धन होता है; यः एवम्—जो ऐसे; एतत्—इस, साम्नः—साम के, स्वम्—(स्वर-रूप) धन को; वेद—जान लेता है ॥२५॥

साम का 'धन' स्वर है, साम का 'सुवर्ण' अर्थात् 'सोना' क्या है ? जो साम के सोने को जानता है, उसके पास सोना-ही-सोना हो जाता है। 'स्वर' ही साम का 'सुवर्ण' है। 'सु-वर्ण'—'वर्ण' अर्थात् अक्षरों का शुद्ध-शुद्ध पाठ ही साम का 'सुवर्ण' अर्थात् सोना है। जो साम के 'सुवर्ण' को, अर्थात् शुद्धोच्चारण को जानता है उसके पास 'सुवर्ण' अर्थात्, सोना हो जाता है, प्रभु का गुण-गान-रूपी सोना उसे प्राप्त होता है ॥२६॥

साम की जो 'प्रतिष्ठा' को जानता है, 'आधार' को जानता है, वह प्रतिष्ठित होता है। 'वाणी' ही साम की प्रतिष्ठा है, यह 'प्राण' 'वाणी' में प्रतिष्ठित होकर प्रभु का गुण-गान करता है। प्राण वाणी में आकर स्वर-गान करता है, यह एक मत है। दूसरा मत यह है कि प्राण अन्न के सेवन से स्वर-गान में उच्चता तथा मधुरता देता है ॥२७॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णं तस्य वै
स्वर एव सुवर्णं भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥२६॥

तस्य ह एतस्य साम्नः—उस इस 'साम' के; **यः**—जो; **सुवर्णम्**—सुन्दर (ललित) वर्ण (अक्षर) को, सोने को; **वेद**—जान लेता है; **भवति ह अस्य**—इस (ज्ञाता) को प्राप्त होता है; **सुवर्णम्**—सोना; **तस्य वै**—उस (साम) का; **स्वरः एव**—स्वर ही; **सुवर्णम्**—सोना; **भवति ह अस्य सुवर्णम्**—इस (ज्ञाता) को सुवर्ण (सोना) प्राप्त होता है; **यः एवम् एतत्**—जो इस प्रकार इस; **साम्नः**—साम के; **सुवर्णम्**—(स्वर-रूप) सुवर्ण (सोना-धन) को; **वेद**—जान लेता है ॥२६॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह
तिष्ठति तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष
एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्न इत्यु हैक आहुः ॥२७॥

तस्य ह एतस्य साम्नः—उस इस 'साम' की; **यः**—जो; **प्रतिष्ठाम्**—आश्रय, आधार को; **वेद**—जानता है; **ह प्रतितिष्ठति**—निश्चय ही आश्रय (आधारवाला) होता है, प्रतिष्ठित (समादृत) होता है; **तस्य वै**—उस (साम) की; **वाग् एव**—वाणी ही; **प्रतिष्ठा**—आधार है; **वाचि**—वाणी में; **हि**—क्योंकि; **खलु**—निश्चय रूप से; **एषः**—यह; **एतत्-प्राणः**—यह प्राण; **प्रतिष्ठितः**—प्रतिष्ठित (आश्रित, आधारवाला); **गीयते**—गाया जाता है;

प्राण की इस आख्यायिका से यह बतलाकर कि उद्‌गाता को प्राण-सदृश होना चाहिये ऋषि ने उद्‌गीथ, साम-गान और वाणी के महत्त्व को समझाया। अब इस उपदेश के अन्त में कहते हैं :—

ऊपर जो बातें कही हैं, उन्हें समझकर पवमान-मन्त्रों का अभ्यारोह करे, उनका प्रवाह बहा दे। प्रस्तोता जब साम-गान प्रारम्भ करे तो इन मन्त्रों को पहले जपे—'असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृत गमय'। 'असतो मा सद् गमय' जब वह कहता है, तब वह अस्ल में 'मृत्योऽर्मामृत गमय' ही कहता है, क्योंकि 'असत' मृत्यु है, 'सत्' अमृत है, उसके कहने का अभिप्राय यही होता है कि मुझे अमृत प्रदान करो। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' जब वह कहता है, तब भी वह अस्ल में 'मृत्योर्मामृतं गमय' ही कहता है, क्योंकि 'तम' मृत्यु है, 'ज्योति' अमृत है, उसके कहने का अभिप्राय यही होता है कि मुझे अमृत प्रदान करो। 'मृत्योर्माऽमृत गमय' का अर्थ तो स्पष्ट ही है, मुझे मृत्यु से अमृत की तरफ ले चलो। उक्त

अन्ने—अन्न में (साम या प्राण प्रतिष्ठित है), इति उ ह—ऐसे भी, एके—कई (विचारक, दार्शनिक), आहु—कहते हैं ॥२७॥

अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः। स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेत्। असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृत गमयेति। स यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असत्सदमृत मृत्योर्माऽमृत गमयामृत मा कुर्वित्येवैतदाह तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृत मृत्योर्माऽमृत गमयामृत मा कुर्वित्येवैतदाह मृत्योर्माऽमृत गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति। अथ यानीतराणि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्तस्मादु तेषु वर वृणीत य काम कामयेत तं स एष एवंविदुद्गातात्मने वा यजमानाय वा य काम कामयते तमागायति तद्धैतल्लोकजिदेव न हैवालोक्यताया आशाऽस्ति य एवमेतत्साम वेद ॥२८॥

अथ अतः—अब इसके पश्चात्, पवमानानाम्—पवमान-सूक्त या मन्त्रों का, एव—ही, अभ्यारोहः—जपकर्म विधि है, चढाव, विस्तार, प्रवाह है, स वै खलु—वह तो, प्रस्तोता—प्रस्तोता (ऋत्विक्), साम—साम-गान, प्रस्तौति—प्रारम्भ करता है, सः—वह, यत्र—जहां, जिसमें (जब), प्रस्तुयात्—(साम गान) प्रारम्भ करे, तद्—तो, वहां, एतानि—इन तीन (वाक्यों-मन्त्रों) का,

तीन पवमान-स्तोत्रों से आध्यात्मिक-प्रसाद, अर्थात् 'अमृत' मांगने के बाद उद्गाता अन्य स्तोत्रों से अपने लिये जो भौतिक-पदार्थ चाहे मांगे। यही तरीका ठीक-ठीक वर मांगने का, और जिस-जिस वस्तु की कामना हो उसे पाने का है। जो उद्गाता इस रहस्य को जानता है, वह अपने लिये अथवा यजमान के लिये जो कामना चाहता है उसे गा लेता है, और वह लोकजित् हो जाता है। जो इस प्रकार साम को जानता है और लौकिक-पदार्थ मांगता है वह 'लोकजित्' तो हो जाता है, परन्तु उससे 'अलोक्यता' की आशा नहीं की जा सकती, यह आशा नहीं की जा सकती कि वह इस लोक को पार करके 'पर-लोकजित्' भी हो जायगा ॥२८॥

जपेत्—जप करे; (१) असतः मा सद् गमय; (२) तमसो मा ज्योतिः गमय; (३) मृत्योः मा अमृतम् गमय; इति—इन (तीन मंत्रों का जप करे); सः—वह (प्रस्तोता); यद्—जो, जब; आह—कहता है; असतः—'असत्' से; मा—मुझ को; सत्—'सत्' को; गमय—प्राप्त करा; इति—यह (जपता है); मृत्युः वै—मृत्यु ही; असद्—सत्ताशून्य, अनित्य है; अथवा (मृत्युः वै असत्—मृत्यु का पर्याय ही 'असत्'-पद है); सद्—सदा सत्तावान्, अविनाशी; अमृतम्—अमर (ब्रह्म) है; (इसका अर्थ यह हुआ कि) मृत्योः मा अमृतम् गमय—मृत्यु से (मरणशीलता) से मुझको अमर बना दो; अर्थात् अमृतम्—अमर; मा—मुझको; कुरु—कर दो; इति एव—यह ही; एतद्—यह (वाक्य); आह—कहता (प्रकट करता) है; तमसः—अन्धकार से, अज्ञान से, तमोगुण से; मा—मुझ को; ज्योतिः—प्रकाश को, ज्ञान को, सत्त्वगुण को; गमय—प्राप्त करा; इति—यह (जब जप करता है तो भी) मृत्युः वै—मृत्यु ही; तमः—'तमस्'-पद से अभिप्रेत है; ज्योतिः—ज्योति (पद का पर्याय); अमृतम्—अमर-पद है; (इस दूसरे वाक्य का भी अर्थ हुआ कि) मृत्योः मा अमृतम् गमय—मृत्यु से (छुड़ा कर) मुझको अमर कर दो; अमृतम् मा कुरु—मुझ को अमर कर दो; इति एव—यह ही; एतद्—यह दूसरा मंत्र; आह—कहता, प्रगट करता है अथवा एतद् आह—यह भाव ही, प्रार्थयिता इस वाक्य से भी प्रगट करता है; मृत्योः मा अमृतम् गमय—मृत्यु से छुड़ाकर मुझको अमर कर दो; इति—इस (तीसरे वाक्य में); न अत्र—नहीं इस (वाक्य में); तिरोहितम् इव—छुपा हुआ-सा, अस्पष्ट-जैसा; अस्ति—है; अथ—और; यानि—जौन से; इतराणि—दूसरे; स्तोत्राणि—स्तोत्र (स्तुतिपरक मंत्र) हैं; तेषु—उन मंत्रों में (के द्वारा); आत्मने—अपने लिए; अन्नाद्यम्—भोजन और भोजन-शक्ति; आगायेत्—

प्रथम अध्याय—(चौथा ब्राह्मण)

(सृष्टि-रचना)

ब्रह्मांड की रचना से पूर्व जैसे पहले 'पुरुष' था, अर्थात् ब्रह्म था, वैसे पिंड की रचना से पूर्व पहले 'आत्मा' था, अर्थात् जीव था। 'पुरुष' ने अपने चारों तरफ देखा, तो अपने अतिरिक्त कुछ न पाया—पृथिवी, सूर्य आदि देवताओं की सृष्टि तब तक नहीं हुई थी, 'आत्मा' ने भी अपने चारों तरफ देखा तो अपने अतिरिक्त कुछ न पाया—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की सृष्टि तब तक नहीं हुई थी। उसने चारों तरफ देखकर कहा, 'अहम् अस्मि'—मैं हूं—इसलिये उसका नाम 'अहम्' हो गया। (बायबल में उसका नाम आदम, अर्थात् 'अदम'-'अहम्' कहा है)। इसीलिये जब किसी को पुकारते हैं, तो पहले

गान (द्वारा प्रार्थना) करे, तस्माद् उ—उस कारण से, तेषु—उन मंत्रों में, वरम्—वरणीय (काम्य) वस्तु को; वृणीत—वरण करे, मांगना चाहे, (अर्थात्) यम्—जिस; कामम्—कामना, भोग को, कामयेत—चाहे, इच्छा करे; तम्—उस (कामना) को (वरण करे), सः एवः—वह यह, एवंविद् उद्गाता—इस प्रकार जाननेवाला उद्गाता, आत्मने वा—या तो अपने लिए, यजमानाय वा—या (अपने) यजमान के लिए, यम् कामम् कामयते—जिस कामना (भोग) को चाहता है, तम्—उसको (का ही), आगायति—गान (प्रार्थना) करता है; तद् ह—वह; एतद्—यह (साम या जप-कर्म), लोक-जिद्—लोक-प्राप्ति का साधक, एव—ही (निश्चय से है); न ह एव—नहीं ही, अलोक्यतायाः—(उस उद्गाता के लिए) लोक-प्राप्ति के अभाव की, इस लोक को पार करके परलोक-जित् होने की; आशा—प्रार्थना (कल्पना); अस्ति—है (की जा सकती है, अर्थात् लोकजित् एवं सलोकतावान् अवश्य होता है), यः एवम् एतद् साम वेद—जो इस प्रकार इस साम-गान को जानता है ॥२८॥

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहंनामाऽभवत्तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमयमित्येवाग्र उक्त्वाऽथान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान्पाप्मन औषत्तस्मात्पुरुष ओषति ह वै स तं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद ॥१॥

आत्मा—आत्मा (पिण्ड में जीवात्मा, ब्रह्माण्ड में परमात्मा); एव—ही; इदम्—यह, अग्रे—(सृष्टि-रचना से) पहले; आसीत्—था; पुरुषविधः—

'यह-मैं' कहकर, जो उसका अपना नाम होता है, वह उस नाम को 'मैं' के आगे बोलता है। जैसे ब्रह्म को पुरुष कहते हैं, वैसे आत्मा को भी पुरुष कहते हैं। 'पुरुष' का अर्थ है,'पुर'—पहले,'उष'—जलाना, सृष्टि से पहले ही जिसने पापों को जला रखा है, वह पुरुष है। वैसे तो मनुष्य पाप करता है, परन्तु इसका स्वाभाविक-रूप यही है जिसमें यह पाप को पहले ही, अर्थात् संकल्प में आने से पहले ही भस्म कर दे। जो इस रहस्य को जानता है वह, अगर पाप उससे आगे निकलना चाहता है, तो उसे भस्म कर डालता है ॥१॥

सृष्टि के प्रारम्भ में वह इकला था इसलिए डरा, इसलिये इकला डरा करता है। फिर उसने सोचा, जब मेरे सिवाय दूसरा कोई है

पुरुष (पुरी में शयन करनेवाला या पहिले ही दग्ध-पाप) के स्वरूप वाला; सः—उस (आत्मा) ने; अनुवीक्ष्य—पूरी तरह देख कर; न—नहीं; अन्यद्—दूसरा, भिन्न; आत्मनः—अपने से; अपश्यत्—देखा; सः—उसने; अहम् अस्मि—मैं (ही) हूं; इति—ऐसे; अग्रे—सबसे पहिले; व्याहरत्—बोला, उच्चारण किया; ततः—उससे; अहम्-नामा—'अहम्'-(मैं) नामवाला; अभवत्—हुआ; तस्मात्—उस कारण से; अपि—भी; एतर्हि—अब; (अपि एतर्हि—अब (आजकल) भी; आमन्त्रितः—पुकारा हुआ, बुलाया हुआ (पूछने पर); अहम् अयम्—मैं यह (अमुकनामा); इति एव—ऐसे ही; अग्रे—आगे, पहिले; उक्त्वा—कह कर; अथ—तत्पश्चात्; अन्यत्—दूसरा; नाम—(अपना वर्तमान) नाम; प्रब्रूते—बोलता है; यद्—जो (नाम); अस्य—इस (मनुष्य) का; भवति—होता है; सः—उस (आत्मा) ने; यद्—जो; पूर्वः—पहिले; अस्मात्—इस; सर्वस्मात्—सबसे; सर्वान्—सारे; पाप्मनः—पापों को; औषत्—जला दिया, भस्म (नष्ट) कर दिया; तस्मात्—उस कारण से; पुरुषः—(यह) पुरुष (कहलाता) है; ओषति—जला देता है; ह वै—निश्चय ही; सः—वह; तम्—उसको; यः—जो (पाप); अस्मात्—इससे; पूर्वः—पहले; बुभूषति—होना चाहता है; यः—जो; एवम्—इसप्रकार (पुरुष के अर्थ को); वद—जानता है ॥१॥

सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति स हायमीक्षांचक्रे यन्म-
दन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति तत एवास्य भयं
वीयाय कस्माद्ध्यभेष्यद् द्वितीयाद्वै भयं भवति ॥२॥

सः—वह; अबिभेत्—डरा; तस्माद्—अतएव; एकाकी—इकला आदमी; बिभेति—डरता है; सः ह अयम्—उस इस (आत्मा) ने; ईक्षांचक्रे—

ही नहीं, तो मैं क्यों भयभीत होता हूं ? यह सोचते ही उसका भय जाता रहा। बात भी ठीक है। वह किससे डरता ? दूसरे से ही तो डर होता है ॥२॥

वह इकला था, इसलिये उसका जी नहीं लगा। इसीलिये एकाकी पुरुष का जी नहीं लगता। उसने दूसरे की इच्छा की। वह इतना था, जितने स्त्री-पुरुष मिले हुए हों। उसने अपने इस ही शरीर को दो टुकड़ों में 'अपातयत्'—पटक दिया। पटकने के लिये 'पत्' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसी से 'पति' और 'पत्नी' बने, वे दो टुकड़े पति-पत्नी हो गये। इसी को देखकर याज्ञवल्क्य ऋषि का कथन था कि हमारा शरीर 'अर्ध-बृगल'—आधे दल—जैसे चने के या सीप के दो आधे-आधे दल होते हैं, उनके समान है। इसीलिये जैसे चने का आधा दल दूसरे दल से मिलकर पूरा बनता है, वैसे ही पुरुष के सामने का खाली आकाश स्त्री के साथ मिलने से ही पूरा जाता है। पुरुष-तत्त्व तथा स्त्री-तत्त्व का मेल हुआ, और उससे मनुष्य-जाति का निर्माण हुआ ॥३॥

देखा, यद्—कि, मद्—मुझ से, अन्यद्—भिन्न, दूसरा, न+अस्ति—नहीं है, कस्मात्—किससे, नु—तो, बिभेमि—डरता हूं, इति—ऐसे (सोचकर), ततः एव—उसके बाद ही, अस्य—इस (आत्मा) का, भयम्—भय, वीयाय—दूर हो गया, कस्माद्—किससे, हि—ही, अभेष्यत्—डरता, द्वितीयाद् वै—दूसरे से ही, भयम्—डर, भवति—होता है ॥२॥

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव तां समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त ॥३॥

सः वै—और वह, न—नहीं, रेमे—आनन्दित हुआ, क्रीड़ा कर सका, तस्माद्—अतएव, एकाकी—इकला आदमी, न रमते—नहीं प्रसन्न रहता है, जी नहीं लगता, सः—उसने, द्वितीयम्—दूसरे (साथी) को, ऐच्छत्—चाहा, इच्छा की, सः ह—वह (पुरुषविध आत्मा), एतावान्—इतना, ऐसा, आस—था, यथा—जैसे, स्त्री-पुमांसौ—स्त्री और पुरुष, सम्परिष्वक्तौ—खूब चिपटे हुए, एक-रूप हुए हों, सः—उसने, इमम् एव—इस (संमिश्र, संश्लिष्ट) ही, आत्मानम्—(अपने) शरीर को, द्वेधा—दो प्रकार से, दो खण्ड में, अपातयत्

(बायबल में भी सृष्टि-रचना के प्रकरण में कहा गया है—In the image of God created He him; Male and female created He them—जेनसिस १.२७। इसके आगे २य अध्याय की २२वीं आयत में लिखा है—And the rib, which the Lord God had taken from man, made He a woman, पुरुष की पसली निकालकर उसे स्त्री बना दिया। इसका भी यही अभिप्राय है कि सृष्टि-रचना से पूर्व पुरुष इतना था जितने स्त्री-पुरुष मिले हुए। इस विचार के संसार में सर्वत्र फैलने का एक ही स्रोत है।)

स्त्री-तत्त्व ने सोचा, मुझे अपने शरीर में से ही उत्पन्न करके यह कैसे मेरे साथ ही संयोग करता है, हाय, मैं छिप जाऊं! वह छिपकर गौ हो गई, पुरुष-तत्त्व बैल बन गया, और उन दोनों से गो-जाति का निर्माण हुआ। फिर स्त्री-तत्त्व ने घोड़ी का रूप धारण किया, पुरुष-तत्त्व ने घोड़े का; फिर गधी-गधे का—इससे एक खुरवाले पशु

—गिराया, किया; ततः—तब से; पतिः च—पति; पत्नी च—और पत्नी; अभवताम्—हो गये; तस्माद्—अतएव; इदम्—यह (नर-देह एवं नारी-देह); अर्ध-बृगलम् इव—(अन्न के) आधे दाने के समान है; स्वः—अपना-अपना (शरीर); इति—ऐसे; ह—कभी पहिले; स्म आह (आह स्म)—कहा था; याज्ञवल्क्यः—याज्ञवल्क्य ने; तस्माद् अयम्—अतः एव यह; आकाशः—अवकाश (दूसरा आधा भाग); स्त्रिया—स्त्री (पत्नी) द्वारा (गृहाश्रम में); पूर्यते—(दोनों के मिलने पर) पूर्ण होता है; ताम्—उस (स्त्री-पत्नी) को (से); सम्+अभवत्—संगत, संश्लिष्ट हुआ; ततः—उस (संभूति—रति) से; मनुष्याः—मनुष्य; अजायन्त—उत्पन्न हुए ॥३॥

सा हेयमीक्षांचक्रे कथं नु माऽऽत्मन एव जनयित्वा संभवति हन्त तिरोऽसानीति सा गौरभवद् ऋषभ इतरस्तां समेवाभवत्ततो गावोऽजायन्त वडवेतराऽभवदश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्तां समेवाभवत्तत एकशफमजायताऽजेतराऽभवद् बस्त इतरोऽविरितरा मेष इतरस्तां समेवाभवत्ततोऽजावयोऽजायन्तैवमेव यदिदं किंच मिथुनमा पिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत ॥४॥

सा ह—उस (स्त्री) ने; ईक्षांचक्रे—देखा, विचारा; कथम् नु—कैसे, क्योंकर; मा—मुझको; आत्मनः—अपने (शरीर) से; एव—ही; जनयित्वा—उत्पन्न कर; संभवति—(पुत्री-रूप मुझ से) संयुक्त होता, रति-कर्म करता है; हन्त—अरे, तो; तिरः असानि—छिप जाऊँ, तिरोभाव कर लूं; इति—ऐसा (सोचकर); सा—वह नारी; गौः—गाय; अभवत्—हो गई; ऋषभः—बैल

उत्पन्न हुए। फिर वे बकरी-बकरा, भेड-भेडा बने और उनसे बक-रियों और भेडो की जाति उत्पन्न हुई। इसी प्रकार चिउंटी-पर्यन्त जितने संसार के जोडे हैं, उन्हें पुरुष-तत्त्व तथा स्त्री-तत्त्व ने उत्पन्न कर दिया ॥४॥

'आत्म-तत्त्व' ने अपने को 'पुरुष-तत्त्व' तथा 'स्त्री-तत्त्व' में परिणत किया था, फिर संसार के जीव-जन्तुओं के रूप में विकसित किया, यह सब कर चुकने पर यह कह उठा, मैं ही सृष्टि हूं, मैंने ही यह सब रचा है, मेरे रचने ही से तो यह सृष्टि हुई है। जो इस रहस्य को जानता है, वह 'आत्म-तत्त्व' की सृष्टि में जा पहुंचता है, जिस तत्त्व से सृष्टि का प्रवाह चलता है उस ऊंचे स्तर पर जा पहुंचता है, सृष्टि का विधायक बन जाता है ॥५॥

(साढ), इतर—दूसरा (पुरुष), ताम्—उस (गोरूप नारी) को, सम् एव अभवत् (एव समभवत्)—ही (रति मे) सयुक्त हुआ, तत—उस (सयोग) से, गाव—गौएँ, अजायन्त—पैदा हुईं, (इसके बाद) वडवा—घोडी, इतरा—एक (आदि-नारी), अभवत्—हुई, अश्ववृष—नर घोडा, इतर—दूसरा (आदि-नर), गर्दभी—गदही, इतरा—एक (आदि-नारी), गर्दभ—गदहा, इतर—दूसरा (आदि-नर), ताम्—उस (घोडी व गदही) से, सम्+एव—अभवत्—सयुक्त हुआ, तत—उस (सयोग) से, एकशफम्—एक सुमवाले (घोडे आदि), अजायत—उत्पन्न हुए, अजा—बकरी, इतरा—एक (नारी), अभवत्—हुई, बस्त—नर-बकरा, इतर—दूसरा (नर), अवि—भेड, इतरा—एक (आदि-नारी) हुई, मेष—मेंढा (नर-भेड), इतर—दूसरा (आदि-नर), ताम्—उस (भेड व बकरी) को, सम् एव अभवत्—वह नर सयुक्त हुआ, तत—उस (सयोग) से, अजा+अवय—बकरी और भेडें, अजायन्त—उत्पन्न हुए, एवम् एव—इस प्रकार ही, यद इदम् किंच—जो यह कुछ भी, मिथुनम्—(नर-नारी रूप में) जोडे हैं, आ पिपीलिकाभ्य—चींटी तक, तत् सर्वम्—उन सारे जोडो को, असृजत—उत्पन्न किया ॥४॥

सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहं, हीदं सर्वमसृक्षीति ततः सृष्टिरभवत्सृष्ट्यां, हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥५॥

स—उस (नर-रूप—पुरुष-रूप आत्मा) ने, अवेत्—जाना, समझा, अहम् वाव—मैं (स्वय) ही तो, सृष्टि—सृष्टि (का विकास-कर्ता), अस्मि—हू, अहम्—मैंने, हि—क्योंकि, इदम् सर्वम्—इस सारे को, असृक्षि—उत्पन्न किया, रचा है, इति—ऐसे, तत—तब ही तो, सृष्टि—यह रचना, अभवत्

संसार में सब प्राणियों के जोड़े तो उत्पन्न हो गये, परन्तु अभी उसके आगे बढ़ने का कोई साधन नहीं हुआ। 'आत्म-तत्त्व' ने अब मन्थन शुरू किया। मुख का मन्थन किया, हाथों का मन्थन किया। मुख और हाथों के मन्थन से 'अग्नि' उत्पन्न हुई। 'मुख से अग्नि उत्पन्न हुई' का अभिप्राय है, 'वाणी' के रूप में ज्ञान उत्पन्न हुआ; 'हाथों से अग्नि उत्पन्न हुई' का अभिप्राय है, रगड़ने से 'आग' पैदा हुई। आध्यात्मिक तथा मानसिक उन्नति के लिये वाणी के रूप में ज्ञान-अग्नि और भौतिक उन्नति के लिये भौतिक-अग्नि को लेकर मानव-समाज अग्रगामी हुआ। यह आग रगड़ने से निकली, इसीलिये तो हाथ और मुख में लोम नहीं होते! यह जो लोग कहते हैं, इस देवता की स्तुति करो, उस देवता की स्तुति करो, एक-एक देवता का नाम लेकर कहते हैं, इनकी स्तुति करो, यह सब बेकार है, यह सृष्टि तो सिर्फ़ एक आत्म-तत्त्व-रूप देवता की है, वही सर्व-देव है। सृष्टि में जो-कुछ 'आर्द्र' है, जो-कुछ लहलहा रहा है, वह उसी 'आत्म-तत्त्व' के बीज से उत्पन्न हुआ है। 'आत्म-तत्त्व' के बीज का नाम ही 'सोम' है। सृष्टि में जो-कुछ है, या तो वह 'अन्न' है, या 'अन्नाद' है, अर्थात् या तो भोग्य है, या भोक्ता है। 'सोम' अन्न है, भोग्य है। आत्म-तत्त्व ने यह

—हुई है; सृष्ट्याम्—सृष्टि (रचना) में; ह—ही; अस्य—इस (आत्मा) की; एतस्याम्—इस; भवति—(स्वयं भी स्रष्टा) होता है; यः एवम् वेद—जो इस प्रकार (सृष्टि-रचना को) जानता है ॥५॥

अथेत्यभ्यमन्थत्स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत तस्मादेतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमका हि योनिरन्तरतः। तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः। अथ यत्किंचेदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत तदु सोम एतावद्वा इदं सर्वमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नादः सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिर्यच्छ्रेयसो देवानसृजताथ यन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत तस्मादतिसृष्टिरतिसृष्ट्यां हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥६॥

अथ इति—तो ऐसे; अभ्यमन्थत्—मंथन किया, रगड़ा (मन में विचार किया); सः—उस (स्रष्टा) ने; मुखात् च—मुख (रूप योनि-उत्पत्ति स्थान) से; योनेः—उत्पत्ति-स्थान, उत्पत्ति-कारण; हस्ताभ्याम् च—और हाथों से (मथकर); अग्निम्—अग्नि को (ब्रह्माण्ड में, वाणी को पिण्ड में); असृजत

सोमात्मक, अन्नमय, भोग्य-पदार्थों से भरी हुई सृष्टि प्राणिमात्र के उपभोग के लिये बनाई है, 'अग्नि' अन्नाद है, भोक्ता है। आत्म-तत्त्व ने मनुष्य को अग्निमय रचा है, वह संसार को अग्नि-रूप होकर भोग डाले, उसे भस्म कर दे, स्वयं भस्म न हो जाय। ब्रह्म की यह 'अति-सृष्टि' है, ऊंची सृष्टि है, जिसमें श्रेष्ठ-लोग देव बन जाते हैं, और मर्त्य-लोग अमृत बन जाते हैं, तभी तो यह 'अति-सृष्टि' कहलाती है। जो इस रहस्य को जानता है, वह ब्रह्म की इस 'अति-सृष्टि' में जा पहुंचता है ॥६॥

—उत्पन्न किया, तस्मात्—उस (अभिमन्थन के कारण) से, एतत्—ये (योनि रूप), उभयम्—दोनों (मुख और हाथ), अलोमकम्—बे-रोए के हैं, अन्तरत—अन्दर से, अलोमका—बे-रोए की, हि—क्योंकि, योनि—स्त्री-योनि, अन्तरत—अन्दर की ओर, तद्—तो, यद्—जो, इदम्—यह, आहु—(कर्मकाण्डी) कहते हैं, अमुम्—अमुक (देवता) को (का), यज—यजन (स्तुति-आदि) करो, अमुम् यज—अमुक का यजन करो, इति—इस प्रकार, एक+एकम्—(अलग-अलग) एक-एक, देवम—देवता को, एतस्य—इस (आत्मा-प्रजापति) की, एव—ही, सा—वह (देव-रूप), विसृष्टि—विविध रचना है, एष उ हि एव—यह ही तो, सर्वे—सारे, देवा—देवताओं (का आदिकारण व आदि रूप है), अथ—और, यत् किंच—जो-जो कुछ, इदम्—यह, आर्द्रम्—गीला, हरा-भरा, जलमय है, तद्—उसको, रेतस—बीज से, वीर्य से (जल से), असृजद्—रचा, बनाया, तद् उ—वह आर्द्र (लहलहाता, हरा-भरा), सोम—सोम (नाम-वाला) है, एतावद् वै—इतने परिमाण वाला ही, इदम् सर्वम्—यह सब, अन्नम् च—या तो अन्न है, अन्नाद च—या अन्न-भोक्ता है, सोम—सोम-संज्ञक आर्द्र (हरा-भरा, वनस्पति आदि), एव—ही, अन्नम्—अन्न है, अग्नि—अग्नि (जठराग्नि या ज्ञानी आत्मा), अन्नाद—अन्न का भोक्ता है, सा+एषा—वह यह, ब्रह्मण—जगत्स्रष्टा प्रजापति ब्रह्म की, अति-सृष्टि—सामान्य-रचना से बढ़कर, ऊंची रचना है, यत्—जो, कि, श्रेयस—श्रेयोभागी, श्रेष्ठ, देवान्—देवों को, असृजत—बनाया, यत्—जो, मर्त्य. सन्—मरण धर्मा होते हुए भी मनुष्यों को, अमृतान्—अमर-पद को प्राप्त, असृजत—रचा, तस्माद्—अतएव, अति-सृष्टि—(यह) ऊंची रचना है, अतिसृष्ट्याम्—ऊंची रचना में, हि—ही, अस्य—इस ब्रह्म की, एतस्याम्—इस, भवति—होता है (देव और अमृत बन जाता है), य एवम्—जो इस प्रकार (सृष्टि और अति-सृष्टि को), वेद—जानता है ॥६॥

प्रारम्भ में तो सृष्टि 'अव्याकृत' थी, अस्फुट थी। अब तक 'वाणी' उत्पन्न हो चुकी थी। आत्म-तत्त्व ने इस सृष्टि को 'वाणी' द्वारा 'नाम' और 'रूप' से 'व्याकृत' कर दिया, स्फुट कर दिया, इसका यह नाम (Name) है, और यह रूप (Form) है—ऐसा स्पष्ट कर दिया, ताकि संसार का व्यवहार चल सके। आज दिन भी प्रत्येक वस्तु का नाम-रूप से ही व्यवहार होता है, इस वस्तु का यह नाम है, यह रूप है। वह 'आत्म-तत्त्व' प्रत्येक वस्तु में प्रविष्ट है, नखों के अग्र-भाग तक प्रविष्ट है, ठीक ऐसे जैसे छुरा नाई की पेटी में, और आग लकड़ी में। आत्म-तत्त्व को कोई देख नहीं पाता क्योंकि पूरा तो कहीं वह मिलता ही नहीं। जब शरीर में वह सांस लेने लगता है तब उसी का नाम हम 'प्राण' रख देते हैं, जब बोलने लगता है तब उसे 'वाक्', जब देखने लगता है तब 'चक्षु', जब सुनने लगता है तब 'श्रोत्र', जब मनन करने लगता है तब 'मन' कह देते हैं, ये सब उसी के 'कर्म', उसी की क्रिया के नाम हैं। प्राण-वाक्-चक्षु आदि एक-एक को आत्मा समझकर, जो उस आत्म-तत्त्व की उपासना करता है, वह नासमझ है, क्योंकि इनमें से एक-एक को आत्मा समझने से तो वह अपूर्ण ही रह जाता है। उसकी तो 'आत्मा' के रूप में ही उपासना

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौनामायमिदं रूप इति तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामायमिदं रूप इति स एष इह प्रविष्टः। आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये तं न पश्यन्ति। अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति। वदन् वाक् पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव। स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवति। तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्माऽनेन ह्येतत्सर्वं वेद। यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिं श्लोकं विन्दते य एवं वेद ॥७॥

तत् ह इदम्—पहिले (जगद्-रचना के प्रारम्भ काल में) वह यह (दृश्यमान-जगत्); तर्हि—तब; अव्याकृतम्—अप्रगट, अस्पष्ट; आसीत्—था; तत्—उस (रचना) को; नाम-रूपाभ्याम्—नाम (संज्ञा) और रूप (आकृति) से; एव—ही; व्याक्रियत—स्पष्ट (सुबोध) कर दिया; असौ-नामा—इस नामवाला (इसका यह नाम है); अयम्—यह (पदार्थ); इदं-रूपः—इस रूप (आकृति) वाला है;

करनी चाहिये, क्योंकि 'आत्म-तत्त्व' में हो सब एक होते हैं, वहीं सबका अहंकार मिट जाता है, उसके बाहर तो सब अपना-अपना सिर उठाने लगते हैं। इसलिये इसी की खोज निकालना चाहिये, यह जो सबका 'आत्मा' है, क्योंकि इसके जानने से सब जाना जाता है। जैसे खोये पशु को उसके पद-चिह्न से पा लेते हैं, ऐसे ही इस खोये आत्मा को इसके पद-चिह्नों से जो पा लेता है, वह कीर्ति और स्तुति को पा लेता है ॥७॥

इति—ऐसे (प्रकट किया), तद्—सो, इदम् अपि—यह भी, एतर्हि—अब—इस समय भी, नामरूपाभ्याम्—नाम और रूप से, एव—ही, व्याक्रियते—(स्पष्टता के लिए) वर्णन किया जाता है (कि), असौ-नामा अयम्—इस नाम-वाला यह है, इदम्-रूप—(और) इस रूपवाला है, इति—ऐसे, स एष—वह यह (आत्मा), इह—यहाँ, इस (शरीर में, प्रविष्ट—घुसा हुआ, व्यापक है, आनखाग्रेभ्य—(सिर से लेकर) नखों की नोक तक, यथा—जैसे, क्षुर—छुरा, उस्तरा, क्षुरधाने—नाई की पेटी (किस्बत) में या मियान में, अवहित—रखा हुआ, स्यात्—होवे, विश्वम्भर वा—या आग, विश्वम्भर-कुलाये—आग के घोंसले में या अंगीठी में, तम्—उस (गूढ़-आत्मा) को, न—नहीं, पश्यन्ति—(उसके पूर्ण रूप में) देख पाते हैं (जिसे आत्मा समझते हैं वह) अकृत्स्न—अपूर्ण, अधूरा, हि स—वह है, प्राणन्—श्वास प्रश्वास लेता हुआ एव—ही, प्राण नाम भवति—(उसका) प्राण नाम होता है, वदन्—बोलता हुआ, वाक्—वाणी (वक्ता), पश्यन्—देखता हुआ चक्षु—चक्षु (द्रष्टा), शृण्वन्—सुनता हुआ, श्रोत्रम्—श्रोत्र (श्रोता), मन्वान—मनन चिन्तन, सङ्कल्प विकल्प करता हुआ, मन—मन (मन्ता), तानि—वे अस्य—इस (आत्मा) के, एतानि—ये (प्राण आदि), कर्मनामानि—क्रिया (प्राणन-श्रवण आदि कर्म पर आश्रित)-नाम, एव—ही हैं, स यः—वह जो, अतः—इनमें से, एक-एकम्—एक-एक की (अलग-अलग), उपास्ते—उपासना करता (किसी एक रूप में समझता) है न स वेद—वह (उपासक) उसको नहीं जान पा रहा है, अकृत्स्न—अपूर्ण (अधूरा), हि—क्योंकि, एष—यह (एक-एक क्रिया में ज्ञात) आत्मा है, अतः—इस (उपासना से), एक-एकेन—एक-एक ही (कर्म से), भवति—(युक्त या ज्ञात) होता है, आत्मा इति—(उसको) आत्मा (शरीर में प्रविष्ट-व्यापक) इस रूप में, एव—ही, उपासीत—उपासना करे, जाने-समझे, अत्र—इस (नाम रूप) में, हि—क्योंकि, एते सर्वे—ये सारे (कर्म-नाम), एकं भवन्ति—एकरूप (सम्मिलित) हो जाते हैं, तद् एतद्—

यह 'आत्म-तत्त्व' पुत्र से अधिक प्यारा है, वित्त से अधिक प्यारा है। यह जो अन्दर से भी अन्दर बैठा हुआ 'आत्म-तत्त्व' है, यह अन्य सब वस्तुओं से अधिक प्रिय है। अगर 'आत्म-तत्त्व' से अतिरिक्त किसी वस्तु को कोई प्रिय समझता है, तो उसे कह दे, मूर्ख! तुझे अपने प्रिय आत्म-तत्त्व के निकट जाने में यह विचार तुझे रोकेगा, चाहे तू ऐश्वर्यशाली भी क्यों न हो, आत्मा के अतिरिक्त किसी वस्तु को यदि तू प्रिय समझे बैठा है, तो वह वस्तु तुझे आत्म-तत्त्व की प्राप्ति न होने देगी। 'आत्म-तत्त्व' को ही प्रिय समझो, उसी की उपासना करो। जो 'आत्म-तत्त्व' को प्रिय समझकर उसकी उपासना करता है, उसका प्रिय कभी नष्ट नहीं होता ॥८॥

यह यह (आत्मा); पदनीयम्—प्राप्त करने योग्य, ज्ञेय है; अस्य सर्वस्य—इस सब (प्राण आदि) का; यद् अयम्—जो यह; आत्मा—(सब में प्रविष्ट-व्याप्त) आत्मा है; अनेन हि—क्योंकि इस (आत्मा) के द्वारा; एतत् सर्वम्—ये सब (चक्षु आदि); वेद—ज्ञान कर पाते हैं (अथवा) एतत् सर्वम् वेद—इस सकल (जगत्) को जान सकते हैं; यथा ह वै—जैसे; पदेन—पद-चिह्न से; अनुविन्देत्—(खोये पशु आदि को) खोज लेते हैं; एवम्—इस प्रकार (पदनीय-ज्ञेय आत्मा को खोज कर जानना चाहिये); कीर्तिम्—यश को; श्लोकम्—प्रशंसा को; विन्दते—पाता है; यः—जो (जिज्ञासु); एवम् वेद—इस प्रकार (आत्म-स्वरूप को) जान जाता है ॥७॥

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं
यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं
रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य
आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न ह्यस्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥८॥

तद् एतत्—वह यह (आत्मा); प्रेयः—अधिक प्रिय; पुत्रात्—पुत्र से; प्रेयः—अधिक प्रिय; वित्तात्—धन से, कर्म करने के साधन (सामग्री) से; प्रेयः—अधिक प्रिय; अन्यस्मात्—अन्य (और भी); सर्वस्मात्—सब कुछ (प्रिय वस्तुओं से); अन्तरतरम्—अधिक समीपवर्ती, अन्दरूनी है; यद् अयम् आत्मा—जो यह आत्मा है; सः यः—वह जो; अन्यम्—भिन्न; आत्मनः—आत्मा से; (आत्मनः अन्यम्—आत्मा से भिन्न दूसरे पदार्थ को); प्रियम्—प्रिय; ब्रुवाणम्—कहनेवाले को; ब्रूयात्—कहे; प्रियम्—(तेरे) प्रिय को; रोत्स्यति—(पास आने—प्राप्त होने से) रोक देगा; इति—ऐसे; ईश्वरः—समर्थ, प्रभु; ह—निश्चय से; तथा एव स्यात्—वैसा ही हो जायगा; आत्मानम् एव—

कई जिज्ञासु शंका करते हैं, और पूछते हैं—जो मनुष्य समझते हैं हम 'ब्रह्म-विद्या' से सब-कुछ बन जायेंगे, उनका क्या अभिप्राय होता है ? 'ब्रह्म-विद्या' द्वारा 'ब्रह्म' को किस बात का ज्ञान हुआ कि वह सब-कुछ हो गया ? ॥९॥

इस प्रश्न का ऋषि उत्तर देते हैं—सृष्टि के प्रारम्भ में 'ब्रह्म' था। उसने अपने को ही जाना—'मैं ब्रह्म हूं', यह जानकर वह सब-कुछ हो गया। देवों में, ऋषियों में, मनुष्यों में जो-जो यह जानता गया, वह-वह 'ब्रह्म' होता गया। (उपनिषदों में ब्रह्म का अर्थ है,

---

(अपने) आत्मा को ही, प्रियम्—सब से प्रिय, उपासीत—जाने, समझे, उपासना करे, सः यः—वह जो, आत्मानम् एव प्रियम् उपास्ते—आत्मा को ही एकमात्र प्रिय समझता है, न ह—नहीं तो, अस्य—इस (उपासक) का, प्रियम्—प्रेम-पात्र, प्रमायुकम्—मृत्यु को प्राप्त, नष्ट, भवति—होता है ॥८॥

तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या
मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदिति ॥९॥

तद्—तो, आहुः—कई कहते (पूछते) हैं कि, यद्—जो, ब्रह्मविद्यया—ब्रह्म (परमेश्वर) के ज्ञान से, सर्वम्—सब कुछ, भविष्यन्त—हो जायेंगे, प्राप्त कर लेंगे (ऐसा), मनुष्याः—मनुष्य, मन्यन्ते—मानते हैं, किम् उ—क्या व कैसा, तद् ब्रह्म—वह ब्रह्म है, अवेत—क्या उसे ज्ञान लिया है, अथवा (किम् उ तद् ब्रह्म अवेत्—क्या उन्होंने उस ब्रह्म को जान लिया), यस्मात्—जिस (ब्रह्म) से, तत् सर्वम्—वह सब कुछ, अभवत्—हुआ, प्राप्त हुआ, इति—ऐसे (पूछते हैं) ॥९॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत् तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥१०॥

ब्रह्म वै—ब्रह्म (परमात्मा), इदम्—यह, अग्रे—(सृष्टि-रचना से) पहले या प्रारम्भ में; आसीत्—सत्तावाला था, तद्—वो, उसने; आत्मानम्

'महान्' । 'मैं ब्रह्म हूं'—यह जानकर 'ब्रह्म' होता गया, अर्थात् 'मैं महान् हूं'—यह जानकर 'महान्' होता गया ।) इसी तत्त्व का साक्षात्कार कर ऋषि वामदेव ने कहा था, मैं ही मनु था, मैं ही सूर्य था ! आज-दिन भी जो यह जान जाता है कि 'मैं ब्रह्म हूं'—क्षुद्र नहीं, महान् हूं—वह सब-कुछ हो जाता है, देवता भी उसके ऐश्वर्य को नहीं रोक पाते, ब्रह्म होने के नाते वह देवताओं का भी आत्मा जो हो जाता है ! जो 'अन्य' देवता की उपासना करता है, अर्थात् वह 'अन्य' है, मैं 'अन्य' हूं—इस क्षुद्र-भाव को जन्म देता है, वह नासमझ है, वह मानो देवों के सामने पशु-सदृश है । [जैसे बहुत-से पशु मिलकर एक-एक मनुष्य का पालन करते हैं, ऐसे ही 'अन्य' की उपासना करने वाले, अपने को क्षुद्र समझने वाले अनेक पुरुष मिलकर देवों के मानो पशु बनकर उनकी पालना में लगे रहते हैं । एक पशु हाथ से निकल जाय तभी बुरा लगता है, ये मनुष्य-रूप पशु देवताओं के हाथ से निकल जांय, यह देवताओं को कैसे रुच सकता है ? इसलिये देव लोग नहीं चाहते कि मनुष्य लोग 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं क्षुद्र नहीं, ब्रह्म हूं, महान् हूं'—के रहस्य को समझें, वे यही चाहते हैं कि मनुष्य, पशु अर्थात् क्षुद्र बने रहें, और उनकी सेवा करते रहें ॥१०॥ (यह ऋषि ने उपहास में कहा है ।)

—अपने को, अपने स्वरूप को; **अवेत्**—जाना; **अहम् ब्रह्म अस्मि**—मैं ब्रह्म (बड़ा, महान्) हूं; **तस्मात्**—उससे; **तत् सर्वम्**—वह सब; **अभवत्**—उत्पन्न हुआ; **तद्**—तो; **यः यः**—जो-जो (जो कोई भी); **देवानाम्**—देवताओं में से; **प्रत्यबुध्यत**—ज्ञानी हुआ, समझ पाया; **सः एषः**—वह ही यह (देव); **तद्**—वह (ब्रह्म—महान्); **अभवत्**—हो गया; **तथा**—वैसे; **ऋषीणाम्**—ऋषियों में से; **तथा**—वैसे; **मनुष्याणाम्**—मनुष्यों में से; **तद् ह**—तो कभी पहले; **एतद्**—इसको; **पश्यन्**—देखते-जानते हुए; **वामदेवः**—वामदेव ऋषि ने; **प्रतिपेदे**—प्रतिपादन किया, स्वीकार किया, बताया; **अहम्**—मैं; **मनुः**—मनु (मननशील); **अभवम्**—हुआ था; **सूर्यः च**—और सूर्य (सर्व-प्रेरक); **इति**—ऐसे; **तद् इदम् अपि एतर्हि**—तो आजकल भी, अब भी; **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है; **अहम्**—मैं; **ब्रह्म**—बड़ा, महान्; **अस्मि**—हूं; **सः**—वह; **इदम् सर्वम् भवति**—यह सब कुछ हो जाता है (जो चाहता है वह हो जाता है); **तस्य**—उस (ब्रह्म-ज्ञाता) के; **ह**—निश्चय से; **न**—नहीं;

सृष्टि के प्रारंभ में यह केवल एक 'ब्रह्म' था, 'ब्रह्म' अर्थात् वह सत्ता जिसमें बढने की, महान् होने की शक्ति थी। वह इकला था, इसलिये कुछ हो न सकता था। वह 'ब्रह्म' था, अर्थात् उसमें बढने की आन्तरिक सामर्थ्य थी, अतः इकला होने पर भी वह बढा, महान् हुआ, उसने श्रेयोरूप को रचा—क्षत्र को, अर्थात् क्षात्र-धर्म को। देवों में क्षात्र-धर्म के प्रतिनिधि हैं, इन्द्र, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु,

---

देवा.+वन—देवता भी, अभूत्यै—अनैश्वर्य (अभाव, उन्नति में बाधा), के लिए, ईशते—समर्थ होते हैं, आत्मा हि—आत्मा (प्रेरक ज्ञाता) हो, एषाम्—इन (देवा) का, स भवति—वह हो जाता है, अथ—और, य—जो, अन्याम्—(आत्मा से) भिन्न, देवताम्—देवता की, उपास्ते—उपासना करता (उसे 'ब्रह्म' समझता) है, अन्य असौ—यह और (भिन्न) है, अन्यः अहम् अस्मि—मैं और हूं, इति—ऐसे, न स वेद—वह (परमार्थ को) नहीं जानता है, यथा—जैसे, पशु—पशु (स्वामी-प्रेरित) होता है; एवम्—ऐसे ही; स—वह (परमार्थ का न जाननेवाला), देवानाम्—देवताओं (इन्द्रिय आदियों) का (प्रेष्य-आज्ञानुवर्ती होता है), यथा ह वै—जैसे, बहव पशव—बहुत से पशु (मिलकर), मनुष्यम्—मनुष्य को, भुञ्ज्यु—(भोग-सामग्री दुग्ध आदि द्वारा) पालन करते हैं, एवम्—ऐसे, एक+एक—इकला एक, पुरुष—मनुष्य, देवान्—देवों को, भुनक्ति—पालन करता है, भोग देता है, एकस्मिन् एव—एक ही, पशौ—पशु के, आदीयमाने—ले लेने पर (छिनने पर), अप्रियम् भवति—बुरा होता (लगता) है, किम् उ बहुषु—बहुतों के (छिन जाने पर) तो क्या कहना, तस्मात्—अत, एषाम्—इन (देवों) का, तत्—वह, न—नहीं, प्रियम्—अभीष्ट है, यद्—कि, एतद्—इस (ब्रह्म-आत्मा) को, मनुष्या—मननशील पुरुष, विद्यु—जान लेवें ॥१०॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति। तस्मात् क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म। तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिं य उ एनं हिनस्ति स्वां स योनिमृच्छति स पापीयान् भवति यथा श्रेयांसं हिंसित्वा ॥११॥

ब्रह्म वै—ब्रह्म या ब्राह्मण ही, इदम्+अग्रे—इस रचना के प्रारम्भ में, आसीत्—था, एकम् एव—इकला ही, तद्—वह (ब्रह्म), एकम् सत्—

ईशान। क्षात्र-धर्म से बढ़ कर कुछ नहीं, इसीलिये राजसूय-यज्ञ में ब्राह्मण क्षत्रिय से नीचे बैठता है, अपने यश को क्षात्र-धर्म के सुपुर्द कर देता है। परन्तु क्षात्र-धर्म का आधार, उसका कारण है तो ब्रह्म ही, ब्रह्म अर्थात् वह सत्ता जो सृष्टि के प्रारम्भ में थी, इसलिये यद्यपि राजसूय-यज्ञ में राजा अर्थात् क्षत्रिय ब्राह्मण से ऊपर बैठता है, तथापि यज्ञ के अन्त में वह ब्राह्मण से नीचे ही आ बैठता है, क्योंकि ब्रह्म ही तो क्षत्र का कारण है। जो ब्रह्म की, अर्थात् उस सत्ता की जो सृष्टि के प्रारम्भ में थी, जिस में बढ़ने का बीज था, जिसके बढ़ने से सब-कुछ बना, हिंसा करता है, उसका अनादर करता है, वह अपने ही कारण की हिंसा, अनादर करता है; जैसे मानो कोई श्रेष्ठ की हिंसा करके पाप का भागी बने, वैसे ही ब्राह्म-धर्म का अनादर करने वाला क्षात्र-धर्म पाप का भागी होता है ॥११॥

अकेला होने के कारण; **न**—नहीं; **व्यभवत्**—विभु हुआ, समर्थ हुआ; **तत्**—तो, उस (ब्रह्म) ने; **श्रेयः रूपम्**—कल्याणकारी (श्रेष्ठ) रूप को; **अत्यसृजत**—रचा; **क्षत्रम्**—क्षात्र-धर्म को, क्षत्रिय (रूप में); **यानि+एतानि**—जो ये; **देवत्रा**—देवों में, देव-रक्षक; **क्षत्राणि**—क्षात्र-धर्म वाले; **इन्द्रः**—इन्द्रः; **वरुणः**—वरुण; **सोमः**—सोम; **रुद्रः**—रुद्र; **पर्जन्यः**—पर्जन्य (मेघ); **ईशानः**—ईशान (शंकर) देवता; **इति**—ये (जिनके नाम हैं उन्हें रचा); **तस्मात्**—उस (श्रेयो-रूप होने) के कारण; **क्षत्रात्**—क्षत्रिय से; **परम्**—श्रेष्ठ, बढ़कर; **न+अस्ति**—(कोई भी) नहीं है; **तस्माद्**—अतएव; **ब्राह्मणः**—(वर्णों में सर्वोच्च) ब्राह्मण; **क्षत्रियम्**—क्षत्रिय (राजा) के; **अधस्तात्**—नीचे (आसन पर); **उपास्ते**—पास में बैठता है; **राजसूये**—राजसूय-यज्ञ में; **क्षत्रे**—क्षात्र-धर्म या क्षत्रिय में; **एव**—ही; **तद्-यशः**—उस (श्रेयोरूप) यश को; **दधाति**—स्थापित करता है; **सा+एषा**—वह यह; **क्षत्रस्य**—क्षात्र-धर्म का; **योनिः**—मूल कारण है; **यद्**—जो; **ब्रह्म**—ब्राह्मण है; **तस्माद्**—अतएव; **यद्यपि**—यद्यपि; **राजा**—(क्षत्रिय) राजा; **परमताम्**—श्रेष्ठता को, (उस समय) उच्च आसन को; **गच्छति**—प्राप्त करता है; **ब्रह्म एव**—ब्राह्मण को ही; **अन्ततः**—अन्त को, बाद में; **उपनिश्रयति**—पास में नीचे ही बैठता है; **स्वाम्**—अपने; **योनिम्**—मूल कारण (निर्माता, ब्राह्मण) को; **यः उ**—जो ही (क्षत्रिय); **एनम्**—इस (ब्राह्मण) को; **हिनस्ति**—मारता, नष्ट करना चाहता है, तिरस्कृत करता है; **स्वाम्**—अपनी; **सः**—वह (हिंसक राजा); **योनिम्**—जड़ (मूल कारण) को; **ऋच्छति**—नष्ट करता-काटता है; **सः**—वह; **पापीयान्**—घोर पापी; **भवति**—होता है; **यथा**—

ब्रह्म ने 'क्षात्र-धर्म' को तो रचा, परन्तु फिर भी काम न चला। उसने फिर 'विश'—'वैश्य-धर्म' को रचा। देवों में वैश्य-धर्म के प्रतिनिधि हैं, वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत्। वसु आदि इन देवों के अपने-अपने गण हैं, समुदाय हैं, श्रेणियां हैं। वसु ८ हैं, रुद्र ११ हैं, आदित्य १२ हैं, विश्वेदेव १३ हैं, मरुत ४९ हैं ॥१२॥

फिर भी काम न चला, तो 'पूषन्' अर्थात् पालन-पोषण करने वाले 'शौद्र-धर्म' को रचा। देवों में यह पृथिवी पूषा है, संसार में यह जो-कुछ है, उसका यही पालन-पोषण करती है ॥१३॥

ब्रह्मांड में ब्रह्म तथा पिंड में ब्राह्मण-शक्ति, ब्रह्मांड में इन्द्र, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान तथा पिंड में क्षत्रिय-शक्ति, ब्रह्मांड में वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, मरुत् तथा पिंड में वैश्य-शक्ति, ब्रह्मांड में पृथिवी तथा पिंड में शूद्र-शक्ति एक-दूसरे के प्रतिनिधि हैं, एक ही ब्रह्म-तत्त्व से बढ़ते-बढ़ते यह विकास हो गया, यह कहने के बाद ऋषि कहते हैं :—

जैसे; श्रेयांसम्—(अपने से) श्रेष्ठ (कल्याणकारी) को, हिंसित्वा—मारकर, तिरस्कृत कर ॥११॥

स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश
आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति ॥१२॥

सः—वह (ब्रह्म); न एव—नहीं ही, व्यभवत्—विभु (सतुष्ट) हुआ; सः—उसने; विशम्—वैश्य को; असृजत—रचा, यानि एतानि—जो ये; देवजातानि—देवता; गणशः—समूह रूप में (बहु सख्या में), आख्यायन्ते—कहे (वर्णन किये) जाते हैं; वसवः—(आठों) वसु; रुद्राः—(ग्यारह) रुद्र; आदित्याः—(बारह) सूर्य; विश्वेदेवाः—(तेरह) विश्वेदेव; मरुतः—(उनचास) मरुद्गण; इति—ऐसे ॥१२॥

स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं
वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किंच ॥१३॥

सः न एव व्यभवत्—वह (फिर भी) नहीं विभु (सन्तुष्ट-समर्थ) हुआ; सः—उस (ब्रह्म) ने, शौद्रम्—शूद्र-नामक; वर्णम्—वर्ण (जाति) को; असृजत—रचा, पूषणम्—सब का पोषण (धारण) करनेवाले 'पूषा' देव को; इयम्—यह (पृथिवी); वै—ही, पूषा—पूषा (पद से अभिप्रेत) है; इयम् हि—

काम फिर भी न चला। तब उसने श्रेयोरूप 'धर्म' को रचा। यह 'धर्म' क्षत्र का भी क्षत्र है, बल का भी बल है, क्योंकि धर्म से परे कुछ नहीं है। धर्म से ही निर्बल बलवान् पर ऐसे शासन करता है, जैसे राजा की सहायता से शासन कर रहा हो। 'धर्म' क्या है? 'सत्य' ही धर्म है, तभी 'सत्य' बोलने वाले के लिये कहा जाता है कि यह धर्म कहता है, और 'धर्म' बोलने वाले के लिये कहा जाता है कि यह सत्य कहता है—'सत्य' और 'धर्म' ये दोनों एक ही वस्तु हैं (अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र से समाज का तभी काम चलता है, जब वे अपने-अपने धर्म का पालन करें, केवल इन नामों से समाज की गाड़ी नहीं चल सकती) ॥१४॥

क्योंकि यह (पृथिवी) ही; **इदम् सर्वम्**—इस सब (कुछ) को; **पुष्यति**—पुष्ट करती (पालती) है; **यद् इदम् किंच**—जो भी यह कुछ है ॥१३॥

स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति ॥१४॥

सः न एव व्यभवत्—वह (ब्रह्म) फिर भी नहीं सन्तुष्ट हुआ; **तद्**—तो, उसने; **श्रेयः रूपम्**—कल्याण-कर रूप को; **अत्यसृजत**—सब से बढ़ कर बनाया; **धर्मम्**—(चारों वर्णों के धारयिता) धर्म को; **तद् एतद्**—वह यह; **क्षत्रस्य**—क्षत्रिय का; **क्षत्रम्**—क्षत्रियता, क्षात्र-कर्म है; **यद् धर्मः**—जो धर्म (समाज का धारण) है; **तस्मात्**—अतएव; **धर्मात्**—धर्म से; **परम्**—श्रेष्ठ, बढ़कर; **न+अस्ति**—(कुछ भी) नहीं है; **अथ उ**—तथाच (इस धर्म-सत्ता के कारण); **अबलीयान्**—दुर्बलतम, दीनातिदीन भी; **बलीयांसम्**—(अपने से) अत्यधिक बलशाली को; **आशंसते**—ललकारता है, जीतना चाहता है; **धर्मेण**—धर्म के द्वारा; **यथा**—जैसे; **राज्ञा**—राजा के द्वारा (वश में किया जाता है); **एवम्**—ऐसे ही; **यः वै सः धर्मः**—वह जो धर्म है; **सत्यम्**—सत्य (त्रिकाल में सत्तावाला, सब का अस्तित्व रखनेवाला); **वै**—ही; **तद्**—वह (धर्म) है; **तस्माद्**—अतएव; **सत्यम्**—सत्य; **वदन्तम्**—वक्ता को; **आहुः**—कहते हैं; **धर्मम् वदति**—(यह) धर्म (की बात) कह रहा है; **इति**—ऐसे; **धर्मम् वा**—या धर्म को (के); **वदन्तम्**—वक्ता को; **सत्यम् वदति**—सच (ठीक) कह रहा है; **इति**—ऐसे; **एतद्**—यह (कहते हैं); **हि एव**—क्योंकि; **एतद्**—इस (रूप में); **उभयम्**—दोनों (सत्य और धर्म); **भवति**—(धर्म रूप) हो जाते हैं ॥१४॥

इस प्रकार समाज में 'ब्रह्म'-'क्षत्र'-'विट्'-'शूद्र'—ये चार प्रक्रियाएं अपने-अपने 'धर्म' को लेकर चल पड़ीं, तब जाकर काम चला। 'ब्रह्म' ने देवों में 'अग्नि' का तथा मनुष्यों में 'ब्राह्मण' का रूप धारण किया—अर्थात् ब्रह्म-शक्ति का विकास जड़-जगत् में भौतिक-प्रकाश देने वाले अग्नि के रूप में, और चेतन-जगत में आत्मिक-प्रकाश, अर्थात् ज्ञान देने वाले ब्राह्मण के रूप में हुआ। फिर वही ब्राह्म-शक्ति विकसित होती हुई अपने क्षत्रिय-धर्म के कारण क्षत्रिय, वैश्य-धर्म के कारण वैश्य और शूद्र-धर्म के कारण शूद्र कहलाई। ब्राह्म-शक्ति से ही तो सब धर्मों का विकास हुआ है न! इसीलिये देव-लोक में 'अग्नि' और मनुष्य-लोक में 'ब्राह्मण'—इन दो की इच्छा की जाती है, क्योंकि इन दो रूपों से ही तो 'ब्रह्म' ने 'अग्नि' अर्थात् जड़-जगत् तथा 'ब्राह्मण' अर्थात् चेतन-जगत् में अपना विस्तार किया। इन लोकों में रहता हुआ जो 'स्वलोक' को अपने यथार्थ-रूप को बिना देखे, बिना जाने इस संसार से चल बसता है, उसका ब्रह्म से परिचय नहीं हो पाता, वह अपना विकास नहीं कर पाता, और वह ब्रह्म का रसा-स्वाद नहीं ले सकता, ठीक ऐसे जैसे बिना पढ़ा वेद या बिना किया

तदेतद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद् ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येष्वेताभ्यां हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत्। अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदो वाननूक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतं यदिह वा अप्यनेवंविन्महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एवात्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते। अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते ॥१५॥

तद् एतद्—तो यह (ब्रह्म की रचना), ब्रह्म—ब्राह्मण, क्षत्रम्—क्षत्रिय, विट् (विश्)—वैश्य, शूद्र—शूद्र (इन चार रूप में हुई), तद्—तो, अग्निना—अग्नि (रूप) से, देवेषु—(ब्रह्माण्ड के) देवों में, ब्रह्म (जगद्-रचयिता) ब्रह्म, अभवत्—हुआ, (वह ही ब्रह्म) ब्राह्मण—ब्राह्मण, मनुष्येषु—मनुष्यों में, क्षत्रियेण—क्षत्रिय (इन्द्र आदि) से, क्षत्रिय—(मनुष्यों में) क्षत्रिय, वैश्येन—वैश्य (वसु आदि) से, वैश्य—(मनुष्यों में) वैश्य, शूद्रेण—शूद्र (पूषा-पृथिवी) से, शूद्र—(मनुष्यों में) शूद्र (बने हुआ), तस्माद्—अत

कर्म कोई फल नहीं देता। जो 'स्व'-रूप को नहीं जान पाता, अगर वह कोई बड़ा काम भी करे, तो वह कर्म भी अन्त में क्षीण ही हो जाता है, इसलिये 'आत्म-लोक' की ही उपासना करे—मैं क्या हूं, स्वल्प नहीं हूं, महान् हूं, ब्रह्म हूं—यह अनुभव करे। जो 'आत्म-लोक' की उपासना करता है, अपने 'ब्रह्म', अर्थात् महान् रूप को समझ लेता है, उसका कर्म क्षीण नहीं होता, क्योंकि वह इस 'आत्मा' से ही महान् होने की भावना द्वारा, जो-जो चाहता है, उसे रच लेता है ॥१५॥

एव; **अग्नौ एव**—अग्नि में ही; **देवेषु लोकम्**—देवताओं में स्थिति (वास) को; **इच्छन्ते**—चाहते हैं; **ब्राह्मणे**—ब्राह्मण के आधार से; **मनुष्येषु**—मनुष्यों में (लोक चाहते हैं); **एताभ्याम्**—इन दोनों (अग्नि और ब्राह्मण); **हि**—ही; **रूपाभ्याम्**—रूपों से; **ब्रह्म**—ब्रह्म (बड़ा, महान्); **अभवत्**—(व्यक्त) हुआ; **अथ**—और; **यः ह वै**—जो ही; **अस्मात् लोकात्**—इस लोक से; **स्वम् लोकम्**—अपने लोक (स्थिति-रूप) को; **अदृष्ट्वा**—न देखकर (जानकर); **प्रैति**—चला जाता, मर जाता है; **सः**—वह; **एनम्**—इस (प्राप्त लोक) को; **अविदितः**—न जाननेवाला; **न**—नहीं; **भुनक्ति**—भोग सकता है; **यथा**—जैसे (उदाहरणार्थ); **वेदः वा**—वेद (शास्त्र); **अननूक्तः**—न पढ़ा हुआ (फल-प्रद नहीं होता); **अन्यद् वा**—या दूसरा कोई; **कर्म**—(कृषि-आदि) कर्म; **अकृतम्**—न किया हुआ; **यद्**—जो; **इह**—इस लोक में; **वै**—ही है (वह फल-प्रद नहीं होता); **अपि**—और भी; **अनेवंविद्**—इस अपने रूप (लोक) को न जानने-वाला; **महत् पुण्यम् कर्म करोति**—बड़ा पुण्य (शुभ) कर्म करता है; **तद् ह**—वह भी; **अस्य**—इस (अज्ञ-मूर्ख) का; **अन्ततः**—परिणाम में; **क्षीयते+एव**—क्षीण ही हो जाता (भोग-फल समाप्त होने पर फल देना बन्द कर देता) है; (अतः) **आत्मानम् एव लोकम्**—आत्म-लोक (आत्म-रूप) की ही; **उपासीत**—उपासना (जानने का प्रयत्न) करे; **सः यः**—वह जो; **आत्मानम् एव लोकम्**—आत्म-लोक (आत्म-रूप) को; **उपास्ते**—(प्रयत्न कर) जान लेता है; **न ह**—नहीं तो; **अस्य**—इस (आत्म-ज्ञानी) का; **कर्म**—कर्म; **क्षीयते**—क्षीण होता है (अनवरत फल-प्रद होता है); **अस्माद् हि एव**—इस ही; **आत्मनः**—आत्मा से, आत्मज्ञान से; **यद्-यद्**—जो-जो; **कामयते**—कामना करता-चाहता है; **तद्-तद्**—उस-उस (कामना) को; **सृजते**—रच लेता है ॥१५॥

'स्व'-लोक, जिसे 'आत्म'-लोक भी कहा, उसमें स्वल्पता को कैसे छोड़े, महानता को कैसे लाये ? इसका उत्तर देते हुए ऋषि कहते हैं—यह 'आत्मा' ही सब भूतों का लोक है, निवास-स्थान है। होम करना, यज्ञ करना, आत्मा का 'देव-लोक' है, पठन-पाठन इसका 'ऋषि-लोक' है, माता-पिता की सेवा करना, सन्तान चाहना इसका 'पितृ-लोक' है, सब मनुष्यों के निवास का, भोजन का प्रबन्ध करना इसका 'मनुष्य-लोक' है, पशुओं को तृणोदक देना 'पशु-लोक' है, घर में चौपाये, पक्षी, पिपीलिकादि को भोजन देना आत्मा का वह-वह लोक है। ये सब लोक आत्मा के अपने लोक हैं, इन लोकों के साथ अपनी एकात्मता स्थापित करे। जैसे आत्मा इनको—देव,

---

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितृणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयांस्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोको यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवं हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति तद्वा एतद्विदितं मीमांसितम् ॥१६॥

अथ उ—और, अयम् वै आत्मा—यह ही आत्मा (जीवात्मा), सर्वेषाम्—सब, भूतानाम्—प्राणियों का, लोकः—निवास-स्थान (आधार) है, सः—वह, यत्—जो, जुहोति—हवन (त्याग, दान) करता है, यद्—जो, यजते—यज्ञ (परार्थ-कार्य) करता है, तेन—उससे, देवानाम्—देवों (विद्वानों) का, लोकः—आश्रय-स्थान है, अथ—और, यद्—जो, अनुब्रूते—अनुवचन (पठन-पाठन) करता है, तेन—उससे, ऋषीणाम्—ऋषियों का, अथ—और, यत्—जो, पितृभ्य—पितरों (माता-पिता आदि बड़े-बूढ़ों) का, निपृणाति—तर्पण (तृप्ति—अन्न-पान देना) करता है, (और) यद्—जो, प्रजाम्—सन्तति (पुत्र-पौत्र) को, इच्छते—चाहता है, तेन—उससे, पितृणाम्—पितरों का, अथ—और; यत्—जो, मनुष्यान्—मनुष्यों (अतिथि, पड़ोसी, सन्तान आदि) को, वासयते—निवास देता है, यद्—(और) जो, एभ्यः—इनको, अशनम्—भोजन; ददाति—देता है, तेन—उससे, मनुष्याणाम्—मनुष्यों का, अथ यत्—और जो; पशुभ्य—पशुओं को, तृणोदकम् (तृण+उदकम्)—चारा-पानी, विन्दति—प्राप्त कराता (देता) है, तेन—उससे, पशूनाम्—पशुओं का, यद्—जो; अस्य—इस (जीवात्मा) के; गृहेषु—घरों में,

ऋषि, पितर, मनुष्य, पशु की शुभ-कामना करेगा, वैसे सब प्राणी ऐसे व्यक्ति की शुभ-कामना करेंगे, इस प्रकार यह 'ब्रह्म' अर्थात् महान् होने के मार्ग पर चल पड़ेगा, इस बात को खूब जान लिया गया है, इस पर खूब मीमांसा हो चुकी है ॥१६॥

ऊपर जो-कुछ कहा उसका उपसंहार करते हुए ऋषि कहते हैं कि जैसे शुरू में ब्रह्म इकला था, वैसे शुरू में आत्मा भी इकला ही था। उसने चाहा, मुझे 'जाया' प्राप्त हो ताकि मैं प्रजोत्पत्ति करूं; साथ ही यह भी चाहा कि मुझे 'वित्त' प्राप्त हो ताकि मैं कर्म करूं। संसार में ये दो ही तो कामनाएं हैं—कोई चाहे, न चाहे, इन दो, पुत्रैषणा तथा वित्तैषणा से ज्यादा कोई कुछ नहीं चाहता। इसलिये आज तक इकला व्यक्ति यही चाहता है, मुझे 'जाया' प्राप्त हो ताकि

श्वापदाः—कुत्ते आदि जीव; वयांसि—कौए आदि पक्षी; आपिपीलिकाभ्यः—चींटी तक; उपजीवन्ति—इसके सहारे पर जीते हैं; तेन—उससे; तेषाम्—उन (सब) का; लोकः—निवास—आश्रय का स्थान है; यथा ह वै—जैसे ही; स्वाय—अपने; लोकाय—आधार (आश्रय) के लिये (या ऊपर कहे देवलोक से पिपीलिका के लोक तक के लिए); अरिष्टिम्—अहिंसा, कल्याण; इच्छेत्—चाहे; एवम् ह—ऐसे ही; एवंविदे—इस प्रकार इस ज्ञानी के लिए; सर्वाणि भूतानि—सारे प्राणी; अरिष्टिम्—कल्याण को, भलाई को; इच्छन्ति—चाहते हैं; तद् वै एतद्—वह यह (वर्णन); विदितम्—ज्ञात ही है; मीमांसितम्—(पहले) पूर्ण विचार किया जा चुका है ॥१६॥

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येतावान् वै कामो नेच्छंश्चनातो भूयो विन्देत्तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते तस्यो कृत्स्नता मन एवास्याऽऽत्मा वाग्जाया प्राणः प्रजा चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्रं दैवं श्रोत्रेण हि तच्छृणोत्यात्मैवास्य कर्मात्मना हि कर्म करोति स एष पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पाङ्क्तः पुरुषः पाङ्क्तमिदं सर्वं यदिदं किंच तदिदं सर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥१७॥

आत्मा एव—जीवात्मा ही; इदम् अग्रे—इस सृष्टि-रचना के प्रारम्भ में; आसीत्—था; एकः एव—इकला ही; सः अकामयत—उसने कामना की; जाया—पत्नी; मे—मेरी; स्यात्—होवे; अथ—और, तब; प्रजायेय—प्रजा (सन्तान) वाला बनूं; अथ—और; वित्तम्—धन (कर्म-साधन); मे—मुझे;

मैं प्रजोत्पत्ति करूं, मुझे 'वित्त' प्राप्त हो ताकि मैं कर्म करूं। जब तक मनुष्य इनमें से एक-एक को नहीं पा लेता, तब तक अपने को अपूर्ण ही समझता है, वास्तव में 'जाया' तथा 'वित्त' से पूर्णता नहीं प्राप्त होती, पूर्णता तब प्राप्त होती है, जब 'मन' को आत्मा समझे, 'वाणी' को जाया समझे, 'प्राण' को प्रजा समझे, 'चक्षु' को 'मानुष-वित्त' समझे क्योंकि आंखों से देख-देखकर ही तो लोभ में फंसकर यह धन बटोरने में लग जाता है, 'श्रोत्र' को 'दैव-वित्त' समझे क्योंकि सुन-सुनकर ही देव-भाव प्राप्त होता है, और 'कर्म' को शरीर समझे क्योंकि शरीर से ही कर्म किया जाता है। इस प्रकार पूर्णता 'जाया' और 'वित्त' से नहीं, 'यज्ञ' से है। 'मन'-'प्राण'-'चक्षु'-'श्रोत्र'-'कर्म'—इन पांच से मिलकर यज्ञ रचा गया है, पशु में ये पांचों हैं, पुरुष में

स्यात्—(प्राप्त) हो, अथ—तब, कर्म—कर्म, कुर्वीय—करू, इति—ऐसे, एतावान्—इतना ही, काम—चाहना है, न—नहीं, इच्छन् च—और चाहता हुआ; न—नहीं, अथवा (च इच्छंश्चन—नहीं चाहता हुआ भी), अतः—इन (दो जाया और धन—पुत्रैषणा और वित्तैषणा) से, भूयः—और अधिक, विन्देत्—पा सकता है, तस्माद्—अतएव, अपि एतर्हि—अब भी, इस काल में भी, एकाकी—इकला (मनुष्य), कामयते—चाहता है (कि); जाया मे स्याद् अथ प्रजायेय—मुझे पत्नी मिले और पुत्रवान् होऊं, अथ—और, वित्तम् मे स्याद्—मेरे पास धन हो, अथ कर्म कुर्वीय—और कर्म करू, इति—ऐसे (ही चाहता है), स—वह (देही आत्मा); यावद् अपि—जबतक भी, एतेषाम्—इनमें से, एकैकम—एक-एक को, प्रत्येक को, न प्राप्नोति—नहीं पाता है, अकृत्स्नः—अपूर्ण, अधूरा, एव—ही; तावत्—तबतक, मन्यते—(अपने-आपको) मानता-समझता है, तस्य उ—उस (आत्मा) की तो, कृत्स्नता—(वस्तुत) पूर्णता (तो यह है), मनः—मन (चिन्तन करना), एव—ही, अस्य—इसका, आत्मा—आत्मा है, वाग्—वाणी, जाया—पत्नी है, प्राण—प्राण (श्वास-प्रश्वास या घ्राण), प्रजा—सन्तान है, चक्षु—आंख, मानुषम्—मानवीय, वित्तम्—धन (कर्म-साधन) है; (क्योंकि) चक्षुषा—नेत्र से, हि—क्योंकि, तद्—उस (धन) को, विन्दते—प्राप्ति करता है, श्रोत्रम्—कान, दैवम्—देव (विद्वान्) का विद्या-धन है; श्रोत्रेण—कान से, हि—क्योंकि, तद्—उस (दैव-विद्या-धन) को, शृणोति—सुनता (सुन कर जानता) है, आत्मा—शरीर (देह); एव—ही, अस्य—इस (देही) का, कर्म—क्रिया-साधन है; आत्मना हि—क्योंकि शरीर

ये पांचों हैं—पशु तथा पुरुष मानो यज्ञ-रूप हैं, यह सब संसार भी पांच का—पांच तत्त्वों का—मिलकर बना है, यह भी एक यज्ञ है। जो इस रहस्य को जानता है वह सब पा लेता है ॥१७॥

प्रथम अध्याय—(पांचवां ब्राह्मण)

(सात अन्नों में प्राण की सर्वोत्कृष्टता)

सृष्टि के पिता ने 'मेधा' से और 'तप' से सात अन्न उत्पन्न किये। इनमें से एक साधारण अन्न है, दो अन्न देवों को बांट दिये गये। तीन अन्न अपने लिये रचे, एक पशुओं को दे दिया गया। पशुओं को दिये गये अन्न में उस सारे जगत् की स्थिति है, जो सांस लेता है, और जो सांस नहीं लेता। इन अन्नों को हर समय खाया जा रहा है तब भी समाप्त नहीं होते, इसका क्या कारण है? जगत्पिता के रचे हुए अन्न की अक्षीणता को जो जान जाता है वह प्रतीक-मात्र अन्न खाता है, अन्न के इतने अक्षय भंडार के होते हुए वह जितना

से ही; **कर्म**—चेष्टा-प्रयत्न; **करोति**—करता है; **सः एषः**—वह यह (पिण्डगत—देही आत्मा); **पाङ्क्तः**—पांच से निर्मित; **यज्ञः**—यज्ञ (समान) है; **पाङ्क्तः**—पांच से निर्मित; **पशुः**—पशु है; **पाङ्क्तः**—पंच-निर्मित; **पुरुषः**—देही आत्मा है; **पाङ्क्तम्**—पंच (भूत) निर्मित; **इदम् सर्वम्**—यह सब कुछ है; **यद् इदम् किंच**—जो यह कुछ (दृश्यमान) है; **इदम् सर्वम्**—इस सब को; **आप्नोति**—प्राप्त कर लेता है; **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार (इस रहस्य को) जानता है ॥१७॥

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता। एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत्। त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत्तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न। कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा। यो वैतामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन। स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति श्लोकाः ॥१॥

यत्—जो; **सप्त**—सात (प्रकार के); **अन्नानि**—अन्नों को; **मेधया**—धारणावती बुद्धि से; **तपसा**—तप (श्रम, ईक्षण) से; **अजनयत्**—पैदा किया; **पिता**—(प्रजापति) पिता ने; **एकम्**—(इन सात में से) एक; **अस्य**—इस (अन्न) का; **साधारणम्**—साधारण (सर्व-सुलभ) अन्न है; **द्वे**—दो (प्रकार के); **देवान्**—देवों को; **अभाजयत्**—बांट दिया, दे दिया; **त्रीणि**—तीन (अन्नों) को; **आत्मने**—अपने लिये; **अकुरुत**—किया (रखा); **पशुभ्यः**—पशुओं के लिए; **एकम्**—एक; **प्रायच्छत्**—दिया; **तस्मिन्**—उस (अन्न) में; **सर्वम्**—सब; **प्रतिष्ठितम्**—प्रतिष्ठा (आधार) वाला है; **यत् च**—जो; **प्राणिति**—सांस लेता है, जीवित

भी खा पाता है नाम-मात्र होता है, अतः अन्न समाप्त कैसे हो जाय? वह देवों को प्राप्त होता है, वह ऊर्ज को, बल को प्राप्त होता है। प्राचीन-काल से चली आ रही ये श्लोक-बद्ध कुछ पहेलियां हैं। इन संक्षिप्त वाक्यों को ऋषि आगे खोलते हैं—॥१॥

जो यह कहा कि सृष्टि के पिता ने 'मेधा' और 'तप' से सात अन्न उत्पन्न किये, वह ठीक ही कहा है कि सब अन्नों को जगत्पिता

है, यत् च—और जो, न—नहीं (श्वास लेता है), कस्मात्—किस कारण से, क्योंकर, तानि—वे (सातों अन्न), न—नहीं, क्षीयन्ते—कम होते (घटते) हैं, अद्यमानानि—खाये जाते (भोगे जाते) हुए सर्वदा—सब काल में सदा यः वा—जो तो, एताम्—इस, (यः वै ताम्—जो ही उस), अक्षितिम्—न कम होने का, अनश्वरता को वेद—जानता है, सः—वह अन्नम्—अन्न (भोग्य) को, अत्ति—खाता है, प्रतीकेन—प्रतीक मात्र, मुख से, सः—वह (अक्षिति का ज्ञाता), देवान्—देवों को, अपि—भी, गच्छति—प्राप्त करता है, सः—वह, ऊर्जम्—(अन्न जन्य)-बल को, उपजीवति—भोगता है पाता है, इति—ये, श्लोकाः—प्राचीन श्लोक (सुभाषित) हैं॥१॥

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पितेति मेधया हि तपसाऽजनयत् पितैकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते। स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रं ह्येतत्। द्वे देवानभाजयदिति हुतं च प्रहुतं च तस्माद्देवेभ्यो जुह्वति च प्र च जुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति। तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यात्। पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति तत्पयः। पयो ह्येवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति तस्मात् कुमारं जातं घृतं वैवाग्रे प्रतिलेहयन्ति स्तनं वाऽनुधापयन्त्यथ वत्सं जातमाहुरतृणाद इति। तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेति पयसि हीदं सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न। तद्यदिदमाहुः संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति न तथा विद्याद्यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवं विद्वान्सर्वं हि देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छति। कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते। यो वैतामक्षितिं वेदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं धिया धिया जनयते। कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत ह सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत्स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति प्रशंसा॥२॥

ने 'मेधा' और 'तप' से ही उत्पन्न किया है। (मेधा का अर्थ है—'बुद्धि' तथा तप का अर्थ है—'परिश्रम'। बुद्धिपूर्वक परिश्रम करने से ही अन्न पैदा होता है।) यह जो कहा कि इनमें से एक साधारण अन्न है, उसका अभिप्राय यह है कि जिस अन्न को हम सब खाते हैं वह 'साधारण अन्न' है, यह अन्न सब का सांझा है, उसे जो अपने ही लिये रख लेता है वह पाप से नहीं छूटता, उसे तो सब के साथ बांटकर खाना ही ठीक है।

यह जो कहा कि दो अन्न देवों को बांट दिये, उसका अभिप्राय यह है कि ये दो अन्न 'हुत' और 'प्रहुत' हैं। शुभ-कर्म करते हुए स्वयं कुछ न खाकर, अग्निहोत्र करके, अग्नि में आहुति दी जाती है, यही 'हुत' है, दान दिया जाता है, यही 'प्रहुत' है। आहुति को अग्नि खा जाती है, दान को ब्राह्मण खा जाता है—इसलिये ये देवों के दो अन्न हैं। कई लोगों का कहना है कि 'दर्श' अर्थात् अमावास्या और 'पूर्णमास' अर्थात् पूर्णिमा—ये दो यज्ञ देवों के दो अन्न हैं। इन यज्ञों को हर अमावास्या और पूर्णमासी में करे, 'इष्टि-याजुक' न हो, अर्थात्

यत् सप्त अन्नानि मेधया तपसा अजनयत् पिता—मेधा और तप (श्रम) से पिता ने जो सात अन्नों को उत्पन्न किया; **इति**—यह (श्लोक के खण्ड का अर्थ यह) है; **मेधया हि तपसा**—मेधा और तप से ही; **अजनयत्**—उत्पन्न किया; **पिता**—पिता (प्रजापति) ने; **एकम् अस्य साधारणम्**—एक इसका साधारण (सर्व-सुलभ) है; **इति**—यह; **इदम् एव**—यह ही; **अस्य**—इस (सप्तविध अन्न) का; **तत्**—वह; **साधारणम्**—सर्व-सुलभ; **अन्नम्**—अन्न है; **यत्**—जो; **इदम्**—यह; **अद्यते**—(साधारणतया) खाया जाता है (जिसे सब खाते हैं); **सः यः**—वह जो; **एतद्**—इस (अन्न को); **उपास्ते**—(इकला ही) भोगता है या अन्न-भोग में ही रम जाता है; **न सः**—नहीं वह (केवलादी); **पाप्मनः**—पाप से; **व्यावर्तते**—लौट सकता है, बच पाता है; **मिश्रम् हि एतत्**—क्योंकि यह (अन्न) मिश्र (सर्वसाधारण का, साझे का है, एक का नहीं) है; **द्वे**—दो (अन्न); **देवान् अभाजयत्**—देवों को दिये; **इति**—(इसका तात्पर्य) यह है; **हुतम् च**—दैनिक हवन करना; **प्रहुतम् च**—विशिष्ट हवन करना (ये वे दो अन्न हैं); **तस्मात्**—अतएव; **देवेभ्यः**—देवों के लिये; **जुह्वति**—हवन (देव-यज्ञ) करते हैं; **प्र च जुह्वति**—विशेष यज्ञ करते हैं; **अथ उ आहुः**—और (कई) कहते हैं कि (दो अन्न); **दर्शपूर्णमासौ**—दर्श (अमावास्या के दिन यज्ञ) और पूर्णमास

मतलब से, स्वार्थ-साधना से ही यज्ञ न करता रहे, अर्थात् अपने अन्दर देव-भाव लाकर 'हुत'-'प्रहुत' अथवा 'दर्श'-'पूर्णमास' की निस्स्वार्थ-भावना जाग्रत् करे।

जो यह कहा कि एक अन्न पशुओं को दे दिया गया, इसका अभिप्राय 'पय' से, जल तथा दूध से है। मनुष्य तथा पशु प्रारंभ में दूध और पानी पर ही जीते हैं। मनुष्य के बालक को पैदा होने पर घृत चटाते हैं, स्तन से दूध पिलाते हैं; पशुओं की सन्तान को भी शुरु में 'अतृणाद' अर्थात् तिनका न खाने वाला कहते हैं। यह जो कहा कि पशु के अन्न पर ही सब की स्थिति है, जो सांस लेता है, और जो नहीं लेता, इसका अभिप्राय यही है कि 'पय' अर्थात् दूध तथा जल पर ही सांस लेने या न लेने वाले सभी की स्थिति है। कई लोग कहते हैं कि एक वर्ष तक 'पयोयज्ञ' करने वाला, दुग्धाहार-रूपी यज्ञ करने वाला, मृत्यु को जीत लेता है—यह ठीक नहीं है। अस्ल में तो जिस-जिस दिन भी पयोयज्ञ करता है, स्वयं दूध पीता और दूसरों को दूध

(पूर्णिमा के दिन यज्ञ) है, इति—ऐसे (कहते हैं), तस्मात्—उस कारण से, न—नहीं, इष्टि-याजुक—इष्टि (सकाम यज्ञ) का करनेवाला, स्यात्—हो (यज्ञ-भाग देवों का है अतः उनके निमित्त से ही करे उसमें अपना स्वार्थ न रखे), पशुभ्य: एकम् प्रायच्छत्—पशुओं को एक दिया, इति—इसका तात्पर्य यह है कि, तत्—वह (पशु-अन्न), पय:—दूध है, पयः हि एव—क्योंकि दूध ही, अग्रे—(जीवन में सबसे) पहले, मनुष्याः च—मनुष्य, पशवः च—और पशु, उपजीवन्ति—जीवन के लिए ग्रहण करते हैं, (दूध पर) ही जीते हैं, तस्मात्—अतएव, कुमारम्—बच्चे को, जातम्—पैदा हुए (पैदा होते ही), घृतम् वा—या तो घी, एव—ही, अग्रे—सर्व-प्रथम, प्रतिलेहयन्ति—चटाते हैं, स्तनम् वा—या (माता का) स्तन, अनुधापयन्ति—पीछे पिलाते हैं, अथ—और, वत्सम्—बछड़े को, जातम्—उत्पन्न हुए, आहु:—कहते हैं, अतृणाद—(यह) तिनका नहीं खाता है, इति—ऐसे, तस्मिन् सर्वम् प्रतिष्ठितम् यत् च प्राणिति यत् च न—उस (दूध) पर सब आश्रित हैं जो सास लेता है, या नही लेता, इति—यह (जो श्लोक का भाग है, उसका तात्पर्य यह है कि), पयसि—दूध पर, हि—ही; इदम् सर्वम् प्रतिष्ठितम्—यह सब आश्रित है, यत् च प्राणिति यत् च न—जो सास लेता या नही लेता है, तद् यद् इदम् आहुः—तो जो यह कहते हैं, संवत्सरम्—एक वर्ष भर, पयसा—दूध से, जुह्वत्—हवन करता

most

पिलाता है, उस-उस दिन बार-बार मृत्यु को जीतता है। इस रहस्य को जानने वाला देवों को सब अन्नाद्य बांटता है—अन्न, घी, दूध, दही आदि के दरिया बहा देता है।

यह जो कहा कि इन अन्नों को हर समय खाया जा रहा है, परन्तु ये समाप्त नहीं होते, इसका रहस्य यह है कि पुरुष ही तो इस 'अक्षिति' का, अक्षीणता का कारण है, वह पुनः-पुनः इस अन्न को अपनी 'धी' से तथा 'कर्म' से उत्पन्न करता रहता है, भोक्ता भोग्य को जनता रहता है, ऐसा न करे तो अन्न क्षीण न हो जाय! यह जो कहा कि वह 'प्रतीक' से अन्न खाता है, यहां प्रतीक का अर्थ है मुख। इतने विशाल अन्न के भंडार को सामने देखकर मुख जैसे छोटे-से छिद्र से जो अन्न खायेगा वह प्रतीक-मात्र अर्थात् नाम-मात्र ही तो होगा। इस स्थल में जिन भावनाओं का उल्लेख है, उन्हें हृदय में धारण कर जो खाता-पीता, विचरता है, वह देवों में जा मिलता है, वह ऊर्ज प्राप्त करता है—ये प्रशंसात्मक वाक्य हैं। यहां तक अन्न, हुत, प्रहुत, पय—इन चार का वर्णन हुआ ॥२॥

हुआ, दान करता हुआ; **पुनः**—फिर, बाद में; **मृत्युम्**—मौत को; **अपजयति**—दूर भगा देता है, हरा देता है; **इति**—ऐसे (कहते हैं); **न**—नहीं; **तथा**—वैसे (ठीक); **विद्यात्**—जाने; **यद् अहः एव**—जिस दिन ही; **जुहोति**—हवन करता है; **तद् अहः**—उस ही दिन; **पुनः**—फिर; **मृत्युम्**—मौत को; **अपजयति**—जीत लेता (दूर हटा देता) है; **एवम्**—ऐसे; **विद्वान्**—जानता हुआ; **सर्वम् हि**—सारा ही; **देवेभ्यः**—देवों के लिये; **अन्नाद्यम्**—खाद्यान्न; **प्रयच्छति**—देता है; **कस्मात् तानि न क्षीयन्ते अद्यमानानि सर्वदा**—क्यों वे नहीं कम पड़ते हैं सर्वदा खाये जाते हुए (भी); **इति**—यह (वाक्य जो कहा उसका तात्पर्य है कि); **पुरुषः**—जगद्-रचयिता प्रभु ब्रह्म; **वै**—ही; **अक्षितिः**—न क्षीण होने वाला है (प्रभु का नाम 'अक्षिति' है); **सः हि**—वह ही; **इदम् अन्नम्**—इस अन्न को; **पुनः पुनः**—बार-बार; **जनयते**—पैदा करता रहता है; **यः वा**—जो तो; **एताम्**—इस; **अक्षितिम्**—न क्षय होनेवाले, अक्षर, अविनाशी को; **वेद**—जानता है; **इति**—इस रूप में कि; **पुरुषः वै अक्षितिः**—कि पुरुष (ब्रह्म का नाम) ही 'अक्षिति' (अविनाशी) है; **सः हि**—वह ही; **इदम् अन्नम्**—इस अन्न को; **धिया धिया**—बुद्धि और कर्म (पुरुषार्थ) से; **जनयते**—उत्पन्न करता है; **कर्मभिः**—कर्मों (प्रयत्नों) द्वारा; **यद् ह**—यदि; **एतत्**—यह (काम); **न कुर्यात्**—न करे

यह जो कहा कि तीन अन्न अपने लिये रचे—वे हैं, मन, वाणी
तथा प्राण। अन्न, हुत, प्रहुत तथा पय—ये चार अपने से बाहर के
अन्न हैं; मन, वाणी, प्राण—ये अपने भीतर के अन्न हैं। जब हम
कहते हैं, मेरा मन दूसरी जगह था इसलिये मैंने नहीं देखा, मन
दूसरी जगह था इसलिये नहीं सुना, तब हम दूसरे शब्दों में यही कह
रहे होते हैं कि मन ही देखता है, सुनता है। काम, संकल्प, संदेह,
श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय—ये सब मन ही के
स्वरूप हैं, अगर कोई पीठ-पीछे से हमें छुए तो मन से ही हम पहचान
जाते हैं। यह सब मन का दिया हुआ अन्न ही तो है, मन हमें कितना
भोजन दे रहा है! मन में जो अमूर्त होता है, उसे वाणी शब्दों द्वारा
मूर्त बना देती है—वाणी ही शब्दों की रचना करती है। कैसी छोटी-
सी वाणी है, मानो कुछ है ही नहीं, परन्तु संसार के अन्त तक का

(तो), क्षीयेत—(अन्न) क्षीण (कम) हो जाये, ह—अवश्य ही, सः अन्नम्
अत्ति प्रतीकेन—वह (ज्ञानी) अन्न को प्रतीकमात्र या मुख से खाता है, इति—यह
(वाक्य, उसकी व्याख्या यह है कि), मुखम्—मुख, प्रतीकम्—प्रतीक (कह-
लाता) है, मुखेन इति एतत्—मुख से (वह खाता है) यह ही इसका अर्थ है,
सः—प्रतीक-भोक्ता, देवान्—देवों को, अपिगच्छति—प्राप्त कर लेता है,
सः—वह, ऊर्जम्—बल-शक्ति को, उपजीवति—उपभोग (प्राप्त) करता
है, इति—यह, प्रशंसा—इस (अन्न और अन्न-भोक्ता) की प्रशंसा है ॥२॥

त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुतान्यत्रमना
अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव
पश्यति मनसा शृणोति। कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा
धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो
मनसा विजानाति यः कश्च शब्दो वागेव सा। एषा ह्यन्तमायत्तैषा
हि न प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण
एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः ॥३॥

त्रीणि—तीन (अन्न), आत्मने—अपने लिए, आत्मा (शरीर) के लिए,
अकुरुत—किये, इति—यह (जो कहा है), मनः—मन को; वाचम्—वाणी
को, प्राणम्—(श्वास-प्रश्वास) को, तानि—उन (तीन अन्नों को), आत्मने
—अपने लिए, अकुरुत—किया; अन्यत्रमनाः—अन्यत्र मनवाला, अभूवम्
—मैं था, न अदर्शम्—न देखा; अन्यत्रमना अभूवम्—मेरा मन अन्यत्र था

पता देती है। कितना अन्न, अर्थात् भोजन दे रही है वाणी ! अब रहा प्राण। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान---ये-सब प्राण ही के रूप हैं। ये सब भोजन प्राण से मिल रहा है। इसलिये यह शरीर एतन्मय है---वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय ॥३॥

वाक्, मन, प्राण की महिमा महान् है। पिंड के ये तीनों त्रिलोकी में बिराजमान हैं। यह पृथिवी-लोक वाणी का लोक है, अन्तरिक्ष-लोक मन का लोक है, द्यु-लोक प्राण का लोक है। जैसे वाणी सब अर्थों को प्रकट करती है, वैसे पृथिवी सब पदार्थों को पैदा कर देती है, जैसे मन वाणी को थामे हुए है, वैसे अन्तरिक्ष पृथिवी को थामे

(अतः); न अश्रौषम्---नहीं सुन पाया; इति---ऐसे; मनसा हि---क्योंकि मन से; एव---ही; पश्यति---देखता है; मनसा---मन से; शृणोति---सुनता है; कामः---इच्छा, रति-कर्म; संकल्पः---संकल्प; विचिकित्सा---संशय होना; श्रद्धा---श्रद्धा; अश्रद्धा---श्रद्धा का अभाव; धृतिः---धैर्य; अधृतिः---धैर्य न होना, अस्थिरता; ह्रीः---लज्जा; धीः---बुद्धि, ज्ञान; भीः---भय; इति एतत् सर्वम्---ये सब ही; मनः---मन (के गुण-रूप); एव---ही हैं; तस्माद्---अतएव; अपि---भी, चाहे; पृष्ठतः---पीछे से, पीठ पर; उपस्पृष्टः---छुआ हुआ (छूने पर); मनसा---मन से; विजानाति---जान लेता है; यः---जो; कः च---कोई भी (किसी प्रकार का---व्यक्त या अव्यक्त); शब्दः---शब्द है; वाग् एव---वाणी (का रूप); सा---वह है; एषा हि---यह (वाणी) ही; अन्तम्---अन्त (अभिधेय-प्रकाशन) को; आयत्ता---अनुगत (तत्पर) है; (अन्तम् आयत्ता---सब वाच्य की प्रकाशिका-द्योतिका है); एषा हि न---यह नहीं (किसी द्वारा प्रकट होने वाली नहीं, यह किसी से आयत्त-अनुगत नहीं); प्राणः अपानः व्यानः उदानः समानः---प्राण के ये पांचों भेद; अनः---जीवन-प्रद हैं; इति एतत् सर्वम्---यह सब ही (पंचविध प्राण); प्राणः एव---प्राण (-संज्ञक) ही है; एतन्मयः---इन (तीनों---मन-वाणी-प्राण) से निर्मित; वै---ही; अयम् आत्मा---यह आत्मा (शरीर) है; वाङ्मयः---वाङ्मय; मनोमयः---मनोमय; प्राणमयः---प्राणमय (है) ॥३॥

त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥४॥

त्रयः---तीन; लोकाः---लोक; एते---ये (मन, वाक्, प्राण); एव---ही हैं; वाग् एव---वाणी ही; अयम् लोकः---यह (पृथिवी) लोक है; मनः अन्तरिक्ष-लोकः---मन अन्तरिक्ष-लोक है; प्राणः---प्राण; असौ---वह (द्यु); लोकः---लोक है ॥४॥

हुए हैं, जैसे प्राण मन-वाणी को जीवित रखता है, वैसे द्यु अन्तरिक्ष तथा पृथिवी को प्रकाशित कर रहा है ॥४॥

तीनों वेद भी मानो वाक्, मन, प्राण ही हैं। ऋग्वेद मानो वाक् है, यजुर्वेद मन है, सामवेद प्राण है। ऋग्वेद ज्ञान-काड का प्रतिनिधि है, वाणी ज्ञान का ही रूप है, यजुर्वेद कर्म-काड का प्रतिनिधि है, मन द्वारा ही कर्म चल रहा है, सामवेद स्तुति-काड का प्रतिनिधि है, प्राण द्वारा ही साम-गान होता है ॥५॥

वाक्, मन, प्राण ही मानो देव, पितर, मनुष्य—ये तीनों हैं, वाणी ही देव है, मन ही पितर है, प्राण ही मनुष्य है। 'वाणी' शरीर का मानो प्रकाश है, 'देव-गण' भी मनुष्य-समाज में बिना बोले भी अपने गुणों से मानो बोल उठते हैं, गुणों का प्रकाश फैला देते हैं, 'मन' में शरीर की सब इन्द्रियां रक्षा पाती हैं, मन ठीक रहे तो शरीर की सब इन्द्रियां ठीक, मन बिगड़ा तो सब बिगड़ जाती हैं, 'पितर' भी मनुष्य-समाज के मन की तरह रक्षक हैं, 'प्राण' शरीर का सब काम चलाता है, 'मनुष्य' अर्थात् साधारण लोग भी मानव-समाज का सब काम-काज शरीर में प्राण की तरह चलाते हैं ॥६॥

ये मानो पिता, माता तथा प्रजा हैं। 'मन' ही पिता, 'वाणी' माता तथा 'प्राण' प्रजा है, सन्तान के समान है ॥७॥

त्रयो वेदा एत एव वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः ॥५॥

त्रयः वेदाः एते एव—तीनों वेद भी ये (वाक आदि) ही हैं, वाग् एव ऋग्वेदः—वाणी ही ऋग्वेद है, मनः यजुर्वेदः—मन यजुर्वेद है, प्राणः सामवेदः—प्राण सामवेद है ॥५॥

देवाः पितरो मनुष्या एत एव वागेव देवा मनः पितरः प्राणो मनुष्याः ॥६॥

देवाः—विद्वान्, देव-गण, पितरः—पितर (माता-पिता आदि वृद्ध-जन), मनुष्याः—अन्य मनुष्य, एते एव—ये ही हैं, वाग् एव देवाः—वाणी ही देव-गण हैं, मनः पितरः—मन पितृ-गण हैं, प्राणः मनुष्याः—प्राण मनुष्य-मात्र हैं ॥६॥

पिता माता प्रजैत एव मन एव पिता वाङ्माता प्राणः प्रजा ॥७॥

पिता माता प्रजा—पिता माता और सन्तति (पुत्र) भी, एते एव—ये ही हैं, मनः एव पिता—मन ही पिता है, वाङ् माता—वाणी माता है, प्राणः प्रजा—प्राण सन्तान हैं ॥७॥

ये ही 'विज्ञात' (Known), 'विजिज्ञास्य' (Knowable) तथा 'अविज्ञात' (Unknown) हैं। जो 'विज्ञात' है, जाना जा चुका है, वह 'वाणी' का ही रूप है, वाणी में आ चुका है, विज्ञात-पदार्थ वाणी-रूप है। ज्ञान जब तक वाणी में नहीं आता तब तक अस्पष्ट रहता है, जब वह वाणी-रूप हो जाता है, जब हम ज्ञान को वाणी में प्रकट कर देते हैं, तब उसकी सुरक्षा हो जाती है, अतः वाणी ज्ञान-रूप होकर मनुष्य की रक्षा करती है ॥८॥

जो 'विजिज्ञास्य' है, अभी जाना नहीं गया परन्तु जाना जा सकता है, वह 'मन' का ही रूप है, मन ही तो विज्ञेय पदार्थों से भरा पड़ा है, मन जिस पदार्थ पर अपने को अटका लेता है, वह ज्ञेय-कोटि में आ जाता है, अतः मन संसार को ज्ञेय-कोटि में लाकर मनुष्य की रक्षा करता है ॥९॥

जो 'अविज्ञात' है, जाना नहीं गया, वह 'प्राण' का ही रूप है। प्राण अविज्ञात है, जाना नहीं जाता कि यह क्या है, कहाँ है? प्राण मनुष्य की बिना जाने, अविज्ञात-भाव से रक्षा करता है ॥१०॥

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत्किञ्च विज्ञातं
वाचस्तद्रूपं वाग्घि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वाऽवति ॥८॥

विज्ञातम्—जानी हुई; **विजिज्ञास्यम्**—जानने योग्य; **अविज्ञातम्**—न जानी हुई (वस्तु); **एते एव**—ये ही हैं; **यत् किञ्च**—जो कुछ भी; **विज्ञातम्**—ज्ञात है; **वाचः**—वाणी का; **तद् रूपम्**—वह (विज्ञात) रूप है; **वाग् हि**—क्योंकि वाणी ही; **विज्ञाता**—ज्ञात (स्पष्ट) है; **वाग्**—वाणी; **एनम्**—इस (विज्ञात) को; **तद् भूत्वा**—वह (विज्ञात रूप) होकर; **अवति**—सुरक्षित रखती है ॥८॥

यत्किंच विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वाऽवति ॥९॥

यत् किंच—और जो-कुछ; **विजिज्ञास्यम्**—जानने योग्य है; **मनसः**—मन का; **तद्**—वह (विजिज्ञास्य); **रूपम्**—रूप है; **मनः हि**—क्योंकि मन; **विजिज्ञास्यम्**—जानने योग्य है; **मनः**—मन; **एनम्**—इस (विजिज्ञास्य) को; **तद्**—वह (विजिज्ञास्य); **भूत्वा**—होकर; **अवति**—रक्षा करता है (ज्ञान-कोटि में लाता है) ॥९॥

यत्किंचाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वाऽवति ॥१०॥

यत् किंच—और जो-कुछ; **अविज्ञातम्**—अज्ञात है; **प्राणस्य**—प्राण का;

पिंड-शरीर में जैसे 'वाणी' है, ब्रह्मांड-शरीर में वैसे पृथिवी है। पिंड-शरीर में जैसे जीवन की उष्णता है, ब्रह्मांड-शरीर में वैसे ज्योति-रूप अग्नि है। पिंड में वाणी का विस्तार ब्रह्मांड के पृथिवी के विस्तार के सदृश है। वाणी पिंड की कहानी बोलती है, पृथिवी ब्रह्मांड की कहानी बोलती है। जितनी विशाल 'वाणी' है, उतनी ही विशाल पृथिवी में रहने वाली 'अग्नि' है ॥११॥

पिंड-शरीर में जैसे 'मन' है, ब्रह्मांड-शरीर में वैसे द्यौः है। पिंड-शरीर में जैसे जीवन की उष्णता है, ब्रह्मांड-शरीर में वैसे ज्योति-रूप आदित्य है। पिंड में मन का विस्तार ब्रह्मांड के द्यु-लोक के विस्तार के सदृश है। मन पिंड की कहानी बोलता है, द्यु-लोक ब्रह्मांड की कहानी बोलता है। जितना विशाल 'मन' है, उतना ही विशाल 'द्यु' है, उतना ही विशाल द्यु-लोक में रहने वाला 'आदित्य' है।

'वाणी' और 'मन' के मेल से 'प्राण' प्रकट हुआ, ठीक-ऐसे जैसे पृथिवी की अग्नि और द्यु-लोक के सूर्य के मेल से, इन की गर्मी से 'वायु' प्रकट होता है। पिंड के प्राण को ब्रह्मांड में इन्द्र कहते हैं, वायु

तद्—वह, रूपम्—रूप है, प्राण. हि—क्योंकि प्राण ही, अविज्ञातः—अज्ञात है, प्राणः—प्राण; एनम्—इसको, तद् भूत्वा—वह (अविज्ञात) होकर, अवति—रक्षा करता है ॥१०॥

तस्यैव वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निस्तद्या-
वत्येव वाक्तावती पृथिवी तावानयमग्निः ॥११॥

तस्य+एव(तस्याः एव)—उस ही, वाच—वाणी का, पृथिवी—पृथिवी, शरीरम्—शरीर है, ज्योतिः रूपम्—ज्योति (प्रकाशक) रूप, अयम्—यह, अग्निः—अग्नि है, तद्—तो, यावती—जितनी, एव—ही, वाक्—वाणी है, तावती—उतनी ही, पृथिवी—पृथिवी है, तावान्—उतना, एव—ही, अयम् अग्निः—यह अग्नि है ॥११॥

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यस्तद्यावदेव मनस्तावती
द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ मिथुनं समैतां ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स
एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नो नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद ॥१२॥

अथ—और, एतस्य—इस, मनसः—मन का, द्यौः—द्यु-लोक; शरीरम्—शरीर है, ज्योतिः रूपम्—प्रकाशक रूप; असौ आदित्य.—यह आदित्य (सूर्य) है; तद्—तो, यावद् एव—जितना ही; मनः—मन है; तावती

कहते हैं। यह 'असपत्न' है, शत्रु-रहित है। जो कोई दूसरा मुकाबिले का हो, उसे 'सपत्न' कहते हैं। जो इस रहस्य को जानता है उसका कोई 'सपत्न' नहीं होता, मुकाबिले का नहीं होता ॥१२॥

पिंड-शरीर में जैसे 'प्राण' है, ब्रह्मांड-शरीर में वैसे जल है। पिंड-शरीर में जैसे जीवन की उष्णता है, ब्रह्मांड-शरीर में वैसे ज्योति-रूप चन्द्र है। पिंड में प्राण का विस्तार ब्रह्मांड के जल के विस्तार के सदृश है। प्राण पिंड की कहानी बोलता है, जल ब्रह्मांड की कहानी बोलता है। जहां जल है वहीं जीवन है। जितना विशाल 'प्राण' है, उतना ही विशाल 'जल' है, उतना ही विशाल चन्द्र है।

इस प्रकार हमने देखा कि पिंड के वाणी, मन, प्राण,—ये तीनों ब्रह्मांड के पृथिवी, द्यु, जल तथा अग्नि, आदित्य, चन्द्र—इन सबके समान हैं। ये सभी अनन्त हैं, महान् हैं। इन सबको जो 'अन्तवान्' समझ कर इनकी उपासना करता है वह अन्तवान् लोकों पर विजय पाता है, जो इन्हें 'अनन्तवान्' समझकर इनकी उपासना करता है वह अनन्तवान् लोकों पर विजय पाता है। वाणी, मन, प्राण—ये कितने छोटे हैं, कितने अन्तवान् हैं। परन्तु ये पिंड में ही तो छोटे, अन्तवान् दिखाई देते हैं! ये ही ब्रह्मांड में अनन्त दिखाई देने लगते

उतना; **द्यौः**—द्यु-लोक है; **तावान् असौ आदित्यः**—उतना ही यह सूर्य है; **तौ**—वे दोनों; **मिथुनम्**—जोड़े रूप में, आपस में; **समैताम्**—संगत हुए (मिले); **ततः**—उस (मेल) से; **प्राणः**—प्राण; **अजायत**—उत्पन्न हुआ; **सः**—वह (प्राण); **इन्द्रः**—इन्द्र (कहलाता है); **सः एषः**—वह यह (प्राण-इन्द्र); **असपत्नः**—अद्वितीय (एक) है; **द्वितीयः**—दूसरा; **वै**—ही; **सपत्नः**—सपत्न (कहलाता है); **न अस्य**—नहीं इसका; **सपत्नः**—द्वितीय, शत्रु (विरोधी, प्रतिद्वन्द्वी); **भवति**—होता है; **यः एवम् वेद**—जो ऐसे जानता है ॥१२॥

> **अथैतस्य प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्तद्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रस्त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तं स लोकं जयत्यथ यो हैताननन्तानुपास्तेऽनन्तं स लोकं जयति ॥१३॥**

अथ—और; **एतस्य**—इस; **प्राणस्य**—प्राण का; **आपः**—जल; **शरीरम्**—शरीर (आधार) है; **ज्योतिः रूपम्**—प्रकाशक रूप; **असौ**—यह; **चन्द्रः**—चन्द्रमा है; **तद् यावान् एव**—तो जितना ही; **प्राणः**—प्राण है;

है। ब्रह्मांड से ऊपर उठकर अगर अनन्तों के भी अनन्त के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ दिया जाय, तो मनुष्य सान्त से अनायास ही अनन्त की ओर चल देता है। फिर वह सान्त लोकों का विजय करने के स्थान में अनन्त के विजय पर निकल पड़ता है ॥१३॥

अनन्त की ओर चलने वाले के लिये 'संवत्सर'—काल—ही प्रजापति है, भुवन का स्वामी है। इस काल की उपमा चन्द्रमा से दी जा सकती है। चन्द्र की सोलह कलाएं हैं। पन्द्रह रात्रियां इसकी पन्द्रह कलाएं हैं, ध्रुवा इसकी सोलहवीं कला है, इस ध्रुवा कला के कारण ही तो यह ध्रुव बनो रहता है। चन्द्र रात्रियों से ही पूर्ण होता है, रात्रियों से ही क्षीण होता है। जब चन्द्रमा क्षीण होता है तब वास्तव में प्राणिमात्र में प्रवेश कर रहा होता है, और अमा-वास्या की रात को जब इसकी कोई कला नहीं दीखती तब यह संपूर्ण प्राणि-जगत् में पूर्ण जोवन का संचार कर चुका होता है, और अगले दिन प्रातःकाल अपनी बची हुई सोलहवीं कला से फिर उदय होने और बढने लगता है। इसलिये इस रात्रि में किसी प्राणधारी का

तावत्यः—उतने ही, आपः—जल हैं, तावान् असौ चन्द्रः—उतना ही यह चन्द्रमा है, ते एते—वे ये (त्रिपुटिया, त्रिमूर्त्तिया), सर्वे एव—सारे ही, समाः—समान है, सर्वे अनन्ताः—सारे अनन्त हैं, सः यः—वह जो, ह—निश्चय से, एतान्—इन (वाणी-मन-प्राण) को, अन्तवत —अन्तवाला, सान्त, उपास्ते—उपासना करता (समझता) है, अन्तवन्तम्—सान्त, सः—वह, लोकम्—लोक को, जयति—जीतता है, अधिकारी हो जाता है, अथ य ह—और जो तो, एतान्—इनको, अनन्तान्—अन्तहीन, उपास्ते—समझता है, अनन्तम् सः लोकम् जयति—वह अनन्त लोक को जीतता (पा लेता) है ॥१३॥

स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदश कला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभिरेवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते सोऽमावास्यां रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनु-प्रविश्य ततः प्रातर्जायते तस्मादेतां रात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यादपि कृकलासस्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै ॥१४॥

सः एषः—वह यह, संवत्सरः—वर्ष (काल), प्रजापतिः—प्रजा-रक्षक, षोडशकलः—सोलह कला (अंश) वाला है, तस्य—उसकी, रात्रयः—(एक पक्ष की पन्द्रह) रात्रियां ही, पञ्चदश—पन्द्रह, कलाः—कलाएं (अंश) हैं,

प्राण-हरण न करे, गिरगिट-जैसे तुच्छ प्राणी को भी न मारे, और कुछ नहीं तो यह सोचकर ही 'प्राण-हरण' न करे कि यह प्राण चन्द्रमा का ही एक रूप है, चन्द्र ही तो अपनी कलाओं से सृष्टि में प्राण-रूप हो रहा है, और कुछ नहीं तो उसके सत्कार में ही ऐसा न करे ॥१४॥

ब्रह्मांड में संवत्सर, अर्थात् काल-रूपी सोलह कलाओं वाले का नाम 'प्रजापति' है, पिंड में इस रहस्य को जानने वाले का नाम 'पुरुष' है। इस पुरुष-रूपी चन्द्र की पन्द्रह कलाएं 'वित्त' हैं, धन-धान्य हैं। सोलहवीं कला 'आत्मा' है। जैसे चन्द्र रात्रियों से पूर्ण होता है, रात्रियों से क्षीण होता है, वैसे पुरुष-रूपी चन्द्र कभी वित्त से पूर्ण हो जाता है, कभी खाली हो जाता है। 'आत्मा' इस शरीर-रूपी पहिये की नाभि है, यह अविचल है, 'वित्त' इस पहिये की प्रधि है, अरे के सदृश है। इसलिये अगर किसी का सम्पूर्ण वित्त भी नष्ट

ध्रुवा—(स्थिर रहनेवाली) ध्रुवनाम्नी; **एव**—ही; **अस्य**—इस (संवत्सर-प्रजापति) की; **षोडशी**—सोलहवीं; **कला**—कला है; **सः**—वह; **रात्रिभिः एव**—रात्रियों से ही; **आ च पूर्यते**—सर्वतः पूर्ण होता है; **अप च क्षीयते**—और क्षीण हो जाता है; **सः**—वह; **अमावस्याम् रात्रिम्**—अमावस्या रात्रि में; **एतया**—इस; **षोडश्या**—सोलहवीं; **कलया**—(ध्रुवा-नाम्नी) कला से; **सर्वम् इदम्**—सारे ही इन; **प्राणभृत्**—प्राणियों में; **अनुप्रविश्य**—अनु-प्रवेश कर; **ततः**—उसके बाद; **प्रातः**—प्रातःकाल में; **जायते**—उत्पन्न होता है; **तस्मात्**—उस कारण से; **एताम् रात्रिम्**—इस रात भर; **प्राणभृतः**—प्राणी के; **प्राणम्**—प्राण (जीवन) को; **न**—नहीं; **विच्छिन्द्यात्**—काटे (नष्ट करे); **अपि**—चाहे; **कृकलासस्य**—(तुच्छ) गिरगिट का भी; **एतस्याः**—इस; **एव**—ही; **देवतायाः**—(प्रजापति या चन्द्र रूप) देवता की; **अपचित्यै**—हानि के अभिप्राय से (अनादर का ध्यान रखकर) ॥१४॥

> यो वै स संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवित् पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदश कला आत्मैवास्य षोडशी कला स वित्तेनैवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते तदेतन्नभ्यं यदयमात्मा प्रधिर्वित्तं तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं जीयत आत्मना चेज्जीवति प्रधिनागादित्येवाहुः ॥१५॥

यः वै—जो ही; **सः**—वह; **संवत्सरः प्रजापतिः**—संवत्सर प्रजापति; **षोडशकलः**—सोलह कलावाला (ऊपर कहा है); **अयम् एव सः**—(पिंड में) यह ही वह है; **यः अयम्**—जो यह; **एवंवित्**—इस प्रकार जाननेवाला; **पुरुषः**—

क्यों न हो जाय, अगर उसका आत्मा जीता है, तो वह जीता ही है, इतना ही कहा जाता है कि इसके अरे टूट गये हैं, ठीक हो जायेंगे ॥१५॥

हे उपासक ! संसार में तीन लोक हैं—'मनुष्य-लोक', 'पितृ-लोक' तथा 'देव-लोक'। साधारण लोग जो खाने, पीने और प्रजोत्पत्ति में लगे हैं, वे 'मनुष्य' कहलाते हैं; अपना ही विचार छोड़ संसार की रक्षा में लगे हुए लोग 'पितर' कहलाते हैं; संसार को ज्ञान देकर आगे बढ़ाने वाले लोग 'देव' कहलाते हैं। 'मनुष्य-लोक' को 'पुत्र' से ही जीता जाता है, दूसरे कर्म से नहीं। जब तक पुत्र नहीं होता तब तक मनुष्य-स्वभाव का व्यक्ति इस संसार-युद्ध में अपने को हारा हुआ ही पाता है। 'पितृ-लोक' को 'कर्म' से जीता जाता है। पितर लोग निरंतर कर्म में लगे रहते हैं, तब जाकर दुनिया का भला होता है। 'देव-लोक' को 'विद्या' से जीता जाता है। देव लोग विद्या-दान द्वारा,

पुरुष (देही आत्मा) है, तस्य—उसके; वित्तम्—धन, कर्म-साधन इन्द्रियां आदि, एव—ही, पञ्चदश कलाः—पन्द्रह कलाएं हैं, आत्मा एव—जीवात्मा ही, अस्य—इस (सशरीर आत्मा पुरुष) की, षोडशी कला—सोलहवीं कला है, सः—वह पुरुष, वित्तेन—कर्म-साधन वित्त से, एव—ही, आ च पूर्यते—(कभी) पूर्ण होता है, अप च क्षीयते—और (कभी) क्षीण होता है, तद् एतद्—वह यह, नभ्यम्—नाभिवर्ती, केन्द्रवर्ती है, यद् अयम् आत्मा—जो यह आत्मा (जीव) है, प्रधिः—नेमि, अरे, वित्तम्—धन है, तस्माद्—अत एव, यद्यपि—यद्यपि, सर्वज्यानिम्—सर्व (धन की) हानि (होकर), जीयते—क्षीण हो जाता है, आत्मना—आत्मा (जीव) से, चेत्—अगर, जीवति—जीता है (जीवित कहा जाता है), प्रधिना—वित्त-रूप अरे-नेमि से, अगात्—चला गया (क्षीण हो गया), इति एव—यह ही, आहुः—(मनुष्य) कहते हैं (मर गया, यह कोई नहीं कहता) ॥१५॥

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति ॥१६॥

अथ—और, त्रयः वाव—तीन ही, लोकाः—लोक हैं; मनुष्य-लोकः—मनुष्य-लोक; पितृ-लोकः—पितृ-लोक, देव-लोकः—देव-लोक, इति—ये (नाम वाले); सः अयम् मनुष्य-लोकः—वह यह मनुष्य-लोक; पुत्रेण—पुत्र द्वारा

ज्ञान के प्रचार द्वारा संसार का भला करने में लगे रहते हैं। सब से श्रेष्ठ देव-लोक है, तभी सब लोग विद्या की प्रशंसा करते हैं ॥१६॥

'मनुष्य-लोक' को 'पुत्र' से कैसे जीतते हैं? 'संप्रत्ति' से, अपना सब-कुछ पुत्र को सौंपने से। जब कोई संन्यास लेते समय, या यह देखकर कि अब तो दुनिया से चलने का समय निकट आ गया, घर छोड़ने लगता है, तब पुत्र को बुलाकर कहता है—तू 'ब्रह्म' है, तू 'यज्ञ' है, तू 'लोक' है। इस बोझ को जब पुत्र को सौंपा जाता है तब उससे कहलवाया जाता है, मैं 'ब्रह्म' हूं, मैं 'यज्ञ' हूं, मैं 'लोक' हूं। 'ब्रह्म' कहने में वह सब आ जाता है जो पिता ने पढ़ा है या नहीं पढ़ा; 'यज्ञ' कहने में सब प्रकार के शुभ-कर्म-रूपी यज्ञ आ जाते हैं जो पिता ने किये हैं या नहीं किये; 'लोक' कहने में सब प्रकार के यश के कार्य आ जाते हैं, जो पिता ने यश प्राप्त किये हैं या नहीं किये। मनुष्य का सम्पूर्ण ध्येय बस इतने में ही आ जाता है—'ब्रह्म'-'यज्ञ'-

---

एव—ही; जय्यः—जीता (प्राप्त किया) जा सकता है; न—नहीं; अन्येन—दूसरे; कर्मणा—कर्म से; कर्मणा—कर्म (प्रयत्न-पुरुषार्थ) से; पितृलोकः—पितृ-लोक; विद्यया—विद्या (ज्ञान-सम्पादन) से; देवलोकः—देव-लोक; देवलोकः वै—देवलोक ही; लोकानाम्—तीनों लोकों में; श्रेष्ठः—श्रेष्ठ है; तस्मात्—अतएव; विद्याम्—विद्या की; प्रशंसन्ति—सब प्रशंसा करते हैं ॥१६॥

अथातः संप्रत्तिर्यदा प्रैष्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति यद्वै किंचानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता। ये वै के च यज्ञास्तेषाँ सर्वेषां यज्ञ इत्येकता ये वै के च लोकास्तेषाँ सर्वेषां लोक इत्येकतैतावद्वा इदँ सर्वमेतन्मा सर्वँ सन्नयमितोऽभुनजदिति तस्मात् पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशासति स यदैवंविदस्माल्लोकात्प्रैत्यथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति। स यद्यनेन किंचिदक्ष्णयाऽकृतं भवति तस्मादेनँ सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तस्मात्पुत्रो नाम स पुत्रेणैवास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठत्यथैनमेते दैवाः प्राणा अमृता आविशन्ति ॥१७॥

अथ अतः—अब इसके आगे; संप्रत्तिः—सम्प्रदान, सर्वस्व देना, उत्तराधिकारी को देना (का वर्णन करते हैं); यदा—जब (मनुष्य); प्रैष्यन्—मरता हुआ, पर-लोक को जाता हुआ; मन्यते—(अपने को) समझता है; अथ—तो; पुत्रम्—पुत्र को; आह—कहता है; त्वम्—तू; ब्रह्म—ब्रह्म (बड़ा-बढ़नेवाला)

'लोक'! मेरा यह पुत्र, यह सब-कुछ होकर, 'ब्रह्म'-'यज्ञ'-'लोक' के मेरे बोझ को अपने सिर पर लेकर, मेरे नाम की पालना करे, इसलिये जिस पुत्र को पिता यह उपदेश देता है, उसे 'लोक्य' कहते हैं, क्योंकि वह पितृ-लोक के लिये हितकारी होता है। इस रहस्य को जानते हुए जो संन्यास लेता है, या दुनिया छोड़ता है, वह पुत्र को उपदेश देते हुए मानो अपने प्राणों से पुत्र में प्रवेश कर जाता है। उसने अगर कारण-वश कुछ नहीं भी किया होता, तो पुत्र उस सबसे अपने पिता का छुटकारा करा देता है, तभी उसे 'पुत्र' कहते हैं। 'पुत्' का अर्थ है—पूरा करना, 'त्र' का अर्थ है—न किये से पिता की रक्षा करना! पिता चल देता है, परन्तु चलते हुए भी पुत्र के द्वारा इस लोक में ही स्थित रहता है। जब पिता स्वयं सब-कुछ छोड़कर चल देता है, तब मानो उसमें 'देव-प्राण' प्रवेश कर जाते हैं, 'अमृत-प्राण' प्रवेश कर जाते हैं, अर्थात् उसमें दिव्यता और अमरता आ जाती है ॥१७॥

है, त्वम्—तू, यज्ञः—यज्ञ (सब का सत्कार आदि शुभकर्म-कर्ता) है, त्वम्—तू, लोकः—लोक (सब का आधार, पोषक) है, इति—ऐसे, स पुत्रः—वह पुत्र, प्रति+आह—प्रत्युत्तर में कहता है, अहम् ब्रह्म, अहम् यज्ञ, अहम् लोकः इति—मैं ब्रह्म, मैं यज्ञ और मैं लोक हूं, यद् वै किंच—जो कुछ, अनूक्तम्—अनुवचन (अध्ययन) है, तस्य सर्वस्य—उस सब की, ब्रह्म—ब्रह्म (वेद), इति—इस रूप में, एकता—एकीभाव, अन्तर्भाव है, ये वै—जो, के च—कोई, यज्ञा—यज्ञ हैं, तेषाम् सर्वेषाम्—उन सब का, यज्ञः इति—'यज्ञ' इस शब्द में, एकता—अन्तर्भाव, एकीभाव है, ये वै के च—और जो कोई, लोका—लोक हैं, तेषाम् सर्वेषाम्—उन सब का, लोकः—लोक, इति—इस (पद) में, एकता—एकीभाव, अन्तर्भाव है, एतावद् वै—इतना ही, इदम् सर्वम्—यह सब है, एतद्—यह, मा—मुझ को, सर्वम्—सब, सन्—होता हुआ, अयम्—यह, इसने, इतः—अब से पहले या इसके बाद, अभुनजत्—पालन किया (बुढ़ापे में), या पालन करेगा, इति—ऐसे, तस्मात्—अतः, पुत्रम्—पुत्र को, अनुशिष्टम्—अनुशासित, सुशिक्षित; लोक्यम्—लोकों का हितकारी, लोक का अधिकारी, आहु—कहते हैं, तस्मात्—अतएव; एनम्—इसको; अनुशासति—(पितर—बड़े-बूढ़े) शिक्षित करते हैं, स—वह, यद्—जो, एवंवित्—इस प्रकार जाननेवाला, अस्मात्—इस, लोकात्—लोक से; प्रैति—जाता

मनुष्य की रचना, जैसा पहले कहा, 'वाणी'-'मन'-प्राण' से है। मृत्यु से धक्का खाकर तो सभी चल देते हैं, परन्तु जब मनुष्य अपने आप संसार के विषयों को छोड़ देता है, तब पृथिवी और अग्नि में जो 'दैवी-वाक्' समा रही है, वह इसमें आ प्रवेश पाती है। इसी 'दैवी-वाक्' से वह जो-कुछ बोलता है, वही-वही हो जाता है ॥१८॥

द्यु तथा आदित्य में जो 'दैव-मन' समा रहा है, वह इसमें आ प्रवेश पाता है। इस 'दैव-मन' को धारण कर उसके लिये आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है ॥१९॥

(मरता) है; **अथ**—तो; **एभिः**—इन; **एव**—ही; **प्राणैः**—प्राणों से (के); **सह**—साथ; **पुत्रम्**—पुत्र में; **आविशति**—प्रवेश कर जाता है; **सः**—वह; **यदि**—अगर; **अनेन**—इस (पिता) ने; **किंचित्**—कुछ; **अक्ष्णया**—विघ्न के कारण, असमर्थता के कारण; **अकृतम्**—न किया हुआ, अपूर्ण; **भवति**—(कार्य) होता है; **तस्मात्**—उस (अपूर्णता) से; **एनम्**—इस (परलोकगामी) को; **सर्वस्मात्**—सबसे; **पुत्रः**—पुत्र; **मुंचति**—मुक्त कर देता है; **तस्मात्**—अतएव; **पुत्रः**—पुत्र (यह); **नाम**—संज्ञा है; **सः**—वह; **पुत्रेण**—पुत्र के द्वारा; **एव**—ही; **अस्मिन् लोके**—इस लोक में; **प्रतितिष्ठति**—प्रतिष्ठा पाता है; **अथ**—और; **एनम्**—इसको; **एते**—ये; **देवाः**—देव; **प्राणाः**—प्राण; **अमृताः**—अमर; **आविशन्ति**—प्रवेश करते हैं, प्राप्त हो जाते हैं ॥१७॥

पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति सा वै
दैवी वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद् भवति ॥१८॥

पृथिव्यै च—पृथिवी से; **एनम्**—इसको; **अग्नेः च**—और अग्नि से; **दैवी वाग्**—दिव्य वाणी; **आविशति**—प्रवेश करती है; **सा वै**—वह ही; **दैवी वाग्**—दिव्य वाणी है; **यया**—जिससे; **यद् यद् एव**—जो-जो ही; **वदति**—बोलता है; **तद् तद्**—वह-वह; **भवति**—होता है ॥१८॥

दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति तद्वै
दैवं मनो येनानन्द्येव भवत्यथो न शोचति ॥१९॥

दिवः च—द्युलोक से; **एनम्**—इसको; **आदित्यात् च**—और सूर्य से; **दैवम् मनः**—दिव्य मन; **आविशति**—प्रवेश करता है; **तद् वै**—वह ही; **दैवम् मनः**—दिव्य मन है; **येन**—जिससे; **आनन्दी**—आनन्द से युक्त; **एव**—ही; **भवति**—होता (रहता) है; **अथ उ**—और; **न**—नहीं; **शोचति**—शोक करता है, दुःखी होता है ॥१९॥

चन्द्र तथा जल में जो 'दैव-प्राण' समा रहा है, वह इसमें आ प्रवेश पाता है। वह 'दैव-प्राण' जो चलता हुआ और न चलता हुआ कभी थकता नहीं, कभी नष्ट नहीं होता। इस रहस्य को जानने वाला सब भूतो का आत्मा, सबका-आपा हो जाता है, जैसे यह प्राण देवता है, वैसा ही वह हो जाता है। जैसे सब भूत प्राण-देवता की रक्षा में जुटे हुए हैं, वैसे ही सब भूत इस रहस्य को जानने वाले की रक्षा में जुट जाते हैं। अगर लोग उसके विषय में दुःखी होते हैं, तो दुःख लोगो तक ही सीमित रहता है, उसे दुःख नहीं पहुंचता, उसे तो पुण्य ही पहुंचता है, वह देव हो चुका है, देवो को दुःख-रूपी पाप का स्पर्श नहीं होता ॥२०॥

अदभ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति स वै दैवः प्राणो यः सञ्चरꣳश्चासञ्चरꣳश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति स एवंवित्सर्वेषां भूतानामात्मा भवति यथैषा देवतैवꣳ स यथैतां देवताꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवꣳ हैवंविदꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्ति। यदु किंचेमाः प्रजाः शोचन्त्यमैवासां तद्भवति पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान् पापं गच्छति ॥२०॥

अद्भ्य च—जलो से, एनम्—इसको, चन्द्रमस च—और चन्द्रमा स, दैव प्राण—दिव्य प्राण, आविशति—प्रवेश करता है, स वै दैव प्राण—वह ही दिव्य प्राण है, य—जो सचरन् च—(दिन रात) चलता हुआ असचरन् च—और न चलता हुआ, न—नही, व्यथते—व्यथा (पीड़ा) पाता है न—नही, रिष्यति—नष्ट (क्षीण) होता है, स एववित्—वह इस (प्राण के स्वरूप को) जानता हुआ, सर्वेषाम्—सारे, भूतानाम्—प्राणियो का, आत्मा—अपना, निज, भवति—हो जाता है, यथा एषा देवता—जैसे यह (प्राण-नामक) देवता, एवम् स—इस ही प्रकार वह (ज्ञाता होता है), यथा—जैसे, एताम्—इस, देवताम्—देवता को, सर्वाणि भूतानि—सारे चर-अचर भूत, अवन्ति—रक्षा करते हैं, एवम् ह—इस प्रकार ही, एवविदम्—इस प्रकार जाननेवाले को, सर्वाणि भूतानि—सारे प्राणी, अवन्ति—रक्षा करते हैं, यद् उ—और जो, किंच—कुछ, इमा—ये, प्रजा—प्रजा (सतति आदि), शोचन्ति—दुःख अनुभव करती है, अमा—साथ, एव—ही, आसाम्—इन प्रजाओ के, तद्—वह (दुःख), भवति—रहता है (इस ज्ञानी को नहीं), पुण्यम् एव—पुण्य (शुभ, अच्छा-अच्छा) ही, अमुम्—इसको, गच्छति—प्राप्त होता है (बुरा नही), न ह वै—नही ही तो, देवान्—देवो (विद्वानो,

पहले कहा, 'मनुष्य-लोक' को 'पुत्र' से जीतते हैं। अब कहते हैं, 'पितृ-लोक' को 'कर्म' से जीतते हैं। 'पितृ-लोक' को 'कर्म' से कैसे जीतते हैं? 'व्रत' से। अब व्रत की मीमांसा करते हैं, उसका विचार करते हैं। पिंड तथा ब्रह्मांड में कौन दृढ़-व्रती है, जिसके व्रत को हमें भी धारण करना चाहिये? कहते हैं कि प्रजापति ने 'कर्मों' की रचना की। जन्म पाकर कर्म एक-दूसरे से स्पर्धा करने लगे। वाणी ने व्रत लिया कि मैं बोलती ही रहूंगी, चक्षु ने व्रत लिया कि मैं देखता ही रहूंगा, श्रोत्र ने व्रत लिया कि मैं सुनता ही रहूंगा, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों ने अपने-अपने कर्म का व्रत ले लिया। यह देखकर मृत्यु थकावट बनकर उनके निकट पहुंची, उनमें घुस गई, घुसकर उसने उन्हें अपने काम से रोक दिया। सब इन्द्रियां थककर बैठ गईं। इसलिये वाणी बोलते-बोलते थक जाती है, चक्षु-श्रोत्र थक जाते हैं, हां, शरीर के मध्य में स्थित जो प्राण है, उसे थकावट नहीं पकड़

ज्ञानियों) को; **पापम् गच्छति**—पाप पहुंचता है (उन्हें पाप—बुराई लिप्त नहीं होती) ॥२०॥

अथातो व्रतमीमांसा प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रमेवमन्यानि कर्माणि यथाकर्म तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तान्याप्नोत्तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्द्ध तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः श्राम्यति श्रोत्रमथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणस्तानि ज्ञातुं दध्रिरे। अयं वै नः श्रेष्ठो यः संचरंश्चासंचरंश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति। त एतस्यैव सर्वे रूपमभवंस्तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति। तेन ह वाव तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद। य उ हैवंविदा स्पर्धतेऽनुशुष्यत्यनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्यध्यात्मम् ॥२१॥

अथ अतः—अब इसके आगे; **व्रत-मीमांसा**—व्रतों का निरूपण (विचार) किया जाता है; **प्रजापतिः ह**—पहले कभी प्रजापति ने; **कर्माणि**—(नाना इन्द्रियों के) कर्मों को या कर्म-साधन इन्द्रियों को; **ससृजे**—रचा, बनाया; **तानि**—वे; **सृष्टानि**—रचे हुए; **अन्योन्येन**—एक-दूसरे से, परस्पर; **अस्पर्धन्त**—ईर्ष्या (डाह) करने लगे; **वदिष्यामि**—बोलूंगी, बोलती ही रहूंगी; **एव**—ही; **अहम्**—मैं; **इति**—ऐसे; **वाग्**—वाणी ने; **दध्रे**—(व्रत) धारण किया,

पाई। इन्द्रिया जान गईं, यही हम में श्रेष्ठ है, जो चलता हुआ और न चलता हुआ कभी थकता नहीं, कभी नष्ट नहीं होता। चलो, हम सब इसी का रूप हो जाय—यह कहकर वे उसी का रूप हो गई, इसलिए इन्द्रियों को भी प्राण नाम से कहा जाता है। जो इस रहस्य को जानता है वह जिस कुल में जन्म लेता है उसी के नाम से वह कुल प्रसिद्ध हो जाता है। जो इस रहस्य को जानने वाले के साथ स्पर्धा करता है वह सूख जाता है, हरा-भरा नहीं रह सकता, और सूखकर अन्त में मर जाता है। यह 'अध्यात्म', अर्थात् पिंड को लक्ष्य में रख कर प्राण की उत्कृष्टता का विचार हुआ ॥२१॥

निश्चय किया, द्रक्ष्यामि—देखती ही रहूंगी, अहम्—मैं, इति—ऐसे, चक्षु नेत्र ने, श्रोष्यामि—सुनता ही रहूंगा, अहम्—मैं, इति—ऐसे, श्रोत्रम्—कान ने (स्पर्धा में निश्चय किया), एवम्—इस ही प्रकार, अन्यानि—दूसरे, कर्माणि,—कर्मों (इन्द्रियों) ने, यथा-कर्म—अपने अपने कर्म के अनुरूप (निश्चय किया), तानि—उन (कर्म या इन्द्रिया) को, मृत्यु—मौत ने, श्रम—थकान, भूत्वा—(रूप में) होकर, उपयेमे—जकड़ लिया, तानि—उनको, आप्नोत्—पास पहुंची, तानि—उनको, आप्त्वा—प्राप्त होकर, मृत्यु— (श्रम-रूपी) मृत्यु ने, अवारुन्ध—(काम करने से) रोक दिया, असमर्थ कर दिया, तस्मात्—अतएव, श्राम्यति एव—थक ही जाती है, वाक्—वाणी, श्राम्यति चक्षु—नेत्र थक जाता है, श्राम्यति श्रोत्रम्—कान थक जाता है, अथ—और, इमम् एव—इस ही को, न आप्नोत्—नहीं प्राप्त हुई, यः अयम्—जो यह, मध्यमः—(सब इन्द्रियों-कर्मों के) मध्य (अन्तर) में वर्तमान, प्राण—प्राण है, तानि—उन (इन्द्रियों) ने, ज्ञातुम्—जानने के लिये, दध्रिरे—निश्चय किया (और जान लिया), अयम् वै—यह ही, नः—हम सबसे, श्रेष्ठ—श्रेष्ठ (बढ़कर) है, यः—जो, संचरन् च असंचरन् च—चलता हुआ या न चलता हुआ, न व्यथते—नहीं पीड़ा (कष्ट) अनुभव करता है, न रिष्यति—न नष्ट होता है, हन्त—तो, अस्य एव—इस (प्राण) का ही, सर्वे—हम सब, रूपम्—रूप (इस जैसे ही), असाम—हो जायें, इति—यह (समझा), ते—वे, एतस्य एव—इस (प्राण) के ही, रूपम् अभवन्—रूप में हो गये, तस्मात्—उस कारण से, एते—ये इन्द्रिया भी, एतेन—इस (नाम) से, आख्यायन्ते—पुकारी जाती हैं, प्राणा—प्राण, इति—इस (नाम से), (ऐसे ही) तेन ह वाव—उस (के नाम) से ही, तत्-कुलम्—उस कुल को, आचक्षते—पुकारते हैं, यस्मिन् कुले—जिस कुल में, भवति—होता है, यः—

अब 'अधिदैवत', अर्थात् ब्रह्मांड को लक्ष्य में रखकर इसी विचार को आगे बढ़ाते हैं। अग्नि ने व्रत लिया, मैं जलती ही रहूंगी; सूर्य ने व्रत लिया, मैं तपता ही रहूंगा; चन्द्र ने व्रत लिया, मैं भासता ही रहूंगा; इसी प्रकार अन्य देवताओं ने अपने-अपने कर्मानुसार व्रत ले लिया। सो, जैसे इन्द्रियों के बीच प्राण स्थित रहता है, वैसे इन देवताओं के बीच वायु स्थित है। अन्य देवता अस्त हो जाते हैं, वायु अस्त नहीं होता, चलता ही रहता है। वायु अस्त न होने वाला देवता है ॥२२॥

जो; एवम् वेद—इस प्रकार जानता है; यः उ ह—जो तो; एवंविदा—ऐसे ज्ञानी से; स्पर्धते—प्रतिद्वन्द्विता (डाह) करता है; अनुशुष्यति—तत्काल ही सूख जाता है; अनुशुष्य—सूख कर; ह एव—ही; अन्ततः—अन्त में; म्रियते—मर जाता है; इति—यह; अध्यात्मम्—(पिण्डगत) आत्मा-संबंधी निरूपण है ॥२१॥

> अथाधिदैवत ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे तप्स्याम्यहमित्या-
> दित्यो भास्याम्यहमिति चन्द्रमा एवमन्या देवता यथादैवतं
> स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुर्निम्लोचन्ति
> ह्यन्या देवता न वायुः सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः ॥२२॥

अथ—अब; अधिदैवतम्—(ब्रह्माण्ड के) देवता-सम्बन्धी वर्णन यह है; ज्वलिष्यामि एव—जलता ही रहूंगा; अहम्—मैं; इति—ऐसे; अग्निः दध्रे—अग्नि ने धारणा की; तप्स्यामि—तपूंगा ही; अहम्—मैं; इति—ऐसे; आदित्यः—सूर्य ने; भास्यामि—कान्ति (चमक) दूंगा; अहम्—मैं; इति—ऐसे; चन्द्रमाः—चन्द्रमा ने; एवम्—ऐसे ही; अन्याः देवताः—अन्य देवताओं ने भी; यथा दैवतम्—अपने दैवत (देवता सम्बन्धी कर्म) के अनुरूप; सः यथा—वह जैसे; एषाम् प्राणानाम्—इन प्राणों में; मध्यमः—मध्यवर्ती, अन्दर व्याप्त; प्राणः—प्राण है; एवम्—ऐसे; एतासां देवतानाम्—इन (ब्रह्माण्ड-गत) देवताओं में; वायुः—वायु (मध्यवर्ती) है; निम्लोचन्ति—मुंद (छिप) जाते हैं; हि—ही; अन्याः—दूसरे; देवताः—देवता; न—नहीं (छिपती है); वायुः—वायु; सा एषा—वह यह (वायु); अनस्तमिता—न अस्त होनेवाली; देवता—देवता है; यद् वायुः—जो वायु है ॥२२॥

किसी ने कहा भी है—'जिससे सूर्य उदय होता है, जिसमें सूर्य अस्त होता है।' निस्सन्देह सूर्य प्राण से उदय होता है, प्राण में अस्त होता है। फिर आगे किसी ने कहा है, 'प्राण ही को देवताओं ने अपना धर्म बनाया, वही आज है, वही कल है'। अगर यह बात ठीक है कि किसी समय देवताओं ने प्राण को अपना ध्येय बनाया था, तो आज भी उसी व्रत पर हमें दृढ़ रहना चाहिये। एक व्रत को ही धारण करे, जिस प्रकार प्राणापान अनवरत चल रहा है, इसी प्रकार प्राण को लक्ष्य रखकर दृढ़-व्रती बने, फिर इसे मृत्यु-रूप पाप नहीं पकड़ पाता। जैसे प्राण चलता रहता है, जीवन की समाप्ति तक चलता रहता है, इसी प्रकार जिस कार्य को शुरू करे उसे समाप्त करके ही हटे, इस प्रकार मनुष्य प्राण की 'सायुज्यता' और 'सलोकता' को भी जीत जाता है, प्राण से भी आगे निकल जाता है ॥२३॥

अथैष श्लोको भवति यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति तं देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स उ श्व इति यद्वा एतेऽमुर्ह्यध्रियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति। तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नुवदिति यद्यु चरेत्समापिपयिषेत्तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति ॥२३॥

अथ—और, एष श्लोक—यह श्लोक, भवति—(इस विषय में) है, यतः—जहां से, जिधर से, च—और, उदेति—उदय होता है, सूर्य.—सूर्य, अस्तम्—अस्त (छिपना), यत्र—जहां, जिसमें, च—और, गच्छति—जाता है, (अस्त गच्छति—छिप जाता है), इति—यह (श्लोक है), प्राणात् वै—प्राण से ही, एष उदेति—यह उदय होता है, प्राणे—प्राण में, अस्तम् एति—छिप जाता है, तम्—उस, देवा—देवों ने, चक्रिरे—किया, बनाया, धर्मम्—धर्म को, स एव—वह ही, अद्य—आज, स उ—वह ही तो, श्व—कल भी, इति—यह (भी श्लोकांश है), यद् वै—जो, जिसको ही, एते—इन (देवों) ने, अमुर्हि—उस समय में, अध्रियन्त—धारण किया था, धर्म बनाया था, तद् एव—उसको ही, अपि अद्य—आज भी, कुर्वन्ति—करते हैं, तस्मात्—उस कारण से, एकम् एव—एक ही, व्रतम्—व्रत को, चरेत्—आचरण करे, प्राण्यात्—प्राण (श्वास) लेवे, च—और, एव—ही, अपान्यात्—(श्वास) छोड़े, च—और, न इत्—कहीं ऐसा न हो कि, मा—मुझ को, पाप्मा—पाप (रूप), मृत्यु—विनाश, आप्नुयत्—प्राप्त हो, इति—ऐसे, यदि उ—और अगर, चरेत्—यत्न करे (तो), समापिपयिषेत्—इसको

प्रथम अध्याय—(छठा ब्राह्मण)

(नाम-रूप की भिन्नता में आत्मा वा प्राण ही सत् है)

बृहदा० १।४।७ में 'नाम'-'रूप'-'कर्म' का वर्णन कर आये हैं। ५म ब्राह्मण में 'वाक्'-'मन'-'प्राण'—'पृथिवी'-'अन्तरिक्ष'-'द्यु'—'देव'-'पितर'-'मनुष्य'—इन त्रिकों का वर्णन किया है। इस ब्राह्मण में 'नाम'-'रूप'-'कर्म'—वाक्'-'चक्षु'-'आत्मा'—'उक्थ'-'साम'-'ब्रह्म'—इन तीन त्रिकों का वर्णन करते हैं :—

संसार में जो-कुछ है, नाम-रूप-कर्म—इस त्रिक में आ जाता है। किसी वस्तु का आंख से जो रूप दिखाई दे रहा है, वही 'रूप' है। उसी रूप का वाणी ने 'नाम' रख दिया है, इसके अतिरिक्त वह कुछ नहीं है। उस नाम-रूप में जो गति दिखाई देती है, वह किसी आत्मा ने दी है, उसकी अपनी गति नहीं, यही नाम-रूप में दीख रहा 'कर्म' है।

(यह तो बृहदा० १।४।७ का संकेत है जहां नाम-रूप-कर्म का उल्लेख है। अब आगे नाम-रूप-कर्म को आधार बनाकर नाम के साथ वाणी, रूप के साथ चक्षु, कर्म के साथ आत्मा का सम्बन्ध जोड़कर नाम-रूप-कर्म में से प्रत्येक की उक्थ, साम तथा ब्रह्म की स्थिति का वर्णन करते हैं।)

जितने भी नाम हैं, उनका प्रकाश 'वाणी' करती है। 'वाणी' ही सब नामों का 'उक्थ' है, 'उक्थ' अर्थात् उठना, जिससे सब नाम

समाप्त (पूर्ण) करने की इच्छा करे (अवश्य पूर्ण करे); **तेन उ**—उस (आद्यन्त व्रत के आचरण) से; **एतस्यै**—इस; **देवतायै**—देवता (प्राण एवं सूर्य) की; **सायुज्यम्**—समान योग, एकरूपता; **सलोकताम्**—समान लोक (स्थिति-अवस्था) को; **जयति**—जीत लेता (प्राप्त कर आगे बढ़ जाता) है ॥२३॥

त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति। एतदेषां सामैतद्धि सर्वैर्नामभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ॥१॥

त्रयम्—तीन (रूप में); **वै**—ही; **इदम्**—यह (दृश्यमान जगत्) है; **नाम**—संज्ञा; **रूपम्**—आकृति (गुण); **कर्म**—प्रयत्न, चेष्टा; **तेषाम्**—उन (तीनों–नाम-रूप-कर्म) में से; **नाम्नाम्**—संज्ञाओं का; **वाग्**—वाणी; **इति एतत्**—यह; **एषाम्**—इन; **उक्थम्**—(वाचक, प्रकाशक, उत्पादक, मूल उपा-

उठते हैं, प्रकाश पाते हैं। वाणी ही सब नामों का 'साम' है। 'साम' अर्थात् समता, एकता। वाणी ही सब नामों में विषमता के स्थान में समता, एकता स्थापित करती है। वाणी ही सब नामों का 'ब्रह्म' है, 'ब्रह्म' अर्थात् अपनी विशालता में धारण करना, टिकाना। वाणी ही ब्रह्म की भांति सब नामों को अपने में धारण कर लेती है, टिका लेती है। नामात्मक-जगत् को वाणी सोये से उठाती है, उसमें विषमता होते हुए भी समावस्था लाती है, उसे ब्रह्म की भांति धारण करती है ॥१॥

जितने भी रूप हैं, उनका प्रकाश 'चक्षु' करता है। चक्षु ही सब रूपों का 'उक्थ' है, 'उक्थ' अर्थात् उठना, जिससे सब रूप उठते हैं, प्रकाश पाते हैं। चक्षु ही सब रूपों का 'साम' है, 'साम' अर्थात् समता, एकता। चक्षु ही सब रूपों में विषमता के स्थान में समता, एकता स्थापित करता है। चक्षु ही सब रूपों का 'ब्रह्म' है। 'ब्रह्म', अर्थात् अपनी विशालता में धारण करना, टिकाना। चक्षु ही ब्रह्म की भांति सब रूपों को अपने अन्दर धारण कर लेता है, टिका लेता है। रूपात्मक-जगत् को चक्षु सोये से उठाता है, उसमें विषमता होते हुए भी समावस्था लाता है, और उसे ब्रह्म की भांति धारण करता है ॥२॥

दान) उक्थ है, अतः हि—क्योंकि इस (वाणी) से, सर्वाणि—सारे, नामानि—नाम, उत्तिष्ठन्ति—उठती (प्रगट होती) हैं, एतत्—यह (वाणी) ही, एषाम्—इन (नामों) का, साम—साम (साम्यताजनक) है, एतत् हि—क्योंकि यह, सर्वैः—सारे, नामभिः—नामों के, समम्—समान है, एतद्—यह वाणी ही, एषाम्—इन नामों का, ब्रह्म—ब्रह्म (वृद्धि करनेवाला) है, एतद् हि—क्योंकि यह वाणी ही, सर्वाणि नामानि—सब नामों (संज्ञाओं) को, बिभर्ति—पालती-पोसती है ॥१॥

अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषां सामैतद्धि सर्वै रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ॥२॥

अथ—और, रूपाणाम्—आकृति (गुणों) का, चक्षुः—नेत्र, इति एतद्—यह ही, एषाम्—इन, उक्थम्—उक्थ (मूल उपादान) है, अतः हि—क्योंकि इस (नेत्र) से ही, सर्वाणि रूपाणि—सारे रूप, उत्तिष्ठन्ति—उठते (ज्ञात होते) हैं, एतद्—यह (नेत्र) ही, एषाम्—इन (रूपों) का, साम—साम (साम्यताजनक) है, एतत् हि—क्योंकि यह (नेत्र) ही, सर्वैः रूपैः—सब रूपों के,

जितने भी कर्म हैं, उनका प्रकाश 'आत्मा' करता है। आत्मा ही सब कर्मों का 'उक्थ' है, 'उक्थ' अर्थात् उठना, जिससे सब कर्म उठते हैं, प्रकाश पाते हैं। आत्मा ही सब कर्मों का 'साम' है, 'साम' अर्थात् समता, एकता। आत्मा ही सब कर्मों में विषमता के स्थान में समता, एकता स्थापित करता है। आत्मा ही सब कर्मों का 'ब्रह्म' है, 'ब्रह्म' अर्थात् अपनी विशालता में धारण करना, टिकाना। आत्मा ही ब्रह्म की भांति सब कर्मों को अपने अन्दर धारण करता है, टिकाता है। कर्मात्मक-जगत् को आत्मा सोये से उठाता है, उसमें विषमता होते हुए भी समावस्था लाता है, और उसे ब्रह्म की भांति धारण करता है।

नाम-रूप-कर्म—यह ब्रह्मांड का त्रिक है; वाणी-चक्षु-आत्मा—यह पिंड का त्रिक है। अभी कहा कि ब्रह्मांड का त्रिक पिंड के त्रिक में समा जाता है। जिस प्रक्रिया से ब्रह्मांड का त्रिक पिंड के त्रिक में समा जाता है, उस प्रक्रिया का नाम उक्थ-साम-ब्रह्म है। ब्रह्मांड के 'नाम' पिंड की 'वाणी' में, ब्रह्मांड के 'रूप' पिंड के 'चक्षु' में, ब्रह्मांड के 'कर्म' पिंड के 'आत्मा' में समा जाते हैं। पिंड में भी वाणी-चक्षु-आत्मा तीन जान पड़ते हैं, परन्तु तीनों एक में, 'आत्मा' में समा जाते हैं, इकला आत्मा ही सत् है, वही ये तीन हो जाता है। यह आत्मा अमृत-रूप है; वाणी और

समम्—समान (सामान्य) है; एतत्—यह (नेत्र) ही; एषाम्—इन (रूपों) का; ब्रह्म—ब्रह्म (वर्धयिता) है; एतत् हि—क्योंकि यह नेत्र ही; सर्वाणि रूपाणि—सब रूपों को; बिभर्ति—पालता-पोसता है ॥२॥

अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषां सामैतद्धि सर्वैः कर्मभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति। तदेतत्त्रयं सदेकमयमात्माऽऽत्मो एकः सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतं सत्येन च्छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ॥३॥

अथ—और; कर्मणाम्—कर्मों (प्रयत्न-चेष्टा) का; आत्मा—जीवात्मा या शरीर; इति एतत्—यह ही; एषाम्—इन (कर्मों) का; उक्थम्—उक्थ (मूल उपादान—साधन) है; अतः हि—क्योंकि इस (आत्मा) से ही; सर्वाणि कर्माणि—सारे कर्म; उत्तिष्ठन्ति—उठते (प्रेरित होते) हैं; एतत् एषाम् साम—यह आत्मा ही इन कर्मों का साम (साम्य स्थापित करनेवाला) है; एतद् हि सर्वैः कर्मभिः—यह ही सब (कर्म) चेष्टाओं के; समम्—समान (साथ रहनेवाला—ओत-प्रोत) है; एतद्—यह (आत्मा); एषाम्—इन (कर्मों) का; ब्रह्म—अभि-

चक्षु सत्य-रूप है। अमृत-रूप 'आत्मा', सत्य-रूप 'वाणी' और सत्य-रूप 'चक्षु' से घिरा हुआ है। आत्मा का भौतिक-रूप प्राण है, वाणी का भौतिक-रूप नाम है, चक्षु का भौतिक-रूप रूप है, इसलिये अमृत-रूप 'प्राण', सत्य-रूप 'नाम' और सत्य-रूप 'रूप' से घिरा हुआ है ॥३॥

द्वितीय अध्याय—(पहला ब्राह्मण)

(अजातशत्रु का गार्ग्य को ब्रह्मोपदेश, १ से ३ ब्राह्मण)

एक समय की बात है कि गर्ग-गोत्रोत्पन्न एक ब्राह्मण था जिसे लोग 'दृप्त-बालाकि' कहते थे। दृप्त का अर्थ है, अभिमानी, 'बालाकि' 'बलाका' से बना है, जिसका अर्थ है बगुलों की पंक्ति, अर्थात् बगुलों में बैठने वाला—बगुला-भगत। उसने खूब पढ़ा था। वह काशी के राजा अजातशत्रु के पास आकर बोला—'ब्रह्म ते ब्रवाणि'—मैं तुझे 'ब्रह्म' का उपदेश दूंगा। अजातशत्रु ने कहा, मैं आप

वृद्धि कारक है, एतत् हि—यह (ब्रह्म रूप आत्मा) ही, सर्वाणि कर्माणि—सब कर्मों का, बिभर्ति—पालता पोसता है, तद् एतत्—वह यह, त्रयम्—त्रिक (तीनों), सत्—सत्तावाले, होते हुए भी, एकम्—एक (रूप में मिलकर), अयम्—यह, आत्मा—आत्मा (देही जीव) है, आत्मा+उ—और आत्मा तो, एक सन्—एक होता हुआ भी, एतत् त्रयम्—यह त्रिक (नाम रूप-कर्म का संघात) है, तद् एतत्—वह यह, अमृतम्—अमर (आत्मा प्राण), सत्येन—सत्य (मत्-प्रकृति से उत्पन्न) से, छन्नम्—आच्छादित, आवृत है प्राण—जीव (आत्मा), वै—ही, अमृतम्—अमर है, नामरूपे—संज्ञा और आकृति, सत्यम्—सत्य (कहलाते) हैं, ताभ्याम्—उन दोनों (नाम रूप) से, अयम्—यह, प्राण—प्राण (जीव), छन्न—आवृत है ॥३॥

ॐ। दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥१॥

ओम्—सर्वरक्षक, आदिगुरु ब्रह्म का ध्यान-स्मरण कर, दृप्तबालाकि—मिथ्याभिमानी बलाका का पुत्र, ह—पहले कभी, अनूचान—शास्त्र में पारगत, गार्ग्य—गर्ग गोत्री, आस—था, स ह—उसने, उवाच—कहा, अजातशत्रुम्—अजातशत्रु (नामी), काश्यम्—काशी के राजा को, ब्रह्म—ब्रह्म (के विषय में), ते—तुझे, ब्रवाणि—कहूं, उपदेश करूं, इति—ऐसे, स ह उवाच अजातशत्रु—उस अजातशत्रु ने कहा (कि), सहस्रम्—हजार (गौएं या मोहर),

को इतना कहने भर के लिये एक सहस्र गायें भेंट देता हूं। लोगों को न जाने क्या हो गया है, ब्रह्म-विद्या के लिये 'जनक'-'जनक' पुकारते भागे जाते हैं ॥१॥

गार्ग्य ने उपदेश देना शुरू किया—यह जो आदित्य में 'आदित्य-पुरुष' है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसी को 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो सब भूतों में श्रेष्ठ, उनका मूर्धा, उनका राजा एक भौतिक-पदार्थ है। मैं तो इसी प्रकार इसकी उपासना करता हूँ। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह सब भूतों में श्रेष्ठ, उनका मूर्धा, उनका राजा हो जाता है ॥२॥

एतस्याम् वाचि—इस कथन (मात्र) पर; दद्मः—प्रदान करते हैं; जनकः जनकः (दाता) जनक और (उपदेष्टा) जनक है; इति वै—ऐसे (सोच कर); जनाः—(जिज्ञासु) मनुष्य (उसकी ओर); धावन्ति—दौड़ कर जा रहे हैं; इति—यह (कहा) ॥१॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति ॥२॥

सः ह उवाच गार्ग्यः—उस गार्ग्य ने कहना आरम्भ किया; यः एव असौ—जो ही यह; आदित्ये—सूर्य में; पुरुषः—पुरुष है; एतम्—इसको; एव—ही; अहम्—मैं; ब्रह्म—ब्रह्म (रूप में); उपासे—उपासना करता-समझता हूं; इति—यह (उपदेश दिया); सः ह उवाच अजातशत्रुः—उस अजातशत्रु ने कहा; मा मा—नहीं, नहीं ही; एतस्मिन्—इस (आदित्य-पुरुष) के विषय में; संवदिष्ठाः (आगे) संवाद (चर्चा) करो; (क्योंकि) अतिष्ठाः—सब से बढ़ कर स्थित, सर्व-श्रेष्ठ; सर्वेषाम् भूतानाम्—सब भूतों का; मूर्धा—शिरो-रूप (शिरोमणि); राजा—(प्रकाशक) राजा है; इति—इस रूप में; वै—ही; अहम्—मैं; एतम्—इस (आदित्य-पुरुष) को; उपासे—जानता-समझता हूं; इति—ऐसे; सः यः—वह जो; एतम्—इसको; एवम्—इस प्रकार; उपास्ते—उपासना करता (समझता) है; अतिष्ठाः—अति श्रेष्ठ; सर्वेषाम् भूतानाम्—सब प्राणियों का; मूर्धा—शिरोमणि; राजा—राजा; भवति—हो जाता है ॥२॥

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो चन्द्र में 'चन्द्र-पुरुष' है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर इसकी उपासना करता हूं, आप भी इसी को 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो छिटकती



दृप्त-बालाकि गार्ग्य राजा अजातशत्रु को ब्रह्म का असफल उपदेश दे रहे हैं

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा बृहन्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽहरहर्ह सुतः प्रसुतो भवति नास्यान्नं क्षीयते ॥३॥

स ह उवाच गार्ग्य—(पुनः) उस गार्ग्य ने कहा कि, यः एव असौ—

चांदनी के मानो श्वेत-वस्त्रों को धारण करने वाला महान् सोम राजा है। मैं तो इसी प्रकार इसकी उपासना करता हूं। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है उसके घर में दिन-प्रतिदिन सोम-रस बहता है, खूब बहता है, और उसके यहां अन्न की कमी नहीं होती क्योंकि चन्द्र की कला के साथ ही सोम-रस बढ़ता है और उसकी कला के साथ ही अन्न में रस भरता है ॥३॥

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो विद्युत् में 'विद्युत-पुरुष' है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसी को 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो एक तेजस्वी अचेतन-शक्ति है। मैं तो इसी प्रकार इसकी उपासना करता हूं। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह स्वयं तेजस्वी होता है, उसकी सन्तान तेजवाली होती है ॥४॥

जो ही यह; **चन्द्रे**—चन्द्रमा में; **पुरुषः**—(अन्तर्यामी) आत्मा है; **एतम् एव अहम् ब्रह्म उपासे**—इस (चन्द्र-गत पुरुष) को ही मैं ब्रह्म समझता हूं; **इति**—ऐसे; **सः ह. . .संवदिष्ठाः**—अर्थ पूर्ववत्; **बृहन्**—बड़ा, महान्; **पाण्डर-वासाः**—(चांदनी रूप) शुभ्र वस्त्र धारण करनेवाला; **सोमः**—सोम; **राजा**—राजा (प्रकाशमान); **इति वै**—इस रूप में; **अहम् एतम् उपासे**—मैं इसको जानता हूं; **सः यः एतम् एवम् उपास्ते**—वह जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है; **अहः अहः**—प्रतिदिन; **ह**—निश्चय से; **सुतः**—सवन किया हुआ; **प्रसुतः**—विशिष्ट सवन किया हुआ; **भवति**—(सोम) होता है; **न अस्य अन्नम् क्षीयते**—नहीं इसका अन्न कम पड़ता है ॥३॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठास्तेजस्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी ह्यस्य प्रजा भवति ॥४॥

सः ह उवाच गार्ग्यः—उस गार्ग्य ने फिर कहा; **यः एव असौ**—जो ही यह; **विद्युति**—बिजली में; **पुरुषः**—(व्यापक) पुरुष है; **एतम् एव. . .संवदिष्ठाः**—अर्थ पूर्ववत्; **तेजस्वी**—तेजोयुक्त, तेजवाला; **इति वै**—इस रूप में; **अहम् एतम् उपासे**—मैं इसकी उपासना करता हूं; **इति**—यह (कहा); **सः यः एतम् एवम् उपास्ते**—वह जो इसको इस प्रकार जानता है; **तेजस्वी ह भवति**—निश्चय ही तेजस्वी होता है; **तेजस्विनी**—तेजस्वी; **ह अस्य**—निश्चय से इसकी; **प्रजा**—सन्तान; **भवति**—होती है ॥४॥

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो आकाश में 'आकाश-पुरुष' है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसी को 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह 'पूर्ण' तो है, परन्तु 'अप्रवर्ती' है, इसमें 'प्रवर्तन' कहां है? यह किसी वस्तु का 'प्रवर्तन', अर्थात प्रारंभ कहां कर सकता है? मैं तो इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूं। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह प्रजा और पशुओं से पूर्ण हो जाता है, उसकी सन्तान का इस लोक से विनाश नहीं होता ॥५॥

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो वायु में 'वायु-पुरुष' है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसी को 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह वायु तो ऐश्वर्य-शाली, बे-रोक-टोक चलने वाली, कभी हार न जाने वाली किसी की सेना है। मैं तो इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूं। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह सब को जीत जाता

स होवाच गार्ग्यः य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा पूर्णमप्रवर्तीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते ॥५॥

स ह उवाच गार्ग्य —उस गार्ग्य ने कहा, य एव अयम्—जो ही यह, आकाशे—आकाश में, पुरुष —(व्यापक) पुरुष है, एतम् संवदिष्ठा—अर्थ पूर्ववत्, पूर्णम्—(स्वयं में) पूर्ण, अप्रवर्ति—स्वयं गतिशून्य और अन्यों को गति न देनेवाला, इति वै—इस रूप में, अहम् एतम् उपासे—मैं इसकी उपासना करता हूं, इति—यह (उत्तर दिया) स य एतम् एवम् उपास्ते—वह जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, पूर्यते—भरा-पूरा होता है, प्रजया—सन्तान से, पशुभि —पशुओं से, न—नहीं, अस्य—इसकी, अस्मात् लोकात्—इस लोक से, प्रजा—सन्तान, उद्वर्तते—मरती है, नष्ट होती है ॥५॥

स होवाच गार्ग्य य एवायं वायौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते जिष्णुर्हापराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी ॥६॥

स ह वायौ—वायु में इन्द्र —ऐश्वर्य सम्पन्न, वैकुण्ठ—अप्रतिहत (निरन्तर) गतिवाला, अपराजिता—न हारनेवाली, सदा विजयी, सेना—सैन्य शक्ति वाला, जिष्णु —सदैव विजयी, ह—अवश्यमेव, अपराजिष्णु

है, किसी से पराजित नहीं होता, और 'अन्यतस्त्य-जायी' अर्थात् शत्रुओं का पराभव कर देता है ॥६॥

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो अग्नि में 'अग्नि-पुरुष' है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसी को 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो एक सहनशील-शक्ति है, इसमें शुद्ध-अशुद्ध जो डालो सब सह लेती है। मैं तो इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूं। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह स्वयं सहनशील हो जाता है, उसकी सन्तान सहनशील हो जाती है ॥७॥

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो जलों में 'जल-पुरुष' है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसी को 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो एक अनुकूल-तत्त्व है, सब को भाने वाली वस्तु है। मैं तो इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूं। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसके सब अनुकूल हो जाता है, प्रतिकूल कुछ नहीं रहता, उसकी सन्तान भी उसके अनुकूल रहती है ॥८॥

—न हारनेवाला; भवति—होता है; अन्यतस्त्य-जायी—शत्रुओं को जीतनेवाला (या अन्य स्वजन-मित्रों को भी जय दिलानेवाला) ॥६॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते विषासहिर्ह भवति विषासहिर्हास्य प्रजा भवति ॥७॥

सः ह...अग्नौ—अग्नि में;...विषासहिः—सहनशक्तिवाला;... विषासहिः—सहन-शक्ति से सम्पन्न; ह भवति—निश्चय से होता है; विषासहिः ह अस्य प्रजा भवति—निश्चय ही इसकी सन्तान भी सहोगुण युक्त होती है ॥७॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपं हैवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते ॥८॥

सः ह...अप्सु—जलों में;...प्रतिरूपः—सब के अनुकूल;...प्रतिरूपम् अनुकूल (वस्तु); ह एव—निश्चय ही; एनम्—इसको; उपगच्छति—प्राप्त होती है; न अप्रतिरूपम्—प्रतिकूल (विरुद्ध) वस्तु नहीं; अथ उ—और; प्रति-

ब्रह्माड के सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि, जल से हटकर अब पिंड के देह आदि को ब्रह्म कहते हुए गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो आदर्श, अर्थात् दर्पण में 'प्रतिबिंब-पुरुष' दीखता है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसी को 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो चमकने वाला कांच है जिसमें प्रतिबिंब दीखता है। मैं तो इसको इसी प्रकार उपासना करता हूं। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह स्वयं चमक उठता है, उसकी सन्तान चमक उठती है, और जिनके संपर्क में वह आता है उन्हें चमका देता है ॥९॥

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो उपासना-मार्ग में चलते हुए उपासक को अपने पीछे नाद का उदय होता सुनाई देता है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसी को 'ब्रह्म' समझो।

रूप—उसके समान गुण आकृतिवाला, अस्मात्—इस (उपासक से), जायते—पुत्र उत्पन्न होता है ॥८॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमादर्शे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते रोचिष्णुर्ह भवति रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवत्यथो यैः संनिगच्छति सर्वांस्तानतिरोचते ॥९॥

स ह आदर्शे—दर्पण में, पुरुष—(प्रतिबिम्ब रूप में) पुरुष, रोचिष्णु—चमकवाला, रुचिकर, सुन्दर, रोचिष्णु—कान्ति-सम्पन्न, ह भवति—अवश्य हो जाता है, रोचिष्णु ह अस्य प्रजा भवति—रुचि (प्रीति) करनेवाली ही इसकी सन्तान भी होती है, अथ उ—और, यैः—जिनके साथ, संनिगच्छति—जाना (उठना-बैठना, मेल मिलाप करता) है, सर्वान् तान्—उन सब को (से), अति रोचते—अधिक कान्तिवाला होता है उनको मंद-कान्ति कर देता है या उनको भी अत्यधिक कान्तिसम्पन्न कर देता है ॥९॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वं हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालात्प्राणो जहाति ॥१०॥

स ह यन्तम्—जाते हुए के, पश्चात्—पीछे की ओर, पीछे-पीछे, शब्द—शब्द (आवाज), अनु+उदेति—बाद में उठती है (सुनाई देती है),

अजालशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो प्राण की ध्वनि है। मैं तो इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूं। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह इस लोक में पूरी आयु भोगता है, इसे समय से पहले प्राण नहीं छोड़ता ॥१०॥

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो चारों दिशाओं में पुरुष दीख पड़ते हैं, मैं इन्हीं को 'ब्रह्म' मान कर इनकी उपासना करता हूं, आप भी इनको 'ब्रह्म' समझो। अजालशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, ये तो हमारे-जैसे ही दूसरे पुरुष हैं, इनसे तो अपगमन, अर्थात् छुटकारा हो ही नहीं सकता। मैं तो इनकी इसी प्रकार उपासना करता हूं। जो इनकी इस प्रकार उपासना करता है, वह कभी इकला नहीं होता, सदा द्वितीयवान बना रहता है, और समाज से उसका कभी संबंध-विच्छेद नहीं होता ॥११॥

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो त्राटक करते हुए 'छाया-पुरुष' दीखने लगता है, मैं इसी को 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूं, आप

....असुः—प्राण;...सर्वम् ह एव—सारी (सम्पूर्ण) ही; अस्मिन् लोके—इस (पृथिवी) लोक में इस जन्म में; आयुः—आयु को; एति—प्राप्त होता है; न एनम्—नहीं इसको; पुरा—पहले; कालात्—समय से; (कालात् पुरा—आयु-काल से पहिले); प्राणः—प्राण; जहाति—छोड़ता है (मरता है) ॥१०॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मो-
पास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा
द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेव-
मुपास्ते द्वितीयवान् ह भवति नास्माद् गणश्छिद्यते ॥११॥

सः ह...दिक्षु—दिशाओं में;...द्वितीयः—दूसरा, साथी वाला; अनपगः—कभी साथ न छोड़नेवाला, दूर न जानेवाला;...द्वितीयवान्—दूसरे (साथी) से युक्त; ह भवति—स्वयं होता है; न—नहीं; अस्मात्—इस (उपासक) से; गणः—जन-मण्डली (समुदाय); छिद्यते—छूटता है (लोक-संग्रह का कर्ता होता है) ॥११॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं छायामयः पुरुष एतमेवाहं
ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा
मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते
सर्वं हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालान्मृत्युरागच्छति ॥१२॥

भी इसी को 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह छाया-पुरुष तो नाशवान है। मैं तो इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूं। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसको इस लोक में पूरी आयु होती है, और उसे अपने काल से पहले मृत्यु नहीं आती ॥१२॥

गार्ग्य ने अन्त में कहा, यह जो अपने शरीर में 'आत्म-पुरुष' है, मैं इसी को 'ब्रह्म' मान कर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसी को 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह शरीरगत आत्मा तो स्वयं 'आत्मन्वी' है, आत्मा वाला है। यह आत्मा तो स्वयं किसी दूसरे आत्मा की अपेक्षा कर रहा है, जिसके बिना यह कुछ नहीं कर सकता, तब यह ब्रह्म कैसे हो सकता है? मैं तो इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूं। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह आत्मावाला हो जाता है, उसकी सन्तान आत्मा-वाली हो जाती है। यह सुनकर गार्ग्य चुप होगया ॥१३॥

गार्ग्य को चुप देखकर अजातशत्रु ने कहा, बस, इतना ही जानते थे? गार्ग्य ने कहा, हां, मैं तो इतना ही जानता था। अजातशत्रु ने

स ह छायामय—मनुष्य की छायारूप मृत्यु—मृत्यु रूप (मरण धर्मा–विनाशी) सर्वम् एव अस्मिन् लोके आयु एति—इस लोक में सारी आयु को पाता है, न एनम्—नहीं इसको पुरा कालात—समय से पहले मृत्यु—मौत, आगच्छति—आती है ॥१२॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्सवदिष्ठा आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्त आत्मन्वी ह भवत्या-त्मन्विनी हास्य प्रजा भवति स ह तूष्णीमास गार्ग्य ॥१३॥

स ह आत्मनि—आत्मा (शरीर) में, आत्मन्वी—आत्मा वाला (शरीरधारी या आत्मा—ब्रह्म—से युक्त), आत्मन्वी ह भवति—आत्मा वाला होता है, आत्मन्विनी ह अस्य प्रजा भवति—इसकी सन्तान भी आत्मावाली होती है, (तब) स ह—वह, तूष्णीम्—चुप, आस—हो गया गार्ग्य—गार्ग्य ॥१३॥

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू३ इत्येतावद्धीति नैतावता विदितं भवतीति स होवाच गार्ग्य उप त्वा यानीति ॥१४॥

स ह उवाच अजातशत्रु—उस अजातशत्रु ने कहा, एतावत् नु—इतना ही

कहा, इतने से 'ब्रह्म' नहीं जाना जाता। गार्ग्य ने कहा, 'उप त्वा यानि'—अर्थात्, तो फिर आप ही मुझे दीक्षा दीजिये ॥१४॥

अजातशत्रु ने कहा, अगर ब्राह्मण क्षत्रिय के पास इस आशा से आये कि क्षत्रिय मुझे 'ब्रह्म' का उपदेश देगा, तो यह 'प्रतिलोम', अर्थात् उल्टी बात होगी, तो भी मैं तुझे ब्रह्म का रहस्य अवश्य समझाऊंगा। यह कहकर अजातशत्रु उसे हाथ से पकड़कर उठ खड़ा हुआ और ले चला। वे दोनों एक सोये हुए पुरुष के पास आ पहुंचे। उसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारने लगे। ऐ छिटकती चांदनी के-से श्वेतवस्त्र धारण करनेवाले! ऐ महान्! ऐ सोम राजा! परन्तु वह नहीं उठा। फिर उसे हाथ से हिलाया, वह जाग गया, और उठकर खड़ा हो गया ॥१५॥

(जानते) हो; इति—यह (कहा); एतावत् हि—इतना ही (जानता हूं); इति—यह (गार्ग्य ने कहा); न—नहीं; एतावता—इतने से; विदितम्—(वह उपास्य ब्रह्म) ज्ञात होता है; इति—यह (अजातशत्रु ने कहा); सः ह उवाच गार्ग्यः—(तब) उस गार्ग्य ने कहा (निवेदन किया); उप त्वा यानि (त्वा उप यानि)—मैं तेरे (पास शिक्षा के लिए) उपस्थित होता हूं; इति—ऐसे ॥१४॥

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद्यद् ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद्ब्रह्म मे वक्ष्यतीति व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं पाणावादायोत्तस्थौ तौ ह पुरुषं सुप्तमाजग्मतुस्तमेतैर्नामभिरामन्त्रयांचक्रे बृहन्पाण्डरवासः सोम राजन्निति स नोत्तस्थौ तं पाणिना पेषं बोधयांचकार स होत्तस्थौ ॥१५॥

सः ह उवाच अजातशत्रुः—उस अजातशत्रु ने कहा; प्रतिलोमम्—उलटी बात, च—और; एतत्—यह है; यत्—जो; ब्राह्मणः—ब्राह्मण-पुत्र; क्षत्रियम् उपेयात्—क्षत्रिय के पास (शिक्षार्थ) जाये (कि वह क्षत्रिय); ब्रह्म—ब्रह्म-ज्ञान; मे—मुझे; वक्ष्यति—उपदेश करेगा; इति—यह (बात परिपाटी से विरुद्ध है तो भी); वि—विशेष तौर से; एव—ही; त्वा—तुझ को; ज्ञपयिष्यामि—ज्ञात कराऊंगा, भली प्रकार समझाऊंगा; इति—ऐसा (कहकर); तम्—उस (गार्ग्य) को; पाणौ—हाथ में; आदाय—लेकर, पकड़कर; उत्तस्थौ—उठ खड़ा हुआ; तौ ह—और वे दोनों; पुरुषम्—एक मनुष्य को; सुप्तम्—सोये हुए; आजग्मतुः—पास आये; तम्—उस (मनुष्य) को; एतैः—इन; नामभिः—नामों से; आमन्त्रयांचक्रे—पुकारा; बृहन्—हे बृहन्, बड़े; पाण्डरवासः—हे शुभ्रवस्त्रधारी; सोम—हे सोम; राजन्—हे राजन्; इति—ऐसे; सः—वह (सुप्त पुरुष); न—नहीं;

अब अजातशत्रु ने गार्ग्य से कहा, यह 'विज्ञानमय-पुरुष' जब सो रहा था तब कहां था, अब जागने पर कहां से आ गया ? गार्ग्य की समझ में इसका कोई उत्तर न आया ॥१६॥

तब अजातशत्रु ने कहना शुरू किया—यह 'विज्ञानमय-पुरुष' जब सो रहा था तब इन्द्रियों के विज्ञान को, जो इसी का दिया हुआ है, अपने विज्ञान मे उसने खींच लिया था, और उस सब विज्ञान को समेटकर, हृदय के भीतर के आकाश में जा सोया था। जब इन्द्रियों के विज्ञान को यह अपने अन्दर खींच लेता है, तब उसे 'स्वपिति' कहते हैं। कहने को वह 'सो-रहा' कहा जाता है, परन्तु वास्तव में वह 'स्वम्'+'अपीतः', अर्थात् 'अपने स्वरूप में पहुंचा हुआ' होता है।

उत्तस्थौ—उठा, जागा, तम्—उसको, पाणिना—हाथ से, पेषम्—दबा कर, बोधयाचकार—जगाया, स. ह—और वह, उत्तस्थौ—उठ खड़ा हुआ ॥१५॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः
पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत एतदागादिति तदु ह न मेने गार्ग्यः ॥१६॥

सः ह उवाच अजातशत्रु—तब उस अजातशत्रु ने कहा, यत्र—जहा, जब, एषः—यह, एतत्सुप्त—यहा सोया हुआ, अभूत्—था, यः एष—जो यह, विज्ञानमयः—ज्ञानस्वरूप, ज्ञाता, पुरुषः—आत्मा है, क्व—कहा, एष—यह, तदा—तब, अभूत्—था, कुत—कहा से, एतद्—यह, यहां, आगात्—आ गया, इति—यह (पूछा), तद् उ ह—उस (रहस्य) को, न—नहीं, मेने—समझ पाया, गार्ग्यः—गार्ग्य ॥१६॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां
प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते
तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो
भवति गृहीता वाग्गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः ॥१७॥

सः ह उवाच अजातशत्रु—उस अजातशत्रु ने कहा, यत्र—जहा, जिस समय मे, एष—यह (मनुष्य), एतत्-सुप्तः अभूत्—यह सोया हुआ था, यः एष—जो यह, विज्ञानमयः—ज्ञानस्वरूप, साक्षी, पुरुषः—जीवात्मा, तद्—तो, वहा, एषाम्—इन, प्राणानाम्—प्राणो (इन्द्रियो) के, विज्ञानेन—(अपने) विज्ञान से, विज्ञानम्—ज्ञान शक्ति को, आदाय—लेकर, यः एषः—जो यह, अन्तः हृदये—हृदय के अन्दर, आकाशः—आकाश है, तस्मिन्—उसमे, शेते—सो जाता है; तानि—उन इन्द्रियो के ज्ञान को; यदा—जब, गृह्णाति—

उस समय प्राण को 'विज्ञानमय-आत्मा' ने अपने अन्दर पकड़ा होता है, वाणी-चक्षु-श्रोत्र-मन—सबको अन्दर पकड़ा होता है ॥१७॥

उस समय स्वप्न-लीला से जहां-जहां यह विचरता है, वे ही इसके लोक होते हैं। स्वप्न में कभी यह महाराजा बन जाता है, कभी महा-ब्राह्मण, कभी उच्च, कभी नीच। जैसे कोई महाराजा अपने सेवकों को साथ लेकर अपने देश में इच्छानुसार भ्रमण करे, ऐसे ही यह 'विज्ञानमय-पुरुष' इन्द्रियों को लेकर अपने शरीर में इच्छानुसार भ्रमण करता है ॥१८॥

ले लेता (पकड़ लेता) है; अथ ह—तब ही; एतत्पुरुषः—यह (विज्ञानमय) पुरुष; स्वपिति—सोता है (ऐसे); नाम—कहलाता है; तद्—उस समय में; गृहीतः—अन्दर ग्रहण किया हुआ; एव—ही; प्राणः—प्राण; भवति—होता है; गृहीता—पकड़ी हुई; वाग्—वाणी; गृहीतम्—ग्रहण किया हुआ; चक्षुः—नेत्र; गृहीतम्—पकड़ा हुआ; श्रोत्रम्—कान; गृहीतम्—पकड़ा हुआ; मनः—मन (अन्तःकरण) होता है ॥१७॥

स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण उतेवोच्चावचं निगच्छति स यथा महा-राजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेतैवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते ॥१८॥

सः—वह (विज्ञानमय आत्मा); **यत्र**—जिस समय में; **एतत्-स्वप्न्यया**—इस स्वप्न-पूर्ण नींद से (स्वप्न-वृत्ति से); **चरति**—गति करता (आचरण करता) है; **ते ह**—वे ही; **अस्य**—इसके; **लोकाः**—स्थिति, कर्मफल, स्थान (होते हैं); **तद्**—उस समय; **उत इव**—मानों कभी; **महाराजः**—महाराज (की तरह); **भवति**—होता है; **उत इव**—कभी; **महाब्राह्मणः**—महाब्राह्मण (के समान); **उत इव**—कभी; **उच्च+अवचम्**—ऊंची योनि को और कभी निकृष्ट योनि को; **गच्छति**—प्राप्त होता है; **सः यथा महाराजः**—वह जैसे महाराज; **जानपदान्**—देश के नगर-वासियों को; **गृहीत्वा**—(साथ) लेकर; **स्वे**—अपने; **जनपदे**—देश में; **यथाकामम्**—इच्छानुसार; **परिवर्तेत**—घूमे-फिरे; **एवम् एव**—ऐसे ही; **एषः**—यह विज्ञानमय आत्मा; **एतत्+प्राणान्**—इन प्राणों (इन्द्रियों) को; **गृहीत्वा**—लेकर; **स्वे शरीरे**—अपने शरीर में; **यथाकामम्**—यथेच्छ; **परिवर्तते**—घूमता-फिरता है ॥१८॥

स्वप्न से जब 'विज्ञानमय-पुरुष' सुषुप्त हो जाता है, जब कुछ नहीं जानता, तब क्या होता है ? हृदय से ७२ हज़ार नाड़ियां निकलती हैं जिन्हें 'हिता' कहते हैं, क्योंकि ये हित करती हैं। अन्त में ये जाकर 'पुरीतत' (Capillaries) हो जाती हैं; इन्हें 'पुरीतत' इस लिए कहा जाता है क्योंकि ये शरीर में फैल जाती हैं। इन 'पुरीतत' नाड़ियों में एक नाड़ी का नाम 'सुषुम्णा' है। सुषुप्तावस्था में सब 'पुरीततों' में से सरककर इसी 'सुषुम्णा' नाम की नाड़ी में यह जा सोता है। जैसे कोई कुमार, कोई महाराजा, कोई महा-ब्राह्मण आनन्द की पराकाष्ठा में पहुंचकर सोये, इसी प्रकार सुषुप्तावस्था में यह 'विज्ञान-घन' आत्मा सोता है। (बृहदा० ४-२-३, ४-३-२०, ४-८-२) ॥१९॥

(परन्तु यह शरीर में रहने वाला आत्मा तो 'आत्मन्वी' है, किसी अन्य-आत्मा की अपेक्षा करता है, यह विज्ञान-घन किसी अन्य विज्ञान-घन की अपेक्षा करता है। सुषुप्तावस्था में यह आत्मा जिस महान् आत्मा के पास जा पहुंचता है, वह विज्ञान-घन

अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वातिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥१९॥

अथ यदा—और जब, सुषुप्त—गहरी नींद (सुषुप्ति) में सोया हुआ, भवति—होता है, यदा—जब, जिस अवस्था में, न—नहीं, कस्यचन—किसी के सम्बन्ध में (किसी को, कुछ भी), वेद—जानता है, हिता नाम—'हिता' नाम वाली, द्वासप्ततिः—बहत्तर, सहस्राणि—हज़ार (संख्या में) हृदयात्—हृदय से, पुरीततम्—पुरी (शरीर-नगरी) में फैलनेवाली या शरीर को, अभि—ओर, प्रतिष्ठन्ते—चलती हैं, निकलती हैं, ताभिः—उन (नाड़ियों) से, प्रति+अवसृप्य—लौट कर, पुरीतति—पुरीतत् (सुषुम्णा नाड़ी) में, शेते—सो जाता है (गति बन्द कर देता है), स यथा—वह जैसे, कुमारः वा—कोई बालक (राजकुमार), महाराज वा—या महाराज, महाब्राह्मण या—या कोई महाब्राह्मण, अतिघ्नीम्—पराकाष्ठा को, अत्यधिकता को, आनन्दस्य—आनन्द की, गत्वा—प्राप्त कर, शयीत—सो जाये, एवम् एव—ऐसे ही, एषः—यह, शेते—सो जाता (सुषुप्त हो जाता) है ॥१९॥

जिस महान् विज्ञान-घन के निकट पहुंचकर आनन्द-ही-आनन्द का अनुभव करता है, वही 'ब्रह्म' की झांकी है।)

जैसे मकड़ी अपने तन्तु से नीचे-ऊपर चढ़ती-उतरती है, ऐसे पिंड का विज्ञान-घन-आत्मा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में विज्ञान-रूपी तन्तु के सहारे चढ़ता-उतरता है; जैसे अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियां निकलती हैं, इसी प्रकार विज्ञान-घन आत्मा से इन्द्रियों का ज्ञान फूटा पड़ता है। जैसे पिंड में विज्ञान-घन 'आत्मा' है, वैसे ब्रह्मांड में विज्ञान-घन 'परमात्मा' है, वही 'ब्रह्म' है, उसी से सब लोक, सब देव, सब भूत प्रस्फुटित होते हैं। उसका उपनिषत् में नाम 'सत्यस्य सत्यम्'—सत्य का सत्य—है, यह पिंड का आत्मा सत्य है, ब्रह्मांड का आत्मा, आत्मा का आत्मा है, अतः वह 'सत्य का सत्य' है ॥२०॥

(इसी प्रकार का वर्णन बृहदा० ३-९-१० से १७ तक पाया जाता है जिसमें याज्ञवल्क्य तथा विदग्ध शाकल्य की प्रश्नोत्तरी है। छान्दोग्य ५,११-२४ में इसी प्रकार की कथा आती है जिसमें कैकेय अश्वपति के निकट प्राचीनशाल औपमन्यव आदि छः ऋषि 'वैश्वानर'-सम्बन्धी उपदेश लेने गये। आत्मा की जाग्रत् आदि अवस्थाओं का वर्णन माण्डूक्य, छान्दोग्य ८-१२ तथा बृहदा० ४-२ में भी ऐसा ही है।)

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥२०॥

सः यथा—वह जैसे; ऊर्णनाभिः—मकड़ी; तन्तुना—तन्तु के सहारे से; उच्चरेत्—ऊपर जाती है; यथा—जैसे; अग्नेः—अग्नि के; क्षुद्राः—छोटे-छोटे; विस्फुलिंगाः—पतंगे; व्युच्चरन्ति—चारों ओर बिखरते (फैल जाते) हैं; एवम् एव—ऐसे ही; अस्माद्—इस (विज्ञानमय); आत्मनः—आत्मा से; सर्वे प्राणाः—सारे (पांचों) प्राण; सर्वे लोकाः—सारे लोक (अवस्थाएं); सर्वे देवाः—सारे देव (इन्द्रियां); सर्वाणि भूतानि—सारे भूत; व्युच्चरन्ति—फैलते हैं; तस्य—उस (आत्मा व परमात्मा) का; उपनिषद्—रहस्यमय ज्ञान (यह है कि); सत्यस्य सत्यम्—सत्य (सत्तावाले) का भी सत्य (सत्ता-प्रद) है; इति—यह (रहस्य) है; प्राणाः वै—प्राण ही; सत्यम्—सत्य हैं; तेषाम्—उन (प्राणों) का भी; एषः—यह; सत्यम्—सत्य है ॥२०॥

द्वितीय अध्याय—(दूसरा ब्राह्मण)
(प्राण की शिशु-रूप कल्पना)

काशीराज अजातशत्रु गार्ग्य को उपदेश देते हुए फिर कहते हैं—

जैसे एक शिशु-रूप छोटे-से बछडे का, 'आधान' है, शरीर है, जिसमें वह टिका हुआ है, जैसे उसका 'प्रत्याधान' है, आधान का आधान है, अर्थात् जैसे शरीर-रूपी आधान में सिर-रूपी प्रत्याधान टिका हुआ है, जैसे उसकी 'स्थूणा' है, खूंटा है जिसमें वह बंधा है, और जैसे उसकी 'दाम' है, रस्सी है, वैसे जीवात्मा ही एक शिशु-रूप बछडा है, यह शरीर उसका 'आधान' है जिसमें वह टिका हुआ है, यह सिर उसका 'प्रत्याधान' है जिसमें ज्ञानेन्द्रियां टिकी हुई है, यह प्राण उसका 'खूंटा' है जिस पर वह बंधा हुआ है, यह अन्न उसकी 'रस्सी' है जिसने उसे बांधा हुआ है। जीवात्मा-रूपी शिशु को उसके 'आधान'-'प्रत्याधान'-'खूंटे'-'रस्सी'-सहित जो जान लेता है, और उसे प्राण-रूपी खूंटे से बांध लेता है, वह इसके सात-शत्रुओं को रोक देता है। दो कान, दो आंख, दो नाक, एक जीभ—ये सात ही तो शत्रु हैं! आत्मा-रूपी शिशु को प्राण-रूपी खूंटे के साथ बांधकर उसे प्राण की तरह निर्लेप बनाने के लिये इन्द्रियों के संग-दोष से छूटना आवश्यक है ॥१॥

यो ह वै शिशुं साधानं सप्रत्याधानं सस्थूणं सदामं वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि । अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणान्नं दाम ॥१॥

य. ह वै—जो ही, शिशुम्—नवजात बालक को, स+आधानम्—आधान (अधिष्ठान, आधार) के सहित, स+प्रत्याधानम्—प्रत्याधान (आधान के भी आधान, आधार के भी आधार) के सहित, सस्थूणम्—स्थूणा (थूनी, खूंटा, बन्धन-स्थान) के सहित, सदामम्—दाम (बांधनेवाली रस्सी) के साथ, वेद—जानता है, सप्त ह—निश्चय ही सात, द्विषत—द्वेष करनेवाले, भ्रातृव्यान्—भतीजों (भय्या-भतीजे रूप बन्धुओं—दायादों) को, अवरुणद्धि—रोक देता है, काबू पा लेता है, अयं वाव—यह ही, शिशु—नवजात बालक है, य—जो, अयम्—यह, मध्यम. प्राण—प्राणों के मध्य में वर्तमान जीवन-दाता आत्मा है, तस्य—उस (शिशु—आत्मा) का, इदम् एव—यह शरीर ही,

इतना ही नहीं कि वह इन सात शत्रुओं को रोक देता है, उसे सात 'अक्षितियां'—नाश न होनेवाली शक्तियां—भी प्राप्त हो जाती हैं। उसकी आंख में स्वयं 'रुद्र'-'पर्जन्य'-'आदित्य'-'अग्नि'-इन्द्र'-'पृथिवी'-'द्यौः'—ये सात देवता मानो उसकी आराधना के लिये आ विराजते हैं। जो आत्मा को 'शिशु' और 'प्राण' की तरह निर्लेप बना लेता है, उसके आंखों की लाल-लाल रेखाओं में मानो 'रुद्र' आ बैठता है, नेत्र के जलों में मानो 'पर्जन्य', पुतली में मानो 'आदित्य', कालिमा में 'अग्नि', श्वेतिमा में 'इन्द्र', निचली पलक में 'पृथिवी', ऊपरली पलक में 'द्यौः' आ विराजते हैं। ऐसे प्राण सरीखे निर्लेप शिशु की मानो सभी देवता आराधना करने लगते हैं। जो इस रहस्य को जानता है उसे किसी बात की कमी नहीं रहती। (इस प्रकरण में पिंड तथा ब्रह्मांड का समन्वय दिखाया गया है) ॥२॥

आधानम्—अधिष्ठान (आधार) है; **इदम्**—यह (सिर); **प्रत्याधानम्**—शरीर रूप आधान का आधान है; **प्राणः**—प्राण (श्वास-प्रश्वास, जीवन); **स्थूणा**—खूंटा है; **अन्नम्**—अन्न; **दाम**—रस्सी है ॥१॥

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते तद्या इमा अक्षन्लोहिन्यो राजयस्ताभिरेनं रुद्रोऽन्वायत्तोऽथ या अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यो या कनीनका तयादित्यो यत्कृष्णं तेनाग्निर्यच्छुक्लं तेनेन्द्रोऽधरयैनं वर्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता द्यौरुत्तरया नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद ॥२॥

तम्—उस (शिशु) को; **एताः**—ये; **सप्त**—सात; **अक्षितयः**—अक्षर (अविनाशी) देव-शक्तियां; **उपतिष्ठन्ते**—उपस्थित (प्राप्त) होती हैं; **तत्**—तो; **याः**—जो; **इमाः**—ये; **अक्षन्**—आंख में; **लोहिन्यः**—लाल; **राजयः**—पंक्तियां, रेखाएं हैं; **ताभिः**—उनके द्वारा (रूप में); **एनम्**—इसको (में); **रुद्रः**—रुद्र; **अन्वायत्तः**—अनुगत (उपस्थित, विराजमान) है; **अथ**—और; **याः**—जो; **अक्षन्**—आंख में; **आपः**—जल हैं; **ताभिः**—उनके द्वारा; **पर्जन्यः**—मेघ; **या**—जो; **कनीनिका**—पुतली है; **तया**—उसके द्वारा; **आदित्यः**—सूर्य-देवता; **यत्**—जो; **कृष्णम्**—कालापन (कालिमा); **तेन**—उससे; **अग्निः**—अग्नि; **यत्**—जो; **शुक्लम्**—सफ़ेदी (श्वेतिमा) है; **तेन**—उसके द्वारा; **इन्द्रः**—इन्द्र; **अधरया**—निचली; **एनम्**—इसको (में); **वर्तन्या**—पलक से; **पृथिवी**—पृथिवी; **अन्वायत्ता**—अनुगत (उपस्थित) है; **द्यौः**—द्यु-लोक; **उत्तरया**—ऊपरली (पलक) से; **न अस्य अन्नम् क्षीयते**—नहीं इसका अन्न कम होता है; **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥२॥

उसकी आंख में सात 'देवता', और सिर में मानो सात 'ऋषि' आ विराजते हैं। किसी ने कहा है—सोम-रस का एक चमस है, बर्तन है; इसका मुंह नीचे को है, तला ऊपर को है, इसमें हर प्रकार का यश भरा हुआ है। इस चमस के किनारे सात ऋषि बैठे हैं, आठवीं वाणी भी वहीं बैठी ब्रह्म का बखान कर रही है। इस उक्ति का अभिप्राय यह है कि नीचे मुंह वाला चमस यह सिर ही है, खोपड़ी का ऊपर का हिस्सा चमस का तला है, नीचे का हिस्सा उसका मुंह है। 'इसमें हर प्रकार का यश भरा हुआ है'—इसका अभिप्राय जीवन-शक्ति से है। इसके किनारे बैठे सात ऋषियों से अभिप्राय दो आंख, दो कान, और दो नाक और एक जिह्वा से है। इन सातों ऋषियों

तदेष श्लोको भवति। अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति। अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो विश्वरूपं प्राणानेतदाह तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीर इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते॥३॥

तद्—उस विषय में, एष—यह (पूर्व-प्रचलित), श्लोकः भवति—श्लोक है, अर्वाग्+बिल—नीचे की ओर बिल (छिद्र-मुख) वाला, चमसः—चमचा (भोग-साधन), ऊर्ध्व-बुध्न—ऊपर को जड़ (चमचे का पृष्ठ भाग) वाला, ऊपर की ओर आधार वाला, तस्मिन्—उस (चमस) में, यशः—यश (कीर्ति), निहितम्—रखा (सुरक्षित) है, विश्वरूपम्—अनेकविध रूप (प्रकार) वाला, तस्य—उस (चमस) के, आसत—बैठे हुए हैं (उपस्थित हैं), ऋषयः—ऋषि (द्रष्टा, ज्ञान प्राप्त करनेवाले), सप्त—(संख्या में) सात, तीरे—किनारे पर, वाग्—वाणी, अष्टमी—आठवीं, ब्रह्मणा—ब्रह्म (ब्रह्म, ज्ञान) से (के द्वारा), संविदाना—संवेदन (सम्यग् ज्ञान) कराती हुई या संवाद करती हुई, इति—यह (श्लोक) है, अर्वाग्-बिल: चमसः ऊर्ध्व-बुध्नः—नीचे मुखवाला, ऊपर जड़ (आधार) वाला चमस, इति—यह (जो कहा है उसका तात्पर्य यह है कि), इदम्—यह, तत्—वह, शिरः—सिर (रूप चमस) है, एषः हि—यह ही, अर्वाग् . बुध्नः—नीचे जड़वाला है, तस्मिन् यशः निहितम् विश्वरूपम्—उसमें विश्वरूप यश रखा है, इति—यह (जो वाक्य है, उसमें 'यश' का अर्थ है); प्राणाः वै—प्राण ही, यशः विश्वरूपम्

के साथ आठवीं वाणी बैठी हुई है, जो ब्रह्म-ज्ञान की घोषणा कर रही है। (इसी को सहस्रार ब्रह्मलोक भी कहा जाता है) ॥३॥

जैसे आंख में सात देवता आ उतरे थे, वैसे सिर में सात इन्द्रियों का होना मानो सात ऋषियों का आ विराजना है। ये दोनों कान गोतम और भरद्वाज ऋषि हैं, दायां कान मानो गोतम, बायां कान मानो भरद्वाज है; ये दोनों नेत्र विश्वामित्र और जमदग्नि ऋषि हैं, दायां नेत्र विश्वामित्र और बायां नेत्र जमदग्नि है; ये दोनों नासिकाएं वसिष्ठ और कश्यप हैं, दायीं नासिका वसिष्ठ और बायीं कश्यप है; वाणी अत्रि ऋषि है, वाणी से अन्न खाया जाता है और अत्रि भी 'अत्ति' से बनता है, जो खाता है वह अत्रि है। जो इस रहस्य को जानता है वह सब पदार्थों को अन्न की तरह भोगता है, और प्रत्येक वस्तु उसका अन्न की तरह भोग्य हो जाती है ॥४॥

—विश्वरूप यश हैं; **प्राणान्**—प्राणों को (के विषय में); **एतद् आह**—यह कहा गया है; **तस्य आसत ऋषयः सप्त तीरे**—उसके किनारे पर सात ऋषि बैठे हुए हैं; **इति**—इस (वाक्य) में; **प्राणाः वै**—प्राण (इन्द्रियां) ही, **ऋषयः**—(सात) ऋषि हैं; **प्राणान्**—प्राण (इन्द्रियों) के विषय में; **एतद् आह**—यह (वाक्य) कहता है; **वाग् अष्टमी ब्रह्मणा संविदाना**—ब्रह्म के साथ (द्वारा) सम्यग् ज्ञान कराती हुई या संवाद करती हुई आठवीं वाणी है; **इति**—इस (वाक्य में); **वाग् हि**—वाणी ही; **अष्टमी**—आठवीं; **ब्रह्मणा**—ब्रह्म से, ज्ञान से (द्वारा); **संविते**—सम्यग्-ज्ञान कराती है ॥३॥

इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥४॥

इमौ—ये दोनों (कान); **एव**—ही; **गौतम-भरद्वाजौ**—गोतम और भरद्वाज (संज्ञक) ऋषि) हैं; **अयम्**—(इनमें से) यह एक; **एव**—ही; **गोतमः**—गोतम (नामी) है; **अयम्**—यह एक; **भरद्वाजः**—भरद्वाज (नामी) है; **इमौ एव**—ये दोनों (नेत्र) ही; **विश्वामित्र-जमदग्नी**—विश्वामित्र और जमदग्नि (संज्ञक) ऋषि हैं; **अयम् एव**—यह एक ही; **विश्वामित्रः**—विश्वामित्र है; **अयम् जमदग्निः**—और एक यह जमदग्नि (ऋषि) है; **इमौ एव**—ये दोनों (नासिका-छिद्र) ही; **वसिष्ठ-कश्यपौ**—वसिष्ठ और कश्यप नामी ऋषि हैं;

द्वितीय अध्याय--(तीसरा ब्राह्मण)

(ब्रह्म के दर्शन)

अजातशत्रु ने उपदेश जारी रखते हुए फिर कहना शुरू किया --

ब्रह्म के दो ही रूप हैं, 'मूर्त' तथा 'अमूर्त', 'मर्त्य' तथा 'अमृत', 'स्थित' तथा 'यत्', अर्थात् ठहरा हुआ और चलने वाला, 'सत्' तथा 'त्यत्'—यह तथा वह—अर्थात् प्रत्यक्ष तथा परोक्ष ॥१॥

वायु तथा अन्तरिक्ष से भिन्न जो-कुछ दीख रहा है, यही ब्रह्म का मूर्त-रूप है, यही मर्त्य-रूप है, यही स्थित-रूप है, यही सद्-रूप है, प्रत्यक्ष-रूप है। इस मूर्त, इस मर्त्य, इस स्थित, इस सत्, इस प्रत्यक्ष रूप का रस, इसका निचोड़ यह तपने वाला 'सूर्य' है। ब्रह्म

अयम् एव वसिष्ठ—इनमें से यह एक वसिष्ठ ऋषि है, **अयम् कश्यप**—एक कश्यप ऋषि है, **वाग् एव**—वाणी (जिह्वा) ही, **अत्रि**—अत्रि (नामी) ऋषि है, **वाचा हि**—क्योंकि वाणी (जिह्वा) द्वारा, **अन्नम्**—भोजन, **अद्यते**—खाया जाता है, **अत्ति**—अदन (भोजन क्रिया का) करनेवाला, **ह वै**—ही, **नाम**—वाचक (संज्ञा का रूप), **एतद्**—यह है, **यद्**—जो, **अत्रि**—'अत्रि' पद है, **इति**—यह (जाने), **सर्वस्य**—सब (अन्न) का, **अत्ता**—भोक्ता (अन्नाद), **भवति**—होता है, **सर्वम् अस्य अन्नम् भवति**—सब ही अन्न इसको प्राप्त होता है, **य एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥४॥

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं
चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च ॥१॥

द्वे—दो, **वाव**—ही, **ब्रह्मण**—ब्रह्म के, **रूपे**—रूप (आकृतियां, परिचायक) हैं, **मूर्तम् च**—एक मूर्त (साकार, सगुण), **एव**—ही, **अमूर्तम् च**—और अमूर्त (निराकार, निर्गुण), **मर्त्यम् च**—एक मर्त्य (मरणशील), **अमृतम् च**—और दूसरा अमृत (अमर), **स्थितम् च**—एक स्थिर (स्थायी), **यत् च**—और दूसरा 'यत्' (गतिशील), **सत् च**—सत् (सामने विद्यमान-प्रत्यक्ष), **त्यत् च**—और दूसरा त्यत् (दूर विद्यमान-परोक्ष) ॥१॥

तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतन्मर्त्यमेतत्स्थि-
तमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यै-
तस्य सत एष रसो य एष तपति सतो ह्येष रसः ॥२॥

तद्—तो, **एतद्**—यह, **मूर्तम्**—मूर्त (रूप) है, **यत्**—जो, **अन्यत**—भिन्न (के अलावा), **वायो च**—वायु से, **अन्तरिक्षात् च**—और अन्तरिक्ष से,

के प्रत्यक्ष रूप का रस, उसका सार, उसका निचोड़, उसके सब प्रत्यक्ष-रूपों का प्रतीक सूर्य है। वैसे तो ब्रह्म प्रत्येक मूर्त-रूप में प्रत्यक्ष हो रहा है, परन्तु उसके मूर्त-रूपों की चरम-सीमा सूर्य है; सूर्य मानो ब्रह्म का महा-प्रत्यक्ष रूप है ॥२॥

वायु तथा अन्तरिक्ष ब्रह्म के अमूर्त-रूप हैं, ये अमृत-रूप हैं, यत्-रूप हैं, त्यत्-रूप हैं, परोक्ष रूप हैं। इन अमूर्त, अमृत, यत्, त्यम्, परोक्ष-रूपों का रस, उनका निचोड़ इस सौर-मंडल का अधिष्ठाता 'पुरुष' है। ब्रह्म के परोक्ष-रूप का रस, उसका सार, उसका निचोड़, उसके सब परोक्ष-रूपों का प्रतीक वह पुरुष है, जो छोटी-छोटी वस्तुओं का नियन्त्रण तो कर ही रहा है, परन्तु साथ ही इस महान् सौर-मंडल का भी नियन्त्रण कर रहा है। ब्रह्मांड में ये ब्रह्म के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष-रूपों के वर्णन हैं ॥३॥

एतत्—यह रूप; **मर्त्यम्**—मरणशील, विनाशी है; **एतत्**—यह ही; **स्थितम्**—स्थिर (स्थायी, अगतिशील); **एतत्**—यह ही; **सत्**—प्रत्यक्ष है; **तस्य एतस्य**—उस—इस; **मूर्त्तस्य**—मूर्त (रूप) का; **एतस्य मर्त्यस्य**—इस मर्त्य (विनाशी) का; **एतस्य स्थितस्य**—इस अप्रगतिशील का; **एतस्य सतः**—इस सत् (प्रत्यक्ष) रूप का; **एषः रसः**—यह ही सार, प्रत्यक्ष (प्रतीक) रूप है; **यः एषः**—जो यह; **तपति**—तप रहा है, प्रकाशमान है; **सतः हि एषः रसः**—क्योंकि यह सत् (प्रत्यक्ष) का यह रस (सार-प्रतीक) है ॥२॥

> अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्त्यं तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य ह्येष रस इत्यधिदैवतम् ॥३॥

अथ—और; **अमूर्तम्**—(उसका) अमूर्त (निराकार) रूप; **वायुः च**—वायु; **अन्तरिक्षम् च**—और अन्तरिक्ष है; **एतद् अमृतम्**—यह ही अमर (अक्षर) है; **एतत् यत्**—यह ही 'यत्' (प्रगतिशील) है; **एतत् त्यम्**—यह ही 'त्य' (परोक्ष) है; **तस्य एतस्य अमूर्त्तस्य**—उस इस अमूर्त (निराकार, नीरूप) का; **एतस्य अमृतस्य**—इस अमर (अविनाशी) का; **एतस्य**—इस; **यतः**—गतिशील का; **एतस्य**—इस; **त्यस्य**—'त्य' (परोक्ष) का; **एषः रसः**—यह सार है; **यः एषः**—जो यह; **एतस्मिन्**—इस; **मण्डले**—सूर्य-मण्डल में; **पुरुषः**—पुरुष (आत्मा) है; **त्यस्य हि**—उस 'त्य' (परोक्ष) का ही; **एषः रसः**—यह सार है; **इति**—यह (मीमांसा); **अधिदैवतम्**—(ब्रह्माण्ड-गत) देवता-सम्बन्धी है ॥३॥

पिंड में, प्राण तथा हृदयाकाश से भिन्न जो-कुछ दीख रहा है, यही ब्रह्म का मूर्त, मर्त्य, स्थित, सत् और प्रत्यक्ष-रूप है। इस मूर्त, मर्त्य, स्थित, सत् और प्रत्यक्ष-ब्रह्म का रस चक्षु है। सद्-रूप ब्रह्म का, अर्थात् दीख रहे ब्रह्म का चक्षु मानो रस है, अर्थात् चक्षु मानो ब्रह्म का पिंड में साक्षात्-दर्शन का रस है ॥४॥

प्राण तथा हृदयाकाश पिंड में दर्शन देने वाले ब्रह्म के अमूर्त-रूप हैं, ये अमृत, यत्, त्यम्, परोक्ष-रूप हैं। इन अमूर्त, अमृत, यत्, त्यम्, परोक्ष-रूपों का रस दायीं आंख के भीतर दीखने वाला पुरुष है। उस 'त्यम्' का, उस छिप कर आंख के भीतर से झाकने वाले का 'चक्षु' मानो रस है ॥५॥

अथाध्यात्ममिदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश
एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य
स्थितस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षु सतो ह्येष रस ॥४॥

अथ—और, अध्यात्मम्—आत्मा (पिण्ड) सम्बन्धी (व्याख्या यह है), इदम् एव—यह (शरीर-पिण्ड) ही मूर्तम्—मूर्त (रूप) है, यद्—जो, अन्यत्—भिन्न, अलावा, प्राणात् च—प्राण (श्वास प्रश्वास या इन्द्रिया) से, य च—और जो, अयम्—यह, अन्त आत्मन्—(हृदय) के अन्दर, आकाश —आकाश है, एतत् मर्त्यम्—यह ही मर्त्य है, एतत् स्थितम्—यह ही स्थिर है एतत् सत्—यह ही 'सत्' (प्रत्यक्ष) है, तस्य रस —अथ पूर्ववत्, यत् चक्षु —जो नेत्र हैं, सत हि एष रसः—यह ही 'सत्' का सारभूत है ॥४॥

अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृत-
मेतद्यदेतत्त्य तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य
त्यस्यैष रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्त्यस्य ह्येष रस ॥५॥

अथ—और, अमूर्तम्—(पिण्ड मे) अमूर्त, प्राण च—प्राण, य च अयम्—और जो यह, अन्त आत्मन्—हृदय के अन्दर, आकाश—आकाश है, एतद् अमृतम्—यह अमर है, एतद् यत्—यह ही गतिशील है, एतत् त्यम्—यह ही 'त्य' (परोक्ष) है, तस्य रस —अर्थ पूर्ववत्, य अयम्—जो यह, दक्षिणे—दाहिनी, अक्षन्—आख म, पुरुष —पुरुष (आत्मा) है, त्यस्य—उस 'त्य' (परोक्ष) का, हि एष रस —ही यह रस है ॥५॥

समाधि-अवस्था में उपासक को ब्रह्म का जो रूप दीख पड़ता है, वह ऐसा है, जैसे केसर के रंग से रंगा महा-वस्त्र हो, पांडु-वर्ण की ऊन हो, बीर-बहूटी की लालिमा की तरह, अग्नि की ज्वाला की तरह, श्वेत पुंडरीक की तरह, एक बार की विद्युत् की लपट की तरह। जो इस रहस्य को जानता है, उसकी शोभा विद्युत् के एक सकृत्-प्रकाश की भांति हो जाती है। बस, इसके आगे ब्रह्म के विषय में 'नेति'-'नेति' का ही आदेश है। इससे बढ़कर अन्य कुछ है ही नहीं। प्राणों को मनुष्य सब कुछ समझता है, इन्हें सत्य मानता है। अगर प्राण सत्य हैं, तो वह प्राणों का प्राण है, सत्यों का सत्य है, उसका नाम है—'सत्यस्य सत्यम्' (कुंडलिनी के जागरण की ये अवस्थाएं हैं) ॥६॥

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं, यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाऽग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तं, सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदाथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नाम-धेयं, सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥६॥

तस्य ह एतस्य—उस ही इस; पुरुषस्य—पुरुष का; रूपम्—रूप (ऐसा है); यथा—जैसे; माहारजनम्—हल्दी से रंगा (केसर-वर्ण का); वासः—कपड़ा हो; यथा—जैसे; पाण्डु+आविकम्—शुभ्र भेड़ की ऊन हो; यथा—जैसे; इन्द्रगोपः—बीर बहूटी (का रूप) हो; यथा—जैसे; अग्नि+अर्चिः—आग की लपट हो; यथा—जैसे; पुण्डरीकम्—श्वेत कमल हो; यथा—जैसे; सकृद्—एक बार (एक दम); विद्युत्तम्—बिजली की चमक हो; सकृद् विद्युत्ता इव—एक-दम चमकी विद्युत् की तरह; ह वै—निश्चय ही; अस्य—इस (ज्ञानी) की; श्रीः—शोभा, कान्ति; भवति—होती है; यः एवम् वेद—जो ऐसे जान लेता है; अथ अतः—इस (ब्रह्म-निरूपण) के अनन्तर; आदेशः—यह (रहस्य-उपदेश) है; न इति न इति—यह भी (ब्रह्म) नहीं, यह भी (ब्रह्म) नहीं (ऐसे ही निरूपण किया जा सकता है); न हि एतस्मात्—नहीं ही इस (ब्रह्म) से (बढ़कर श्रेष्ठ है); इति—यह (पहला 'न' आदेश है); न इति—नहीं ऐसे (दूसरे 'न' द्वारा आदेश है कि); अन्यत्—कोई और; परम्—श्रेष्ठ (बढ़कर); अस्ति—है; अथ—और; नामधेयम्—(उसका) नाम है; सत्यस्य सत्यम्—सत्य का सत्य—परम सत्य; इति—यह; प्राणाः वै सत्यम्—प्राण ही 'सत्य' हैं; तेषाम्—उन (प्राणों) का; एषः—यह 'पुरुष'; सत्यम्—सत्य है ॥६॥

द्वितीय अध्याय—(चौथा ब्राह्मण)
(याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद, ४,५ ब्राह्मण)

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी का संवाद इसी उपनिषद् के ४ अध्याय ५ ब्राह्मण में दुबारा आया है। हम उसे वहां न लिखकर यहीं लिखते हैं —

याज्ञवल्क्य जब अपने आश्रम को छोड़कर जाने लगे, तो उन्होंने मित्रा की पुत्री मैत्रेयी से कहा—देखो, मैं इसी गृहस्थाश्रम में पड़े रहना नहीं चाहता, मैं ऊपर उठना चाहता हूं। आओ, तुम्हारा कात्यायनी के साथ निपटारा करा दूं ॥१॥

मैत्रेयी ने कहा, भगवन् ! अगर यह सारी पृथिवी वित्त से पूर्ण होकर मेरी हो जाय, तो 'कथं तेन अमृता स्याम्'—तो कैसे मैं उससे

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थाना-
दस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति ॥१॥

मैत्रेयि—हे मैत्रेयि !, इति ह—ऐसे, उवाच—कहा, याज्ञवल्क्य—यज्ञवल्क (यज्ञ-वक्ता) के पुत्र याज्ञवल्क्य ने, उद्यास्यन्—ऊपर उठने वाला, छोड़नेवाला, वै—निश्चय ही, अरे—अरी !, अहम्—मैं, अस्मात्—इस, स्थानात्—स्थान (आश्रम) से, गृहस्थ-आश्रम से, अस्मि—हूं, हन्त—तो, ते—तेरा, अनया—इस, कात्यायन्या—(तेरी सपत्नी) कात्यायनी से, अन्तम्—(जायदाद का) फैसला, विभाजन, करवाणि—कर दूं, इति—यह (कहा) ॥१॥

सा होवाच मैत्रेयी, यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं
तेनामृता स्यामिति, नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं
तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाऽऽशास्ति वित्तेनेति ॥२॥

सा ह उवाच मैत्रेयी—उस मैत्रेयी ने (उत्तर में) कहा, यत् नु—जो तो, अगर, मे—मेरी, मेरे लिए, इयम्—यह, भगो—हे (पति देव !), सर्वा—सारी, पृथिवी—पृथिवी, वित्तेन—धन-धान्य से, पूर्णा—भरी-पूरी, स्यात्—हो, मिल जाय, कथम्—कैसे, क्या, तेन—उस (धन धान्य) से, अमृता—अमर, स्याम्—हो जाऊंगी, इति—यह (कहा), न—नहीं हो, इति—ऐसे, ह—बल देकर, उवाच—कहा, याज्ञवल्क्य.—याज्ञवल्क्य ने, यथा एव—जैसा ही, उपकरणवताम्—सर्वसाधन-सम्पन्न पुरुषों का, जीवितम्—जीवन (रहन-

अमर हो जाऊंगी ? याज्ञवल्क्य ने कहा, नहीं, उस अवस्था में, जैसे साधन-सम्पन्न व्यक्ति चैन से जीवन निर्वाह करते हैं, वैसे तुम्हारा जीवन होगा, 'अमृतत्वस्य तु न आशा अस्ति वित्तेन'—धन-धान्य से अमरता पाने की तो आशा नहीं हो सकती ।।२।।



याज्ञवल्क्य ने कहा, हे मैत्रेयी ! धन-ऐश्वर्य से वह अमृत ब्रह्म प्राप्त नहीं होता

सहन) होता है; **तथा एव**—वैसा ही; **ते**—तेरा; **जीवितम्**—जीवन; **स्यात्**—होगा; **अमृतत्वस्य**—अमरता (मुक्ति) की; **तु**—तो; **न**—नहीं; **आशा**—आशा, संभावना; **अस्ति**—है; **वित्तेन**—धन-धान्य से; **इति**—यह (कहा) ।।२।।

मैत्रेयी ने कहा,'येन अहं न अमृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्'—जिस से मैं अमर न हो सकूं, उसे लेकर मैं क्या करूं? भगवन्! अमर होने का जो रहस्य आप जानते हो, मुझे तो उसी का उपदेश दीजिये ॥३॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, तू तो मेरी प्रिय है, और बड़ा प्रिय वचन बोल रही है। आ, बैठ, मैं तुझे सब खोलकर समझाता हूं, ज्यों-ज्यों मैं बोलता जाऊं, मेरी बात ध्यान देकर सुनते जाना ॥४॥

फिर उसने कहना शुरू किया—अरे, पति की कामना के लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने आत्मा की कामना के लिये पति प्रिय

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं
तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥३॥

सा ह उवाच मैत्रेयी—उस मैत्रेयी ने फिर कहा; येन—जिस (धन-धान्य) से, अहम्—मैं, न—नहीं, अमृता—अमर, स्याम्—होऊं, किम् अहम्—क्या मैं, तेन—उस (धन) से, कुर्याम्—कर सकूंगी, (तेन कुर्याम्—उस धन को पाकर क्या फल पाऊंगी), यद् एव—जो ही, भगवान्—आदरणीय आप, वेद—जानते हो, तद् एव—उसको ही, मे—मुझे, ब्रूहि—कहें, उपदेश करें, इति—यह (निवेदन किया) ॥३॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्स्व
व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥४॥

स ह उवाच याज्ञवल्क्यः—उस याज्ञवल्क्य ने कहा, प्रिया—परम प्रिय, बत—तो, अरे—अरी!, नः—हमारी, सती—होती हुई, प्रियम्—प्रिय (वचन), भाषसे—कहती है, एहि—आ, आस्स्व—बैठ, व्याख्यास्यामि—व्याख्या (स्पष्ट) करूंगा, बताऊंगा, ते—तुझे, तेरे प्रति, व्याचक्षाणस्य—व्याख्या करने वाले, तु—तो, मे—मेरे (वचन को), निदिध्यासस्व—विशेष (सम्पूर्णतया) ध्यान करना, ध्यान से सुनना, इति—यह (आश्वासन दिया) ॥४॥

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति। न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति।

होता है; अरे, पत्नी की कामना के लिये पत्नी प्रिय नहीं होती, अपने आत्मा की कामना के लिये पत्नी प्रिय होती है; अरे, पुत्रों की कामना के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने आत्मा की कामना के लिये पुत्र प्रिय होते हैं; अरे, वित्त की कामना के लिये वित्त प्रिय नहीं होता, अपने आत्मा की कामना के लिये वित्त प्रिय होता है; अरे, ब्राह्म-शक्ति की कामना के लिये ब्रह्म प्रिय नहीं होता, अपनी आत्मा की कामना के लिये ब्रह्म प्रिय होता है; अरे, क्षात्र-शक्ति की कामना के लिये क्षत्र प्रिय नहीं होता, अपने आत्मा की कामना के लिये क्षत्र प्रिय होता है; अरे, लोकों की कामना के लिये लोक प्रिय नहीं होते, अपने आत्मा की कामना के लिये लोक

न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवा प्रिया भवन्ति । न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ॥५॥

सः ह—उस (याज्ञवल्क्य) ने; **उवाच**—कहा; **न वै**—नहीं तो; **अरे**—अरी !; **पत्युः**—पति की; **कामाय**—कामना (स्वार्थ) के लिए; **पतिः प्रियः भवति**—पति प्यारा होता है; **आत्मनः तु**—अपने (आत्मा के) तो; **कामाय**—स्वार्थ के लिए; **पतिः प्रियः भवति**—पति प्रिय होता है; **न वै अरे**—अरी ! नहीं तो; **जायायै**—पत्नी के; **कामाय**—स्वार्थ के लिए; **जाया**—पत्नी; **प्रिया भवति**—प्यारी होती है; **आत्मनः तु कामाय**—अपने स्वार्थ के लिए; **जाया प्रिया भवति**—पत्नी प्रेमपात्र होती है; **न वै अरे**—अरी (मैत्रेयि) ! नहीं तो; **पुत्राणाम्**—पुत्रों के; **कामाय**—चाहना (इच्छा-पूर्ति, स्वार्थ) के लिए; **पुत्राः प्रियाः भवन्ति**—पुत्र प्यारे होते हैं; **आत्मनः तु कामाय**—अपनी इष्ट-पूर्ति के लिए; **पुत्राः प्रियाः भवन्ति**—पुत्र प्यारे होते हैं; **न वै अरे**—नहीं तो; **वित्तस्य**—धन की; **कामाय**—स्वार्थ के लिए; **वित्तम् प्रियम् भवति**—धन प्रिय होता है; **आत्मनः तु कामाय**—अपनी इष्ट-पूर्ति के लिए; **वित्तम् प्रियम् भवति**—धन प्रिय होता है; **न वै अरे**—नहीं ही तो अरी !; **ब्रह्मणः**—ब्रह्म (वेद-ज्ञान या ब्राह्मण) के; **कामाय**—स्वार्थ के लिए; **ब्रह्म**—ब्रह्म (वेद-ज्ञान, ब्राह्मण); **प्रियम्**

प्रिय होते हैं; अरे, देवों की कामना के लिये देव प्रिय नहीं होते, अपने आत्मा की कामना के लिये देव प्रिय होते हैं; अरे, भूतों की कामना के लिये भूत प्रिय नहीं होते, अपने आत्मा की कामना के लिये भूत प्रिय होते हैं; अरे, इस सब-कुछ की कामना के लिये यह सब-कुछ प्रिय नहीं होता, अपने आत्मा की कामना के लिये यह सब-कुछ प्रिय होता है। जिस आत्मा के लिये यह सब प्रिय होता है, अरे, वह आत्मा ही तो द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है, मन्तव्य है, निदिध्यासितव्य है—उसी को देख, उसी को सुन, उसी को जान, उसी का ध्यान कर। अरे मैत्रेयी! आत्मा के ही देखने से, सुनने से, समझने से और जानने से सब गाँठें खुल जाती हैं ॥५॥

भवति—प्रिय होता है, आत्मनः तु कामाय—अपने (आत्मा के) स्वार्थ के लिए, ब्रह्म प्रियम् भवति—ब्रह्म प्रिय होता है, न वै अरे—नहीं तो हे मैत्रेयि!, क्षत्रस्य—क्षात्र-धर्म या क्षत्रिय के, कामाय—लाभ के लिए, क्षत्रम् प्रियम् भवति—क्षात्र-धर्म या क्षत्रिय प्रिय होता है; आत्मनः तु कामाय—अपने लाभ के लिए, क्षत्रम् प्रियम् भवति—क्षात्र-धर्म या क्षत्रिय प्रिय होता है, न वै अरे—नहीं तो, लोकानाम्—लोकों की, कामाय—स्वार्थ-पूर्ति के लिए, लोकाः प्रियाः भवन्ति—लोक प्यारे होते हैं, आत्मनः तु कामाय लोकाः प्रियाः भवन्ति—अपने स्वार्थ के लिए लोक प्यारे होते हैं, न वै अरे—नहीं तो, देवानाम् कामाय—देवताओं (विद्वानों) के स्वार्थ-निमित्त से, देवाः प्रियाः भवन्ति—देव-गण प्रिय होते हैं, आत्मनः तु कामाय—अपने स्वार्थ-निमित्त से, देवाः प्रियाः भवन्ति—देव-गण प्रिय होते हैं, न वै अरे—नहीं तो, भूतानाम्—चर-अचर भूतों के, कामाय—कामना के लिए, भूतानि प्रियाणि भवन्ति—भूत (प्राणी) प्रिय होते हैं, आत्मनः . . भवन्ति—अपने स्वार्थ के लिए भूत प्रिय होते हैं, न वै अरे—नहीं तो, सर्वस्य—सब जगत् के; कामाय—स्वार्थ के लिए, सर्वम् प्रियम् भवति—सब प्रिय होता है, आत्मनः . . भवति—अपने ही स्वार्थ के लिए सब प्रिय होता है, आत्मा वै—आत्मा को ही; अरे—अरी!; द्रष्टव्यः—देखना (जानना) चाहिये, श्रोतव्यः—(उसकी चर्चा-व्याख्यान) सुनना चाहिए; मन्तव्यः—(उस पर) मनन-चिन्तन करना चाहिए, निदिध्यासितव्यः (उसका ही) विशेष ध्यान रखना चाहिए, मैत्रेयि—हे मैत्रेयि!; आत्मनः—आत्मा (आत्म-स्वरूप) के; दर्शनेन—दर्शन (ज्ञान) से, श्रवणेन—(उपदेश) सुनने से; मत्या—मनन करने से; विज्ञानेन—पूर्णतया जान लेने से; इदम् सर्वम्—यह सब (चराचर-जगत्); विदितम्—ज्ञात हो जाता है, सब-कुछ प्राप्त हो जाता है ॥५॥

इस अपने भीतर के आत्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जो ब्राह्म-शक्ति को आत्मा से भिन्न जानता है, उसे ब्राह्म-शक्ति त्याग देती है; जो क्षात्र-शक्ति को आत्मा से भिन्न जानता है, उसे क्षात्र-शक्ति त्याग देती है; जो लोकों को आत्मा से भिन्न समझता है, उसे लोक त्याग देते हैं; जो देवों को, भूतों को, इस सब-कुछ को आत्मा से भिन्न समझता है, उसे देव, भूत, यह सब-कुछ त्याग देता है। आत्मा ही ब्राह्म-शक्ति है, यही क्षात्र-शक्ति है, यही लोक हैं, यही देव हैं, यही भूत हैं, यह आत्मा ही सब-कुछ है, इसलिये इसी की कामना के लिये सब प्रिय होता है—इसलिये आत्मा को जानो, आत्मा को जानो ॥६॥

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रा-त्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा ॥६॥

ब्रह्म—वेद, ज्ञान, ब्राह्मण; **तम्**—उसको; **परादात्** (परा+अदात्)—त्याग देता है, छोड़ देता है; **यः**—जो; **अन्यत्र**—दूसरे (स्थान) में; **आत्मनः**—आत्मा से; **ब्रह्म**—वेद (ज्ञान) को, ब्राह्म-शक्ति को; **वेद**—जानता है; **क्षत्रम्**—क्षात्र-शक्ति, प्राण-शक्ति; **तम् परादात्**—उसको छोड़ देती है; **यः**—जो; **अन्यत्र आत्मनः**—आत्मा से अलग अन्य स्थान में (स्थित); **क्षत्रम्**—रक्षा-शक्ति को; **वेद**—समझता है; **लोकाः**—लोक (जनता); **तम्**—उसको; **परादुः** (परा+अदुः)—छोड़ जाती है; **यः अन्यत्र आत्मनः**—जो अपने से अलग; **लोकान् वेद**—लोकों (जन-सामान्य) को जानता है; **देवाः**—देव-गण (आदित्य आदि), इन्द्रियां, प्राण आदि; **तम् परादुः**—उसको त्याग देते हैं (अपने से वंचित कर देते हैं); **यः अन्यत्र आत्मनः**—जो अपने आत्मा से अलग; **देवान् वेद**—देवों को जानता है; **भूतानि**—पंचमहाभूत एवं प्राणी; **तम् परादुः**—उसको छोड़ देते हैं; **यः अन्यत्र आत्मनः**—जो अपने आत्मा से अन्यत्र; **भूतानि वेद**—भूतों को जानता है; **सर्वम्**—सब कुछ ही, सब ही; **तम् परादात्**—उसको छोड़ जाते हैं; **यः आत्मनः अन्यत्र**—जो आत्मा से भिन्न स्थान में; **सर्वम् वेद**—सब को जानता है; **इदम् ब्रह्म**—यह ज्ञान; **इदम् क्षत्रम्**—यह क्षात्र-कर्म; **इमे लोकाः**—ये लोक (जनता); **इमे देवाः**—ये देव (विद्वान् पुरुष, इन्द्रियां); **इमानि भूतानि**—ये सब भूत (पंच महाभूत, प्राणी); **इदम् सर्वम्**—ये सब कुछ; **यद् अयम् आत्मा**—

दुन्दुभि पर जब चोट देते हैं, तब उससे शब्द निकल-निकल कर बाहर आते हैं। इन शब्दों को अलग-से नहीं पकडा जा सकता। इन्हें पकडना हो, तो दुन्दुभि को पकड लो, या दुन्दुभि को चोट देने वाले को पकड लो, और बस, यह ढोल-का-सा तमोगुणी शब्द पकड़ा जाता है। ठीक इसी तरह आत्मा इन्द्रिय-रूपी दुन्दुभि को पीट कर संसार के ढोल-के-से तमोगुण-रूपी शब्द उत्पन्न कर रहा है। संसार को पकडना हो, तो इन्द्रियों को पकड़ लो, और उससे बढ कर आत्मा को पकड़ लो ॥७॥

शंख जब पूरा जाता है, तो उससे निकले हुए शब्दों को अलग-से नहीं पकडा जा सकता। इन्हें पकडना हो, तो शंख को पकड़ लो, या शंख को पूरने वाले को पकड लो, और बस, यह शंख-का-सा रजोगुणी शब्द पकडा जाता है। इसी प्रकार ससार के शंख-के-से रजोगुण-रूपी शब्द को पूरने वाले आत्मा को पकड लो, उसी ने यह शंख पूर रखा है ॥८॥

जो यह आत्मा है (ये सब आत्मा के ही गुण आदि है, आत्मा के होने पर ही इनकी स्थिति और विकास है) ॥६॥

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्
ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥७॥

स—वह (कोई मनुष्य), यथा—जैसे, दुन्दुभे—दुन्दुभि (नगाडा) के, हन्यमानस्य—(डके से) पीटी जाती हुई, न—नही, बाह्यान्—(उससे उत्पन्न) बाहर के, शब्दान्—शब्दों को, शक्नुयात्—सके, ग्रहणाय—पकडने के लिए, (शक्नुयाद् ग्रहणाय—पकड सकता है), (किन्तु) दुन्दुभे—नगाडे के, तु—तो, ग्रहणेन—पकड लेने से, दुन्दुभि+आघातस्य—नगाडे पर चोट देनेवाले (डके) के, वा—या, शब्द—शब्द, गृहीत—पकड (काबू) मे आ जाता है ॥७॥

स यथा शंखस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्
ग्रहणाय शंखस्य तु ग्रहणेन शंखध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥८॥

स यथा—वह जैसे, शंखस्य—शंख के, ध्मायमानस्य—पूरे (बजाये) जाते हुए, न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय—(उससे उत्पन्न) बाहर के शब्दो को नही पकड सकता है, शंखस्य तु ग्रहणेन—शंख के तो पकड (काबू) मे

जब वीणा बजाई जाती है, तब उससे निकले हुए शब्दों को अलग-से नहीं पकड़ा जा सकता। इन्हें पकड़ना हो, तो वीणा को पकड़ लो, या वीणा बजाने वाले को पकड़ लो, और बस, यह वीणा-का-सा सत्त्वगुणी शब्द पकड़ा जाता है। इसी प्रकार इस जगत् के वीणा-के-से सत्त्वगुण-रूपी शब्द को बजाने वाले आत्मा को पकड़ लो, उसी ने ये तार बजाये हैं ॥९॥

जिस प्रकार गीली लकड़ियां जलायी जांय, तो आग से अलग धूंआ बाहर निकल पड़ता है, अरे मैत्रेयी! इसी प्रकार इस महान् भूत, महान्-शक्ति आत्मा का यह निश्वास है, बाहर की ओर लिया गया सांस है, जो ऋक्, यजु, साम, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान हैं। ये सब इसी आत्मा के मानो निश्वास हैं, बाहर निकले हुए सांस हैं ॥१०॥

कर लेने से; **शंखध्मस्य**—शंख को फूंकने (बजाने) वाले के; **वा**—या; **शब्दः गृहीतः**—शब्द काबू में आ जाता है ॥८॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥९॥

सः यथा—वह जैसे; **वीणायै**—वीणा के; **वाद्यमानायै**—बजाई जाती हुई; **न. . .ग्रहणाय**—अर्थ पूर्ववत्; **वीणायै तु ग्रहणेन**—वीणा के तो काबू में कर लेने से; **वीणावादस्य वा**—या वीणा के बजानेवाले को पकड़ लेने से; **शब्दः गृहीतः**—शब्द काबू में आ जाता है ॥९॥

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि ॥१०॥

सः यथा—वह जैसे; **आर्द्र+एध+अग्नेः**—गीले ईंधनवाली अग्नि से; **अभ्याहितात्**—प्रदीप्त की हुई; **पृथक्**—अलग; **धूमाः**—धुएं; **विनिश्चरन्ति**—निकल कर फैल जाते हैं; **एवम् वै**—ऐसे ही; **अरे**—अरी मैत्रेयि!; **अस्य**—इस; **महतः**—महान्; **भूतस्य**—सत्तावाले (ब्रह्म) के; **निश्वसितम्**—बाहर निकले सांस के समान (उससे अनायास उत्पन्न हुए हैं); **एतत्**—यह सब; **यद्**—जो-कुछ है; **ऋग्वेदः**—ऋग्वेद; **यजुर्वेदः**—यजुर्वेद; **सामवेदः**—सामवेद; **अथर्वाङ्गिरसः**—अथर्ववेद; **इतिहासः**—इतिहास; **पुराणम्**—सृष्टि का वर्णन; **विद्याः**—नाना विद्याएं (ज्ञान-शाखाएं); **उपनिषदः**—उपनिषद् (रहस्य-बोधक

जैसे सब जल समुद्र को पहुंचते हैं, सब स्पर्श त्वचा को, सब गन्ध नासिका को, सब रस जिह्वा को, सब रूप चक्षु को, सब शब्द श्रोत्र को, सब संकल्प मन को, सब विद्या हृदय को, सब कर्म हस्त को, सब आनन्द उपस्थ को, सब विसर्ग पायु को, सब गति पावों को, वैसे सब वेद, इतिहास, पुराण जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, वाणी को पहुंचते हैं, और वाणी आत्मा द्वारा विकसित होती है, इसलिये आत्मा ही से सृष्टि के संपूर्ण प्रवाह का प्रसार है ॥११॥

ग्रन्थ), श्लोका—सूक्तियां (छन्दोबद्ध रचनाएं), सूत्राणि—सूत्ररूप में प्रतिपादित दर्शन शास्त्र आदि, अनुव्याख्यानानि—उपव्याख्यान, व्याख्यानानि—मंत्रों की व्याख्यायें, अस्य एव—इस ब्रह्म के ही, एतानि सर्वाणि—ये सब, निश्वसितानि—निश्वास के समान हैं (उससे अनायास उत्पन्न—जात हुए हैं) ॥१०॥

स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनमेवं सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनमेवं सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवं सर्वेषां रसानां जिह्वैकायनमेवं सर्वेषां रूपाणां चक्षुरेकायनमेवं सर्वेषां शब्दानां श्रोत्रमेकायनमेवं सर्वेषां संकल्पानां मन एकायनमेवं सर्वासां विद्यानां हृदयमेकायनमेवं सर्वेषां कर्मणां हस्तावेकायनमेवं सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवं सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवं सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवं सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥११॥

स यथा—वह जैसे, सर्वासाम्—सारे, अपाम्—जलों का, समुद्र—समुद्र, एकायनम्—एक आधार-स्थान है (वहां ही सब एकत्र होते हैं), एवम्—इस प्रकार, सर्वेषाम्—सारे, स्पर्शानाम्—छूने से उत्पन्न ज्ञान का, त्वग्—त्वचा, एकायनम्—केन्द्र-स्थान है, एवम् सर्वेषाम् गन्धानाम्—इस ही प्रकार सब गन्ध-ज्ञानों का, नासिके—नासिका, नाक, एकायनम्—केन्द्र-बिन्दु है, एवम् सर्वेषाम्—ऐसे सब, रसानाम्—स्वादों का, जिह्वा—जीभ, एकायनम्—केन्द्र-स्थान है, एवम् सर्वेषाम्—ऐसे सारे, रूपाणाम्—नेत्र से उत्पन्न ज्ञान का, चक्षु—नेत्र, एकायनम्—केन्द्र-स्थल है, एवम् सर्वेषाम्—ऐसे सब, शब्दानाम्—सुने शब्दों का, श्रोत्रम्—कान, एकायनम्—आधार-स्थान है, एवम् सर्वेषाम्—ऐसे सारे, संकल्पानाम्—मनन चिन्तन का, मन एकायनम्—मन (अन्तःकरण) अन्तिम आधार है, एवम् सर्वासाम्—ऐसे सारी, विद्यानाम्—ज्ञान-विज्ञानों का, हृदयम् एकायनम्—हृदय एकमात्र आधार (गति) है, एवम् सर्वेषाम्—ऐसे सारे, कर्मणाम्—कर्म (प्रयत्न, चेष्टाओं) का, हस्तौ—(कर्मेन्द्रिय) दोनों हाथ, एकायनम्—एकमात्र गति हैं, एवम्

जैसे नमक की खील पानी में डाल दी जाय, वह पानी में ही विलीन हो जाती है, उसे पानी में से निकाला नहीं जा सकता, पानी को जहां-जहां से लिया जाय, उसमें नमक ही घुला मिलता है, अरे मैत्रेयी ! इसी प्रकार यह महान् जीवन-शक्ति, यह अनन्त, अपार, विज्ञान-घन आत्मा इन भूतों के साथ ही प्रकट होता है, उनमें घुला-मिला मिलता है, और इन भूतों में ही जा छिपता है । जब तक वह भूतों में प्रकट हो रहा है, तभी तक उसके नाम हैं, उसकी संज्ञा है, उसके यहां से चले जाने पर उसकी कोई संज्ञा नहीं रहती । याज्ञवल्क्य ने कहा, अरे मैत्रेयी, यह रहस्य की बात है जिसे मैं तुझे बता रहा हूं ॥१२॥

सर्वेषाम्—ऐसे सारे; **आनन्दानाम्**—(अनुभव में आनेवाले) आनन्दों का; **उपस्थः**—जनन-इन्द्रिय; **एकायनम्**—आधार-स्थल है; **एवम् सर्वेषाम्**—ऐसे सारे; **विसर्गाणाम्**—मल-त्याग (मलों का बाहर होना) का; **पायुः**—गुदा-स्थान; **एकायनम्**—केन्द्र है; **एवम् सर्वेषाम्**—ऐसे सारे; **अध्वनाम्**—मार्गों (गति—चलना-फिरना) का; **पादौ**—दोनों पांव; **एकायनम्**—आधार हैं; **एवम् सर्वेषाम्**—ऐसे सारे; **वेदानाम्**—वेद-वचन (उपदेश) का; **वाग्**—वाणी; **एकायनम्**—आधार, परम-गति, अन्तिम पहुंच है ॥११॥

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयते न हास्योद्ग्रहणायेव स्याद्यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥१२॥

सः यथा—वह जैसे; **सैन्धव-खिल्यः**—सैन्धव (सेंधा नमक) की खील (कंकर); **उदके**—जल में; **प्रास्तः**—डाली हुई; **उदकम्**—जल को (में); **एव**—ही; **अनुविलीयेत**—धीरे-धीरे घुल जाती है; **न ह**—नहीं तो; **अस्य**—इस नमक-खील के; **उद्ग्रहणाय**—ऊपर (बाहर) निकालने के लिए; **इव**—मानो; **स्यात्**—संभव (समर्थ) होता है; **यतः यतः**—जहां-जहां से; **आददीत**—लेवे; **लवणम् एव**—(वहां-वहां) नमक ही है; **एवम् वै**—ऐसे ही; **अरे**—हे मैत्रेयि ! ; **इदम्**—यह; **महद् भूतम्**—महान् (सनातन) ब्रह्म; **अनन्तम्**—अनन्त; **अपारम्**—अपार है; **विज्ञानघनः**—ज्ञान-स्वरूप; **एव**—ही; **एतेभ्यः**—इन; **भूतेभ्यः**—भूतों (प्रकृति-विकारों) से; **समुत्थाय**—ऊपर उठ कर; **तानि एव अनु**—उन भूतों में ही फिर; **विनश्यति**—लीन हो जाता है, छिप-सा जाता है; **न**—नहीं; **प्रेत्य**—मर कर (लीन होने पर); **संज्ञा**—(उसका) सम्यग्-ज्ञान;

मैत्रेयी बोली, भगवन् ! आपने यह कहकर कि यहां से चले जाने पर उसकी कोई संज्ञा नहीं रहती, मुझे घबराहट में डाल दिया। याज्ञवल्क्य ने कहा, मैं तुझे घबराहट में डालने के लिये कुछ नहीं कह रहा। मैं जो-कुछ कह रहा हूं, उसे समझने के लिये यह-सब कहना भी जरूरी है ॥१३॥

जब आत्मा भूतों में प्रकट होता है, तभी तो 'द्वैत' होता है, 'द्वैत' में ही आत्मा विषय को सूंघता है, आत्मा विषय को देखता है, एक-दूसरे से बात करता है, एक-दूसरे की बात समझता है, एक दूसरे को पहचानता है। परन्तु जब यह भूतों से अलग होकर, अपने आत्मा के सम्पूर्ण-रूप में पहुंच जाता है, तब यह किससे किसको

अस्ति—होता है, (न प्रेत्य संज्ञा अस्ति—जीवात्मा के मरने के बाद कोई संज्ञा—पिछला सम्बन्ध—नहीं बना रहता है), इति—ऐसे, अरे—हे मैत्रेयि, ब्रवीमि—मैं तुझे कह (बता) रहा हूं, इति ह उवाच याज्ञवल्क्यः—ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा ॥१२॥

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति स होवाच याज्ञवल्क्यो न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय ॥१३॥

सा ह उवाच मैत्रेयी—(यह सुनकर) उस मैत्रेयी ने कहा कि; अत्र एव—यहा (इस विषय में) ही, मा—मुझको, भगवान्—आपने, अमूमुहत्—मोह (अज्ञान-से) में डाल दिया; न प्रेत्य संज्ञा अस्ति—मरने के बाद कोई नाम (स्थिति) नही रहता; इति—यह (कहकर); स ह उवाच याज्ञवल्क्यः—उस याज्ञवल्क्य ने कहा (उत्तर दिया), न वै अरे—नही तो हे मैत्रेयि !, अहम्—मैं; मोहम्—मोह (ज्ञानाभास) की बात, व्यर्थ चर्चा, ब्रवीमि—कह रहा हूं; अलम्—पर्याप्त, समर्थ, आवश्यक है; वै—ही; अरे—हे मैत्रेयि !, इदम्—यह (कथन); विज्ञानाय—विशेष ज्ञान के लिए ॥१३॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत् केन कं मन्वीत तत् केन कं विजानीयाद्येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥१४॥

यत्र हि—जहां ही, द्वैतम् इव—द्वित्व-(दो का होना) सा; भवति—होता है, तद्—वहां, इतरः—कोई एक, इतरम्—दूसरे को; जिघ्रति—सूंघता है;

सूंघे, किस से किस को देखे, किस से किस को सुने, किस से किस को कहे, किस से किस को समझे, किस से किस को पहचाने ? आत्मा ही से तो सब-कुछ जानता-पहचानता है, फिर आत्मा को किस से जाने-पहचाने ? अरे मैत्रेयो ! जानने वाले को किस से जाने ? इसीलिये मैं कहता हूं कि जब आत्मा को भूतों से अलग कर दिया जाय, तब उसकी संज्ञा नहीं रहती, उस समय वह अपने अनिर्वचनीय रूप में जा पहुंचता है, नष्ट नहीं हो जाता ॥१४॥

द्वितीय अध्याय—(पांचवां ब्राह्मण)

(मधु-विद्या अथवा ब्रह्म-विद्या)

याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को 'आत्म-तत्त्व' का उपदेश देते हुए ब्रह्मांड (समष्टि) तथा पिंड (व्यष्टि)—इन दोनों में—'आत्म-तत्त्व' है, इस रहस्य को समझाते हैं—

यह 'पृथिवी' सब प्राणियों को मधु-समान प्यारी है, पृथिवी को सब प्राणी मधु-समान प्यारे हैं। पृथिवी में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; शरीर में

तद्....पश्यति—देखता है; **तद्....शृणोति**—सुनता है; **तद्....अभिवदति**—बोलता-चालता है; **तद्...मनुते**—समझता है, मनन करता है; **तद्....विजानाति**—जानता है; **यत्र वै**—जहां (जिस अवस्था में) तो; **अस्य**—इस (ज्ञानी) के लिए; **सर्वम्**—सब; **आत्मा एव अभूत्**—आत्मा ही हो गया (और की सत्ता का भान ही न रहा); **तत्**—तो (उस अवस्था में); **केन**—किससे; **कम्**—किसको; **जिघ्रेत्**—सूंघे; **तत्...पश्येत्**—देखे; **तत्....शृणुयात्**—सुने; **तत्...अभिवदेत्**—बातचीत करे; **तत्....मन्वीत**—समझे, मनन करे; **तत्....विजानीयात्**—जाने; **येन**—जिसके द्वारा; **इदम् सर्वम्**—इस सब को; **विजानाति**—जानता है; **तम्**—उसको; **केन**—किससे; **विजानीयात्**—जाने; **विज्ञातारम्**—(स्वयं अन्य को) जाननेवाले को; **अरे**—हे मैत्रेयि !; **केन**—किससे; **विजानीयात्**—जाने; **इति**—यह (सब तेरे विज्ञान के लिये ही तो है) ॥१४॥

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥१॥

भी व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥१॥

ये 'जल' सब प्राणियों को मधु-समान प्यारे हैं, जलों को सब प्राणी मधु-समान प्यारे हैं। जलों में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है, शरीर में भी व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥२॥

इयम् पृथिवी—यह पृथिवी, सर्वेषाम् भूतानाम्—सब भूतों (पञ्चभूत प्राणी) को, मधु—मधुर, सार, अन्तिम परिणाम है, अस्यै पृथिव्यै—इस पृथिवी के, सर्वाणि भूतानि—सारे ही भूत, मधु—प्रिय, सार हैं, य च अयम्—और जो यह, अस्याम्—इस, पृथिव्याम्—पृथिवी में, तेजोमय—तेज (प्रकाश) सपन्न, अमृतमय—अमर, पुरुष—परम ब्रह्म (व्याप रहा है), य च अयम्—और जो यह, अध्यात्मम्—आत्मा के (पिण्ड शरीर) में, शारीर—शरीर का स्वामी, देही, तेजोमय अमृतमय—तेजस्वी, और अमर, पुरुष—जीवात्मा है, अयम् एव स—यह ही वह है, य अयम्—जो यह (हमारा ज्ञेय), आत्मा—आत्मा है, इदम् अमृतम्—यह अमर है, इदम् ब्रह्म—यह ब्रह्म (बड़ा-श्रेष्ठ) है, इदम् सर्वम्—यह ही सब-कुछ है ॥१॥

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वासामपां सर्वाणि भूतानि मधु यश्चा-यमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं रैतसस्तेजो-मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥२॥

इमा आपः—ये जल, सर्वेषाम् भूतानाम्—सब भूत प्राणियों के, मधु—प्रिय सार हैं, आसाम्—इन, अपाम्—जलों के, सर्वाणि भूतानि—सारे भूत, मधु—प्रिय, सार हैं, य च अयम्—और जो यह, आसु—इन, अप्सु—जलों में, तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः—तेजोमय, अमर पुरुष (परमात्मा) है, य च अयम्—और यह जो, अध्यात्मम—आत्म-सबधी पिण्ड में, रैतसः—वीर्य से उत्पन्न (शरीरधारी) या जलमय, तेजोमयः अमृतमयः—तेज स्वरूप, अमृतमय, पुरुष—जीवात्मा है, अयम् सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

यह 'अग्नि' सब प्राणियों को मधु-समान प्यारी है, अग्नि को सब प्राणी मधु-समान प्यारे हैं। अग्नि में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; शरीर में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥३॥

यह 'वायु' सब प्राणियों को मधु-समान प्रिय है, वायु को सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। वायु में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; शरीर में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥४॥

यह 'आदित्य' सब प्राणियों को मधु-समान प्रिय है, आदित्य को सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। आदित्य में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; शरीर में

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-
मस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजो-
मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥३॥

अयम् अग्निः—यह अग्नि; ...अस्य अग्नेः—इस अग्नि के; ...अस्मिन् अग्नौ—इस अग्नि में; ...वाङ्मयः—वाणी-स्वरूप; ...सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-
मस्मिन्वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजो-
मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥४॥

अयम् वायुः—यह वायु; ...अस्य वायोः—इस वायु के; ...अस्मिन् वायौ—इस वायु में... प्राणः—प्राण (श्वास-प्रश्वास) रूप; ...सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्यादित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु
यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुष-
स्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥५॥

अयम् आदित्यः—यह सूर्य; ...अस्य आदित्यस्य—इस सूर्य के; ...अस्मिन्

व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥५॥

ये 'दिशाएं' सब प्राणियों को मधु-समान प्रिय हैं, दिशाओं को सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। दिशाओं में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है, शरीर में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥६॥

यह 'चन्द्र' सब प्राणियों को मधु-समान प्रिय है, चन्द्र को सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। चन्द्र में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; शरीर में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥७॥

आदित्ये—इस सूर्य में चाक्षुष—नेत्र संबंधी, नेत्र का अधिष्ठाता (नेत्र रूप में) सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥५॥

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशां सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-
मासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं श्रौत्रः प्रातिश्रुत्क-
स्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥६॥

इमा दिशः—ये दिशाएं, आसाम् दिशाम्—इन दिशाओं के, आसु दिक्षु—इन दिशाओं में, श्रौत्र—श्रोत्र (कान) का स्वामी, अधिष्ठाता, प्रातिश्रुत्क—प्रतिश्रवण करने को उत्सुक, सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥६॥

अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-
मस्मिंश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजो-
मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥७॥

अयम् चन्द्र—यह चन्द्रमा, अस्य चन्द्रस्य—इस चन्द्रमा के अस्मिन् चन्द्रे—इस चन्द्रमा में, मानस—मन का अधिष्ठाता, सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥७॥

यह 'विद्युत्' सब प्राणियों को मधु-समान प्रिय है, विद्युत् को सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। विद्युत् में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृत-मय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; शरीर में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥८॥

यह 'स्तनयित्नु'—गरजने वाला बादल—सब प्राणियों को मधु-समान प्रिय है, स्तनयित्नु को सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। मेघ में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है, शरीर में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥९॥

यह 'आकाश' सब प्राणियों को मधु-समान प्रिय है, आकाश को सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। आकाश में व्याप रहा जो तेजोमय,

---

इयं विद्युत्सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-
मस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजो-
मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदँ सर्वम् ॥८॥

इयम् विद्युत्—यह बिजली; ...अस्याः विद्युतः—इस बिजली के; ... अस्याम् विद्युति—इस बिजली में; ...तैजसः—तेज का अधिपति; ...सर्वम् —अर्थ पूर्ववत् ॥८॥

अयँ स्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्नोः
सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिँस्तनयित्नौ तेजोमयो-
ऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मँ शाब्दः सौवरस्तेजोमयो-
ऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदँ सर्वम् ॥९॥

अयम्—यह; स्तनयित्नुः—कड़कती गरजवाला बादल; ...अस्य—इस; स्तनयित्नोः—गरजते बादल के...अस्मिन्—इस; स्तनयित्नौ—गरजते बादल में; ...शाब्दः—शब्द-सम्बन्धी; सौवरः—स्वर का अधिष्ठाता; ...सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥९॥

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चा-
यमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मँ हृद्याकाशस्ते-
जोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदँ सर्वम् ॥१०॥

अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्माड का 'आत्मा' है; शरीर में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥१०॥

यह 'धर्म'—संसार के धारण की शक्ति—सब प्राणियो को मधु-समान प्रिय है, धारण-शक्ति को सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। धारण-शक्ति का अधिष्ठाता जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्माड का 'आत्मा' है; शरीर की धारण-शक्ति का अधिष्ठाता जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥११॥

यह 'सत्य'—वह सचाई जो विश्व का आधार-भूत तत्त्व है—सब प्राणियों को मधु-समान प्रिय है, सत्य को सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। 'सत्यमेव जयते नानृतम्' की विश्व-शक्ति का अधिष्ठाता जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्माड का 'आत्मा' है; शरीर में भी सत्य ही टिकता है, असत्य नहीं, शरीर की इस

अयम् आकाश—यह आकाश, अस्य आकाशस्य—इस आकाश का, अस्मिन् आकाशे—इस आकाश में, हृदि—हृदय मे, आकाश—आकाश है, सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥१०॥

अय धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धार्मस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥११॥

अयम्—यह, धर्म—धर्म (धारक), अस्य धर्मस्य इस धर्म का, अस्मिन् धर्मे—इस धर्म (धारक-शक्ति) मे, धार्म—धर्म का स्वामी (कर्ता), सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥११॥

इदं सत्यं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं सात्यस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥१२॥

इदम्—यह, सत्यम्—सत्य (सब की सत्ता-अस्तित्व का मूल), अस्य सत्यस्य—इस सत्य के, अस्मिन् सत्ये—इस सत्य मे, सात्य—सत्य का अनुष्ठाता (पालक), सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥१२॥

सत्य-शक्ति का अधिष्ठाता जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥१२॥

यह 'मानुष-भाव'—इन्सानियत (Humanity)—सब प्राणियों को मधु-समान प्रिय है, मानुष-भाव को सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। मानुष-भाव में जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा ही यह सब-कुछ है ॥१३॥

यह 'आत्म-भाव'—अहंभाव—सब प्राणियों को मधु-समान प्रिय है, 'आत्म-भाव' को सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। विश्व के आत्म-भाव में जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; व्यक्ति के आत्म-भाव में जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥१४॥

सो, यह 'आत्मा' समष्टि में ब्रह्मांड के पांचों महाभूतों का अधिपति है और व्यष्टि में पिंड-युक्त सब प्राणियों का राजा है। यह

इदं मानुषं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥१३॥

इदम्—यह; मानुषम्—मनुष्यत्व (मनुज-धर्म); . . .अस्य मानुषस्य—इस मनुष्य-धर्म (मनुष्यता) के; . . .अस्मिन् मानुषे—इस मनुष्यपन में;. . . सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥१३॥

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥१४॥

अयम् आत्मा—यह आत्मा. . .अस्य आत्मनः—इस आत्मा के; . . .अस्मिन् आत्मनि—इस आत्मा में . . .यः च अयम् आत्मा—और जो यह (देही आत्मा) स्वयं (पिण्ड में) है. . .सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥१४॥

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः ॥१५॥

'आत्मा' विश्व-रूपी रथ की 'नाभि' भी है, 'नेमि', अर्थात् परिधि भी है। अरे भीतर से नाभि से जुड़े होते हैं, बाहर से परिधि से जुड़े रहते हैं, तभी टिकते हैं, इसी प्रकार सब भूत, सब देव, सब लोक, सब प्राण और सब जीवात्मा इसी परमात्मा में एक तरफ से उसकी नाभि और दूसरी तरफ से उसकी परिधि में टिके हुए हैं, उसी में समर्पित हैं, अपने को उसी पर वार रहे हैं ॥१५॥

याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा कि जो-कुछ मैंने तुझे उपदेश दिया, भगवद्-भक्तों में इसका नाम 'मधु-विद्या' प्रसिद्ध है। इस विद्या का किसी समय उपदेश अथर्व-गोत्री दध्यङ् ने अश्वियों को दिया था। दध्यङ् ऋषि ने इस विद्या के रहस्य को देखकर अश्वियों को कहा था—नरों के, अर्थात् मनुष्य-जाति के कल्याण के लिए मैं इस उग्र कर्म को कर रहा हूं, जैसे गाढान्धकार में विद्युत् के कड़कने के बाद घनघोर वृष्टि होती है, वैसे अविद्या के अन्धकार में 'मधु-विद्या' के इस उग्र उपदेश के बाद मानव-जाति के अन्तरात्मा में शान्ति की वर्षा होगी। अथर्व-गोत्री दध्यङ ने तुम दोनों अश्वि-कुमारों को अश्व के सिर से यह उपदेश दिया है—जैसे तुम अश्व के समान शीघ्र कार्य

स: वै—वह ही, अयम् आत्मा—यह (परम) आत्मा, सर्वेषाम्—सारे, भूतानाम्—भूतों (अचर पंचमहाभूत और चर प्राणी) का, अधिपति—रक्षक शासक, स्वामी, अधिष्ठाता है, सर्वेषाम् भूतानाम्—सब भूतों का, राजा—सर्व-शिरोमणि है, तत्—तो, यथा—जैसे, रथ-नाभौ—रथ के पहिये की नाभि (केन्द्र) में, रथ-नेमौ च—रथ के पहिये के घेरे (पुट्ठिया) में अरा—अरे, सर्वे—सारे, समर्पिता—संलग्न हैं, एवम् एव—ऐसे ही, अस्मिन् आत्मनि—इस (परम) आत्मा में, सर्वाणि भूतानि—सारे भूत, सर्वे देवा—सारे देव, सर्वे लोका—सारे लोक, सर्वे प्राणा—सारे प्राण, सर्वे एते—सारे ये, आत्मान—जीवात्मा, समर्पिता—संबद्ध, संयुक्त, उसमें व्याप्त है ॥१५॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषि पश्यन्नवोचत्।
तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम्।
दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेति ॥१६॥

इदम् वै—यह ही, तद्—वह, मधु—मधु (सार)-विद्या है (जिसको), दध्यङ्—दध्यङ् नामी ऋषि ने, आथर्वण—अथर्व-गोत्री या अथर्ववेद-ज्ञ, अश्विभ्याम्—अश्वि-कुमारों को, उवाच—उपदेश दिया था, तद् एतद्—उस

करने के कारण 'अश्व' हों, वैसे मैं भी अश्व के समान ही शीघ्र चिन्तन करने वाला हूं ॥१६॥

यह वही 'मधु-विद्या' है, जिसका अथर्व-गोत्री दध्यङ ऋषि ने अश्विकुमारों को उपदेश दिया था। 'मधु-विद्या' के रहस्य को देखते हुए किसी ऋषि ने अश्वियों को कहा था—क्योंकि तुम दोनों ने अथर्व-गोत्री दध्यङ का मस्तिष्क अश्व के समान तीव्र-गामी बना दिया, अर्थात् तुम-सरीखे योग्य शिष्यों को देखकर वह भी ज्ञान देने के लिये उत्सुक हो उठा, इसलिये उसने सत्य का पालन करते हुए तुम दोनों को 'कक्ष्य' अर्थात् गुप्त 'मधु-विद्या' का तथा 'त्वाष्ट्र' अर्थात् 'त्वष्टा'-सम्बन्धी 'ब्रह्म-विद्या' का उपदेश दिया ॥१७॥

इस (मधु-विद्या) को; **ऋषिः**—(कक्षीवान्) ऋषि ने; **पश्यन्**—देखते हुए (जानते हुए); **अवोचत्**—कहा था (ऋग्वेद, मं० १, सू० ११६, मन्त्र १२, में उपदेश दिया था); **तद्**—उस; **वाम्**—तुम दोनों के; **नरा**—मनुष्यो, न रमण करने वाले, नेताओ; **सनये**—लाभ के लिए, धन प्राप्ति के लिए; **दंसः**—कर्म को; **उग्रम्**—अधिक प्रयत्न-साध्य, कठिन; **आविष्कृणोमि**—प्रगट करता हूं; **तन्यतुः**—बादल; **न**—जैसे; **वृष्टिम्**—जल-वर्षा को; **दध्यङ**—दध्यङ ऋषि ने; **ह**—निश्चय से; **यत्**—जिस; **मधु**—मधु-विद्या को; **आथर्वणः**—अथर्व-गोत्री; **वाम्**—तुम दोनों को; **अश्वस्य**—अश्व (वीर्यवत्ता, शीघ्रता, व्याप्ति) के; **शीर्ष्णा**—सिर (विचार) से; **प्र**—प्रकर्षता से, अधिकता से; **यद्**—जो; **ईम्**—(यह अव्यय पाद-पूर्ति के लिए है इसका यहां कुछ अर्थ नहीं); **उवाच**—उपदेश दिया था; **इति**—यह (मन्त्र ऋग्वेद का है) ॥१६॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच, तदेतदृषिः
पश्यन्नवोचदाथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यँ शिरः प्रत्यैरयतम् ।
स वां मधु प्रवोचदृतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपि कक्ष्यं वामिति ॥१७॥

इदम्. . .अवोचत्—अर्थ पूर्ववत्; **आथर्वणाय**—अथर्व-गोत्री, अथर्ववेद-ज्ञ; **अश्विनौ**—हे अश्वि-कुमारो ! **दधीचे**—दध्यङ (धारणावती मेधा वाले) ऋषि के लिए; **अश्व्यम्**—ज्ञानमय; **शिरः**—मस्तक को; **प्रति+ऐरयतम्**—(प्रार्थना कर) प्रेरित किया (उत्सुक किया); **सः**—उसने; **वाम्**—तुम दोनों को; **मधु**—मधु-विद्या का; **प्रवोचत्**—उपदेश दिया; **ऋतायन्**—ऋत (सत्य प्रतिज्ञा) का पालन करते हुए, ऋत (सनातन गुरु-मर्यादा) का पालन करते हुए; **त्वाष्ट्रम्**—त्वष्टा (जगद्-रचयिता ब्रह्म) संबंधी; **यद्**—जो (ज्ञान है वह भी); **दस्रौ**—हिंसा प्रवृत्ति वाले, या कर्म में तत्पर; **अपि**—भी; **कक्ष्यम्**—रहस्य (गुप्त)

यह वही 'मधु-विद्या' है जिसका अथर्व-गोत्री दध्यङ् ऋषि ने अश्विकुमारों को उपदेश दिया था। 'मधु-विद्या' के रहस्य को देखते हुए किसी ऋषि ने कहा था—सृष्टि की रचना करते हुए भगवान् ने दोपायों की पुरी बनाई, चौपायों की पुरी बनाई, और वह पुरुष अपने बनाये इन घोंसलों में पक्षी-रूप होकर घुस बैठा। वही पुरुष जिसका हमने समष्टि-रूप से ब्रह्मांड में तथा व्यष्टि-रूप से पिंड में दर्शन किया, जिसे हमने 'आत्मा' कहा, वह इन सब पुरियों में प्रवेश किये बैठा है, इन्हीं में आराम से शयन कर रहा है, वही सबको बाहर से आवृत किये हुए है, वही सबको भीतर से संवृत किये हुए है ॥१८॥

आदेश, वाम्—तुम दोनों को (दध्यङ् ने दिया था), इति—यह (ऋग्वेद म० १, सू० ११७, मन्त्र २२; मन्त्र कक्षीवान् ऋषि ने स्पष्ट किया था) ॥१७॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः। पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशदिति। स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किंचनानावृतं नैनेन किंचनासंवृतम् ॥१८॥

इदम् अवोचत्—अर्थ पूर्ववत्, पुरः—(शरीर रूप) नगरियों को, चक्रे—रचना की, बनाया, द्विपद—दो पांव वाली (मनुष्य), पुरः—(शरीर रूप) नगरियों को, चक्रे—बनाया, चतुष्पदः—चार पांववाली (पशु), पुरः—नगरियों को; सः—वह (जीव आत्मा); पक्षी—पक्षी (रूप), भूत्वा—होकर (शरीर रूप पक्षियों की नगरियां बनाकर), पुरः—आगे, पहिले (इन सब नगरियों में); पुरुषः—जीव आत्मा (तथा आत्मा में व्याप्त ब्रह्म भी), आविशत्—प्रविष्ट हुआ, इति—यह (मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने कहा), सः वै—वह ही, अयम्—यह, पुरुषः—(शरीर-रूप पुरी में शयन करने वाला) जीवात्मा तथा (जगद्-रूप पुरी में शयन करने वाला) परमात्मा; सर्वासु—सारी, पूर्षु—पुरी (नगरियों) में, पुरिशयः—नगरी में सोनेवाला (रहनेवाला) है; न—नहीं, एनेन—इस (पुरुष) से; किंचन—कुछ भी, अनावृतम्—(न+आवृतम्)—अनाच्छादित है (वह सब के बाहर भी है), न—नहीं; एनेन—इस (पुरुष) से, किंचन—कुछ भी; असंवृतम्—(अन्दर) अव्याप्त है (वह सबके अन्दर भी विराजमान है) ॥१८॥

यह वही 'मधु-विद्या' है, जिसका दध्यङ ऋषि ने अश्वि-कुमारों को उपदेश दिया था। 'मधु-विद्या' के रहस्य को देखते हुए किसी ऋषि ने कहा था—यह आत्मा जिस रूप के साथ अपने को जोड़ लेता है उसी का प्रतिरूप हो जाता है, उसी का रूप धारण कर लेता है, परन्तु यह प्रति-रूपपना सिर्फ़ देखने-मात्र का है, आत्मा का यथार्थ-रूप नहीं बदलता। जीवात्मा संसार की माया में खिचा-खिचा भिन्न-भिन्न रूपों को धारण कर भटकता फिरता है, इसे हरने वाले एक-सौ-दस हैं। ये हरने वाले, इसे प्रलोभनों में फंसाने वाले एक हों, दस हों, सहस्र हों, अनेक हों, अनन्त हों, परन्तु इसका अपना रूप, शुद्ध-रूप 'ब्रह्म' है, 'अपूर्व' और 'अनपर' है, 'अनन्तर' और 'अबाह्य' है—यह ऐसा है जिससे कोई पूर्व नहीं, जिसके कोई पीछे नहीं, जिसके कोई भीतर नहीं, जिसके कोई बाहर नहीं! यह आत्मा ब्रह्म है, यह बात 'सर्वानुभः' है, प्रत्येक प्राणी इस तत्त्व को अपने भीतर

इदं वै तन्मधु दध्यङङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच, तदेतदृषिः पश्यन्नवोचद्रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति। अयं वै हरयोऽयं वै दश सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ॥१९॥

इदम्...अवोचत्—अर्थ पूर्ववत्; **रूपम् रूपम्**—प्रत्येक रूप (दृश्य जगत्) के; **प्रतिरूपः**—समान रूप (आकृति) वाला; **बभूव**—हो रहा है; **तद्**—वह; **अस्य**—इस (पुरुष) का; **रूपम्**—स्वरूप; **प्रतिचक्षणाय**—देखने के लिए, उसका भान (ज्ञान मात्र) करने के लिए है; **इन्द्रः**—आत्मा व परमात्मा; **मायाभिः**—प्रकृति (प्रकृति के विकार—दृश्यजगत्) के रूपों से; **पुरुरूपः**—बहुत (विभिन्न) रूप वाला; **ईयते**—जाना जाता है, प्रतीत होता है; **युक्ताः**—जुड़े हुए हैं; **हि**—ही; **अस्य**—इस (पुरुष) के; **हरयः**—(इन्द्रिय रूप हरण करनेवाले) घोड़े; **शता**—सैंकड़ों; **दश**—दस; **इति**—यह (ऋग्वेद मण्डल ६, सू० ४७, मन्त्र १८, ऋषि ने देखा था); **अयम् वै**—यह ही; **हरयः**—इन्द्रियां, ब्रह्म की ज्ञान-बल-क्रिया रूप शक्तियां; **अयम् वै**—यह ही; **दश च सहस्राणि**—एक हज़ार दस; **बहूनि**—बहुत; **च**—और; **अनन्तानि च**—अनन्त हैं (विषयों के अनेक—अनन्त होने के कारण इन्द्रियां अनन्त हैं); **तद् एतद्**—वह यह (मधु-विद्या में निर्दिष्ट) ब्रह्म; **अपूर्वम्**—जिससे पहिले कोई न हो,

अनुभव करता है। याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से विदा लेते हुए कहा कि यही मेरा अनुशासन है, यही मेरा उपदेश है ॥१९॥

(दधीचि ऋषि के सम्बन्ध में दो कथानक पाये जाते हैं। एक तो यह कि वृत्रासुर को मारने के लिये उसने अपनी अस्थियां दे दीं, दूसरा यह कि उसने अश्वि-कुमारों को अश्व के सिर से मधु-विद्या का उपदेश दिया। दधीचि की हड्डियों से वृत्र के मारने का अभिप्राय तो यह है कि विद्वान् लोग जीवन में तो संसार का उपकार करते ही हैं, मरने के बाद उनकी हड्डियां भी संसार का उपकार ही करती हैं। दधीचि ने अश्व के सिर से अश्वि-कुमारों को 'मधु-विद्या' का उपदेश दिया, इसके सम्बन्ध में कथानक यह है कि जब अश्वि-कुमार दधीचि से 'मधु-विद्या' के रहस्य को जानने के लिये आये, तो दधीचि ने कहा कि इन्द्र ने मुझे इस विद्या का उपदेश देने से मना किया है। अश्वि-कुमारों ने कहा कि हम आपका सिर ऐसा बना देंगे कि इन्द्र पहचान ही न सके। उन्होंने दधीचि का सिर काटकर अलग रख दिया, और उसकी जगह अश्व का सिर लगा दिया। दधीचि ने अश्व के सिर से मधु-विद्या का उपदेश दिया। जब वह उपदेश दे चुका, तो इन्द्र ने आकर उसका सिर काट दिया। अश्वियों ने दधीचि के सिर को, जिसे उन्होंने संभाल कर रखा था, फिर धड़ से जोड़ दिया। इस कथानक का अभिप्राय क्या है? इसका अभिप्राय यह है कि गुरु तथा शिष्य की मस्तिष्क-शक्ति भिन्न-भिन्न होती है। अगर गुरु अपने मस्तिष्क से ही शिष्य को शिक्षा देने लगे, तो शिष्य के पल्ले कुछ न पड़े। इसलिये शिष्य के सिर के समान ही गुरु को अपने सिर को बनाना पड़ता है। अश्वि-कुमार का सिर अश्व का है, अर्थात् उनका मस्तिष्क

सब से पहिले विद्यमान, अनपरम् (न+अपरम्)—जिसके बाद में कोई न हो, अन्त तक रहनेवाला, अनन्तरम्—जिसके अन्दर कोई नहीं (अव्याप्य), अबाह्यम्—जिससे कोई बाहर नहीं (सर्व व्यापक), अयम्—यह, आत्मा—सतत ज्ञान-गमन-प्राप्ति शील, ब्रह्म—सब में बड़ा (श्रेष्ठ), सर्व+अनुभू—सब का अनुभव (ज्ञान) करनेवाला (सर्वज्ञ), या सबके अनुभव में आने वाला (स्व-संवेद्य) है, इति—यह हा, अनुशासनम्—पुनः पुनः उपदेश है ॥१९॥

अभी पशु-समान है, अतः दधीचि को भी अश्व का ही सिर चाहिये, उसी सतह पर उसे उतरना चाहिये। ऐसी अवस्था में मानो शिष्य गुरु का सिर काटकर अलग रख देता है। परन्तु अगर शिष्य पशु-का-पशु ही बना रहे, तो गुरु भी पशु के साथ ही टक्कर मारता रहेगा। इसलिये कथानक में शिष्यों के ऊपर यह उत्तरदायित्व डाल दिया कि शिष्य गुरु के सिर को फिर से जोड़ दे, स्वयं इतना योग्य बन जाय कि गुरु की ऊंची विचार-धारा के साथ अपनी विचार-धारा को मिला सके।)

द्वितीय अध्याय—(छठा ब्राह्मण)
(उपनिषद् की गुरु-शिष्य परम्परा)

उपनिषद् के रहस्य की परम्परा इस प्रकार चली आती है। सबसे पहले गुरु ब्रह्मा हैं। उसके बाद ब्रह्मा ने जिसे ज्ञान दिया, और उसने जिसे दिया, वह परम्परा निम्न प्रकार है :—

१. प्रथम गुरु 'स्वयंभू ब्रह्मा' हैं, २. उसने 'परमेष्ठी ब्रह्मा' को ज्ञान दिया, फिर क्रम यों चला : ३. सनग, ४. सनातन, ५. सनारु,

---

अथ वंशः पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥१॥

अथ—अब; **वंशः**—(नीचे से ऊपर की ओर निर्दिष्ट) वंश (गुरु-शिष्य-परम्परा) का वर्णन है (१) **पौतिमाष्यः गौपवनात्**—पौतिमाष्य ने गौपवन से; (२) **गौपवनः पौतिमाष्यात्**—गौपवन ने पौतिमाष्य से; (३) **पौतिमाष्यः गौपवनात्**—पौतिमाष्य ने गौपवन से; (४) **गौपवनः कौशिकात्**—गौपवन ने कौशिक से; (५) **कौशिकः कौण्डिन्यात्**—कौशिक ने कौण्डिन्य से; (६) **कौण्डिन्यः शाण्डिल्यात्**—कौण्डिन्य ने शाण्डिल्य से; (७) **शाण्डिल्यः कौशिकात् च गौतमात् च**—शाण्डिल्य ने कौशिक और गौतम (दोनों) से; (८) **गौतमः**—गौतम ने ॥१॥

आग्निवेश्यादाग्निवेश्यः शाण्डिल्याच्चानभिम्लाताच्चानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लातो गौतमाद्गौतमः सैतवप्राचीनयोग्याभ्यां सैतवप्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्पाराशर्यो भारद्वाजाद्भारद्वाजो भारद्वाजाच्च गौतमाच्च गौतमो भारद्वाजाद् भारद्वाजः पाराशर्यात् पाराशर्यो वैजवापायनाद् वैजवापायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥२॥

६. व्यष्टि, ७, विप्रचित्ति, ८. एकर्षि, ९. प्रध्वंसन, १०. मृत्यु-प्राध्वंसन, ११. अथर्वा दैव, १२. दध्यङ्, १३ अश्वि, १४. विश्वरूप त्वाष्ट्र, १५. आभूति त्वाष्ट्र, १६. अयास्य आंगिरस, १७. पथि सौभर, १८ वत्सनपात् बाभ्रव, १९. विदर्भी कौण्डिन्य, २० गालव, २१. कुमारहारित, २२. कैशोर्य काप्य, २३. शाण्डिल्य,

---

आग्निवेश्यात्—आग्निवेश्य से, (९) आग्निवेश्य शाण्डिल्यात् च आनभिम्लातात् च—आग्निवेश्य ने शाण्डिल्य और आनभिम्लात (दोनों) से, (१०) आनभिम्लात· आनभिम्लातात्—आनभिम्लात ने आनभिम्लात से, (११) आनभिम्लात आनभिम्लातात्—आनभिम्लात ने आनभिम्लात से, (१२) आनभिम्लात गौतमात्—आनभिम्लात ने गौतम से, (१३) गौतम· सैतव-प्राचीनयोग्याभ्याम्—गौतम ने सैतव और प्राचीनयोग्य (दोनों) से, (१४) सैतव-प्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्—सैतव और प्राचीनयोग्य (दोनों) ने पाराशर्य से, (१५) पाराशर्य· भारद्वाजात्—पाराशर्य ने भारद्वाज से, (१६) भारद्वाज· भारद्वाजात् च गौतमात् च—भारद्वाज ने भारद्वाज और गौतम (दोनों) से, (१७) गौतम· भारद्वाजात्—गौतम ने भारद्वाज से, (१८) भारद्वाज· पाराशर्यात्—भारद्वाज ने पाराशर्य से, (१९) पाराशर्य वैजवापायनात्—पाराशर्य ने वैजवापायन से, (२०) वैजवापायन कौशिकायने·—वैजवापायन ने कौशिकायनि से, (२१) कौशिकायनि—कौशिकायनि ने ॥२॥

घृतकौशिकाद् घृतकौशिक· पाराशर्यायणात्पाराशर्यायण· पाराशर्यात् पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद् भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद् गौतमो गौतमाद् गौतमो वात्स्याद्वात्स्य· शाण्डिल्याच्छाण्डिल्य· कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्य· काप्य· कुमारहारितात् कुमारहारितो गालवाद् गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद् बाभ्रव· पथ· सौभरात्पन्था· सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद् विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्यो· प्राध्वंसनान्मृत्यु· प्राध्वंसन· प्रध्वंसनात्प्रध्वंसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टि· सनारो· सनारु· सनातनात् सनातन· सनगात्सनग· परमेष्ठिन· परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयम्भु ब्रह्मणे नम· ॥३॥

घृतकौशिकात्—घृतकौशिक से, (२२) घृतकौशिक· पाराशर्यायणात्—घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से, (२३) पाराशर्यायण पाराशर्यात्—पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, (२४) पाराशर्य· जातूकर्ण्यात्—पाराशर्य ने

२४. वात्स्य, २५. गौतम, २६. गौतम, २७. माण्टि, २८. आत्रेय, २९. भारद्वाज, ३०. आसुरि, ३१. औपजन्धनि, ३२. त्रैवणि, ३३. आसुरायण तथा यास्क, ३४. जातूकर्ण्य, ३५. पाराशर्य, ३६. पाराशर्यायण, ३७. घृतकौशिक ३८. कौशिकायनि, ३९. वैजवापायन, ४० पाराशर्य, ४१. भारद्वाज, ४२. गौतम, ४३. भारद्वाज, ४४. पाराशर्य, ४५. सैतव और प्राचीनयोग्य, ४६. गौतम, ४७. आनभिम्लात, ४८. आनभिम्लात, ४९. आनभिम्लात, ५०. आग्निवेश्य शाण्डिल्य, ५१. गौतम, ५२. शाण्डिल्य कौशिक, ५३. कौण्डिन्य,

---

जातूकर्ण्य से; (२५) **जातूकर्ण्यः आसुरायणात् च यास्कात् च**—जातूकर्ण्य ने आसुरायण और यास्क (दोनों) से; (२६) **आसुरायणः त्रैवणेः**—आसुरायण ने त्रैवणि से; (२७) **त्रैवणिः औपजन्धनेः**—त्रैवणि ने औपजन्धनि से; (२८) **औपजन्धनिः आसुरेः**—औपजन्धनि ने आसुरि से; (२९) **आसुरिः भारद्वाजात्**—आसुरि ने भारद्वाज से; (३०) **भारद्वाजः आत्रेयात्**—भारद्वाज ने आत्रेय से; (३१) **आत्रेयः माण्टेः**—आत्रेय ने माण्टि से; (३२) **माण्टिः गौतमात्**—माण्टि ने गौतम से; (३३) **गौतमः गौतमाद्**—गौतम ने गौतम से; (३४) **गौतमः वात्स्याद्**—गौतम ने वात्स्य से; (३५) **वात्स्यः शाण्डिल्यात्**—वात्स्य ने शाण्डिल्य से; (३६) **शाण्डिल्यः कैशोर्यात् काप्यात्**—शाण्डिल्य ने कैशोर्य काप्य से; (३७) **कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्**—कैशोर्य काप्य ने कुमारहारित से; (३८) **कुमारहारितः गालवाद्**—कुमारहारित ने गालव से; (३९) **गालवः विदर्भीकौण्डिन्यात्**—गालव ने विदर्भीकौण्डिन्य से; (४०) **विदर्भीकौण्डिन्यः वत्सनपातः बाभ्रवात्**—विदर्भीकौण्डिन्य ने वत्सनपात्-बाभ्रव से; (४१) **वत्सनपाद् बाभ्रवः पथः सौभरात्**—वत्सनपात्-बाभ्रव ने पथिन्-सौभर से; (४२) **पन्थाः सौभरः अयास्याद् आंगिरसाद्**—पथिन्-सौभर ने अयास्य-आंगिरस से; (४३) **अयास्यः आंगिरसः आभूतेः त्वाष्ट्रात्**—अयास्य-आंगिरस ने आभूति-त्वाष्ट्र से; (४४) **आभूतिः त्वाष्ट्रः विश्वरूपात् त्वाष्ट्रात्**—आभूति-त्वाष्ट्र ने विश्वरूप-त्वाष्ट्र से; (४५) **विश्वरूपः त्वाष्ट्रः अश्विभ्याम्**—विश्वरूप-त्वाष्ट्र ने अश्वि-कुमारों से; (४६) **अश्विनौ दधीचः आथर्वणात्**—अश्वि-कुमारों ने दध्यङ्ङ आथर्वण से; (४७) **दध्यङ्ङ आथर्वणः अथर्वणः दैवात्**—दध्यङ्ङ आथर्वण ने अथर्वा दैव से; (४८) **अथर्वा दैवः मृत्योः प्राध्वंसनात्**—अथर्वा-दैव ने मृत्यु-प्राध्वंसन से; (४९) **मृत्युः प्राध्वंसनः प्रध्वंसनात्**—मृत्यु-प्राध्वंसन ने प्रध्वंसन से; (५०) **प्रध्वंसनः एकर्षेः**—प्रध्वंसन ने एकर्षि से; (५१) **एकर्षिः विप्रचित्तेः**—एकर्षि ने विप्रचित्ति से; (५२) **विप्रचित्तिः व्यष्टेः**—विप्रचित्ति ने व्यष्टि

५४. कौशिक, ५५. गौपवन, ५६. पौतिमाष्य, ५७. गौपवन, ५८. पौतिमाष्य। इस प्रकार स्वयंभू ब्रह्मा से पौतिमाष्य तक ब्रह्म-विद्या की परम्परा चली आई है, ब्रह्म को नमस्कार हो ॥१-३॥

(बृहदारण्यक ४र्थ अध्याय, ६ष्ठ ब्राह्मण में भी कुछ भेद से यही वंश दिया गया है। ६ष्ठ अध्याय ५म ब्राह्मण में एक और गुरु-शिष्य-परम्परा दी गई है जो इससे भिन्न है।)

तृतीय अध्याय—(पहला ब्राह्मण)

(जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा अश्वल का विवाद)

प्राचीन-काल में किसी समय विदेहराज जनक ने बहु-दक्षिण-नामक यज्ञ किया। विदेह (वर्तमान मिथिला) के ब्राह्मणों के अतिरिक्त वहां कुरु (वर्तमान दिल्ली के आस-पास के प्रदेश) तथा पंचाल (कन्नौज के आस-पास के प्रदेश) से अनेक ब्राह्मण पधारे थे। विदेह-राज जनक के मन में यह कौतूहल उत्पन्न हुआ कि इन ब्राह्मणों में 'अनूचानतम', अर्थात् अतिशय विद्वान् कौन है ? इस उद्देश्य से राजा

से, (५३) व्यष्टिः सनारो—व्यष्टि ने सनारु से, (५४) सनारुः सनातनात्—सनारु ने सनातन से, (५५) सनातनः सनगात्—सनातन ने सनग से, (५६) सनगः परमेष्ठिन—सनग ने परमेष्ठी से, (५७) परमेष्ठी ब्रह्मणः—परमेष्ठी (ब्रह्मा) ने ब्रह्म से, (५८) ब्रह्म—ब्रह्म तो, स्वयंभु—स्वयम्भू (स्वय ही आदि गुरु, सर्वज्ञ) है, ब्रह्मणे—उस स्वयम्भू ब्रह्म को, नमः—नमस्कार है ॥३॥

ॐ। जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चालानां
ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा
बभूव कःस्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति स ह गवाँ सहस्र-
मवरुरोध दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः ॥१॥

ओम्—सब के रक्षक, आदिगुरु परमेश्वर का स्मरण कर, जनकः—राजा जनक ने, ह—कभी पहले, वैदेहः—विदेह देश के राजा, बहुदक्षिणेन—बहुत (ब्राह्मण निमित्त) दक्षिणा वाले, यज्ञेन—यज्ञ के द्वारा, ईजे—यज्ञ किया, सम्मेलन (संगतिकरण) किया, तत्र ह—और उस (यज्ञ) में, कुरु-पञ्चालानाम्—कुरु और पञ्चाल देशों के, ब्राह्मणाः—विद्वान् ब्राह्मण, अभिसमेताः—एकत्र, सम्मिलित; बभूवुः—हुए, तस्य ह—और उस, जनकस्य—राजा जनक की; वैदेहस्य—विदेह-नरेश, विजिज्ञासा—जानने की इच्छा, बभूव—हुई; कःस्वित्—कौन-सा; एषाम्—इन; ब्राह्मणानाम्—ब्राह्मणों का (में),

ने एक हज़ार गौएं रुकवा लीं, और एक-एक गौ के दोनों सींगों में दस-दस तोले सोना बंधवा दिया ॥१॥

उनसे विदेहराज बोले, आदरणीय ब्राह्मणो ! आप लोगों में जो सबसे श्रेष्ठ ब्रह्म-ज्ञानी हो, वह इन गौओं को अपने घर ले जा सकता है। उन ब्राह्मणों में से किसी ने गौओं को हांक ले जाने का साहस नहीं किया। तब याज्ञवल्क्य ने अपने ही एक ब्रह्मचारी से कहा, हे सामश्रवा ! इन गौओं को हांक ले चलो ! वह उन्हें हांककर याज्ञवल्क्य के आश्रम में ले गया। यह देखकर वे ब्राह्मण क्रुद्ध हो उठे, और कहने लगे कि यह अपने को हम सबसे बढ़कर ब्रह्म-वेत्ता कैसे कहता है ? वहां विदेहराज जनक के पुरोहित अश्वल भी विराजते थे।

अनूचानतमः—अधिक वेद-व्याख्याता है; **इति**—यह; **ह**—और उसने; **गवाम्**—गौओं की; **सहस्रम्**—एक हज़ार; (**गवाम् सहस्रम्**—एक सहस्र गौएं); **अवरुरोध**—घेर कर खड़ी कर दीं; **दश दश**—दस-दस; **पादाः**—(सिक्के का) चौथा हिस्सा; **एकैकस्याः**—एक-एक (प्रत्येक) गाय के; **शृङ्गयोः**—सींगों में; **आबद्धाः**—बंधे हुए, टंके हुए; **बभूवुः**—थे ॥१॥

> तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति। ते ह ब्राह्मणा न दधृषुरथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सोम्योदज सामश्रवा३ इति ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेत्यथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताऽश्वलो बभूव स हैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३ इति स होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयँ स्म इति तँ ह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताऽश्वलः ॥२॥

तान् ह—और उन (ब्राह्मणों) को; **उवाच**—राजा बोला; **ब्राह्मणाः**—हे ब्राह्मणो !; **भगवन्तः**—आदरणीय; **यः**—जो; **वः**—तुम में से; **ब्रह्मिष्ठः**—सब से अधिक ब्रह्म-ज्ञानी या वेद-व्याख्याता (हो); **सः**—वह; **एताः**—इन; **गाः**—गौओं को; **उदजताम्**—हाँक कर ले जावे; **इति**—ऐसे (कहा); **ते ह ब्राह्मणाः**—वे ब्राह्मण तो; **न**—नहीं; **दधृषुः**—साहस (हिम्मत) कर सके; **अथ ह**—तब; **याज्ञवल्क्यः**—याज्ञवल्क्य ने; **स्वम्**—अपने; **एव**—ही; **ब्रह्मचारिणम्**—ब्रह्मचारी (शिष्य) को; **उवाच**—कहा; **एताः**—इन (गौओं) को; **सोम्य**—सुशील, विनीत; **उदज**—हाँक ले जा; **सामश्रवाः**—हे सामश्रवा; **इति**—ऐसे; **ताः ह**—उन (गायों) को; **उदाचकार**—(सामश्रवा ने) हाँक दिया; **ते ह ब्राह्मणाः**—(इस पर) वे ब्राह्मण; **चुक्रुधुः**—कुपित हो गये; **कथम्**—

उन्होंने याज्ञवल्क्य से पूछा, आप अपने को हम सबसे बढ़कर ब्रह्म-वेत्ता समझते हैं ? अगर आप वास्तव में ही इतने महान् ब्रह्म-वेत्ता हैं, तो हम सभी आपको नमस्कार करते हैं। हम सब भी इन गौओं को लेना चाहते थे, परन्तु हम अपने को सर्वोच्च ब्रह्म-वेत्ता कहने से



याज्ञवल्क्य ने अपने ब्रह्मचारी को कहा—गौएं हांक ले जाओ !

कैसे, क्योंकर, नः—हम से; ब्रह्मिष्ठः—अधिक ब्रह्मज्ञानी या वेदज्ञ; ब्रुवीत—(अपने को) कहते (समझते) हो, इति—ऐसे; अथ ह—तत्पश्चात्, जनकस्य वैदेहस्य—विदेहराज जनक का; होता—(यज्ञ में) होता, अश्वल—अश्वल-नामी; बभूव—था; सः ह—उस (अश्वल) ने; एनम्—इस (याज्ञवल्क्य) को;

हिचकते रहे। आप अपने को इस उच्च-कोटि का समझते हैं, तो हमारे प्रश्नों का उत्तर दीजिये। यह कहकर अश्वल ने प्रश्न करना प्रारम्भ किया—॥२॥

अश्वल ने पूछा, हे याज्ञवल्क्य! संसार में जब हर वस्तु को मृत्यु व्याप रही है, सब मृत्यु के वश में हैं, तब किस प्रकार 'यजमान' (यज्ञ करने वाला) मृत्यु से छुटकारा पा सकता है? यजमान को मृत्यु से छुटकारा दिलाने के लिये 'यज्ञ' किये जाते हैं, परन्तु मृत्यु तो सभी को व्याप रही है, फिर वह मृत्यु से कैसे छूट सकता है?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—ब्रह्मांड का अग्नि-देवता पिंड में वाणी बनकर बैठा हुआ है। तभी कहा है, 'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्'—अग्नि वाणी बनकर मुख में प्रविष्ट हो गई। यज्ञ में 'होता' यजमान की 'वाणी' को फिर से 'अग्नि' का रूप दे देता है, इसी से यजमान मृत्यु को जीत लेता है। अपने पिंड को ब्रह्मांड से, व्यष्टि को समष्टि से मिला देना, इनमें सामंजस्य उत्पन्न कर देना—यही मृत्यु के पाश से छूट जाना है। होता, वाणी, अग्नि—इन तीनों के सहयोग से

पप्रच्छ—पूछा; **त्वम् नु खलु**—क्या निश्चय ही तू; **नः**—हम से; **याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य; **ब्रह्मिष्ठः**—अधिक ब्रह्मज्ञानी, वेदज्ञ; **असि**—है; **इति**—ऐसे; **सः ह**—उस (याज्ञवल्क्य) ने; **उवाच**—कहा; **नमः**—नमस्कार, प्रणाम; **वयम्**—हम; **ब्रह्मिष्ठाय**—ब्रह्मज्ञानी को; **कुर्मः**—करते हैं; **गो-कामाः**—गौओं की चाहना-वाले; **एव**—ही; **वयम्**—हम; **स्मः**—हैं; **इति**—यह (उत्तर दिया); **तम् ह**—उस (याज्ञवल्क्य) से; **ततः एव**—उसके पश्चात् ही; **प्रष्टुम्**—प्रश्न पूछने के लिए; **दध्रे**—धारणा की; (**प्रष्टुम् दध्रे**—पूछना आरम्भ किया); **होता अश्वलः**—(जनक के) होता (अश्वल) ने ॥२॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदँ सर्वं मृत्युनाऽऽप्तँ सर्वं मृत्युनाऽभिपन्नं केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इति होत्रर्त्विजाग्निना वाचा वाग्वै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक् सोऽयमग्निः स होता स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥३॥

याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य; **इति ह**—ऐसे (संबोधन कर); **उवाच**—(अश्वल) कहने लगा; **यद् इदम् सर्वम्**—जो यह सब कुछ (दृश्य); **मृत्युना**—मृत्यु से; **आप्तम्**—प्राप्त (घिरा हुआ); **सर्वम्**—सब ही; **मृत्युना**—मृत्यु से **अभिपन्नम्**—युक्त है; **केन**—किस (साधन-उपाय) के द्वारा; **यजमानः**—यज्ञ-कर्ता यजमान; **मृत्योः**—मृत्यु की; **आप्तिम्**—पहुंच से; **अतिमुच्यते**—सर्वथा

मृत्यु का मुकाबिला होता है। यह जो पिंड में 'वाणी' है, वही ब्रह्मांड में 'अग्नि' है। 'वाणी' का 'अग्नि'-रूप हो जाना ही 'मुक्ति' है, मृत्यु से छूटना है, यही 'अतिमुक्ति' है ॥३॥

(होता का काम यजमान की 'वाणी' को 'अग्नि' का रूप दे देना है। जैसे अग्नि में सब मल भस्म हो जाते हैं, तेजस्विता आ जाती है, वैसे यजमान की वाणी अग्नि की तरह शुद्ध—सत्य-रूप—तथा तेजस्वी हो जाती है, यही मृत्यु को जीत लेना है।)

अश्वल ने फिर दूसरा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! संसार में जब सब जगह दिन-रात व्याप रहे हैं, सब जगह छाये हुए हैं, तब किस प्रकार 'यजमान' दिन-रात के बन्धन से छुटकारा पाकर अमर हो सकता है ? ये दिन-रात उसके जीवन को एक-एक रात करके कम ही तो करते रहते हैं ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—ब्रह्मांड का सूर्य-देवता पिंड में चक्षु बनकर बैठा हुआ है। यज्ञ में 'अध्वर्यु' यजमान के 'चक्षु' को फिर से 'आदित्य' का रूप दे देता है, इसी से यजमान दिन-रात से छूटकर अमर हो जाता है; 'चक्षु'-रूप व्यष्टि के लिये दिन-रात होते हैं,

---

मुक्त हो जाता है, इति (यह प्रश्न किया), होत्रा—होता (नामक), ऋत्विजा—ऋत्विक् से, अग्निना—अग्नि (साधन) से, वाचा—वाणी से, वाग् वै—वाणी ही तो, यज्ञस्य—यज्ञ (सब कर्मों) का, होता—होता (प्रदर्शक-निर्देशक) है, तद्—तो, या इयम् वाक्—(शरीर में) जो यह वाणी है, स: अयम् अग्नि:—(ब्रह्माण्ड में) वह ही यह अग्नि है, स: होता—वह (अग्नि) होता है, स:—वह (अग्नि); मुक्ति—छुटकारा (दिलाने वाला) है, सा—वह (वाणी), अतिमुक्ति:—सर्वथा मोक्ष-प्रद है ॥३॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदँ सर्वमहोरात्राभ्यामाप्तँ सर्वमहोरात्राभ्यामभिपन्नं केन यजमानोऽहोरात्रयोराप्तिमतिमुच्यत इत्यध्वर्युणर्त्विजा चक्षुषाऽऽदित्येन चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्य: सोऽध्वर्युः स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥४॥

याज्ञवल्क्य ! इति ह उवाच—हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा संबोधन कर (अश्वल ने फिर) कहा; यद् इदम् सर्वम्—जो यह सब (विश्व), अहोरात्राभ्याम्—दिन और रात से, आप्तम्—व्याप्त (पहुंच में) है, सर्वम्—सारा (विश्व), अहोरात्राभ्याम्—दिन-रात (काल) से, अभिपन्नम्—युक्त है, केन—

'आदित्य'-रूप समष्टि के लिये नहीं रहते। अपने पिंड को ब्रह्मांड से, व्यष्टि को समष्टि से मिला देना—यही दिन-रात के पाश से छूट जाना है। यह जो पिंड में 'चक्षु' है, वही ब्रह्मांड में 'आदित्य' है। 'चक्षु' का 'आदित्य'-रूप हो जाना ही 'मुक्ति' है, यही 'अतिमुक्ति' है ॥४॥

अश्वल ने फिर तीसरा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! जब सृष्टि की सभी वस्तुओं में पूर्व-पक्ष और अपर-पक्ष व्याप रहे हैं, सब पर छा रहे हैं, तब किस प्रकार 'यजमान' शुक्ल-कृष्ण-पक्षों के बन्धन से छूट सकता है ? ये पक्ष उसके जीवन को पखवाड़ा-पखवाड़ा कम ही तो करते रहते हैं ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—ब्रह्मांड का वायु-देवता पिंड में प्राण बनकर बैठा हुआ है। यज्ञ में 'उद्‌गाता' यजमान के 'प्राण' को फिर से 'वायु' का रूप दे देता है, इसी से यजमान शुक्ल-कृष्ण-पक्ष के

किस (साधन) से; यजमानः—यजमान; अहोरात्रयोः—दिन-रात (काल) की; आप्तिम्—पहुंच से; अतिमुच्यते—सर्वथा छूट जाता है; इति—यह (पूछा); अध्वर्युणा—अध्वर्यु (नामक); ऋत्विजा—ऋत्विग् से; चक्षुषा—(शरीर में) नेत्र द्वारा; आदित्येन—(जगत् में) सूर्य द्वारा; चक्षुः वै—आंख ही तो; यज्ञस्य—यज्ञ का; अध्वर्युः—अध्वर (यज्ञ) की प्राप्ति करानेवाला है; तद् यद् इदम् चक्षुः—तो जो (शरीर में) यह नेत्र है; सः असौ आदित्यः—वह ही तो (विश्व में) सूर्य है; सः अध्वर्युः—वह ही अध्वर्यु है; सः मुक्तिः—वह ही छुटकारा है; सा अतिमुक्तिः—वह ही सर्वात्मना मोक्ष-प्रद है ॥४॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामाप्तꣳ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं केन यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्तिमतिमुच्यत इत्युद्गात्रर्त्विजा वायुना प्राणेन प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता तद्योऽयं प्राणः स वायुः स उद्गाता स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥५॥

याज्ञवल्क्य इति ह उवाच—फिर अश्वल ने कहा हे याज्ञवल्क्य !; यद् इदम् सर्वम्—जो यह सब; पूर्वपक्ष+अपरपक्षाभ्याम्—शुक्ल और कृष्णपक्ष (काल) से; आप्तम्—पहुंचा हुआ (व्याप्त); सर्वम्—सब; पूर्वपक्ष+अपरपक्षाभ्याम् अभिपन्नम्—शुक्ल और कृष्ण पक्षों से युक्त है; केन—किस (उपाय) से; यजमानः—यजमान; पूर्वपक्ष+अपरपक्षयोः—शुक्ल और कृष्ण पक्ष की; आप्तिम् अतिमुच्यते—पहुंच से सर्वथा छुटकारा पाता है ?; इति—

बन्धन से छूटकर अमर हो जाता है। अपने पिंड को ब्रह्मांड से, व्यष्टि को समष्टि से मिला देना—यही पखवाड़ों के पाश से छूट जाना है। यह जो पिंड में 'प्राण' है, वही ब्रह्मांड में 'वायु' है। 'प्राण' का 'वायु'-रूप हो जाना ही 'मुक्ति' है, यही 'अतिमुक्ति' है ॥५॥

५ अश्वल ने फिर चौथा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! जब यह अन्तरिक्ष निरवलम्ब है, इसको कोई टेकन नहीं, तब किस सीढ़ी से 'यजमान' स्वर्ग-लोक में जा पहुंचता है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—ब्रह्मांड का चन्द्र-देवता पिंड में मन बनकर बैठा हुआ है। यज्ञ में 'ब्रह्मा' यजमान के 'मन' को फिर से 'चन्द्रमा' का रूप दे देता है, इसी से यजमान को स्वर्ग-लोक पहुंचने के लिये किसी दूसरी सीढ़ी की आवश्यकता नहीं रहती। अपने पिंड को ब्रह्मांड से, व्यष्टि को समष्टि से मिला देना—यही बिना सीढ़ी के ऊपर चढ़ जाना है। ब्रह्मा, मन, चन्द्रमा—इन तीनों के सहयोग

यह (पूछा); उद्गात्रा—उद्गाता (नामक); ऋत्विजा—ऋत्विक् से, वायुना—(ब्रह्माण्डमें) वायु से, प्राणेन—(शरीर में) प्राण (श्वास-प्रश्वास) से, प्राणः वै—प्राण ही; यज्ञस्य—(शरीर-)यज्ञ का, उद्गाता—उद्गाता है, तद् यः अयम् प्राणः—सो जो यह (शरीर में) प्राण है, सः—वह ही, वायुः—(विश्व में) वायु है, सः उद्गाता—वह (वायु) ही उद्गाता है, सः मुक्तिः—वह छुटकारा (करनेवाला) है, सा अतिमुक्तिः—वह ही सर्वथा छूट जाना (मुक्ति) है ॥५॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदमन्तरिक्षमनारम्बणमिव केनाऽऽक्रमेण
यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण
मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स
ब्रह्मा स मुक्तिः साऽतिमुक्तिरित्यतिमोक्षा अथ संपदः ॥६॥

याज्ञवल्क्य इति ह उवाच—(फिर अश्वल ने) कहा कि हे याज्ञवल्क्य, यद् इदम्—जो यह, अन्तरिक्षम्—अन्तरिक्ष, अनारम्बणम्—बिना अवलम्ब (सीढ़ी आदि आधार) के, इव—समान (जैसा-सा) है, केन—किस, आक्रमेण—ऊपर चढ़ने के साधन (सीढ़ी) के द्वारा, यजमानः—यजमान, स्वर्गम् लोकम्—स्वर्ग लोक को, आक्रमते—चढ़ पाता है (प्राप्त करता है), इति—यह (पूछा), ब्रह्मणा—ब्रह्मा-नामक; ऋत्विजा—ऋत्विग् द्वारा, मनसा—मन से, चन्द्रेण—चन्द्रमा से, मनः वै—मन ही; यज्ञस्य—(शरीर-) यज्ञ का, ब्रह्मा—(अध्यक्ष) ब्रह्मा ऋत्विक् है, तद् यद् इदम्—तो जो यह; मनः—(शरीर में)

से निरवलम्ब भी सावलम्ब हो जाता है। यह जो पिंड में 'मन' है, वही ब्रह्मांड में 'चन्द्रमा' है। 'मन' का 'चन्द्र'-रूप हो जाना ही 'मुक्ति' है, यही 'अतिमुक्ति' है ॥६॥

(वैदिक विचार-धारा में—केन ३; प्रश्न २-३; बृहदा० १-३—'विराट्-पुरुष' की वाणी से अग्नि, आंख से आदित्य, प्राण से वायु तथा मन से चन्द्र का प्रकट होना बताया गया है। इस 'विराट्-पुरुष' से ब्रह्मांड की रचना के अनन्तर, ब्रह्मांड से पिंड की रचना का वर्णन करते हुए अग्नि से वाणी, आदित्य से आंख, वायु से प्राण तथा चन्द्र से मन की रचना कही गई है। इस विकसित अवस्था से मुक्तावस्था में लौटते हुए पिंड की वाणी फिर अग्नि बन जाती है, पिंड की आंख फिर आदित्य बन जाती है, पिंड का प्राण फिर वायु बन जाता है, पिंड का मन फिर चन्द्र बन जाता है, और इस प्रकार व्यक्ति समष्टि में, पिंड ब्रह्मांड में, मानुष-पुरुष विराट्-पुरुष में लौट जाता है। इसी प्रक्रिया को याज्ञवल्क्य ने यहां खोला है। इस प्रक्रिया का यह अभिप्राय नहीं कि केवल मुक्त होते समय ही वाणी अग्नि का, चक्षु आदित्य का, वायु प्राण का और मन चन्द्र का रूप धारण करता है, इसका यह अभिप्राय है कि हमें हर समय अपने जीवन में वाणी को अग्नि का, चक्षु को आदित्य का, वायु को प्राण का और मन को चन्द्र का रूप देने का प्रयत्न करते रहना चाहिये—यही मुक्ति का मार्ग है।)

अश्वल ने फिर पांचवां प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य! आज जो यह यज्ञ होने वाला है, इसमें कितनी 'ऋचाओं' से 'होता' यज्ञ करेगा?

मन है; **सः असौ**—वह ही यह; **चन्द्रः**—(विश्व में) चन्द्रमा है; **सः**—वह; **ब्रह्मा**—ब्रह्मा (ऋत्विक्) है; **सः मुक्तिः**—वह (मन का चन्द्र हो जाना) ही छुटकारा है; **सा अतिमुक्तिः**—वह ही सर्वथा छूट जाना है; **इति**—ये सब; **अतिमोक्षाः**—अतिमुक्ति (के साधन) हैं; **अथ**—इसके आगे; **संपदः**—सम्पत्तियां (फल-प्राप्ति वर्णित) हैं ॥६॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होतास्मिन्यज्ञे करिष्यतीति तिसृभिरिति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया किं ताभिर्जयतीति यत्किंचेदं प्राणभृदिति ॥७॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, तीन से ! वे तीन ऋचाएं कौन-सी हैं ? वे हैं, 'पुरोनुवाक्या', 'याज्या' तथा 'शस्या'। यज्ञ के प्रारंभ में जो ऋचाएं पढ़ी जाती हैं वे हैं, 'पुरोनुवाक्या'; यज्ञ जिन ऋचाओं से किया जाता है वे हैं, 'याज्या'; यज्ञ समाप्ति पर, यज्ञ समाप्त होने की प्रसन्नता में जो ऋचाएं पढ़ी जाती हैं वे हैं, 'शस्या'। इस यज्ञ की भांति मानव-जीवन एक यज्ञ है। कार्य प्रारंभ करते हुए जो संकल्प की घोषणा की जाती है, वह मानो 'पुरोनुवाक्या'-ऋचा है; कार्य को जिस दृढ़ता से किया जाता है, वह मानो 'याज्या'-ऋचा है; सफलता-पूर्वक कार्य-समाप्ति पर जो प्रसन्नता होती है, वह मानो 'शस्या'-ऋचा है। इन तीनों से यजमान को क्या लाभ होता है, किन लोकों पर विजय पाता है ? इनसे वह 'प्राणभृत्' को, प्राण का भरण अर्थात् धारण करने वाले सब के मन को मानो जीत लेता है—जो उठाये हुए कार्य को सफलता-पूर्वक पूर्ण करता है, वह सब प्राणियों की वाह-वाह जीत लेता है ॥७॥

अश्वल ने फिर छठा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! आज जो यह यज्ञ होने वाला है, इसमें कितनी 'आहुतियों' से 'अध्वर्यु' हवन करेगा ?

याज्ञवल्क्य ! इति ह उवाच—(अश्वल ने फिर) कहा हे याज्ञवल्क्य !, कतिभिः—कितनी; अयम्—यह; अद्य—आज (इस समय), ऋग्भिः—ऋचाओं से, होता—होता ऋत्विग्, अस्मिन्—इस, यज्ञे—यज्ञ में, करिष्यति—(अपना शसन-कार्य) करेगा; तिसृभिः—तीन (प्रकार की ऋचाओं) से; इति—यह (उत्तर दिया); कतमाः—कौनसी; ताः—वे; तिस्रः—तीन (ऋचायें) हैं, इति—यह (पूछा), (पहली) पुरोनुवाक्या—यज्ञ-प्रारम्भ से पूर्व प्रयुक्त होनेवाली पुरोनुवाक्या; च—और, याज्या च—और (दूसरी) याज्या जिनसे यजन—आहुति-दान किया जाता है; शस्या—शस्या (प्रशंसा-स्तुति परक) ऋचा, एव—ही; तृतीया—तीसरी है; किम्—क्या; ताभिः—उन (ऋचाओं) से; जयति—जीतता (प्राप्त करता) है, इति—यह (फिर पूछा); यत् किंच इदम्—जो कुछ भी यह, प्राणभृत्—प्राणधारी, जीव हैं; इति—यह (उत्तर याज्ञवल्क्य ने दिया) ॥७॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन्यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति या हुता उज्ज्वलन्ति या हुता अतिनेदन्ते या हुता अधिशेरते किं ताभिर्जयतीति या हुता उज्ज्वलन्ति देवलोकमेव ताभिर्जयति दीप्यत इव हि देवलोको

याज्ञवल्क्य ने कहा, तीन से ! वे तीन आहुतियां कौन-सी हैं ? वे हैं, 'उज्ज्वलन्ति'—प्रदीप्त हो उठने वाली; 'अतिनेदन्ते'—चट-चटाने वाली; 'अधिशेरते—कुण्ड की तलहटी में जा सोने वाली । घी अग्नि में पड़ते ही उसे प्रदीप्त कर देता है; सामग्री समिधाओं पर पड़ी चट-चटाती है; कुछ आहुति कुण्ड के तले में जाकर आराम से पड़ जाती है । यह मानव-जीवन भी एक यज्ञ है जिस में हमारे काम ही आहुतियां हैं । जिन कर्मों की आहुतियों से मनुष्य देवों की भांति प्रदीप्त हो उठता है, उनसे 'देव-लोक' को जीत लेता है; जिन कर्मों की आहुतियों से जीवन के संघर्ष में पड़ कर चट-चटाता है, राजनीति के कोलाहल में पड़ता है, उनसे 'पितृ-लोक' को जीत लेता है (तभी म्यूनिसिपैलिटियों के सदस्यों को 'पितर'—City fathers—कहते हैं); जिन कर्मों की आहुतियों से साधारण-सा मनुष्य बना रहता है, जो आहुतियां उसे न दीप्ति देती हैं, न संघर्ष में डाल कर पितरों की श्रेणी में ही ले आती हैं, उनसे 'मनुष्य-लोक' को जीत लेता है—क्योंकि 'देव-लोक' में दीप्ति है, 'पितृ-लोक' में संघर्ष है, 'मनुष्य-लोक' में सिर्फ़ पड़े रहना है, यह सब से नीचे है ॥८॥

या हुता अतिनेदन्ते पितृलोकमेव ताभिर्जयत्यतीव हि पितृलोको या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यध इव हि मनुष्यलोकः ॥८॥

याज्ञवल्क्य ! इति ह उवाच—(अश्वल ने) फिर कहा हे याज्ञवल्क्य ! **कति**—कितनी; **अयम्**—यह; **अद्य**—आज; **अध्वर्युः**—अध्वर्यु (ऋत्विग्); **अस्मिन् यज्ञे**—इस यज्ञ में; **आहुतीः**—आहुतियों को (का); **होष्यति**—हवन करेगा; **तिस्रः**—तीन ही; **इति**—ऐसे; **कतमाः ताः तिस्रः**—कौन-सी वे तीन हैं; **इति**—यह; **याः**—जो; **हुताः**—होम-अग्नि में डाली हुई; **उज्ज्वलन्ति**—खूब प्रदीप्त होती हैं; **याः हुताः**—जो होमी हुई; **अतिनेदन्ते**—शब्द-सा करती हैं; **याः हुताः**—जो होमी हुई; **अधिशेरते**—तल-भाग में बिना जले पड़ी रहती हैं; **किम् ताभिः जयति**—क्या उन (आहुतियों) से जीतता (प्राप्त करता) है ?; **याः हुताः उज्ज्वलन्ति**—जो होमी हुई प्रदीप्त हो जाती हैं; **देवलोकम्**—देव-लोक को; **एव**—ही; **ताभिः**—उनसे; **जयति**—जीतता है; **दीप्यते**—प्रकाशमान हो रहा है; **इव**—मानो, समान, जैसा; **ही (हि)**—क्योंकि; **देवलोकः**—देवलोक; **याः हुताः अतिनेदन्ते**—जो होमी हुई शब्द-सा करती हैं; **पितृलोकम् एव**—पितृलोक को ही; **ताभिः जयति**—उन (आहुतियों) से प्राप्त

अश्वल ने फिर सातवां प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! आज जो यह यज्ञ होने वाला है, इसमें कितने 'देवताओं' से 'ब्रह्मा' दक्षिण दिशा में बैठा हुआ यज्ञ की रक्षा करेगा ? याज्ञवल्क्य ने कहा, एक से ! वह एक देवता कौन-सा है ? वह है, मन ! मन एक है, परन्तु वह जहां-तहां अनन्त दिशाओं में, इन्द्रियों के सब विषयों में भागता है । ब्रह्मा का काम अनन्त दिशाओं में न जाने देकर एकमात्र यज्ञ में लाकर मन को टिका देना है । यह मानव-जीवन भी यज्ञ है जिसमें मन को अनन्त दिशाओं में न जाने देकर लक्ष्य में केन्द्रित कर देने से ही 'अनन्त-लोक' पर विजय प्राप्त होती है ॥९॥

अश्वल ने फिर आठवां प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! आज जो यह यज्ञ होने वाला है, इसमें कितने 'स्तोत्रों' से 'उद्‌गाता' स्तोत्र-

करता है, अति इव—मानो बढ़कर (अत्यधिक), हि—ही, पितृलोकः—पितरों का लोक है, या हुताः अधिशेरते—जो तल-भाग में पड़ी रहती हैं, मनुष्यलोकम् एव—मनुष्य-लोक को ही, ताभि जयति—उन (आहुतियों) से प्राप्त करता है, अध इव—नीचा (निम्न भाग) में मानो, हि—क्योंकि, मनुष्यलोकः—मनुष्य-लोक है ॥८॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीत्येकयेति कतमा सैकेति मन एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥९॥

याज्ञवल्क्य ! इति ह उवाच—(अश्वल ने फिर) कहा, हे याज्ञवल्क्य !, कतिभिः—कितनी, अयम्—यह, अद्य—आज, ब्रह्मा—ब्रह्मा (ऋत्विग्), यज्ञम्—यज्ञ को, दक्षिणतः—दक्षिण दिशा की ओर से, देवताभिः—देवताओं से (द्वारा), गोपायति—रक्षा करता है, बचाता है, इति—ऐसे (पूछा), एकया इति—एक (ही देवता) से, कतमा—कौन सी, सा+एका—वह एक (देवता) है, इति—यह (पूछा), मनः एव इति—(वह देवता) मन (सावधानता-सुविचार) ही है, अनन्तम् वै मनः—मन अनन्त है, अनन्ता—अन्त (सख्या) हीन, विश्वेदेवाः—विश्वेदेव हैं, अनन्तम् एव—अनन्त ही, सः—वह (ब्रह्मा), तेन—उस (मन) से, लोकम्—लोक को, जयति—प्राप्त कर लेता है ॥९॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्योद्‌गाताऽस्मिन्यज्ञे स्तोत्रिया स्तोष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया कतमास्ता या अध्यात्ममिति प्राण एव पुरोनुवाक्याऽपानो याज्या व्यानः

पाठ करेगा ? याज्ञवल्क्य ने कहा, तीन से ! वे तीन 'स्तोत्र' कौन-से हैं ? वे हैं, 'पुरोनुवाक्या'-'याज्या'-'शस्या'। अश्वल ने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! जब जीवन एक यज्ञ है, तब इन तीनों को, अध्यात्म में, अर्थात् पिंड में घटा कर दिखलाओ ! याज्ञवल्क्य ने कहा, 'प्राण' ही पुरोनुवाक्या-स्तोत्र-पाठ है, प्राण ही जीवन के प्रारंभ में प्रभु का गुण-गान करने लगता है; 'अपान' ही याज्या-स्तोत्र-पाठ है, अपान की गति ठीक रहने से ही यह जीवन-यज्ञ ठीक से चलता है; 'व्यान' ही शस्या-स्तोत्र-पाठ है, व्यान मानो जीवन के अंग-अंग में प्रभु की स्तुति गा रहा है। यजमान पुरोनुवाक्या से, प्राण से, पृथिवी-लोक को जीत लेता है; याज्या से, अपान से, अन्तरिक्ष-लोक को जीत लेता है; शस्या से, व्यान से, द्यु-लोक को जीत लेता है—प्राण-अपान-व्यान की गति ठीक कर लेने से मानो पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यु का राजा बन कर विचरता है। यह सुनकर विदेहराज जनक का पुरोहित अश्वल तो चुप होकर बैठ गया ॥१०॥

शस्या किं ताभिर्जयतीति पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्त-
रिक्षलोकं याज्यया द्युलोकं शस्यया ततो ह होताऽश्वल उपरराम ॥१०॥

याज्ञवल्क्य ! इति ह उवाच—(अश्वल ने फिर) कहा, हे याज्ञवल्क्य; **कति**—कितनी; **अयम्**—यह; **अद्य**—आज; **उद्गाता**—उद्गाता (ऋत्विग्); **अस्मिन् यज्ञे**—इस यज्ञ में; **स्तोत्रियाः**—स्तोत्र (स्तुति-) प्रधान ऋचाएं; **स्तोष्यति**—प्रस्तुत करेगा; **इति**—यह (पूछा); **तिस्रः इति**—तीन; **कतमाः ताः तिस्रः**—कौन सी तीन वे (स्तुति-प्रधान) ऋचाएं हैं; **इति**—यह; **पुरोनुवाक्या च**—(पहली) पुरोनुवाक्या; **याज्या च**—और (दूसरी) याज्या; **शस्या एव तृतीया**—शस्या ही तीसरी है; **कतमाः**—कौन सी; **ताः**—वे हैं; **याः**—जो; **अध्यात्मम्**—शरीर में स्थित हैं; **इति**—यह (पूछा); **प्राणः एव**—प्राण ही; **पुरोनुवाक्या**—पुरोनुवाक्या (कहलाता) है; **अपानः**—अपान; **याज्या**—याज्या (कहलाता) है; **व्यानः शस्या**—व्यान (का नाम) शस्या है; **किम् ताभिः जयति इति**—उन (अध्यात्म स्तोत्रियाओं) से क्या प्राप्त करता है ?; **पृथिवीलोकम् एव**—पृथिवीलोक को ही; **पुरोनुवाक्यया**—पुरोनुवाक्या (प्राण) से; **जयति**—जीतता (पा लेता) है; **अन्तरिक्षलोकम्**—अन्तरिक्षलोक को; **याज्यया**—याज्या (अपान) से; **द्युलोकम्**—द्यु-लोक को; **शस्यया**—शस्या (व्यान) से; **ततः**

तृतीय अध्याय—(दूसरा ब्राह्मण)

(जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा आर्तभाग का विवाद)

अश्वल ने 'मुक्ति' तथा 'अतिमुक्ति' के सम्बन्ध में प्रश्न किये थे, अब जरत्कारु-गोत्री आर्तभाग 'ग्रह' तथा 'अतिग्रह' के सम्बन्ध में प्रश्न करने खड़े हुए। उन्होंने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! कितने 'ग्रह' हैं, कितने 'अतिग्रह' हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—आठ ग्रह हैं, आठ ही अतिग्रह हैं ! आर्तभाग ने पूछा—वे कौन से हैं ॥१॥

('ग्रह' का अर्थ है, 'पकड़ लेने वाला', 'अतिग्रह' का अर्थ है, 'बहुत जोर से पकड़ लेने वाला'—इन दोनों पर आगे विचार किया गया है।)

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'प्राण' (नासिका) 'ग्रह' है, इसने जीव को पकड़ रखा है; 'अपान' (गन्ध) अतिग्रह है, इसने प्राणेन्द्रिय को, उसका विषय बनकर, और भी अधिक जकड़ रखा है ॥२॥

ह—उसके बाद, होता अश्वल—(सन्तुष्ट) अश्वल होता उपरराम—चुप (शान्त) हो गया ॥१०॥

> अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति
> होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति । अष्टौ ग्रहा अष्टा-
> वतिग्रहा इति ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे त इति ॥१॥

अथ ह—तत्पश्चात्, एनम्—इस (याज्ञवल्क्य) को, जारत्कारव—जरत्कारु-गोत्री, आर्तभाग—आर्तभाग (ऋतभाग के पुत्र) ने, पप्रच्छ—पूछा, याज्ञवल्क्य ! इति ह उवाच—उसने कहा हे याज्ञवल्क्य ! कति—कितने, ग्रहा—ग्रह (जीव को पकड़ में लेनेवाले या विषय या कर्म का ग्रहण करने वाले) हैं, कति—कितने, अतिग्रहा—(अत्यधिक पकड़नेवाले) अतिग्रह हैं, इति—यह (पूछा), अष्टौ—आठ, ग्रहा—ग्रह हैं, अष्टौ—आठ, अतिग्रहा—अतिग्रह हैं, इति—यह (उत्तर दिया), ये ते—जो वे, अष्टौ ग्रहा—आठ ग्रह हैं, अष्टौ अतिग्रहा—आठ अतिग्रह हैं, कतमे—कौन से, ते—वे हैं, इति—यह (बताओ) ॥१॥

> प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति ॥२॥

प्राण वै ग्रह—प्राण (घ्राण-नासिका) ही ग्रह है, स—वह (प्राण-ग्रह), अपानेन—गन्ध (विषय) से, अतिग्राहेण—अतिग्रह से, गृहीत—

'वाणी' ग्रह है, इसने जीव को पकड़ रखा है; 'नाम' अतिग्रह है, इसने वाणी को भी, उसका विषय बन कर, और भी अधिक जकड़ रखा है ॥३॥

'जिह्वा' ग्रह है, इसने जीव को जकड़ रखा है; 'रस' अतिग्रह है, इसने जिह्वा को भी, उसका विषय बन कर, और भी अधिक जकड़ रखा है ॥४॥

'चक्षु' ग्रह है, इसने जीव को पकड़ रखा है; 'रूप' अतिग्रह है, इसने चक्षु को भी, उसका विषय बनकर, और भी अधिक जकड़ रखा है ॥५॥

'श्रोत्र' ग्रह है, इसने जीव को पकड़ रखा है; 'शब्द' अतिग्रह है, इसने श्रोत्र को भी, उसका विषय बनकर, और भी अधिक जकड़ रखा है ॥६॥

जकड़ा हुआ है; **अपानेन हि**—अपान से ही; **गन्धान्**—गन्धों को; **जिघ्रति**—सूंघता है ॥२॥

वाग्वै ग्रहः स नाम्नाऽतिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति ॥३॥

वाग् वै—वाणी (जिह्वा) ही; **ग्रहः**—ग्रह है; **सः**—वह; **नाम्ना**—नाम (संज्ञा, शब्द) से; **अतिग्राहेण**—अतिग्रह से; **गृहीतः**—जकड़ा हुआ है; **वाचा**—वाणी से ही; **हि**—ही; **नामानि**—नाम (शब्द-रूप विषय) को; **अभिवदति**—बोलता (उच्चारण करता) है ॥३॥

जिह्वा वै ग्रहः स रसेनाऽतिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति ॥४॥

जिह्वा वै—जीभ ही; **ग्रहः**—(विषय को) ग्रहण करनेवाला है; **सः** वह (ग्रह); **रसेन**—स्वाद रूप (विषय); **अतिग्राहेण**—अतिग्रह से; **गृहीतः**—जकड़ा हुआ है; **जिह्वया हि**—जिह्वा से ही; **रसान्**—रसों (स्वादों) को; **विजानाति**—जानता है ॥४॥

चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणाऽतिग्राहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति ॥५॥

चक्षुः वै—नेत्र ही; **ग्रहः**—ग्रहण करनेवाला है; **सः**—वह (नेत्र-ग्रह); **रूपेण**—रूप (नेत्र-विषय); **अतिग्राहेण**—अतिग्रह से; **गृहीतः**—संयत है; **चक्षुषा हि**—नेत्र से ही; **रूपाणि**—रूपों को; **पश्यति**—देखता है ॥५॥

श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनाऽतिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दाञ्छृणोति ॥६॥

श्रोत्रम् वै ग्रहः—कान ही 'ग्रह' है; **सः**—वह (कान) ग्रह; **शब्देन**—(विषय-रूप) शब्द; **अतिग्राहेण**—अतिग्रह से; **गृहीतः**—संयत है; **श्रोत्रेण हि शब्दान् शृणोति**—क्योंकि कान से ही शब्दों को सुनता है ॥६॥

'मन' ग्रह है, इसने जीव को पकड़ रखा है; 'कामना' अतिग्रह है, इसने मन को भी, उसका विषय बनकर, और भी अधिक जकड़ रखा है ॥७॥

दोनों 'हाथ' ग्रह हैं, इन्होंने जीव को पकड़ रखा है; 'कर्म' अतिग्रह है, इसने हाथों को भी, उनका विषय बनकर, और भी अधिक जकड़ रखा है ॥८॥

'त्वचा' ग्रह है, इसने जीव को पकड़ रखा है; 'स्पर्श' अतिग्रह है, इसने त्वचा को भी, उसका विषय बन कर, और भी अधिक जकड़ रखा है—ये आठ 'ग्रह' हैं; और ये आठ 'अतिग्रह' हैं ॥९॥

आर्तभाग ने फिर दूसरा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! जब 'ग्रह' तथा 'अतिग्रह' के रूप में 'मृत्यु' प्राणीमात्र को अपना अन्न

मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते ॥७॥

मनः—मन (अन्तःकरण), वै ग्रहः—ग्रह है, सः—वह ग्रह (मन), कामेन—कामना (संकल्प-विकल्प) रूप, अतिग्राहेण—अतिग्रह से, गृहीतः—संयत, नियमित है, मनसा हि—मन से ही, कामान्—कामनाओं को, कामयते—चाहता है ॥७॥

हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणातिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति ॥८॥

हस्तौ वै—दोनों हाथ भी, ग्रहः—ग्रह हैं, सः—वह ग्रह (हाथ), कर्मणा—कर्म (चेष्टा-प्रयत्न) रूप, अतिग्राहेण—अतिग्रह से, गृहीतः—संयत है, हस्ताभ्याम् हि—क्योंकि हाथों से ही, कर्म करोति—(मनुष्य) कर्म करता है ॥८॥

त्वग्वै ग्रहः स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीतस्त्वचा हि
स्पर्शान्वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः ॥९॥

त्वग् वै—त्वचा भी, ग्रहः—ग्रह है, सः—वह ग्रह (त्वचा), स्पर्शेन—स्पर्श (छूना) रूप, अतिग्राहेण—अतिग्रह से, गृहीतः—संयत, संबद्ध है, त्वचा हि—त्वचा से ही; स्पर्शान्—(शीत-उष्ण, मृदु-कठोर) स्पर्शों को, वेदयते—जानता है, इति एते—इस प्रकार ये, अष्टौ—आठ, ग्रहाः—ग्रह (विषयों के ग्रहण करनेवाले तथा कर्म करनेवाले) हैं, अष्टौ—आठ, अतिग्रहाः—अतिग्रह (इन ग्रहरूप ज्ञान-कर्म-इन्द्रियों को भी संयम—नियत-क्षेत्र—में रखनेवाले ग्रहों के भी ग्रह) हैं ॥९॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वं मृत्योरन्नं का स्वित्सा देवता
यस्या मृत्युरन्नमित्यग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नमप पुनर्मृत्युं जयति ॥१०॥

बनाये हुए हैं, तब मृत्यु से छुटकारा कैसे हो ? मृत्यु की मृत्यु क्या है, मृत्यु का ग्रह क्या है, मृत्यु किस का अन्न है ? अगर मृत्यु की मृत्यु नहीं, तो मोक्ष-साधन व्यर्थ है; अगर मृत्यु की मृत्यु है, तो वह क्या है ?

आर्तभाग ने जब याज्ञवल्क्य को इस प्रकार घेरा, तो याज्ञवल्क्य ने कहा, देखो, 'अग्नि' सब पदार्थों की मृत्यु है, सभी को भस्म कर देता है, परन्तु 'जल' उसे भी खा जाते हैं, बुझा देते हैं, उसे अपना अन्न बना लेते हैं। इसलिये मत कहो कि मृत्यु की मृत्यु नहीं, 'ब्रह्म-साक्षात्कार' ही मृत्यु की मृत्यु है—उसे पा लेने से मृत्यु भी मानो मर जाता है। जो इस रहस्य को जान जाता है, वह मृत्यु को जीत लेता है ॥१०॥

आर्तभाग ने फिर तीसरा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! जब यह पुरुष मरता है, तब ग्रह-अतिग्रह-रूपी इन्द्रियां इसके साथ जाती हैं, या नहीं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—नहीं, इन्द्रियां यहीं लीन

याज्ञवल्क्य इति ह उवाच—(आर्तभाग ने फिर) कहा (पूछा) हे याज्ञवल्क्य !; **यद् इदम् सर्वम्**—जो यह सब (दृश्य जगत्); **मृत्योः**—मृत्यु का; **अन्नम्**—अन्न (भोज्य) है; (**मृत्योः अन्नम्**—मृत्यु इसे ग्रस लेती है); **का स्वित्**—कौन-सी; **सा**—वह; **देवता**—देवता है; **यस्याः**—जिस (देवता) का; **मृत्युः अन्नम्**—मृत्यु भी भोज्य है, जो मृत्यु को भी खा जाता है; **अग्निः वै**—अग्नि ही; **मृत्युः**—(अन्य सब को जला कर भस्म—नष्ट—करनेवाली) मृत्यु है; **सः**—वह अग्नि; **अपाम्**—जलों का; **अन्नम्**—भोज्य, ग्रास है; **पुनः**—फिर तो (इस रहस्य का ज्ञाता); **मृत्युम्**—मृत्यु-भय को; **अपजयति**—दूर भगा देता है ॥१०॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्
प्राणाः क्रामन्त्याहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव
समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते ॥११॥

याज्ञवल्क्य इति ह उवाच—(आर्तभाग ने) फिर पूछा हे याज्ञवल्क्य ! **यत्र**—जिस समय में; **अयम्**—यह; **पुरुषः**—देही जीवात्मा; **म्रियते**—मर जाता है; **उत्**—ऊपर को; **अस्मात्**—इस (मृत-देह) से; **प्राणाः**—प्राण (इन्द्रियां); **क्रामन्ति**—चली जाती हैं; (**उत् क्रामन्ति**—निकल जाती हैं); **आहो**—या; **न**—नहीं (निकलते); **इति**—यह पूछा; **न**—नहीं (निकलते);

हो जाती हैं, प्राण निकल जाता है, और शरीर वायु से भर जाता है, वायु से भरा हुआ मरा पड़ा सोता है ॥११॥

आर्तभाग ने फिर चौथा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! मर जाने पर कौन वस्तु है, जो उसे नहीं छोड़ती ? याज्ञवल्क्य ने कहा, नाम ही पीछे जाता है, अच्छा किया होता है तो अच्छा नाम चलता है, बुरा किया होता है तो बुरा नाम चलता है। 'नाम' अनन्त हैं— तरह-तरह के नाम मनुष्य अपने पीछे छोड़ सकता है, दिव्य-गुण भी अनन्त हैं, इन दिव्य-गुणों के कारण मनुष्य जैसा चाहे वैसा नाम पीछे छोड़ सकता है। जो इस रहस्य को जानता है वह अनन्त लोकों पर विजय पाता है ॥१२॥

आर्तभाग ने फिर पांचवां प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! अब तक हमारी-तुम्हारी 'मुक्त' होने वाले पुरुष के विषय में चर्चा हुई, अब 'बद्ध' जीव के विषय में मेरे प्रश्न का उत्तर दो। जब यह पुरुष मर

इति ह उवाच याज्ञवल्क्यः—यह उत्तर में (याज्ञवल्क्य ने) कहा, अत्र एव—यहां ही, समवनीयन्ते—(अपने-अपने कारण मूल भूतों में) लीन हो जाती हैं, सः—वह (मृत का शव), उच्छ्वयति—फूल जाता है, आध्मायति—(वायु से) भर जाता है, अफर जाता है, आध्मातः—अफरा हुआ, मृत—मरा हुआ (शव रूप में); शेते—लम्बा पड़ा रहता है ॥११॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति नामे-
त्यनन्तं वै नामानन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥१२॥

याज्ञवल्क्य ! इति ह उवाच—(आर्तभाग ने फिर) कहा हे याज्ञवल्क्य !, यत्र—जिस समय, अयम्—यह, पुरुषः—देहधारी आत्मा, म्रियते—मर जाता है; किम्—क्या (वस्तु); एनम्—इस (मृत आत्मा) को, न—नहीं; जहाति—छोड़ती है, इति—यह (पूछा); नाम इति—नाम (संज्ञा, विशेषण) इसे नहीं छोड़ता, अनन्तम् वै नाम—संज्ञा (विशेषण) अनन्त हैं, अनन्ताः विश्वेदेवाः—विश्वेदेव (दिव्य शक्तियां एवं गुण) भी अनन्त हैं; अनन्तम् एव—अनन्त ही; सः—वह (ज्ञानी); तेन—उससे; लोकम्—लोक को; जयति—जीत लेता (प्राप्त करता) है ॥१२॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं
प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाश-
मात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते

जाता है, और इसकी 'वाणी' अग्नि में, 'प्राण' वायु में, 'चक्षु' आदित्य में, 'मन' चन्द्रमा में, 'श्रोत्र' दिशाओं में, 'शरीर' पृथिवी में, शरीरवर्ती-'आकाश' ब्रह्मांड के महाकाश में, 'लोम' औषधियों में, 'केश' वनस्पतियों में, 'शोणित और रेत' जल में लीन हो जाते हैं—जब 'कार्य' अपने कारण में, 'पिंड' ब्रह्मांड में चल देता है, तब जीव का आधार कुछ नहीं बच रहता, फिर जीव किस आधार से रहता है ? रहता भी है, या नहीं, या वह भी समाप्त ही हो जाता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, हे सोम्य आर्तभाग, ला अपना हाथ दे, मेरे साथ चल, हम दोनों ही इस विषय पर अलग बैठ कर विचार करेंगे, इस जन-समूह में इस गंभीर विषय पर विचार नहीं हो सकेगा, तुम तो समझ जाओगे, दूसरे लोग नहीं समझेंगे। आर्तभाग के दुराग्रह को तोड़ने का याज्ञवल्क्य को यह अच्छा उपाय सूझा। वे दोनों उठकर कुछ दूर जाकर विचार-विनिमय करने लगे। उन्होंने अलग बैठकर 'कर्म' ही की चर्चा की, 'कर्म' ही की प्रशंसा की, और यह निष्कर्ष निकाला कि सब-कुछ छुट जाने पर भी 'कर्म' नहीं छुटता, 'कर्म' के

क्वायं तदा पुरुषो भवतीत्याहर सोम्य हस्तमार्तभा-
गाऽऽवामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत् सजन इति तौ होत्क्रम्य
मन्त्रयांचक्राते तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ यत्प्रशशंसतुः
कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति
पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥१३॥

याज्ञवल्क्य इति ह उवाच—(आर्तभाग ने फिर) कहा, हे याज्ञवल्क्य !; यत्र—जहां, जिस समय; अस्य—इस; पुरुषस्य—देही आत्मा की; मृतस्य—मरे हुए (शव-रूप में पड़े हुए); अग्निम्—अग्नि को (में); वाक्—वाणी; अपि+एति—लीन हो जाती है; वातम्—वायु को; प्राणः—प्राण (घ्राण या श्वास-प्रश्वास); चक्षुः—नेत्र; आदित्यम्—सूर्य को; मनः—मन; चन्द्रम्—चन्द्रमण्डल को; दिशः—दिशाओं को (अवकाश) को; श्रोत्रम्—कान; पृथिवीम्—(पञ्चभूतमयी) पृथिवी को; शरीरम्—सम्पूर्ण देह; आकाशम्—आकाश को; आत्मा—आत्मा (हृदयाकाश); ओषधीः—ओषधियों को; लोमानि—रोएं; वनस्पतीन्—वनस्पतियों को; केशाः—बाल; अप्सु—जलों में; लोहितम् च—रुधिर; रेतः च—और वीर्य; निधीयते—रख दिया जाता (लीन हो जाता है); क्व—कहां; तदा—तब; अयम्—यह; पुरुषः—(शरीर से युक्त) आत्मा; भवति—होता, रहता है ? इति—

सहारे ही जीव टिका रहता है, 'पुण्य-कर्म' से जीव पुण्य करने वाला होता है, 'पाप-कर्म' से पाप करने वाला होता है। इसके बाद जरत्कारु-गोत्री आर्तभाग चुप होकर बैठ गया ॥१३॥

तृतीय अध्याय—(तीसरा ब्राह्मण)

(जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा भुज्यु का विवाद)

जरत्कारु आर्तभाग के 'ग्रह' और 'अतिग्रह' एवं 'मुक्त' और 'बद्ध' जीवों की मृत्यु के सम्बन्ध में प्रश्न हो चुकने पर लह्य-वंशोत्पन्न भुज्यु प्रश्न करने को खड़े हुए। उन्होंने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! समय गुजरा, जब हम अपने कुछ मित्रों के साथ अध्ययन के लिये

यह, आहर—ला, आगे बढ़ा, सोम्य—हे सुशील, हस्तम्—हाथ को, आर्तभाग—हे आर्तभाग; आवाम्—हम दोनों; एव—ही (एकान्त में), एतस्य—इसके (विषय में), वेदिष्यावः—जानेंगे, चर्चा करेंगे, न—नहीं, नौ—हम दोनों, एतत्—इस (चर्चा) को, सजने—जन-युक्त (देश में), जन-समूह में; इति—यह (विचार प्रगट कर); तौ ह—और उन दोनों ने, उत्क्रम्य—(वहां से) उठकर, मन्त्रयांचक्राते—मन्त्रणा (विचार, ऊहापोह, तर्क-वितर्क) की, तौ ह—उन दोनों ने; यद्—जो कुछ, ऊचतुः—कहा, कर्म—कर्म (के विषय में), तद्—वह (कथन), ऊचतुः—कहा, बताया, अथ—और, यत्—जिसकी, प्रशशंसतुः—प्रशंसा की, श्रेष्ठता बताई, कर्म ह एव—कर्म की ही, तद्—तो; प्रशशंसतुः—प्रशंसा की, पुण्यः—(जीवात्मा तब) पुण्य (फल-भोगी), वै—अवश्य; पुण्येन—धर्ममय; कर्मणा—कर्म से; भवति—होता है, पापः—पाप-(फल भोक्ता), पापेन—अधर्ममय कर्म से, इति—यह उपदेश दिया, ततः ह—उसके बाद; जारत्कारवः—जरत्कारु-गोत्री; आर्तभागः—आर्तभाग, उपरराम—संतुष्ट होकर, शान्त (चुप) हो गया ॥१३॥

> अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम तस्यासीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्सुधन्वाऽऽङ्गिरस इति तं यदा लोकानामन्तानपृच्छामाथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति क्व पारिक्षिता अभवन् स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवन्निति ॥१॥

अथ ह—इसके बाद, एनम्—इस (याज्ञवल्क्य) को, भुज्युः—भुज्यु-नामक ऋषि ने, लाह्यायनिः—लह्य-वंशी; पप्रच्छ—पूछा, याज्ञवल्क्य इति

मद्र-देश में विचरण कर रहे थे। घूमते-घूमते हम पतंचल काप्य के यहां पहुंचे। उसकी कन्या का गन्धर्व-विवाह हुआ था। हमने उसके पति से पूछा, आप का शुभ-नाम क्या है? उसने कहा, मेरा नाम है, सुधन्वा आंगिरस। हम ने पूछा, आप ने तो दिग्दिगन्त में भ्रमण किया है, यह तो बताइये 'पारिक्षित'-लोग आजकल कहां हैं? हे याज्ञवल्क्य! तुम जानते हो 'पारिक्षित'-लोग कहां हैं? ॥१॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, मैं बताता हूं, तुम्हें गन्धर्व ने क्या उत्तर दिया। यह कहकर, भुज्यु को गन्धर्व ने जो-कुछ कहा था, वह याज्ञवल्क्य ने कह सुनाया। 'पारिक्षित' एक राजवंश का नाम है। इस वंश के राजा 'अश्वमेध'-यज्ञ करते थे। 'पारिक्षित' क्योंकि अश्वमेध-

ह उवाच—और कहा हे याज्ञवल्क्य!; मद्रेषु—मद्र देश में; चरकाः—(अध्ययनार्थ) विचरणशील, यात्रा करते हुए; पर्यव्रजाम—घूम रहे थे; ते—वे (हम); पतञ्चलस्य—पतञ्चल-नामी के; काप्यस्य—कपि-गोत्री; गृहान्—घरों को; ऐम—आये, पहुंचे; तस्य—उस (पतञ्चल) की; आसीत्—थी; दुहिता—पुत्री; गन्धर्व-गृहीता—गन्धर्व (कला-निपुण, विद्यावान्) द्वारा विवाहित अथवा गान्धर्व-विधि से विवाहित; तम्—उस (गन्धर्व) को; अपृच्छाम—हमने पूछा; कः—कौन, किस नामवाला; असि—तू है; इति—यह (पूछा); सः—उसने; अब्रवीत्—कहा, उत्तर दिया; सुधन्वा—सुधन्वा नामक; आङ्गिरसः—अंगिरा-गोत्री; इति—यह (मेरा नाम है); तम्—उसको (से); यदा—जब; लोकानाम्—लोकों के; अन्तान्—अन्त (पराकाष्ठा, समाप्ति के विषय में); अपृच्छाम—पूछा; अथ—और; एनम्—इसको; अब्रूम—कहा (पूछा); क्व—कहां; पारिक्षिताः—(अश्वमेध-यज्ञ करने वाले) पारिक्षित-वंशी (राजा); अभवन्—हैं, रहते हैं; इति—ऐसे (पूछा); क्व पारिक्षिताः अभवन्—पारिक्षित राजा कहां हैं; सः—वह (मैं); त्वा—तुझसे; पृच्छामि—पूछता हूं; याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य; क्व पारिक्षिताः अभवन्—वे अश्वमेधयाजी पारिक्षित राजा कहां हैं; इति—यह ॥१॥

स होवाचोवाच वै सोऽगच्छन्वै ते तद्यत्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिँशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तँ समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति ताँ समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति तद्यावती

यज्ञ करते थे, इसलिये वे भी वहां पहुंचे जहां अश्वमेध-यज्ञ करने वाले पहुंचते हैं। भुज्यु ने कहा, कहां पहुंचते हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा, सुनो! जहां से सूर्य उदय होता है, और जहां अस्त होता है, उतना रास्ता तय करने के लिये देव-रथ को ३२ दिन लगते हैं। पृथिवी जितनी इधर दीखती है उतनी नीचे की तरफ़ भी है, इसलिये पृथिवी देव-रथ के मार्ग से दुगनी है। पृथिवी से दुगना समुद्र है। पृथिवी तथा समुद्र को ऊपर का आकाश बहुत पास से छूता है, यह अन्तर मानो छुरे की धार या मक्खी के पर जितना है। आकाश तथा पृथिवी के बीच इस अन्तर में—जो इस विशाल सृष्टि के विस्तार को देखते हुए इतना थोड़ा है जितना पतला मक्खी का पर या छुरे की धार—इस अन्तर में वायु रहती है। इन्द्र, अर्थात् परमात्मा ने मानो स्वयं पक्षी का रूप धारण कर अश्वमेध-यज्ञ करने वाले पारिक्षितों को कहा, उड़ जाओ इस पृथ्वी से आकाश के 'वायु' में, और उसके

क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकाया पत्र तावानन्तरेणा-
काशस्तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्वायुरात्मनि
धित्वा तत्रागमयद्यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन्नित्येवमिव वै स
वायुमेव प्रशशंस तस्माद्वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप
पुनर्मृत्युं जयति य एव वेद ततो ह भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम ॥२॥

स ह उवाच—उस याज्ञवल्क्य ने उत्तर में कहा कि, उवाच वै—कहा था, बताया था, स—उस (सुधन्वा गन्धर्व) ने, अगच्छन् वै—निश्चय ही गये (प्राप्त हुए) हैं, ते—वे (पारिक्षित), तद्—उसको, वहां, यत्र—जहां, अश्वमेधयाजिन—अश्वमेध नामक यज्ञ करनेवाले, गच्छन्ति—जाते हैं, इति—ऐसे, (भुज्यु ने फिर पूछा) क्व नु—कहां ही, अश्वमेधयाजिन—अश्वमेध यज्ञ करनेवाले, गच्छन्ति—जाते हैं, इति—यह (बताइये), द्वात्रिंशतम्—बत्तीस, वै—निश्चयपूर्वक, देवरथ+अह्न्यानि—सूर्य के रथ (जितना मार्ग सूर्य एक दिन मे पूर्व से पश्चिम तक तै करता है उतना) के दिन (मार्ग के) के परिमाणवाला, अयम्—यह (अश्वमेध-याजियों का), लोक—लोक है, तम्—उस (लोक) के, समन्तम्—चारों ओर, पृथिवी—पृथिवी, द्विस्तावत्—दोबार उस (देवरथ मार्ग) से दुगनी, पर्येति—चारों ओर है, ताम् समन्तम्—

साथ-साथ पहुंच जाओ उस ब्रह्म-लोक में जहां अश्वमेध-यज्ञ करने वाले जा पहुंचते हैं। इस प्रकार अश्वमेध-यज्ञ करके पारिक्षित भी इस विशाल पृथिवी से 'वायु' द्वारा आकाश में मानो उड़ते हुए उसी लोक में जा पहुंचे जहां दूसरे अश्वमेध-यज्ञ करने वाले पहुंचे हैं। यह सब चमत्कार वायु का है, क्योंकि अस्ल में वे 'वायु', अर्थात् 'प्राण' द्वारा ही उस लोक तक पहुंचे। वायु का अर्थ व्यष्टि में, अर्थात् पिंड में, 'प्राण' है, समष्टि में, अर्थात ब्रह्मांड में 'वायु' है—पारिक्षितों का व्यष्टि-रूप प्राण ब्रह्मांड के समष्टि-रूप वायु में लीन होकर 'ब्रह्म-लोक' पहुंच गया—यही वह स्थान है, जहां अश्वमेध-यज्ञ करने वाले पहुंचते हैं, और जहां पारिक्षित पहुंचे। जो इस रहस्य को जानता है वह मृत्यु को जीत लेता है। इसके बाद लह्य-वंशोत्पन्न भुज्यु चुप होकर बैठ गया ॥२॥

उस पृथिवी के चारों ओर; **पृथिवीम्**—पृथिवी के; **द्विस्तावद्**—(उससे) दुगना; **समुद्रः**—समुद्र; **पर्येति**—चारों ओर घिरा है; **तद्**—तो; **यावती**—जितनी (सूक्ष्म); **क्षुरस्य**—उस्तरे की; **धारा**—धार; **यावद् वा**—या जितना; **मक्षिकायाः**—मक्खी का; **पत्रम्**—पर, पंख (सूक्ष्म) है; **तावान्**—उतना; **अन्तरेण**—(पृथिवी और समुद्र के) मध्य में; **आकाशः**—आकाश है (अर्थात् समुद्र और पृथिवी अति निकट हैं); **तान्**—उन (पारिक्षितों) को; **इन्द्रः**—यज्ञाधिपति, देवों के देव, ऐश्वर्य के अधिष्ठाता भगवान् ने; **सुपर्णः**—गरुड, सुपतनशील; **भूत्वा**—होकर (अर्थात् तत्काल, अनायास ही); **वायवे**—वायु को; **प्रायच्छत्**—दे दिया (वे वायुमण्डल में विचरने लगे); **तान्**—उन (आये हुए पारिक्षित राजाओं) को; **वायुः**—वायु ने; **आत्मनि**—अपने में; **धित्वा**—धारण कर; **तत्र**—वहां; **अगमयत्**—पहुंचा दिया; **यत्र**—जहां (जिस गति—लोक में); **अश्वमेधयाजिनः**—(अन्य) अश्वमेध यज्ञ करने वाले; **अभवन्**—रहते हैं; **इति**—यह (सब है, जो सुधन्वा ने बताया था); **एवम् इव वै**—इस जैसा ही है, ऐसे ही है; **सः**—उस (गन्धर्व सुधन्वा) ने; **वायुम् एव**—वायु की ही; **प्रशशंस**—प्रशंसा की (श्रेष्ठ निरूपण किया); **तस्माद्**—उस कारण से; **वायुः एव**—वायु ही; **व्यष्टिः**—(शरीर-पिण्ड) में इकली है; **वायुः**—वायुः; **समष्टिः**—(ब्रह्मांड) में समूह रूप में है; **अप पुनः मृत्युम् जयति**—वह (ज्ञानी) [मृत्यु को जीत लेता (मृत्यु से छूट जाता) है; **यः एवम् वेद**—जो ऐसे जानता है; **ततः ह**—और उसके बाद; **भुज्युः लाह्यायनिः**—लह्य-वंशी भुज्युः; **उपरराम**—(संतुष्ट होकर) शान्त (चुप) हो गया ॥२॥

तृतीय अध्याय—(चौथा ब्राह्मण)
(जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा उषस्त चाक्रायण का विवाद)

अब उषस्त चाक्रायण प्रश्न पूछने को खड़े हुए। उन्होंने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् ब्रह्म है, अपरोक्ष, अर्थात् प्रत्यक्ष 'ब्रह्म' है, इन्द्रियों से दीखनेवाला ब्रह्म है, जिसे लोग 'आत्मा' भी कहते हैं, जो सबके भीतर है, उसकी व्याख्या करो। याज्ञवल्क्य ने कहा, 'एष ते आत्मा सर्वान्तर.'—यह तेरा 'आत्मा' सबके भीतर है। उषस्त ने कहा, कौन-सा आत्मा सबके भीतर है? याज्ञवल्क्य ने कहा, वही जो 'प्राण' द्वारा जीवन में दिखाई देता है, 'अपान'-'व्यान'-'उदान' द्वारा अपने को प्रकट कर रहा है, 'स ते आत्मा सर्वान्तर.'—वह तेरा 'आत्मा' सबके भीतर है, 'एष ते आत्मा सर्वान्तरः'—यह तेरा 'आत्मा' सबके भीतर है ॥१॥

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व इत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः ॥१॥

अथ ह—इसके बाद, एनम्—इस (याज्ञवल्क्य) को, उषस्तः—उषस्त ने, चाक्रायण—चाक्रायण, पप्रच्छ—पूछा, याज्ञवल्क्य इति ह उवाच—और कहा कि हे याज्ञवल्क्य !, यत्—जो, साक्षात्—अनुभव का विषय अपरोक्षात्—प्रत्यक्ष, ब्रह्म—ब्रह्म है, (और) यः—जो, आत्मा—आत्मा, सर्व+अन्तरः—सब के अन्दर विद्यमान है (सर्वान्तर्यामी है), तम्—उसको (भी), मे—मुझे, व्याचक्ष्व—व्याख्या करो, स्पष्टतया समझाओ, इति—यह (निवेदन किया), एष—यह, ते—तेरा (अपना), आत्मा—(ज्ञानमय) आत्मा, सर्वान्तरः—अन्तर्यामी है, कतमः—कौन-सा, याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य, सर्वान्तर—सर्वान्तर्यामी है ?, यः—जो, प्राणेन—प्राण से, प्राणिति—श्वास लेता है, सः ते आत्मा सर्वान्तरः—वह (श्वसन क्रिया का प्रेरयिता) तेरा आत्मा अन्तर्यामी है, यः—जो, अपानेन—अपान से, अपानिति—अपान का कार्य कराता है, सः ते आत्मा सर्वान्तरः—वह ही तेरा आत्मा (तेरे अन्दर) अन्तर्यामी

उषस्त चाक्रायण ने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! जैसे कोई गौ और अश्व के विषय में पूछे और उसे गाय तथा घोड़ा न दिखाकर 'दूध देनेवाली गौ होती है'—'दौड़नेवाला घोड़ा होता है'—यह कहकर टाल दिया जाय, वैसे ही 'साक्षात्-प्रत्यक्ष ब्रह्म आत्मा जो सबके भीतर है, क्या है'—यह पूछने पर तुमने मुझे यह कहकर टाल दिया कि जो सबके भीतर है, वह 'आत्मा' है ! याज्ञवल्क्य ! सबके भीतर रहनेवाला 'आत्मा' कहां है, दिखलाओ तो ? याज्ञवल्क्य ने कहा, वह तो स्वयं देखनेवाला है, उसे तुम किससे देखोगे, वह तो स्वयं सुननेवाला है, उसे तुम किससे सुनोगे, वह तो स्वयं मनन करनेवाला है, उसका तुम किससे मनन करोगे, वह तो स्वयं जाननेहारा है, उसका विज्ञान तुम किससे प्राप्त करोगे ? 'तेरा यह आत्मा सबके भीतर है'—'अर्थात् जब तुम पूछते हो, दिखाओ आत्मा कहां

है; यः—जो; व्यानेन—व्यान (प्राण-भेद) से; व्यानिति—व्यान का कार्य कराता है; सः ते आत्मा सर्वान्तरः—वह ही सर्वान्तर्यामी तेरा आत्मा है; यः—जो; उदानेन—उदान (प्राण-भेद) से; उदानिति—उदान का कार्य कराता है; सः ते आत्मा सर्वान्तरः—वह (शरीर में) अन्तर्यामी ही तेरा आत्मा है; एषः ते आत्मा सर्वान्तरः—यह ही (तेरा जिज्ञास्य) आत्मा शरीर में व्यापक है ॥१॥

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसावश्व इत्येवमेवैतद् व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः । न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम ॥२॥

सः ह उवाच उषस्तः चाक्रायणः—उस चाक्रायण उषस्त ने फिर कहा; यथा—जैसे; विब्रूयात्—स्पष्टतया बताया जाय; असौ गौः—यह गाय है; असौ अश्वः—यह घोड़ा है; इति—ऐसे; एवम् एव—इस प्रकार ही; एतद्—यह भी; व्यपदिष्टम् भवति—बताने योग्य है, बताया जाना चाहिये; यद् एव—जो ही; साक्षात्—अनुभव का विषय; अपरोक्षात्—प्रत्यक्ष; ब्रह्म—ब्रह्म है; यः आत्मा सर्वान्तरः—जो सर्वान्तर्यामी आत्मा है; तम् मे व्याचक्ष्व—उसका मेरे प्रति व्याख्या (निरूपण) कर; इति—यह; एषः—यह; ते—तेरा; आत्मा—आत्मा; सर्वान्तरः—सब के मध्य में है; कतमः—कौनसा; याज्ञवल्क्य—हे

है, तो मैं यही तो कह सकता हूं कि आत्मा तो सबके भीतर दीख रहा है'—इससे भिन्न कोई उपदेश तो दुःख पहुंचानेवाला ही है—'अतो अन्यद् आर्तम्'। यह सुनकर उषस्त चाक्रायण चुप होकर बैठ गया ॥२॥

तृतीय अध्याय—(पांचवां ब्राह्मण)

(जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा कहोल का विवाद)

इसके बाद कुषीतकी के पुत्र कहोल खड़े हुए। उन्होंने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात्-अपरोक्ष ब्रह्म है, जो आत्मा है, जो सर्वान्तर है, सबके भीतर है, उसकी व्याख्या फिर करो। याज्ञवल्क्य ने वही उत्तर, जो उषस्त को दिया था, फिर दोहरा दिया—'यह तेरा आत्मा सबके भीतर है।' कहोल ने पूछा, हम तो भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-

---

याज्ञवल्क्य, सर्वान्तर—सब में विद्यमान है, (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) न—नहीं, दृष्टे—दर्शन शक्ति (आंख) के, द्रष्टारम्—देखनेवाले (आत्मा) को, पश्ये—(तू आंख से) देख सकेगा, न—नहीं, श्रुते—कर्ण इन्द्रिय के श्रोतारम्—सुननेवाले (आत्मा) को शृणुया—(तू कान से) सुन सकेगा न—नहीं, मते—(मनन शक्ति) मन के भी मन्तारम्—मनन करने वाले (आत्मा) को, मन्वीथा—(तू मन से) मनन कर सकेगा न—नहीं विज्ञाते—(ज्ञान शक्ति) बुद्धि के, विज्ञातारम्—जाननेवाले (आत्मा) को विजानीया—(तू बुद्धि से) जान सकेगा एष—यह ही ते—तेरा, आत्मा—आत्मा, सर्वान्तर—सर्व (देह) व्यापी है अतः—इससे अन्यत्—भिन्न (कथन), आर्तम्—दुःखदायी, व्यर्थ है ततः ह उषस्त चाक्रायण—उसके बाद चाक्रायण उषस्त (सन्तुष्ट होकर), उपरराम—शान्त (चुप) हो गया ॥२॥

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः। कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति। एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः। तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एवातोऽन्यदार्तं ततो ह कहोलः कौषीतकेय उपरराम ॥१॥

मृत्यु से घिरे हुए हैं, हमारे भीतर वह कौन-सा आत्मा है जो भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-मृत्यु को लांघे हुए है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, यह वही आत्मा है, जिसे जान लेने पर ब्रह्म-ज्ञानी 'पुत्रैषणा' (Sex impulse)- 'वित्तैषणा' (Possessive impulse)-'लोकैषणा' (Self-assertive impulse) से मुंह फेर कर ऊपर उठ जाते हैं, भिक्षा से निर्वाह कर सन्तुष्ट रहते हैं—ये एषणाएं छूटती नहीं, पर उसके जान लेने पर आप-से-आप छूट जाती हैं। ऐ कहोल ! जो पुत्रैषणा है वही वित्तैषणा है, जो वित्तैषणा है वही लोकैषणा है; 'पुत्रैषणा-वित्तैषणा' और 'वित्तैषणा-लोकैषणा'—इन दोनों का जोड़ा भी एक ही है। वास्तव में मनुष्य में आधार-भूत जो एषणा (Urge, Libido) है, वही आयु तथा समय-भेद से भिन्न-भिन्न एषणाओं का रूप धारण करती है। इसलिये ब्रह्म-ज्ञानी जब एषणाओं को छोड़ देता है, तब 'पाण्डित्य' को छोड़कर 'बाल-भाव' में आ जाता है, बालक-जैसा सरल बन जाता है। इसके बाद वह 'पाण्डित्य' तथा 'बाल-भाव' दोनों को छोड़कर 'मुनि' बन जाता है—मौन की तरह शान्त हो जाता है। फिर अमौन-मौन सब को छोड़कर अपने शुद्ध ब्रह्म-ज्ञानी के रूप

अथ ह—इसके बाद; **एनम्**—इस (याज्ञवल्क्य) को; **कहोलः**—कहोल (नामक); **कौषीतकेयः**—कुषीतकी के पुत्र; **पप्रच्छ**—पूछने लगा; **याज्ञवल्क्य इति ह उवाच**—और कहा कि हे याज्ञवल्क्य !; **यद् . . . . सर्वान्तरः**—अर्थ पूर्ववत्; **यः**—जो; **अशनाया-पिपासे**—भूख-प्यास को; **शोकम्**—शोक को; **मोहम्**—मोह को; **जराम्**—क्षीणता या बुढ़ापे को; **मृत्युम्**—मौत को; **अत्येति**—पार कर जाता है, इनका शिकार नहीं होता है; **एतम् वै**—इस ही; **आत्मानम्**—आत्मा को; **विदित्वा**—जान कर, मान कर; **ब्राह्मणाः**—ब्रह्म-ज्ञानी ब्राह्मण; **पुत्र+एषणायाः च**—पुत्र की इच्छा (काम-भाव) से; **वित्त+एषणायाः च**—और धन की इच्छा (अर्थ) से; **लोक-एषणायाः**—लोक-संग्रह (यश) की इच्छा (धर्म-भाव) से; **व्युत्थाय**—विशेष रूप से ऊपर उठकर (इनको छोड़कर); **अथ**—तदनन्तर; **भिक्षाचर्यम्**—भिक्षा से जीवन-निर्वाह; **चरन्ति**—करते हैं; (**भिक्षा-चर्यम् चरन्ति**—भिक्षुक हो जाते हैं, संन्यास ग्रहण कर लेते हैं, मोक्ष-पथ के अनुगामी हो जाते हैं); **या हि एव**—जो ही; **पुत्रैषणा**—पुत्र-कामना है; **सा**—वह (भी); **वित्तैषणा**—धन-कामना (की उत्पादक) है; **या वित्तैषणा**—जो धन की कामना है; **सा लोकैषणा**—वह ही यश की कामना (की पूर्ति के

में आ जाता है। कहोल ने पूछा, ऐसा ब्रह्म-ज्ञानी कैसे बने? याज्ञवल्क्य ने कहा, जैसे भी बने ऐसा ही बने, इससे भिन्न कोई भी मार्ग दुःख ही पहुंचाने वाला है। यह सुनकर कुषीतकी का पुत्र कहोल चुप होकर बैठ गया ॥१॥

तृतीय अध्याय—(छठा ब्राह्मण)

(जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा गार्गी का विवाद)

इसके बाद वाचक्नवी गार्गी खड़ी हुई और पूछने लगी, हे याज्ञवल्क्य! यह 'पृथिवी' चारों तरफ से 'जल' में ओत-प्रोत है—जल ही इस पृथिवी पर छा रहा है, जल किस में ओत-प्रोत है?

लिये) है; उभे हि एते—दोनों ही ये, एषणे—(एक शब्द में) कामना (तृष्णा का रूप), एव—ही, भवतः—हैं, तस्मात्—उस कारण से; ब्राह्मणः—ब्रह्म ज्ञानी, आत्मज्ञानी, पाण्डित्यम्—पण्डिताई, विद्या (शास्त्र-ज्ञान) को; निर्विद्य—निश्शेषता (पूर्णता) से जानकर अथवा (निर्विद्य—उपरत होकर, उपेक्षा कर, छोड़ कर); बाल्येन—बाल-भाव से, निर्लेप रूप से, तिष्ठासेत्—रहने की इच्छा (प्रयत्न) करे, (और फिर) बाल्यम् च पाण्डित्यम् च—बाल-भाव (निर्लेपता) और पाण्डित्य (शास्त्रज्ञता) को, निर्विद्य—उपेक्षा कर, छोड़ कर, अथ—तब, मुनिः—चुप, वाक्संयमी (हो जाये); अमौनम् च—वाक्पटुता, मौनम् च—और वाक्संयम को, निर्विद्य—उपेक्षा कर, छोड़कर, अथ—तत्पश्चात्, ब्राह्मणः—ब्रह्म-ज्ञानी (हो जाये), (कहोल ने पूछा कि) सः ब्राह्मणः—वह ब्राह्मण, केन—किस (साधन) से, किस प्रकार, स्यात्—हो सकता है, (उत्तर में कहा) येन—जिस भी प्रकार, जिस भी साधन से, स्यात्—होवे, तेन—उस प्रकार से, ईदृश—ऐसा (उपरि-निर्दिष्ट), एव—ही (होवे), अतः अन्यत्—इससे भिन्न (रूप में) तो, आर्तम्—पीडाजनक एवं व्यर्थ ही है, ततः ह कहोलः कौषीतकेयः—उसके पश्चात् (प्रश्न का समाधान पाकर) कुषीतकी का पुत्र कहोल; उपरराम—शान्त (चुप) हो गया ॥१॥

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका

याज्ञवल्क्य ने कहा, 'वायु' में ! वायु किस में ओत-प्रोत है ? 'अन्तरिक्ष-लोकों' में ! अन्तरिक्ष-लोक किस में ओत-प्रोत हैं ? 'गन्धर्व-लोकों' में ! गन्धर्व-लोक किस में ओत-प्रोत हैं ? 'आदित्य-लोकों' में ! आदित्य-लोक किस में ओत-प्रोत हैं ? 'चन्द्र-लोकों' में ! चन्द्र-लोक किस में ओत-प्रोत हैं ? 'नक्षत्र-लोकों' में ! नक्षत्र-लोक किस में ओत-प्रोत हैं ? 'देव-लोकों' में ! देव-लोक किस में ओत-प्रोत हैं ? 'इन्द्र-लोकों' में ! इन्द्र-लोक किस में ओत-प्रोत हैं ? 'प्रजापति-लोकों' में ! प्रजापति-लोक किस में ओत-प्रोत हैं ? हे याज्ञवल्क्य ! यह बताओ कि जैसे कपड़े में ताना-बाना होता है और तभी कपड़ा रह सकता है, जैसे सूत्र में मनके पिरोये होते हैं और तभी माला रह सकती है, वैसे प्रजापति के ये सब लोक-लोकान्तर किस कपड़े में ताने-बाने की तरह

ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेतीन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोता-श्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स होवाच गार्गि माऽतिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवता-मतिपृच्छसि गार्गि माऽतिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम ॥१॥

अथ ह एनम्—इसके बाद इससे; गार्गी—गार्गी ने; वाचक्नवी—वचक्नु की पुत्री; पप्रच्छ—पूछा; याज्ञवल्क्य इति ह उवाच—और कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! ; यद् इदम् सर्वम्—जो यह सब कुछ; अप्सु—जल में; ओतम् च प्रोतम् च—ओत-प्रोत (अन्दर-बाहर से संबद्ध) है, रमा हुआ है; कस्मिन्—किसमें; नु खलु—निश्चय से; आपः—जल; ओताः च प्रोताः च—ओत-प्रोत (रमे हुए) हैं; इति—यह (बताओ); वायौ—वायु में; गार्गि—हे गार्गि! ; इति—यह (उत्तर है); कस्मिन् नु खलु—(और) किस में; वायुः—वायु; ओतः च प्रोतः च—ओत-प्रोत है; इति—यह (बताइये); अन्तरिक्ष-लोकेषु—अन्तरिक्ष लोकों में; गार्गि इति—हे गार्गि ! (यह ओत-प्रोत है); कस्मिन् नु खलु—और किस में; अन्तरिक्षलोकाः ओताः च प्रोताः च इति—अन्तरिक्ष लोक ओत-प्रोत हैं यह (बताइये); गन्धर्वलोकेषु—गन्धर्व-लोकों में; गार्गि इति—हे गार्गि ! ये (ओत-प्रोत हैं); कस्मिन् नु खलु गन्धर्वलोकाः ओताः च प्रोताः च—किसमें ये गन्धर्व-लोक ओत-प्रोत हैं यह (पूछा); आदित्यलोकेषु गार्गि इति—हे गार्गि ! ये आदित्य (सूर्य) लोकों में ओत-प्रोत हैं; कस्मिन् नु खलु आदित्यलोकाः ओताः च प्रोताः च इति—किसमें ये आदित्य-लोक ओत-प्रोत

या किस सूत्र में मनके की तरह ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, हे गार्गी, 'ब्रह्म-लोक' में ! गार्गी ने कहा, ब्रह्म-लोक किस में ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य बोले, हे गार्गी 'अतिप्रश्न' मत पूछ, कहीं तेरा सिर न फिर जाय। तू 'अनतिप्रश्न्य'-देवता के विषय में, अर्थात् उस देवता के विषय में जिसके संबंध में 'अतिप्रश्न' हो ही नहीं सकता, पूछने लगी है, यह ब्रह्म-देवता ऐसा है जिसके विषय में 'अति-प्रश्न' तो हो ही नहीं सकता, अर्थात् इसके विषय में कोई भी प्रश्न आगे चल ही नहीं सकता, जो आगे-आगे प्रश्न करता चला जायगा वह कहीं नहीं रुकेगा, उसका सिर फिर जायगा, इसलिये हे गार्गी ! तू 'अतिप्रश्न' मत कर। यह सुनकर गार्गी चुप होकर बैठ रही ॥१॥

हैं; चन्द्र-लोकेषु गार्गि इति—हे गार्गि ! ये चन्द्र-लोकों में ओत प्रोत है, कस्मिन् नु खलु चन्द्रलोकाः ओताः च प्रोताः च इति—किसमें ये चन्द्र-लोक ओत-प्रोत हैं, नक्षत्र-लोकेषु गार्गि इति—हे गार्गि ! ये नक्षत्र-लोकों में ओत-प्रोत है, कस्मिन् नु खलु नक्षत्र-लोकाः ओताः च प्रोताः च इति—किसमें ये नक्षत्र-लोक ओत-प्रोत हैं, देवलोकेषु गार्गि इति—हे गार्गि ! ये देव-लोकों में ओत-प्रोत है, कस्मिन् नु खलु देवलोकाः ओताः च प्रोताः च इति—किसमें ये देव-लोक ओत-प्रोत हैं, इन्द्रलोकेषु गार्गि इति—हे गार्गि ! ये इन्द्र-लोकों में ओत प्रोत है, कस्मिन् नु खलु इन्द्रलोकाः ओताः च प्रोताः च इति—किसमें ये इन्द्रलोक ओत-प्रोत हैं, प्रजापतिलोकेषु गार्गि इति—हे गार्गि ! प्रजापति-लोकों में ये ओत-प्रोत हैं; कस्मिन् नु खलु प्रजापतिलोकाः ओताः च प्रोताः च—किसमें ये प्रजापति-लोक ओत-प्रोत हैं, ब्रह्मलोकेषु गार्गि इति—हे गार्गि ! ये ब्रह्म-लोक में ओत-प्रोत हैं, कस्मिन् नु खलु ब्रह्मलोकाः ओताः च प्रोताः च—किसमें ये ब्रह्म-लोक ओत-प्रोत है, सः ह उवाच—उस (याज्ञवल्क्य) ने कहा, गार्गि—हे गार्गि ! मा—मत, अतिप्राक्षीः—इससे आगे पूछ, मा—नहीं, ते—तेरा, मूर्धा—मस्तक, व्यपप्तद्—गिरे, झुके, अनतिप्रश्न्याम्—जो अति-प्रश्न (आगे-आगे, और-और विविध प्रश्नों) का विषय—ज्ञेय नहीं है, जो प्रश्नों से परे है (जो विविध प्रश्नों के समाधान से नहीं जाना जा सकता, किन्तु अनुभव का विषय है), वै—ऐसे, देवताम्—देवता के विषय में; अतिपृच्छसि—पुन-पुन पूछ रही है, गार्गि मा अतिप्राक्षीः—हे गार्गि ! अब और आगे मत पूछ, इति—यह (याज्ञवल्क्य ने कहा), ततः ह—और उसके बाद (ऋषि के तात्पर्य को समझ कर), गार्गी वाचक्नवी—वचक्नु की पुत्री गार्गी; उपरराम—चुप (शान्त) हो गई (बैठ गयी) ॥१॥

(गार्गी के ये प्रश्न ३३ देवताओं से सम्बन्ध रखते हैं। ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इन्द्र तथा प्रजापति—वैदिक साहित्य में ये ३३ देवता माने जाते हैं। अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, देव-लोक, चन्द्र, नक्षत्र—ये आठ वसु हैं, इनमें अग्नि का वास पृथिवी में, वायु का अन्तरिक्ष में, आदित्य का देवलोक (द्यु-लोक) में, चन्द्र का नक्षत्र-लोक में है। दस 'देव', अर्थात् इन्द्रियां तथा मन मिलकर ग्यारह रुद्र हैं। बारह मास बारह आदित्य हैं। गार्गी के प्रश्न में इन्हीं ३३ देवताओं का हेर-फेर है। गार्गी ने अपने प्रश्नों में अग्नि को नहीं रखा, जल को रखा है, क्योंकि अग्नि इस प्रकार फैली हुई नहीं पाई जाती जैसे जल पाये जाते हैं। ३३ देवताओं के 'अग्नि-पृथिवी-वायु-अन्तरिक्ष' की जगह गार्गी ने 'पृथिवी-जल-वायु-अन्तरिक्ष'—इस क्रम को लिया है; ३३ देवताओं के 'आदित्य-देव-चन्द्र-नक्षत्र' की जगह गार्गी ने 'गन्धर्व-आदित्य-चन्द्र-नक्षत्र'—इस क्रम को लिया है, और इस क्रम में भी 'देव-लोक' की जगह 'गन्धर्व-लोक' के सम्बन्ध में प्रश्न किया है, और गन्धर्व-लोक को आदित्य से पहले कह दिया है; ३३ देवताओं के ११ रुद्रों को देव कहकर बचे हुए देवताओं को दृष्टि में रखकर गार्गी ने 'देव-इन्द्र-प्रजापति-ब्रह्म' के सम्बन्ध में प्रश्न किया है। रुद्र क्योंकि इन्द्रियों का नाम है, और इन्द्रियों को उपनिषद् में 'देव' कहा जाता है, इसलिये रुद्रों को 'देव' कहना असंगत नहीं है। याज्ञवल्क्य के कहने का मुख्य अभिप्राय इतना ही है कि तैंतीस-के-तैंतीस देवता ब्रह्म में ही माला के मनके की तरह पिरोये हुए हैं, कोई स्वतन्त्र नहीं है।)

तृतीय अध्याय—(सातवां ब्राह्मण)

(जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा उद्दालक का विवाद)

इसके बाद आरुणि उद्दालक खड़े हुए और कहने लगे, हे याज्ञवल्क्य ! समय गुजरा जब हम लोग अपने कुछ मित्रों के साथ यज्ञ-

---

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्तस्यासीद् भार्या गन्धर्वगृहीता

शास्त्र का अध्ययन करने के लिये मद्र-देश में पतचल काप्य के घर में निवास करते थे। उसकी स्त्री का एक गन्धर्व से गहरा परिचय था। हमने उस गन्धर्व से पूछा, आप का शुभ-नाम क्या है? उसने, कहा, मेरा नाम है, कबन्ध आथर्वण। उसने पतचल काप्य से और हम याज्ञिकों से प्रश्न किया, क्या तुम उस 'सूत्र' को जानते हो जिस में यह लोक, पर-लोक और सब भूत मनके की तरह पिरोये हुए हैं? काप्य ने कहा, भगवन्! मैं नहीं जानता। फिर उसने दूसरा प्रश्न किया, हे काप्य! क्या तुम उस 'अन्तर्यामी' को जानते हो जो इस लोक, पर-लोक और सब भूतों का अन्तर्यमन कर रहा है, भीतर से उनका नियमन कर रहा है, नियन्त्रण कर रहा है? काप्य

तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत् कबन्ध आथर्वण इति सोऽब्रवीत्पतञ्चल काप्य याज्ञिकांश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तत्सूत्रं येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सदृब्धानि भवन्तीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तद्भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकांश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि भूतानि च योऽन्तरो यमयतीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तं भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकांश्च यो वै तत्काप्य सूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति स ब्रह्मवित्स लोकवित्स देववित्स वेदवित्स भूतवित्स आत्मवित्स सर्वविदिति तेभ्योऽब्रवीत्तदहं वेद तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वाꣳस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति वेद वा अहं गौतम तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति यो वा इदं कश्चिद्ब्रूयाद्वेद वेदेति यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति ॥१॥

अथ ह—और इसके बाद, एनम्—इस (याज्ञवल्क्य) से, उद्दालक—उद्दालक ने, आरुणि—अरुण के पुत्र, पप्रच्छ—पूछा, याज्ञवल्क्य इति ह उवाच—और कहा कि हे याज्ञवल्क्य!, मद्रेषु—मद्र-देश में, अवसाम—हम रहते थे, पतञ्चलस्य काप्यस्य—कपि-गोत्री पतञ्चल के, गृहेषु—घरों में, यज्ञम्—यज्ञ को (के विषय में), अधीयाना—अध्ययन करते हुए, तस्य—उसकी, आसीत्—थी, भार्या—पत्नी, गन्धर्वगृहीता—किसी गन्धर्व (विद्या-कला के ज्ञाता) से परिचित (अनुरक्त), तम्—उस (परिचित गन्धर्व) को, अपृच्छाम—हमने पूछा, कः असि—तू कौन (किस नामवाला) है, इति—ऐसे, सः—उस (गन्धर्व) ने, अब्रवीत्—कहा, कबन्ध—कबन्ध (नाम का), आथर्वण—अथर्व-गोत्री या अथर्ववेद का ज्ञाता, इति—यह (परिचय दिया),

ने कहा, भगवन् ! मैं नहीं जानता। तब उसने कहा, हे काप्य ! जो उस 'सूत्र' को, और उस 'अन्तर्यामी' को जानता है, वही ब्रह्मवित् है, वही लोकवित् है, वही देववित् है, वही वेदवित् है, वही भूतवित् है, वही आत्मवित् है, वही सर्ववित् है। उसके बाद उसने 'सूत्र' तथा 'अन्तर्यामी' के विषय में चर्चा की। उसने जो-कुछ कहा वह मुझे मालूम है। हे याज्ञवल्क्य ! अगर तुझे उस 'सूत्र' और 'अन्तर्यामी' का ज्ञान नहीं है, और फिर भी तुमने ब्रह्म-ज्ञानी को दी जाने वाली गौएं हंकवा ली हैं, तो तुम्हारा सिर गिर पड़ेगा, तुम्हें मुंह की खानी पड़ेगी। याज्ञवल्क्य ने कहा, हे गौतम ! मैं उस 'सूत्र', और उस 'अन्तर्यामी' को जानता हूं। आरुणि ने कहा, सब कोई कहा करते हैं, मैं जानता हूं, मैं जानता हूं—जो जानते हो, सो कहो ॥१॥

सः—उस (गन्धर्व) ने; **अब्रवीत्**—कहा; **पतञ्चलम् काप्यम्**—(गृहस्वामी) काप्य पतञ्चल को; **याज्ञिकान् च**—और हम यज्ञ के अध्येताओं को; **वेत्थ**—जानता है; **नु**—क्या; **काप्य**—हे काप्य !; **तद्**—उस; **सूत्रम्**—धागा, बन्धन को; **येन**—जिससे; **अयम् च लोकः**—यह लोक (यह वर्तमान जीवन); **परः च लोकः**—और दूसरा (अन्य) लोक (पर-जन्म); **सर्वाणि च भूतानि**—और सारे (चर-अचर) भूत; **संदृब्धानि**—(एक-सूत्र में) बंधे (जकड़े) हुए; **भवन्ति**—होते हैं; **इति**—यह (पूछा); **सः अब्रवीत् पतञ्चलः काप्यः**—(उत्तर में) काप्य पतञ्चल ने कहा; **न अहम् तद्**—नहीं मैं उस (सूत्र) को; **वेद इति**—जानता हूं; **सः अब्रवीत् पतञ्चलम् काप्यम् याज्ञिकान् च**—(फिर) उसने काप्य पतञ्चल और हम यज्ञ-अध्येताओं को कहा (पूछा); **वेत्थ नु त्वम् काप्य**—हे काप्य क्या तू जानता है; **तम्**—उस; **अन्तर्यामिणम्**—अन्तर्यामी को; **यः**—जो; **इमम् च लोकम्**—इस लोक को; **परम् च लोकम्**—और दूसरे (इस लोक से भिन्न) लोक को; **सर्वाणि भूतानि च**—और सारे (चार-अचर) भूतों को; **यः**—जो; **अन्तरः**—अन्दर रमण करता हुआ, अन्दर स्थित (विद्यमान); **यमयति**—नियंत्रित करता है, नियम (मर्यादा) में रखता है; **इति**—यह (पूछा); **सः. . याज्ञिकान् च**—अर्थ पूर्ववत्; **यः वै**—जो तो; **तत्**—उस; **काप्य**—हे काप्य !; **सूत्रम्**—सूत्र (बन्धन) को; **विद्यात्**—जान जाये; **तम् च अन्तर्यामिणम्**—और उस अन्तर्यामी को; **इति**—ऐसे; **सः ब्रह्मवित्**—वह ब्रह्मज्ञानी; **सः लोकवित्**—वह लोकों का ज्ञाता; **सः देववित्**—वह देवताओं का ज्ञाता; **सः भूतवित्**—वह (चर-अचर) भूतों का ज्ञाता; **सः आत्मवित्**—वह आत्मा (अपने स्वरूप) का ज्ञाता; **सः सर्ववित्**—वह सबको जानने वाला (होता)

याज्ञवल्क्य ने कहा, हे गौतम ! ब्रह्मांड में 'वायु' तथा पिंड में 'प्राण' ही वह सूत्र है जिस में यह लोक, पर-लोक और सब भूत मनके की तरह पिरोये हुए हैं। इसीलिये हे गौतम ! जब पुरुष मर जाता है तब लोग कहने लगते हैं कि इसके अंग गिर गये, ढीले पड़ गये। हे गौतम ! प्राण-वायु-रूपी सूत्र से ही तो जीवित पुरुष के अंग मनके की तरह गुंथे रहते हैं ! आरुणि ने कहा, ठीक है, हे याज्ञवल्क्य ! अब 'अन्तर्यामी' के विषय में कहो ॥२॥

है), इति—यह (कह कर), तेभ्यः—उन (काप्य आदि) को, अब्रवीत्—(गन्धर्व ने) उपदेश दिया, तद्—उस (उपदेश या सूत्र) को, अहम्—मैं (आरुणि उद्दालक), वेद—जानता हूं, तत्—उस, तो, चेत्—अगर, त्वम्—तू, याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य !, सूत्रम्—उस सूत्र (बन्धन) को, अविद्वान्—न जाननेवाला, न जानकर भी, तम् च अन्तर्यामिणम्—और उस अन्तर्यामी को, ब्रह्मगवीः—ब्राह्मणों के निमित्त प्रदान की हुई गौओं को, उदजसे—अपने घर की ओर ले जाने के लिए हांकता है (तो), मूर्धा—मस्तक, ते—तेरा, विपतिष्यति—गिर जायगा, इति—यह (आरुणि ने कहा), वेद वै अहम्—निश्चय ही मैं जानता हूं, गौतम—हे गौतम-गोत्री (उद्दालक), तत् सूत्रम् तम् च अन्तर्यामिणम् इति—उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को यह (याज्ञवल्क्य ने कहा), यः वै इदम् कश्चिद्—जो कोई भी यह, ब्रूयात्—कहे, कह सकता है कि, वेद वेद इति—मैं जानता हूं, मैं जानता हूं, यथा—जैसे (जिस प्रकार), वेत्थ—तू जानता है, तथा—वैसे, ब्रूहि—कह (बता), इति—यह (आरुणि ने कहा) ॥१॥

स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रंसिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति ॥२॥

सः ह उवाच—उस (याज्ञवल्क्य) ने कहा, वायुः वै—वायु ही, गौतम—हे गौतम (उद्दालक), तत्—वह, सूत्रम्—बन्धन है, वायुना—वायु (रूप), वै—ही, गौतम—हे गौतम !, सूत्रेण—सूत्र (धागे, बन्धन) से, अयम् . . भवन्ति—अर्थ पूर्ववत्, तस्माद् वै—उस कारण से ही, गौतम—हे गौतम ! पुरुषम्—मनुष्य को, प्रेतम्—मरे हुए, आहुः—कहते हैं, व्यस्रंसिषत—ढीले पड़ गये हैं, शिथिल हो गये हैं, अस्य—इस (मृत) के, अङ्गानि—अंग-प्रत्यंग, इति—ऐसे, वायुना हि गौतम सूत्रेण—वायु रूप सूत्र से ही हे गौतम, संदृब्धानि—

याज्ञवल्क्य ने कहा, जो 'पृथिवी' में रहता हुआ भी पृथिवी से अलग है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, परन्तु जिसका पृथिवी ही शरीर है, जो पृथिवी के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा—'तेरा', अर्थात् जिसे तू कहता है, 'मैं जानता हूं'-'मैं जानता हूं'—यही 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥३॥

जो 'जलों' में रहता हुआ भी जलों से अलग है, जिसे जल नहीं जानते, परन्तु जिसका जल ही शरीर है, जो जलों के भीतर से उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥४॥

बंधे हुए, कसे हुए (वे अंग); **भवन्ति**—होते हैं; **इति**—यह (जान); **एवम् एव एतद् याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य यह इस प्रकार ही है (आपका कथन सत्य है); **अन्तर्यामिणम् ब्रूहि इति**—अब अन्तर्यामी के विषय में बताओ; **इति**—यह (कहा) ॥२॥

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥३॥

यः—जो; **पृथिव्याम्**—पृथिवी में; **तिष्ठन्**—ठहरा हुआ, स्थित; **पृथिव्याः**—पृथिवी से; **अन्तरः**—पृथक् (सत्तावाला) है; **यम्**—जिसको; **पृथिवी न वेद**—पृथिवी नहीं जानती है; **यस्य**—जिसका; **पृथिवी**—पृथिवी; **शरीरम्**—शरीर है; **यः**—जो; **पृथिवीम्**—पृथ्वी को; **अन्तरः**—भीतर (मध्य) रहता हुआ ही; **यमयति**—नियंत्रण में रखता है; **एषः**—यह; **ते**—तेरा; **आत्मा**—आत्मा (के अन्दर विद्यमान ब्रह्म); **अन्तर्यामी**—अन्तर्यामी; **अमृतः**—(और) अमर (मृत्यु से परे) है ॥३॥

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥४॥

यः—जो; **अप्सु**—जलों में; **तिष्ठन्**—रहता हुआ; **अद्भ्यः**—जलों से; **अन्तरः**—पृथक् है; **यम्**—जिसको; **आपः**—जल; **न विदुः**—नहीं जानते हैं; **यस्य**—जिसका; **आपः**—जल; **शरीरम्**—शरीर (व्याप्य) है; **यः**—जो; **अपः**—जलों को; **अन्तरः**—अन्दर विराजमान; **यमयति**—नियमन करता है; **एषः**—यह नियन्ता ही; **ते**—तेरा; **आत्मा**—आत्मा (में स्थित ब्रह्म) ही; **अन्तर्यामी अमृतः**—अन्तर्यामी और अमर है ॥४॥

जो 'अग्नि' में रहता हुआ भी अग्नि से अलग है, जिसे अग्नि नहीं जानती, परन्तु जिसका अग्नि ही शरीर है, जो अग्नि के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥५॥

जो 'अन्तरिक्ष' में रहता हुआ भी अन्तरिक्ष से अलग है, जिसे अन्तरिक्ष नहीं जानता, परन्तु जिसका अन्तरिक्ष ही शरीर है, जो अन्तरिक्ष के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥६॥

जो 'वायु' में रहता हुआ भी वायु से अलग है, जिसे वायु नहीं जानता, परन्तु जिसका वायु ही शरीर है, जो वायु के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥७॥

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं
योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥५॥

यः—जो, अग्नौ—अग्नि में, तिष्ठन्—रहता हुआ अग्नेः—अग्नि से, अन्तरः—भिन्न है, यम् अग्निः न वेद—जिसको अग्नि नहीं जान पाती, यस्य अग्निः शरीरम्—जिसका अग्नि शरीर है यः—जो, अग्निम्—अग्नि को, अन्तरः—अन्दर रहता हुआ, यमयति—मर्यादा में रखता है एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः—यह ही अमर अन्तर्यामी तेरा आत्मा (में भी विद्यमान) है॥५॥

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद यस्यान्तरिक्षं
शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥६॥

यः—जो, अन्तरिक्षे—अन्तरिक्ष में, तिष्ठन्—ठहरा हुआ विद्यमान, अन्तरिक्षात्—अन्तरिक्ष से, अन्तरः—बाहर (पृथक्) है, यम् अन्तरिक्षम् न वेद—जिसको अन्तरिक्ष नहीं जान पाता, यस्य अन्तरिक्षम् शरीरम्—जिसका अन्तरिक्ष शरीर है, यः—जो, अन्तरिक्षम्—अन्तरिक्ष को, अन्तरः—अन्दर रहता हुआ, यमयति—नियन्त्रण में रखता है, एष अमृतः—अर्थ पूर्ववत् ॥६॥

यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः
शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥७॥

यः—जो, वायौ—वायु में, तिष्ठन्—रहता हुआ भी, वायोः—वायु से, अन्तरः—बाहर है, यम् वायुः न वेद—जिसको वायु नहीं जानता, यस्य वायुः शरीरम्—जिसका वायु शरीर है, यः वायुम्—जो वायु को, अन्तरः—अन्दर रहता हुआ, यमयति—नियमित रखता है, एष अमृतः—अर्थ पूर्ववत् ॥७॥

जो 'द्यु' में रहता हुआ भी द्यु से अलग है, जिसे द्यु नहीं जानता, परन्तु जिसका द्यु-लोक ही शरीर है, जो द्यु-लोक के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥८॥

जो 'आदित्य' में रहता हुआ भी आदित्य से अलग है, जिसे आदित्य नहीं जानता, परन्तु जिसका आदित्य ही शरीर है, जो आदित्य के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥९॥

जो 'दिशाओं' में रहता हुआ भी दिशाओं से अलग है, जिसे दिशाएं नहीं जानतीं, परन्तु जिसका दिशाएं ही शरीर हैं, जो दिशाओं के भीतर से उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥१०॥

यो दिवि तिष्ठन्दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः शरीरं
यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥८॥

यः—जो; **दिवि**—द्यु-लोक में; **तिष्ठन्**—विराजमान; **दिवः**—द्यु-लोक से; **अन्तरः**—बाहर है; **यम् द्यौः न वेद**—जिसको द्यु-लोक नहीं जानता; **यस्य द्यौः शरीरम्**—जिसका द्यु-लोक शरीर है; **यः दिवम्**—जो द्यु-लोक को; **अन्तरः**—अन्दर रहता हुआ भी; **यमयति**—नियमित रखता है; **एषः. . .अमृतः**—अर्थ पूर्ववत् ॥८॥

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः
शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥९॥

यः—जो; **आदित्ये**—सूर्य में; **तिष्ठन्**—रहता हुआ; **आदित्याद्**—सूर्य से; **अन्तरः**—पृथक्, बाहर है; **यम् आदित्यः न वेद**—जिसको सूर्य नहीं जानता; **यस्य आदित्यः शरीरम्**—जिसका सूर्य शरीर है; **यः आदित्यम् अन्तरः यमयति**—जो सूर्य को अन्दर रहता हुआ भी नियम में रखता है; **एषः. . . अमृतः**—अर्थ पूर्ववत् ॥९॥

यो दिक्षु तिष्ठन्दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः
शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१०॥

यः—जो; **दिक्षु**—दिशाओं (अवकाश) में; **तिष्ठन्**—रहता हुआ भी; **दिग्भ्यः**—दिशाओं से; **अन्तरः**—पृथक् (बाहर भी) है; **यम् दिशः**—जिसको दिशाएं; **न विदुः**—नहीं जानती हैं; **यस्य**—जिसका; **दिशः**—दिशाएं; **शरीरम्**—शरीर हैं; **यः**—जो; **दिशः**—दिशाओं को; **अन्तरः**—अन्दर रहता हुआ; **यमयति**—नियम में रखता है; **एषः. . .अमृतः**—अर्थ पूर्ववत् ॥१०॥

जो 'चन्द्र-तारक' में रहता हुआ भी उनसे अलग है, जिसे चन्द्र-तारे नहीं जानते, परन्तु जिसका चन्द्र और तारे ही शरीर है, जो चन्द्र-तारक के भीतर से उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥११॥

जो 'आकाश' में रहता हुआ भी आकाश से अलग है, जिसे आकाश नहीं जानता, परन्तु जिसका आकाश ही शरीर है, जो आकाश के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥१२॥

जो 'तम' में रहता हुआ भी तम से अलग है, जिसे तम नहीं जानता, परन्तु जिसका तम ही शरीर है, जो तम के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥१३॥

यश्चन्द्रतारके तिष्ठँश्चन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्र-
तारकँ शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥११॥

यः—जो; चन्द्रतारके—चन्द्रमा और तारा-गण में, तिष्ठन्—रहता हुआ; चन्द्रतारकाद्—चन्द्र और तारों से, अन्तरः—बाहर है, यम् चन्द्रतारकम् न वेद—जिसको चन्द्र और तारे नहीं जानते, यस्य चन्द्रतारकम् शरीरम्—जिसका चन्द्र और तारे शरीर है, यः चन्द्रतारकम्—जो चन्द्र और तारों को, अन्तरः—अन्दर रहता हुआ, यमयति—नियमित करता है, एषः अमृतः—अर्थ पूर्ववत् ॥११॥

य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः
शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१२॥

यः—जो, आकाशे—आकाश में, तिष्ठन्—रहता हुआ, आकाशाद्—आकाश से, अन्तरः—बाहर, पृथक् है, यम् आकाशः न वेद—जिसको आकाश नहीं जानता; यस्य आकाशः शरीरम्—जिसका आकाश शरीर (व्याप्य) है, यः आकाशम् अन्तरः यमयति—जो आकाश को अन्दर रहता हुआ भी नियन्त्रण में रखता है, एषः ...अमृतः—अर्थ पूर्ववत् ॥१२॥

यस्तमसि तिष्ठँस्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य तमः
शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१३॥

यः—जो; तमसि—तमोगुण में (अन्धकार में), तिष्ठन्—स्थित, तमस—तमोगुण से, अन्तरः—पृथक् है, यम् तम न वेद—जिसको तमोगुण नहीं जानता; यस्य तमः शरीरम्—जिसका तमोगुण शरीर (व्याप्य) है, यः

जो 'तेज' में रहता हुआ भी तेज से अलग है, जिसे तेज नहीं जानता, परन्तु जिस का तेज ही शरीर है, जो तेज के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥१४॥

पृथिवी, अप्, तेज आदि देवताओं के विषय में जो कहा वह 'अधिदैवत' है। याज्ञवल्क्य कहते हैं, अब 'भूतों' के विषय में सुनो। जो सब 'भूतों' में, प्राणियों में रहता हुआ भी प्राणियों से अलग है, जिसे प्राणी नहीं जानते, परन्तु जिसका प्राणी ही शरीर है, जो प्राणियों के भीतर से उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥१५॥

तमः—जो तमोगुण को; **अन्तरः**—अन्दर रहता हुआ; **यमयति**—नियन्त्रण में रखता है; **एषः...अमृतः**—अर्थ पूर्ववत् ॥१३॥

यस्तेजसि तिष्ठँस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्ते-जोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ॥१४॥

यः—जो; **तेजसि**—तेजोगुण (प्रकाश) में; **तिष्ठन्**—रहता हुआ; **तेजसः**—तेजोगुण से; **अन्तरः**—बाह्य है; **यम् तेजः न वेद**—जिसको तेजोगुण (प्रकाश) नहीं जानता; **यस्य तेजः शरीरम्**—जिसका तेजोगुण शरीर है; **यः तेजः**—जो तेज को; **अन्तरः**—अन्दर रहता हुआ; **यमयति**—नियमित करता है; **एषः...अमृतः**—अर्थ पूर्ववत्; **इति**—यह (कथन-व्याख्या); **अधिदैवतम्**—(ब्रह्माण्ड के) देवताओं के सम्बन्ध में (की है); **अथ**—अब, इसके आगे; **अधिभूतम्**—भूतों के सम्बन्ध में (व्याख्या करते हैं) ॥१४॥

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्त्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥१५॥

यः—जो; **सर्वेषु भूतेषु**—सारे (चर-अचर) भूतों में; **तिष्ठन्**—रहता हुआ; **सर्वेभ्यः भूतेभ्यः**—सब भूतों (प्राणियों) से; **अन्तरः**—पृथक् है; **यम् सर्वाणि भूतानि**—जिसको सारे भूत; **न विदुः**—नहीं जानते; **यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्**—जिसका सारे भूत शरीर हैं; **यः**—जो; **सर्वाणि भूतानि**—सारे भूतों को; **अन्तरः**—भीतर विद्यमान; **यमयति**—नियमन करता है; **एषः...अमृतः**—अर्थ पूर्ववत्; **इति**—यह (व्याख्या); **अधिभूतम्**—भूतों के सम्बन्ध में है; **अथ**—अब; **अध्यात्मम्**—आत्मा (शरीर—पिण्ड) के विषय में यों जानो ॥१५॥

भूतों, अर्थात् प्राणि-जगत् के विषय में जो कहा वह 'अधिभूत' है। याज्ञवल्क्य कहते हैं, 'ब्रह्माण्ड' के विषय में सुन चुकने के बाद अब 'अध्यात्म', अर्थात् 'पिंड' के विषय में सुनो। जो 'प्राण' में रहता हुआ भी प्राण से अलग है, जिसे प्राण नहीं जानता, परन्तु जिसका प्राण ही शरीर है, जो प्राण के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥१६॥

जो 'वाणी' में रहता हुआ भी वाणी से अलग है, जिसे वाणी नहीं जानती, परन्तु जिसका वाणी ही शरीर है, जो वाणी के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥१७॥

जो 'चक्षु' में रहता हुआ भी चक्षु से अलग है, जिसे चक्षु नहीं जानते, परन्तु जिसका चक्षु ही शरीर है, जो चक्षु के भीतर से उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥१८॥

जो 'श्रोत्र' में रहता हुआ भी श्रोत्र से अलग है, जिसे श्रोत्र नहीं जानते, परन्तु जिसका श्रोत्र ही शरीर है, जो श्रोत्र के भीतर से

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः
शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१६॥

यः प्राणे—प्राण में (घ्राण में), प्राणात्—प्राण से, प्राणः—प्राण, प्राणः—प्राण, प्राणम्—प्राण को अमृतः—शेष अर्थ पूर्ववत् ॥१६॥

यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो यं वाङ् न वेद यस्य वाक्
शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१७॥

यः वाचि—वाणी (जिह्वा) में, वाचः—वाणी से, वाङ्—वाणी, वाक् वाणी, वाचम्—वाणी का अमृतः—शेष अर्थ पूर्ववत् ॥१७॥

यश्चक्षुषि तिष्ठंश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः
शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१८॥

यः चक्षुषि—नेत्र में, चक्षुषः—नेत्र से, चक्षुः—नेत्र, चक्षुः—नेत्र, चक्षुः—आंख, नेत्र को, अमृतः—शेष अर्थ पूर्ववत् ॥१८॥

यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यं श्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रं
शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१९॥

उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥१९॥

जो 'मन' में रहता हुआ भी मन से अलग है, जिसे मन नहीं जानता, परन्तु जिसका मन ही शरीर है, जो मन के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥२०॥

जो 'त्वचा' में रहता हुआ भी त्वचा से अलग है, जिसे त्वचा नहीं जानती, परन्तु त्वचा ही जिसका शरीर है, जो त्वचा के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥२१॥

जो 'विज्ञान', अर्थात् चेतना (Consciousness) में रहता हुआ भी चेतना से अलग है, जिसे चेतना नहीं जानती, परन्तु चेतना ही जिसका शरीर है, जो चेतना के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥२२॥

यः...श्रोत्रे—कान में; ...श्रोत्रात्—कान से; ...श्रोत्रम्—कान; ...श्रोत्रम्—कान; ...श्रोत्रम्—कान को; ...अमृतः—शेष अर्थ पूर्ववत् ॥१९॥

यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः
शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥२०॥

यः...मनसि—मन में; ...मनसः—मन से; ...मनः—मन; ...मनः—मन; ...मनः—मन को; ...अमृतः—शेष अर्थ पूर्ववत् ॥२०॥

यस्त्वचि तिष्ठँस्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ् न वेद यस्य त्वक्
शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥२१॥

यः...त्वचि—त्वचा (चमड़ी-खाल) में; ...त्वचः—त्वचा से; ...त्वङ्—त्वचा; ...त्वक्—त्वचा; ...त्वचम्—त्वचा को; ...अमृतः—शेष अर्थ पूर्ववत् ॥२१॥

यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं
शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥२२॥

यः...विज्ञाने—चेतना (बुद्धि) में; ...विज्ञानाद्—चेतना (बुद्धि) से, ...विज्ञानम्—चेतना; ...विज्ञानम्—चेतना; ...विज्ञानम्—चेतना को; ...अमृतः—शेष अर्थ पूर्ववत् ॥२२॥

संसार के जितने 'रेतस', अर्थात् 'कारण' हैं, जो उनमें रहता हुआ भी उनसे अलग है, जिसे 'कारण' नहीं जानते, परन्तु जो 'कारणों का शरीर' है, कारणों का कारण है, बीजों का बीज है, जो 'कारणों' के भीतर से उनका नियमन कर रहा है, वही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है। वह अन्तर्यामी द्रष्टा है, दृष्ट नहीं है; श्रोता है, श्रुत नहीं है; मन्ता है, मत नहीं है, विज्ञाता है, विज्ञात नहीं है। विश्व में उसके बिना कोई द्रष्टा नहीं, उसके बिना कोई श्रोता नहीं, उसके बिना कोई मन्ता नहीं, उसके बिना कोई विज्ञाता नहीं। यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, उसके अतिरिक्त सब दुःख-ही-दुःख है। यह सुनकर उद्दालक आरुणि चुप होकर बैठ गया ॥२३॥

यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरो यं रेतो न वेद यस्य रेतः शरीरं यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥२३॥

यः रेतसि—वीर्य (कारण) में, रेतसः—कारण से, रेतः—कारण, रेतः—कारण (वीर्य), रेतः—वीर्य (कारण) का, अमृत—शेष शब्दार्थ पूर्ववत्, अदृष्ट—न देखा हुआ (स्वयं नेत्र का विषय नहीं), द्रष्टा—सब को देखने वाला (सर्व-साक्षी), अश्रुत—न सुना हुआ (जो कर्ण का विषय नहीं), श्रोता—स्वयं सुननेवाला, अमत—जिस का मनन नहीं किया जा सकता (मन का विषय नहीं) मन्ता—स्वयं मनन शक्ति सपन्न है, अविज्ञात—न जाना हुआ (बुद्धि से परे), विज्ञाता—स्वयं सब को प्रत्यक्ष जानने वाला, न—नहीं, अन्य—भिन्न, दूसरा, अतः—इस (अन्तर्यामी आत्मा) से, अस्ति—है, द्रष्टा—देखनेवाला (साक्षी), न अन्यः अतः अस्ति—इसके सिवाय अन्य कोई नहीं है, श्रोता—सुननेवाला, न अन्य अतः अस्ति मन्ता—इसके सिवाय अन्य कोई मनन करनेवाला नहीं, न अन्य अतः अस्ति विज्ञाता—इसके अतिरिक्त अन्य कोई जाननेवाला नहीं, एषः ते आत्मा अन्तर्यामी अमृत—यह ही अमर (जरा-मृत्यु से परे) तेरा आत्मा अन्तर्यामी (तेरे शरीर में रहकर नियन्ता) है (जिसे तू जानना चाहता था), अतः—इससे, अन्यत्—भिन्न तो, आर्तम्—दुःखजनक, विनाशी है, ततः ह—और उसके बाद, उद्दालक आरुणि—अरुण का पुत्र उद्दालक, उपरराम—(अपने प्रश्न का समाधान पाकर) शान्त (चुप) हो गया ॥२३॥

तृतीय अध्याय—(आठवां ब्राह्मण)

(जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा गार्गी का दोबारा विवाद)

इसके बाद वाचक्नवी गार्गी फिर दोबारा खड़ी हुई। उसने कहा, हे आदरणीय ब्राह्मणो! आज्ञा हो तो मैं याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न और करना चाहूंगी। अगर इन्होंने उनका उचित समाधान कर दिया, तो आप समझ लो कि आप में से कोई इस ब्रह्म-वेत्ता को जीत न सकेगा। सबने एक-स्वर होकर कहा, गार्गी! पूछो ॥१॥

गार्गी ने याज्ञवल्क्य को सम्बोधन करके कहा, हे याज्ञवल्क्य! जिस प्रकार काशी या विदेह का कोई उग्र-स्वभाव का वीर उतरे

अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न वै जातु युष्माक-मिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति पृच्छ गार्गीति ॥१॥

अथ ह—इसके बाद (दोबारा); **वाचक्नवी**—वचक्नु की पुत्री गार्गी; **उवाच**—बोली; **ब्राह्मणाः**—हे (उपस्थित) ब्राह्मणो!; **भगवन्तः**—आदरणीय; **हन्त**—तो; **अहम्**—मैं; **इमम्**—इस (याज्ञवल्क्य) से; **द्वौ प्रश्नौ**—दो प्रश्न; **प्रक्ष्यामि**—पूछूंगी; **तौ**—उन (दोनों प्रश्नों को); **चेत्**—अगर; **मे**—मेरे, मुझे; **वक्ष्यति**—कहेगा, उत्तर दे देगा; **न वै**—नहीं ही; **जातु**—कदापि, कोई भी; **युष्माकम्**—तुम्हारा (तुम में से); **इमम्**—इस; **कश्चित्**—कोई; **ब्रह्मोद्यम्**—ब्रह्म-वक्ता को; **जेता**—जीत सकेगा; **इति**—यह (गार्गी ने घोषणा की); **पृच्छ**—(प्रश्न) पूछ; **गार्गि**—हे गार्गि!; **इति**—यह (याज्ञवल्क्य ने या उपस्थित ब्राह्मणों ने कहा) ॥१॥

सा होवाचाहं वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठे-देवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थां तौ मे ब्रूहीति पृच्छ गार्गीति ॥२॥

सा ह उवाच—उस (गार्गी) ने कहा; **अहम् वै**—मैं; **त्वा**—तुझको; **याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य!; **यथा**—जैसे; **काश्यः वा**—काशी-देश का; **वैदेहः वा**—या विदेह-देश का; **उग्रपुत्रः**—क्षत्रिय-पुत्र या राजपुत्र; **उज्ज्यम्**—प्रत्यञ्चा (डोरी) से शून्य; **धनुः**—धनुष को; **अधिज्यम्**—प्रत्यञ्चा से युक्त; **कृत्वा**—करके; **द्वौ**—दो **बाणवन्तौ**—बाण (लोहे की तेज नोक) वाले; **सपत्न+अतिव्याधिनौ**—पुख (पर) वाले एवं गहरा बींधनेवाले या शत्रु-संहारक

हुए चिल्ले को धनुष पर चढ़ाकर, और शत्रु को बींधने वाले दो नोकीले बाणों को हाथ में लेकर सामने खड़ा हो जाय, ठीक इसी तरह मैं दो प्रश्नों को लेकर तेरे सामने खड़ी हूं। इन दोनों प्रश्नों का उत्तर दो! याज्ञवल्क्य ने कहा, हे गार्गी! पूछो ॥२॥



राजा जनक की सभा में ऋषि याज्ञवल्क्य से गार्गी प्रश्न कर रही है

(बाणों को), हस्ते कृत्वा—हाथ में लेकर, उप+उत्तिष्ठेत्—पास (सामने) आकर खड़ा हो जाये; एवम् एव अहम्—ऐसे ही मैं, त्वा—तुझको, द्वाभ्याम्—दो; प्रश्नाभ्याम्—प्रश्नों के साथ, उप+उदस्थाम्—सामने उपस्थित हूं, तौ—उन (दोनों प्रश्नों) को; मे—मुझे, ब्रूहि—कह, उत्तर दे; इति—यह (कहा); पृच्छ गार्गि इति—हे गार्गि! तू पूछ ॥२॥

गार्गी ने कहा: हे याज्ञवल्क्य ! द्यु से जो ऊपर है, पृथिवी से जो नीचे है, द्यु और पृथिवी के जो बीच में है, और जिसे भूत-भवत्-भविष्यत् कहा जाता है—वह सब किसमें ओत-प्रोत है ॥३॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, फिर तुमने ओत-प्रोत की बात शुरू की। खैर, सुनो। द्यु से जो ऊपर है, पृथिवी से जो नीचे है, द्यु और पृथिवी के जो बीच में है, और जिसे भूत, भवत्, भविष्यत् कहा जाता है, वह सब 'आकाश' में ओत-प्रोत है ॥४॥

गार्गी ने कहा, याज्ञवल्क्य ! मेरा तुझे नमस्कार है, तूने मेरे प्रथम प्रश्न की विवेचना कर दी। अब दूसरे प्रश्न के लिये तय्यार हो जाओ। याज्ञवल्क्य ने कहा, गार्गी ! पूछो ! ॥५॥

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥३॥

सा ह उवाच—उस (गार्गी) ने कहा; **यत्**—जो; **ऊर्ध्वम्**—ऊपर; **याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य !; **दिवः**—द्यु-लोक के; **यद्**—जो; **अवाक्**—नीचे; **यद्**—जो; **अन्तरा**—मध्य में; **द्यावापृथिवी**—द्यु-लोक और पृथिवी के; **इमे**—इन (दोनों); **यद्**—जिसको; **भूतम्**—हुआ (भूतकाल में था); **भवत् च**—हो रहा है (वर्तमान काल में है); **भविष्यत् च**—और होगा (भविष्य-काल में भी रहेगा); **इति**—ऐसे; **आचक्षते**—कहते हैं; **कस्मिन्**—किसमें; **तद्**—वह; **ओतम् च प्रोतम् च**—ओत-प्रोत (संबद्ध) है; **इति**—यह (गार्गी ने प्रश्न किया) ॥३॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति ॥४॥

सः ह उवाच—उस (याज्ञवल्य) ने कहा (उत्तर दिया); **यद्....आचक्षते**—अर्थ पूर्ववत्; **आकाशे**—आकाश में; **तद्**—वह; **ओतम् च प्रोतम् च**—ओत-प्रोत है (रमा हुआ, संबन्ध एवं आधार वाला) है ॥४॥

सा होवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य यो म एतं व्यवोचोऽपरस्मै धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति ॥५॥

सा ह उवाच—उस गार्गी ने (संतुष्ट होकर) कहा; **नमः ते अस्तु याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य तुझे नमस्कार है; **यः**—जिस (तू) ने; **मे**—मेरे; **एतम्**—इस (प्रश्न) को; **वि+अवोचः**—विवेचनापूर्वक उत्तर दिया; **अपरस्मै**—दूसरे (प्रश्न) के लिए; **धारयस्व**—धारण करो, तत्पर हो; **इति**—यह (कहा); **पृच्छ गार्गि इति**—हे गार्गी तू (प्रश्न) पूछ ॥५॥

गार्गी ने फिर वही प्रश्न दोहरा दिया। हे याज्ञवल्क्य! द्यु से जो ऊपर है, पृथिवी से जो नीचे है, द्यु और पृथिवी के जो बीच में है, और जिसे भूत, भवत्, भविष्यत् कहा जाता है—वह सब किस में ओत-प्रोत है ॥६॥

याज्ञवल्क्य ने फिर वही उत्तर दोहरा दिया। द्यु से जो ऊपर है, पृथिवी से जो नीचे है, द्यु और पृथिवी के जो बीच में है, जिसे भूत, भवत्, भविष्यत् कहा जाता है, वह सब आकाश में ओत-प्रोत है।

इस प्रकार एक ही बात को दोहराकर, और यह देखकर कि याज्ञवल्क्य पहले की तरह झिड़क नहीं देगा, गार्गी ने साहस बटोरकर पूछा, याज्ञवल्क्य! वह आकाश किस में ओत-प्रोत है ॥७॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, हे गार्गी, जिसमें आकाश ओत-प्रोत है, उसे ब्रह्म-वेत्ता लोग 'अक्षर' कहते हैं। वह 'अक्षर'—अविनाशी तत्त्व—न स्थूल है, न अणु है, न ह्रस्व है, न दीर्घ है; न अंगारे की तरह लोहित है, न घी की तरह स्निग्ध है; न छाया है, न तम है; न

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥६॥

सा ह प्रोतम् च इति—अर्थ तृतीय कण्डिका (मंत्र) के समान जानें ॥६॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥७॥

स ह उवाच प्रोतम् च इति—अर्थ पूर्ववत्, कस्मिन् नु खलु—किसमें तो निस्सन्देह, आकाश—आकाश, ओत च प्रोत, च—ओत प्रोत है, इति—यह (बताइये) ॥७॥

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन ॥८॥

स ह उवाच—उस (याज्ञवल्क्य) ने कहा, एतद् वै—इस (जिसमें आकाश ओत प्रोत है) ही, तद्—उस (आधार-पट) को, अक्षरम्—अक्षर (अविनाशी), गार्गि—हे गार्गि!, ब्राह्मणा—ब्रह्म-वेत्ता, अभिवदन्ति—कहते हैं (अर्थात् वह आकाश 'अक्षर' में ओत प्रोत है जो कि), अस्थूलम्—स्थूल नहीं, अनणु

आकाश है। यह तत्त्व असंग है, अरस है, अगंध है, अचक्षु है, अश्रोत्र है; वाक्-रहित, मन-रहित, तेज-रहित, प्राण-रहित, मुख-रहित, मात्रा-रहित। इस अविनाशी-तत्त्व के न कुछ भीतर है, न बाहर है; न वह किसी को खाता है, न कोई उसे खाता है ॥८॥

हे गार्गी! इसी 'अक्षर' के शासन-सूत्र में बंधे सूर्य और चन्द्र अपने-अपने स्थानों पर ठहरे हुए हैं; हे गार्गी! इसी 'अक्षर' के शासन-सूत्र में बंधे द्यावा-पृथिवी अपने-अपने स्थानों पर ठहरे हुए हैं; हे गार्गी! इसी 'अक्षर' के शासन-सूत्र में बंधे निमेष, मुहूर्त, रात्रि, अर्धमास, मास, ऋतु, संवत्सर ठहरे हुए हैं; हे गार्गी! इसी 'अक्षर' के शासन-सूत्र में बंधी नदियां सफ़ेद-बर्फीले पर्वतों से पूर्व को,

---

(न+अणु)—अणु (सूक्ष्म) भी नहीं; अह्रस्वम्—(परिमाण में) छोटा नहीं; अदीर्घम्—न लम्बा ही है; अलोहितम्—न लाल है; अस्नेहम्—न चिकना (मुलायम) है; अच्छायम्—छाया भी नहीं; अतमः—न अन्धकार (तमोगुण) ही है; अवायु—न वायु है; अनाकाशम्—न आकाश ही है; असङ्गम्—न संग (संगी-साथियों) वाला है, निर्लेप है; अरसम्—रस नहीं (जिह्वा का विषय नहीं); अगन्धम्—गन्ध-विहीन; अचक्षुष्कम्—उसके नेत्र नहीं; अश्रोत्रम् उसके कान भी नहीं; अवाग्—वाणी से रहित; अमनः—उसके मन नहीं; अतेजस्कम्—वह तेज भी नहीं; अप्राणम्—प्राण (जीवन) से रहित; अमुखम्—उसका कोई मुख नहीं; अमात्रम्—मात्रा (परिमाण, अंश) से रहित; अनन्तरम्—उसके अन्दर कुछ नहीं; अबाह्यम्—बाहर भी कुछ नहीं; न—नहीं; तद्—वह (अक्षर); अश्नाति—खाता है (भोक्ता है); किंचन—कुछ भी; न—नहीं; तद्—उसको; अश्नाति—खाता है; कश्चन—कोई भी ॥८॥

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः ॥९॥

एतस्य वै—इस ही; अक्षरस्य—अक्षर (अविनाशी ब्रह्म) के; प्रशासने—नियन्त्रण में; गार्गि—हे गार्गि!; सूर्याचन्द्रमसौ—सूर्य और चन्द्रमा; विधृतौ—भलीभांति धारण किये हुए; तिष्ठतः—अपने-अपने स्थान (कक्षा) में स्थित

पश्चिम को, और भिन्न-भिन्न दिशाओं को बह रही हैं; हे गार्गि! इसी 'अक्षर' के शासन-सूत्र में बंधे हुए मनुष्य दानियों की प्रशंसा करते हैं, देव-लोग यजमानों की प्रशंसा करते हैं, और पितर-लोग दर्वी अर्थात् होम की कड़छी को पकड़े मानो मानव-सेवा की आहुतियां डाल रहे हैं॥९॥

हे गार्गी! इस लोक में जो इस 'अक्षर' को बिना जाने यज्ञ-याग आदि में लगा रहता है, या अनेक वर्षों तक तप में लीन रहता है, उसके यज्ञ-याग-तप का अन्त आ ही जाता है; हे गार्गी! जो इस 'अक्षर' को बिना जाने इस लोक से प्रयाण करता है वह 'कृपण' है,

---

है, एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि—हे गार्गि! इस अक्षर (ब्रह्म) के नियम में, द्यावापृथिव्यौ—द्युलोक और पृथिवी-लोक, विधृते—धारण किये हुए, तिष्ठतः—ठहरे हैं, एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि—हे गार्गि! इस अक्षर के शासन में, निमेषाः—क्षण, मुहूर्त्ताः—मुहूर्त्त (प्रहर), अहोरात्राणि—दिन-रात, अर्धमासाः—पक्ष (कृष्ण-शुक्ल); मासाः—मास, ऋतवः—ऋतु, संवत्सराः—वर्ष, इति—ये सब काल के अवयव (स्वयं काल भी), विधृताः तिष्ठन्ति—धारण किये हुए ठहरते हैं, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि—हे गार्गि! इस अक्षर (ब्रह्म) के शासन में, प्राच्यः—पूर्व की ओर बहनेवाली, अन्याः—दूसरी, नद्यः—नदियां, स्यन्दन्ते—बहती हैं, श्वेतेभ्यः—श्वेत, पर्वतेभ्यः—पर्वतों से, प्रतीच्यः—पश्चिम को जानेवाली, अन्याः—दूसरी, याम् याम्—जिस-जिस (भिन्न भिन्न); च—और, दिशम् अनु—दिशा की ओर (बहती हैं)। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि—हे गार्गि इस ब्रह्म के नियन्त्रण में, ददत—दान करने-वाले (दाताओं) की, मनुष्याः—मनुष्य (लोक), प्रशंसन्ति—प्रशंसा करते हैं, यजमानम्—यजमान को (भी), देवाः—देवगण, दर्वीम्—करछी (द्वारा परोसे अन्न के दाता) को, पितरः—पितृगण, बड़ी पीढ़ी के लोग, अन्वायत्ताः—अनुगत हैं, सम्बन्ध रखते हैं (आशा करते हैं)॥९॥

> यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते
> तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति यो
> वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ
> य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः॥१०॥

यः वै—जो ही, एतद् अक्षरम्—इस अविनाशी ब्रह्म को, गार्गि—हे गार्गि!, अविदित्वा—न जानकर, अस्मिन् लोके—इस लोक में (इस जीवन में), जुहोति—हवन (दान-आदान) करता है, यजते—यज्ञ (देव-पूजा आदि)

कृपा का, दया का पात्र है; हे गार्गी ! जो इस 'अक्षर' को जानकर इस लोक से प्रयाण करता है, वह 'ब्राह्मण' है—ब्रह्म का वेत्ता है ॥१०॥

हे गार्गी ! यह 'अक्षर' स्वयं अदृष्ट होने पर भी द्रष्टा है, स्वयं अश्रुत होने पर भी श्रोता है, स्वयं अमत होने पर भी मन्ता है, स्वयं अविज्ञात होने पर भी विज्ञाता है; इससे भिन्न अन्य कोई द्रष्टा नहीं, इससे भिन्न अन्य कोई श्रोता नहीं, इससे भिन्न अन्य कोई मन्ता नहीं, इससे भिन्न अन्य कोई विज्ञाता नहीं। हे गार्गी ! इसी 'अक्षर' में यह आकाश ओत-प्रोत है ॥११॥

करता है; **तपः तप्यते**—तप तपता है; **बहूनि**—बहुत से; **वर्ष-सहस्राणि**—हजारों वर्षों तक; **अन्तवद्**—अन्तवाला (विनाशी, या स्वल्प फलवाला), सीमित; **एव**—ही; **अस्य**—इस (होता व यज्ञकर्ता) का; **तद्**—वह (यज्ञ-हवन); **भवति**—होता है; **यः वै एतद् अक्षरम् गार्गि ! अविदित्वा**—हे गार्गि जो इस अविनाशी ब्रह्म को न जानकर (साक्षात् कर); **अस्मात् लोकात्**—इस लोक (जन्म) से; **प्रैति**—प्रयाण करता (मरता) है; **सः**—वह; **कृपणः**—दीनाति-दीन, दयनीय है; **अथ**—और; **यः**—जो; **एतद् अक्षरम्**—इस अविनाशी ब्रह्म को; **गार्गि**—हे गार्गि; **विदित्वा**—जानकर; **अस्मात् लोकात् प्रैति**—इस लोक से प्रयाण करता (शरीर छोड़ता) है; **सः**—वह ही; **ब्राह्मणः**—ब्रह्मवेत्ता (मनुष्यों में श्रेष्ठ) है ॥१०॥

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥११॥

तद् वै—वह ही; **एतद्**—यह; **अक्षरम्**—अविनाशी (ब्रह्म); **गार्गि**—हे गार्गि !; **अदृष्टम्**—न देखा हुआ (चक्षु का जो विषय नहीं); **द्रष्टृ**—(सब कुछ) देखनेवाला; **अश्रुतम्**—न सुना हुआ (कान से अगोचर); **श्रोतृ**—सुननेवाला; **अमतम्**—मनन-चिन्तन न किया जा सकनेवाला; **मन्तृ**—मनन-करनेवाला; **अविज्ञातम्**—न जाना हुआ (बुद्धि से परे); **विज्ञातृ**—सब का ज्ञाता; **न अन्यद् अतः अस्ति**—नहीं इसके अतिरिक्त अन्य कोई है; **द्रष्टृ**—द्रष्टा; **न अन्यत् अतः अस्ति श्रोतृ**—इसके अतिरिक्त अन्य कोई श्रोता नहीं है; **न अन्यद् अतः अस्ति मन्तृ**—न इसके सिवाय दूसरा कोई मन्ता (मनन करनेवाला) है; **न अन्यद् अतः अस्ति विज्ञातृ**—न कोई इसके अतिरिक्त विज्ञाता है; **अस्मिन् नु खलु**—इस ही में तो; **अक्षरे**—अविनाशी ब्रह्म में; **गार्गि**—हे गार्गि !;

तब गार्गी कहने लगी—हे पूजनीय ब्राह्मणो ! यही बहुत समझो जो इस ब्रह्म-वेत्ता को नमस्कार करके छूट जाओ। तुम में से कोई इस ब्रह्म-वेत्ता को कभी न जीत सकेगा। इतना कहकर वाचक्नवी गार्गी चुप होकर बैठ गई ॥१२॥

तृतीय अध्याय—(नौवां ब्राह्मण)

(जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा विदग्ध का विवाद)

गार्गी के बैठ जाने पर और कोई ब्राह्मण तो नहीं खड़ा हुआ, परन्तु विदग्ध शाकल्य से न रहा गया। उसका नाम ही 'विदग्ध' था, 'विदग्ध', अर्थात् जलने-भुनने वाला। वह याज्ञवल्क्य से जला-भुना बैठा था। वह उठ खड़ा हुआ, और पूछने लगा, हे याज्ञवल्क्य ! 'देव'

आकाश:—आकाश; ओतः च प्रोतः च—(व्याप्य-व्यापक सबन्ध से) अनुगत है; इति—यह (बताया) ॥११॥

सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यद-
स्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं
कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति ततो ह वाचक्नव्युपरराम ॥१२॥

सा ह उवाच—उस गार्गी ने (सन्तुष्ट होकर) कहा, ब्राह्मणा भगवन्तः—हे आदरणीय ब्राह्मणो ! ; तद् एव—उसको ही, बहु—बहुत अधिक, मन्येध्वम्—मानो, समझो; यत्—जो, कि, एतस्माद्—इस (याज्ञवल्क्य) से, नमस्कारेण—नमस्कार द्वारा (प्रणत होकर), मुच्येध्वम्—छुटकारा पा जाओ, न वै—नहीं ही; जातु—कदापि, युष्माकम्—तुम में से, इमम्—इस, कश्चित्—कोई भी, ब्रह्मोद्यम्—ब्रह्म-वक्ता को, जेता—जीत सकेगा, इति—यह (कहा) ततः ह—और उसके बाद, वाचक्नवी—वचक्नु की पुत्री गार्गी, उपरराम—शान्त (चुप) होकर बैठ गई ॥१२॥

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतयैव
निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता
त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय-
स्त्रिंशदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्यो-
मिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच
कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञ-
वल्क्येत्यध्यर्ध इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्यो-
मिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति ॥१॥

कितने हैं ? याज्ञवल्क्य ने वैश्वदेव-निविदा पढ़कर सुना दी। उसमें लिखा हुआ था—'त्रयश्च, त्री च शता, त्रयः च त्री च सहस्रेति'—अर्थात् ३+३००+३००३=३३०६। विदग्ध ने कहा, हां, ठीक है। विदग्ध ने फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य! 'देव' कितने हैं ? अब की बार याज्ञवल्क्य ने कहा, ३३! विदग्ध ने कहा, हां ठीक है। विदग्ध ने फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य! 'देव' कितने हैं ? अब याज्ञवल्क्य ने कहा, ६! विदग्ध ने कहा, हां, ठीक है। विदग्ध ने फिर प्रश्न दोहराया, 'देव' कितने हैं ? अब याज्ञवल्क्य ने कहा, ३! विदग्ध ने कहा, हां, ठीक है। विदग्ध ने फिर पूछा, 'देव' कितने हैं, याज्ञवल्क्य ने अब कहा, २! विदग्ध ने फिर पूछा, 'देव' कितने हैं, याज्ञवल्क्य ने अब कहा, 'अध्यर्द्ध', अर्थात् १½! विदग्ध ने कहा, हां, ठीक है। विदग्ध ने फिर पूछा, 'देव' कितने हैं, याज्ञवल्क्य ने कहा, १—अर्थात् एक! विदग्ध ने कहा, हां, ठीक है। अब विदग्ध ने फिर पूछा, ३३०६ 'देव' जो तुमने कहे थे, वे कौन-से हैं ॥१॥

अथ ह—इसके बाद; **एनम्**—इस (याज्ञवल्क्य) को (से); **विदग्धः**—(जला-भुना, जलन से भरा) विदग्ध नामी; **शाकल्यः**—शकल का पुत्र; **पप्रच्छ**—पूछने लगा; **कति**—कितने (संख्या में); **देवाः**—देवता हैं; **याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य; **इति**—यह (पूछा); **स ह**—उस (याज्ञवल्क्य) ने; **एतया**—इस; **एव**—ही; **निविदा**—मंत्र से; **प्रतिपेदे**—प्रतिपादन किया, उत्तर दिया; **यावन्तः**—जितने (देवता); **वैश्वदेवस्य**—विश्वदेव सम्बन्धी; **निविदि**—मंत्र में; **उच्यन्ते**—उच्चारण किये जाते हैं, निर्दिष्ट हैं; **त्रयः च**—तीन; **त्री च**—और तीन; **शता**—सौ, सैंकड़े; (**त्रयश्च त्री च शता**—तीन सौ तीन); **त्रयः च त्री च सहस्रा**—तीन हजार तीन (कुल मिलाकर ३+३००+३००३=३३०६); **इति**—यह (देव-संख्या है); **ओम् इति**—ठीक है, ऐसे; **ह उवाच**—कहा (फिर पूछा); **कति एव देवाः याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य कितने देवता हैं; **इति**—यह (फिर बताओ); **त्रयस्त्रिंशत् इति**—तैंतीस देवता हैं यह (उत्तर दिया); **ओम्**—स्वीकार है, ठीक है; **इति ह उवाच**—ऐसा कहकर फिर पूछा; **कति एव देवाः याज्ञवल्क्य इति**—हे याज्ञवल्क्य कितने देवता हैं; **षड् इति**—देवता छः हैं (यह उत्तर दिया); **ओम् इति**—ठीक है; **ह उवाच**—और कहा; **कति एव देवाः याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य कितने देवता हैं; **त्रयः इति**—देवता तीन हैं; **ओम् इति**—ठीक है; **ह उवाच**—कहा; **कति एव देवाः याज्ञवल्क्य**

याज्ञवल्क्य ने कहा, इतनी बड़ी संख्या तो देवों की महिमा बढ़ाने के लिये कही जाती है, वास्तव में 'देव' तो ३३ ही हैं। विदग्ध ने पूछा, वे ३३ कौन-से हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा, ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य—ये ३१ हुए, इन्द्र और प्रजापति—ये दो! इस प्रकार ३३ 'देव' हैं ॥२॥

'वसु' कौन-से हैं? 'अग्नि और पृथिवी'-'वायु और अन्तरिक्ष'-'आदित्य और द्यौः'-'चन्द्रमा और नक्षत्र'—ये ८ 'वसु' हैं, इन्हीं पर सारी सृष्टि टिकी हुई है, यही जीव-मात्र को बसाए हुए हैं, इसलिये 'वसु' कहलाते हैं ॥३॥

—हे याज्ञवल्क्य देवता कितने हैं?; द्वौ इति—दो हैं...अध्यर्धः—डेढ देवता है, ...एकः—एक देवता है, ...कतमे—कौनसे, ते—वे देवता; त्रयः...सहस्रा—३००६ संख्यावाले; इति—यह पूछा ॥१॥

स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशा-दित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ॥२॥

सः ह उवाच—उस (याज्ञवल्क्य) ने कहा; महिमानः—महिमा (गिनती बढ़ानेवाले); एव—ही, एषाम्—इन देवताओं के; एते—ये (३००६ देव); त्रयस्त्रिंशत् तु एव—तैंतीस ही तो, देवाः—देवता हैं; इति—यह (बताया), कतमे—कौन-से, ते—वे, त्रयस्त्रिंशत्—तैंतीस (देवता) हैं, इति—यह (पूछा), अष्टौ—आठ, वसवः—वसु, एकादश—ग्यारह; रुद्राः—रुद्र; द्वादश—बारह, आदित्याः—सूर्य, ते—वे (मिलकर), एकत्रिंशत्—इकत्तीस हैं, इन्द्रः च एव—और इन्द्र; प्रजापतिः च—और प्रजापति, त्रयस्त्रिंशौ—तैंतीस संख्या को पूरा करनेवाले हैं, इति—यह (उत्तर दिया) ॥२॥

कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्र-माश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं सर्वं हितमिति तस्माद्वसव इति ॥३॥

कतमे—कौन से; वसवः—वसु देवता हैं, अग्निः च—अग्नि; पृथिवी च—और पृथिवी, वायुः च—वायु; अन्तरिक्षम् च—अन्तरिक्ष, आदित्यः च—आदित्य (सूर्य); द्यौः च—और द्यु-लोक; चन्द्रमाः च—और चन्द्रमा; नक्षत्राणि च—और नक्षत्र; एते—ये (आठों); वसवः—वसु (कहलाते हैं); एतेषु—इनमें, हि—क्योंकि; इदम् सर्वम्—यह सब, हितम्—रक्खा हुआ, बसा हुआ है; इति—ऐसे; तस्मात्—उस (बसाने के) कारण से; वसवः इति—ये वसु कहलाते हैं ॥३॥

'रुद्र' कौन से हैं? पुरुष में जो १० प्राण और ग्यारहवां आत्मा है, यही ११ रुद्र हैं। प्राण-अपान-उदान-व्यान-समान-नाग-कूर्म-देवदत्त-कृकट-धनंजय—ये दस प्राण माने जाते हैं, आत्मा ग्यारहवां है। अथवा इन्द्रियों को भी प्राण कहते हैं। ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां और मन मिलकर ११ रुद्र बनते हैं। जब ये शरीर से निकलती हैं, सब सम्बन्धियों को रुला देती हैं, इसलिये इन्हें 'रुद्र' कहा जाता है ॥४॥

'आदित्य' कौन-से हैं? संवत्सर के १२ मास ही १२ आदित्य हैं। ये मास—महीने—सब-कुछ समेटते हुए, 'आदान' करते हुए चले जा रहे हैं, इसलिये १२ महीनों को १२ आदित्य कहा जाता है ॥५॥

'इन्द्र' कौन-सा है? 'स्तनयित्नु', अर्थात् मेघ ही 'इन्द्र' है। परन्तु 'स्तनयित्नु' कौन-सा है? 'अशनि', अर्थात् 'विद्युत्' ही स्तन-

---

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदाऽस्माच्छरी-
रान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥४॥

कतमे रुद्राः इति—रुद्र कौन से हैं; दश—दस; इमे—ये; प्राणाः—इन्द्रियां या दस प्रकार के प्राण; आत्मा—जीवात्मा; एकादशः—ग्यारहवां; ते—वे; यदा—जब; अस्माद्—इस; शरीरात्—शरीर से; मर्त्यात्—मरण शील, विनाशी; उत्क्रामन्ति—बाहर निकलते हैं; अथ—तो; रोदयन्ति—रुलाते हैं; तद् यद्—तो जो; रोदयन्ति—(ये) रुलाते हैं; तस्माद्—अतएव; रुद्राः—रुद्र (कहलाते) हैं; इति—ऐसे ॥४॥

कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदँ
सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदँ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥५॥

कतमे—कौन से; आदित्याः इति—आदित्य (कहलाते) हैं; द्वादश—बारह; वै—ही; मासाः—महीने; संवत्सरस्य—वर्ष के हैं; एते—ये (मास) ही; आदित्याः—आदित्य हैं; एते हि—क्योंकि ये; इदम् सर्वम्—इस सब (विश्व) को; आददानाः—साथ लेते हुए; यन्ति—चलते हैं, आगे बढ़ रहे हैं; ते—वे; यद्—जो; इदम् सर्वम्—इस सब को; आददानाः—साथ लेते हुए; यन्ति—चलते हैं; तस्मात्—उस कारण से; आदित्याः इति—आदित्य (कहलाते) हैं ॥५॥

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति
कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥६॥

यित्नु है। बिजली से मेघ वृष्टि करता है, उससे अन्नादि उत्पन्न होकर ऐश्वर्य की वृद्धि होती है—यही 'इन्द्र' का रूप है। 'प्रजापति' कौन-सा है? 'यज्ञ' ही प्रजापति है। 'यज्ञ' कौन-सा है? 'पशु' ही यज्ञ है। जीवित-जगत् में पशु के जीवन से यज्ञ प्रारंभ है, जो संपूर्ण प्राणि-जगत् में चल रहा है। पशु से लेकर मनुष्य तक सब जगह यज्ञ-ही-यज्ञ चल रहा है। सम्पूर्ण जीवन यज्ञ-मय है। यही यज्ञ-मय जीवन प्रजापति का रूप है ॥६॥

विदग्ध ने फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य! तुमने जो कहा था, 'देव' ६ हैं, उसका क्या अभिप्राय था? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'अग्नि और पृथिवी'-'वायु और अन्तरिक्ष'-'आदित्य और द्यौ'—ये छः हैं, इन छः में ही सारा विश्व समा जाता है ॥७॥

विदग्ध ने फिर पूछा, अच्छा, ३ 'देव' कौन-से हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा, यही 'पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ'—ये ही तीन लोक हैं। इन तीनों लोकों में 'अग्नि-वायु-आदित्य' ये देव समा जाते हैं। विदग्ध ने फिर पूछा, अच्छा, २ 'देव' कौन-से हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'अन्न'

कतम इन्द्र—इन्द्र कौन-सा है, कतमः प्रजापति—प्रजापति कौन है, इति—यह (बताओ), स्तनयित्नु—गरजनेवाला, एव—ही, इन्द्र—इन्द्र है, यज्ञ—यज्ञ (का नाम), प्रजापति इति—प्रजापति है, कतमः स्तनयित्नु—गरजनेवाला कौन है, अशनि—बिजली, इति—ऐसे (जानो), कतमः यज्ञ—यज्ञ कौन सा है, पशवः इति—पशु 'यज्ञ' कहलाते हैं ॥६॥

कतमे षडित्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं
चादित्यश्च द्यौश्चैते षडेते हीदं सर्वं षडिति ॥७॥

कतमे—कौन से, षड्—छः (देवता हैं), इति—यह (बताइये), अग्निः च—अग्नि, पृथिवी च—और पृथिवी, वायुः च—वायु, अन्तरिक्षम् च—अन्तरिक्ष, आदित्यः च—सूर्य, द्यौः च—और द्यु-लोक, एते—ये, षड्—छः देवता हैं, एते हि—क्योंकि ये ही, इदम् सर्वम्—यह सब (विश्व), षड् इति—छः (के अन्तर्गत) हैं ॥७॥

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ
तौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति योऽयं पवत इति ॥८॥

कतमे—कौन से, ते—वे (तुम्हारे बताये), त्रयः—तीन, देवाः—देवता हैं, इति—यह (पूछा), इमे एव त्रयः लोकाः—ये ही तीन लोक (तीनों

और 'प्राण' ही दो देव हैं। 'अन्न' प्रकृति (Matter) का प्रतिनिधि है, 'प्राण' जीवन (Life) का प्रतिनिधि है—इन दोनों के मेल से ही सब सृष्टि चली है। विदग्ध ने फिर पूछा, 'अध्यर्द्ध' कौन-सा है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, यह जो चलता है, अर्थात् 'प्राण'। ब्रह्मांड का 'वायु' और पिंड का 'प्राण' ही 'अध्यर्द्ध' अर्थात् डेढ़ देव है ॥८॥

विदग्ध ने कहा, यह प्राण तो एक है, इसे 'अध्यर्द्ध'—डेढ़—कैसे कहते हो? याज्ञवल्क्य ने कहा, इसे 'अध्यर्द्ध', अर्थात् डेढ़ तो मोटे अर्थों में कहते हैं। 'अध्यर्द्ध' का वास्तविक अभिप्राय है, जिसमें सब अधि-ऋद्धि अर्थात् सब वृद्धि को प्राप्त हों, समृद्ध हों, बढ़ें, फूलें-फलें। 'प्राण' में ही सब ऋद्ध, वृद्ध, समृद्ध होता है, फूलता-फलता है, इसलिये 'प्राण' ही 'अध्यर्द्ध' है। फिर विदग्ध ने कहा, 'कतम एको देवः'—तुम ने जो कहा था, 'देव' एक है, वह कौन-सा है? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'प्राण' (Life) ही तो एक 'देव' है, उसीको 'ब्रह्म' कहते हैं, उसीको ब्रह्मवेत्ता 'त्यत्' कहते हैं, 'त्यत्' अर्थात् 'वह'—'वह' कहकर ही उसका बोध होता है ॥९॥

देवता हैं); एषु—इनमें; हि—क्योंकि; इमे—ये; सर्वे—सारे; देवाः—देवता (वास करते हैं); इति—यह (उत्तर दिया); कतमौ—कौन से; तौ—वे (पूर्व-निर्दिष्ट); द्वौ देवौ—दो देवता हैं; इति—यह (पूछा); अन्नम् च एव—अन्न ही; प्राणः च—और प्राण; इति—यह (जानो); कतमः—कौन-सा; अध्यर्धः—डेढ़ देवता है; इति—यह पूछा; यः अयम् पवते—जो यह निरन्तर बह रहा है (प्राण शरीर में, वायु जगत् में); इति—यह (बताया) ॥८॥

तदाहुर्यदयमेक इवैव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदं सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥९॥

तद्—तो; आहुः—कहते हैं (प्रश्न करते हैं) कि; यद् अयम्—जो यह (वायु या प्राण); एकः इव एव—एकाकी के समान ही; पवते—बह रहा है; अथ—तो; कथम्—क्यों, कैसे; अध्यर्धः—डेढ़ है; इति—यह (प्रश्न है); यद्—क्योंकि; अस्मिन्—इस (प्राण या वायु) में; इदम् सर्वम्—यह सब (विश्व); अधि+आर्ध्नोत्—अधिक ऋद्धि (ऐश्वर्य, वृद्धि) को प्राप्त कर रहा है; तेन—उस कारण से; अध्यर्धः—(यह) अध्यर्ध (कहलाता) है; इति—यह (समाधान किया); कतमः एकः देवः इति—कौन-सा एक देवता है; प्राणः इति—वह प्राण (सब का जीवनदाता, शरीर में आत्मा, विश्व में ब्रह्म) है;

देवों के सम्बन्ध में प्रश्न कर चुकने के बाद विदग्ध ने दूसरा विषय छेड़ा। उसने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपने को ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु असल ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष' को जानता है जो सब प्राणियों का परम-धाम है। जो 'मन' को ज्योति बनाकर, 'अग्नि' के सहारे, मानो 'पृथिवी में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है। याज्ञवल्क्य ने कहा, जिस 'पुरुष' को तू सब प्राणियों का परम-धाम कह रहा है उसे मैं जानता हूं, परन्तु वह तो 'शारीर-पुरुष' है, विश्व के विशाल-शरीर वाला 'पुरुष' है, 'ब्रह्म' तो इससे बहुत अधिक है, सिर्फ इस विश्व में ही वह समाप्त नहीं हो जाता ! इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा, हे शाकल्य ! तू प्रश्न किये जा, मैं उत्तर देता जाऊंगा। शाकल्य ने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका कौन 'देव' है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, उसका देव 'अमृत' है, वह अमृत रूप भगवान् ही सब देवों का देव है। यह विश्व तो मरण-धर्मा है, वह मरण-धर्मा न होकर अमर है, अमृत है ॥१०॥

सः—वह (प्राण) ही, ब्रह्म—ब्रह्म है, त्यद्—(उसको) त्यद् (वह, परोक्ष), इति—इस नाम से, आचक्षते—कहते (निर्देश करते) हैं ॥९॥

> पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणँ स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य। वेद वा अहं तं पुरुषँ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायँ शारीरः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यमृतमिति होवाच ॥१०॥

पृथिवी एव—पृथिवी ही, **यस्य**—जिसका, **आयतनम्**—आश्रय, आधार है, **अग्निः**—अग्नि, **लोकः**—दर्शयिता, दर्शन-साधन है, **मनः**—मन, **ज्योतिः**—प्रकाश है, **यः वै**—जो ही, **तम्**—उस, **पुरुषम्**—पुरी (शरीर या जगत्) के अधिष्ठाता को, **विद्यात्**—जान ले, जानता है, **सर्वस्य**—सब, **आत्मनः**—आत्मा (शरीर, जीव) के, **परायणम्**—परम-आधार (धाम), **सः वै**—वह ही, **वेदिता**—(ब्रह्म का) जाननेवाला, ज्ञानी, **स्यात्**—हो सकता है, **याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य ! (क्या तुम उसको जानते हो, जो ज्ञानी होकर गौओं को हांक रहे हो), **वेद**—जानता हूं, **वै तम् पुरुषम् सर्वस्य आत्मनः परायणम्**—उस सब आत्मा (आयतन) के परम-धाम उस पुरुष को, **यम्**—जिसको, जिसके विषय में, **आत्थ**—तू कह (चर्चा कर) रहा है, **यः एव अयम्**—

विदग्ध ने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपने को ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु अस्ल में ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष' को जानता है जो सब प्राणियों का परम-धाम है, जो 'मन' को ज्योति बनाकर, 'हृदय' के सहारे, मानो 'कामना' में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है। याज्ञवल्क्य ने कहा, जिस 'पुरुष' को तू सब प्राणियों का परम-धाम कह रहा है उसे मैं जानता हूं, परन्तु वह तो 'काममय-पुरुष' है, विशाल-विश्व को उत्पन्न करने की कामना वाला 'पुरुष' है, 'ब्रह्म' इससे बहुत अधिक है, सिर्फ़ कामना करने वाले के रूप में ही वह समाप्त नहीं हो जाता। इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा, हे शाकल्य ! तू प्रश्न किये जा, मैं उत्तर देता जाऊंगा। शाकल्य ने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका कौन 'देव' है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, उसका देव 'स्त्री' है, जब वह विराट्-पुरुष कामना का रूप धारण करता है, तब स्त्री-रूपा प्रकृति ही उसकी देवता बनती है ॥११॥

जो ही यह; शारीरः—शरीर (पिण्ड या ब्रह्माण्ड) का स्वामी; पुरुषः—पुरुष; सः—वह; एषः—यह है (जिसे तू कह रहा है); वद—आगे कह (प्रश्न पूछ); एव—ही; शाकल्य !—हे शाकल्य !; तस्य—उस (शारीर-आत्मा) का; का—कौन; देवता—देवता है ?; इति—यह शाकल्य ने पूछा; अमृतम्—अमृत (अमरत्व उसका देवता है); इति ह उवाच—यह (याज्ञवल्क्य ने) कहा (उत्तर दिया) ॥१०॥

काम एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच ॥११॥

कामः—काम (कामना); एव—ही; यस्य आयतनम्—जिसका आश्रय (सहारा) है; हृदयम्—हृदय; लोकः—लोक है; मनोज्योतिः. . .एव अयम्—अर्थ पूर्ववत्; काममयः—काममय (कामना से युक्त); पुरुषः—पुरुष; . . . तस्य—उस (काममय) पुरुष का; . . .स्त्रियः—स्त्रियां; इति ह उवाच—यह उत्तर दिया ॥११॥

विदग्ध ने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपने को ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु अस्ल में ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष' को जानता है जो सब प्राणियो का परम-धाम है, जो 'मन' को ज्योति बनाकर, 'चक्षु' के सहारे, मानो 'रूप' में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है। याज्ञवल्क्य ने कहा, जिस 'पुरुष' को तू सब प्राणियो का परम-धाम कह रहा है उसे मैं जानता हू, परन्तु वह तो 'आदित्य-पुरुष' है, ब्रह्मांड के आदित्य को अधिष्ठान बना कर पिंड के चक्षु तथा पदार्थ के रूप को उत्पन्न करने वाला है, 'ब्रह्म' इससे बहुत अधिक है। इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा, हे शाकल्य ! तू प्रश्न किये जा, मैं उत्तर देता जाऊंगा। शाकल्य ने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वय 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका कौन 'देव' है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, उसका देव 'सत्य' है, आदित्य पदार्थों के सत्य रूप का प्रकाश करता है, परन्तु 'सत्य-स्वरूप' भगवान् आदित्य का भी परम-देव है ॥१२॥

विदग्ध ने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपने को ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु अस्ल में ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष' को जानता है जो सब प्राणियो का परम-धाम है, जो 'मन' को ज्योति बनाकर, 'श्रोत्र' के सहारे, मानो 'आकाश' में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है। याज्ञवल्क्य ने कहा, जिस 'पुरुष' को तू प्राणियो का परम-धाम कह रहा है उसे मैं जानता हूं, परन्तु वह तो ध्वनि रूप

रूपाण्येव यस्यायतन चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै त पुरुष विद्यात्सर्वस्यात्मन परायण्ँ स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य। वेद वा अह त पुरुषँ सर्वस्यात्मन परायण यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुष स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति सत्यमिति होवाच ॥१२॥

रूपाणि एव—रूप (नेत्र के विषय) ही, यस्य आयतनम्—जिसका आश्रय है, चक्षु—नेत्र, लोक—दर्शन (ज्ञान) साधन है, मनोज्योति य एव—अर्थ पूर्ववत्, असौ—यह, आदित्ये—सूर्य मे, तस्य—उस (आदित्य पुरुष) का, सत्यम्—सत्य (सत्ता) ॥१२॥

आकाश एव यस्यायतनँ श्रोत्र लोको मनोज्योतिर्यो वै त पुरुष विद्यात्सर्वस्यात्मन परायणँ स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य। वेद वा अह त पुरुषँ सर्वस्यात्मन परायण यमात्थ य एवायँ श्रोत्र प्रातिश्रुत्कः पुरुष स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति दिश इति होवाच ॥१३॥

में गूंजने वाला 'श्रोत्र-पुरुष' है, वह तो उस विराट्-पुरुष के विशाल-रूप की ध्वनि-रूप में एक झलक है, 'ब्रह्म' इससे बहुत अधिक है। इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा, हे शाकल्य ! तू प्रश्न किये जा, मैं उत्तर देता जाऊंगा। शाकल्य ने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका 'देव' कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, उसका देव 'दिशा' है, दिशा-रूप भगवान् श्रोत्र, आकाश और शब्द—इन सब को अपने भीतर समाये हुए हैं ॥१३॥

विदग्ध ने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपने को ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु असल में ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष' को जानता है जो सब प्राणियों का परम-धाम है, जो 'मन' को ज्योति बनाकर, 'हृदय' के सहारे, मानो संसार के 'तम' में—'अन्धकार' में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है—यह उजाला भी उसका है, यह अंधेरा भी उसका है। याज्ञवल्क्य ने कहा, जिस 'पुरुष' को तू सब प्राणियों का परम-धाम कह रहा है उसे मैं जानता हूं, परन्तु वह तो 'छायामय-पुरुष' है, यह अन्धकार मानो उस विराट्-पुरुष की छाया है, 'ब्रह्म' इससे बहुत अधिक है। इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा, हे शाकल्य ! तू प्रश्न किये जा, मैं उत्तर देता जाऊंगा। शाकल्य ने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका 'देव' कौन है। याज्ञवल्क्य ने कहा, उसका देव 'मृत्यु' है, भगवान् का 'मृत्यु-रूप' ही संसार में अन्धकार या अज्ञान के रूप में दिखाई देता है ॥१४॥

आकाशः एव—आकाश ही; यस्य आयतनम्—जिसका सहारा (आधार) है; श्रोत्रम्—कान; लोकः—दर्शन-साधन (ज्ञान-इन्द्रिय) है; . . .श्रोत्रः—श्रोत्र (कान) सम्बन्धी; प्रातिश्रुत्कः—प्रतिध्वनि (गूंज) में रहनेवाला; . . .दिशः—दिशाएं (अवकाश). . .॥१३॥

तम एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य। वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं छायामयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरिति होवाच ॥१४॥

तमः एव—अन्धकार (तमोगुण) ही; यस्य आयतनम्—जिसका आधार

विदग्ध ने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपने को ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु अस्ल में ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष' को जानता है जो सब प्राणियों का परम-धाम है, जो 'मन' को ज्योति बनाकर, 'चक्षु' के सहारे, मानो हमारे-तुम्हारे इस पिंड-रूपी रूप में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है । याज्ञवल्क्य ने कहा, जिस 'पुरुष' को तू सब प्राणियों का परम-धाम कह रहा है उसे मैं जानता हूं, परन्तु यह तो 'आदर्श-पुरुष' है, दर्पण में दीखने वाला पुरुष है, यह हमारा-तुम्हारा देह है, 'ब्रह्म' इससे बहुत अधिक है । इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा, हे शाकल्य ! तू प्रश्न किये जा, मैं उत्तर देता जाऊंगा । शाकल्य ने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका 'देव' कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, उसका देव 'असु' है प्राण है, प्राण के सहारे ही यह देह टिका हुआ है, और वह तो सब प्राणों का प्राण है ॥१५॥

विदग्ध ने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपने को ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु अस्ल में ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष' को जानता है जो सब प्राणियों का परम-धाम है, जो 'मन' को ज्योति बनाकर, 'हृदय' के सहारे, मानो संसार के 'जलों' में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है, इतनी विशाल जल-राशि मानो उसका शरीर

है, हृदयम्—हृदय, लोक—दर्शन-साधन है, छायामय—छायावाला, छायारूप, मृत्युः—मौत, मरण विनाश ॥१४॥

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यास्सर्वस्यात्मन: परायणं स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमादर्शे पुरुष: स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच ॥१५॥

रूपाणि ... एव अयम्—अयं पूर्ववत्, आदर्शे—दर्पण में, पुरुषः—(प्रतिबिम्ब रूप में) पुरुष है, असुः—प्राण, ॥१५॥

आप एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमप्सु पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति वरुण इति होवाच ॥१६॥

है। याज्ञवल्क्य ने कहा, जिस 'पुरुष' को तू सब प्राणियों का परम-धाम कह रहा है उसे मैं जानता हूं, परन्तु वह तो 'जल-पुरुष' है, जल मानो उस विराट्-पुरुष के देह हैं, 'ब्रह्म' तो इससे बहुत अधिक है। इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा, हे शाकल्य! तू प्रश्न किये जा, मैं उत्तर देता जाऊंगा। शाकल्य ने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका 'देव' कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा, उसका देव 'वरुण' है—वरुण-रूपी भगवान् जल-रूपी देवों का देव है ॥१६॥

विदग्ध ने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य! तुम अपने को ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु अस्ल में ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष' को जानता है जो सब प्राणियों का परम-धाम है, जो 'मन' को ज्योति बना कर, 'हृदय' के सहारे, मानो 'सन्तान' में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है। याज्ञवल्क्य ने कहा, जिस 'पुरुष' को तू सब प्राणियों का परम-धाम कह रहा है उसे मैं जानता हूं, परन्तु वह तो 'पुत्रमय-पुरुष' है, विराट्-पुरुष का मानो सृष्ट्युत्पत्ति करने वाला रूप है, 'ब्रह्म' तो इससे बहुत अधिक है। इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा, हे शाकल्य! तू प्रश्न किये जा, मैं उत्तर देता जाऊंगा। शाकल्य ने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका 'देव' कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा, उसका देव 'प्रजापति' है, भगवान् का 'प्रजापति'-रूप ही सृष्ट्युत्पत्ति करता हुआ भिन्न-भिन्न प्राणियों में सृष्टि की रचना कर रहा है ॥१७॥

(इसी प्रकार का वर्णन बृहदा० २-१ में भी पाया जाता है

आपः—जल; एव—ही; यस्य आयतनम्—जिसका आश्रय है; . . . . . .अप्सु—जलों में; पुरुषः—(प्रतिबिम्बमय) पुरुष है; . .वरुणः—वरुण देव. . .॥१६॥

रेत एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य। वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति होवाच ॥१७॥

रेतः—वीर्य. . .पुत्रमयः—पुत्रों से सम्पन्न, पुत्र रूप में विद्यमान. . . प्रजापतिः—प्रजापति (जगदुत्पादक). . .॥१७॥

जिसमें अजातशत्रु तथा दृप्त बालाकि की प्रश्नोत्तरी है। दृप्त बालाकि और विदग्ध शाकल्य एक ही स्वभाव के हैं। एक 'दृप्त' अर्थात् घमंडी है तो दूसरा 'विदग्ध' अर्थात् जला-भुना है।)

इतना कह चुकने के बाद याज्ञवल्क्य ने विदग्ध को एक चुटकी ली, और कहा, हे शाकल्य ! इन ब्राह्मणों ने तुम्हें सुलगा-सुलगा कर क्षीण होता हुआ, बुझता हुआ अंगारा बना दिया है, अब बस, निरा बुझा हुआ कोयला बनने वाले हो ॥१८॥

इस ललकार से शाकल्य का बुझता हुआ तेज फिर चमक उठा और उसने तीसरा विषय छेड़ा। उसने कहना शुरू किया, हे याज्ञवल्क्य ! तुम समझ रहे हो कि तुम ने कुरु और पांचाल के ब्राह्मणों को हरा दिया। 'ब्रह्म' को तो तुम क्या जानोगे, क्या तुम्हें 'दिशाओं' का भी ज्ञान है ? कौन-कौन-सी दिशाएं हैं, कौन-कौन उनके 'देवता' हैं, कहां उनकी 'प्रतिष्ठा' है ? अगर तुम्हें प्रतिष्ठा-सहित देवों और दिशाओं का ज्ञान है—॥१९॥

शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वां स्विदिमे
ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमक्रता३ इति ॥१८॥

शाकल्य इति ह उवाच याज्ञवल्क्य —याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे शाकल्य !, त्वा स्विद्—तुझको, इमे—इन, ब्राह्मणा—(उपस्थित प्रतिस्पर्धी) ब्राह्मणों ने, अङ्गारावक्षयणम्—प्रदीप्त अंगारे का क्षीण होना (बुझ जाना), अक्रत—कर दिया, (अङ्गारावक्षयणम् अक्रत—अंगारों को राख बना दिया, तुझे हत प्रभ कर दिया), इति—यह (कहा कि तू अब पराजित हो गया) ॥१८॥

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपञ्चालानां
ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति दिशो वेद सदेवाः
सप्रतिष्ठा इति यद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः ॥१९॥

याज्ञवल्क्य इति ह उवाच शाकल्य—शाकल्य ने कहा कि हे याज्ञवल्क्य !, यद् इदम्—जो यह (इस प्रकार), कुरु-पञ्चालानाम्—कुरु और पंचाल देश के, ब्राह्मणाम्—ब्राह्मणों को, अति+अवादी—तिरस्कृत किया है, किम्—क्या (ऐसा तूने), ब्रह्म—ब्रह्म को, विद्वान्—जानते हुए (किया है ?), इति—यह (कहा), दिश—दिशाओं को, वेद—मैं जानता हूं, सदेवा—(उनके) देवताओं के सहित, सप्रतिष्ठा—प्रतिष्ठा के सहित, इति—(यह शाकल्य

तो यह बताओ कि पूर्व दिशा में तुम्हारा कौन देवता है? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'आदित्य'। अच्छा, आदित्य किस में प्रतिष्ठित है? चक्षु में! चक्षु किस में प्रतिष्ठित है? रूप में, क्योंकि आंख से ही रूप देखा जाता है। रूप किस में प्रतिष्ठित है? हृदय में, क्योंकि हृदय से ही रूप का ज्ञान होता है इसलिये हृदय से ही रूप की प्रतिष्ठा है। हृदय न हो तो रूप का होना-न-होना एक-सा है; रूप न हो तो चक्षु का होना-न-होना एक-सा है; चक्षु न हो तो आदित्य का होना-न-होना एक-सा है—इसलिये इनमें से हर एक की दूसरे पर प्रतिष्ठा है, और सब की अन्तिम प्रतिष्ठा 'हृदय' में है। शाकल्य ने कहा, ठीक है ॥२०॥

ने कहा); यत्—जो, यदि; दिशः—दिशाओं को; वेत्थ—तू जानता है; सदेवाः—उनके देवों सहित; सप्रतिष्ठाः—उनकी प्रतिष्ठा सहित (तो बता) ॥१९॥

किंदेवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीत्यादित्यदेवत इति स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२०॥

किं-देवतः—किस देवता को माननेवाला; अस्याम्—इस; प्राच्याम्—पूर्व; दिशि—दिशा में; असि—तू है (पूर्व दिशा का देवता कौन है?) इति—यह; आदित्यदेवतः—(मैं इसका) आदित्य देवता मानने वाला हूँ; इति—यह (उत्तर दिया); सः आदित्यः—वह आदित्य (सूर्य); कस्मिन्—किसमें (पर); प्रतिष्ठितः इति—स्थितिवाला है; चक्षुषि इति—नेत्र में प्रतिष्ठित है; कस्मिन् नु—किस में तो; चक्षुः प्रतिष्ठितम् इति—नेत्र स्थित है; रूपेषु इति—रूप में स्थित है; चक्षुषा हि—नेत्र द्वारा ही; रूपाणि—रूपों को; पश्यति—देखता है; कस्मिन् नु रूपाणि प्रतिष्ठितानि इति—रूप किसमें स्थित हैं?; हृदये—हृदय में (स्थित हैं); इति ह उवाच—यह कहा; हृदयेन हि—हृदय से ही; रूपाणि—रूपों को; जानाति—प्राणी जानता है; हृदये हि एव—हृदय में ही; रूपाणि—रूप; प्रतिष्ठितानि—स्थित, स्थिर (अचल); भवन्ति—होते हैं; इति—यह (व्याख्या की); एवम् एव—इस प्रकार ही; एतद्—यह (तेरा निरूपण) है; याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य! ॥२०॥

अच्छा, यह बताओ कि दक्षिण दिशा में तुम्हारा कौन देवता है? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'यम'—मृत्यु! यम किस में प्रतिष्ठित है? यज्ञ में, क्योंकि मृत्यु पर विजय पाने के लिये ही तो यज्ञ किये जाते हैं। यज्ञ किस में प्रतिष्ठित है? दक्षिणा में, दक्षिणा के बिना यज्ञ बेकार है। दक्षिणा किस में प्रतिष्ठित है? श्रद्धा में, श्रद्धा हो तभी तो दक्षिणा दी जाती है, श्रद्धा में ही दक्षिणा की प्रतिष्ठा है, शोभा है। श्रद्धा किस में प्रतिष्ठित है? हृदय में, हृदय में ही श्रद्धा का वास होता है, हृदय में ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है, हृदय में ही उसका स्थान है—यम, यज्ञ, दक्षिणा, श्रद्धा इन सब की अन्तिम प्रतिष्ठा 'हृदय' में है। शाकल्य ने कहा, ठीक है ॥२१॥

किंदेवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति यमदेवत इति स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति यज्ञ इति कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति श्रद्धायां ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धां जानाति हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२१॥

किं-देवतः—किस देवता को जानने-माननेवाला, अस्याम् दक्षिणायाम् दिशि—इस दक्षिण दिशा में, असि इति—तू है, यम-देवतः इति—(मैं) यम देवता को मानने वाला हूं (मानता हूं), सः यमः कस्मिन् प्रतिष्ठितः इति—वह यम (देवता) किसमें स्थितिवाला है, यज्ञे इति—यज्ञ में स्थित है, कस्मिन् नु यज्ञः प्रतिष्ठितः—यज्ञ की स्थिति किस पर है, दक्षिणायाम् इति—(ब्राह्मण को दी) दान-दक्षिणा में यज्ञ की स्थिति है, कस्मिन् नु दक्षिणा प्रतिष्ठिता इति—दक्षिणा किस पर स्थित है; श्रद्धायाम् इति—श्रद्धा पर दक्षिणा स्थित है, यदा हि एव—क्योंकि जब ही; श्रद्धत्ते—श्रद्धा (विश्वास-आदर) करता है, अथ—तो, दक्षिणाम्—दक्षिणा को, ददाति—देता है; श्रद्धायाम् हि एव दक्षिणा प्रतिष्ठिता इति—अत: श्रद्धा पर ही दक्षिणा आश्रित है, कस्मिन् नु श्रद्धा प्रतिष्ठिता इति—श्रद्धा का आश्रय किस पर है?, हृदये इति ह उवाच—हृदय में श्रद्धा का आश्रय है, यह कहा, हृदयेन हि श्रद्धाम् जानाति—हृदय द्वारा ही श्रद्धा को जानता (समझता) है, हृदये हि एव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवति इति—हृदय में ही श्रद्धा स्थित होती (रहती) है; एवम् एव एतद् याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य! यह ऐसे ही है (तेरा कथन सत्य है) ॥२१॥

अच्छा, यह बताओ कि पश्चिम दिशा में तुम्हारा कौन देवता है? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'वरुण'—मेघ! वरुण किस में प्रतिष्ठित है? जल में, मेघ ही से तो जल बरसते हैं। जल किस में प्रतिष्ठित है? रज-वीर्य में, जल द्वारा ही तो शरीर में रज-वीर्य की उत्पत्ति होती है। रज-वीर्य किस में प्रतिष्ठित है? हृदय में, तभी प्रतिरूप सन्तान के लिये कहते हैं मानो हृदय से निकला है, मानो माता-पिता के हृदय से ही बना है, इसलिये हृदय में ही रज-वीर्य की प्रतिष्ठा है—मेघ, जल, रेतस् सब की अन्तिम प्रतिष्ठा 'हृदय' में है। शाकल्य ने कहा, ठीक है ॥२२॥

अच्छा, यह बताओ कि उत्तर दिशा में तुम्हारा कौन देवता है? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'सोम'—ब्रह्मचारी! 'सोम' किस में प्रतिष्ठित

किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति वरुणदेवत इति स वरुणः कस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति कस्मिन्न्वापः प्रतिष्ठिता इति रेतसीति कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति हृदय इति तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुर्हृदयादिव सृप्तो हृदयादिव निर्मित इति हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२२॥

किंदेवतः—किस देवता को जाननेवाला; अस्याम्—इस; प्रतीच्याम् दिशि—पश्चिम दिशा में; असि—तू है; वरुण-देवतः इति—वरुण देवता को जाननेवाला हूं (पश्चिम दिशा का देवता वरुण है); सः वरुणः—वह वरुण (देवता); कस्मिन् प्रतिष्ठतः इति—किस पर आश्रित है, कहां रहता है; अप्सु इति—जलों में (प्रतिष्ठित है); कस्मिन् नु आपः प्रतिष्ठिताः इति—किस में जलों की स्थिति है; रेतसि इति—वीर्य में (स्थित) हैं; कस्मिन् नु रेतः प्रतिष्ठितम् इति—वीर्य किसमें प्रतिष्ठित है; हृदये इति—हृदय में (स्थितिवाला) है; तस्माद् अपि—उस कारण से ही; प्रतिरूपम्—(आकृति-रूप-गुण में) अनुरूप; जातम्—उत्पन्न पुत्र को; आहुः—कहते हैं कि; हृदयाद् इव—मानों हृदय से; सृप्तः—निकला है; हृदयाद् इव—मानों हृदय से; निर्मितः—बना है; इति—यह (लोग कहते हैं); हृदये हि एव—हृदय में ही; रेतः—वीर्य; प्रतिष्ठितम् भवति इति—स्थितिवाला होता है; एवम् एव एतद् याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य यह इस प्रकार ही है ॥२२॥

किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति सोमदेवत इति स सोमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति दीक्षायामिति कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहुः सत्यं वदेति सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु

है ? दीक्षा में, दीक्षा लेकर ही तो ब्रह्मचारी बनता है। दीक्षा किस में प्रतिष्ठित है ? सत्य में, सत्य ही को तो ब्रह्मचारी को दीक्षा दी जाती है, दीक्षा ग्रहण कर चुकने पर, दीक्षित हो जाने पर, आचार्य का अन्तिम उपदेश भी यही होता है—'सत्य वद'—इसलिये सत्य में ही दीक्षा प्रतिष्ठित है। सत्य किस में प्रतिष्ठित है ? हृदय में, सच्ची बात हृदय में झट पहचानी जाती है। सोम अर्थात् ब्रह्मचारी, दीक्षा, सत्य इन सब की अन्तिम प्रतिष्ठा 'हृदय' में है। शाकल्य ने कहा, ठीक है ॥२३॥

(पूर्व दिशा के 'आदित्य' के मुकाबिले में पश्चिम दिशा में 'मेघ' का होना स्वाभाविक है, इसी प्रकार दक्षिण दिशा के यम' के मुकाबिले में उत्तर दिशा में 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत' का घोष करने वाले 'ब्रह्मचारी' का होना भी स्वाभाविक क्रम है।)

सत्य प्रतिष्ठितमिति हृदय इति होवाच हृदयेन हि सत्य जानाति हृदये ह्येव सत्य प्रतिष्ठित भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२३॥

किंदेवत—किस देवता को माननेवाला, **अस्याम् उदीच्याम् दिशि**—इस उत्तर दिशा में, **असि**—तू है, **इति**—यह (पूछा), **सोमदेवत इति**—उत्तर दिशा का देवता 'सोम' है, ऐसा मैं मानता हू, **स सोम कस्मिन् प्रतिष्ठित इति**—वह सोम किसमे प्रतिष्ठित है ?, **दीक्षायाम् इति**—दीक्षा (उत्तम कर्म करने का अधिकार या पात्रता—योग्यता) मे, **कस्मिन् नु दीक्षा प्रतिष्ठिता इति**—किसमे दीक्षा आश्रित है, **सत्ये इति**—सत्य (सत्य-व्यवहार, कार्य से न डिगना—अविचलता) मे (दीक्षा प्रतिष्ठित है), **तस्माद् अपि**—अतएव, **दीक्षितम्**—दीक्षा लिए हुए (ब्रह्मचारी) को, **आहु**—(आचार्य) कहते (उपदेश करते) हैं कि, **सत्यम् वद**—सत्य भाषण कर, **इति**—ऐसे, **सत्ये हि एव दीक्षा प्रतिष्ठिता इति**—क्योंकि सत्य पर ही दीक्षा का आश्रय है, **कस्मिन् नु सत्यम् प्रतिष्ठितम् इति**—यह बताओ कि सत्य किसमें प्रतिष्ठित है ?, **हृदये**—हृदय मे, **इति ह उवाच**—ऐसे कहा (उत्तर दिया), **हृदयेन हि सत्यम् जानाति**—क्योंकि हृदय से ही सत्य (सचाई) को जानता है अत, **हृदये हि सत्यम् प्रतिष्ठितम् भवति**—हृदय पर ही सत्य प्रतिष्ठित होता है, **इति**—ऐसे, **एवम् एव एतद् याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य यह इस प्रकार ही है (तुम ठीक कहते हो) ॥२३॥

अच्छा, यह बताओ कि ध्रुव दिशा में तुम्हारा कौन देवता है? ध्रुव वह दिशा है जो 'ध्रुव' है, अविचल है; जो न पूर्व में आती है, न पश्चिम में, न उत्तर में आती है, न दक्षिण में। याज्ञवल्क्य ने कहा, उसका देवता 'अग्नि' है। अग्नि ही पृथिवी पर 'आग', अन्तरिक्ष में 'विजली', द्यु में 'सूर्य' के रूप में चमक रहा है—इन सब में ध्रुव तथा अविचल सत्ता 'अग्नि' ही है। तो फिर अग्नि किस में प्रतिष्ठित है? वाणी में, ब्रह्मांड में प्रकाश देने वाली अग्नि ही पिंड में जब ज्ञान का प्रकाश देने लगती है, तो वह वाणी का रूप धारण कर लेती है। वाणी किस में प्रतिष्ठित है? हृदय में, हृदय का स्रोत भर जाने पर ही तो वाणी का प्रवाह फूट पड़ता है—(Out of the abundance of the heart the mouth speaketh—बायबल)। शाकल्य ने यह सुनकर कहा, याज्ञवल्क्य! हर बात में लौट-फेर कर तुम 'हृदय' में आ पहुंचते हो, यह बतलाओ कि हृदय किस में प्रतिष्ठित है? ॥२४॥

यह सुन कर याज्ञवल्क्य ने झिड़क कर कहा, हे अहल्लिक! हे निशाचर! तू यह समझता प्रतीत होता है कि हृदय शरीर में प्रति-

---

किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेवत इति सोऽग्निः
कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठितेति
हृदय इति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति ॥२४॥

किंदेवतः—किस देवता को जानने-मानने वाला; अस्याम्—इस; ध्रुवायाम्—ध्रुव (स्थिर, अपरिवर्तनशील); दिशि—दिशा में; असि—तू है; अग्निदेवतः इति—इसको अग्नि-देवता वाला मैं जानता हूं; सः अग्निः कस्मिन् प्रतिष्ठितः इति—वह अग्नि किस पर आश्रित है; वाचि इति—वाणी में; कस्मिन् नु वाक् प्रतिष्ठिता इति—वाणी किसमें स्थित है; हृदये इति—हृदय में; कस्मिन् नु हृदयम् प्रतिष्ठितम् इति—हृदय का आश्रय कौन है? ॥२४॥

अहल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो यत्रैतदन्यत्रास्मन्मन्यासै
यद्ध्येतदन्यत्रास्मत्स्याच्छ्वानो वैनदद्युर्वयांसि वैनद्विमथ्नीरन्निति ॥२५॥

अहल्लिक!—अरे हतप्रभ मूर्ख!; इति—ऐसे (संबोधन कर); ह उवाच याज्ञवल्क्यः—याज्ञवल्क्य ने कहा; यत्र—जहां; एतद्—इस (हृदय) को; अन्यत्र—दूसरी जगह (अन्य स्थान में); अस्मद्—हम (आत्मा से युक्त शरीर) से; मन्यासै—तू मान रहा है; यद् हि—अगर; एतद्—यह (हृदय); अन्यत्र

ष्ठित न होकर, शरीर में न रह कर, कहीं और रहना है ! अगर हृदय शरीर को छोड किसी और जगह रहता, तो क्या यह शरीर जीवित रह सकता ? इसे कुत्ते फाड खाते, पक्षी इसके चीथडे उड़ा डालते ॥२५॥

यह सुन कर शाकल्य ने कहा, अगर यह बात है, तो यह बता कि तेरा शरीर और तेरा हृदय किस में प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'प्राण' में। प्राण किस में प्रतिष्ठित है ? 'अपान' में ! अपान किस में प्रतिष्ठित है ? 'व्यान' में ! व्यान किस में प्रतिष्ठित है ? 'उदान' में ! उदान किस में प्रतिष्ठित है ? 'समान' में ! हे विदग्ध ! तू इस प्रकार कहां तक पूछता जायगा, 'आत्मा' का इससे अधिक वर्णन नहीं हो सकता । इससे अधिक वर्णन करना हो तब तो उसका 'नेति'-'नेति' में ही वर्णन हो सकता है, यही कहा जा सकता है कि वह 'यह नहीं है'-'यह नहीं है' । आत्मा 'अग्राह्य' है, वह पकड में नहीं

अस्मत्—इस (शरीर) से अन्यत्र, स्यात्—होवे (होता तो), श्वान वा—या तो कुत्ते, एनद्—इस (हृदय) को, अद्युः—खा जाते, वयांसि वा—या पक्षी, एनद्—इसको, विमथ्नीरन्—टुकडे-टुकडे कर देते, मथ डालते, इति—यह (कहा) ॥२५॥

कस्मिन्नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति प्राण इति कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इत्यपान इति कस्मिन्न्वपानः प्रतिष्ठित इति व्यान इति कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इत्युदान इति कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठित इति समान इति स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति। एतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ देवा अष्टौ पुरुषाः स यस्तान् पुरुषान्निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति । तं ह न मेने शाकल्यस्तस्य ह मूर्धा विपपातापि हास्य परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुरन्यन्मन्यमानाः ॥२६॥

कस्मिन्—किसमें, नु—तो, त्वम् च—तू (आत्मा से अतिरिक्त शरीर), आत्मा च—और आत्मा, प्रतिष्ठितौ—स्थित, स्थ—हो, इति—यह (पूछा), प्राणे इति—प्राण में, कस्मिन् नु प्राणः प्रतिष्ठित इति—प्राण का आश्रय क्या है, अपाने इति—अपान पर (आश्रित है), कस्मिन् नु अपानः प्रतिष्ठितः इति—अपान किस पर प्रतिष्ठित है, व्याने इति—व्यान पर, कस्मिन् नु व्यान

आता; वह 'अशीर्य' है, उसका क्षय नहीं होता; वह असंग है, वह किसी से लिप्त नहीं होता; वह बंधन-रहित है, व्यथा-रहित है, नाश-रहित है।

याज्ञवल्क्य ने फिर विदग्ध को सम्बोधन करके कहा, ऐ विदग्ध ! मेरी-तेरी ज्ञान-चर्चा आठ देवताओं के विषय में हुई, आठ पुरुषों के विषयों में भी हुई। तू 'शारीर-पुरुष'-'काममय-पुरुष'-'आदित्य-पुरुष'-'श्रोत्र-पुरुष'-'छायामय-पुरुष'-'आदर्श-पुरुष' - 'जल-पुरुष' और 'पुत्रमय-पुरुष' को ही 'ब्रह्म' समझे बैठा था। मैंने तुझे समझाया कि ये तो 'ब्रह्म' के एक-एक अंग हैं, उसके विशाल रूपों में से एक-एक रूप की झलक है। अब तक तू मुझ से प्रश्न कर रहा था, अब मैं तुझ से प्रश्न करता हूं। विराट्-पुरुष के इन भिन्न-भिन्न रूपों का निरोध करके, इन सब रूपों से ऊपर पहुंचा हुआ जो उसका शुद्ध रूप है, जिसे 'औपनिषद-पुरुष' कहते हैं, जिसे उपनिषद् से ही जाना जाता है, अन्य प्रकार नहीं, उसका तो जरा वर्णन कर, और याद रख, अगर तू उसका वर्णन न कर सका, तो तेरा सिर धड़ से अलग जा गिरेगा, तू लज्जा

प्रतिष्ठितः इति—व्यान (प्राण-भेद) किस पर स्थित है; **उदाने इति**—उदान (प्राण-भेद) पर; **कस्मिन् नु उदानः प्रतिष्ठितः इति**—उदान किस पर आधारित है; **समाने इति**—समान पर (शरीर पंच-प्राण पर आश्रित है) यह समझ ले; **सः एषः**—वह यह (आत्मा तो); **न इति**—यह भी (आत्मा) नहीं; **न इति**—(आत्मा) यह भी नहीं (इस रूप में बताया जा सकता है क्योंकि); **आत्मा**—आत्मा (जिसका तू आधार जानना चाहता है); **अगृह्यः**—ग्रहण नहीं किया जा सकता (इन्द्रियों की पकड़ से बाहर है); **अशीर्यः**—वह अक्षर है; **न हि शीर्यते**—वह छिन्न-भिन्न नहीं होता; **असंगः**—संग (साथी) से रहित, निर्लेप है; **न हि**—नहीं; **सज्यते**—(किसी से) लिप्त होता है (केवली) है; **असितः**—बन्धन से रहित है; **न**—नहीं; **व्यथते**—दुःखी होता है (दुःखातीत है); **न रिष्यति**—नहीं नाश को प्राप्त होता है (अविनाशी है); (फिर याज्ञवल्क्य ने पूछा) **एतानि**—ये; **अष्टौ**—आठ; **आयतनानि**—आयतन (आधारभूत आश्रय) हैं; **अष्टौ लोकाः**—आठ लोक हैं; **अष्टौ देवाः**—आठ देव हैं; **अष्टौ पुरुषाः**—आठ (शारीर आदि) पुरुष (आत्म-भेद) हैं; **यः**—जो; **तान्**—उन; **पुरुषान्**—पुरुषों को; **निरुह्य**—उनसे निकल कर, उन्हें छोड़ कर; **प्रत्युह्य**—उन्हें सामने से परे हटाकर; **अत्यक्रामत्**—लांघ जाता है, इनसे ऊपर उठ जाता है; **तम्**—उस;

के मारे बचा न रहेगा। विदग्ध शाकल्य कुछ उत्तर न दे सका और इस पराजय का उस अभिमानी को इतना धक्का लगा कि उसका वहीं सिर फट गया, उसका प्राणांत हो गया, उसकी हड्डियां भी इतनी ढीली पड़ गई मानो उन्हें चोर न-जाने क्या-कुछ समझ कर चुरा ले भागे हों—उससे खड़ा न रहा गया, और वह वहीं ढेर हो गया ॥२६॥

विदग्ध से निपट कर अब याज्ञवल्क्य ब्राह्मणों की तरफ मुंह करके बोले, हे पूजनीय ब्राह्मणो! अब आप में से जिस की इच्छा हो मुझ से ब्रह्म-विषयक प्रश्न करो, आप चाहो तो आप सब मिल कर मुझ से प्रश्न करो। और, अगर आप में से कोई चाहे कि मैं उससे प्रश्न करूं, या अगर आप चाहो कि मैं आप सब से प्रश्न करूं, तो मैं प्रश्न करने के लिये उद्यत हूं। उन ब्राह्मणों में से किसी को प्रश्न करने का साहस नहीं हुआ ॥२७॥

त्वा—तुम से; औपनिषदम्—उपनिषद् (गुह्य-ज्ञान), से जानने योग्य, उपनिषदों में वर्णित, पुरुषम्—पुरुष (आत्मा या परमात्मा) को, पृच्छामि—पूछना हूं (कि वह कौन-सा कैसा है), तम्—उसको, चेत्—अगर, मे—मुझे, न—नहीं; विवक्ष्यसि—व्याख्या कर बतलायगा (तो), मूर्धा—मस्तक, सिर, ते—तेरा, विपतिष्यति—(लज्जा से) गिर जायगा, इति—यह (कहा व पूछा), तम्—उस (पुरुष) को, न—नहीं, मेने—मनन कर सका, जानता था (अत न बता सका), शाकल्यः—विदग्ध शाकल्य, तस्य ह—और उसका, मूर्धा—सिर, विपपात—(आत्मग्लानि से) गिर गया, अपि ह—तथा च, अस्य—इस (विदग्ध) की, परिमोषिणः—चोर, अस्थीनि—हड्डियों को, अपजह्रुः—अपहरण कर ले गये, उठा भागे, अन्यत्—कुछ अन्य-सा, मन्यमानाः—समझते हुए ॥२६॥

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स मा पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते तं वः पृच्छामि सर्वान्वा वः पृच्छामीति। ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः ॥२७॥

अथ ह उवाच—फिर (याज्ञवल्क्य ने) कहा, ब्राह्मणा. भगवन्तः—आदरणीय ब्राह्मणो!; यः—जो कोई, वः—तुम (आप) में से, कामयते—चाहता हो; सः—वह, मा—मुझसे, पृच्छतु—पूछे; सर्वे वा—या सारे (सब मिल कर); मा—मुझसे; पृच्छत—प्रश्न करें, यः—जो कोई, वः—आपमें से; कामयते—चाहता हो; तम् वः (वः तम्)—आप में से उससे, पृच्छामि

अब याज्ञवल्क्य ने ही कहना शुरू किया—वनस्पतियों में जैसे 'वृक्ष' है, ठीक इसी तरह प्राणियों में 'पुरुष' है। जैसे वृक्ष के 'पत्ते' हैं वैसे पुरुष के 'लोम' हैं; जैसे वृक्ष की बाहरी 'वक्कल' है वैसे पुरुष की 'त्वचा' है; जैसे वृक्ष की वक्कल को काटने से 'गोंद' झरता है वैसे पुरुष की त्वचा के आहत होने से 'रुधिर' बहता है; जैसे वृक्ष के वक्कल के नीचे नर्म 'तहें' हैं वैसे पुरुष की त्वचा के नीचे 'मांस' है; जैसे वृक्ष में 'रेशे' हैं वैसे पुरुष में 'नस-नाड़ी' हैं; जैसे वृक्ष में 'लकड़ियां' हैं वैसे पुरुष में 'हड्डियां' हैं; जैसे वृक्ष के अन्दर 'गूदा' है वैसे पुरुष में 'मज्जा' है।

परन्तु हे ब्राह्मणो ! यह बतलाओ कि जब वृक्ष को काट गिराते हैं तब वह तो अपने 'मूल' से—अपनी जड़ से—फिर उठ खड़ा होता है परन्तु जब पुरुष को मृत्यु काट गिराती है तब वह किस 'मूल' से फिर उठ खड़ा होता है ? अगर कहो कि 'वीर्य' से पुरुष मर कर उठ खड़ा होता है, तो यह बात ठीक नहीं, क्योंकि 'वीर्य' तो जीवित

—मैं प्रश्न करूं; सर्वान् वा—या सब ही; वः—आप से; पृच्छामि—प्रश्न करता हूं; इति—ऐसे कहा; ते ह ब्राह्मणाः—उन ब्राह्मणों ने; न—नहीं; दधृषुः—साहस किया, न सह सके ॥२७॥

तान् हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ। यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा। तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः। त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः। तस्मात्तदातृण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाऽऽहतात्। मांसान्यस्य शकराणि किनाटं स्नाव तत्स्थिरम्। अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता। यद्वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः। मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति। रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत्प्रजायते। धानारुह इव वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य संभवः। यत्समूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत्। मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति। जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत्पुनः। विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद इति ॥२८॥

तान् ह—और उनको (से); एतैः—इन; श्लोकैः—पद्यों से; पप्रच्छ—पूछा; यथा—जैसे; वृक्षः—वृक्ष; वनस्पतिः—वन का स्वामी, सब में बड़ा; तथा एव—वैसे ही; पुरुषः—देहयुक्त आत्मा; अमृषा—सत्य है, या इसमें झूठ (सन्देह) नहीं; तस्य—उस (देही) के; लोमानि—रोएं; पर्णानि—पत्ते

पुरुष में ही होता है। अगर पुरुष के मर जाने पर भी उसका वीर्य बना रहता, तो वह मरने पर भी वृक्ष की तरह बीज से फिर उग खड़ा होता, परन्तु पुरुष के तो मर जाने पर उसका बीज भी साथ ही नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त, अगर वृक्ष के मूल को नष्ट कर दिया जाय, तो वह फिर उत्पन्न नहीं हो सकता, फिर यह बतलाओ कि मृत्यु जब पुरुष को समूल नष्ट कर देती है, तो यह किस मूल से फिर उठ खड़ा होता है, दुबारा जन्म ले लेता है? याज्ञवल्क्य के इस प्रश्न को सुनकर चारों तरफ स्तब्धता छा गई, किसी से कोई उत्तर न बन पड़ा। यह देख याज्ञवल्क्य ने स्वयं ही उत्तर दिया, हे ब्राह्मणो! वह 'आत्मा' 'जात' ही है, सदा बना हुआ है, वह कभी

(के समान) है, त्वग्—त्वचा; अस्य—इस (देही पुरुष) की, उत्पाटिका बहिः—(वृक्ष की) बाहर की अलग हो जानेवाली छाल (वक्कल) है, त्वच—त्वचा से, एव—ही; अस्य—इस पुरुष की, रुधिरम्—खून, प्रस्यन्दि—बहने वाला, बहता है, त्वच—छाल से, उत्पट—उखड़ी हुई, तस्माद्—उससे तद्—वह (रुधिर), आतृण्णात्—कटे हुए, प्रैति—निकलता है, रसः—रस (पानी); वृक्षात्—वृक्ष से, इव—समान, तरह, आहतात्—चोट खाए हुए, काटे हुए, मांसानि—मांस, अस्य—इस (देही) के, शकराणि—वृक्ष की छाल के नीचे का नर्म भाग (हैं), किनाटम्—वृक्ष की नसें (रेशे), स्नाव—नाड़ी-सस्थान; तत्—वह; स्थिरम्—स्थिर है, अस्थीनि—हड्डियां, अन्तरत—(वृक्ष के) अन्दर की, दारूणि—कठोर लकड़ी हैं, मज्जा—गूदा, मज्जा+उपमा—(मनुष्य की) मज्जा के समान, कृता—(वर्णित) की गई है, यद्—जो; वृक्ष—वृक्ष, वृक्ण—काटा हुआ, रोहति—फिर जम आता है, मूलात्—जड़ से, नवतरः—अधिक नया, नये सिरे से, मर्त्यः—मरण-धर्मा (देही) स्वित्—तो, मृत्युना—मृत्यु (काल) से, वृक्ण—काटा हुआ, मारा हुआ, कस्मात्—किस, मूलात्—जड़ से, प्ररोहति—फिर उग आता है (फिर जन्म लेता है); रेतसः—वीर्य से (उत्पन्न होता है), इति—ऐसे, मा—मत, वोचत—कहो; जीवतः—जीवित पुरुष के ही, तद्—वह (वीर्य), प्रजायते—उत्पन्न होता है (मृत का नहीं); धानारुहः—बीज से उत्पन्न होनेवाले, इव—समान, वृक्षः—वृक्ष, अञ्जसा—जल्दी ही, प्रेत्य—मर कर, संभव—उत्पत्ति संभव है, यत्—जो, समूलम्—जड़सहित, आवृहेयुः—उखाड़ देवें, वृक्षम्—वृक्ष को, न—नहीं; पुनः—फिर; आ भवेत्—(हरा-भरा) हो सकता है, मर्त्यः प्रे इति—अर्थ पूर्ववत्; जातः एव—(सर्वदा) उत्पन्न ही है (वह कभी मरता ही नहीं

उत्पन्न ही नहीं होता, फिर उसके दुबारा उत्पन्न होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। वह 'आत्मा' विज्ञानमय है, आनन्दमय है, ब्रह्म है—वही धन आदि का दान देने वाले 'कर्मकांडी' तथा स्थिर-चित्त, ब्रह्म-ज्ञान में रत 'ज्ञानकांडी' का परम-धाम है ॥२८॥

चतुर्थ अध्याय—(पहला ब्राह्मण)

(जनक को याज्ञवल्क्य का विश्व के आधारभूत-तत्त्वों का उपदेश, १ से ४ ब्राह्मण)

एक समय की बात है कि विदेह-राज जनक बैठे हुए थे, इतने में महर्षि याज्ञवल्क्य वहां आ निकले। जनक महाराज ने पूछा, हे याज्ञवल्क्य ! कैसे पधारे ? क्या पशु चाहियें, या 'अण्वन्तों' (अणु-पदार्थों का भी अन्त) अर्थात् सूक्ष्म-तत्त्वों का विवेचन कीजियेगा ? याज्ञवल्क्य ने कहा, हे सम्राट् दोनों ही बात होंगी ॥१॥

न जायते—कभी उत्पन्न नहीं होता है (अजन्मा है); **कः नु**—कौन तो; **एनम्**—इसको; **जनयेत्**—उत्पन्न कर सकता है; **पुनः**—फिर; **विज्ञानम्**—ज्ञानस्वरूप चेतन (चित्); **आनन्दम्**—सर्वदा आनन्दमय; **ब्रह्म**—सब से बड़ा; **रातिः**—धन-दान; **दातुः**—दाता का; **परायणम्**—परम-धाम, आश्रय; **तिष्ठमानस्य**—स्थिर रहनेवाले, शान्त चित्तवाले; **तद्विदः**—उसके ज्ञाता (ब्रह्मज्ञ, आत्मज्ञ) का भी (परम-आश्रय); **इति**—यह (कहा—उपदेश दिया) ॥२८॥

> **ॐ जनको ह वैदेह आसांचक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज।**
> **तं होवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छ-न्नण्वन्तानिति। उभयमेव सम्राडिति होवाच ॥१॥**

ओम्—सर्वरक्षक, एकमात्र ध्येय, आदि गुरु ब्रह्म का ध्यान कर; **जनकः ह वैदेहः**—कभी विदेह-नरेश जनक; **आसांचक्रे**—बैठे हुए थे; **अथ ह**—और तब; **याज्ञवल्क्यः**—याज्ञवल्क्य; **आवव्राज**—घूमते-फिरते आ गये; **तम् ह उवाच**—उसको (जनक ने) कहा; **याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य !; **किमर्थम्**—किस लिए, क्यों; **अचारीः**—आगमन किया है; **पशून्**—गौ आदि पशुओं (धन) को; **इच्छन्**—चाहते हुए; (या) **अण्वन्तान्** (अणु+अन्तान्)—परम सूक्ष्म तत्त्वों के अन्त (रहस्य) को (जानने की इच्छा से); **इति**—यह (कहा); **उभयम् एव**—दोनों को ही; **सम्राट्**—हे महाराज !; **इति ह उवाच**—यह कहकर (याज्ञवल्क्य ने) कहा ॥१॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, राजन्! पहले यह सुनाइये कि अब तक आप के गुरुओं ने आप को क्या सिखाया है? राजा ने कहा, जित्वा शैलिनि ने तो मुझे यह उपदेश दिया है कि 'वाणी ही ब्रह्म' है! याज्ञवल्क्य ने कहा, जैसे कोई अच्छे माता-पिता और गुरु से शिक्षा पाया हुआ उपदेश दे, वैसे ही शैलिनि ने आपको वाणी को ब्रह्म होने का उपदेश दिया है। ठीक भी है, जो बोल नहीं सकता उसका संसार में क्या बन सकता है? परन्तु क्या 'वाक्-ब्रह्म' के 'आयतन', तथा 'प्रतिष्ठा' के विषय में उसने आपको कुछ बतलाया? राजा ने कहा, इनके विषय में तो कुछ नहीं बतलाया! याज्ञवल्क्य ने कहा, तब तो उसने एक-पाद ब्रह्म का ही उपदेश दिया, ब्रह्म के चतुर्थांश का ही वर्णन किया। इस वर्णन के अतिरिक्त उसके 'आयतन', उसकी 'प्रतिष्ठा' और उसकी 'उपासना' का वर्णन तो रह ही गया! राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य! फिर आप ही सर्वांश ब्रह्म का उपदेश दीजिये। याज्ञवल्क्य ने कहा, पिंड में 'वाणी' मानो ब्रह्म का 'आयतन' है, उसका शरीर है, उसका ठिकाना है; ब्रह्मांड में 'आकाश' मानो उसकी 'प्रतिष्ठा' है, इस विशाल आकाश में मानो वह प्रतिष्ठित हो रहा है,

---

यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे जित्वा शैलिनिर्वाग्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छैलिनिरब्रवीद्वाग्वै ब्रह्मेत्यवदतो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य। वागेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनदुपासीत। का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य, वागेव सम्राडिति होवाच। वाचा वै सम्राड् बन्धुः प्रज्ञायत ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते। हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः। स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥२॥

यत्—जो, ते—तुझे; कश्चिद्—किसी ने, अब्रवीत्—कहा, बताया, तद्—उसको; शृणवाम—हम सुनें, इति—यह (कहा), अब्रवीत्—कहा

उसमें फैल रहा है, उसमें ठिकाना किये बैठा है। पिंड की 'वाणी' में भी वही सिमिटा बैठा है, ब्रह्मांड के 'आकाश' में भी वही फैला बैठा है। वह ब्रह्म 'प्रज्ञा'-रूप है—इसी रूप में उसकी उपासना करनी चाहिए। 'प्रज्ञा'-रूप ब्रह्म जो 'आकाश' की तरह सर्वत्र प्रतिष्ठित है, 'वाणी' में आकर बैठा हुआ है? राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! 'प्रज्ञता' से आपका क्या अभिप्राय है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'प्रज्ञता'—प्रकर्ष ज्ञान—वाणी से ही तो प्रकट होती है, इसलिये वाणी ही प्रज्ञता है। हे सम्राट् ! वाणी से ही बन्धु पहिचाना जाता है, वाणी से ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत, भोजन-दान, जल-

---

(बताया) था; जित्वा—जित्वा (नामी) ने; शैलिनिः—शिलिन के पुत्र; वाग् वै—वाणी ही; ब्रह्म—ब्रह्म (सब से बढ़कर, श्रेष्ठ) है; इति—यह; यथा—जैसे; मातृमान्—प्रशस्त (शिक्षित) माता वाला; पितृमान्—प्रशस्त पिता वाला; आचार्यवान्—योग्य आचार्य वाला; ब्रूयात्—उपदेश करे; तथा—वैसे; तद्—वह (बात); शैलिनिः अब्रवीत्—शैलिनि ने बताई थी; वाग् वै ब्रह्म इति—कि वाणी ही ब्रह्म है; अवदतः—न बोल सकनेवाले का, गूंगे का; हि—क्योंकि; किम्—क्या (प्रयोजन); स्यात् इति—सिद्ध हो सकता है; अब्रवीत् तु—क्या (उसने) बताया था; ते—तुझे; तस्य—उस (वाग्-ब्रह्म) का; आयतनम्—शरीर, विस्तार; प्रतिष्ठाम्—और आश्रय (आधार); न मे अब्रवीद् इति—हे मुने ! मुझे उसने नहीं बताया; एकपाद् वै एतद्—यह (निर्दिष्ट ब्रह्म) तो एकपाद् (चौथाई—एक अंश) ही है; सम्राड् इति—हे महाराज!; सः वै नः ब्रूहि याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य वह तू हमें कह (बता—जो पूर्ण ब्रह्म है); वाग् एव आयतनम्—(जिसका) वाणी ही शरीर (विस्तार) है; आकाशः प्रतिष्ठा—आकाश (जिसका) स्थिति-स्थान है; प्रज्ञा इति—प्रकृष्ट ज्ञान, रहस्य-ज्ञान, सर्वज्ञता, इस रूप में; एनत्—इस (ब्रह्म) की; उपासीत—उपासना करे; का—क्या, कौन; प्रज्ञता—सर्वज्ञता है; याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य !; वाग् एव—वाणी ही (प्रज्ञता—सर्वज्ञबोधक) है; सम्राड्—हे महाराज;' इति ह उवाच—और यह भी कहा; वाचा—वाणी से; वै—ही तो; सम्राड्—हे महाराज !; बन्धुः—बन्धु (भाई-बन्द); प्रज्ञायते—जाना जाता है; ऋग्वेदः...व्याख्यानानि—अर्थ पूर्ववत्; इष्टम्—प्रिय, किया यज्ञ; हुतम्—हवन; आशितम्—खिलाया भोजन; पायितम्—पिलाया जल (इष्टापूर्त); अयम् च लोकः—यह (पृथिवी) लोक या यह विद्यमान जन्म; परः च लोकः—

दान, इह-लोक, पर-लोक सब भूत जाने जाते हैं। हे सम्राट् ! वाणी ही परम-ब्रह्म है। जो इस रहस्य को जानता हुआ वाणी द्वारा 'प्रज्ञा-ब्रह्म' की उपासना करता है उसका साथ वाणी नहीं छोड़ती, सब प्राणी उसकी रक्षा करते हैं, वह स्वयं देव होकर देवों में जा विराजता है। यह सुनकर विदेहराज जनक ने कहा, मैं आपके इस उपदेश के लिये एक सहस्र गायें और हाथी के समान बैल भेंट करता हूं। याज्ञवल्क्य ने कहा, नहीं, मेरे पिता का यह आदेश है कि जब तक शिष्य को पूरा उपदेश न दे लेना तब तक उससे कोई भेंट न लेना ॥२॥

याज्ञवल्क्य ने फिर कहा, राजन् ! किसी अन्य गुरु ने आपको कुछ सिखाया हो, तो वह कहिये। राजा ने कहा, उदङ्क शौल्बायन ने

दूसरा (आदित्य) लोक या पर-जन्म, सर्वाणि च भूतानि—और सारे भूत (जड़-भूत और चर-प्राणी), वाचा एव—वाणी ही से, सम्राट्—हे महाराज !, प्रज्ञायन्ते—जाने जाते हैं, वाग् वै—(प्रज्ञा रूप) वाणी ही, सम्राट्—हे महाराज, परमम्—परम, ब्रह्म—ब्रह्म (सब से बढ़ कर) है, न—नहीं, एनम्—इस (उपासक) को, वाग्—वाणी (प्रज्ञता), जहाति—छोड़ती है, सर्वाणि—सारे, एनम्—इस (उपासक) को, भूतानि—प्राणी व पंच भूत, अभिक्षरन्ति—सब ओर से सींचते—पालन करते हैं, देव —देव (विद्वान्, दिव्यगुणयुक्त), भूत्वा—होकर, देवान्—देवों को, अपि+एति—प्राप्त होता है (उनमें मिल जाता है), य —जो, एवम्—इस प्रकार, विद्वान्—(वाक्प्रज्ञता) को जानने-वाला, एतद्—इस (ब्रह्म) की, उपास्ते—उपासना करता है, हस्ति-ऋषभम्—हस्ति-तुल्य बैल (बिजार) वाले, सहस्रम्—हजार गौवें, ददामि—देता (भेंट करता) हूं, इति ह उवाच जनक वैदेह —यह विदेहराज जनक ने कहा, स ह उवाच याज्ञवल्क्य —(इस पर) उस याज्ञवल्क्य ने कहा कि, पिता—पिता, मे—मेरे, अमन्यत—मानते थे (कहा करते थे) कि, न—नहीं, अननुशिष्य (न+अनुशिष्य)—अनुशासन (पूरा उपदेश) न करके, हरेत—(धन-दक्षिणा) लेवे (पूरा उपदेश देकर ही भेंट लेनी चाहिये), इति—यह (मानते थे) ॥२॥

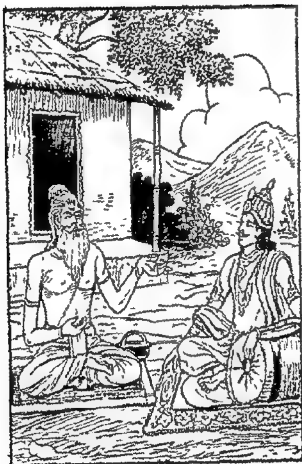
यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्म उदङ्कः शौल्बायनः प्राणो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छौल्बायनोऽब्रवीत्प्राणो वै ब्रह्मेत्यप्राणतो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति ॥

मुझे यह उपदेश दिया है कि 'प्राण ही ब्रह्म' है। याज्ञवल्क्य ने कहा, जैसे कोई अच्छे माता-पिता और गुरु से शिक्षा पाया हुआ उपदेश दे, वैसे ही शौल्वायन ने आपको प्राण के ब्रह्म होने का उपदेश दिया है। ठीक भी है, जो प्राण---सांस---नहीं लेता उसका संसार में क्या बन सकता है ? परन्तु क्या 'प्राण-ब्रह्म' के 'आयतन' तथा 'प्रतिष्ठा' के विषय में उसने आपको कुछ बतलाया ? राजा ने कहा, इनके विषय में तो कुछ नहीं बतलाया। याज्ञवल्क्य ने कहा, तब तो उसने एक-पाद ब्रह्म का ही उपदेश दिया, ब्रह्म के चतुर्थांश का ही वर्णन किया। इस वर्णन के अतिरिक्त उसके 'आयतन', उसकी 'प्रतिष्ठा' और उसकी 'उपासना' का वर्णन तो रह ही गया। राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! फिर आप ही सर्वांश ब्रह्म का उपदेश दीजिये। याज्ञवल्क्य ने कहा, पिंड में 'प्राण' मानो ब्रह्म का 'आयतन' है, उसका शरीर है, उसका ठिकाना है, ब्रह्मांड में 'आकाश' मानो उसकी 'प्रतिष्ठा' है, इस विशाल आकाश में मानो वह प्रतिष्ठित हो रहा है, उसमें फैल रहा है, उसमें ठिकाना किये बैठा है। पिंड के 'प्राण' में भी वही

वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य प्राण एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रिय-मित्येनदुपासीत का प्रियता याज्ञवल्क्य प्राण एव सम्राडिति होवाच प्राणस्य वै सम्राट् कामायायाज्यं याजयत्यप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि तत्र वधाशंकं भवति यां दिशमेति प्राणस्यैव सम्राट् कामाय प्राणो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं प्राणो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥३॥

यद् एव—जो ही; ते—तुझे; कश्चिद् अब्रवीत्—किसी ने उपदेश दिया है; तत् शृणवाम इति—उसको हम भी सुनें; अब्रवीत्—उपदेश किया था; मे—मुझे; उदंकः—उदंक (नामी); शौल्वायनः—शुल्व के पुत्र; प्राणः वै ब्रह्म इति—प्राण (जीवन-श्वास-प्रश्वास) ही ब्रह्म (बड़ा, सर्वश्रेष्ठ) है; यथा. . .तथा—अर्थ पूर्ववत्; तत्—वह (उपदेश); शौल्वायनः अब्रवीत्—शौल्वायन ने कहा था (कि); प्राणः वै ब्रह्म इति—प्राण ही ब्रह्म है; अप्राणतः—सांस न लेते हुए, जीवन से शून्य का; हि. . .याज्ञवल्क्य—अर्थ पूर्ववत्; प्राणः एव आयतनम्—प्राण (जीवन) ही जिसका शरीर (क्षेत्र) है; आकाशः प्रतिष्ठा—

सिमिटा बैठा है, ब्रह्मांड के 'आकाश' में भी वही फैला बैठा है। वह ब्रह्म 'प्रिय'-रूप है—इसी रूप में उसकी उपासना करनी चाहिये। 'प्रिय'-रूप ब्रह्म जो 'आकाश' की तरह सर्वत्र प्रतिष्ठित है, 'प्राण' में आकर बैठा हुआ है। राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य! 'प्रियता' से



याज्ञवल्क्य जनक को ब्रह्म का उपदेश दे रहे हैं

आकाश जिसकी प्रतिष्ठा (स्थिति-स्थान) है, प्रियम् इति—यह प्रिय (अभीष्ट, प्रेय) है इस रूप में; एनत् उपासीत—उस ब्रह्म की उपासना करे; का—कौन-सी, किस स्वरूप की; प्रियता—प्रिय रूप है (प्रियता किसे कहते हैं); याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य, प्राणः एव—प्राण ही (परम प्रिय) है, सम्राट्—

आपका क्या अभिप्राय है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, प्रियता प्राण से ही तो प्रकट होती है—तभी तो कहते हैं 'प्राण-प्रिय'—इसलिये प्राण ही प्रियता है। प्राण के प्रेम के कारण ही याज्ञिक तो जो व्यक्ति यज्ञ के योग्य नहीं उसे भी यज्ञ करा देते हैं, जो दान लेने योग्य नहीं उससे भी दान ले लेते हैं। प्राण के प्रेम के कारण ही जहां भी जाते हैं वहीं यह भय भी बना ही रहता है कि कहीं कोई मार न डाले। हे सम्राट् ! प्राण ही परम-ब्रह्म है। जो इस रहस्य को जानता हुआ प्राण द्वारा 'प्रिय-ब्रह्म' की उपासना करता है उसका साथ प्राण नहीं छोड़ता, सब प्राणी उसकी रक्षा करते हैं, वह स्वयं देव होकर देवों में जा विराजता है। यह सुनकर विदेह-राज जनक ने कहा, मैं आपके इस उपदेश के लिये एक सहस्र गायें और हाथी के समान बैल भेंट करता हूं। याज्ञवल्क्य ने कहा, नहीं, मेरे पिता का यह आदेश है कि जबतक शिष्य को पूरा उपदेश न दे लेना तबतक उससे कोई भेंट न लेना ॥३॥

याज्ञवल्क्य ने फिर कहा, राजन् ! किसी अन्य गुरु ने आप को कुछ सिखाया हो, तो वह कहिये। राजा ने कहा, वर्कु वार्ष्ण ने मुझे यह

हे महाराज; इति ह उवाच—यह (याज्ञवल्क्य ने) कहा; **प्राणस्य वै सम्राट्**—हे महाराज ! प्राण की ही; **कामाय**—कामना के लिए, स्वार्थ के लिए; **अयाज्यम्**—यज्ञ के अनधिकारी को (का); **याजयति**—यज्ञ करवाता है; **अप्रतिगृह्यस्य**—जिसका दान नहीं लेना चाहिये उसका भी; **प्रतिगृह्णाति**—दान स्वीकार करता है; **अपि**—चाहे, भी; **तत्र**—वहां, उसमें; **वध+आशंकम्**—वध (मृत्यु) की आशंका (सम्भावना); **भवति**—होती है (तो भी); **याम् दिशम्**—जिस किसी दिशा की ओर; **एति**—जाता है (उस ओर); **प्राणस्य एव सम्राट् कामाय**—हे सम्राट् ! प्राण की कामना (हित) के लिए ही (जाता है); **प्राणो वै सम्राट् परमम् ब्रह्म**—हे सम्राट् ! प्राण ही परम ब्रह्म (सर्वश्रेष्ठ) है; **न एनम् प्राणः जहाति**—नहीं इस (उपासक) को प्राण कभी छोड़ता है; **सर्वाणि. . .हरेत इति**—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे बर्कुर्वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीच्चक्षुर्वै ब्रह्मेत्यपश्यतो हि किँ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य चक्षुरेवायत-

उपदेश दिया है कि 'चक्षु ही ब्रह्म है'। याज्ञवल्क्य ने कहा, जैसे कोई अच्छे माता-पिता और गुरु से शिक्षा पाया हुआ उपदेश दे वैसे ही वार्ष्ण ने आप को चक्षु के ब्रह्म होने का उपदेश दिया है। ठीक भी है, जो देख नहीं सकता उसका संसार में क्या बन सकता है? परन्तु क्या 'चक्षु-ब्रह्म' के 'आयतन' तथा 'प्रतिष्ठा' के विषय में उसने आप को कुछ बतलाया। राजा ने कहा, इनके विषय में तो कुछ नहीं बतलाया। याज्ञवल्क्य ने कहा, तब तो उसने एक पाद ब्रह्म का ही उपदेश दिया, ब्रह्म के चतुर्थांश का ही वर्णन किया। इस वर्णन के अतिरिक्त उसके 'आयतन', उसकी 'प्रतिष्ठा' और उसकी 'उपासना' का वर्णन तो रह ही गया। राजा ने कहा, याज्ञवल्क्य! फिर आप ही ब्रह्म के सर्वांश का उपदेश दीजिये। याज्ञवल्क्य ने कहा, पिंड में 'चक्षु' मानो ब्रह्म का 'आयतन' है, उसका शरीर है, उसका ठिकाना है, ब्रह्मांड में 'आकाश' मानो उसकी 'प्रतिष्ठा' है, इस विशाल आकाश में मानो वह प्रतिष्ठित हो रहा है, उसमें फैल रहा है, वहां ठिकाना किये बैठा है। पिंड की 'चक्षु' में भी वही सिमिटा बैठा है, ब्रह्मांड के 'आकाश' में भी वही फैला बैठा है। वह ब्रह्म 'सत्य'-रूप है—इसी रूप में उसकी उपासना करनी चाहिये। 'सत्य'-रूप ब्रह्म जो 'आकाश' की तरह सर्वत्र प्रतिष्ठित है, 'चक्षु' में आकर बैठा हुआ है। राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य! 'सत्यता' से आप का क्या अभिप्राय है? याज्ञवल्क्य ने कहा, सत्यता चक्षु से ही प्रकट होती है। जब देखने वाले से पूछा जाता है, क्या तूने देखा, और वह

नमाकाश प्रतिष्ठा सत्यमित्येनदुपासीत का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षु-
रेव सम्राडिति होवाच चक्षुषा वै सम्राट् पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति
स आहाद्राक्षमिति तत्सत्यं भवति चक्षुर्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं
चक्षुर्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य
एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको
वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥४॥

पद मे—अर्थ पूर्ववत्, बर्कु—बर्कु (नामी), वार्ष्ण—वृष्ण के पुत्र, चक्षु वै ब्रह्म इति—नेत्र ही ब्रह्म (सर्वश्रेष्ठ) है, यथा तद्—पूर्ववत्, वार्ष्ण—वार्ष्ण ने, अब्रवीत्—कहा (उपदेश दिया कि), चक्षु वै ब्रह्म इति—नेत्र ही

कहता है, हां, मैंने देखा, तब आंख से ही देख रहा होता है, और जो आंख से देखता है, वही सत्य होता है। हे सम्राट् ! चक्षु ही परम-ब्रह्म है। जो इस रहस्य को जानता हुआ चक्षु द्वारा 'सत्य-रूप' की उपासना करता है उसका साथ चक्षु नहीं छोड़ते, सब प्राणी उसकी रक्षा करते हैं, वह स्वयं देव होकर देवों में जा विराजता है। यह सुनकर विदेह-राज जनक ने कहा, मैं आप के इस उपदेश के लिये एक सहस्र गायें और हाथी के समान बैल भेंट करता हूं। याज्ञवल्क्य ने कहा, नहीं, मेरे पिता का यह उपदेश है कि जब तक शिष्य को पूरा उपदेश न दे लेना तब तक उससे कोई भेंट न लेना ॥४॥

याज्ञवल्क्य ने फिर कहा, राजन् ! किसी अन्य गुरु ने आपको कुछ सिखाया हो, तो वह कहिये। राजा ने कहा, गर्दभीविपीत भारद्वाज ने मुझे यह उपदेश दिया है कि 'श्रोत्र ही ब्रह्म' है। याज्ञवल्क्य ने कहा, जैसे कोई अच्छे माता-पिता और गुरु से शिक्षा पाया हुआ

ब्रह्म है; अपश्यतः—न देखनेवाले का; हि. . याज्ञवल्क्य—अर्थ पूर्ववत्; **चक्षुः एव आयतनम्**—जिसका नेत्र ही शरीर है; **आकाशः प्रतिष्ठा**—आकाश जिसका आधार है (जो निराकार आकाश में व्याप्त है); **सत्यम् इति**—'सत्य' (यथार्थता-सर्वथा रहनेवाला) इस रूप में; **एतद्**—इस (ब्रह्म) की; **उपासीत**—उपासना करे; **का**—क्या, कौन-सा; **सत्यता**—सत्य-रूप है; **याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य !; **चक्षुः एव सम्राड्**—नेत्र ही तो (सत्यता) है हे सम्राट् !; **इति ह उवाच**—यह भी कहा कि; **चक्षुषा वै**—नेत्र से ही; **सम्राट्**—हे महाराज !; **पश्यन्तम्**—देखनेवाले को; **आहुः**—कहते हैं (पूछते हैं); **अद्राक्षीः इति**—क्या तूने स्वयं देखा है (जाना है); **सः**—वह (देखनेवाला); **आह**—(जब) कहता है; **अद्राक्षम् इति**—मैंने (स्वयं) देखा है; **तत्**—वह (बात); **सत्यम् भवति**—सच (यथार्थ) होती (समझी जाती) है; **चक्षुः वै सम्राट् परमम् ब्रह्म**—हे महाराज (सत्य निर्देशक) नेत्र ही परम ब्रह्म है; **न एनम् चक्षुः जहाति**—नहीं इस (उपासक) को नेत्र (सत्य-ज्ञान) छोड़ता है; **सर्वाणि. . हरेत इति**—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो भारद्वाजः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद् भारद्वाजोऽब्रवीच्छ्रोत्रं वै ब्रह्मेत्यशृण्वतो हि किँ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि

उपदेश दे वैसे ही भारद्वाज ने आप को श्रोत्र के ब्रह्म होने का उपदेश दिया है। ठीक भी है, जो सुन नहीं सकता उसका संसार में क्या बन सकता है, परन्तु क्या 'श्रोत्र ब्रह्म' के 'आयतन' तथा 'प्रतिष्ठा' के विषय में उसने आप को कुछ बतलाया ? राजा ने कहा, इनके विषय में तो कुछ नहीं बतलाया। याज्ञवल्क्य ने कहा, तब तो उसने एक-पाद ब्रह्म का ही उपदेश दिया, ब्रह्म के चतुर्थांश का ही वर्णन किया। इस वर्णन के अतिरिक्त उसके 'आयतन', उसकी 'प्रतिष्ठा' और उसकी 'उपासना' का वर्णन तो रह ही गया। राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! फिर आप ही ब्रह्म के सर्वांश का उपदेश दीजिये। याज्ञवल्क्य ने कहा, पिंड में 'श्रोत्र' मानो ब्रह्म का 'आयतन' है, उसका शरीर है, उसका ठिकाना है, ब्रह्मांड में 'आकाश' मानो उसकी 'प्रतिष्ठा' है, इस विशाल आकाश में मानो वह प्रतिष्ठित हो रहा है, फैल रहा है, वहां ठिकाना किये बैठा है। पिंड के 'श्रोत्र' में भी वही सिमिटा बैठा है, ब्रह्मांड के 'आकाश' में भी वही फैला बैठा है। यह ब्रह्म 'अनन्त'-रूप है—इसी रूप में उसकी उपासना करनी चाहिये 'अनन्त'-रूप ब्रह्म, जो 'आकाश' में सर्वत्र प्रतिष्ठित है, 'श्रोत्र' में आकर बैठा हुआ है। राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! 'अनन्तता' से आप का क्या अभिप्राय है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, अनन्तता दिशाओं से प्रकट होती है। तभी तो जिस-किसी दिशा की तरफ हम चल देते हैं उसका अन्त ही नहीं आने में आता, दिशाएं अनन्त हैं। हे सम्राट् ! ब्रह्मांड में जिसे दिशा कहते हैं पिंड में उसी को श्रोत्र कहते हैं, इसलिये हे सम्राट् !

याज्ञवल्क्य श्रोत्रमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽनन्त इत्येनदुपासीत काऽनन्तता याज्ञवल्क्य दिश एव सम्राडिति होवाच तस्माद्वै सम्राडपि यां कां च दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छत्यनन्ता हि दिशो दिशो वै सम्राट् श्रोत्रं श्रोत्रं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं श्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥५॥

यद् मे—अर्थ पूर्ववत्, गर्दभीविपीत —गधी के दूध पर पले, भारद्वाज —भरद्वाज-गोत्री ने, श्रोत्रम् वै ब्रह्म इति—कर्णेन्द्रिय ही ब्रह्म है यथा

श्रोत्र ही परम-ब्रह्म है। जो इस रहस्य को जानता हुआ श्रोत्र अथवा दिशाओं द्वारा 'अनन्त-ब्रह्म' की उपासना करता है उसका साथ श्रोत्र नहीं छोड़ते, सब प्राणी उसकी रक्षा करते हैं, वह स्वयं देव होकर देवों में जा विराजता है। यह सुनकर विदेह-राज जनक ने कहा, मैं आप के इस उपदेश के लिये एक सहस्र गायें और हाथी के समान बैल भेंट करता हूं। याज्ञवल्क्य ने कहा, नहीं, मेरे पिता का यह आदेश है कि जब तक शिष्य को पूरा उपदेश न दे लेना उससे कोई भेंट न लेना ।।५।।

याज्ञवल्क्य ने फिर कहा, राजन्! किसी अन्य गुरु ने आप को कुछ सिखाया हो, तो वह कहिये। राजा ने कहा, सत्यकाम जाबाल ने मुझे यह उपदेश दिया है कि 'मन ही ब्रह्म है'! याज्ञवल्क्य ने कहा, जैसे कोई अच्छे माता-पिता और गुरु से शिक्षा पाया हुआ उपदेश दे वैसे ही जाबाल ने आप को मन के ब्रह्म होने का उपदेश

तद्—पूर्ववत्; भारद्वाजः अब्रवीत्—भारद्वाज ने कहा (बताया) था कि; श्रोत्रम् वै ब्रह्म इति—श्रोत्र ही ब्रह्म (बढ़कर) है; अशृण्वतः—न सुन सकनेवाले (बहरे) का (बिना सुने); हि...याज्ञवल्क्य—अर्थ पूर्ववत्; श्रोत्रम् एव आयतनम्—कान जिसका शरीर है; आकाशः प्रतिष्ठा—आकाश प्रतिष्ठा है; अनन्तः इति—निरन्त, अन्तशून्य रूप में; एतत् उपासीत—इस ब्रह्म की उपासना करे; का अनन्तता—अनन्तता क्या है; याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य!; दिशः एव—दिशाएं ही (अनन्त) हैं; सम्राड्—हे महाराज!; इति उवाच—और कहा; तस्माद् वै—अतएव; सम्राट्—हे महाराज; अपि—चाहे; याम् काम् च—जिस किसी भी; दिशम्—दिशा को; गच्छति (मनुष्य) जाता है; न एव—नहीं ही; अस्याः—इस (दिशा) के; अन्तम् गच्छति—अन्त को पाता है; अनन्ताः हि दिशः—दिशाएं अनन्त हैं; दिशः वै सम्राट् श्रोत्रम्—हे राजन् दिशाएं ही श्रोत्र हैं; श्रोत्रम् वै सम्राट् परमम् ब्रह्म—हे राजन् श्रोत्र ही परम ब्रह्म है; न एनम् श्रोत्रम् जहाति—नहीं इस (उपासक) को श्रोत्र छोड़ता है (उसकी सदा श्रवण-शक्ति बनी रहती है); सर्वाणि...हरेत इति—अर्थ पूर्ववत् ।।५।।

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो मनो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तज्जाबालोऽब्रवीन्मनो वै ब्रह्मेत्यमनसो हि किँ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य मन

दिया है। ठीक भी है, जिस का मन काम नहीं करता उसका संसार में क्या बन सकता है? परन्तु क्या 'मन-ब्रह्म' के 'आयतन' तथा 'प्रतिष्ठा' के विषय में उसने आप को कुछ बतलाया? राजा ने कहा, इनके विषय में तो कुछ नहीं बतलाया। याज्ञवल्क्य ने कहा, तब तो उसने एक-पाद ब्रह्म का ही उपदेश दिया, ब्रह्म के चतुर्थांश का ही वर्णन किया। इस वर्णन के अतिरिक्त उसके 'आयतन', उसकी 'प्रतिष्ठा' और उसकी 'उपासना' का वर्णन तो रह ही गया। राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य! फिर आप ही ब्रह्म के सर्वांश का उपदेश दीजिये। याज्ञवल्क्य ने कहा, पिंड में 'मन' मानो ब्रह्म का 'आयतन' है, उसका शरीर है, उसका ठिकाना है; ब्रह्मांड में 'आकाश' मानो उसकी 'प्रतिष्ठा' है, इस विशाल आकाश में मानो वह प्रतिष्ठित हो रहा है, वहां ठिकाना किये बैठा है। पिंड के 'मन' में भी वही सिमिटा बैठा है, ब्रह्मांड के 'आकाश' में भी वही फैला बैठा है। वह ब्रह्म 'आनन्द'-रूप है—इसी रूप में उसकी उपासना करनी चाहिये। 'आनन्द'-रूप ब्रह्म जो 'आकाश' में सर्वत्र प्रतिष्ठित है, 'मन' में आकर बैठा हुआ है। राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य! 'आनन्दता' से आप का क्या अभिप्राय है? याज्ञवल्क्य ने कहा, आनन्दता मन से ही प्रकट

एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽऽनन्द इत्येनदुपासीत का आनन्दता याज्ञ-
वल्क्य मन एव सम्राडिति होवाच मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभि-
हार्यते तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते स आनन्दो मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म
नैनं मनो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति
य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको
वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥६॥

यद् मे—अर्थ पूर्ववत्, सत्यकाम—सत्यकाम ने, जाबाल—जबाला के पुत्र, मनः—मन, वै—ही, ब्रह्म इति—ब्रह्म है, यथा तत्—पूर्ववत्, जाबालः अब्रवीत्—जाबाल ने कहा (बताया) था कि, मनः वै ब्रह्म इति—मन ही ब्रह्म है, अमनसः—मन (मनन-चिन्तन) से शून्य (पुरुष) का, हि याज्ञवल्क्य!—अर्थ पूर्ववत्, मनः एव आयतनम्—मन जिसका शरीर है, आकाशः प्रतिष्ठा—आकाश आश्रय (रहने का स्थान) है, आनन्दः इति—'आनन्दमय' इस रूप में; एतत् उपासीत—इस (ब्रह्म) की उपासना करे, का आनन्दता याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य 'आनन्दता' का क्या स्वरूप है, मनः एव सम्राट्—

होती है। हे सम्राट् ! मन ही से स्त्री-पुरुष का आकर्षण होता है, उससे अपने अनुकूल पुत्र होता है, यही आनन्द है। हे सम्राट् ! मन ही परम-ब्रह्म है। जो इस रहस्य को जानता हुआ मन द्वारा 'आनन्द-ब्रह्म' की उपासना करता है उसका साथ मन नहीं छोडता, सब प्राणी उसकी रक्षा करते हैं, वह स्वयं देव होकर देवों में जा विराजता है। यह सुनकर विदेह-राज जनक ने कहा, मैं आप के इस उपदेश के लिये एक सहस्र गायें और हाथी के समान बैल भेंट करता हूं। याज्ञवल्क्य ने कहा, नहीं, मेरे पिता का यह आदेश है कि जब तक शिष्य को पूरा उपदेश न दे लेना तब तक उससे कोई भेंट न लेना ॥६॥

याज्ञवल्क्य ने फिर कहा, किसी अन्य गुरु ने आप को कुछ सिखाया हो, तो वह कहिये। राजा ने कहा, विदग्ध शाकल्य ने मुझे

मन ही है राजन् ! ; इति ह उवाच—और यह कहा कि; मनसा वै—मन द्वारा ही; सम्राट्—हे राजन् ! ; स्त्रियम्—स्त्री (पत्नी) को; अभिहार्यते—अपनी ओर आकृष्ट करता (कामना-प्रार्थना करता) है; तस्याम्—उसमें; प्रतिरूपः—अपने स्वरूप का, अपने-जैसा; पुत्रः जायते—पुत्र उत्पन्न होता है; सः आनन्दः—वह ही तो आनन्द (आनन्दप्रद) होता है; मनः वै सम्राट् परमम् ब्रह्म—हे राजन् मन ही परम ब्रह्म है; न एनम्—नहीं इस (उपासक) को; मनः जहाति—मन छोड़ता है (उसकी मनन-शक्ति बनी रहती है); सर्वाणि. . .हरेत इति—अर्थ पूर्ववत् ॥६॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद्धृदयं ब्रह्मेत्यहृदयस्य हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य हृदयमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येनदुपासीत का स्थितता याज्ञवल्क्य हृदयमेव सम्राडिति होवाच हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानामायतनꣳ हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनꣳ हृदयं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥७॥

यह उपदेश दिया है कि 'हृदय ही ब्रह्म है' ! याज्ञवल्क्य ने कहा, जैसे कोई अच्छे माता-पिता और गुरु से शिक्षा पाया हुआ उपदेश दे वैसे ही शाकल्य ने आप को हृदय के ब्रह्म होने का उपदेश दिया है । ठीक भी है, जो हृदय-शून्य हो उसका संसार में क्या बन सकता है ? परन्तु क्या 'हृदय-ब्रह्म' के 'आयतन' तथा 'प्रतिष्ठा' के विषय में उसने आप को कुछ बतलाया ? राजा ने कहा, इनके विषय में तो कुछ नहीं बतलाया । याज्ञवल्क्य ने कहा, तब तो उसने एक-पाद ब्रह्म का ही उपदेश दिया, ब्रह्म के चतुर्थांश का ही वर्णन किया । इस वर्णन के अतिरिक्त उसके 'आयतन', उसकी 'प्रतिष्ठा' और उसकी 'उपासना' का वर्णन तो रह ही गया । राजा ने कहा, फिर आप ही ब्रह्म के सर्वांश का उपदेश दीजिये । याज्ञवल्क्य ने कहा, पिंड में 'हृदय' मानो ब्रह्म का 'आयतन' है, उसका शरीर है, उसका ठिकाना है, ब्रह्मांड में 'आकाश' मानो उसकी 'प्रतिष्ठा' है, इस विशाल आकाश में मानो वह प्रतिष्ठित हो रहा है, फैल रहा है, वहां ठिकाना किये बैठा है । पिंड के 'हृदय' में भी वही सिमिटा बैठा है, ब्रह्मांड के 'आकाश' में भी वही फैला बैठा है । वह ब्रह्म 'स्थिति'-रूप है—इसी रूप में उसकी उपासना करनी चाहिये । 'स्थिति'-रूप ब्रह्म जो 'आकाश' में सर्वत्र प्रतिष्ठित है, 'हृदय' में आकर बैठा हुआ है । राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! 'स्थितता' से आप का क्या अभिप्राय है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, स्थितता हृदय से ही प्रकट होती है । हे सम्राट् ! हृदय ही सब प्राणियों का आश्रय-स्थान है, हृदय में ही सब प्राणी प्रतिष्ठित होते हैं, आश्रय पाते हैं, इसलिये हे सम्राट् ! हृदय ही परम-ब्रह्म है । जो इस रहस्य को

यद् मे—अर्थ पूर्ववत्, विदग्ध· शाकल्य—विदग्धनामी शाकल्य ने, हृदयम् वै ब्रह्म इति—हृदय ही ब्रह्म है, यथा . तद्—अर्थ पूर्ववत्, शाकल्य· अब्रवीत्—शाकल्य ने कहा था कि, हृदयम् ब्रह्म इति—हृदय ब्रह्म है, अहृदयस्य —हृदय से शून्य (मनुष्य) का, हि याज्ञवल्क्य—अर्थ पूर्ववत्, हृदयम् एव आयतनम्—हृदय जिसका शरीर है, आकाश· प्रतिष्ठा—आकाश जिसकी प्रतिष्ठा (स्थिति-स्थान) है, स्थिति· इति—'स्थिति' (स्थिरता) इस रूप मे, एतत् उपासीत—इस ब्रह्म की उपासना करे, का स्थितता याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य स्थितता (स्थिरता) क्या है, हृदयम् एव सम्राट्—हे राजन् हृदय

जानता हुआ हृदय द्वारा 'स्थित-ब्रह्म' की उपासना करता है उसका साथ हृदय नहीं छोड़ता, सब प्राणी उसकी रक्षा करते हैं, वह स्वयं देव होकर देवों में जा विराजता है। यह सुन कर विदेह-राज जनक ने कहा, मैं आप के इस उपदेश के लिये एक सहस्र गायें और हाथी के समान बैल भेंट करता हूं। याज्ञवल्क्य ने कहा, नहीं, मेरे पिता का यह आदेश है कि जब तक शिष्य को पूरा उपदेश न दे लेना तब तक उससे कोई भेंट न लेना ॥७॥

इस उपदेश में पिंड के 'वाणी-ब्रह्म', 'प्राण-ब्रह्म', 'चक्षु-ब्रह्म', 'श्रोत्र-ब्रह्म', 'मन-ब्रह्म', 'हृदय-ब्रह्म' से चलकर ब्रह्मांड के 'प्रज्ञा-ब्रह्म', 'प्रिय-ब्रह्म', 'सत्य-ब्रह्म', 'अनन्त-ब्रह्म', 'आनन्द-ब्रह्म', 'स्थित-ब्रह्म' तक पहुंचने का वर्णन किया गया है। संसार में प्रज्ञता, प्रियता, सत्यता, अनन्तता, आनन्दता, स्थितता ही ब्रह्म के आकाश की तरह सर्व-व्यापी रूप हैं; उन्हें पकड़ने की डोरियां हैं वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन तथा हृदय! वाणी अपनी छोटी-सी प्रज्ञा के सहारे अनन्त प्रज्ञा को ढूंढ लेती है, प्राण अपनी छोटी-सी प्रियता के सहारे उस प्रेममय को पा लेता है, चक्षु छोटे-से सत्य का दर्शन करता-करता उस महान् सत्य तक पहुंच जाता है, श्रोत्र छोटी-छोटी ध्वनि को सुनकर ही ब्रह्म के अनन्त नाद को सुन लेता है, मन संसार के विषयों में थोड़ा-सा भी आनन्द लेकर आनन्द के उस असीम भंडार को स्मरण कर लेता है, हृदय चंचलता को छोड़कर एक क्षण के लिये भी जब स्थिर होता है तो वह स्थिरता महान्-स्थिर ब्रह्म की ही एक झलक होती है। संसार में जहां भी प्रज्ञा है

ही स्थितता है; इति ह उवाच—और यह भी बताया कि; हृदयम् वै—हृदय ही; सम्राट्—हे राजन्!; सर्वेषाम्—सारे; भूतानाम्—चर-अचर भूतों का; आयतनम्—शरीर (क्षेत्र) है; हृदयम् वै सम्राट् सर्वेषाम् भूतानाम् प्रतिष्ठा—हे राजन्! हृदय ही सब भूतों का आश्रय-स्थान है; हृदये हि एव—हृदय में ही; सम्राट्—हे राजन्; सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति—सब भूत स्थिति पाते हैं; हृदयम् वै सम्राट् परमम् ब्रह्म—हे राजन् हृदय ही परम ब्रह्म है; न एनम् हृदयम् जहाति—नहीं इसको हृदय कभी छोड़ता है; सर्वाणि...हरेत इति—अर्थ पूर्ववत् ॥७॥

उसी का रूप है, जहा भी अनन्तता है उसी का रूप है, जहा भी आनन्द है उसी का रूप है, जहा भी स्थिति है उसी का रूप है। ब्रह्म के इन रूपो को पकडने के लिये ही वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, हृदय उसी के दिये हुए सूक्ष्म साधन हैं।

चतुर्थ अध्याय—(दूसरा ब्राह्मण)
(जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति का वर्णन)

विदेह-राज जनक यह सब उपदेश सुनकर सिंहासन से उतर आये, और बोले, हे याज्ञवल्क्य! मैं आप को नमस्कार करता हू, आप मुझे शिष्य समझकर शिक्षा दीजिये। याज्ञवल्क्य ने कहा, हे सम्राट्! जैसे कोई यात्री लम्बा रास्ता तय करने के लिये रथ या नाव का सहारा लेता है, वैसे जीवन-यात्रा को तय करने के लिये आपने उपनिषदो के ज्ञान का सहारा लिया है। आपको लोग पूजा की दृष्टि से देखते हैं, आपके पास धन है, आपने वेद पढे हैं, उप-

ॐ जनको ह वैदेह कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति स होवाच यथा वै सम्राण्महान्तमध्वानमेष्यन् रथं वा नावं वा समाददीतैवमेवैताभिरुपनिषद्भि समाहितात्माऽस्येव वृन्दारक आढ्य सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमान क्व गमिष्यसीति नाह तद्भगवन्वेद यत्र गमिष्यामीत्यथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति ब्रवीतु भगवानिति ॥१॥

ओम्—ईश्वर का नाम-स्मरण कर, जनक ह वैदेह—(तब) विदेह-राज जनक ने, कूर्चात्—राज सिंहासन से (उतर कर), उप+अवसर्पन्—अधिक पास मे सरकते हुए, उवाच—कहा, नम ते अस्तु याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य तुझे नमस्कार हो, अनु मा शाधि (मा अनुशाधि) इति—मुझको अनुशासन (अधिक शिक्षा) कीजिये, स ह उवाच—उस (याज्ञवल्क्य) ने कहा, यथा वै—जैसे, सम्राट्—हे महाराज!, महान्तम्—बडे, लम्बे, अध्वानम्—मार्ग (की यात्रा) को, एष्यन्—जानेवाला, रथम् वा—या तो (स्थल मे) रथ को, नावम् वा—या (जल में) नाव को, समाददीत—ले लेता है (प्रयोग मे लाता है), एवम् एव—इस प्रकार ही, एताभि—इन, उपनिषद्भि—ब्रह्मबोधक शास्त्रो से या रहस्य-बोधक चर्चाओ से, समाहित+आत्मा—एकाग्र अन्त करणवाला, शान्त चित्त, असि—तू है, एवम्—तथा, वृन्दारक—जन

निषद् का ज्ञान आप को सुनाया जा चुका है। कहिये, आप जानते हैं, यहां से छूट कर आप कहां जायेंगे? राजा ने कहा, भगवन्! मैं नहीं जानता, मैं कहां जाऊंगा। याज्ञवल्क्य ने कहा, मैं आप को बतलाऊंगा, आप कहां जाओगे। राजा ने कहा, भगवन्! कहिये ॥१॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, 'आत्म-तत्त्व' अपने को दायें और बायें नेत्रों द्वारा प्रकट करता है। कौन यह पुरुष है, जो शरीर के भीतर बैठा हुआ मानो दायीं आंख के झरोखे से बाहर झांक रहा है? इसका गुप्त-नाम 'इन्ध' है, क्योंकि यह दीप्तिमान् है, प्रकाशमान है। 'इन्ध' को ही 'इन्द्र' कहा जाता है। उस झांकने वाले का प्रत्यक्ष-नाम 'इन्ध' है, परोक्ष नाम 'इन्द्र' है—देव-गण परोक्ष नाम से ही पुकारा जाना पसन्द करते हैं, प्रत्यक्ष-नामों से पुकारे जाने को बुरा मनाते हैं ॥२॥

पूज्य; आढ्यः—धन-धान्य से सम्पन्न; सन्—होते हुए; अधीतवेदः—वेदाध्ययन-कर्ता, वेद का ज्ञाता; उक्त+उपनिषत्कः—उपनिषद् का व्याख्याता या जिसे उपनिषदों का उपदेश मिल चुका है; इतः—इस जगत् (या जन्म) से; विमुच्यमानः—मुक्त हुआ; क्व—कहां; गमिष्यसि—जायगा; इति—यह (प्रश्न किया); न अहम्—नहीं मैं; तद्—उस (स्थान) को; भगवन्—हे माननीय; वेद—जानता हूं; यत्र—जहां, जिस (स्थान) में; गमिष्यामि—जाऊंगा; इति—यह (कहा); अथ वै—तो अब; ते—तुझे; अहम्—मैं; तद्—उस (स्थान) को; वक्ष्यामि—कहूंगा, बताऊंगा; यत्र गमिष्यसि इति—जहां तू जायगा; ब्रवीतु—बताइये; भगवान्—आदरणीय आप; इति—ऐसे (प्रार्थना) की ॥१॥

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तं वा एतमिन्धँ सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥२॥

इन्धः—इन्ध (दीप्तिमान्, प्रकाशक); ह वै—निश्चय से; नाम—नाम-वाला; एषः—यह है; यः अयम्—जो यह; दक्षिणे—दाहिनी; अक्षन्—आंख में; पुरुषः—पुरुष (प्रतिबिम्ब दिखाई देता है); तम् वै एतम्—उस ही इसको; इन्धम् सन्तम्—इन्ध (प्रकाशक) होते हुए को; इन्द्रः इति—'इन्द्र' इस नाम से; आचक्षते—कहते—पुकारते हैं; परोक्षेण—परोक्ष (अस्पष्ट) नाम से; एव—ही; परोक्ष-प्रियाः—परोक्ष नाम पसन्द करनेवाले या परोक्ष (आत्म-अनात्म विषयक चर्चा) पसन्द करनेवाले; इव हि—मानो; देवाः—देव-गण (विद्वान्) होते हैं; प्रत्यक्ष-द्विषः—प्रत्यक्ष (स्पष्ट नाम) या प्रत्यक्ष (सांसारिक-चर्चा) से द्वेष करनेवाले (पसन्द न करनेवाले) होते हैं ॥२॥

'आत्म-तत्त्व' बायीं आंख के झरोखे से भी बाहर झांक रहा है। बायीं आंख में से पुरुष-जैसी झांकने वाली यह मानो इन्द्र की स्त्री है। इसका प्रत्यक्ष-नाम 'विराट्' है, परोक्ष-नाम 'इन्द्राणी' है—शरीर में स्त्री का स्थान बायां भाग ही तो है! शरीर की 'जाग्रद्-अवस्था' में 'आत्म-तत्त्व' मानो 'इन्ध' और 'विराट्', 'इन्द्र' और 'इन्द्राणी' या 'पुरुष' और 'स्त्री' के रूप में मानों आंखों में आ बैठता है, बाहर झांकता-सा है, और इसी में आत्म-तत्त्व के प्रत्यक्ष दर्शन हो जाते हैं। 'इन्ध' और 'विराट्' दोनों का अर्थ 'दीप्ति' है, 'प्रकाश' है—'प्रकाश' अर्थात् 'ज्ञान' (Consciousness) ही 'आत्म-तत्त्व' का प्रत्यक्ष रूप है। इन स्त्री-पुरुषों का, इन्द्र-इन्द्राणी का, आत्मा की पुरुष-शक्ति तथा स्त्री-शक्ति का 'संस्ताव' (Rendevous), अर्थात् मिलने की जगह है हृदय का अन्तराकाश—यहां आकर आत्म-तत्त्व की बिखरी बहिर्मुख वृत्तियां एक हो जाती हैं, मानो यह भटके हुए प्रेमियों का मिलन-स्थान हो। शरीर की 'स्वप्न-अवस्था' में 'आत्म-तत्त्व' हृदय के भीतर के आकाश में आ विराजता है, मानो सब काम समेट कर कोई अपने विश्राम के स्थान पर जा पहुंचे। शरीर की जाग्रद्-अवस्था में तो यह खाता-पीता था, परन्तु शरीर की स्वप्नावस्था में हृदय का लोहित-पिंड ही इसका भोजन रह जाता है—शरीर में हृदय द्वारा रुधिर का संचालन ही इसे जीवित रखता है। शरीर की जाग्रद्-अवस्था में तो इन्द्र और इन्द्राणी आंखों के मार्ग से संसार की सैर

अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषास्य पत्नी विराट् तयोरेष संस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथै-नयोरेतत्प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिवाथैनयोरेषा सृतिः संचरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा एतदास्रव-दास्रवति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः ॥३॥

अथ—और, एतद्—यह, वामे—बाईं, अक्षणि—आंख में, पुरुष-रूपम्—पुरुष (के समान प्रतिबिम्ब) का रूप है, एषा—यह, अस्य—इस (दाहिनी आंखवाले पुरुष) की, पत्नी—पत्नी है, विराट्—विराट् (विशेषतया चमक एवं दीप्ति वाली) नामवाली, तयोः—उन दोनों का, एषः—यह; संस्तावः

करते फिरते थे, अब शरीर के सो जाने पर ये हृदयाकाश के संसार की सैर करते हैं। हृदय के भीतर जो नाड़ियों का जाल बिछा है उसमें ही ढके हुए, मानो ये उसमें कैद रहते हैं। हृदय से ऊपर को जो नाड़ी (Aorta) निकलती है, केवल उस छोटे-से मार्ग में ये दोनों घूमा करते हैं। केश के अगर सहस्र भाग कर दिये जांय, तो उन जैसी बारीक 'हिता' नाम की नाड़ियां हृदय में फैली हुई हैं, उनमें से स्रवण कर रहे रस के साथ 'आत्म-तत्त्व' स्वप्नावस्था में आस्रवण करता है, सैर करता है। उस अवस्था में इसे 'हिता'-नामक नाड़ियों से शुद्ध आहार मिलता है, इसलिये जाग्रद्-अवस्था की अपेक्षा स्वप्न-अवस्था का आहार अधिक शुद्ध है (कठ ६-१६; प्रश्न ३-६, ७; छान्दोग्य ८-६; बृहदा० २-१-१९; ४-३-२०; ४-४-२) ॥३॥

शरीर की जब 'जाग्रद्-अवस्था' होती है, तब आत्म-तत्त्व का 'जाग्रत-स्थान' होता है, और वह स्थान है 'आंख'; शरीर की जब

—मिलन-स्थान है; यः एषः—जो यह; अन्तः हृदये—हृदय के अन्दर; आकाशः—आकाश है; अथ—और; एनयोः—इन दोनों का; एतद् अन्नम्—यह अन्न है; यः एषः—जो यह; अन्तर्हृदये—हृदय में; लोहितपिण्डः—लाल-सा पिण्ड (अवयव, मांस-खण्ड) है; अथ—और; एनयोः—इन दोनों का; एतत्—यह; आवरणम्—ओढ़ना (चादर) है; यद् एतद् अन्तः हृदये—जो यह हृदय के अन्दर; जालकम् इव—जाले-जैसा है; अथ—और; एनयोः—इन दोनों की; एषा—यह; सृतिः—मार्ग; संचरणी—चलने-फिरने की; या एषा—जो यह; ऊर्ध्वा—ऊपरली; नाडी—नाड़ी; उच्चरति—निकलती है, ऊपर (मस्तिष्क) को जाती है; यथा—जैसे; केशः—बाल; सहस्रधा—हजार प्रकार (बार); भिन्नः—काटा जाय; एवम्—इस प्रकार (अति सूक्ष्म); हिताः नाम—'हिता' नाम वाली; नाड्यः—नाड़ियां (नसें); अन्तः हृदये—हृदय में; प्रतिष्ठिताः भवन्ति—विद्यमान होती हैं; एताभिः—इन (हिता नाड़ियों) से; एतद्—यह; आस्रवत्—(चूती) बूंद; आस्रवति—चूती है; तस्माद्—उस (आस्रवत्) से; प्रविविक्त+आहारतरः—प्रविविक्त (अत्यल्प, सूक्ष्म) भोजनवाला; इव—समान; एव—ही; भवति—होता है; अस्मात्—इस; शारीरात्—(जाग्रद्-अवस्था में) शरीर-संचारी (भोग-भोक्ता); आत्मनः—जीवात्मा से ॥३॥

तस्य प्राची दिक् प्राञ्चः प्राणा दक्षिणा दिग्दक्षिणे प्राणाः प्रतीची दिक् प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिगुदञ्चः प्राणा ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणा

'स्वप्नावस्था' होती है, तब आत्म-तत्त्व का 'स्वप्न-स्थान' होता है, और वह स्थान है 'हृदय'; शरीर की जब 'सुषुप्तावस्था' होती है, तब आत्म-तत्त्व का 'सुषुप्ति-स्थान' होता है, और वह स्थान है 'प्राण'। आत्म-तत्त्व जागता-सोता नहीं, शरीर जागता-सोता है, शरीर की इन अवस्थाओं के अनुसार आत्म-तत्त्व अपनी सत्ता के प्रकाश के 'स्थान' बदलता रहता है। शरीर की 'सुषुप्तावस्था' में 'आत्म-तत्त्व' प्राणों में चला जाता है। जिस तरह जाग्रद्-अवस्था में आत्म-तत्त्व का रूप 'आँखें' है, स्वप्नावस्था में इसका रूप 'हृदय' है, वैसे सुषुप्तावस्था में आत्म-तत्त्व का रूप 'प्राण' है। उसकी पूर्व दिशा में, दक्षिण दिशा में, पश्चिम दिशा में, उत्तर दिशा में, ऊपर-नीचे, सब दिशाओं में, उसका रूप प्राणमय हो जाता है।

'आत्म-तत्त्व' के इन तीन रूपों के अतिरिक्त उसका एक चौथा रूप रह जाता है, यह उसका तुरीय-रूप है, अनिर्वचनीय रूप है, इसे 'नेति'-'नेति' कहा जाता है, वह ऐसा रूप है जिसतक कोई नहीं पहुंच पाता। वह 'अग्राह्य' रूप है, पकड़ में नहीं आता, 'अशीर्य' रूप है,

---

अवाची दिगवाञ्च प्राणा सर्वा दिशः सर्वे प्राणा स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्य। स होवाच जनको वैदेहोऽभयं त्वा गच्छताद्याज्ञवल्क्य यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मि ॥४॥

तस्य—उस (आत्मा) के, प्राची दिग्—पूर्व दिशा, प्राञ्च प्राणाः—पूर्व दिशावर्ती प्राण हैं, दक्षिणा दिग्—दक्षिण दिशा, दक्षिणे प्राणा—दक्षिण के प्राण हैं, प्रतीची दिग्—पश्चिम दिशा, प्रत्यञ्च—पश्चिम दिशा में होनेवाले, प्राणा—प्राण हैं, उदीची दिग्—उत्तर दिशा, उदञ्च प्राणा—उत्तर दिशा-वर्ती प्राण हैं, ऊर्ध्वा दिग्—ऊपर की दिशा, ऊर्ध्वा प्राणा—ऊर्ध्व प्राण हैं, अवाची दिग्—नीचे की दिशा, अवाञ्च प्राणाः—नीचे के प्राण हैं, सर्वा दिश सर्वे प्राणा—सारी दिशाएं सारे प्राण हैं, स एषः—वह यह (आत्मा स्वयं तो), न इति—यह (आत्मा) नहीं, न इति—यह भी (आत्मा) नहीं है (अनिर्वचनीय है क्योंकि), आत्मा—आत्मा, अगृह्य—(इन्द्रियों से) ग्रहण नहीं किया जा सकता, न गृह्यते—नहीं ग्रहण (ज्ञान विषय) किया जाता, अशीर्य—वह छिन्न-भिन्न नहीं होता, अक्षर है, न हि—नहीं, शीर्यते—क्षीण होता है, असङ्ग—

उसका क्षय नहीं होता; वह 'असंग' है, किसी से लिप्त नहीं होता; वह बन्धन-रहित है, व्यथा-रहित है, नाश-रहित है। फिर याज्ञवल्क्य ने कहा, हे राजन्! तुमने उपनिषदों का ज्ञान प्राप्त करके 'आत्म-तत्त्व' को पहचान लिया इसलिये यहां से छूटकर तुम इसी 'अग्राह्य', 'अशीर्य', 'असंग', 'असित' रूप में पहुंच जाओगे—तुम 'अभय' प्राप्त करोगे, 'अभय-रूप' हो जाओगे! विदेह-राज जनक यह सुनकर बोले, हे याज्ञवल्क्य! आपने जिस अभय-पद पर मुझे पहुंचाया है आपको भी वह पद प्राप्त हो, मेरा आपको नमस्कार हो, मेरा विदेह-राज्य और मैं स्वयं, हम सब अपने को आपके चरणों में अर्पित करते हैं ॥४॥

(माण्डूक्योपनिषद्, छान्दोग्य ८-१२, बृहदा॰ २-१, ४-३ और इस स्थल को एक-साथ पढ़ने से भाव और अधिक स्पष्ट हो जाता है।)

चतुर्थ अध्याय (तीसरा ब्राह्मण)

(याज्ञवल्क्य द्वारा जनक को आत्मा का उपदेश)

याज्ञवल्क्य विदेह-राज जनक के यहाँ पहुंचे। इस बार वे अपने मन में यह ठानकर गये कि कुछ नहीं बोलेंगे, सिर्फ़ सुनेंगे। जनक ने

संग (लेप) से रहित है, निर्लेप है; **न हि सज्यते**—क्योंकि वह किसी से आसक्त नहीं होता; **असितः**—बन्धनरहित है; **न व्यथते**—कभी दुःखी नहीं होता; **न रिष्यति**—किसी को दुःखी नहीं करता, या नष्ट नहीं होता (अविनाशी) है; **अभयम्**—भय से रहित (आनन्दमय अवस्था को); **जनक**—हे राजा जनक; **प्राप्तः असि**—तू प्राप्त हो गया है; **इति ह उवाच याज्ञवल्क्यः**—यह याज्ञवल्क्य ने कहा; **सः ह उवाच जनकः वैदेहः**—तब विदेह-नरेश जनक ने कहा (कि); **अभयम्**—निर्भयता (आनन्दमयता); **त्वा**—तुझ को भी; **गच्छतात्**—प्राप्त हो; **याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य!; **यः**—जो आप; **नः**—हमें; **भगवन्**—हे माननीय; **अभयम्**—भयशून्य (आनन्दमय) अवस्था का; **वेदयसे**—ज्ञान कराते हो, प्राप्त कराते हो; **नमः ते अस्तु**—आपको नमस्कार है; **इमे**—ये; **विदेहाः**—विदेह देश; **अयम् अहम्**—यह मैं; **अस्मि**—(आपकी सेवा में) उपस्थित हूं ॥४॥

जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम स मेने न वदिष्य इत्यथ ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ स ह कामप्रश्नमेव वव्रे तं हास्मै ददौ तं ह सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ ॥१॥

इस बात को ताड़ लिया, और निश्चय कर लिया कि वे भी उन्हें बुलवाकर ही छोड़ेंगे। एक बार की बात है कि किसी अग्निहोत्र में विदेह-राज जनक और महर्षि याज्ञवल्क्य दोनों उपस्थित थे। उस समय जनक से प्रसन्न होकर याज्ञवल्क्य ने उन्हें वर मांगने को कहा था, और राजा ने 'काम-प्रश्न' वर मांगा था, अर्थात् जब मैं चाहूं आपसे प्रश्न कर सकूं। याज्ञवल्क्य ने यह वर दे दिया था। इसी वर को याद दिलाकर सम्राट् ने प्रश्न कर दिया, और याज्ञवल्क्य को उत्तर देना पड़ा ॥१॥

राजा ने पूछा, हे याज्ञवल्क्य! पुरुष को ज्योति—प्रकाश—कहां से प्राप्त होती है? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'आदित्य' से! जाग्रद्-अवस्था में आदित्य की ज्योति से ही यह बैठता है, चलता-फिरता है, काम करता है, काम करने के बाद घर को लौट आता है। राजा ने कहा, आपने ठीक कहा ॥२॥

जनकम् ह वैदेहम्—एक बार विदेह-राज जनक के पास, याज्ञवल्क्य—याज्ञवल्क्य, जगाम—गया, पहुंचा, स—उस (याज्ञवल्क्य) ने, मेने—निश्चय किया (कि), न वदिष्ये इति—नहीं मैं बोलूंगा (उपदेश करूंगा), अथ ह—और; यत्—जब, जनकः ह वैदेह—विदेह-राज जनक, याज्ञवल्क्यः च—और याज्ञवल्क्य, अग्निहोत्रे—अग्निहोत्र के समय में या अग्नि-होत्र के विषय (सबंध) में, सम्+ऊदाते—संवाद कर रहे थे (तब); तस्मै ह—उस (जनक) को, याज्ञवल्क्यः—(संतुष्ट) याज्ञवल्क्य ने, वरम्—वर, ददौ—दिया था, स. ह—उस (जनक) ने, काम-प्रश्नम्—इच्छानुसार प्रश्न (करने) का वर, वव्रे—वरण किया (मांगा) था, तम् ह—उस (वर); को; अस्मै—इस (जनक) को, ददौ—दे दिया, तम् ह—उस (याज्ञवल्क्य) को, सम्राड् एव—महाराज जनक ने ही, पूर्वम्—पहिले, पप्रच्छ—पूछा ॥१॥

याज्ञवल्क्य किंज्योतिरयं पुरुष इति। आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाचा-दित्येनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२॥

याज्ञवल्क्य!—हे याज्ञवल्क्य!; किंज्योतिः—किस ज्योति (प्रकाश) के आश्रित, अयम्—यह, पुरुष—देही आत्मा है; इति—यह (बताइये), आदित्य-ज्योतिः—आदित्य के प्रकाश (के सहारे) वाला (यह आत्मा है), सम्राड्—हे महाराज!; इति ह उवाच—यह कहा (बताया); आदित्येन—सूर्य-रूप; एव—ही; अयम्—यह आत्मा; ज्योतिषा—प्रकाश द्वारा; आस्ते—

राजा ने फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य ! जब आदित्य अस्त हो जाता है, तब पुरुष को ज्योति––प्रकाश––कहां से प्राप्त होती है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'चन्द्रमा' से ! सूर्य न होने पर चन्द्र की ज्योति से ही यह बैठता है, चलता-फिरता है, काम करता है, काम करने के बाद घर को लौट आता है । राजा ने कहा, आपने ठीक कहा ॥३॥

राजा ने फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य ! जब आदित्य अस्त हो जाता है, चन्द्र अस्त हो जाता है, तब पुरुष को ज्योति––प्रकाश––कहां से प्राप्त होती है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'अग्नि' से ! उस समय अग्नि की ज्योति से ही यह बैठता है, चलता-फिरता है, काम करता है, काम करने के बाद घर को लौट आता है । राजा ने कहा, आपने ठीक कहा ॥४॥

बैठता है; **पल्ययते** (परि+अयते)—इधर-उधर चलता-फिरता है; **कर्म कुरुते**—कार्य करता है; **विपल्येति** (वि+परि+एति)—फिर (अपने आसन पर) लौट आता है; **इति**—यह (कहा); **एवम् एव एतद् याज्ञवल्क्य**––हे याज्ञवल्क्य यह इस प्रकार ही है, तुम्हारा कथन ठीक है ॥२॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किंज्योतिरेवायं पुरुष इति
चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति चन्द्रमसैवायं ज्योतिषास्ते
पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥३॥

अस्तमिते आदित्ये—सूर्य के छिप जाने पर; **याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य; **किंज्योतिः**––किस प्रकाश के सहारे वाला; **एव**—ही; **अयम् पुरुषः इति**—यह देही आत्मा होता है ?; **चन्द्रमाः एव अस्य**—चन्द्रमा ही इस (देही) का; **ज्योतिः**—प्रकाशक; **भवति इति**—होता है; **चन्द्रमसा एव अयम् ज्योतिषा**—चन्द्रमा के प्रकाश से ही यह (देही); **आस्ते**—बैठता है; **पल्ययते**—इधर-उधर घूमता है; **कर्म कुरुते**—काम करता है; **विपल्येति**—पुनः घर लौट आता है; **इति**––यह; **एवम् एव एतद् याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य यह ऐसे ही है ॥३॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किंज्योतिरेवायं
पुरुष इत्यग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीत्यग्निनैवायं ज्योतिषास्ते
पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥४॥

अस्तमिते आदित्ये––सूर्य के छिप जाने पर; **याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य !; **चन्द्रमसि अस्तमिते**—चन्द्रमा के भी छिप जाने पर; **किंज्योतिः एव अयम् पुरुषः इति**––यह देही आत्मा किस ज्योति का सहारा लेता है ?; **अग्निः एव अस्य**

राजा ने फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य ! आदित्य और चन्द्र के अस्त होने पर, अग्नि के शान्त होने पर, पुरुष को ज्योति—प्रकाश—कहां से प्राप्त होती है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'वाणी' से ! रात के प्रगाढ अन्धकार में वाणी की ही ज्योति से यह बैठता है, चलता-फिरता है, काम करता है, काम करने के बाद घर को लौट आता है। जब अन्धेरे में अपना हाथ भी नहीं दीखता तब उसी का सहारा लेना पड़ता है जहां से वाणी का उच्चारण होता है। राजा ने कहा, आपने ठीक कहा ॥५॥

राजा ने फिर पूछा, 'आदित्य' और 'चन्द्र' के अस्त होने पर, 'अग्नि' और 'वाणी' के शान्त हो जाने पर, जब जाग्रद्-अवस्था नहीं

ज्योतिः भवति इति—तब अग्नि इसको ज्योति (प्रकाश) देता है, अग्निना एव—अग्नि रूप ही, अयम् . याज्ञवल्क्य—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किंज्योति-रेवायं पुरुष इति वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति वाचैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिर्न विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चरत्युपैव तत्र न्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥५॥

अस्तमिते आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमसि अस्तमिते—हे याज्ञवल्क्य ! सूर्य के और चन्द्रमा के छिप जाने पर, शान्ते अग्नौ—अग्नि के भी शान्त हो जाने (बुझ जाने) पर, किंज्योतिः एव अयम् पुरुषः इति—इस देही आत्मा के लिए कौन-सा प्रकाश होता है ?, वाग् एव—वाणी ही, अस्य ज्योतिः भवति इति—इसका प्रकाश होता है, वाचा एव—वाणी से ही, अयम् इति—अर्थ पूर्ववत्, तस्माद् वै—उस वाणी के प्रकाश के होने से ही, सम्राड्—हे महाराज ! , अपि यत्र—जहां कहीं, स्वः—अपना, पाणिः—हाथ, न—नहीं, विनिर्ज्ञायते—पहचान में आता है, दिखाई देता है, अथ—और, यत्र—जिस स्थान पर, वाग्—वाणी, उच्चरति—उच्चारण होती है, उप एव तत्र न्येति (तत्र एव उप नि+एति)—वहां ही समीप में जा पहुंचता है, इति—यह (कहा), एवम् एव एतद् याज्ञवल्क्य !—हे याज्ञवल्क्य यह ऐसे ही है ॥५॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्या-त्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति ॥६॥

अस्तमिते अग्नौ—अर्थ पूर्ववत्, शान्तायाम् वाचि—वाणी के भी शान्त (बन्द) हो जाने पर (निपट अन्धकार में), किंज्योतिः एव अयम् पुरुषः इति

रहती, तब पुरुष को ज्योति—प्रकाश—कहां से प्राप्त होती है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'आत्मा' से ! स्वप्नावस्था में आत्मा की ही ज्योति से यह बैठता है, चलता-फिरता है, काम करने के बाद घर को लौट आता है ॥६॥

राजा ने फिर पूछा, वह 'आत्मा' कौन-सा है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, आत्मा का स्वरूप 'विज्ञानमय' है; जाग्रद्-अवस्था में वह 'बहिर्ज्योति' होता है, उसके बाद 'अन्तर्ज्योति' हो जाता है; स्वप्नावस्था में उसमें उसकी ज्योति 'हृदय' में, और सुषुप्तावस्था में 'प्राणों' में प्रकाशित होती है । वह स्वयं सब अवस्थाओं में एक-समान है, और 'जाग्रद्' तथा 'सुषुप्त'—इन दोनों लोकों में आता-जाता रहता है, जाग्रद्-लोक में आकर मानो चेष्टा करने लगता है, सुषुप्त-लोक में जाकर मानो ध्यानावस्थित हो जाता है । जाग्रत् तथा सुषुप्त—इन दोनों के बीच के 'स्वप्न-लोक' में जाकर वह इस दुनिया को, जो मृत्यु के ही नाना-रूप हैं, लांघ जाता है ॥७॥

—इस देही आत्मा के लिए कौन-सा प्रकाश होता है ?; **आत्मा एव अस्य**—इस पुरुष का अपना आत्मा ही; **ज्योतिः भवति इति**—प्रकाश देनेवाला होता है; **आत्मना एव**—निज आत्मा से ही; **अयम्. . .इति**—अर्थ पूर्ववत् ॥६॥

कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः
स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव
स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ॥७॥

कतमः—कौन-सा; **आत्मा**—आत्मा; **इति**—यह (जनक ने पूछा); **यः अयम्**—जो यह; **विज्ञानमयः**—ज्ञानस्वरूप, ज्ञाता, चित्-स्वरूप है; **प्राणेषु**—प्राण (इन्द्रियों में); **हृदि**—हृदय में; **अन्तर्ज्योतिः**—अन्तरतम को प्रकाशित करनेवाला; **पुरुषः**—देह में वर्तमान (देह का अधिष्ठाता) आत्मा है; **सः**—वह (जीव); **समानः**—(दोनों लोकों-अवस्थाओं में) एक ही; **सन्**—होता हुआ भी; **उभौ**—दोनों; **लोकौ**—लोकों को (में); **अनुसंचरति**—विचरण करता है, साक्षी रहता है; **ध्यायति इव**—मानो ध्यानमग्न रहता है; **लेलायति इव**—मानो चेष्टाएं (जगद्-व्यवहार) करता है; **सः हि**—वह (आत्मा) ही; **स्वप्नः**—स्वप्न-अवस्था को प्राप्त; **भूत्वा**—होकर; **इमम्**—इस; **लोकम्**—लोक, अवस्था (जाग्रद्-अवस्था) को; **अतिक्रामति**—लांघ जाता है, पार हो जाता

जैसे पुरुष जन्म लेने के बाद, शरीर से क्या जुडता है, मानो पाप से जुड जाता है, मरने के बाद शरीर को क्या छोडता है, मानो पाप के घर को छोड़ देता है, इसी प्रकार आत्मा जाग्रत्-लोक को क्या छोडता है, मानो पाप-लोक को छोड़ता है, और स्वप्न तथा सुषुप्त-लोक को क्या जाता है, मानो पाप को छोड कर आगे चल देता है ॥८॥

इस पुरुष के—आत्मा के—दो ही स्थान हैं; यह स्थान, जिसे 'जाग्रत-स्थान' कहते हैं, और वह स्थान, परलोक-स्थान, जिसे 'सुषुप्त-स्थान' कहते हैं। इन दोनों स्थानों की सन्धि में एक तीसरा स्थान है, 'स्वप्न-स्थान' है। इस सन्धि-स्थान में बैठकर आत्मा दोनों स्थानों को देखता है—'जाग्रत-स्थान' को भी, 'सुषुप्त-स्थान' को भी। जिस क्रम से आत्मा 'सुषुप्त-स्थान' में गया होता है, उसी क्रम से 'पाप' को वा 'आनन्द' को देखता है। अगर 'जाग्रत्-स्थान' से 'सुषुप्त-स्थान'

है, मृत्यो—मृत्यु के, रूपाणि—रूपों को, (मृत्यो रूपाणि—मरणशील विनाशी अवस्था को) ॥७॥

स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः पाप्मभिः
संसृज्यते स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति ॥८॥

सः वै अयम् पुरुष—वह ही यह पुरुष (जीव आत्मा), जायमानः—उत्पन्न होता हुआ, शरीरम्—देह को, अभिसंपद्यमानः—प्राप्त होता हुआ, पाप्मभिः—पापों (पाप फल भोगों) से, बुराइयों से, संसृज्यते—युक्त (आसक्त, लिप्त) हो जाता है, सः—वह ही, उत्क्रामन्—(शरीर से) निकलता हुआ, म्रियमाण—मरता हुआ, मरकर, पाप्मनः—पापों (पाप भोगों) को, विजहाति—छोड जाता है ॥८॥

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं तस्मिन्सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च। अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान् पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति ॥९॥

तस्य वै एतस्य पुरुषस्य—उस इस जीव-आत्मा के, द्वे—दो, एव—ही, स्थाने—रहने के स्थान, भवत—होते हैं, इदम् च—(एक तो) यह जन्म

को गया है तो 'पाप' देखता हुआ गया है; अगर 'सुषुप्त-स्थान' से 'जाग्रत्-स्थान' को आया है, तो 'आनन्द' को देखता हुआ आया है। जब 'जाग्रत्' से 'स्वप्न'-लोक को जाता है, तो इस दुनिया को, जिसमें सब-कुछ है, मात्राओं को—उसके सूक्ष्म-अंशों को—अपने साथ लेकर जाता है। फिर 'स्वप्न-लोक' में इन्हीं मात्राओं से दुनिया को बनाता है, बिगाड़ता है, उस समय इसके पास बाहर की ज्योति नहीं होती, अपने ही प्रकाश से, अपनी ही ज्योति से सपने की दुनिया देखता है। इस अवस्था में पुरुष को 'स्वयं-ज्योति' कहा जाता है। उस समय इसकी अपनी ही दुनिया होती है, बनाता है, बिगाड़ता है, और अपने ही प्रकाश से उसे देखता है ॥९॥

(जाग्रद्-अवस्था); **परलोक-स्थानम् च**—(दूसरा) परलोक (उत्तम-अवस्था, सुषुप्ति-समाधि अवस्था) स्थान; **सन्ध्यम्**—संधि-स्थल में होनेवाला, योजक; **तृतीयम्**—तीसरा; **स्वप्न-स्थानम्**—सुपनेवाली अवस्था है; **तस्मिन्**—उस; **सन्ध्ये**—योजक; **स्थाने**—स्थान (अवस्था-लोक) में; **तिष्ठन्**—ठहरा हुआ, रहता हुआ; **एते उभे स्थाने**—इन दोनों स्थानों (अवस्थाओं) को; **पश्यति**—देखता है; **इदम् च**—इस (जाग्रत्स्थान) को; **परलोकस्थानम् च**—और परलोक (सुषुप्त-अवस्था) को; **अथ**—और; **यथा+आक्रमः**—जैसे कर्म रूपी सीढ़ी वाला; **अयम्**—यह जीव; **परलोक-स्थाने**—परजन्म या सुषुप्त-अवस्था में; **भवति**—होता है; **तम्**—उस; **आक्रमम्**—कर्मरूप सहारे को; **आक्रम्य**—पार कर, लांघ कर (उनके सहारे से); **उभयान्**—दोनों ही; **पाप्मनः**—पापों (पाप-फलभोगों) को; **आनन्दान् च**—और आनन्द-सुखों को; **पश्यति**—देखता (अनुभव करता–भोगता) है; **सः**—वह; **यत्र**—जहां, जब; **प्रस्वपिति**—सोता (स्वप्न-अवस्था में होता) है; **अस्य**—इस; **लोकस्य**—लोक की; **सर्वावतः** (**सर्व+अवतः**)—सर्व-रक्षक (पालक), सर्व सामग्री से सम्पन्न; **मात्राम्**—अंश को; **अप+आदाय**—अलग लेकर; **स्वयम्**—अपने आप; **विहत्य**—नष्ट कर; **स्वयम्**—अपने आप; **निर्माय**—निर्माण कर; **स्वेन**—अपनी; **भासा**—चमक-प्रकाश से; **स्वेन**—अपनी; **ज्योतिषा**—ज्योति से (के साथ); **प्रस्वपिति**—सो जाता है; **अत्र**—यहां, इस लोक या स्वप्न-अवस्था में; **अयम्**—यह (जीव); **स्वयं-ज्योतिः**—अपनी ही ज्योति (प्रकाश) पर निर्भर; **भवति**—होता है ॥९॥

'स्वप्नावस्था' में रथ नहीं होते, घोड़े नहीं होते, सड़कें नहीं होतीं, वह अपने-आप रथ-घोड़े-मार्ग—सभी कुछ रच लेता है। वहां आनन्द नहीं, मोद नहीं, प्रमोद नहीं, वह आनन्द, मोद, प्रमोद की सृष्टि रच लेता है। वहां तालाब नहीं, झीलें नहीं, नदियां नहीं, वह तालाब, झील, नदी बना डालता है। आत्मा तभी तो 'कर्ता' कहा जाता है—वही रचना करनेवाला है ॥१०॥

किसी ने इसी आशय को श्लोक-बद्ध किया है—जिस समय आत्मा 'स्वप्न-स्थान' में चला जाता है, तब क्या होता है? उस समय आत्मा शरीर के जाग्रत्-स्थान को छोड़कर, अपनी ज्योति को समेटकर, स्वप्न-स्थान में जा बैठता है, उस समय वह स्वयं 'अप्रमुप्त' ही रहता

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता ॥१०॥

न—नहीं, तत्र—उस (स्वप्नावस्था) में, रथाः—रथ, न रथयोगाः—न रथ में जुड़नेवाले घोड़े, न पन्थानः—न मार्ग, भवन्ति—होते हैं, अथ—तो भी, रथान्—रथों को, रथयोगान्—रथ के घोड़ों को, पथः—सड़कों को, सृजते—बना लेता है, न—नहीं, तत्र—वहां, आनन्दाः—आनन्द होते हैं, मुदः—खुशियां, प्रमुदः—अत्यधिक मौजें, भवन्ति—होती हैं, अथ—पर तो भी, आनन्दान् मुदः प्रमुदः—सुखों का खुशियों को मौजों को, सृजते—कल्पित कर (रच) लेता है, न तत्र—नहीं वहां, वेशान्ताः—तालाब, पुष्करिण्यः—झीलें, स्रवन्त्यः—नदियां, भवन्ति—होती हैं, अथ—किन्तु (वह), वेशान्तान्—तालाबों को, पुष्करिण्यः—झीलों को, स्रवन्तीः—नदियों को, सृजते—रच डालता है, सः हि—वह (जीव) ही, कर्ता—(उस समय) रचयिता (होता है) ॥१०॥

तदेते श्लोका भवन्ति। स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति। शुक्रमादाय पुनरैति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ॥११॥

तत्—तो (इस विषय में), एते—ये, श्लोकाः—(प्रसिद्ध) श्लोक, भवन्ति—हैं, स्वप्नेन—स्वप्न अवस्था से, शारीरम्—शरीर से सम्बद्ध को, अभिप्रहत्य—नष्ट कर, छोड़ कर, असुप्तः—स्वयं न सोता हुआ, सुप्तान्—सोये हुए (इन्द्रिय तथा प्राणों) को, अभिचाकशीति—देखता है या प्रकाशित करता है, शुक्रम्—दीप्ति, कान्ति, प्रकाश या वीर्य, आदाय—लेकर, पुनः—

है, परन्तु बैठा-बैठा सुप्त इन्द्रियों को निहारा करता है। 'स्वप्न-स्थान' से फिर जब 'जाग्रत्-स्थान' को आता है, तब यह हंस की भांति शुभ (शुभ्र) 'हिरण्मय-पुरुष' अपनी ज्योति को बाहर ले आता है जिससे शरीर जाग जाता है ॥११॥

यह 'हिरण्मय-पुरुष' इकले अमर हंस की भांति अपने शरीर-रूपी निचले घोंसले की रक्षा के लिये 'प्राण' को छोड़ जाता है, और स्वयं घोंसले से बाहर 'स्वप्न-लोक' में इच्छा-पूर्वक घूमा करता है ॥१२॥

'स्वप्न-लोक' में यह बहुत ऊंच-नीच में से गुजरता है, नाना-रूपों का निर्माण करता है, कभी स्त्रियों के साथ आमोद-प्रमोद करता है, कभी बन्धु-बांधवों के साथ हंसता-खेलता है, कभी भयानक दृश्य देखता है ॥१३॥

फिर; एति—आता है; स्थानम्—स्थान (जाग्रत्-स्थिति) को; हिरण्मयः पुरुषः—हित और रमणीय ज्योति (स्वरूप वाला) जीवात्मा; एक-हंसः—अद्वितीय (विवेकी) आत्मा ॥११॥

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा ।
स ईयतेऽमृतो यत्रकामं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ॥१२॥

प्राणेन—प्राण द्वारा; **रक्षन्**—रक्षा करता हुआ; **अवरम्**—निचले (निम्न स्थिति वाले); **कुलायम्**—घोंसला (शरीर) को; **बहिः**—बाहर; **कुलायात्**—घोंसले (शरीर) से; **अमृतः**—अमर, अविनाशी; **चरित्वा**—चर कर (भोग भोग कर), विचरण कर; **सः**—वह; **ईयते**—पहुंचता है; **अमृतः** अमर; **यत्रकामम्**—यथेच्छ, जहां की इच्छा हो; **हिरण्मयः पुरुषः एकहंसः**—ज्योतिःस्वरूप हंस के समान विवेकशील जीव आत्मा ॥१२॥

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि ।
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥१३॥

स्वप्नान्ते (स्वप्न + अन्ते)—स्वप्न-स्थान (अवस्था) में; **उच्च + अवचम्**—उच्च-नीच (स्थिति) को; **ईयमानः**—प्राप्त (धारण) करता हुआ; **रूपाणि**—(नानाविध) रूपों को; **देवः**—दिव्यगुण-युक्त (आत्मा); **कुरुते**—रचता, बनाता है; **बहूनि**—बहुत-से; **उत इव**—तथा च; **स्त्रीभिः सह**—स्त्रियों के साथ; **मोदमानः**—प्रसन्न होता हुआ; **जक्षत्**—खाता हुआ (भोग भोगता हुआ); **उत इव**—तथा च; **अपि**—भी; **भयानि**—भयों को; **पश्यन्**—देखता हुआ ॥१३॥

उसकी क्रीड़ा-स्थली को तो सभी देखते हैं, उसे कोई नहीं देख पाता। कई लोग कहते हैं कि 'स्वप्नावस्था' में आत्मा शरीर को छोड़ कर बाहर विहार कर रहा होता है, इसलिये सोये हुए को एक दम जगाना ठीक नहीं है। एकदम जगाने से वह शरीर के सब अंगों में नहीं आ पाता। जिस अंग में एक दम न लौट सके, उसकी चिकित्सा करनी कठिन होती है, *अर्थात् वहां अर्धांग हो जाता है।* याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह बात ठीक नहीं है। स्वप्न में आत्मा जो-कुछ देखता है वह जागरित-देश से ही लिया होता है, जाग्रत् में जो देखा-सुना होता है, वही स्वप्न में देखता-सुनता है, शरीर से बाहर कहीं नहीं घूमता-फिरता, जाग्रत् से स्वप्न में सिर्फ इतना भेद हो जाता है कि जाग्रत् में वह सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वाणी से ज्योति ग्रहण करता है, स्वप्न में वह 'स्वयं-ज्योति' हो जाता है, अपने भीतर के प्रकाश से ही सब देखता-सुनता है। यह सब उपदेश सुन कर राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से कहा, भगवन् ! आप के इस उपदेश के लिये मैं एक

आराममस्य पश्यन्ति न स पश्यति कश्चनेति । त नायत बोधयेदित्याहु
दुर्भिषज्यं हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यते । अथो खल्वाहुर्जागरितदेश
एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इत्यत्राय पुरुष
स्वयज्योतिर्भवति सोऽहं भगवते सहस्र ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीति ॥१४॥

आरामम्—निवास-स्थान पर को चमन को (शरीर-चमन) को, अस्य—इस (जीव) के, पश्यन्ति—देखते हैं, न—नहीं, तम्—उस (जीव-आत्मा) को, पश्यति—देखता है, कश्चन इति—कोई भी, तम्—उस (सुप्त आत्मा) को, न—नहीं, आयतम्—एकदम, जोर से, बोधयेत्—जगावे, इति—ऐसे, आहु—(लोग) कहते हैं, दुर्भिषज्यम्—कष्ट-साध्य चिकित्सा, ह—निश्चय ही, अस्मै—इस (अंग) के लिए, भवति—होती है, (*अस्मै ह दुर्भिषज्यम् भवति—इस अंग की चिकित्सा कष्ट-साध्य होती है*), यम्—जिस (अवयव) को, एष—यह (आत्मा), न प्रतिपद्यते—नहीं पहुंच पाता है, अथ उ खलु—और यह भी, आहु—कहते हैं, जागरित-देश—'जाग्रद्'-अवस्था, एव—ही, अस्य—इस (देही पुरुष) की, एष—यह (लोक), इति—यह (कहते हैं), यानि हि एव (हि यानि एव)—क्योंकि जिन (वस्तुओं) को, जाग्रत्—जागता हुआ, पश्यति—देखता (अनुभव करता) है, तानि—उनको, सुप्त—सोता हुआ (स्वप्नावस्था में प्राप्त) भी, इति—यह (युक्ति है), अत्र—इस (स्वप्ना-

सहस्र गायें भेंट करता हूं। अब इसके आगे आप मुझे 'मोक्ष' का ही उपदेश दें ॥१४॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, हे राजन् ! आत्मा 'सम्प्रसाद'—प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता के, अर्थात् 'सुषुप्ति' के स्थान में रमण कर, भ्रमण कर, पाप-पुण्य को देख कर, जिस मार्ग से गया था, उसी मार्ग से, अपनी 'योनि', अर्थात् अपने कारण—'स्वप्न-स्थान'—के प्रति लौट आता है। 'सुषुप्त-स्थान' में रहते हुए उसने जो कुछ देखा था, वह वहीं छूट जाता है, वह इसके साथ नहीं आता, क्योंकि 'असंगो ह्ययं पुरुषः'—पुरुष अपने स्वाभाविक रूप में तो 'असंग' ही है। राजा ने कहा, याज्ञवल्क्य ! यह ठीक है। भगवन् ! आपके इस उपदेश के लिये मैं सहस्र गायें भेंट करता हूं। अब इसके आगे आप मुझे 'मोक्ष' का ही उपदेश दें ॥१५॥

वस्था) में; अयं पुरुषः—यह देही आत्मा; स्वयं-ज्योतिः—स्वयं दीप्तिमान् (अपनी ही ज्योति पर निर्भर); भवति—होता है; सः अहम्—वह मैं; भगवते—आदरणीय आप को; सहस्रम्—हज़ार (गायें); ददामि—प्रदान (भेंट) करता हूं; अतः ऊर्ध्वम्—इसके आगे; विमोक्षाय+एव—मेरी मुक्ति के लिए ही; ब्रूहि—उपदेश करें; इति—यह (राजा जनक ने निवेदन किया) ॥१४॥

स वा एष एतस्मिन्संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसंगो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१५॥

सः वै एषः—वह यह जीवात्मा; एतस्मिन्—इस; सम्प्रसादे—सम्यक् प्रसन्नता देनेवाली, निर्मल (सुषुप्ति अवस्था में); रत्वा—रमण (आनन्द-भोग) कर; चरित्वा—इधर-उधर घूमकर; दृष्ट्वा—देखकर; एव—ही; पुण्यम् च—पुण्य (के फल सुख) को; पापम् च—और पाप (के भोग दुःख) को; पुनः—फिर; प्रतिन्यायम्—'स्वप्न-स्थान' से निकलनेवाले मार्ग की ओर; प्रति योनि—योनि (अपने पहिले स्थान) की ओर; आद्रवति—लौट आता है; स्वप्नाय एव—(अर्थात्) स्वप्न-लोक को ही; सः—वह (जीवात्मा); यत्—जो; तत्र—उस (स्वप्न-लोक) में; किंचित्—कुछ भी; पश्यति—देखता (अनुभव करता) है; अनन्वागतः (न+अनु+आगतः)—असम्बद्ध, निर्लेप, असक्त; तेन—उस (दर्शन) से; भवति—होता (रहता) है; असंगः हि अयम्

याज्ञवल्क्य ने कहा, हे राजन् ! 'सुषुप्त-स्थान' से 'स्वप्न-स्थान' में आने पर, वहां रमण कर, भ्रमण कर, पाप-पुण्य को देख कर, आत्मा जिस मार्ग से गया था, उसी मार्ग से, अपनी 'योनि', अर्थात् अपने कारण—'जाग्रत्-स्थान'—के प्रति लौट आता है। 'स्वप्न-स्थान' में रहते हुए उसने जो-कुछ देखा था, वह वहीं छूट जाता है, वह इसके साथ नहीं आता, क्योंकि 'असंगो ह्ययं पुरुष:'—पुरुष अपने स्वाभाविक रूप में तो 'असंग' ही है। राजा ने कहा, याज्ञवल्क्य ! यह ठीक है। भगवन् ! आप के इस उपदेश के लिये मैं एक सहस्र गायें भेंट करता हूं। अब इसके आगे आप मुझे 'मोक्ष' का ही उपदेश दें ॥१६॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, हे राजन् ! 'स्वप्न-स्थान' से 'जाग्रत्-स्थान' में आने पर, वहां रमण कर, भ्रमण कर, पाप-पुण्य को देखकर, आत्मा जिस मार्ग से आया था, उसी मार्ग से, अपनी 'योनि', अर्थात् अपने कारण—'स्वप्न-स्थान'—के प्रति फिर लौट आता है ॥१७॥

पुरुष—क्योंकि यह देही आत्मा (स्वभाव से) असंग (निर्लेप) है, इति—यह (उपदेश दिया), एवम् एव ब्रूहि इति—अर्थ पूर्ववत् ॥१५॥

स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसंगो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१६॥

स: वै एष—वह यह (जीव-आत्मा), एतस्मिन् स्वप्ने—इस स्वप्न (लोक, अवस्था) में, रत्वा—रमण कर, चरित्वा—घूम-फिर कर, मौज कर, दृष्ट्वा—देखकर (अनुभव कर), एव—ही, पुण्यम् च पापम् च—पुण्य और पाप (के फल-भोग सुख-दुःख) को, पुनः—फिर, प्रतिन्यायम्—जिस मार्ग से निकलकर गया था उसकी ओर, प्रति योनि—अपने मूल स्थान की ओर, आद्रवति—लौट पड़ता है, बुद्धान्ताय—(अर्थात्) जाग्रत्-लोक को, एव—ही, स:—वह (जीव-आत्मा), यत् तत्र ब्रूहि इति—अर्थ पूर्ववत् ॥१६॥

स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव ॥१७॥

स: वै एष:—वह यह (जीव-आत्मा), एतस्मिन् बुद्धान्ते—इस जाग्रत् अवस्था या लोक में, रत्वा . आद्रवति—अर्थ पूर्ववत्, स्वप्नान्ताय एव—(अर्थात्) स्वप्नलोक के लिए ही ॥१७॥

सो, जैसे महा-मत्स्य नदी के पूर्व तथा अपर दोनों किनारों को आता-जाता है, और किनारों से असंग रहता है, इसी प्रकार यह पुरुष जाग्रत् तथा स्वप्न-स्थानों में आया-जाया करता है, और इन अवस्थाओं से स्वयं असंग रहता है ॥१८॥

जैसे श्येन या गरुड़ पक्षी आकाश में उड़-उड़ कर थका हुआ, दोनों पंखों को समेट कर घोंसले की तरफ़ ही दौड़ता है, इसी प्रकार यह पुरुष 'जाग्रत्' तथा 'स्वप्न'-रूपी पंखों को समेट कर 'सुषुप्त-स्थान'-रूपी घोंसले की तरफ़ दौड़ता है, जहां सोकर जाग्रत्-अवस्था की कामनाएं नहीं रहतीं, स्वप्नावस्था के सपने नहीं रहते ॥१९॥

तद्यथा महामत्स्य उभे कूलेऽनुसंचरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ॥१८॥

तद् यथा—तो जैसे; **महामत्स्यः**—कोई बड़ा मच्छ; **उभे**—दोनों; **कूले**—(नदी के) किनारों को; **अनुसंचरति**—अनुसंचरण (आना-जाना) करता है; **पूर्वम् च**—पहले (इधर के); **अपरम् च**—दूसरे (पार के); **एवम् एव**—इस प्रकार ही; **अयम् पुरुषः**—यह देही जीवात्मा; **एतौ**—इन; **उभौ**—दोनों; **अन्तौ**—लोकों को; **अनुसंचरति**—बारी-बारी से आता-जाता रहता है; **स्वप्नान्तम् च**—स्वप्न-लोक को; **बुद्धान्तम् च**—जाग्रद्-लोक को ॥१८॥

तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहृत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति ॥१९॥

तद् यथा—तो जैसे; **अस्मिन् आकाशे**—इस आकाश में; **श्येनः वा**—बाज पक्षी; **सुपर्णः वा**—या गरुड पक्षी; **विपरिपत्य**—विशेषतया (बार-बार) उड़कर; **श्रान्तः**—थका हुआ (थक कर); **संहृत्य**—इकट्ठे (समेट) कर; **पक्षौ**—पंखों (डैनों) को; **संलयाय**—निवास-स्थान (घोंसला) के लिए; **एव**—ही; **ध्रियते**—धारणा (निश्चय) करता है; **एवम् एव**—ऐसे ही; **अयम् पुरुषः**—यह (जाग्रत्-स्वप्न लोकों में बार-बार आने-जानेवाला) जीवात्मा (थक कर); **एतस्मै**—इस (सुषुप्त); **अन्ताय**—लोक (अवस्था) के लिये; **धावति**—दौड़ता है, सचेष्ट होता है; **यत्र**—जहां (जिस अवस्था में); **सुप्तः**—(गाढ-निद्रा में) सोया हुआ; **न**—नहीं; **कंचन**—किसी; **कामम्**—कामना को; **कामयते**—चाहता है; **न कंचन**—(और) न किसी; **स्वप्नम्**—सुपने को; **पश्यति**—देखता है ॥१९॥

अगर बाल के हजार टुकड़े किये जांय, तो उन जैसी सूक्ष्म 'हिता'-नामक नाड़ियां हृदय तथा शरीर में फैली हुई हैं। इनमें शुक्ल, कृष्ण, नील, पिंगल, हरित, लोहित वर्ण के रस भरे रहते हैं। (कठ ६-१६; प्रश्न ३-६, ७, छान्दोग्य ८-६, बृहदा० २-१-१९; ४-२-३; ४-४-२ में किये गये वर्णनों के अनुसार 'हिता' तथा 'पुरीतत' का अर्थ Capillaries है।) शरीर जब सो जाता है, तब आत्मा इन्हीं हिता-नामक नाड़ियों में विचरता है। जागते हुए जिन बातों से डरा था, स्वप्न-स्थान में जाकर उन्हीं बातों से अविद्या के कारण भय मान कर यह समझता है कि मानो कोई मार रहा है, मानो कोई अपने वश में कर रहा है, मानो हाथी पीछा कर रहा है, मानो गढ़े में गिर रहा है। जिस स्थान में जाकर यह अपने को देव या राजा की तरह मानता है, 'अहमेवेदं सर्वोस्मि'—'यह सब-कुछ मैं ही हूं'—यह अनुभव करता है, वह आत्मा का 'परम-लोक' है, 'सुषुप्त-स्थान' है ॥२०॥

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्ता-वताऽणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिंगलस्य हरितस्य लोहि-तस्य पूर्णा अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदꣳ सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः ॥२०॥

ताः वै—(वह लोक वह ही हैं जो) वे ही; अस्य—इस (हृदय या शरीर) की; हिता. नाम—'हिता' नामवाली; नाड्यः—नाड़ियां (नसें), यथा केशः—जैसे बाल, सहस्रधा—हजार बार; भिन्न—काटा हुआ हो; तावता—उतनी, अणिम्ना—सूक्ष्मता से (युक्त), तिष्ठन्ति—होती हैं, विद्यमान हैं; शुक्लस्य—सफेद, नीलस्य—नीले; पिंगलस्य—कुछ हल्के पीले; हरितस्य—हरे; लोहि-तस्य—लाल; पूर्णाः—(रस से) भरी हुई; अथ—और; यत्र—जिस (स्वप्न अवस्था) में, एनम्—इस (सदेह जीवात्मा) को; घ्नन्ति इव—मानो मार रहे हैं; जिनन्ति इव—मानो वश में (आधीन) कर रहे हैं, हस्ती इव—या मानो हाथी की तरह; विच्छाययति—कोई पीछा कर रहा है; गर्तम् इव—मानो गढ़े में; पतति—गिरता है; यद् एव—जो ही; जाग्रद्—जागता हुआ (जागरित-स्थान में); भयम्—भय; पश्यति—देखता है; तद्—वह; अत्र—इस (स्वप्न-लोक) में; अविद्यया—अविद्या (अज्ञान-भ्रान्ति) से; मन्यते—मान रहा होता है (वस्तुत. उस समय यह भय उपस्थित नहीं होता); अथ—और; यत्र—जिस

यह आत्मा का 'अतिच्छन्द'-रूप है, छन्द अर्थात् इच्छा, कामना; अति अर्थात् परे। इच्छा या कामना को लांघ जाना, उसके परे चले जाना आत्मा के इसी रूप में हो सकता है, यह रूप पाप-रहित रूप है, अभय-रूप है। जैसे अपनी प्रिय स्त्री का आलिंगन करते समय न बाहर की सुध रहती है, न अन्दर की, इसी तरह पुरुष जब प्राज्ञ आत्मा के गले लग जाता है, तब इसे न बाहर की सुध रहती है, न अन्दर की। आत्मा का यह 'आप्तकाम' रूप है, जिसमें सब कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं, यही 'आत्मकाम' रूप है, जिसमें सिर्फ़ आत्मा की ही कामना रह जाती है, यही 'अकाम' रूप है, जिसमें आत्म-प्राप्ति की कामना के पूर्ण हो जाने पर कोई कामना ही बची नहीं रहती, यह 'अशोक' रूप है, जिस में कोई शोक नहीं रहता ॥२१॥

(सुषुप्ति, समाधि, मोक्ष की) अवस्था में; **देवः इव**—देवता (विद्या-सम्पन्न विद्वान्) के समान; **राजा इव**—(शक्ति-सम्पन्न) राजा के समान; **अहम्**—मैं (आत्मा); **एव**—ही; **इदम्-सर्वः**—यह सब (का अधिष्ठाता); **अस्मि**—हूं; **इति**—इस रूप में; **मन्यते**—(अपने को) मानता (समझता) है; **सः**—वह; **अस्य**—इस (जीवात्मा) का; **परमः**—सर्व-श्रेष्ठ, सर्वोत्तम; **लोकः**—लोक (अवस्था-स्थिति) है॥२०॥

> **तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयँ रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामँ रूपँ शोकान्तरम्॥२१॥**

तद् वै—वह ही; **अस्य**—इस (जीवात्मा) का; **अतिच्छन्दा**—कामना से परे, कामना-शून्य; **अपहत-पाप्मा**—पाप (के दुःख-फल) से रहित; **अभयम्**—भय-शून्य; **रूपम्**—वास्तविक रूप है; **तद् यथा**—तो जैसे; **प्रियया**—स्नेह-पात्र; **स्त्रिया**—पत्नी से; **संपरिष्वक्तः**—आलिंगन में चिपटा हुआ (मनुष्य); **न**—नहीं; **बाह्यम्**—बाहर की; **किंचन**—किसी (बात) को; **वेद**—जानता है; **न**—न ही; **आन्तरम्**—अन्दरूनी (वस्तु) को; **एवम् एव**—ऐसे ही; **अयम् पुरुषः**—यह जीवात्मा; **प्राज्ञेन**—चिन्मय, ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ; **आत्मना**—परमात्मा से; **संपरिष्वक्तः**—सर्वात्मना अन्तर्लीन; **न बाह्यम् किंचन वेद न आन्तरम्**—अन्दर-बाहर की (बाह्य जगत् की और अन्दरूनी निज शरीर-संघात की) कुछ भी सुध नहीं रखता; **तद् वै**—वह ही; **अस्य**—इस (समाहित—मुक्त आत्मा) का; **एतत्**—यह; **आप्तकामम्**—पूर्ण-काम (जिसमें

(इस रूप में पहुंच कर, पिता पिता नहीं रहता, माता माता नहीं रहती, दुनिया दुनिया नहीं रहती, देव देव नहीं रहता, वेद वेद नहीं रहता, चोर चोर नहीं रहता, गर्भघाती गर्भघाती नहीं रहता, जाति-दोष से अपने को दूषित मानने वाला उस दोष से मुक्त हो जाता है, श्रमण श्रमण नहीं रहता, तापस तापस नहीं रहता, इस रूप में पहुंचने पर इसके पीछे पुण्य नहीं आता, पाप नहीं आता, उस समय आत्मा हृदय-समुद्र के सब शोकों को तर कर पार पहुंच चुका होता है ॥२२॥

(इस स्थल पर 'श्रमण'-शब्द का प्रयोग ध्यान देने योग्य है क्योंकि इस शब्द का प्रचुर प्रयोग बौद्ध-साहित्य में पाया जाता है।)

सब चाह पूरी हो गई हैं), आत्म-कामम्—जिसमें अपने आत्म-स्वरूप की ही चाहना है, अकामम्—(इसमें) सब कामनाओं से शून्य रूपम्—(उसका) स्वरूप होता है, शोक+अन्तरम्—शोक (दुःख चिन्ता से) बाह्य—मुक्त ॥२१॥

अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः । अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति ॥२२॥

अत्र—इस (सुषुप्ति समाधि, मुक्ति) अवस्था में पिता—पिता (के प्रति), अपिता—पितृ-बुद्धि नहीं रहती, माता अमाता—जननी मां मां नहीं रहती, लोका—लोक (सामान्य जन), अलोका—जनता नहीं रहती, देवा अदेवा—देवों में देव-बुद्धि नहीं रहती, वेदा अवेदा—वेद (शास्त्र), अवेद हो जाते हैं, अत्र—इस (स्थिति) में, स्तेन—चोर, अस्तेन भवति—चोर नहीं रहता, भ्रूणहा—गर्भघाती, अभ्रूणहा—गर्भघाती नहीं होता, चाण्डाल अचाण्डाल—चाण्डाल अचाण्डाल, पौल्कस—पुल्कस (शूद्र-क्षत्रिया से उत्पन्न) का पुत्र, अपौल्कस—अपौल्कस, श्रमण—संन्यासी, अश्रमण—अश्रमण, तापस—तपस्वी, अतापस—अतपस्वी (अर्थात् पिता से लेकर तपस्वी तक किसी में भी तद्-बुद्धि नहीं रहती, भेद ज्ञान मिट जाता है, आत्मबुद्धि उत्पन्न हो जाती है) (उस अवस्था) में अनन्वागतम् (न+अनु+आगतम्)—असम्बद्ध, असंस्पृष्ट, असंपृक्त, अलिप्त, पुण्येन—पुण्य (कर्म व सुख भोग) से, अनन्वागतम् पापेन—(और) पाप से भी अलिप्त (हो जाता है), तीर्ण—पार पहुंचा

सुषुप्त-स्थान में जाकर यह देखता नहीं, इसका यही अभिप्राय है कि देखता हुआ ही नहीं देखता, आत्मा तो स्वभाव से ही 'द्रष्टा' है, उसकी दृष्टि का लोप थोड़े ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है। उस स्थान में पहुंच कर वह इसलिये नहीं देखता क्योंकि उसके अतिरिक्त वहां दूसरा-कुछ होता ही नहीं जिसे वह देखे ॥२३॥

सुषुप्त-स्थान में वह सूंघता नहीं, सो सूंघता हुआ ही नहीं सूंघता, आत्मा तो स्वभाव से 'घ्राता' है, उसकी घ्राण-शक्ति का लोप थोड़े ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है। उस स्थान में पहुंच कर वह इसलिये नहीं सूंघता क्योंकि उसके अतिरिक्त वहां दूसरा-कुछ होता ही नहीं जिसे वह सूंघे ॥२४॥

(पीछे छोड़कर गया); हि—ही; तदा—तब; सर्वान्—सारे; शोकान्—दुःख-चिन्ताओं को; हृदयस्य—हृदय के; भवति—होता है (शोक-सागर से पार उतर जाता है, शोक-मुक्त हो जाता है) ॥२२॥

यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ॥२३॥

यद्—जो; वै—ही; तत्—उसको; न—नहीं; पश्यति—देखता है; पश्यन् वै—देखता हुआ भी; तत् न पश्यति—उसको नहीं देखता (इन्द्रियां तो अपना कार्य कर रही होती हैं, पर आत्मा की उसमें अभिरुचि नहीं होती अतः कहा जाता है कि वह इन्द्रिय-व्यापार नहीं कर रहा); न—नहीं; हि—क्योंकि; द्रष्टुः—द्रष्टा (आत्मा) की; दृष्टेः—दर्शन-शक्ति का; विपरिलोपः—पूर्ण अभाव; विद्यते—होता (संभव) है; अविनाशित्वात्—(द्रष्टा के) अनश्वर होने से (दर्शन-शक्ति आदि कभी नष्ट नहीं हो सकतीं); न तु—नहीं तो; तद्—वह; द्वितीयम्—दूसरा; अस्ति—है; ततः—उस (आत्मा) से; अन्यत्—अतिरिक्त; विभक्तम्—पृथक्; यत्—जिसको; पश्येत्—देखे (सुषुप्ति-समाधि-मुक्ति दशा में आत्म-स्वरूप के अतिरिक्त अन्य का भान नहीं रहता अतः वह 'केवली' होता है, फिर किसको देखे-सुने आदि) ॥२३॥

यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन्वै तन्न जिघ्रति न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत् ॥२४॥

यद् वै—जो तो; तत्—उसको; न—नहीं; जिघ्रति—सूंघता है (वस्तुतः); जिघ्रन् वै तत् न जिघ्रति—उसको सूंघता हुआ भी नहीं सूंघ रहा होता; न हि—क्योंकि नहीं; घ्रातुः—सूंघने वाले (आत्मा) की; घ्रातेः—घ्राण-शक्ति

सुषुप्त-स्थान में वह रस नहीं लेता, सो रस लेता हुआ ही रस नहीं लेता, आत्मा तो स्वभाव से 'रसयिता' है, उसकी रसना-शक्ति का लोप थोड़े ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है। उस स्थान में पहुंच कर वह इसलिये रस नहीं लेता क्योंकि उसके अतिरिक्त वहां दूसरा-कुछ होता ही नहीं जिसका वह रस ले ॥२५॥

सुषुप्त-स्थान में वह बोलता नहीं, सो बोलता हुआ ही नहीं बोलता, आत्मा तो स्वभाव से 'वक्ता' है, उसकी वाक्-शक्ति का लोप थोड़े ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है। उस स्थान में पहुंच कर वह इसलिये नहीं बोलता क्योंकि उसके अतिरिक्त वहां दूसरा-कुछ होता ही नहीं जिसके विषय में वह बोले ॥२६॥

सुषुप्त-स्थान में वह सुनता नहीं, सो सुनता हुआ ही नहीं सुनता, आत्मा तो स्वभाव से 'श्रोता' है, उसकी श्रवण-शक्ति का लोप थोड़े ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है। उस स्थान में पहुंच कर

का, विपरिलोप—पूर्ण अभाव, विद्यते—सभव है, अविनाशित्वात्—(घ्राता के) अविनाशी होने के कारण, न तु यत्—अर्थ पूर्ववत्, जिघ्रेत्—सूघे ॥२४॥

यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते नहि रसयितू रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्त यद्रसयेत् ॥२५॥

यद् वै—जो तो, तत् न रसयते—उसको नहीं चाखता रसयन् वै—चाखता हुआ ही, तत् न रसयते—उसको (वास्तव मे) नहीं चाख रहा होता न हि रसयितु—क्योंकि रस (स्वाद) लेनेवाले आत्मा की रसयते—रसना शक्ति का विपरिलोप विद्यते—पूर्णतया अभाव सभव है अविनाशित्वात् यत्—अर्थ पूर्ववत्, रसयेत्—चाखे ॥२५॥

यद्वै तन्न वदति वदन्वै तन्न वदति न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्त यद्वदेत् ॥२६॥

यद् वै—जो तो, तत् न वदति—उसको (से) नहीं बोलता है, वदन् वै तत् न वदति—बोलता हुआ ही वस्तुत उससे नहीं बोलता है न हि वक्तु—क्योंकि नहीं वक्ता (आत्मा) की, वक्ते—वाक् शक्ति का, विपरिलोप यद्—अर्थ पूर्ववत्, वदेत्—बोले, बात करे ॥२६॥

यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन्वै तन्न शृणोति न हि श्रोतु श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्त यच्छृणुयात् ॥२७॥

यद् वै—जो तो, तत् न शृणोति—उसको नहीं सुनता है (वस्तुत),

वह इसलिये नहीं सुनता क्योंकि उसके अतिरिक्त वहां दूसरा-कुछ होता ही नहीं जिसे वह सुने ॥२७॥

सुषुप्त-स्थान में वह मनन नहीं करता, सो मनन करता हुआ ही मनन नहीं करता, आत्मा तो स्वभाव से 'मन्ता' है, उसकी मनन-शक्ति का लोप थोड़े ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है। उस स्थान में पहुंचकर वह इसलिये मनन नहीं करता क्योंकि उसके अतिरिक्त वहां दूसरा-कुछ होता ही नहीं जिसका वह मनन करे ॥२८॥

सुषुप्त-स्थान में वह स्पर्श नहीं करता, सो स्पर्श करता हुआ ही स्पर्श नहीं करता, आत्मा तो स्वभाव से 'स्प्रष्टा' है, उसकी स्पर्श-शक्ति का लोप थोड़े ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है। उस स्थान में पहुंच कर वह इसलिये स्पर्श नहीं करता क्योंकि उसके अतिरिक्त वहां दूसरा-कुछ होता ही नहीं जिसे वह स्पर्श करे ॥२९॥

सुषुप्त-स्थान में उसे कोई ज्ञान नहीं होता, सो ज्ञान होते हुए

शृण्वन् वै तत् न शृणोति—सुन तो रहा होता है पर उसको नहीं सुनता; न हि श्रोतुः—क्योंकि नहीं श्रोता (आत्मा) की; श्रुतेः—श्रवण-शक्ति का; विपरिलोपः. . .यत्—अर्थ पूर्ववत्; शृणुयात्—श्रवण करे ॥२७॥

यद्वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत ॥२८॥

यद् वै—जो तो; तत् न मनुते—उसका मनन-चिन्तन नहीं करता है; मन्वानः वै—(वास्तव में) मनन-चिन्तन करता हुआ भी; तत् न मनुते—उसका मनन-चिन्तन नहीं करता; न हि मन्तुः—क्योंकि नहीं मन्ता (मनन-चिन्तन करनेवाले आत्मा) की; मतेः—मनन-शक्ति का; विपरिलोपः. . .यत्—अर्थ पूर्ववत्; मन्वीत—मनन करे ॥२८॥

यद्वै तन्न स्पृशति स्पृशन्वै तन्न स्पृशति नहि स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्स्पृशेत् ॥२९॥

यद् वै—जो तो; तत् न स्पृशति—उसको नहीं छूता है; स्पृशन् वै—छूता हुआ ही; तत् न स्पृशति—उसको नहीं छूता; न हि स्प्रष्टुः—क्योंकि नहीं स्प्रष्टा (स्पर्श करनेवाले आत्मा) की; स्पृष्टेः—स्पर्श-शक्ति (इन्द्रिय) का; विपरिलोपः. . .यत्—अर्थ पूर्ववत्; स्पृशेत्—छूवे ॥२९॥

यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात् ॥३०॥

ही ज्ञान नहीं होता, आत्मा तो स्वभाव से 'विज्ञाता' है, उसके ज्ञान का लोप थोड़े ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है। उस स्थान में पहुच कर उसे इसलिये ज्ञान नहीं होता क्योंकि उसके अतिरिक्त वहां दूसरा-कुछ होता ही नहीं जिसे वह जाने ॥३०॥

यदि उससे अतिरिक्त वहां दूसरी कोई वस्तु हो, या दूसरी वस्तु के होने की जरा-सी गुंजाइश भी हो, तभी तो कोई किसी को देखे, कोई किसी को सूघे, कोई किसी को चखे, कोई किसी से बात करे, कोई किसी को सुने, कोई किसी को सोचे, कोई किसी को छुये, कोई किसी को जाने-पहचाने ॥३१॥ (जैसे 'स्वय-ज्योति' सूर्य विषयो के होने पर उन्हे प्रकाशित करता है, विषय न हो, तो स्वय प्रकाशमान रहता है, वैसे 'स्वय-ज्योति' आत्मा जाग्रत् तथा स्वप्न मे इन्द्रियो के विषयो को प्रकाशित करता है, सुषुप्ति मे स्वय-ज्योति' रूप मे विराजता है।)

जैसे समुद्र में सब नदियां आकर एक हो जाती हैं, वैसे आत्मा में इन्द्रिया आकर एक हो जाती है, इन्द्रियो की पृथक्-पृथक्

यद् वै—जा तो, तत् न विजानाति—उसको नही जानता, विजानन् वै तत् न विजानाति—उसको जानता हुआ ही उसको नही जानता है, न हि विज्ञातु—क्योकि नही विज्ञाता (ज्ञान करनेवाले आत्मा) की, विज्ञाते—ज्ञान-शक्ति (बुद्धि) का, विपरिलोप यत्—अर्थ पूर्ववत्, विजानीयात्—ज्ञान करे ॥३०॥

यत्र वान्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद्रसयेदन्योऽन्यद्वदेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्योऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात् ॥३१॥

यत्र वा—जहा तो, अन्यद् इव—दूसरे जैसा, अपने से भिन्न, स्यात्—हाये, तत्र—वहा, उस अवस्था मे, अन्य—एक, अन्यत्—दूसरे को, पश्येत्—देखे, देख सकता है, अन्य अन्यद् जिघ्रेत्—एक दूसरे का सूघ सकता है, अन्य अन्यद रसयेत्—कोई एक अपने से भिन्न को चाख सकता है, अन्य अन्यद् वदेत्—एक दूसरे से बोल सकता है, अन्य अन्यत् शृणुयात्—एक सन्य न वह का सुन सकता है अन्य अन्यत् मन्वीत—एक कोई दूसरे की (बात का) मना चिन्ता कर सकता है, अन्य अन्यत् स्पृशेत्—एक दूसरे को छू सकता है, अन्य अन्यद् विजानीयात्—एक दूसर को जान सकता है ॥३१॥

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोक सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥३२॥

शक्तियां नहीं, आत्मा की एक चेतन-शक्ति ही नाना-रूप धारण कर रही है। जैसे समुद्र के बीच में पहुंच कर चारों तरफ़ सलिल-ही-सलिल रह जाता है, और कुछ नहीं रहता, इसी प्रकार सुषुप्ति में पहुंच कर आत्मा-ही-आत्मा रह जाता है, और कुछ नहीं रहता। उस समय एक 'द्रष्टा' रहता है, 'अद्वैत'—उसके बिना दूसरा नहीं होता। याज्ञवल्क्य ने कहा, हे सम्राट्! सुषुप्ति में आत्मा के जिस स्वरूप की मैंने आपको झांकी दिखलाई यह ब्रह्म-लोक की झांकी है, आत्मा के यथार्थ स्वरूप की यह हल्की-सी झलक है। जब वह अपने यथार्थ रूप को प्राप्त कर लेता है, तो वही इसकी परम-गति है, वही इसकी परम-संपद् है, यह इसका परम-लोक है, यही इसका परम-आनन्द है। संसार के प्राणी जिस आनन्द का उपभोग करते हैं, वह ब्रह्म-ज्ञानी के परम-आनन्द की छोटी-छोटी मात्रा का ही उपभोग करते हैं—'एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' ॥३२॥

मनुष्यों में जो अंग-अंग में ऋद्ध—हृष्ट-पुष्ट है, समृद्ध है, भोग-सामग्री से युक्त है, दूसरों का अधिपति है, सब मानुष-भोगों से

सलिलः—जल की तरह स्वच्छ, निर्लेप, या समुद्र के समान एकरस; एकः—एक (एकाकी); द्रष्टा—साक्षी; अद्वैतः—दूसरे के संसर्ग से रहित, केवली; भवति—होता है; एषः—यह; ब्रह्मलोकः—ब्रह्म के लोक (स्थिति) वाला (उस समय उसे ब्रह्म का साक्षात्कार होता है); सम्राट्—हे महाराज; इति ह एनम्—इस प्रकार इस (राजा जनक) को; अनुशशास—गुह्य उपदेश दिया; याज्ञवल्क्यः—याज्ञवल्क्य ने; एषा—यह; अस्य—इस (जीवात्मा) की; परमा गतिः—श्रेष्ठ गति (स्थिति, प्राप्तव्य, पहुंच) है; एषा—यह; अस्य—इस (आत्मा) की; परमा—श्रेष्ठ, सर्वोत्तम; संपद्—सम्पत्ति (संग्राह्य धन) है; एषः—यह ही; अस्य—इस (जीवात्मा) का; परमः—सर्वोत्तम; लोकः—लोक (प्राप्तव्य स्थान) है; एषः अस्य परमः—यह ही इसका सर्वोत्तम; आनन्दः—आनन्द (सुख-भोग) है; एतस्य एव आनन्दस्य—इस ही आनन्द की; अन्यानि—दूसरे (बद्ध); भूतानि—प्राणि-मात्र; मात्राम्—अंशमात्र को; उपजीवन्ति—भोग करते हैं (जैसा कि आगे वर्णन किया गया है) ॥३२॥

स यो मनुष्याणाँ राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितॄणां जितलोकाना-

सम्पन्न है, उस व्यक्ति को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह मनुष्यों का परम-आनन्द कहलाता है। यह 'मनुष-आनन्द' आनन्द की एक इकाई (Unit of Happiness) है। इस प्रकार के सौ 'मानुष-आनन्दों' से लोक-लोकान्तरों को जीतने वाले 'पितरों' (Elders) का एक आनन्द बनता है। लोक-लोकान्तरों को जीतने वाले विश्व-विजयी पितरों के सौ आनन्दों से 'गन्धर्वों' का एक आनन्द बनता है। सौ गन्धर्व-लोकों के आनन्द से 'कर्म-देवों' का, जो कर्म से देवत्व प्राप्त करते हैं, उनका एक आनन्द बनता है। सौ कर्म-देवों के आनन्द से 'जन्म-देवों' का, जो जन्म से ही दिव्य-गुण लेकर पैदा होते हैं, उनका एक आनन्द बनता है। श्रोत्रिय, पाप-रहित तथा कामना से न बिंधे हुए व्यक्ति को भी ऐसा ही आनन्द प्राप्त होता है। सौ 'जन्म-देवों' के आनन्द से 'प्रजापति-लोक' का एक आनन्द बनता है। श्रोत्रिय, पाप-रहित तथा कामना से न बिंधे हुए व्यक्ति को भी ऐसा ही आनन्द प्राप्त होता है। सौ प्रजापति-लोकों के आनन्द से एक 'ब्रह्म-लोक' का आनन्द बनता है। श्रोत्रिय, पाप-रहित तथा कामना से न बिंधे हुए व्यक्ति को भी ऐसा ही आनन्द प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य ने कहा, हे सम्राट्! ब्रह्म-ज्ञानी के जिस परम-आनन्द का मैंने वर्णन

मानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्तेऽथ ये शतं कर्म-देवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनो-ऽकामहतोऽथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीत्यत्र ह याज्ञवल्क्यो बिभयाञ्चकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो माऽन्तेभ्य उदरौत्सीदिति ॥३३॥

सः यः—वह जो, मनुष्याणाम्—मनुष्यों का (में), राद्धः—संसिद्ध (स्वस्थ, अविकल शरीरवाला), समृद्धः—धन-धान्य से भरा-पूरा, भवति—होता है, अन्येषाम्—दूसरों का, अधिपतिः—स्वामी, शासक, पालयिता, सर्वैः—सारे, मानुष्यकैः—मनुष्यों के, भोगैः—भोग-सामग्री से, सम्पन्नतमः—सब से अधिक सम्पन्न, सः—वह, मनुष्याणाम्—मनुष्यों का (के लिए),

किया उसका यह स्वरूप है, यह ब्रह्म-लोक का आनन्द है (तैत्तिरीय, ब्रह्मानन्द वल्ली, ८ अनुवाक)।

यह उपदेश सुनकर विदेहराज जनक ने कहा, मैं आप के इस उपदेश के लिये एक सहस्र गायें भेंट करता हूं, आप मुझे इसके आगे भी 'मोक्ष' का ही उपदेश दें। विदेह-राज की इस उत्कट ज्ञान-पिपासा को देख कर याज्ञवल्क्य डर गये। उन्होंने मन-ही-मन कहा, मेधावी राजा ने तो मुझे सब रहस्य खोल देने के लिये मजबूर कर दिया ॥३३॥

परमः आनन्दः—परम सुख है; **अथ**—और; **ये**—जो; **शतम्**—संख्या में सौ; **मनुष्याणाम् आनन्दाः**—मनुष्यों के आनन्द हैं; **सः**—वह (वे सब मिलकर); **एकः**—एक; **पितृणाम्**—पितरों के; **जितलोकानाम्**—लोक-जयी; **आनन्दः**—आनन्द है; **अथ ये शतम् पितृणाम् जितलोकानाम् आनन्दाः**—और वे जो लोक-जयी पितरों के सौ आनन्द हैं; **स एकः गन्धर्वलोके आनन्दः**—वह गन्धर्व-लोक में एक आनन्द है; **अथ ये शतम् गन्धर्व-लोके आनन्दाः**—और जो गन्धर्व-लोक में सौ आनन्द हैं; **सः एकः**—वह एक; **कर्मदेवानाम्**—कर्म-देवों का; **आनन्दः**—आनन्द है; **ये**—जो; **कर्मणा**—उत्तम कर्म द्वारा; **देवत्वम्**—देव-पद को; **अभिसंपद्यन्ते**—प्राप्त होते हैं; **अथ ये शतम् कर्मदेवानाम् आनन्दाः**—और जो कर्म-देवों के सौ आनन्द हैं; **सः एकः**—वह एक; **आजानदेवानाम्**—जन्म-जात देवों का; **आनन्दः**—आनन्द है; **यः च**—और जो; **श्रोत्रियः**—वेदज्ञ; **अवृजिनः**—निष्पाप; **अकामहतः**—जिसे काम ने नहीं सताया, इन्द्रिय-जयी है (उसको भी यह आनन्द प्राप्त होता है); **अथ ये शतम् आजानदेवानाम् आनन्दाः**—और जो सौ आजान-(जन्मजात) देवों के आनन्द हैं; **सः एकः प्रजापति-लोके आनन्दः**—वह प्रजापति-लोक में एक आनन्द है; **यश्च...हतः**—अर्थ पूर्ववत्; **अथ ये शतम् प्रजापति-लोके आनन्दाः**—और प्रजापति-लोक में जो सौ आनन्द हैं; **सः एकः ब्रह्म-लोके आनन्दः**—वह ब्रह्म-लोक में (ब्रह्म साक्षात्कार होने पर) एक आनन्द है; **यः च...हतः**—अर्थ पूर्ववत्; **अथ**—और; **एषः एव**—यह ही; **परमः आनन्दः**—सर्वोत्तम आनन्द है (इससे बढ़कर कोई आनन्द नहीं); **एषः ब्रह्मलोकः**—यह ही ब्रह्मलोक है; **सम्राड्**—हे सम्राट्; **इति ह उवाच याज्ञवल्क्यः**—याज्ञवल्क्य ने यह निरूपण किया; **सः अहम्...ब्रूहि इति**—अर्थ पूर्ववत्; **अत्र ह**—और यहां ही (इस विषय में); **याज्ञवल्क्यः**—याज्ञवल्क्य; **बिभयांचकार**—भयग्रस्त हो गया, स्तब्ध हो गया; **मेधावी**—बुद्धिमान्, चतुर; **राजा**—राजा (जनक) ने; **सर्वेभ्यः**—सारे; **मा**—मुझ को; **अन्तेभ्यः**—लोकों के या वेदान्त-सार के ज्ञान के लिए; **उदरौत्सीत्**—बाधित (मजबूर) कर दिया; **इति**—इस (कारण डरा) ॥३३॥

याज्ञवल्क्य ने फिर कहना शुरू किया, हे राजन् ! 'स्वप्न-स्थान' में रमण कर, भ्रमण कर, पुण्य-पाप को देख कर आत्मा जिस मार्ग से गया था, उसी मार्ग से 'जाग्रत्-स्थान' में लौट आता है ॥३४॥

सो, जैसे लदी हुई गाड़ी ठिकाने पहुंच कर अपना बोझ उतार देती है, इसी प्रकार जाग्रत्-रूपी यात्रा के अन्त-काल में, ऊंचा सांस लेकर, प्राज्ञ-आत्मा से लदी हुई यह शरीर की गाड़ी अपनी सवारी को उतार देती है—आत्मा तो इस शरीर-रूपी गाड़ी की सवारी कर रहा है ॥३५॥

जब यह शरीर कृशता की तरफ चल देता है, बुढ़ापे से या बीमारी से कृशता में जा डूबता है, तब जैसे आम, गूलर या पीपल का फल अपनी टहनी से टपक पड़ता है, वैसे यह पुरुष अपने भिन्न-भिन्न अंगों

स वा एष एतस्मिन्स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं
च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव ॥३४॥

स वं एषः . बुद्धान्ताय एव—अर्थ १६वीं कण्डिका (मंत्र) के अनुसार जानें ॥३४॥

तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायं शारीर आत्मा
प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥३५॥

तद् यथा—तो जैसे, अनः—भार-लदी गाड़ी, सुसमाहितम्—ठीक प्रकार से रखे सामान वाली, उत्सर्जत्—(पड़ाव पर सामान को) छोड़ती हुई (उतारती हुई), यायात्—जावे (चलती है), एवम् एव—इस प्रकार ही, अयम्—यह, शारीरः—शरीरधारी, आत्मा—जीव, प्राज्ञेन—प्रज्ञा (बुद्धि समझदारी, दूरदर्शिता) से युक्त, प्रज्ञा का अधिष्ठाता, आत्मना—आत्म-स्वरूप से, अनु+आरूढ—नियन्त्रित, उत्सर्जन्—(पाप-पुण्य के दुःख-सुख रूप भागों को भोगकर) उन्हें छोड़ता हुआ, याति—(अगले लोक-जन्म) को चल पड़ता है, यत्र—जिस अवस्था में, एतद्—यह, ऊर्ध्व+उच्छ्वासी—लम्बे (उलटे) सांस लेनेवाला, भवति—होता है ॥३५॥

स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाणिमानं निगच्छति
तद्यथाम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष
एभ्योऽङ्गेभ्यः सम्प्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव ॥३६॥

सः—वह (शारीर-आत्मा), यत्र—जहां, जिस समय, अणिमानम्—सूक्ष्मता को, कमजोरी को, नि+एति—प्राप्त होता है, जरया वा—या तो

से छूट जाता है, और जिस मार्ग से आया था, उसी मार्ग को, फिर अपनी योनि के प्रति प्राण धारण करने के लिये चल देता है। जैसे इस जीवन में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में आता-जाता था, वैसे इस शरीर को छोड़ कर नवीन योनियों के आवागमन के मार्ग पर चल देता है ॥३६॥

जैसे राजा आ रहा हो तो पुलिस, मैजिस्ट्रेट, घोड़ों वाले, गांवों के मुखिया, अन्न-पान और डेरे लेकर उसकी राह देखते हैं—यह आ रहा है, यह आया—कहकर उसकी प्रतीक्षा करते हैं, वैसे ही ब्रह्म-ज्ञान के रहस्य को जानने वाले के स्वागत में सब प्राणी और सब महाभूत टकटकी लगाये खड़े रहते हैं, कहते हैं, यह ब्रह्म आया—यह ब्रह्म अर्थात् महान् व्यक्ति—महात्मा आया ॥३७॥

वृद्धता के द्वारा; **उपतपता वा**—या उपताप (ज्वर आदि रोग) द्वारा; **अणिमानम्**—निर्बलता को; **निगच्छति**—पहुंच जाता है; **तद्**—तो, उस समय; **यथा**—जैसे; **आम्रम् वा**—(पका) आम; **औदुम्बरम् वा**—या गूलर; **पिप्पलम् वा**—या पीपली (पीपल का फल); **बन्धनात्**—बन्धन (डंठल) से; **प्रमुच्यते**—छूट जाता है; **एवम् एव अयम्**—इस प्रकार ही यह; **पुरुषः**—देही आत्मा; **एभ्यः**—इन; **अङ्गेभ्यः**—अंगों (शरीर-अवयवों) से; **संप्रमुच्य**—छूटकर, अलग होकर; **पुनः**—फिर; **प्रतिन्यायम्**—जिस मार्ग से इस देह में आया था उस ही ओर; **प्रतियोनि**—अपनी (कर्म-फल-प्राप्त) योनि की ओर; **आद्रवति**—बढ़ने लगता है; **प्राणाय**—पुनः प्राण (जीवन-धारण) के लिए; **एव**—ही ॥३६॥

**तद्यथा राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानै-
रावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीत्येवꣳ हैवंविदꣳ
सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति ॥३७॥**

तद् यथा—तो जैसे; **राजानम्**—राजा के प्रति (पास); **आयान्तम्**—(गांव में) आते हुए; **उग्राः**—क्षत्रिय, राजकर्मचारी; **प्रत्येनसः**—एनस् (पाप) का नियमन करनेवाले दण्डाधिकारी; **सूत-ग्रामण्यः**—सारथि या जाति-विशेष तथा ग्राम के मुखिया (पंच); **अन्नैः**—भोजन से; **पानैः**—पेय पदार्थों से; **आवसथैः**—निवास-स्थान द्वारा; **प्रतिकल्पन्ते**—प्रतीक्षा करते हैं; **अयम् आयाति**—यह आ रहा है; **अयम् आगच्छति**—यह आ रहा है; **इति**—इस रूप में; **एवम् ह**—इस ही प्रकार; **एवंविदम्**—इस प्रकार (इस रहस्य को) जाननेवाले के प्रति; **सर्वाणि भूतानि**—सारे प्राणी; **प्रतिकल्पन्ते**—कल्पना कर प्रतीक्षा करते हैं; **इदम्**—यह; **ब्रह्म**—ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मविद्, महान् आत्मा; **आयाति**—आ रहा है; **इदम् आगच्छति**—यह आ पहुंचा; **इति**—ऐसे ॥३७॥

और, जब राजा जाने लगता है तब जैसे पुलिस, मैजिस्ट्रेट, नम्बरदार जमा हो जाते हैं, इसी प्रकार अन्तकाल में जब यह ऊंचा सांस लेने लगता है तब सब इन्द्रियां आकर इकट्ठी हो जाती हैं, और यह अपनी महा-यात्रा पर चल देता है ॥३८॥

चतुर्थ अध्याय—(चौथा ब्राह्मण)

(पुनर्जन्म का वर्णन)

जब शरीर दुर्बल हो जाता है, मन बेखबरी की हालत में आ जाता है, तब इन्द्रियां इकट्ठी होकर आत्मा के पास पहुंचती हैं। वह इनमें से तेज की मात्रा को जिसके कारण ये काम करती थीं खींच लेता है, और उस तेज को, जो वास्तव में इसी का था, अपने साथ लेकर हृदय-प्रदेश में उतर आता है। चक्षु में बैठा हुआ पुरुष

तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽभिसमायन्त्येवमेवेम-
मात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥३८॥

तद् यथा—सो जैसे, राजानम्—राजा को, प्रयियासन्तम्—वापिस लौटकर जाने की इच्छावाले, उग्राः—राज-कर्मचारी, प्रत्येनसः—दण्डाधिकारी, सूत-ग्रामण्यः—सूत और ग्राम के मुखिया, अभिसमायन्ति—सब ओर से आकर घेर लेते हैं, एवम् एव—इस प्रकार ही, इमम् आत्मानम्—इस आत्मा को, अन्तकाले—मृत्यु-समय में, सर्वे प्राणाः—सारे प्राण (इन्द्रिया), अभिसमायन्ति—घेर लेते हैं, पास आ जाते है, यत्र—जिस समय, जहा, एतद्—यह, ऊर्ध्वोच्छ्वासी भवति—लम्बे गहरे (उलटे) सास लेने लगना है ॥३८॥

स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्यसंमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभि-
समायन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्वव-
क्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति ॥१॥

सः—वह, यत्र—जहा, जिस समय, अयम्—यह, आत्मा—देहधारी जीव-आत्मा, अबल्यम्—निर्बलता को, नि+एति—प्राप्त होता है, असंमोहम् इव—मूर्छा-सी (बेहोशी-सी), न्येति—पाता है (बेहोश-सा हो जाता है), अथ—तो, एनम्—इस (आत्मा) को, एते—ये, प्राणाः—दश प्राण एवं इन्द्रिया, अभिसमायन्ति—इसे घेर लेती हैं (अपना-अपना कार्य छोड देती हैं), स—वह (आत्मा), एताः—इन, तेजोमात्राः—(प्राण-इन्द्रियों के) तेज (शक्ति, द्युति) के अंशों को, समभ्याददानः—लेता (खींचता) हुआ, हृदयम्—(अपने निवास-स्थान) हृदय को; एव—ही; अनु+अवक्रामति—

जब अन्दर से बाहर जाता है तब देखता-सुनता है, परन्तु जब बाहर से अन्दर को लौट आता है तब देखता-सुनता नहीं, किसी रूप का इसे ज्ञान नहीं रहता, तब यह अरूपज्ञ हो जाता है ॥१॥

जब अपनी शक्तियों को बाहर बखेरने के बजाय वह उन्हें भीतर खींच लेता है, समेट लेता है, तब वह मानो अनेकता से एकता में पहुंच जाता है। मृत्यु के समय जब वह अपनी शक्तियों को समेट कर एकीभूत हो जाता है, तब लोग कहते हैं, वह देख नहीं रहा; वह एकीभूत हो जाता है, लोग कहते हैं, वह सूंघ नहीं रहा; वह एकीभूत हो जाता है, लोग कहते हैं, वह चख नहीं रहा; वह एकीभूत हो जाता है, लोग कहते हैं, वह बोल नहीं रहा; वह एकीभूत हो जाता है, लोग कहते हैं, वह सुन नहीं रहा; वह एकीभूत हो जाता है, लोग कहते हैं, वह सोच नहीं रहा; वह एकीभूत हो जाता है, लोग कहते हैं, वह छू नहीं रहा; वह एकीभूत हो जाता है, लोग कहते हैं, वह जान नहीं रहा। उस समय

चला जाता है, प्रवेश कर जाता है; **सः**—वह; **यत्र**—जहां, जब; **एषः**—यह; **चाक्षुषः**—चक्षु (नेत्र) से कार्य लेनेवाला, नेत्राभिमुख; **पुरुषः**—जीव; **पराङ**—भीतर की ओर (अन्तर्मुख); **पर्यावर्तते**—लौट कर चला जाता है; **अथ**—तो; **अरूपज्ञः**—(चक्षु के विषय) रूप को न जाननेवाला; **भवति**—हो जाता है (रूप को नहीं देख सकता) ॥१॥

> **एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति न रसयत इत्याहुरेकीभवति न वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुत इत्याहुरेकीभवति न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति। तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥२॥**

एकी भवति—एक (अन्तर्मुख होकर बाह्य विषयों से विमुख) हो जाता है, केन्द्रित हो जाता है; **न पश्यति इति आहुः**—अब यह नहीं देखता (देख पा रहा) ऐसा लोग कहते हैं; . . **.न जिघ्रति**—नहीं सूंघता; . . **.न रसयते**—नहीं स्वाद को जान पा रहा है; . . **.न वदति**—बोल सकता है; . . **.न शृणोति**—नहीं सुनता है; . . **.न मनुते**—मनन-चिन्तन नहीं करता; . . **.न स्पृशति. . .**—नहीं छूता; . . **.न विजानाति**—नहीं जान पा रहा; **तस्य ह एतस्य**—उस इस; **हृदयस्य**—

वह हृदय के अग्र-प्रदेश में, जहा से 'हिता'-नामक नाडिया हृदय से ऊपर को जाती है, आ जाता है, हृदय का अग्र-प्रदेश आत्मा की ज्योति से प्रकाशित हो उठता है (बृहदा० २-१-१९, ४-२-३, ८-३-२०)। इस ज्योति के साथ आत्मा चक्षु से, मूर्धा से, या शरीर के किसी अन्य प्रदेश से निष्क्रमण कर देता है। उसके निकलने के साथ-साथ 'प्राण' पीछे-पीछे निकलते हैं, प्राण के निकलने के साथ-साथ 'इन्द्रिया' पीछे-पीछे निकलती है। जीव मरते समय 'सविज्ञान' हो जाता है, अर्थात् जीवन का सारा खेल इसके सामने आ जाता है। यह 'विज्ञान' उसके साथ-साथ जाता है। 'विद्या', 'कर्म' और 'पूर्व-प्रज्ञा'—ये तीनो भी इसके साथ जाते हैं ॥२॥

जैसे तृण-जलायुका—सुडी—तिनके के अन्त पर पहुंच कर, दूसरे तिनके को सहारे के तौर पर पकड कर, अपने-आप को खींच लेती है, इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर-रूपी तिनके को परे फेंक

हृदय का, अग्रम्—अग्रभाग (उपरला सिरा), प्रद्योतते—प्रकाशित होता है, तेन—उस, प्रद्योतेन—प्रकाश से (के साथ), एष आत्मा—यह जीव, निष्क्रामति—निकल जाता है, चक्षुष्ट वा—या तो आख से, मूर्ध्न वा—या मस्तक से, अन्येभ्य वा—या दूसरे, शरीर-देशेभ्य —शरीर के अवयवो से, तम् उत्क्रामन्तम्—उसके निकलने पर, प्राण—श्वास प्रश्वास, अनु—बाद में, उत्क्रामति—बाहर निकल जाता है, प्राणम् अनु+उत्क्रामन्तम्—प्राण के निकलने के पीछे, सर्वे—सारे, प्राणा —प्राण (इन्द्रिया), अनूत्क्रामन्ति—बाहर निकल जाते हैं, सविज्ञान —ज्ञान के सहित, भवति—हो जाता है, सविज्ञानम्—ज्ञान के सहित होकर, एव—ही, अनु+अवक्रामति—निकल कर आगे बढता है, तम्—उस (परलोक-गामी आत्मा) को (का), विद्या-कर्मणी—ज्ञान और कर्म, सम्+अनु+आरभेते—साथ गमन करते हैं (उसके साथ रहते हैं), पूर्व-प्रज्ञा च—और पहले जन्मो की प्रज्ञा (बुद्धि, वासना-स्मृति-संस्कार) ॥२॥

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति ॥३॥

तद् यथा—तो जैसे, तृणजलायुका—तिनके की जोंक, तृणस्य—तिनके के, अन्तम्—सिरे पर, गत्वा—जाकर, पहुच कर, अन्यम्—दूसरे, आक्रमम्—आश्रयभूत तिनके को (पर), आक्रम्य—चढकर, पहुच कर, आत्मानम्—अपने आपको, उपसंहरति—समेट लेती है, एवम् एव—ऐसे ही, अयम् आत्मा

कर, अविद्या को दूर कर, दूसरे शरीर-रूपी तिनके का सहारा लेकर अपने-आप को खींच लेता है ॥३॥

जैसे सुनार सोने की एक मात्रा लेकर उसी से नवतर और कल्याणतर रूप बना देता है, इसी प्रकार यह आत्मा, इस शरीर को परे फेंक कर, अविद्या को दूर कर, दूसरा नवतर और कल्याणतर रूप बना देता है—पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्म वा अन्य भूतों में से किसी रूप को अपनी 'विद्या'-'कर्म'-'पूर्व-प्रज्ञा' के अनुसार धारण करता है ।४॥।

यह 'आत्म-ब्रह्म' जिस-जिस के साथ अपने संबंध को जोड़ता है उसी-उसी का रूप हो जाता है । 'विज्ञान', अर्थात् बुद्धि के साथ जुड़ता

—यह आत्मा; **इदम् शरीरम्**—इस शरीर को; **निहत्य**—त्याग कर; **अविद्याम् गमयित्वा**—(उस भव को) अज्ञानमय (ज्ञान-शून्य) करके; **अन्यम्**—दूसरे; **आक्रमम्**—आश्रयभूत (नव-शरीर) को; **आक्रम्य**—पहुंच कर; **आत्मानम्**—अपने आपको; **उपसंहरति**—समेट लेता है (गर्भ व शैशव अवस्था में ज्ञान-कर्म का विशेष उपयोग नहीं करता) ॥३॥

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वा-ऽन्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम् ॥४॥

तद् यथा—तो जैसे; **पेशस्कारी**—सुवर्णकार; **पेशसः**—सुवर्ण की; **मात्राम्**—अंश (परिमाण) को; **अपादाय**—अलग लेकर; **अन्यत्**—दूसरे; **नवतरम्**—अधिक नये; **कल्याणतरम्**—अधिक सुन्दर; **रूपम्**—रूप (दर्शनीय आकृति) को; **तनुते**—करता है, वढ़ाता है; **एवम् एव अयम् आत्मा**—ऐसे ही यह आत्मा; **इदम् शरीरम् निहत्य**—इस शरीर को त्याग कर; **अविद्याम् गमयित्वा**—उसे ज्ञान-चेष्टा से शून्य कर; **अन्यत्**—दूसरे; **नवतरम्**—अधिक नये; **कल्याणतरम्**—अधिक कल्याण साधक; **रूपम्**—स्वरूप (शरीर) को; **कुरुते**—(धारण) करता है; **पित्र्यम् वा**—चाहे पितृलोक का; **गान्धर्वम् वा**—या गन्धर्व-लोक का; **दैवम् वा**—या देव-लोक का; **प्राजापत्यम् वा**—या प्रजापति-लोक का; **ब्राह्मम् वा**—या ब्रह्म-लोक का; **अन्येषाम् वा**—या (इनसे) अन्य; **भूतानाम्**—प्राणियों का ॥४॥

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्र-मयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्य-

है, तो विज्ञानमय हो जाता है; 'मन' के साथ जुड़ता है, तो मनोमय हो जाता है; इसी प्रकार 'प्राण', 'चक्षु', 'श्रोत्र' के साथ जुडने से यह प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय हो जाता है। भूतों के साथ अपने को जोडता है, तो पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय हो जाता है। जिसके साथ अपने को जोड़ता है, उसी का रूप हो जाता है; उनसे अपने को हटा लेता है, तो उस रूप को छोड देता है। तेज के साथ अपने को एक कर दे, तो तेजोमय, उससे अपने को हटा ले, तो अतेजोमय; कामना की डोरी में खिचा रहे, तो काममय, उससे अपने को छुडा ले, तो अकाममय; क्रोध में डूब जाय, तो क्रोधमय, उससे अलग हो जाय, तो अक्रोधमय; धर्म में लीन हो जाय, तो धर्म-मय, उससे दूर हट जाय, तो अधर्ममय—आत्मा तो सर्वमय है। आत्मा 'इदंमय'-'अदोमय', 'यह रूप'-'वह रूप'—क्यों है ? क्योंकि यह जैसा कर्म और आचरण करता है वैसा ही हो जाता है, अच्छे कर्म करने से अच्छा और बुरे कर्म करने से बुरा, पुण्य-कर्मों से पुण्यात्मा, पाप-कर्मों से पापात्मा। यह सब देखकर यह कहना अधिक उपयुक्त है कि आत्मा 'काममय' है—'काममय एवायं पुरुषः', क्योंकि जैसी

द्वेतदिदंमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ॥५॥

स वै अयम् आत्मा—वह यह आत्मा ब्रह्म—बड़ा सर्वश्रेष्ठ (ब्रह्म के अधिक निकट) है, विज्ञानमय—बुद्धि (ज्ञान) से युक्त, विज्ञाता, मनोमय—मन्ता, प्राणमय—घ्राता, चक्षुर्मय—द्रष्टा, श्रोत्रमय—श्रोता पृथिवीमय—पृथ्वी-तत्त्व का उपयोक्ता, आपोमय—जलमय, वायुमय—वायुमय, आकाशमय—आकाशमय, तेजोमय—तेजो (अग्नि) मय, अतेजोमय—विना तेज के भी विद्यमान काममय—कामना करनेवाला, अकाममय—निष्काम, क्रोधमय—क्रोधी अक्रोधमय—शान्त, धर्ममय—धर्म का अनुष्ठाता, अधर्ममय—कभी धर्म की उपेक्षा करनेवाला, सर्वमय—सब से सम्बद्ध, तद् यद् एतद्—तो जो यह इदंमय—इस (पृथ्वीलोक, इह-लोक इस जन्म) से सम्बद्ध, अदोमय—उस (आदित्य लोक, पर-लोक, पर जन्म) से सम्बन्धित, इति—ऐसे, यथाकारी—जैसे कार्य करनेवाला, यथा+आचारी—जैसे आचरण करनेवाला, भवति—

'कामना' (Desire) होती है, वैसा ही 'क्रतु', अर्थात् 'प्रयत्न' (Effort) होता है, जैसा 'क्रतु' होता है, वैसा ही 'कर्म' (Action) होता है, और जैसा 'कर्म' होता है, वैसा ही 'फल' (Result) होता है ॥५॥

इसी विषय में किसी ने कहा भी है—जहां इसका लिंग-शरीर और मन निषक्त हो जाता है, जिस कामना से इसका शरीर और मन बंध जाता है, फिर मानो बंधा हुआ कर्मों-सहित यह उधर ही खिंचा चला जाता है। जब उस 'कर्म' को पूरा कर लेता है, तब किसी दूसरे काम करने के लिए छुट्टी पाता है। वह 'कर्म' मानो इसके लिये एक 'लोक' हो जाता है। उस 'कर्म-लोक' का जब तक आवेग पूरा नहीं कर लेता, तब तक दूसरे किसी 'कर्म-लोक' की तरफ़ मुंह उठाकर नहीं देखता, एक कामना को पूरा करके ही दूसरी कामना

होता है; **साधुकारी**—अच्छा (पुण्य, धर्म-कार्य) करनेवाला; **साधुः**—सज्जन; **भवति**—होता है; **पापकारी**—बुरा (पाप-कार्य) करनेवाला; **पापः**—पापी, दुर्जन; **भवति**—होता है; **पुण्यः**—धर्मात्मा; **पुण्येन**—धर्ममय; **कर्मणा**—कर्म से; **भवति**—होता है; **पापः**—पापी; **पापेन**—अधर्माचरण से; **अथ उ खलु**—और यह बात भी निश्चय से; **आहुः**—कहते हैं, कही जाती है; **काममयः**—कामना (संकल्प) से निर्मित; **एव**—ही; **अयम् पुरुषः**—यह जीवात्मा है; **इति**—ऐसे; **सः**—वह जीवात्मा; **यथा-कामः**—जैसी कामना (संकल्प–इच्छा) वाला; **भवति**—होता है; **तत्क्रतुः**—वैसे (तदनुरूप) प्रयत्न-चेष्टा करने वाला; **भवति**—हो जाता है; **यत्क्रतुः**—जैसे प्रयत्न करनेवाला; **भवति**—होता है; **तत्**—उस (वैसा); **कर्म**—कर्म को; **कुरुते**—करता है; **यत् कर्म कुरुते**—जो (जैसा) कर्म करता है; **तद्**—वह ही (फल-कामना); **अभिसम्पद्यते**—पा लेता है, सिद्ध हो जाती है ॥५॥

तदेष श्लोको भवति। तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ॥६॥

तद्—तो; **एषः**—यह (प्रसिद्ध); **श्लोकः**—श्लोक; **भवति**—है; **तद्**—उसको; **एव**—ही; **सक्तः**—आसक्त, सम्बद्ध; **सह**—साथ; **कर्मणा**—कर्म के; **ऐति**—आता (प्राप्त होता है), **लिङ्गम्**—कारण शरीर; **मनः**—मन; **यत्र**—जिसमें; **निषक्तम्**—चिपका हुआ, चाहना वाला; **अस्य**—इस जीवात्मा का; **प्राप्य**—पा कर, पूरा कर; **अन्तम्**—अन्त, फल-परिणाम; **कर्मणः**—कर्म का; **तस्य**—

की तरफ फिरता है। आत्मा को 'काम-मय' अथवा 'कामयमान' कहने का यही अभिप्राय है। 'अकाम-मय' वा 'अकामयमान' कहने का क्या अभिप्राय है? जो अकाम है, निष्काम है, आप्तकाम है, आत्म-काम है—जिसमें कोई कामनाएं नहीं रहीं, जो थीं वे निकल गईं, या जिसने सब कामनाएं पा लीं, आत्मा भी जिसने पा लिया, वह 'अकायमान' है, उसके प्राण नहीं निकलते, अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है, वह मानो ब्रह्म हो हुआ ब्रह्म को जा पहुंचता है ॥६॥

(आज का 'मनोविश्लेषणवाद'—Psycho-analysis—भी यही कहता है कि जब तक 'कामना' मन में बनी रहती है तब तक उस 'कामना' से ही मनुष्य बंधा रहता है, उस 'कामना' को पूरा करके ही मनुष्य उस कामना से छुटकारा पा सकता है। उपनिषद् का यह विचार मनोवैज्ञानिक है।)

इस विषय में और भी किसी ने कहा है—जो कामनाएं इसके हृदय में बैठी हुई हैं, जब वे सब छूट जाती हैं, तब यह मरणशील मनुष्य अमृत हो जाता है, और इसी लोक में ब्रह्म का रस ले लेता

उस, यत् किंच—जो कुछ, इह—इस (लोक जन्म) में यहां, करोति—कर्म करता है, अयम्—यह (जीवात्मा), तस्मात्—उस, लोकात्—लोक (जन्म) से, पुन—फिर, ऐति—लौट आता है, अस्मै—इस, लोकाय—लोक (जन्म) के लिए, कर्मणे—कर्म (काय करने) के लिए, इति नु—ऐसे ही, कामयमान—कामना करनेवाला (आवागमन में बद्ध रहता है), अथ—और, अकामयमान—कामना न करनेवाला (अकाममय), य—जो है अकाम—कामना शून्य, निष्काम—कामना से मुक्त, आप्तकाम—सफल मनोरथ, आत्मकाम—स्वरूप (आत्म रूप) का ज्ञान ही जिसका काम (कामना, ध्येय) है मुमुक्षु, न—नहीं, तस्य—उसके, प्राणा—प्राण, उत्क्रामन्ति—निकलते हैं (जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है), ब्रह्म—ब्रह्म में स्थित (लीन) या आनन्द स्वरूप, एव—ही, सन्—होता हुआ (होकर), ब्रह्म—(आत्मस्थित) ब्रह्म (परम-आत्मा) को अप्येति—पा जाता है पहुंच जाता है॥६॥

तदेष श्लोको भवति। यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति। तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदँ शरीरँ शेतेऽथायमशरीरोऽमृत प्राणो ब्रह्मैव तेज एव सोऽहं भगवते सहस्र ददामीति होवाच जनको वैदेह ॥७॥

है। जैसे सांप की केंचुली, मरी हुई और फेंकी हुई, मिट्टी के ढेर पर पड़ी रहती है, इसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञानी का शरीर बना रहता है, आत्मा तो अशरीर है, अमृत है, प्राण है, ब्रह्म ही है, तेज ही है। विदेह-राज जनक यह उपदेश सुन कर कहने लगे, हे याज्ञवल्क्य! आपके इस उपदेश के लिये मैं एक सहस्र गायें आपको भेंट करता हूं ॥७॥

इसी विषय पर और भी किसी ने कहा है—उसे पाने का मार्ग अणु है, सूक्ष्म है, परन्तु सूक्ष्म होता हुआ भी वह सब जगह फैल रहा है। मैंने उस मार्ग को छू लिया है, और टटोल-टटोल कर ही मैं उस तक पहुंच गया हूं, मैंने उसे पा लिया है। धीर और ब्रह्म-ज्ञानी उसी मार्ग से स्वर्ग-लोक को पहुंचते हैं, और मुक्त होकर उससे भी ऊपर उठ जाते हैं ॥८॥

तद् एषः श्लोकः भवति—तो (इस विषय में) यह श्लोक भी है; यदा—जब; सर्वे—सारे; प्रमुच्यन्ते—छुट जाते हैं; शान्त हो जाते हैं; कामाः—कामनाएं, तृष्णा-एषणाएं; ये—जो; अस्य—इस (जीवात्मा) के; हृदि—हृदय में; श्रिताः—ठहरी हुई, विद्यमान होती हैं; अथ—तब; मर्त्यः—मरण-धर्मा (आत्मा); अमृतः—(मृत्यु-पाश से मुक्त) अमर; भवति—हो जाता है; अत्र—यहां, इस स्थिति में; ब्रह्म—परमात्मा को; समश्नुते—प्राप्त कर लेता है, ब्रह्मानन्द को भोगता है; इति—यह (श्लोक है); तद् यथा—तो जैसे; अहिनिर्ल्वयनी—सांप की केंचुली; वल्मीके—बांबी में; मृता—मरी (जीवन से रहित); प्रत्यस्ता—फेंकी हुई; शयीत—लम्बी पड़ी होवे; एवम् एव—ऐसे ही; इदम् शरीरम्—(ब्रह्मनिष्ठ का) यह शरीर; शेते—पड़ा होता है; अथ—और; अयम्—यह; अशरीरः—शरीर से मुक्त; अमृतः—अमर; प्राणः—जीवन धारण करनेवाला; ब्रह्म एव—ब्रह्म-लीन ही है; तेजः एव—तेजः स्वरूप (ज्योतिर्मय) है; सः अहम्—वह मैं; भगवते—आदरणीय आपको; सहस्रम्—हजार (गौएं); ददामि—देता (भेंट करता) हूं; इति ह उवाच जनकः वैदेहः—यह विदेह-राज जनक ने निवेदन किया ॥७॥

तदेते श्लोका भवन्ति। अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव। तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥८॥

तद्—तो (इस विषय में); एते—ये; श्लोकाः भवन्ति—श्लोक भी हैं; अणुः—सूक्ष्म; पन्थाः—मार्ग; विततः—फैला हुआ (विस्तृत); पुराणः—सनातन; माम्—मुझ को; स्पृष्टः—छूआ; (माम् स्पृष्टः—मैंने इसे छू लिया है, इसके पास तक जा पहुंचा हूं); अनुवित्तः—जान लिया है, पा लिया है; मया—

उस मार्ग में भिन्न-भिन्न ज्योतियों के दर्शन होते हैं—शुक्ल, नील, पिंगल, हरित और लोहित। यह ब्रह्म को पाने का ढूंढा हुआ मार्ग है, ब्रह्म-ज्ञानी, पुण्य-कर्मा और तेजस्वी व्यक्ति इसी मार्ग से ब्रह्म-लोक को पहुंचता है ॥९॥

जो 'अविद्या' अर्थात् 'भौतिकवाद' (Materialism) की उपासना करते हैं, वे गहन अन्धकार में जा पहुंचते हैं, और जो 'विद्या' अर्थात् कोरे 'अध्यात्मवाद' (Spiritualism) में रत रहने लगते हैं, भौतिक-जगत की पर्वाह ही नहीं करते, वे उससे भी गहरे अन्धकार में जा पहुंचते हैं (ईश १-९) ॥१०॥

जो अविद्वान् और अबुध हैं—अविद्या-विद्या दोनों से खाली हैं—जिन्हें भौतिक वाद और अध्यात्म-वाद दोनों ने स्पर्श नहीं

मैंने, एव—ही, तेन—उस (मार्ग) मे धीरा—बुद्धिमान धैर्यशाली (अनवरत परिश्रमी), अपियन्ति—प्राप्त कर लेते हैं ब्रह्मविद—ब्रह्म ज्ञानी, स्वर्गम—सुखप्रद (आनन्दमय), लोकम्—लोक (स्थिति अवस्था) को, इत—यहां से ऊर्ध्वम्—ऊपर आगे, विमुक्ता—(जन्म मरण बन्धन से) मुक्त हुए ॥८॥

तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहु पिंगलं हरितं लोहितं च।
एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च ॥९॥

तस्मिन्—उस (मार्ग) मे, शुक्लम्—शुभ्र (श्वेत), उत—और, नीलम्—नीला, आहु—बताते हैं, पिंगलम्—कुछ (हलका) पीला, हरितम्—हरा, लोहितम् च—और लाल (ये रूप मिलते है), एष पन्था—यह मार्ग, ब्रह्मणा—वेद से, ज्ञान से, ह—निश्चय ही, अनुवित्त—जाना या पाया जाता है, तेन—उस (मार्ग) मे, एति—जाता है, ब्रह्मवित्—ब्रह्मज्ञ, पुण्यकृत्—धर्ममय कर्म करनेवाला, तैजस च—और तेज से युक्त (ज्योतिर्मय) पुरुष ॥९॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥१०॥

अन्धम् तम—गहरे अन्धकार का (मे), प्रविशन्ति—प्रवेश करते हैं, ये—जो, अविद्याम्—प्रेयोमार्ग, भौतिकवाद का (की), उपासते—उपासना (सेवन) करते हैं, तत—उससे, भूय इव—मानो और अधिक, ते—वे, तम—अन्धकार मे, ये—जो, उ—तो, विद्यायाम्—ज्ञान, श्रेयोमार्ग, अध्यात्मवाद मे, रता—लीन होते हैं (दोनों मार्गों का सेवन ही निःश्रेयस का प्रदाता है) ॥१०॥

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृता।
तां स्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधो जना ॥११॥

क्रिया—वे तो मर कर आनन्द से शून्य और गाढ़ अन्धकार से आवृत लोकों में जा पहुंचते हैं (ईश १-३) ॥११॥

अगर कोई आत्मा को पहचान ले—'अयमस्मि'—यह समझ जाय, तो फिर किस इच्छा से, किस कामना से शरीर से शरीर के पीछे-पीछे चल कर अपने ऊपर यह जन्म का बुखार चढ़ाये ? ॥१२॥

इस शरीर-रूपी गहन जंगल में आत्मा छिपा हुआ है या नहीं—जिसका यह संदेह नष्ट हो जाता है, जिस का आत्मा प्रतिबुद्ध हो जाता है, जो उसे पा लेता है, वह 'विश्वकृत्' हो जाता है, सब-कुछ कर सकता है, 'स हि सर्वस्य कर्ता', वही तो इस सब के करने हारा है, लोक सब उसी के हो जाते हैं अर्थात् लोक-लोकान्तर उसके सामने सिर झुका देते हैं, वह मानो स्वयं ही एक लोक हो जाता है, अपने-आप एक दुनिया हो जाता है—'स उ लोक एव' ॥१३॥

अनन्दाः—आनन्द (प्रसन्नता) से शून्य; नाम—नामवाले; ते—वे; लोकाः—लोक हैं; अन्धेन तमसा—गहरे अन्धकार से; आवृताः—आच्छन्न (ढके हुए); तान्—उनको; ते—वे; प्रेत्य—मर कर; अभिगच्छन्ति—प्राप्त होते हैं, पहुंचते हैं; अविद्वांसः—अज्ञानी (अविद्या-ग्रस्त); अबुधः—बोध (विद्या-ज्ञान) से शून्य; जनाः—मनुष्य हैं ॥११॥

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥१२॥

आत्मानम्—अपने (निर्लेप स्वरूप) को; चेद्—यदि; विजानीयात्—जान लेवे; अयम्—यह (इस स्वरूपवाला); अस्मि—(मैं आत्मा) हूं; इति—इस रूप में; पूरुषः—देहधारी जीवात्मा; किम् इच्छन्—(अपने लिए) क्या इच्छा (कामना) करता हुआ; कस्य—(दूसरे अन्य) किस की; कामाय—चाहना के लिए; शरीरम्—शरीर के; अनु संज्वरेत्—(दुःख से) स्वयं को दुःखी पीड़ित करे (शरीर-धारण कर दुःख का अनुभव नहीं करेगा, इससे छुटकारा—मोक्ष—चाहेगा) ॥१२॥

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्संदेह्ये गहने प्रविष्टः ।
स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव ॥१३॥

यस्य—जिस (पुरुष) का; अनुवित्तः—प्राप्त-मनोरथ; प्रतिबुद्धः—प्रतिबोध (सम्यक् ज्ञान) से युक्त; आत्मा—चेतन आत्मा है; अस्मिन्—इस; संदेह्ये—संदेह (पीड़ा) वाले, दुःखमय; गहने—घनघोर (जगद् या शरीर रूपी)

अगर हमने इस जन्म में रहते हुए ही उसे जान लिया, तब तो ठीक है, 'न चेदवेदी. महती विनष्टि.'— न जाना, तो महाविनाश है। जो उसे जान जाते हैं वे अमृत हो जाते हैं, और दूसरे लोग दु.ख पाया करते हैं (केन २-५, कठ ६-४) ॥१४॥

जो भूत और भव्य के स्वामी आत्म-देव को निकट से निहार लेते हैं, वे फिर उसकी निन्दा नहीं करते ॥१५॥

जिस आत्मा के पीछे-पीछे दिन-रात को लेकर संवत्सर फिरा करता है, देव लोग उसी को ज्योतियों की ज्योति, आयु और अमृत कहते हैं, और इसी रूप में उसकी उपासना करते हैं ॥१६॥

वन में, प्रविष्ट —घुसा हुआ, पड़ा हुआ, स —वह (ब्रह्मज्ञ), विश्वकृत्— सम्पूर्ण (कार्यों) का कर्ता (कृत कृत्य) हो जाता है (उसे कोई कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती), स हि—वह (ब्रह्मज्ञ आत्मा), सर्वस्य—सब (कर्म) का, कर्त्ता—करनेवाला है, तस्य—उसका ही, लोकः (ब्रह्म) लोक है, स उ—और वह, लोके एव—(ब्रह्म) लोक में ही (रहता है) ॥१३॥

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीर्महती विनष्टिः ।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥१४॥

इह एव—इस लोक (जन्म) में ही, सन्त.—रहते हुए, अथ—तथा च, विद्म —जान लेवें, तद्—उस (ब्रह्म या आत्मा) का, वयम्—हम, न चेत्— अगर नहीं, अवेदी—(तूने) जाना (तो), महती—बड़ा, विनष्टि —विनाश (अकृतकार्यता, असफलता) है, ये—जो, तद्—उसको, विदु.—जान लेते हैं, अमृता —अमर, ते—वे, भवन्ति—हो जाते हैं, अथ—और, इतरे—अन्य (न जाननेवाले), दुःखम् एव—दुःख को ही, अपियन्ति—प्राप्त होते हैं ॥१४॥

यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥१५॥

यदा—जब, एतम्—इस, अनुपश्यति—देख लेता, जान लेता है, आत्मानम्—(परम) आत्मा को, देवम्—दिव्य, अञ्जसा—साक्षात्, स्पष्टतया, ईशानम्—स्वामी, भूत-भव्यस्य—उत्पन्न और भविष्य में उत्पन्न होनेवाले (जगत्) का, न—नहीं, ततः—तत्पश्चात्, विजुगुप्सते—घृणा निन्दा करता या रक्षा की कामना करता ॥१५॥

यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥१६॥

यस्माद्—जिस (ब्रह्म) से, अर्वाक्—इधर की ओर, पीछे-पीछे, संवत्सरः

जिस आत्मा में पंच रहते हैं, जिसमें पंच-जन, अर्थात् पांच प्रकार के मनुष्य रहते हैं, जिसमें आकाश रहता है—जिसके आश्रय में सब-कुछ रहता है, मैं उसी को 'आत्मा' मानता हूं, विद्वान् मानता हूं, ब्रह्म मानता हूं, अमृतों का अमृत मानता हूं ॥१७॥

वह प्राणों का प्राण है, चक्षुओं का चक्षु है, श्रोत्रों का श्रोत्र है, मनों का मन है। जो ऐसा जानते हैं, वे ब्रह्म के यथार्थ, पुरातन तथा अग्र अर्थात् सृष्टि के प्रारंभ के समय के रूप को जान जाते हैं ॥१८॥

—वर्ष (काल का अवयव); अहोभिः—दिनों के साथ; परिवर्तते—चक्कर काटता है (काल जिसको पार नहीं कर सकता, जो काल-मर्यादा से बाहर है, 'कालातीत' है); तद्—उस (ब्रह्म) को; देवाः—देवगण, विद्वान्; ज्योतिषाम् —सूर्य आदि ज्योतियों के; ज्योतिः—(प्रकाशक) को; आयुः—आयु (प्रदाता); ह—निश्चय से; उपासते—उपासना करते हैं; अमृतम्—अमर (ब्रह्म) को ॥१६॥

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥१७॥

यस्मिन्—जिस (ब्रह्म) में; पंच—पांच संख्यावाले; पञ्चजनाः—पांच प्रकार के मनुष्य (देव-गंधर्व-पितृगण-असुर-राक्षस या ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-निषाद); आकाशः च—और आकाश (अव्यक्त-जगत् का कारण प्रकृति); प्रतिष्ठितः—प्रतिष्ठा (स्थिति) पा रहा है; तम् एव—उसको ही; मन्ये—चिन्तन-मनन-ध्यान कर रहा हूं; आत्मानम्—परमात्मा को; विद्वान्—जानने-वाला; ब्रह्म—ब्रह्म को; अमृतः—अमर; अमृतम्—अमर; (अमृतम् ब्रह्म विद्वान् अमृतः तम् एव आत्मानम् मन्ये—अमर ब्रह्म के स्वरूप को जाननेवाला (मैं) अमर (आत्मा) उस ही (सर्वाधार) आत्मा (परमात्मा) का ध्यान-मनन-चिन्तन करता हूं, उसमें ही लीन हूं) ॥१७॥

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो
ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ॥१८॥

प्राणस्य—प्राण (श्वास-प्रश्वास या नासिका) के; प्राणम्—प्राण, प्राण-शक्ति देनेवाले; चक्षुषः—आंख के भी; चक्षुः—दर्शन-शक्तिप्रदाता; उत—और; श्रोत्रस्य—कान के; श्रोत्रम्—श्रवण-शक्तिप्रद; मनसः—मन के; ये—जो; मनः—मननशक्ति-दाता को; विदुः—जान लेते हैं; ते—वे; निचिक्युः—जानते हैं; ब्रह्म—ब्रह्म को; पुराणम्—सनातन; अग्र्यम्—अग्रणी, जगद्-रचना से पूर्व विद्यमान ॥१८॥

ये सब मन से ही देखने की बातें हैं, सृष्टि में नानात्व कहीं नहीं है—'नेह नानास्ति किञ्चन'—जो सृष्टि में एकता को न देख कर नानात्व को देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है। (कठ ४-११) ॥१९॥

इस अप्रमेय और ध्रुव आत्म-तत्त्व को नानात्व म नहीं, एकत्व में ही देखना चाहिये, यह अजन्मा आत्मा आकाश से भी बढ कर मल-रहित है, महान् ध्रुव है ॥२०॥

धीर ब्राह्मण को उचित है कि इसी आत्म-तत्त्व का बोध करके अपने को प्रज्ञा-युक्त करे, बहुत शब्द-जालों में न उलझे, क्योंकि आत्म-बोध के अतिरिक्त सब-कुछ 'वाचो विग्लापन हि तत्'—वाणी का थकानामात्र है ॥२१॥

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१९॥

मनसा—(समाहित) मन से, एव—ही, अनुद्रष्टव्यम्—देखने (जानने) योग्य है, न—नही, इह—यहा, इसमे, नाना—अनेकरूपता, अस्ति—है, किंचन—कुछ भी, मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति—वह मृत्यु से बढकर मृत्यु को प्राप्त होता है (सर्व विनाश को प्राप्त होता है), यः—जो, इह—इस (जगत्) में, नाना इव—भेदभाव (अनेकता) को, इव—समान, मानो, पश्यति—देखता (जानता-समझता) है ॥१९॥

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्।
विरजः पर आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः ॥२०॥

एकधा—एक रूप मे, एव—ही, अनुद्रष्टव्यम्—देखना चाहिये, एतद्—इस, अप्रमेयम्—(प्रत्यक्ष आदि) प्रमाणो से अज्ञेय, ध्रुवम्—स्थिर, सदा वर्तमान, विरजः—निर्मल, शुद्ध, परः—परम सर्वोत्कृष्ट, आकाशात्—आकाश से, अजः—अजन्मा, आत्मा—ब्रह्म, महान्—सब से बडा, ध्रुवः—स्थिर है ॥२०॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तदिति ॥२१॥

तम् एव—उसको ही, धीरः—बुद्धिमान्, धैर्यशाली, विज्ञाय—जान कर, प्रज्ञाम्—स्थिर ज्ञान को, कुर्वीत—सम्पादित करे, ब्राह्मणः—ब्रह्म जिज्ञासु, न—नहीं, अनुध्यायात्—ध्यान (चिंतन-मनन) करे, बहून्—बहुत से, शब्दान्—वाङ्मय (शास्त्र-परम्परा) को, वाचः—वाणी का, विग्लापनम्—व्यर्थ खोना

(यह महान् तथा अजन्मा आत्मा 'विज्ञानमय' (Consciousness) है, प्राणों में रहता है, और हृदय के भीतर जो आकाश है उसमें विश्राम करता है। यह सब को वश में करने वाला है, सब का ईश्वर है, सब का अधिपति है। वह साधु-कर्म से बड़ा नहीं होता, असाधु-कर्म से छोटा नहीं होता, वह सर्वेश्वर है, भूताधिपति है, भूतपाल है—वही तो सब लोकों को आपस में मिलाने वाला पुल है, आत्मा ही तो कभी यहां जन्म लेकर, कभी वहां जन्म लेकर लोकों को मिलाये रखता है, नहीं तो भिन्न-भिन्न लोक भिन्न-भिन्न ही न बने रहें ? 'ब्राह्मण' लोग उसी आत्मा को वेद के अनुवचन से, यज्ञ, दान, तप, उपवास से जानने का प्रयत्न करते हैं। उसी को जानकर 'मुनि' होता है। उसी आत्मा के लोक की चाहना करते हुए 'परिव्राजक' लोग घर-बार छोड़ देते हैं। उसी को पाने की अभिलाषा से प्राचीन-काल

(व्यर्थ प्रयोग करना); हि—क्योंकि; तद्—वह (वह श्रवण) है; इति—ये श्लोक हैं (अर्थात् थोड़ा-सा भी जान कर उसका अनुष्ठान करे, केवल शास्त्र-चर्चा में न लगा रहे) ॥२१॥

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः। स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः ॥२२॥

सः वै एषः—वह ही यह; महान्—बड़ा; अजः—अजन्मा; आत्मा—जीवात्मा है; यः अयम्—जो यह; विज्ञानमयः—चित्स्वरूप, ज्ञान-रूप; प्राणेषु

के विद्वान् सन्तान की कामना नहीं करते थे, और कहते थे, हमने आत्मा को पा लिया, आत्म-लोक को पा लिया, हम सन्तान पाकर क्या करेंगे ? ऐसे ही लोग 'पुत्रैषणा'-'वित्तैषणा'-'लोकैषणा' से ऊपर उठ कर भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन करते हैं। पुत्रैषणा ही वित्तैषणा है, वित्तैषणा ही लोकैषणा है। पुत्रैषणा-वित्तैषणा और वित्तैषणा-लोकैषणा का जोडा मूलतः 'एषणा' (Libido, Urge) ही है। 'आत्मा' इन सब से परे है, वह 'नेति'-'नेति' के रूप में ही समझ में आता है, वह 'अग्राह्य' है—पकड में नहीं आता, 'अशीर्य' है—क्षीण नहीं होता, 'असङ्ग' है—लिप्त नहीं होता, बन्धन-रहित है, व्यथा-रहित है, नाश-रहित है। मैंने इस कारण पाप-कर्म किया, या इस कारण कल्याण-कर्म किया—ये दोनों विचार उसका वार-पार नहीं पाते,

---

—प्राणो (ज्ञान इन्द्रियों) मे, य एष—जो यह, अन्त हृदये—हृदय के भीतर, आकाश—आकाश (अवकाश) है, तस्मिन—उसमे, शेते—सोता, विश्राम करता है, विराजमान है, सर्वस्य—सब का, वशी—नियन्ता, सर्वस्य—सब का, ईशान—प्रभु, सर्वस्य—सब का, अधिपति—रक्षक, अधिष्ठाता पालयिता है, स—वह, न—नही, साधुना कर्मणा—अच्छे कर्म करने से, भूयान्—अधिक (सम्मानित) होता है, नो एव—न ही, असाधुना—बुरे (पाप-कर्म) से, कनीयान्—छोटा (अपमानित) होता है, एष—यह, सर्व + ईश्वर—सब का प्रभु है, एष भूताधिपति—यह भूतो (प्राणियो) का अधिष्ठाता है, एष भूतपाल—यह भूतो का रक्षक है, एष—यह, सेतु—बन्धन है पुल के समान मिलानेवाला, विधरण—विधर्त्ता है, एषाम्—इन, लोकानाम्—लोको के, असम्भेदाय—छिन्न भिन्न न होने देने के लिए, तम् एतम्—उस इसको, वेद + अनुवचनेन—वेद अध्ययन (स्वाध्याय) से, ब्राह्मणा—ब्रह्म जिज्ञासु, विविदिषन्ति—जानना चाहते है, यज्ञेन—(नित्य-नैमित्तिक) यज्ञो से दानेन—दान से, तपसा—तप से, अनाशकेन—उपवासो से, एतम् एव—इसको ही, विदित्वा—जानकर, मुनि—मनन शील, भवति—होता है, एतम् एव—इसको ही, प्रव्राजिन—परिव्राजक (सन्यासी), लोकम्—(ब्रह्म) लोक को, इच्छन्त—चाहते हुए, प्रव्रजन्ति—आश्रम मर्यादा का परित्याग कर चल पडते हैं, एतद् ह—इसको ही (चाहते हुए), स्म—था एतत्पूर्वे—अब से पहले के, विद्वास—ज्ञानी, प्रजाम्—सन्तति की, न कामयन्ते स्म—कामना नही करते थे, किम—क्या, प्रजया—सन्तान से, करिष्याम—करेंगे, येषाम् न—जिन हमारा, अयम्—यह (ज्ञेय), आत्मा—आत्मा है, अयम् लोक—यह ही लोक (आश्रय)

वह इन दोनों को तर जाता है; उसने जो-कुछ किया है, जो-कुछ नहीं किया—इन कृत-अकृत का भी उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि मूलतः वह पाप-पुण्य से अलग है, कृत-अकृत से अलग है, नेति-रूप है, असंग है, अग्राह्य है ॥२२॥

(आज के युग में सन्तानोत्पत्ति-निरोध की बात कही जाती है, परन्तु काम-वासना निरोध की बात नहीं कही जाती; उपनिषत्कार ने एषणानिरोध द्वारा सन्तानोत्पत्ति-निरोध की बात कही है। भौतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण में यही भेद है।)

यही बात ऋचाओं में कही गई है—आत्मा नित्य है, ब्रह्म-ज्ञानी की महिमा कर्म से न बढ़ती है, न घटती है, मनुष्य को आत्मा की ही खोज करनी चाहिये, उसे जानकर वह पाप-कर्म से लिप्त नहीं होता। इसलिये 'आत्म-वित्' शान्त, दान्त, विरक्त और सहनशील होकर पिंड के आत्मा में ही ब्रह्मांड के आत्मा के दर्शन कर लेता है, सब को आत्म-रूप देखता है, इसे पाप नहीं तर सकता, यह सब पापों

है; इति—यह (सोच कर); ते ह स्म—वे तो; पुत्रैषणायाः. . .रिष्यति—अर्थ पूर्ववत्; एतम् उ ह एव—इस (आत्म-ज्ञानी) को ही; एते—ये (दोनों विचार); न—नहीं; तरतः—लांघ सकते, वश में कर सकते हैं; इति+अतः—कि इससे; पापम् अकरवम्—(मैंने) पाप किया, इति अतः—कि इससे; कल्याणम्—पुण्य; अकरवम्—किया; इति—ये (विचार); उभे उ ह एव—दोनों ही (इन विचारों) को; एषः—यह (ज्ञानी); एते—इन (पाप-पुण्य) को; तरति—पार कर जाता है (इनसे ऊपर उठ जाता है); न—नहीं; एनम्—इसको; कृत+अकृते—कृत (पुण्य-सत्य-शुभ) और अकृत (पाप-अनृत-अशुभ) कर्म; तपतः—सताते, दुःखी करते हैं ॥२२॥

तदेतदृचाभ्युक्तम्। एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति। तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्यायेति ॥२३॥

को तर जाता है, इसे पाप नहीं तपाता, यह सब पापों को तपा देता है। ब्रह्म-ज्ञानी पाप-रहित, मल-रहित, संशय-रहित हो जाता है। याज्ञवल्क्य ने कहा, हे सम्राट्! आत्मा में परमात्मा के दर्शन कर लेना ही ब्रह्म-लोक को पा लेना है, यह आत्म-लोक ही ब्रह्म-लोक है। मैंने आपको ब्रह्मलोक में पहुंचा दिया। यह सुनकर विदेह-राज जनक ने कहा, हे याज्ञवल्क्य! मैं आपके इस उपदेश के लिये आपको सम्पूर्ण विदेह-राज्य भेंट करता हूं, और मैं अपने को भी आपकी सेवा के लिये प्रस्तुत करता हूं ॥२३॥

तद् एतत्—वह यह (विचार), ऋचा—छन्दोबद्ध रचना से, अभि+उक्तम्—कहा गया है, एष—यह, नित्य—हमेशा रहनेवाला, महिमा—महत्त्व, बड़प्पन है, ब्राह्मणस्य—ब्रह्मवेत्ता का, न वर्धते—न तो बढ़ता (फलता, प्रसन्न होता) है, कर्मणा—कर्म से, नो—नही, कनीयान्—क्षुद्र होता है, तस्य—उस (ब्रह्म) के, एव—ही, स्यात्—होवे, पदवित्—पद (प्राप्तव्य स्थान) को जाननेवाला, तम्—उसको, विदित्वा—जानकर, न—नहीं, लिप्यते—लिप्त (मलिन) होता है, कर्मणा—कर्म से, पापकेन—पापमय, इति—यह (ऋक्) है, तस्मात्—उस कारण से, एवंविद्—इस प्रकार जानने (समझने) वाला, शान्त—शम-गुण युक्त (मन को निरुद्वेग रखनेवाला), दान्त—(इन्द्रियों का) दम (दमन-वश) करनेवाला, उपरत—विषयों से विमुख, तितिक्षु—(दुःख-सुख आदि द्वन्द्वों को) सहनेवाला, समाहित—चित्त-वृत्तियों को रोकनेवाला (योगी), भूत्वा—होकर, आत्मनि—अपने (जीव) आत्मा में, एव—ही, आत्मानम्—परम आत्मा को, पश्यति—देखता है, सर्वम्—सब को (में), आत्मानम्—आत्मा को, पश्यति—देखता (समझने लगता) है, न एनम्—नहीं इस (ब्रह्मवेत्ता) को, पाप्मा—पाप, तरति—लांघ सकता (वश में कर सकता) है, (परन्तु वह स्वयम्) सर्वम् पाप्मानम् तरति—सब पापों से पार (अलग) हो जाता है, न एनम् पाप्मा तपति—नहीं इसको पाप तपाता (व्यथित करता) है, सर्वम् पाप्मानम् तपति—(वह स्वयं) सारे पाप को तपाता (भस्म कर देता) है, विपाप—निष्पाप, विरज—निर्मल, अविचिकित्स—सदेह-रहित, निर्भ्रान्त, ब्राह्मण—सच्चा ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञ), भवति—हो जाता है, एष—यह ही (आत्म ज्ञान, आत्म स्थिति), ब्रह्मलोक—ब्रह्मलोक (ब्रह्म-साक्षात्कार) है, सम्राड्—हे महाराज!, एनम्—इस (ब्रह्मज्ञान की स्थिति) को, प्रापित असि—तुझे मैंने पहुंचा (ज्ञान करा) दिया है, इति ह उवाच याज्ञवल्क्य—यह याज्ञवल्क्य ने कहा, स अहम्—वह मैं,

यह आत्मा महान् है, अजन्मा है, भक्षण कर रहा है परन्तु साथ ही अपनी विभूति का दान कर रहा है। जो इस रहस्य को जानता है उसे सब प्रकार का लाभ होता है।।२४।।

यह आत्मा महान् है, अजन्मा है, अजर है, अमर है, अमृत है, अभय है, ब्रह्म है, अभय हो जाना ही तो ब्रह्म-पद पाना है। जो इस रहस्य को जानता है वह अभय हो जाता है, ब्रह्म हो जाता है।।२५।।

चतुर्थ अध्याय—(पांचवां तथा छठा ब्राह्मण)
(याज्ञवल्क्य तथा उसकी दो स्त्रियां—मैत्रेयी तथा गार्गी)

याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियां थीं—मैत्रेयी तथा कात्यायनी। उनमें से मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी, कात्यायनी 'स्त्री-प्रज्ञा' थी—इतनी ही

भगवते—आदरणीय आप को; विदेहान्—सारे विदेह-राज्य को; ददामि—भेंट में देता हूं; माम् च अपि—और मुझ (अपने) को भी; सह—(राज्य के) साथ; दास्याय—दास-वृत्ति (आपकी सेवा-शुश्रूषा) के लिए; इति—ऐसे।।२३।।

स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद।।२४।।

सः वै एषः—वह ही यह; महान्—बड़ा, मुख्य; अजः—अजन्मा; आत्मा—आत्मा; अन्नादः—अन्न-भोक्ता; वसुदानः—धनैश्वर्य का दाता है; विन्दते—प्राप्त करता है; वसु—धन-ऐश्वर्य को; यः एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है।।२४।।

स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्मा-
भयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद।।२५।।

सः वै एषः महान् अजः आत्मा—वह ही यह महान् अजन्मा आत्मा; अजरः—जरा (वृद्धता) से रहित; अमरः—अमर; अमृतः—मृत्यु से परे; अभयः—निर्भय; ब्रह्म—ब्रह्म (का अधिष्ठान) है; अभयम् वै ब्रह्म—ब्रह्म निर्भय है; अभयम् हि वै ब्रह्म भवति—वह स्वयं निर्भय ब्रह्म हो जाता है; यः एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है।।२५।।

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी
च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि
कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन्।।१।।

अथ ह—और; याज्ञवल्क्यस्य—याज्ञवल्क्य मुनि की; द्वे भार्ये—दो पत्नियां; बभूवतुः—थीं; मैत्रेयी च—एक मैत्रेयी; कात्यायनी च—और दूसरी कात्यायनी; तयोः ह—उन दोनों में; मैत्रेयी—मैत्रेयी; ब्रह्मवादिनी—ब्रह्म का

बुद्धि रखती थी जितनी साधारण स्त्रियों को होती है। याज्ञवल्क्य ने जब जीवन का दूसरा मार्ग लेना चाहा ॥१॥

तब मैत्रेयी को सम्बोधित करके कहा, हे मैत्रेयी ! मैं इस स्थान से प्रव्रज्या लेने वाला हूं, आ, तेरा इस कात्यायनी से फैसला कराता जाऊं ॥२॥

इसके आगे ५म तथा ६ष्ठ ब्राह्मण वही है जो बृहदारण्यक २य अध्याय के ४र्थ तथा ६ष्ठ ब्राह्मण में पहले लिखा जा चुका है। (देखो पृ० ७५१—७६२, ७७४—७७७)।

२य अध्याय के ६ष्ठ ब्राह्मण में जो गुरु-शिष्य-उपदेश-परंपरा दी गई है, उसमें तथा इस ४र्थ अध्याय के ६ष्ठ ब्राह्मण में दी गई परंपरा में कुछ भेद है, वह नीचे दिया जा रहा है। संस्कृत में हमने यह भाग नहीं दिया।

३८ संख्या तक तो गुरु-शिष्य-परंपरा का यही क्रम है। उसके

प्रवचन (चर्चा) करनेवाली, बभूव—थी, स्त्री-प्रज्ञा—(सामान्य) स्त्री की प्रज्ञा (बुद्धि-समझ) वाली, एव—ही, तर्हि—तो, कात्यायनी—कात्यायनी थी, अथ ह—इसके बाद, याज्ञवल्क्य —याज्ञवल्क्य, अन्यद्—दूसरे, वृत्तम्—आचरण, वृत्ति, मार्ग, उपाकरिष्यन्—अंगीकार करने की चाहना करते हुए ॥१॥

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽहमस्मा-
त्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ॥२॥

मैत्रेयि—हे मैत्रेयि, इति ह उवाच याज्ञवल्क्य —ऐसे याज्ञवल्क्य ने कहा, प्रव्रजिष्यन्—प्रव्रज्या (सन्यास) लेने वाला या परिभ्रमण करनेवाला, वै—ही, अरे—अरी, अहम्—मैं, अस्मात्—इस, स्थानात्—स्थान (निवास-स्थान या द्वितीय आश्रम) से, अस्मि—हूं, हन्त—तो, ते—तेरा, अनया—इस, कात्यायन्या—कात्यायनी से, अन्तम्—अन्त (विवाद की शान्ति, विभाग), करवाणि—करता जाऊं, इति—यह (कहा) ॥२॥

आवश्यक—इसके आगे का ३ कण्डिका से १५ कण्डिका तक का मूल पाठ पृ० ७५१ की कण्डिका २ से पृ० ७६१ की १४ कण्डिका तक देखें।

...स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो
न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति
विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनासि मैत्रेय्ये-
तावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥१५॥

आगे, कौशिकायनि ने ३९. सायकायन को ज्ञान दिया, उसके आगे परंपरा यों चली--४०. कापायण, ४१. सौकरायण, ४२. माध्यन्दिनायन, ४३. जाबालायन, ४४. उद्दालकायन, ४५. गार्ग्यायण, ४६. पाराशर्यायण, ४७. सैतव, ४८. गौतम, ४९. गार्ग्य, ५०. गार्ग्य, ५१. अग्निवेश्य। इसके बाद वही परंपरा है, जो बृहदारण्यक के २य अध्याय के ६ष्ठ ब्राह्मण में दी गई है। ६ष्ठ अध्याय के ५म ब्राह्मण में भी एक गुरु-शिष्य-परंपरा दी गई है, जो इससे भिन्न है।

पंचम अध्याय--(पहला ब्राह्मण)

('खं' का अर्थ)

वह ब्रह्म पूर्ण है, यह जगत् भी पूर्ण है; पूर्ण ब्रह्म से ही यह पूर्ण जगत् उदित होता है; पूर्ण से ही पूर्णता लेकर जब यह जगत् बन चुकता है, तब भी वह ब्रह्म पूर्ण-का-पूर्ण बच रहता है। ब्रह्म को तीन नामों से स्मरण किया जाता है--'ओ३म'-'खं'-'ब्रह्म'। 'ओ३म्' और 'ब्रह्म' तो परमात्मा के प्रसिद्ध नाम हैं; 'खं' भी उसका पुराना नाम है, परन्तु कौरव्यायणी-पुत्र का कथन है कि वायु वाले आकाश का नाम ही 'खं' है; कई ब्राह्मणों का कथन है कि वेद का नाम 'खं'

सा ह उवाच... विजानीयात् इति--३ से १५ तक की कण्डिकाओं का अर्थ (पृष्ठ ७५१ से पृष्ठ ७६१ तक) पूर्ववत्; उक्त+अनुशासना असि मैत्रेयि--हे मैत्रेयि ! इस प्रकार तुझे ब्रह्म-ज्ञान बता दिया गया है; एतावद् अरे खलु--अरी इतना ही तो; अमृतत्वम्--अमर-पद (का ज्ञान) है; इति ह उक्त्वा--ऐसा कहकर; याज्ञवल्क्यः--याज्ञवल्क्य ने; विजहार--विहार (प्रव्रज्या के लिए प्रस्थान) किया ॥१५॥

अथ वंशः... ब्रह्मणे नमः--इन तीनों कण्डिकाओं में पहली व तीसरी का अर्थ पूर्ववत् (पृष्ठ सं० ७७४ से ७७७) है; दूसरी का अर्थ ऊपर भाष्य से समझ लें ॥१-३॥

> ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय
> पूर्णमेवावशिष्यते। ॐ खं ब्रह्म खं पुराणं वायुरं खमिति ह
> स्माह कौरव्यायणीपुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम् ॥१॥

ओम्--आदि-गुरु, सर्वरक्षक, सर्वान्तर्यामी भगवान् का स्मरण कर; पूर्णम्--पूर्ण, त्रुटिरहित; अदः--वह (अव्यक्त ब्रह्म) है; पूर्णम्--पूर्ण; इदम्--यह (प्रत्यक्ष-व्यक्त कार्य-जगत्) है; पूर्णात्--पूर्ण (निमित्त कारण

है। कुछ भी हो, 'खं' से यह सब-कुछ जाना जाता है। 'खं' का अर्थ अगर यह करें कि यह ब्रह्म का 'पुरातन-नाम' है, तो इसका अभिप्राय 'पुराण-पुरुष' से है, 'खं' का अर्थ 'आकाश' करें, तो इसका अभिप्राय आकाश की भांति 'व्यापक-पर-ब्रह्म' से है; 'खं' का अर्थ 'वेद' करें, तो इसका अभिप्राय भी उसी ज्ञान के भंडार ब्रह्म से है। हर हालत में 'खं' का अर्थ 'ब्रह्म' ही है ॥१॥

पंचम अध्याय—(दूसरा ब्राह्मण)

('द' का अर्थ)

प्रजापति पिता थे, उनकी तीन प्रकार की सन्तान थी, देव-मनुष्य-असुर। उन तीनों ने अपने पिता के निकट आकर ब्रह्मचर्य-पूर्वक वास किया। निश्चित अवधि तक ब्रह्मचर्य-वास कर चुकने पर 'देवों' ने प्रजापति से कहा, अब उपदेश दीजिये। प्रजापति ने देवों को 'द'

ब्रह्म) से, पूर्णम्—पूर्ण (यह कार्य-जगत्), उदच्यते—ऊपर उठता, उभरता, उत्पन्न होता है, पूर्णस्य—पूर्ण (ब्रह्म) का, पूर्णम्—पूर्ण (जगत्), आदाय—लेकर (रचकर) भी, पूर्णम्—पूर्ण, एव—ही, अवशिष्यते—बच रहता है, विद्यमान रहता है (कोई कमी नहीं आती) ॥

ओम्—रक्षक परमात्मा, खम्—व्यापक-निर्लेप परमात्मा, ब्रह्म—सब से बड़ा, सर्वनियन्ता परमात्मा (ये तीन ब्रह्म के नाम हैं), खम्—'ख' पद-वाच्य, पुराणम्—सनातन (कालातीत) ब्रह्म है, वायुरम्—वायु से व्याप्त (वायु का आश्रय) आकाश ही, खम्—'ख'-पद से अभिप्रेत है, इति ह—ऐसे, स्म आह (आह स्म)—कहता (मानता) था, कौरव्यायणी-पुत्र—कौरव्याणी-पुत्र ऋषि, वेद—ज्ञान (ज्ञान-दाता, आदि गुरु) या चारों वेद ही, अयम्—यह 'ख'-पद से अभिप्रेत है, ब्राह्मणा—वेदाध्यायी ब्राह्मण, विदुः—जानते (मानते) हैं, (क्योंकि) वेद—जान लेता है, एनेन—इस (वेद) से, यद्—जो, वेदितव्यम्—ज्ञेय (जानने योग्य) है ॥१॥

त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥१॥

त्रयाः—तीनों, प्राजापत्याः—प्रजापति के पुत्रों ने, प्रजापतौ पितरि—(अपने) पिता प्रजापति के पास में, ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य, ऊषुः—निवास

अक्षर का उपदेश दिया, और पूछा, समझ गये ? देवों ने कहा, हां, समझ गये, आपने हमें 'दाम्यत' अर्थात् इन्द्रियों का 'दमन' करो—यह उपदेश दिया। प्रजापति ने कहा, हां, तुम समझ गये ॥१॥

अब प्रजापति के पास 'मनुष्य' पहुंचे। उन्होंने कहा, अब हमें उपदेश दीजिये। उन्हें भी उसने 'द' अक्षर का ही उपदेश दिया, और पूछा, समझ गये? मनुष्यों ने कहा, हां, समझ गये, आप ने हमें 'दत्त' अर्थात् 'दान दो'—यह उपदेश दिया है। प्रजापति ने कहा, हां, तुम समझ गये ॥२॥

अब प्रजापति के पास 'असुर' पहुंचे। उन्होंने कहा, अब हमें भी उपदेश दीजिये। उन्हें भी उसने 'द' अक्षर का उपदेश दिया, और पूछा, समझ गये ? असुरों ने कहा, हां, समझ गये, आपने हमें

किया; (ब्रह्मचर्यम् ऊषुः—ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया); देवाः—देव-गण; मनुष्याः—मनुष्य; असुराः—असुर; उषित्वा ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य धारण कर; देवाः—देवों ने; ऊचुः—कहा; ब्रवीतु—उपदेश करें; नः—हमको; भवान्—आप; इति—यह (कहा); तेभ्यः ह—और उनको; एतद् अक्षरम्—(केवल) यह अक्षर; उवाच—कहा; द इति—'द' यह; व्यज्ञासिष्ट—क्या तुमने जान (समझ) लिया; इति—यह (प्रजापति ने पूछा); व्यज्ञासिष्म—(हां) हमने समझ लिया; इति ह ऊचुः—ऐसे (देवों ने) कहा; दाम्यत—इन्द्रियों का दमन (नियंत्रण-संयम) करो; इति—ऐसे; नः—हमको; आत्थ—आपने कहा (उपदेश दिया) है; इति ओम्—ऐसे ही है, ठीक ही है; इति ह उवाच—ऐसे (प्रजापति ने) कहा; व्यज्ञासिष्ट इति—तुमने जान लिया है ॥१॥

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवा-
क्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति
होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥२॥

अथ ह—और इसके बाद; एनम्—इस प्रजापति को; मनुष्याः—मनुष्य; ऊचुः—बोले; ब्रवीतु— . . ह ऊचुः—अर्थ पूर्ववत्; दत्त—दान करो; इति . . . व्यज्ञासिष्ट इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवा-
क्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३इति व्यज्ञासिष्मेति
होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति
तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत
दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयं शिक्षेद्दमं दानं दयामिति ॥३॥

'दयध्वम्' अर्थात् 'दया करो'—यह उपदेश दिया है। प्रजापति ने कहा, हां, तुम समझ गये।

प्रजापति ने जो देव-मनुष्य-असुरों को उपदेश दिया, उसी का विद्युत् की कड़क में 'द-द-द' का उच्चारण करके मानो दैवी-वाणी अनुवाद कर रही है, मानो वह संसार में कड़क-कड़क कर कह रही है—'दाम्यत-दत्त-दयध्वम्'—'इन्द्रियों का दमन करो, संसार की वस्तुओं का संग्रह न करते हुए दान दो, और प्राणि-मात्र पर दया करो'। संसार की संपूर्ण शिक्षा इन तीन में समा जाती है, इसलिये इन तीन की ही शिक्षा दे—दम, दान, दया—'त्रयं शिक्षेत् दमं दानं दयामिति' ॥३॥

(देवों की कमज़ोरी इन्द्रियों की शिथिलता में है, मनुष्यों की कमज़ोरी दान न देने में है, असुरों की कमज़ोरी दया न करने में है—इसलिये अपने-अपने हृदय की बात तीनों 'द' अक्षर से समझ गये।)

पंचम अध्याय—(तीसरा ब्राह्मण)

(हृदय का अर्थ)

प्रजापति की तीन सन्तान—देव-मनुष्य-असुर—का अभी वर्णन किया। 'प्रजापति' क्या है? 'हृदय' ही प्रजापति है, अपने हृदय की ही

अथ ह एनम्—तत्पश्चात् इस (प्रजापति) को, असुरा—असुर, ऊचु—बोले, ब्रवीतु ऊचु—अर्थ पूर्ववत्, दयध्वम्—दया करो, इति न व्यज्ञासिष्ट इति—अर्थ पूर्ववत्, तद्—तो, एतद् एव—इस (उपदेश) को ही, एषा—यह, दैवी—दिव्य, वाग्—वाणी, अनुवदति—पुन (दूसरे रूप में) कह रही है, स्तनयित्नु—बादल बिजली की गरज (कड़क), द-द-द इति—द-द-द- इस रूप में, दाम्यत—इन्द्रियों का दमन (संयम) करो, दत्त—दानकरो, दयध्वम्—(सब पर) दया करो, इति—ऐसे, तद् एतद् त्रयम्—तो इन तीनों को (की), शिक्षेत्—शिक्षा (उपदेश) करे, सिखावे, दमम्—इन्द्रिय-संयम (ब्रह्मचर्य और सत्य) को, दानम्—दान (अस्तेय और अपरिग्रह) को, दयाम्—दया (अहिंसा) को, इति—ऐसे ॥३॥

एष प्रजापतिर्यद्हृदयमेतद्ब्रह्मैतत्सर्वं तदेतत्त्र्यक्षरं हृदयमिति
हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं
वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं
वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥१॥

देव-मनुष्य-असुर—ये तीन सन्तानें हैं। यह तीन अक्षरों का 'हृ-द-य' ही प्रजापति है, हृदय ही ब्रह्म है, हृदय ही यह सब-कुछ है। 'हृ'—यह एक अक्षर है, 'हृञ् हरणे' धातु से बना है, इसका अर्थ है, अभिहरण—लाना। जो इस रहस्य को समझ लेता है कि हृदय ही प्रजापति है, हृदय ही ब्रह्म है, हृदय ही सब-कुछ है, उसके सामने अपने और पराये लोग उपहार अभिहरण कर ला-लाकर रखते हैं। 'द'—यह दूसरा अक्षर है। 'दा दाने' धातु से बना है, इसका अर्थ है—देना। जो यह समझ लेता है कि हृदय ही प्रजापति है, ब्रह्म है, हृदय ही सब-कुछ है, उसे सब देते-ही-देते हैं। 'य'—यह तीसरा अक्षर है। 'इण् गतौ' धातु से बना है, इसका अर्थ है—जाना। जो हृदय-संबंधी रहस्य को जान जाता है वह स्वर्ग-लोक को जाता है ॥१॥

(निरुक्त में 'हृदय' की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि हृदय को हृदय इसलिये कहते हैं क्योंकि यह तीन काम करता है—'हृ' से हरति, 'द' से ददाति, 'य' से याति—यह लेता है, देता है, और चलता है। हृदय द्वारा लेना-देना रुधिर का होता है। हृदय शरीर के अशुद्ध रुधिर को लेकर, फिर उसे फेफड़ों द्वारा शुद्ध कर, शरीर को देता रहता है, और इसी उद्देश्य से सदा गति करता रहता है। इस दृष्टि से 'हृदय'-शब्द के अर्थ में ही 'रुधिर की गति' (Circulation of blood) का भाव आ जाता है। इसका पता

एषः—यह; प्रजापतिः—प्रजापति है; यद्—जो; हृदयम्—हृदय है; एतद् ब्रह्म—यह ही ब्रह्म (सर्वश्रेष्ठ) है; एतत् सर्वम्—यह ही सब कुछ है (सब शरीर इसके ही सहारे है); तद् एतद्—तो यह; त्र्यक्षरम् (त्रि+अक्षरम्)—तीन अक्षरों (से युक्त) वाला है; हृदयम् इति—'हृदय' यह (पद); हृ इति—'हृ' यह; एकम् अक्षरम्—एक अक्षर है; अभिहरन्ति—पहुंचाते हैं (लाकर भेंट करते हैं); अस्मै—इसको; स्वाः च—अपने बन्धु-बान्धव; अन्ये च—और अन्य (मनुष्य) भी; यः एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है; द इति—'द' यह; एकम् अक्षरम्—एक अक्षर है; ददति—देते हैं; अस्मै—इसको; स्वाः च अन्ये च—अपने और पराये; यः एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है; यम् इति—'यम्' यह; एकम् अक्षरम्—एक अक्षर है; एति—प्राप्त करता, पहुंच जाता है; स्वर्गम्—सुखमय, आनन्दमय; लोकम्—लोक (स्थिति) को; यः एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है ॥१॥

योरप में हार्वे (१५७८-१६५७) ने १७वीं शताब्दी में लगाया था, परन्तु उससे बहुत पहले भारत में इसका, जैसा इस शब्द की व्युत्पत्ति से स्पष्ट है, ज्ञान था।)

पंचम अध्याय—(चौथा ब्राह्मण)

(सत्य-ब्रह्म)

यह जो 'हृदय' है, उसी में आकर 'सत्य' बैठा हुआ है, यह 'सत्य' ही ब्रह्म' है, यह 'सत्य-ब्रह्म' महान् है, पूजनीय है, सब से पहले प्रकट होता है। जो प्राणी-मात्र के हृदय में निवास करने वाले 'सत्य-ब्रह्म' को जानता है, वह इन लोकों को जीत जाता है, जो इस महान्, पूजनीय, सब से प्रथम प्रकट होने वाले 'सत्य-ब्रह्म' को असत् मानता है, वह पराजित हो जाता है। सत्य ब्रह्म है, सत्य ही ब्रह्म है ॥१॥

पंचम अध्याय—(पांचवां ब्राह्मण)

(सत्य का अर्थ—भू-भुवः-स्व का अर्थ)

सृष्टि के प्रारंभ में 'आप्' ही थे, 'आप्', अर्थात् सर्वत्र व्याप्त

तद्वै तदेव तदास सत्यमेव स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद
सत्यं ब्रह्मेति जयतीमांल्लोकान् जित इन्न्वसावसद्य एवमेतं
महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्यं ह्येव ब्रह्म ॥१॥

तद् वै—तो निश्चय से, तद् एव—वह (हृदय में) ही, तद्—वह, आस—बैठा था, विद्यमान था, सत्यम्—सत्य (सत्य रूप ब्रह्म), एव—ही, स—वह, य ह—जो तो, एतम्—इस, महद्—बड़े, महनीय, महिमावाले, यक्षम्—पूजनीय, यजनीय, प्रथमजम्—सब से पूर्व प्रगट होनेवाले, जगद्रचना से भी पहिले वर्तमान, वेद—जानता है (कि), सत्यम् ब्रह्म इति—सत्य-ब्रह्म है इस रूप में, जयति—जीत लेता है, इमान्—इन, लोकान्—लोकों को, जित—पराजित, इत् नु—निश्चय ही, असौ—वह (मूर्ख), असत्—सत्ता से रहित, अविद्यमान है, य—जो, एवम्—इस प्रकार, एतम् महद् यक्षम् प्रथमजम् वेद सत्यम् ब्रह्म—इस महनीय पूजनीय, प्रथम विद्यमान सत्य-ब्रह्म को (असत्) जानता है, सत्यम् हि एव ब्रह्म—क्योंकि सत्य ही ब्रह्म है अथवा ब्रह्म ही सत्य है (सत्य-ब्रह्म एक ही है) ॥१॥

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म
प्रजापतिं प्रजापतिर्देवांस्ते देवाः सत्यमेवोपासते तदेतत्त्र्य-
क्षरं सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं

हो रही 'अव्यक्त-प्रकृति' (Eternal matter) ही थी। प्रकृति जब अव्यक्त से व्यक्त (From Indefinite to Definite) अवस्था में आने लगी, तब 'सत्य' (Eternal Laws) प्रकट हुआ। अव्यक्त में भी 'सत्य' रहता है, परन्तु अव्यक्त में अव्यक्त-रूप से (Latent form) रहता है, व्यक्त में व्यक्त-रूप से (Patent form) प्रकट होता है। 'सत्य' के प्रकट होने पर 'ब्रह्म' प्रकट हुआ। अर्थात्, जब तक 'सत्य'-रूप विश्व के नियम, अव्यक्त-जगत् को व्यक्त करने के लिये क्रिया-शील नहीं होते, तब तक ब्रह्म भी अव्यक्त, अप्रकट ही रहता है, सत्य-रूप नियम जब प्रकट होने लगते हैं, तब अप्रकट ब्रह्म मानो प्रकट हो जाता है। ब्रह्म के प्रकट होने पर 'प्रजापति' प्रकट हुआ—वही आधार-भूत 'सत्य-शक्ति' जो 'ब्रह्म-रूप' में प्रकट हुई थी, अब 'प्रजापति'-रूप में प्रकट हुई, अर्थात् विश्व का निर्माण तथा प्रजाओं का पालन-पोषण होने लगा। 'प्रजापति' के प्रकट होने पर 'देव' प्रकट हुए, अर्थात् जब विश्व का निर्माण प्रारंभ हुआ, तब दिव्य-गुणों को उत्पन्न किया गया, क्योंकि निर्माण की पूर्णता दिव्य-गुणों के प्रकट होने में ही है। इन दिव्य-गुणों का प्रारंभ 'सत्य' से ही है, अतः देव 'सत्य' की ही उपासना करते हैं—'सत्य' की ही शक्ति सब दिव्य-गुणों को दिव्य-गुण बनाती है। 'सत्य'—इसमें तीन अक्षर हैं। 'स' पहला अक्षर है, 'त्' दूसरा अक्षर है, 'य' तीसरा अक्षर है—इनमें से पहले अक्षर 'स' और तीसरे अक्षर 'य' में स्वर है, अतः ये दोनों स-स्वर हैं,

---

प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः सत्येन
परिगृहीतं, सत्यभूयमेव भवति नैवं विद्वांसमनृतं हिनस्ति ॥१॥

आपः—(जगत् का उपादान कारण) जल (व्यापक अव्यक्त प्रकृति); एव—ही; अग्रे—पहिले, आसुः—थे; ताः—उन; आपः—जलों ने; सत्यम्—सत्य (सनातन नियम-धर्म) को; असृजन्त—उत्पन्न किया; सत्यम्—सत्य ने; ब्रह्म—ब्रह्म को; ब्रह्म—ब्रह्म ने; प्रजापतिम्—प्रजापति को; प्रजापतिः—प्रजापति ने; देवान्—देवताओं को; ते—वे; देवाः—देव-गण; सत्यम् एव उपासते—सत्य की ही उपासना (सेवन) करते हैं; तद् एतत्—वह यह; त्रि+अक्षरम्—तीन अक्षर वाला; सत्यम्—'सत्यम्'; इति—यह (पद); स इति—'स' यह; एकम् अक्षरम्—एक अक्षर है; ति इति—'त्' यह (इकार उच्चारणार्थ है);

'सत्य' है, अविनाशी है, इनके मध्य में 'त्' है, इसमें स्वर नहीं है, अत यह स्वर-हीन है, 'अनृत' है, विनाशी है। यह अनृत 'त्' मानो दोनो ओर से 'स' और 'य' रूपी सत्य से जकडा हुआ है—अर्थात्, यह अनृतरूपा प्रकृति सत्य-रूप ब्रह्म तथा जीव से जकड़ी पडी है, और क्योंकि सत्य ने इसे दोनों तरफ से जकड रखा है, इसलिये यह अनृत होती हुई भी सत्य-रूप हो हो रही है। जो इस रहस्य को जान जाता है उसे 'अनृत' नहीं मार सकता ॥१॥

यह 'सत्य' ब्रह्माड के इस मडल में 'आदित्य-पुरुष' के रूप में और पिंड के मडल में दायीं आख में बैठे 'दक्षिणाक्षि-पुरुष' के रूप में विराज रहा है। 'आदित्य-पुरुष' तथा 'अक्षि-पुरुष' एक दूसरे में प्रतिष्ठित है। आदित्य अपनी रश्मियो से इसमें, और यह अपने प्राणों से उसमें प्रतिष्ठित है—दोनो में एक ही 'सत्य' की सत्ता है। ब्रह्म

एकम् अक्षरम्—एक अक्षर है, यम् इति—'यम्' यह, एकम् अक्षरम्—एक अक्षर है, प्रथम+उत्तमे—पहला ('स') और उत्तम (अन्तिम यम्'), अक्षरे—ये दोनो अक्षर, सत्यम्—सत्य रूप (सस्वर) हैं, मध्यत—मध्य मे होनेवाला ('त्' अक्षर), अनृतम्—असत्य (स्वर हीन) है, तद् एतद्—वह यह, अनृतम् असत्य, उभयत—दोनो ओर, सत्येन—सत्य से, परिगृहीतम्—घिरा हुआ, जकडा हुआ, सत्यभूयम्—अधिक सत्यवाला, सत्यबहुल, एव—ही, भवति—होता है, न—नही, एवम् विद्वांसम्—ऐसे जाननेवाले को, अनृतम्—असत्य (रूप पाप), हिनस्ति—मारता-क्षति पहुचा सकता है॥१॥

> तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो
> यश्चाय दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ रश्मि-
> भिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठित प्राणैरयममुष्मिन् स यदोत्क्रमिष्यन्भ-
> वति शुद्धमेवैतन्मण्डल पश्यति नैनमेते रश्मय प्रत्यायन्ति ॥२॥

तद् यत्—तो जो, तत् सत्यम्—वह सत्य है, स—वह, आदित्य—सूर्य है, य एष—जो यह, एतस्मिन्—इस, मण्डले—सूर्यमण्डल (बिम्ब) में, पुरुष—उसका अधिष्ठाता चेतन पुरुष (परम आत्मा) है, य च अयम्—और जो यह, दक्षिणे—दाहिने, अक्षन्—नेत्र मे, पुरुष—शरीर का अधिष्ठाता चेतन पुरुष (जीव-आत्मा) है, तौ—वे, एतौ—ये दोनो (पुरुष), अन्य अन्यस्मिन्—एक-दूसरे मे (परस्पर), प्रतिष्ठितौ—प्रतिष्ठा (आश्रय) वाले हैं, रश्मिभि—किरणो से, एष—यह (आदित्य-गत), अस्मिन्—इस

के सत्य के रूप में दर्शन करने वाला जब शरीर से उत्क्रमण करने लगता है, तब वह ब्रह्मांड के महामंडल को अपने शुद्ध रूप में देख रहा होता है—फिर ये सूर्य की किरणें उसके लिये लौट कर नहीं आतीं, वह मुक्त हो जाता है ॥२॥

'ब्रह्मांड' के मंडल में जो विराट् 'आदित्य-पुरुष' है, उसका 'भूः'—यह मानो सिर है; सिर एक होता है, और 'भूः' भी एक ही अक्षर है। उस विराट्-पुरुष के 'भुवः' मानो भुजाएं हैं; भुजा दो होती हैं, और 'भुवः' में भी दो ही अक्षर हैं। उसके 'स्वः' मानो प्रतिष्ठा हैं, पैर हैं; पैर दो होते हैं, और 'सुवः' में भी दो ही अक्षर हैं। जैसे पुरुष की उपनिषद् होती है, उसका ज्ञान होता है, वैसे सूर्य-रूप में प्रकट हो रहे विराट्-पुरुष की उपनिषद् 'अहः' है, दिन का प्रकाश है। जो ब्रह्मांड के विराट् तथा सत्य-रूप पुरुष को 'भूर्भुवः स्वः—इन तीन व्याहृतियों में कल्पना कर उसकी उपासना करता है वह पाप को मार भगाता है, और पाप भी उसे छोड़ भागता है ॥३॥

(अक्षि-गत पुरुष में); प्रतिष्ठितः—प्रतिष्ठित है; प्राणैः—प्राणों (श्वास-प्रश्वास या इन्द्रियों) से; अयम्—यह (अक्षि-गत); अमुष्मिन्—उस (आदित्य-गत) में (प्रतिष्ठित है); सः—वह (अक्षि-गत पुरुष); यदा—जब; उत्क्रमिष्यन्—(आंख या शरीर से) निकलनेवाला; भवति—होता है (तो); शुद्धम्—निर्मल (दोष-रहित); एव—ही; एतद्—इस; मण्डलम्—सूर्य (बिम्ब) को; पश्यति—देखता है; न—नहीं; एनम्—इस (अक्षि-गत पुरुष) को; एते—ये; रश्मयः—किरणें; प्रत्यायन्ति—लौट कर (पुनः) आती हैं ॥२॥

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकं शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहरिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥३॥

यः एषः—जो यह; एतस्मिन्—इस; मण्डले—सूर्य-बिम्ब (जगन्मात्र) में; पुरुषः—परम-आत्मा है; तस्य—उसका; 'भूः' इति—'भूः' यह (व्याहृति); शिरः—सिर है; एकम् शिरः—सिर एक होता है; एकम् एतद्—एक ही यह; अक्षरम्—अक्षर 'भूः' है; भुवः इति—'भुवः' यह (व्याहृति); बाहू—बाहु (भुजाएं) हैं; द्वौ बाहू—भुजाएं दो होती हैं; द्वे एते अक्षरे—दो ये अक्षर ('भुवः') हैं; स्वः इति—'स्वः' यह (व्याहृति); प्रतिष्ठा—आधार (पाद) हैं; द्वे—दो; प्रतिष्ठे—आधार (पांव) होते हैं; द्वे एते—दो ये; अक्षरे—अक्षर

'पिंड' के मंडल में जो 'दक्षिणाक्षि-पुरुष' है, उसका 'भूः'—यह मानो सिर है; सिर एक होता है, और 'भूः' भी एक ही अक्षर है। पिंड-पुरुष के 'भुवः' मानो भुजाएं हैं; भुजा दो होती हैं, और 'भुवः' में भी दो ही अक्षर हैं। उसके 'स्वः' मानो प्रतिष्ठा है, पैर हैं; पैर दो होते हैं, और 'सुवः' में भी दो ही अक्षर हैं। जैसे पुरुष की उपनिषद् होती है, उसका ज्ञान होता है, वैसे 'दक्षिणाक्षि' में प्रकट हो रहे पिंड के पुरुष की उपनिषद् 'अहम्' है, 'मैं' के दीपक से ही वह अपना प्रकाश करता है। जो पिंड के सत्य-रूप पुरुष की 'भूर्भुवः स्वः'—इन तीन व्याहृतियों में कल्पना कर उसकी उपासना करता है वह पाप को मार भगाता है, और पाप भी उसे छोड़ भागता है ॥४॥

पंचम अध्याय—(छठा ब्राह्मण)

(विराट् मनोमय पुरुष का निवास-स्थान हृदय है)

सत्य की आभा के लिये वह विराट्-पुरुष मनोमय है। वही हृदय में है। हृदय छोटा है, मानो व्रीहि या यव के समान क्षुद्र है,

('सुव') हैं; तस्य—उस (पुरुष परमात्मा) का, उपनिषद्—रहस्य (गुप्त) नाम (वाचक); अहः—(अहन्तव्य एव अहेय) प्रकाश या दिन, इति—यह है; हन्ति—(आये को) नष्ट करता है; पाप्मानम्—पाप को, जहाति च—और (न आये को) छोड़ देता है (उसमें लिप्त नहीं होता है), यः एवम् वेद—जो इस प्रकार ('अहं'-ब्रह्म को) जानता है ॥३॥

योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकं शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहमिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥४॥

यः अयम्—जो यह, दक्षिणे अक्षन्—दाहिनी आंख (ज्ञान-साधन शरीर) में, पुरुषः—अधिष्ठाता (जीव-आत्मा) है; तस्य—उस (पुरुष-जीवात्मा का); भूः इति उपनिषद्—अर्थ पूर्ववत्, अहम्—'मैं' (अहंकार रूप); इति—यह (रहस्य-नाम) है; हन्ति . .वेद—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच ॥१॥

मनोमयः—मनन-चिन्तन स्वरूप (स्वभाव से मन्ता); अयम्—यह; पुरुषः—जीवात्मा (शरीर) में, और आदित्य (अदिति-प्रकृति के विकार ब्रह्माण्ड)

परन्तु इस क्षुद्र हृदय में रहता हुआ भी वह विराट् मनोमय-पुरुष सब का स्वामी है, सब का अधिपति है, यह जो-कुछ है उस सब पर वह शासन कर रहा है ॥१॥

पंचम अध्याय—(सातवां ब्राह्मण)

(विद्युत्-ब्रह्म का अर्थ)

कई कहते हैं 'विद्युत्' ब्रह्म है। 'विद्युत्' विदारण करती है, चीर डालती है, इसलिये 'विद्युत्' कहलाती है। जो ब्रह्म को 'विद्युत्' कहता हुआ इस रूप को जानता है, विद्युत्-रूप ब्रह्म उसके पापों का विदारण कर देता है, उन्हें चीर-फाड़ डालता है, इन अर्थों में 'विद्युत्' को ब्रह्म मानना ठीक ही है ॥१॥

पंचम अध्याय—(आठवां ब्राह्मण)

(वाक्-ब्रह्म)

वाणी को धेनु मानकर उसकी उपासना करे। वेद-वाणी-रूपी धेनु के चार स्तन हैं। 'स्वाहा'-'वषट्'-'हन्त'-'स्वधा'। मंत्रों के साथ

में परमात्मा; भाः—(स्वयम्) ज्योतिर्मय एवं (शरीर एवं जगत् के) प्रकाशक; सत्यः—सदा सनातन; तस्मिन्—उस; अन्तः हृदये—हृदय के अन्दर; यथा—जैसे; व्रीहिः वा—धान; यवः वा—या जौ के दाने (के समान सूक्ष्म); सः एषः—वह यह (पुरुष); सर्वस्य—सब (शरीर या जगत्) का; ईशानः—स्वामी, प्रभु; सर्वस्य अधिपतिः—सब का रक्षक-पालक; सर्वम् इदम्—इस सब (शरीर एवं जगत्) का; प्रशास्ति—शासन (नियमन) करता है; यद् इदम् किंच—जो कुछ भी यह है ॥१॥

विद्युद्ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद्विद्युद्विद्यत्येनं पाप्मनो य
एवं वेद विद्युद्ब्रह्मेति विद्युद्ध्येव ब्रह्म ॥१॥

विद्युत्—विदारण करनेवाला (संहर्ता); ब्रह्म—ब्रह्म है; इति—ऐसे; आहुः—कई कहते हैं; विदानात्—खण्डन (नाश) करने के कारण; विद्युत्—(वह ब्रह्म) विद्युत् (कहलाता है); वि+द्यति—अलग करता है (बचाता है); एनम्—इस (ज्ञानी) को; पाप्मनः—पाप से; यः एवम्—जो इस प्रकार; वेद—जानता है; विद्युद् ब्रह्म इति—कि ब्रह्म विद्युत् (विदारयिता-संहर्त्ता) है; विद्युत् हि एव ब्रह्म—क्योंकि 'विद्युत्' स्वरुप ही ब्रह्म है ॥१॥

वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो
वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा

'स्वाहा' तथा 'वषट्' उच्चारण करके देवों को हवि दी जाती है—मानो देवगण 'स्वाहाकार' और 'वषट्कार'-रूपी वाणी के स्तनों का दूध पीकर जीते हैं। मनुष्यों को 'हन्त' और पितरों को 'स्वधा' से हवि दी जाती है, मानो ये वाणी के इन स्तनों से दुग्ध-पान करते हैं। इस 'वाणी'-रूपी धेनु का वृषभ—इसका बैल की तरह स्वामी 'प्राण' है, इनका बछड़ा 'मन' है। 'वाणी', 'प्राण', 'मन' मानो 'गाय', 'बैल' और 'बछड़ा' हैं—वाणी का स्वामी प्राण है, वाणी का ज्ञान-रूपी दूध मन-रूपी बछड़े की प्रेरणा से ही थनों में उतरता है ॥१॥

पंचम अध्याय—(नौवां ब्राह्मण)

(वैश्वानर क्या है ?)

इसी पुरुष के भीतर जो अग्नि है, जिससे खाया हुआ अन्न पचता है, यह 'वैश्वानर-अग्नि' है, कानों को बन्द करने से जो भीतर का

उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च हन्तकारं मनुष्याः
स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः ॥१॥

वाचम्—वाणी को, धेनुम्—गौ रूप में, उपासीत—उपासना करे, समझे, तस्याः—उस (वाणी रूप गौ) के, चत्वारः—चार स्तनाः—स्तन हैं, स्वाहाकारः वषट्कारः हन्तकारः स्वधाकारः—स्वाहा, वषट् हन्त और स्वधा (नामवाले), तस्याः—उस (वाग् धेनु) के, द्वौ स्तनौ—दो स्तनों को (पर), देवाः—देव (विद्वान्), उपजीवन्ति—जीवन धारण करते हैं, स्वाहाकारम् च वषट्कारम् च—स्वाहा और वषट् (नामी स्तनों पर), हन्तकारम्—हन्त (संज्ञक स्तन) पर, मनुष्याः—मनुष्य, स्वधाकारम्—स्वधा (संज्ञक स्तन) पर, पितरः—पितृ-गण (जीवन धारण करते हैं), तस्याः—उस (वाग् धेनु) का, प्राणः—प्राण (जीवन शक्ति, श्वास प्रश्वास) ही, ऋषभः—बैल (उत्पादयिता) है, मनः—मन, वत्सः—बछड़ा है ॥१॥

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते
यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय
शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषं शृणोति ॥१॥

अयम्—यह, अग्निः—अग्नि, वैश्वानरः—'वैश्वानर' कहलाता है, यः अयम्—जो यह, अन्तः पुरुषे—(जीवित) देह के अन्दर है, येन—जिस (अग्नि) से, इदम् अन्नम्—यह अन्न, पच्यते—पचता है, यद् इदम्—जो यह, अद्यते—खाया जाता है (जिसे खाते हैं), तस्य—उस ('वैश्वानर'-अग्नि) का,

घोष सुनाई देता है, वह इस वैश्वानर-अग्नि का घोष है; जब यह मरने के आस-पास होता है, तब यह घोष नहीं सुन पड़ता ॥१॥

पंचम अध्याय---(दसवां ब्राह्मण)

(मरणानन्तर ऊर्ध्व-गमन)

जब पुरुष इस लोक से मरकर प्रस्थान करता है, तब पहले-पहल वह 'वायु-लोक' में जाता है। 'वायु-लोक' से ऊपर निकलने का एक सूक्ष्म-मार्ग है---रथ-चक्र के सूक्ष्म छिद्र के समान। यह पुरुष 'वायु-लोक' को छोड़कर इस छिद्र से ऊपर चढ़ जाता है, और 'आदित्य-लोक' को पहुंच जाता है। 'आदित्य-लोक' से ऊपर निकलने का एक सूक्ष्म-मार्ग है---लम्बर बाजे के सूक्ष्म-छिद्र के समान। यह पुरुष 'आदित्य-लोक' को छोड़कर इस छिद्र से ऊपर चढ़ जाता है, और 'चन्द्र-लोक' को पहुंच जाता है। 'चन्द्र-लोक' से ऊपर निकलने का

एषः---यह; घोषः---नाद, शब्द; भवति---हो रहा है; यम्---जिस (घोष) को; एतत् + कर्णौ---इन कानों को; अपिधाय---ढक कर, बन्द करके; शृणोति---(मनुष्य) सुनता है; सः---वह (जीवात्मा-पुरुष); यदा---जब; उत्क्रमिष्यन् भवति---शरीर छोड़नेवाला होता है; न---नहीं; एनम् घोषम्---इस नाद को; शृणोति---सुन पाता है (क्योंकि वैश्वानर अग्नि बुझ रही होती है) ॥१॥

> यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः ॥१॥

यदा वै---जब; पुरुषः---जीव-आत्मा; अस्मात् लोकात्---इस लोक (देह) से; प्रैति---छोड़कर चला जाता है; सः---वह; वायुम्---वायु को; आगच्छति---प्राप्त होता है; तस्मै---उसके लिये; सः---वह (वायु); तत्र---वहां; विजिहीते---(मार्ग) छोड़ देता है (इतना सूक्ष्म); यथा---जैसे; रथचक्रस्य---रथ के पहिये का; खम्---छेद (आकाश, अवकाश); तेन---उस (छिद्र) से; ऊर्ध्वः---ऊपर की ओर; आक्रमते---चढ़ता---बढ़ता है; सः---वह; आदित्यम्---सूर्य-लोक को; आगच्छति---आता-पहुंचता है; तस्मै---उस (जीवात्मा) के लिए; सः---वह (आदित्य); तत्र---वहां; विजिहीते---(मार्ग) छोड़ देता है; यथा---

एक सूक्ष्म-मार्ग है—दुन्दुभि बाजे के सूक्ष्म-छिद्र के समान। यह पुरुष 'चन्द्र-लोक' को छोडकर इस छिद्र से ऊपर चढ जाता है और शोक-रहित, हिम-रहित लोक में पहुच जाता है जहा यह अनन्त वर्षों तक रहता है ॥१॥

(ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषत्कार मरने के बाद वायु-की-सी धुधली-सी अवस्था, सूर्य-की-सी उग्र तेज की अवस्था, चन्द्र-की-सी शान्त-तेज की अवस्था, और पूर्ण आनन्द की अवस्था—जीव की इस प्रकार की अवस्थाए मानते थे, या कई लोग कहते हैं कि वे सचमुच के ऐसे लोक मानते थे जिनमें से आत्मा गुज़रता है। ऐसा ही वर्णन मुडक १-२, छान्दोग्य, ४-१५, ५-१०-५, ८-६-५ में भी पाया जाता है।)

पंचम अध्याय—(ग्यारहवां ब्राह्मण)
(तप का स्वरूप)

व्याधि-ग्रस्त होकर घबराने के स्थान में यह समझना कि यह व्याधि भी एक तप है—परम-तप है। जो इस रहस्य को समझता है वह परम-लोक को जीत लेता है। मर जाने के बाद मृत-पुरुष के बन्धु-

जैसे, लम्बरस्य—वाद्य विशेष का, खम्—छिद्र (अत्यन्त सूक्ष्म), तेन—उस (छिद्र) से, स ऊर्ध्वं आक्रमते—वह और अधिक ऊपर (आगे) चढता—बढता है, स—वह, चन्द्रमसम्—चन्द्रमा को, आगच्छति—पहुच जाता है, तस्मै स तत्र विजिहीते—उसके लिए चन्द्रलोक मार्ग छोड देता है, यथा—जैसा, दुन्दुभे—दुन्दुभि बाजे का, खम्—छिद्र (आकाश, अवकाश), तेन स ऊर्ध्व आक्रमते—उस (मार्ग) से वह (जीवात्मा) ऊपर (आगे) चढता है, स—वह (जीवात्मा), लोकम्—(उस) लोक (स्थिति-अवस्था) को, आगच्छति—पहुच जाता है, अशोकम्—(जो) शोक (दुःख-क्लेश) से रहित है अहिमम्—जडता रहित (परम चेतन) है, तस्मिन्—उस (लोक) मे, वसति—निवास करता है, शाश्वती—चिरकाल, अनन्त, समा—वर्षों तक ॥१॥

एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते परमं हैव लोकं जयति
य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यं हरन्ति परमं हैव
लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्ना-
वभ्यादधति परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद॥१॥

बान्धव उसे जलाने के लिये जंगल में ले जाते हैं—यह बन्धु-बान्धवों का परम-तप है। जो इस रहस्य को समझता है वह परम-लोक को जीत लेता है। मरने के बाद बन्धु-बान्धव मृत-देह को अग्नि में रख देते हैं—यह भी परम-तप है। जो इस रहस्य को जानता है वह परम-लोक को जीत लेता है। (इससे स्पष्ट है कि मृत-देह को जलाने की प्रथा अति प्राचीन है।) ॥१॥

पंचम अध्याय—(बारहवां ब्राह्मण)

(अन्न-ब्रह्म—प्राण-ब्रह्म)

कई लोग कहते हैं कि 'अन्न' ब्रह्म है, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि प्राण के बिना अन्न सड़ जाता है; कई लोग कहते हैं कि 'प्राण' ब्रह्म है, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि बिना अन्न के प्राण सूख जाता है। सचाई तो यह है कि 'अन्न' तथा 'प्राण'—ये दोनों एक होकर अपना ध्येय पूरा करते हैं। कहते हैं कि 'अन्न' (Materialism) तथा 'प्राण' (Spiritualism) को मिलकर काम करना चाहिये—इस तत्त्व को समझ चुकने पर प्रातृद नामक आचार्य ने अपने पिता से कहा, 'अन्न' तथा 'प्राण' के, अर्थात् आधिभौतिक-वाद तथा अध्यात्म-वाद के समन्वय करने वाले ब्रह्म-ज्ञानी के लिये मैं क्या कर सकता हूं? उसका

एतद् वै—यह तो; **परमम्**—परम; **तपः**—तप (दुःख-द्वन्द्वों का सहन करना) है; **यत्**—जो; **व्याहितः**—व्याधि-ग्रस्त (होकर); **तप्यते**—तप करता है; **परमम्**—परम; **ह एव**—निश्चय ही; **लोकम्**—लोक को; **जयति**—जीतता, प्राप्त करता है; **यः एवम्**—जो इस प्रकार (व्याधि-तप को); **वेद**—जानता है; **एतद् वै परमम् तपः**—यह भी परम तप (दुःख-शोक को सहना) है; **यम्**—जिस; **प्रेतम्**—मृत पुरुष के शव को; **अरण्यम्**—जंगल में (श्मशान में); **हरन्ति**—ले जाते हैं; **परमम्...वेद**—अर्थ पूर्ववत्; **एतद् वै परमम् तपः**—यह भी परम तप है; **यम् प्रेतम्**—जिस मृत-शरीर (शव) को; **अग्नौ**—अग्नि में; **अभ्यादधति**—रखते हैं (जलाते हैं); **परमम्...वेद**—अर्थ पूर्ववत् ॥१॥

अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृते प्राणात्प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नादेते ह त्वेव देवते एकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतस्तद्ध स्माह प्रातृदः पितरं किँस्विदेवैवं विदुषे साधु कुर्यां किमेवास्मा असाधु

भला भी नहीं कर सकता, बुरा भी नहीं कर सकता—वह तो इतना ऊपर उठा हुआ है कि मैं उसका न कुछ बना सकता हूं, न बिगाड सकता हू। यह सुन कर पिता ने हाथ हिलाते हुए कहा, प्रातृद! नहीं, कौन है जो ससार में इन दोनो की एकता करके परम लक्ष्य की तरफ पहुच जाय—'अन्न' वाला अन्न में डूबा रहता है, 'प्राण' वाला प्राण में डूबा रहता है। प्रातृद ने अपने पिता से कहा, नहीं पिताजी, ससार में 'वीर' पुरुष है, जो इन दोनो का समन्वय कर देते हैं। 'वीर' के 'वी' का अभिप्राय 'अन्न' है—अन्न में ही तो सब प्राणी 'विष्ट' है, 'वीर' के 'र' का अभिप्राय 'प्राण' है—प्राण में ही तो

कुर्यामिति स ह स्माह पाणिना मा प्रातृद कस्त्वेनयोरेकधा-भूय भूत्वा परमता गच्छतीति तस्मा उ हैतदुवाच वीत्यन्न वै व्यन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि रमिति प्राणो वै र प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते सर्वाणि ह व. अस्मिन्भूतानि विशन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एव वेद ॥१॥

अन्नम्—अन्न, ब्रह्म—ब्रह्म (श्रेष्ठ) है, इति—ऐसे, एके—कई, आहु—कहते हैं, तत्—वह (कथन), न—नही, तथा—वैसे ही (ठीक) है, पूयति—सड जाता है, वै—निश्चय, अन्नम्—अन्न, ऋते—विना, प्राणात्—प्राण (वायु) के, प्राण ब्रह्म—प्राण ही ब्रह्म है, इति एके आहु—ऐसा कई कहते हैं, तत न तथा—वह कथन वैसे ही (ठीक) नही है, शुष्यति—सूख जाता है, वै—ही, प्राण—प्राण, ऋते अन्नात्—अन्न के विना, एते—ये दोनो, ह तु एव—तो ही, देवते—देवता, एकधाभूयम्—एकरूप वाले (समन्वित), भूत्वा—होकर, परमताम्—श्रेष्ठता (ब्रह्मता) को, गच्छत—प्राप्त करते हैं, तद् ह—तो कभी पहले, स्म आह (आह स्म)—कहा था, प्रातृद—प्रातृद (नामक युवक) ने, पितरम्—(अपने) पिता को, किंस्विद् एव—क्या तो, एवम्—इस प्रकार (एकरूपता का), विदुषे—ज्ञाता के लिए, साधु—अच्छा, भलाई, कुर्याम्—करू, कर सकता हू, किम् एव—क्या ही, अस्मै—इस (ज्ञानी) के लिए, असाधु—बुरा, कुर्याम—करू इति—यह (कहा था), स—उस (पिता) ने, ह स्म आह—कहा था, पाणिना—हाथ (के सकेत) द्वारा, मा—मत, प्रातृद—हे पुत्र प्रातृद!, क तु—कौन तो, एनयो—इन दोनो को, एकधाभूयम् भूत्वा—एकरूप होकर, परमताम् गच्छति इति—श्रेष्ठता को पाता है, तस्मै उ ह—और उसको, एतद् उवाच—यह कहा, वीति—(पहले) 'वी' यह शरीर देकर कहा अन्नम् वै—अन्न (का नाम),

सब प्राणी 'रमण' करते हैं। जो इस रहस्य को जानता है, उसमें सब प्राणी प्रविष्ट हो जाते हैं, सब उसमें रमण करते हैं—वह सब का आश्रय-स्थान बन जाता है ॥१॥

पंचम अध्याय—(तेरहवां ब्राह्मण)

(उक्थ, यजु, साम, क्षत्र का अर्थ)

कर्म-कांड में 'उक्थ'-'यजु'-'साम'-'क्षत्र' आदि शब्द आते हैं। उन सब को ऋषि अध्यात्म में घटाते हुए कहते हैं कि इनकी उपासना तभी सार्थक है जब उपासक 'प्राण' की उपासना करे। 'प्राण' ही 'उक्थ' है, प्राण ही 'यजु'-'साम'-'क्षत्र' है, अतः इनकी नहीं, 'प्राण' की उपासना करे।

पहले 'उक्थ' के विषय में कहते हैं। 'प्राण' ही 'उक्थ' है क्योंकि प्राण ही सब को उठाता है। प्राण के सहारे बीज भूमि फाड़ कर उठ आता है, प्राण के वेग से ही जन्तु गर्भ से बाहर आता है। जो प्राण के इस रहस्य को जानता है उसका उक्थ-वेत्ता वीर-पुत्र होता है, और वह स्वयं उक्थ की सायुज्यता और सलोकता को जीत लेता है। 'सायुज्य' का अर्थ है, साथ जुड़ जाना; 'सलोक' का अर्थ है,

---

वी—'वी' है; **अन्ने हि**—क्योंकि अन्न में (पर) ही; **इमानि**—ये; **सर्वाणि**—सारे; **भूतानि**—प्राणी; **विष्टानि**—आश्रित हैं; **रम् इति**—फिर 'रम्' यह बताया (दोनों मिलकर 'वीरम्' यह हुआ); **प्राणः वै**—प्राण (का नाम), **रम्**—'रम्' है; **प्राणे हि**—क्योंकि प्राण में ही (प्राण के होने पर ही); **इमानि सर्वाणि भूतानि**—ये सारे प्राणी; **रमन्ते**—आनन्दित होते हैं; **सर्वाणि ह वै**—सारे ही; **अस्मिन्**—इस (ज्ञाता) में; **भूतानि**—प्राणी; **विशन्ति**—प्रवेश पाते हैं (आश्रय पाते हैं); **सर्वाणि भूतानि**—सारे प्राणी; **रमन्ते**—रमण करते हैं (आनन्द पाते हैं); **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥१॥

उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदं सर्वमुत्थापयत्युद्धास्मादुक्थ-
विद्वीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥१॥

उक्थम्—'उक्थ' (का विवरण यह है); **प्राणः वै**—प्राण ही; **उक्थम्**—'उक्थ' (संज्ञक) है; **प्राणः हि**—क्योंकि प्राण ही; **इदम् सर्वम्**—इस सब को; **उत्थापयति**—ऊपर उठाता है, उन्नत करता है; **ह**—और; **अस्मात्**—इससे; **उक्थविद्**—उक्थ का ज्ञाता; **वीरः**—वीर पुरुष; **उद् तिष्ठति**—आगे (वंश-

उसी धरातल पर आ जाना। उक्थ के साथ 'सायुज्य' का अर्थ है उसके साथ एक हो जाना; उक्थ के साथ 'सलोक' का अर्थ है उसी के लोक में, धरातल में, स्तर में जा पहुंचना ॥१॥

अब 'यजु' के विषय में कहते हैं। 'प्राण' ही 'यजु' है, क्योंकि प्राण में ही सब जीव-जन्तु 'युक्त' हैं, जुड़े हुए हैं। जो प्राण के इस रहस्य को जानता है, सब प्राण-धारी मानो उसकी श्रेष्ठता को बढ़ाने के लिये उसके साथ जुड़ जाते हैं, और वह स्वयं यजु की सायुज्यता और सलोकता को जीत लेता है ॥२॥

अब 'साम' के विषय में कहते हैं। 'प्राण' ही 'साम' है, क्योंकि प्राण में सब जीव-जन्तु सिमटे हुए हैं। जो प्राण के रहस्य को जानता है, सब प्राण-धारी मानो उसकी श्रेष्ठता बढ़ाने के लिये आ सिमिटते हैं और वह स्वयं साम की सायुज्यता और सलोकता को जीत लेता है ॥३॥

वृद्धि के लिए) उठता (उत्पन्न होता) है, उक्थस्य—प्राण-रूप उक्थ की; सायुज्यम्—सहयोगिता, निकट योग, सलोकताम्—समान लोक (स्थिति-स्थान) की प्राप्ति को; जयति—जीतता, पहुंच जाता है; यः एवम् वेद—जो इस प्रकार जानता है ॥१॥

यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै
सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय यजुषः सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥२॥

यजुः—'यजु.' (का विवरण यह है); प्राणः वै यजुः—प्राण (का नाम) ही 'यजुः' है; प्राणे हि—क्योंकि प्राण मे ही; इमानि सर्वाणि भूतानि—ये सारे भूत; युज्यन्ते—युक्त होते (जुड़ते-सबद्ध रहते) हैं; युज्यन्ते—सबद्ध होते हैं; ह—निश्चय ही, अस्मै—इस (ज्ञाता) के प्रति, सर्वाणि भूतानि—सब भूत; श्रैष्ठ्याय—श्रेष्ठता (सम्पादन करने) के लिए; यजुषः—(प्राण-रूप) यजु की; सायुज्यं...वेद—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

साम प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि
सम्यञ्चि सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय
कल्पन्ते साम्नः सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥३॥

साम—'साम' (का निरूपण यह है); प्राणः वै साम—प्राण (का नाम) ही 'साम' है; प्राणे हि—क्योंकि प्राण मे ही, इमानि सर्वाणि भूतानि—ये सब भूत; सम्यञ्चि—सगत हुए-हुए हैं, सम्यञ्चि—सगत हुए (होकर); ह—

अब 'क्षत्र' के विषय में कहते हैं। 'प्राण' ही 'क्षत्र' है, क्योंकि प्राण ही शरीर को क्षति से--नष्ट होने से--बचाता है। जो प्राण के इस रहस्य को जानता है, वह उस 'क्षत्र', अर्थात् बल को प्राप्त करता है, जो 'अ+त्र' है, अर्थात् जो किसी दूसरे से त्राण नहीं चाहता, और वह स्वयं क्षत्र की सायुज्यता और सलोकता को जीत लेता है ॥४॥

पंचम अध्याय--(चौदहवां ब्राह्मण)

(गायत्री का अर्थ)

'भूमि-अन्तरिक्ष-दिऔ'--ये आठ अक्षर हैं। गायत्री के 'तत् स वि तु र्व रे णि यम्'--इस एक पद में भी आठ ही अक्षर हैं। इसलिये गायत्री के प्रथम पद के अक्षर मानो भूमि-अन्तरिक्ष-द्यौ--ये तीनों लोक हैं। इस पद का उच्चारण करता हुआ तीनों लोकों का ध्यान करे। जो गायत्री के प्रथम पद को इस प्रकार जानता है वह तीनों लोकों में जितना प्राप्तव्य है उतना पा जाता है ॥१॥

निश्चय ही; **अस्मै**--इसके लिए; **सर्वाणि भूतानि**--सब प्राणी; **श्रैष्ठ्याय**--श्रेष्ठता (सम्पादन के) लिए; **कल्पन्ते**--समर्थ होते हैं; **साम्नः**--प्राण-रूप साम की; **सायुज्यम्...वेद**--अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः प्रक्षत्रमत्रमाप्नोति क्षत्रस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥४॥

क्षत्रम्--'क्षत्र' (का विवरण यह है); **प्राणः वै क्षत्रम्**--प्राण (का नाम) 'क्षत्र' है; **प्राणः हि वै क्षत्रम्**--प्राण ही क्षत्र (बल) है (क्योंकि); **त्रायते**--रक्षा करता है; **ह एनम्**--निश्चय ही इस (शरीर) को; **प्राणः**--प्राण; **क्षणितोः**--क्षत (चोट, घाव) से, क्षीणता (कमजोरी) से; **प्र+क्षत्रम्**--प्रकर्ष (उत्कृष्ट) बल को; **अ+त्रम्**--रक्षा के अभाव को (रक्षा की आवश्यकता नहीं रहती, सर्वदा सुरक्षा को); **आप्नोति**--प्राप्त कर लेता है; **क्षत्रस्य**--प्राण-रूप क्षत्र की; **सायुज्यम्...वेद**--अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥१॥

भूमिः--भूमि (पृथिवी-लोक); **अन्तरिक्षम्**--अन्तरिक्ष-लोक; **द्यौः**--द्यु-लोक; **इति**--इन (लोकों के नाम) में; **अष्टौ**--आठ; **अक्षराणि**--अक्षर हैं; **अष्टाक्षरम्**--आठ अक्षर वाला; **ह वै**--ही तो; **एकम्**--एक; **गायत्र्यै**--गायत्री का; **पदम्**--(प्रथम चरण) है; **एतद् उ ह एव**--यह ही तो; **अस्याः**--

'ऋचः यजूंषि सामानि'—ये आठ अक्षर हैं। गायत्री के 'भ र्गो दे व स्य धी म हि'—इस एक पद में भी आठ ही अक्षर हैं। इसलिये गायत्री के द्वितीय पद के अक्षर मानो ऋक्-यजु-साम—ये त्रयी-विद्या है। इस पद का उच्चारण करता हुआ वेद की त्रयी-विद्या का ध्यान करे। जो गायत्री के द्वितीय पद को इस प्रकार जानता है वह त्रयी-विद्या में जितना प्राप्तव्य है उतना पा जाता है ॥२॥

'प्राणः अपानः विआनः'—ये आठ अक्षर हैं। गायत्री के 'धि यो यो नः प्र चो द या त्'—इस एक पद में भी आठ ही अक्षर हैं। इसलिये गायत्री के तृतीय पद के अक्षर मानो प्राण-अपान-व्यान—ये तीनों प्राण हैं। इस पद का उच्चारण करता हुआ तीनों प्राणों का ध्यान करे। जो गायत्री के तृतीय पद को इस प्रकार जानता है वह जितना प्राणि-समुदाय में प्राप्तव्य है उतना पा जाता है।

गायत्री के तीन पदों की व्याख्या हो गई। गायत्री का एक 'तुरीय', 'दर्शत', 'परोरजा' पद भी है। 'तुरीय' का अर्थ है, 'चतुर्थ-पद'; 'दर्शत' का अर्थ है, 'जो दीखता-सा' है; 'परोरजा' का अर्थ है, 'प्रकृति से भी जो परे' है (गायत्री का यह प्रकृति से भी परे, No

इस (गायत्री) का, एतत् स—यह वह है, यावद्—जितना, एषु—इन, त्रिषु लोकेषु—तीनों लोकों में, तावत् ह—उतने भर को, जयति—जीत लेता—वश में कर लेता है, यः—जो, अस्या—इस (गायत्री) के, एतद्—इस, एवम्—इस प्रकार, इस रूप में, पदम्—(प्रथम) चरण को या प्राप्तव्य (अभिप्रेत, भाव) को, वेद—जान लेता है ॥१॥

ऋचो यजूंषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेव पदं वेद ॥२॥

ऋचः—ऋचाएं (ऋग्वेद), यजूंषि—यजुर्वेद, सामानि—सामवेद, इति—इन (वेदों के नाम) में, अष्टौ अक्षराणि—अर्थ पूर्ववत्, यावती—जितनी, इयम्—यह, त्रयी विद्या—ज्ञेय तीनों वेद हैं, तावत् वेद—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेदाथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति ददृश

दीखता-सा, चतुर्थ पद वही है, जो विश्व में तप रहा है--गायत्री के उसी चतुर्थ पद के प्रताप से यह निखिल-विश्व, एक के ऊपर दूसरा, मानो एक महान् तपस्या में लीन है। जो गायत्री के चतुर्थ पद को प्रकृति से भी परे हो रही, दीखती-सी, तुरीय-रूप प्रभु की तपस्या में देख लेता है, वह भी श्री और यश से तप उठता है, चमक उठता है ॥३॥

गायत्री की प्रतिष्ठा अपने पहले तीन पदों में नहीं, इसी 'तुरीय', 'दर्शत', 'परोरज'-पद में है, और वह तुरीय-पद 'सत्य' में प्रतिष्ठित है। 'चक्षु' 'सत्य' है, 'चक्षु' ही 'सत्य' है, इसीलिये जब दो व्यक्ति विवाद करते हुए आते हैं, एक कहता है मैंने देखा, दूसरा कहता है

दृश इव ह्येष परोरजा इति सर्वमु ह्येवैष रज उपर्युपरि तपत्येवं हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥३॥

प्राणः--प्राण; **अपानः**--अपान; **व्यानः**--व्यान; **इति**--इन (प्राण-भेदों के नाम) में; **अष्टौ अक्षराणि**--आठ अक्षर हैं; **अष्टाक्षरम् ह वै**--आठ अक्षरों वाला ही तो; **एकम्**--एक; **गायत्र्यै**--गायत्री का; **पदम्**--(तृतीय) चरण है; **एतद् उ...यावत्**--अर्थ पूर्ववत्; **इदम्**--यह; **प्राणि**--प्राणधारी है; **तावद्...वेद**--अर्थ पूर्ववत्; **अथ**--और; **अस्याः**--इस (गायत्री) का; **एतद् एव**--यह ही; **तुरीयम्**--चौथा; **दर्शतम्**--दर्शनीय; **पदम्**--पद (चरण, प्राप्तव्य) है; **परोरजाः**--निर्मल, शुद्ध, रजोगुण या प्रकृति एवं लोकों से ऊपर हुआ; **यः एषः**--जो यह; **तपति**--तप रहा है; **यद् वै**--जो तो; **चतुर्थम्**--चौथा; **तत्**--वह; **तुरीयम्**--चौथा; **दर्शतम्**--दर्शनीय; **पदम्**--पद है; **इति**--ऐसे; **ददृशे इव**--वह दिखता-सा है; **हि**--क्योंकि; **एषः**--यह; **परोरजाः**--लोकों से ऊपर (बढ़ कर) है; **इति**--अतः; **सर्वम् उ हि एव**--सब ही; **एषः**--यह; **रजः**--लोकों को; **उपरि-उपरि**--ऊपर ऊपर; **तपति**--तपा रहा है; **एवम् ह एव**--इस प्रकार ही; **श्रिया**--शोभा, लक्ष्मी से; **यशसा**--यश से; **तपति**--तपता (प्रकाशित होता) है; **यः**--जो; **अस्याः**--इस (गायत्री) के; **एतद्**--इस; **एवम्**--ऐसे; **पदम्**--(चतुर्थ-तुरीय) पद को; **वेद**--जानता है ॥३॥

सैषा गायत्र्येतस्मिंस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद्वै तत्सत्ये प्रतिष्ठितं चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम तद्वै तत्सत्यं बले प्रतिष्ठितं प्राणो वै बलं

मैंने सुना, तो जो कहता है मैंने देखा, उसी की बात हम मानते हैं। गायत्री का 'दर्शत' नाम का चतुर्थ पद मानो प्रभु के उस चतुर्थ 'दर्शत' पद का स्मरण करा रहा है जो विश्व में तपस्या करता हुआ मानो आंखों से प्रत्यक्ष दीख रहा है। 'दर्शत' होने से यही उसका 'सत्य' पद है। 'सत्य' (Laws) 'बल' (Energy) में प्रतिष्ठित है—'सत्य' में ही तो 'बल' होता है, 'असत्य' में 'बल' नहीं होता। यह 'बल' क्या सिर्फ 'भौतिक-बल' (Physical Energy—Material force) है ? नहीं, 'बल' (Energy) तो 'प्राण' (Life) है—इसलिये 'सत्य' 'बल' में और 'बल' 'प्राण' में प्रतिष्ठित है, बिना प्राण-शक्ति के बल नहीं होता, तभी कहते हैं 'बल' 'सत्य' से बड़ा है। जिस प्रकार गायत्री आधिभौतिक-जगत् में, 'ब्रह्माण्ड' में, उपासक को प्राण-शक्ति के महत्त्व को दर्शाती है, उसी प्रकार अध्यात्म में, 'पिंड' में भी गायत्री को ऐसी ही प्रतिष्ठा है। 'गय' नाम प्राणों का है, क्योंकि यह शरीर के 'गय', अर्थात् प्राणों का त्राण करती है, इसलिये इसे गायत्री कहते हैं।

तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलँ सत्यादोजीय इत्येवम्वेषा गायत्र्य-
ध्यात्मं प्रतिष्ठिता सा हैषा गयाँस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणाँस्तत्रे
तद्यद्गयाँस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम स यामेवामूँ सावित्री-
मन्वाहैषैव सा स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणाँस्त्रायते ॥४॥

सा एषा गायत्री—वह यह गायत्री (मन्त्र), एतस्मिन्—इस, तुरीये—चौथे, दर्शते—दर्शनीय, ज्ञेय, पदे—चरण या प्राप्तव्य में, परोरजसि—लोकों से परे, प्रतिष्ठिता—स्थित है, तद् वै तत्—तो वह (तुरीय पद), सत्ये—सत्य में, प्रतिष्ठितम्—प्रतिष्ठित है, चक्षु वै सत्यम्—नेत्र (का विषय प्रत्यक्ष) ही सत्य है, चक्षु—नेत्र, हि—क्योंकि, वै—ही, सत्यम्—सत्य है, तस्मात्—अतएव, यद्—जो, जब, इदानीम्—अब, द्वौ—दो, विवदमानौ—विवाद करते हुए, एयाताम्—आवें, अहम्—मैंने, अदर्शम्—देखा था, अहम्—मैंने, अश्रौषम्—सुना था, इति—ऐसे, य—जो, एवम्—इस प्रकार, ब्रूयाद्—कहे, अहम् अदर्शम् इति—(कि) मैंने देखा है, तस्मै—उसके लिये, उसपर, एव ही, श्रद्दध्याम—श्रद्धा (विश्वास) करते हैं, तद् वै—और, तत् सत्यम्—वह सत्य, बले—बल पर, प्रतिष्ठितम्—स्थित है, प्राणः वै—प्राण ही तो, बलम्—बल है, तत्—वह (सत्य), प्राणे प्रतिष्ठितम्—प्राण में स्थिति वाला है, तस्मात्—तब ही तो, आहु—कहते हैं, बलम्—बल, सत्यात्—

गायत्री का ध्यान वास्तव में प्राणों का—इन्द्रियों का—संयमन है। आचार्य उपनयन के समय ब्रह्मचारी को जिस सावित्री का उपदेश देता है वह यही गायत्री है। गायत्री के उपदेश देने का यही अभिप्राय है कि शिष्य प्राणों की रक्षा करना, अपने भीतर नव-जीवन का संचार करना सीखता है ॥४॥

कई लोग कहते हैं कि अनुष्टुप् छन्दवाली सावित्री (तत्सवितुर्वृणीमहे, वयं देवस्य भोजनम्, श्रेष्ठं सर्वधातमम्, तुरं भगस्य धीमहि) का उपदेश करे, क्योंकि यह अनुष्टुप् छन्दवाली सावित्री चार पदों की होने से वाणी-रूपा है, परन्तु नहीं, ऐसा न करे। हम तो यही कहते हैं कि त्रिपदा गायत्री ही सावित्री है, इसी का उपदेश करे। त्रिपदा गायत्री के जिस रहस्य का ऊपर उद्घाटन किया गया है, उसे जानने

सत्य से; ओजीयः—अधिक शक्तिशाली है; इति—यह (कहते हैं); एवम् उ—इस ही तरह; एषा—यह; गायत्री—गायत्री; अध्यात्मम्—आत्मा (शरीर) में; प्रतिष्ठिता—विद्यमान है; सा ह—उस (पिण्ड में वर्तमान); एषा—इस गायत्री ने; गयान्—प्राणों की (इन्द्रियों की); तत्रे—रक्षा की है; प्राणाः वै—प्राणों (का नाम) ही; गयाः—'गय' है; तत्प्राणान्—उन प्राणों की; तत्रे—रक्षा की; तद् यद्—तो जो; गयान्—प्राणों की; तत्रे—रक्षा की; तस्मात्—उस कारण से; गायत्री नाम—(इसका) नाम गायत्री है; सः—वह (आचार्य आदि); याम् एव—जिस ही; अमूम्—इस; सावित्रीम्—'सविता'-देवता वाली (गायत्री) का; अनु+आह—अनुवचन (उपदेश) करता है; एषा एव सा—यह ही वह (त्रिपदा गायत्री है); सः—वह; यस्मै—जिसके प्रति; अन्वाह—उपदेश करता है; तस्य—उसके; प्राणान्—प्राणों की; त्रायते—रक्षा करता है ॥४॥

तां᳭ हैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुबेतद्वाचमनुब्रूम इति न तथा कुर्याद्गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयाद्यदिह वा अप्येवंविद् बह्विव प्रतिगृह्णाति न हैव तद्गायत्र्या एकंचन पदं प्रति ॥५॥

ताम् ह एताम्—उस इस (गुरु-मन्त्र) को; एके—कई (आचार्य); सावित्रीम्—'सविता'-देवता वाली; अनुष्टुभम्—अनुष्टुप् छन्द में ग्रथित (चार पद वाली—'तत्सवितुर्वृणीमहे...' इत्यादि) का; अन्वाहुः—उपदेश करते हैं; (क्योंकि) वाग् अनुष्टुभ्—वाणी का नाम 'अनुष्टुभ्' है (अतः); एतद्-वाचम्—इस (अनुष्टुभ्-रूप) वाणी का ही; अनुब्रूम—हम उपदेश करते हैं;

वाला अगर भारी दक्षिणा भी ले ले, तो वह गायत्री के एक पद के बराबर भी नहीं है ॥५॥

अगर किसी को भरे हुए तीनों लोकों की प्राप्ति हो जाय, तो वह गायत्री के प्रथम-पद पाने के समान है, अगर किसी को त्रयी-विद्या की प्राप्ति हो जाय तो वह गायत्री के द्वितीय-पद पाने के समान है; अगर किसी को सम्पूर्ण प्राणि-जगत् की प्राप्ति हो जाय, तो वह गायत्री के तृतीय-पद पाने के समान है; गायत्री का जो 'दर्शत'-'तुरीय'-'परोरज' पद है, जो पद विश्व में तप रहा मानो दीखता है, इसकी तुलना तो किसी भौतिक-पदार्थ से नहीं की जा सकती। कहां से इतना लायें जिससे इसकी तुलना की जाय ? ॥६॥

इति—यह (उनका कथन) है, न तथा—नहीं वैसे, कुर्यात्—(उपदेश) करे, गायत्रीम् एव—गायत्री (छन्द में ग्रथित त्रिपदा) का ही, सावित्रीम्—'सविता' देवता वाली, अनुब्रूयात्—उपदेश करे, यद्—जो, इह वै—यहां (इस विषय में—इस संबंध में), अपि—भी, एवं विद्—इस प्रकार (गायत्री को) जाननेवाला, बहु इव—बहुत-सा, प्रतिगृह्णाति—प्रतिग्रह (दान-दक्षिणा) लेता है, न ह एव—नहीं ही, तद्—वह (धन), गायत्र्या—गायत्री के, एकं चन—एक भी, पदम्—पद (चरण) के, प्रति—प्रतिरूप (समान) है ॥५॥

स य इमांस्त्रींल्लोकान्पूर्णान्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद्द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुयादथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाप्यं कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात् ॥६॥

स य—वह जो (ज्ञानी), इमान्—इन, त्रीन्—तीन (भूः, भुवः स्वः—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु), लोकान्—लोकों को, पूर्णान्—(धन-धान्य-ऐश्वर्य से) भरपूर, प्रतिगृह्णीयात्—लेवे, प्राप्त करे (तो), सः—वह (ज्ञानी), अस्याः—इस (गायत्री) के, एतत्—इस, प्रथमम् पदम्—प्रथम चरण ('तत्सवितुर्वरेण्यम्' के फल) को, आप्नुयात्—पा सकेगा, अथ—और, यावती—जितनी, इयम्—यह, त्रयी विद्या—वैदिक वाङ्मय है, यः—जो, तावत्—उतना, प्रतिगृह्णीयात्—लेवे, जान जाये, सः—वह, अस्याः—इस (गायत्री) के, एतत्-द्वितीयम् पदम्—इस द्वितीय चरण ('भर्गो देवस्य धीमहि' के फल) को, आप्नुयात्—पा सकता है, अथ—और, यावद्—जितना (विस्तृत), इदम्—यह, प्राणि—प्राण धारी (विश्व है, यः—जो, तावत्—उतना, प्रतिगृह्णीयात्—स्वीकार (पालन) करे, सः—

अब गायत्री का 'उपस्थान' कहते हैं, मानो गायत्री को मूर्त रूप में देखते हुए उसके समीप खड़े होकर उसे सम्बोधन करते हैं। हे गायत्री ! त्रिलोकी तेरा प्रथम पद है, त्रयी-विद्या तेरा द्वितीय पद है, तीनों प्राण तेरा तृतीय पद हैं, सबका प्रकाश करनेवाला 'परोरज'-'दर्शत'-रूप तेरा चतुर्थ पद है। यद्यपि तेरे इतने पद हैं तथापि तू पद-रहित है, अपद है, क्योंकि तू जानी नहीं जा सकती। तेरे 'तुरीय'-'दर्शत'-परोरज' पद को मेरा नमस्कार है। जिसे मैं द्वेष करता हूं वह इस पद को न प्राप्त हो, उसकी कामना समृद्ध न हो। जिसके लिये गायत्रीविद् इस प्रकार गायत्री का उपस्थान करता है और यह प्रार्थना करता है कि उसको अभीष्ट प्राप्त न हो, उसका अभीष्ट भी मैं ही प्राप्त करूं, उस शत्रु की कामना सिद्ध नहीं होती, और गायत्रीविद् की प्रार्थना सिद्ध हो जाती है।॥७॥

वह; अस्याः—इस (गायत्री) के; एतद्—इस; तृतीयम् पदम्—तीसरे चरण ('धियो यो नः प्रचोदयात्' के फल) को; आप्नुयात्—पा जायगा; अथ—और; अस्याः—इस (गायत्री) का; एतद् एव—यह ही; तुरीयम्—चौथा; दर्शतम—दर्शनीय (ज्ञेय); पदम्—प्राप्तव्य, वाच्य (ब्रह्म); परोरजा—लोकों से परे (उत्कृष्ट); यः एषः—जो यह; तपति—तप रहा है, भासमान हो रहा है; न एव—नहीं ही; कैनचन—किसी से; आप्यम्—प्राप्त किया जा सकता है; कुतः उ—कहां से, कैसे; एतावत्—इतना; प्रतिगृह्णीयात्—ले सकेगा, ले सकता है।॥६॥

तस्या उपस्थानं गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि नहि पद्यसे। नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो मा प्रापदिति यं द्विष्यादसावस्मै कामो मा समृद्धीति वा न हैवास्मै स कामः समृद्धयते यस्मा एवमुपतिष्ठतेऽहमदः प्रापमिति वा ॥७॥

तस्याः—उस (गायत्री) का; उपस्थानम्—(यह) प्रत्यक्ष दर्शन (पास बैठना, उपासना) है; गायत्रि—हे गायत्री; असि—तू है; एकपदी—एक पाद (चरण) वाली; द्विपदी—दो चरणवाली; त्रिपदी—तीन चरण वाली; चतुष्पदी—चार चरणवाली है; अपद्—विना पाद (चरण) वाली—अज्ञेय, अप्राप्य है; न हि—नहीं; पद्यसे—जानी जा सकती; नमः—नमस्कार (प्रणाम) है; ते—तेरे; तुरीयाय—चौथे; दर्शताय—दर्शनीय, ज्ञेय; पदाय—प्राप्तव्य को; परोरजसे—लोकों से परे, निर्मल; असौ—यह (द्वेष्टा); अदः—इस (पद)

एक बार की बात है कि विदेह-राज जनक ने अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल से कहा, आप तो अपने को गायत्री के जाननेवाले कहते थे, फिर क्यों दुनिया के माल ऐसे ढोते फिरते हो जैसे कोई हाथी ढो रहा हो ? बुडिल ने कहा, सम्राट् ! मैं गायत्री के 'शरीर' को तो जानता हूं, उसके 'मुख' को नहीं जानता, अर्थात् पढ़ा ही हूं, गुढ़ा नहीं हूं। जनक ने कहा, गायत्री का 'अग्नि' मुख है, गायत्री को गुढ़ोगे, तो अग्नि-मुख हो जाओगे। अग्नि के मुख में जितना भी डाल देते हैं सबको भस्म कर देती है, इसी प्रकार गायत्री के अग्नि-रूप को जो सिद्ध कर लेता है वह अगर ऐसा भी दीखता है कि भारी पाप

को, न—नहीं, प्रापत्—प्राप्त हो, इति—ऐसे, यम्—जिसका, द्विष्यात्—द्वेष करे, असौ—यह, अस्मै—इसके लिए (इसका), काम—कामना, अभीष्ट, मा—मत, नहीं, समृद्धि—समृद्ध हो, पूर्ण हो, इति वै—ऐसे, न ह एव—नहीं ही, अस्मै—इसका, स कामः—वह मनोरथ, समृद्ध्यते—पूर्ण होता है, यस्मै—जिसके लिए, एवम्—इस प्रकार, उपतिष्ठते—उपासना (प्रार्थना) करता है, अहम्—मैं, अदः—इसका, प्रापम्—प्राप्त करूं, इति वा—या यह (प्रार्थना करता है) ॥७॥

एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्विमुवाच यन्नु हो तद्-गायत्रीविदब्रूथा अथ कथं हस्तीभूतो वहसीति मुखं ह्यस्याः सम्राण्न विदाञ्चकारेति होवाच तस्या अग्निरेव मुखं यदि ह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति सर्वमेव तत्सन्दहत्येवं हैवैवंविद्यद्यपि बह्विव पापं कुरुते सर्वमेव तत्संप्साय शुद्धः पूतोऽजरोऽमृतः संभवति ॥८॥

एतद् ह वै तद्—इस उस (वचन) को, जनकः वैदेह—विदेहराज जनक ने, बुडिलम्—बुडिल (नामी) को, आश्वतराश्विम्—अश्वतराश्व के पुत्र, उवाच—कहा था (कि), यत् नु हो—अरे जो तू, तद्—तो, गायत्रीविद्—(अपने को) गायत्री का जाननेवाला, अब्रूथा—कहता था, अथ—तो, कथम् क्यों, हस्तीभूत—भारवाही हाथी (के समान) हुआ-हुआ, वहसि—ढो रहे हो (दुनिया के चक्कर में पड़े हो), इति—यह (कहा), मुखम्—मुख (मुख्य ध्येय-लक्ष्य ब्रह्म को), हि—क्योंकि, अस्या—इस (गायत्री) के, सम्राट्—हे महाराज, न—नहीं, विदाञ्चकार—जाना है, इति ह उवाच—यह (जनक ने) कहा, तस्या—उस (गायत्री) का, अग्नि—अग्नि (तेज स्वरूप ब्रह्म), एव—ही, मुखम्—मुख (प्रमुख लक्ष्य) है, यदि ह वै—अगर चाहे, अपि—भी, बहु इव—जैसे बहुत-सा, अग्नौ—अग्नि में, अभ्यादधति—रखते (डालते) हैं, सर्वम्

कर रहा है, तो उसे भी वह अग्नि की तरह खा डालता है, उसे भस्म कर देता है, और शुद्ध, पूत, अजर, अमर हो जाता है ॥८॥

(गायत्री में पहले तीन व्याहृतियां हैं :--भूः, भुवः, स्वः। इन तीन की व्याख्या हम छान्दोग्य० २य प्रपाठक, २३ खंड में कर आये हैं। भूः-भुवः-स्वः--इन तीन का अर्थ अस्ति, भाति, प्रीति--Being, Becoming, Bliss--है। संसार की गति, इसका प्रवाह, इसके विकास की दिशा भूः से भुवः की तरफ़, भुवः से स्वः की तरफ़ जा रही है। जो वस्तु 'है', जो 'भूः' है, जिसकी सत्ता है, वह तभी तक है, या तभी तक वह अस्ति की कोटि में है, जब तक वह 'हो रही' है, जहां उसमें से 'होनापन', या 'भुवः' की प्रक्रिया समाप्त हुई, वहीं वह स्वयं समाप्त हो जाती है। 'भूः' तब तक 'भूः' है, अर्थात् अस्ति (Being) तब तक अस्ति है, 'है' तब तक 'है' है, जब तक 'भूः' का विकास 'भुवः' की तरफ़, 'है' का 'होने' (Becoming) की तरफ़ हो रहा है। जहां 'है' (Being) ने 'होना' (Becoming) छोड़ दिया, वहां 'है' ही समाप्त हो जाता है। इसी तरह यह 'होना'--Becoming--भी एक ख़ास दिशा की तरफ़ जा रहा है, वह दिशा 'स्वः' है, उसी को सुख कहते हैं, अंग्रेज़ी में Bliss कहते हैं। परन्तु इस अस्ति-भाति-प्रीति की प्रक्रिया को--Being, Becoming, Bliss--के एक निश्चित दिशा के प्रवाह को चला कौन रहा है? यह स्वयं तो नहीं चल रहा। इस प्रवाह को जो बहा रहा है, जिसने ऐसा विधान रचा है जिसके कारण प्रत्येक सद्वस्तु तभी तक टिकी हुई है जब तक वह अपने-आपको होने की प्रक्रिया में--Becoming--में बनाये रखती है, और होने की प्रक्रिया भी एक निश्चित दिशा

एव तत्--उस सारे को ही; संदहति--जला देती है; एवम् ह एव--इस प्रकार ही; एवम् विद्--इस प्रकार (गायत्री के मुख को) जाननेवाला; यद्यपि--यद्यपि; बहु+इव--बहुत-सा; पापम्--पाप; कुरुते--करता है; सर्वम् एव तत्--वह सब का सब; संप्साय--भस्म कर, खा कर; शुद्धः--शुद्ध, दोषरहित; पूतः--पवित्र, निर्मल; अजरः--जरा से मुक्त; अमृतः--अमर; संभवति--हो जाता है (गायत्री-ध्यान से पाप-शुद्धि हो जाती है) ॥८॥

की तरफ ही मुह उठाये चली जा रही है, सुख की, आनन्द की तलाश मे यह सारा प्रवाह बह रहा है—इस सारे प्रवाह का बहाने वाला कौन है ? गायत्री मन्त्र में प्रवाह के उस बहाने वाले को 'सविता' कहा गया है। 'सविता' शब्द 'पूञ् प्रसवे' धातु से बना है। 'सविता', अर्थात् प्रसव करने वाला—पैदा करने वाला। उस पैदा करने वाले ने, सविता ने, हर-एक वस्तु की रचना करते हुए हर वस्तु में भू-भुव-स्व का पुट दे दिया है, हर वस्तु में अस्ति, भाति, प्रीति—'है', 'होना', 'सुख के लिये होना'—Being, Becoming, Bliss—का बीज डाल दिया है। सविता की उस शक्ति का क्या नाम है जिससे हर वस्तु उस निश्चित प्रक्रिया में से गुजर रही है जिसका अभी वर्णन किया गया ? गायत्री मन्त्र में सविता की उस शक्ति का नाम 'भर्ग' कहा गया है। 'भर्ग' क्यो कहा गया है ? 'भर्ग' शब्द 'भ्रस्ज पाके' धातु से बना है। 'भर्ग' का अर्थ है—पकाने की शक्ति। जैसे कुम्हार घडे को पकाता है, घडा ज्यो-ज्यो पकता जाता है, त्यो-त्यो अपने निर्दिष्ट कार्य के लिये तय्यार होता जाता है, इसी प्रकार सविता ससार की हर वस्तु को पका रहा है, और पकते-पकते हर वस्तु अपने लक्ष्य की तरफ बढती चली जा रही है। 'सविता' का 'भर्ग' ही है जिससे हर वस्तु धीरे-धीरे पकती हुई भू-भुव-स्व—Being, Becoming, Bliss—की प्रक्रियाओ में से गुजर रही है। इसलिये गायत्री मन्त्र का अर्थ हुआ—हम सविता देव के उस भर्ग का ध्यान करते है, जो संसार की हर वस्तु को एक खास दिशा में धीरे-धीरे पकाता हुआ ले जा रहा है। किस दिशा में ? भू-भुव-स्व की दिशा में, अस्ति-भाति-प्रीति की दिशा में—Being, Becoming, Bliss—की दिशा में। सवितु देवस्य भर्गो धीमहि—इसका यही अर्थ हुआ। बाकी रहा 'धियो यो न प्रचोदयात्'—इसका अर्थ तो स्पष्ट ही है। सविता का जो 'भर्ग' ससार की हर वस्तु को एक निश्चित 'स्व' की दिशा में प्रवाहित कर रहा है, वही 'भर्ग' हमारी बुद्धि को भी ऐसी

प्रेरणा दे कि हम भी अपने को विकास की इसी प्रक्रिया में से ले चलें, हम अपने को संसार का प्रसव करने वाली सविता-शक्ति के साथ, उस प्रक्रिया के साथ जो हर वस्तु को धीरे-धीरे पकाती हुई निश्चित उद्देश्य तक पहुंचा रही है, ऐसे समन्वय में ले आयें, ताकि हमारे जीवन के विकास की दिशा भी वही बन जाय, हम भी विश्व के एक अंग बन जांय, हम भी अपने-आपको धीरे-धीरे वैसे ही पकाने लगें जैसे हर वस्तु का सहज-पाक हो रहा है, जैसे वह गायत्री की व्याहृतियों में प्रतिपादित एक खास प्रक्रिया में से गुज़र रही है। गायत्री मन्त्र में 'सविता' और 'भर्ग' शब्द एक खास महत्त्व रखते हैं। 'सविता' का अर्थ जहां 'षूञ् प्रसवे' धातु से 'उत्पन्न करने वाला' यह होता है, वहां इसका अर्थ 'सूर्य' भी है—वह सूर्य जो हर वस्तु को पकाता है। 'सविता' के सूर्य अर्थ को सामने रखकर ही 'भर्ग' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ 'भ्रस्ज पाके' धातु से पकाना है। सूर्य हर वस्तु को पका रहा है, सविता भी—वह शक्ति जिसने संसार को पैदा किया—हर वस्तु को पका रहा है, यह पकना, यह क्रमिक-विकास ही 'भूः-भुवः-स्वः' है। 'भूः-भुवः-स्वः'—ये तीन अक्षर विश्व-नियन्ता प्रभु द्वारा निर्धारित विकास की एक निश्चित प्रक्रिया का वर्णन करते हैं। ब्रह्मांड की, अर्थात् भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौः की यही प्रक्रिया हमारे पिंड में भी चले—ब्रह्मांड में सूर्य (सविता) इस प्रक्रिया का प्रतिनिधि है, पिंड में बुद्धि (धीः) इस प्रक्रिया की प्रतिनिधि है—यही गायत्री-मन्त्र का अर्थ है। तभी कहा कि ब्रह्मांड का 'सविता' जो विश्व को भूः-भुवः-स्वः में से धीरे-धीरे गुज़ार रहा है, अस्ति-भाति-प्रीति में से ले जा रहा है—Being, Becoming, Bliss की प्रक्रिया में डालकर अपने 'भर्ग', अर्थात् पकाने की शक्ति से पका रहा है, वही हमारे पिंड में हमारी 'धीः', अर्थात् बुद्धि को ऐसी प्रेरणा दे, जिससे हमारे पिंड में हमारी 'धीः' वही काम करे, जो ब्रह्मांड में 'सविता' करता है। 'सविता' जैसे विश्व को, बुद्धि वैसे मनुष्य को अस्ति, भाति, प्रीति की, भूः-भुवः-स्वः की, Being, Becoming, Bliss की प्रक्रिया में से गुज़ार दे—यह गायत्री मन्त्र का अर्थ है।)

पंचम अध्याय—(पन्द्रहवां ब्राह्मण)
(ईशोपनिषद् के मन्त्रों का उद्धरण)

हिरण्मय चमक-दमक वाले ढकने से सत्य का मुख ढका हुआ है। हे पूषन् !—अपनी पुष्टि अर्थात् पोषण चाहने वाले उपासक ! —अगर तू सत्य-धर्म को देखना चाहता है तो उस ढक्कन का, आवरण का अपवरण कर दे, उस ढक्कन को हटा दे, पर्दे को उठा दे।

हे पूषन्—पुष्टि देने वाले ! एकर्षे—ऋषियों में एक—अनोखे ! यम—नियमन करने वाले ! सूर्य—प्रचण्ड प्रकाशमान ! प्राजापत्य—प्रजाओं के पति ! आप की रश्मियों का जो व्यूह चारों तरफ फैल रहा है उसे समेटिये। मैं आप की रश्मियों को नहीं, आपके निजी कल्याणतम तेजस्वी रूप को देखना चाहता हूं। अ-हा ! वह जो कल्याणतम तेजस्वी पुरुष-रूप प्रकट हुआ वह कितना ज्योतिर्मय है। मैं भी वही हूं—मैं भी ज्योतिर्मय पुरुष हूं।

प्राण-वायु शरीर में रहता है, वह विश्व के अनिल अर्थात् विश्व के प्राण में लीन हो जाता है। वही अमर है। शरीर तो जब तक भस्म नहीं हो जाता तभी तक है। हे कर्म करने वाले जीव ! 'क्रतु' (Future action) को— 'प्रयत्न' को, जो तूने आगे कर्म करना है उसे स्मरण कर, और 'कृत' (Past action)—जो तू अब तक कर्म कर चुका है, उसे स्मरण कर।

हे अग्ने ! हे देव ! तुम सब प्रकार के कर्मों को जानते हो। आप हमें उन्नति के लिये ऐसे मार्ग से ले चलो जो सुपथ हो। जो कुटिल पाप-मार्ग है, उसे हम से अन्तरात्मा का युद्ध कराकर पृथक् करो।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि। योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥ वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्। ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर॥ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥१॥

हिरण्मयेन विधेम—इन चारों मन्त्रों का अर्थ (पृष्ठ २५-२८ पर) पूर्ववत्॥१॥

हम बार-बार तुझे नमस्कार करते हैं ॥१॥ (ईश-उपनिषद् में १५, १६, १७, १८ मन्त्र यही हैं।)

षष्ठ अध्याय—(पहला ब्राह्मण)
(प्राण तथा इन्द्रियों का विवाद)

यह कथा छान्दोग्य ५म प्रपाठक १म तथा २य खंड में लगभग इन्हीं शब्दों में आ चुकी है, अतः यहां नहीं दी जा रही। जो शब्दों के हेर-फेर का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहें वे संस्कृत के दोनों स्थलों की तुलना करके पढ़ें। हम तुलना के लिये नीचे मूल-पाठ दे रहे हैं, अर्थ नहीं।

ॐ ॥ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥१॥

यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानाम् भवति वाग्वै वसिष्ठा वसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥२॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे चक्षुर्वै प्रतिष्ठा चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेद ॥३॥

यो ह वै संपदं वेद सँ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते श्रोत्रं वै संपच्छ्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसंपन्नाः सँ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥४॥

यो ह वा आयतनं वेदायतनं स्वानां भवत्यायतनं जनानां मनो वा आयतनमायतनं स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥५॥

यो ह वै प्रजातिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभी रेतो प्रजातिः रेतो (वीर्य) वै प्रजातिः (प्रजनन—वंश-वृद्धि) प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥६॥

ते हेमे प्राणा अहँ श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुस्तद्धोचुः को नो वसिष्ठ इति तद्धोवाच यस्मिन्व उत्क्रान्त इदँ शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति ॥७॥

वाग्घोच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथाऽकला अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणेन

पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह वाक् ॥८॥

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा अन्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह चक्षुः ॥९॥

श्रोत्रं होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा बधिरा अशृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥१०॥

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा मुग्धा अविद्वांसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह मनः ॥११॥

रेतो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह रेतः ॥१२॥

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशङ्कून्संवृहेदेवं हैवेमान्प्राणान्संववर्ह ते होचुर्मा भगव उत्क्रमीर्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति तस्यो मे बलिं कुरुतेति तथेति ॥१३॥

सा ह वागुवाच यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति यद्वा अहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति चक्षुर्यद्वा अहं संपदस्मि त्वं तत्संपदसीति श्रोत्रं यद्वा अहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति मनो यद्वा अहं प्रजातिरस्मि त्वं तत्प्रजातिरसीति रेतस्तस्यो मे किमन्नं किं वास इति यदिदं किंचाश्वभ्य आकृमिभ्य आकीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं परिगृहीतं य एवमेतदनस्यान्नं वेद तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥१४॥

ओम्—सर्वरक्षक, आदिगुरु भगवान् का स्मरण कर, य ह वै कुर्वन्तो मन्यन्ते—इनका अर्थ पृ० ४८० से ४९१ तक पर देखें ॥१-१४॥

षष्ठ अध्याय—(दूसरा ब्राह्मण)

(श्वेतकेतु तथा राजा जैबलि प्रवाहण के ५ प्रश्न)

यह कथा छान्दोग्य ५म प्रपाठक ३य से १०म खंड में लगभग इन्हीं शब्दों में कुछ हेर-फेर के साथ आ चुकी है, अतः यहां नहीं दी जा रही। जो शब्दों के हेर-फेर का तुलनात्मक-अध्ययन करना चाहें वे संस्कृत के दोनों स्थलों की तुलना करके पढ़ें। हम नीचे तुलना के लिये मूल-पाठ दे रहे हैं।

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणं तमुदीक्ष्याभ्युवाद कुमार ३ इति स भो इति प्रतिशुश्रावानुशिष्टो न्वसि पित्रेत्योमिति होवाच ॥१॥

वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता ३ इति नेति होवाच, वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता ३ इति नेति हैवोवाच, वेत्थो यथासौ लोक एवं बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भिर्न संपूर्यता ३ इति नेति हैवोवाच, वेत्थो यतिथ्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती ३ इति नेति हैवोवाच, वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वापि हि न ऋषेर्वचः श्रुतम्। द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति। नाहमत एकंचन वेदेति होवाच ॥२॥

अथैनं वसत्योपमन्त्रयांचक्रेऽनादृत्य वसतिं कुमारः प्रदुद्राव स आजगाम पितरं तं होवाचेति वाव किल नो भवान्पुरानुशिष्टानवोचदिति कथं सुमेध (बुद्धिमन्!) इति पञ्च मा प्रश्नान् राजन्यबन्धुरप्राक्षीत्ततो नैकंचन वेदेति कतमे त इतीम इति ह प्रतीकान्युदाजहार ॥३॥

स होवाच तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किंच वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचं प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं वत्स्याव इति भवानेव गच्छत्विति स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैबलेरास तस्मा आसनमाहृत्योदकमाहारयांचकाराथ हास्मा अर्घ्यं चकार तं होवाच वरं भगवते गौतमाय दद्म इति ॥४॥

स होवाच प्रतिज्ञातो म एष वरो यान्तु कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति ॥५॥

स होवाच दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति ॥६॥

स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गोअश्वानां दासीनां

प्रवाराणां परिधानस्य मा नो भवान् बहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्य-
वदान्योऽभूदिति स वै गौतम तीर्थेन (तीर्थ=गुरु) इच्छासा इत्युपैम्यहं
भवन्तमिति वाचाह स्मैव पूर्व उपयन्ति स होपायनकीर्त्योवास ॥७॥
स होवाच यथा नस्त्वं गौतम मापराधास्तव च पितामहा यथेयं
विद्येतः पूर्वं न कस्मिꣳश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि
को हि त्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति ॥८॥
असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहर-
र्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा
श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा सम्भवति ॥९॥
पर्जन्यो वाऽग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो
विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ
देवाः सोमꣳ राजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टिः सम्भवति ॥१०॥
अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्निर्धूमो रात्रि-
रर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ
देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नꣳ सम्भवति ॥११॥
पुरुषो वा अग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो धूमो वागर्चि-
श्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं
जुह्वति तस्या आहुत्यै रेतः सम्भवति ॥१२॥
योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो
योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गास्तस्मि-
न्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः सम्भवति स
जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियते ॥१३॥
अथैनमग्नये हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद्धूमो धूमो-
ऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ
देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः सम्भवति ॥१४॥
ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धाꣳ सत्यमुपासते तेऽर्चिरभि-
सम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्डा-
दित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्
वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः
परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ॥१५॥
अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति
धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान्षण्मासान्दक्षिणा-
दित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्न

षष्ठं अध्याय—(तीसरा ब्राह्मण)
(मन्थ-रहस्य)

यह वर्णन छान्दोग्य ५ प्रपाठक, २ खंड, ४ में भी पाया जाता है। वहां संक्षेप में है, यहां विस्तार से है। इसमें कर्म-कांड का वर्णन है।

जो यह कामना करे कि मुझे 'महत्व' प्राप्त हो, वह सूर्य के उत्तरायण-काल में शुक्ल-पक्ष के १२ दिन 'उपसद्-व्रत' करे—अर्थात् दुग्धाहार करे। फिर गूलर या कांसे के चमस अर्थात् पात्र में सब औषधियों और फलों को मिलाकर रख दे। फिर भूमि का परिसमूहन करे, उसे झाड़-पोंछे, परिलेपन करे, वहां अग्नि का आधान करे, बैठने के लिये चारों ओर कुशा बिछा दे। फिर ढके हुए घी का संस्कार करे, और किसी पुल्लिंगी नक्षत्र में 'मन्थ' को—अर्थात् औषधियों,

---

भवन्ति तां स्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनां स्तत्र भक्षयन्ति तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्त आकाशाद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते लोकान्प्रत्युत्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्तन्तेऽथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् (डसने वाला सांप, दुःखदायी) ॥१६॥

श्वेतकेतुः ह वै . . . दन्दशूकम्—इनका अर्थ पृ० ४९१ से ५०८ तक पर देखें ॥१–१६॥

स यः कामयेत महत्प्राप्नुयामित्युदगयन आपूर्यमाणपक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कं से चमसे वा सर्वौषधं फलानीति संभृत्य परिसमुह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्यावृताज्यं सं स्कृत्य पुं सा नक्षत्रेण मन्थं संनीय जुहोति। यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान्। तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा। या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति। तां त्वा घृतस्य धारया यजे सं राधनीमहं स्वाहा ॥१॥

सः यः—वह जो; **कामयेत**—कामना करे, चाहे; **महत्**—बड़प्पन, महत्व को; **प्राप्नुयाम् इति**—प्राप्त करूं (तो); **उदग्+अयने**—(सूर्य के) उत्तरायण होने पर; **आपूर्यमाण-पक्षस्य**—शुक्ल-पक्ष के; **पुण्याहे**—पुण्य (अनुकूल) दिन

फलों आदि को मिला कर जो-कुछ तय्यार किया गया था उसे—लेकर इन प्रार्थनाओं से आहुति दे—हे जातवेदस् ! जो देव, अर्थात् प्राकृतिक-शक्तियां तिरछा मार्ग ग्रहण करके मनुष्य की कामना का हनन करती हैं उन सबके लिये मैं अग्नि द्वारा उनका भाग देता हूं, वे तृप्त हो जायं, और तृप्त होकर मुझे सब कामनाओं से तृप्त करें। जो शक्ति मुझ से तिरछी हो गई है, जो 'अहं-विधरणी'—मैं ही सब कुछ कर सकती हूं—यह समझने लगी है, 'तां त्वा घृतस्य धारया यजे'—उसको मैं घृत की धारा से पूजा करता हूं, वह मेरे प्रतिकूल होने के स्थान पर मेरे मनोरथों की सिद्धि करे ॥१॥ (प्रतिकूल शक्ति का विरोध करने से उसकी प्रतिकूलता और बढ़ती है। महत्त्व प्राप्त करने के लिये प्रतिकूल शक्तियों का भी तर्पण करना होता है, यही इसका अभिप्राय है।)

मैं, **द्वादशाहम्**—(इससे पहिले) बारह दिन तक, **उपसद्-व्रती**—उपसद् (दुग्ध-भोजन) का व्रत करनेवाला, **भूत्वा**—होकर, **औदुम्बरे**—गूलर के, **कंसे**—कांसी के, **चमसे वा**—या पात्र में, **सर्व+औषधम्**—सारी (प्राप्य) ओषधियां, **फलानि**—फलों को, **इति**—इत्यादि को, **संभृत्य**—एकत्र कर, **परिसमुह्य**—(यज्ञवेदी की भूमि को) झाड़-पोंछ कर, **परिलिप्य**—लीपकर, **अग्निम्**—अग्नि को, **उप+सम्+आधाय**—स्थापित एवं प्रदीप्त कर, **परिस्तीर्य**—कुश आसन आदि बिछा कर, **आवृता+आज्यम्**—कटोरी (स्थाली) के या द्रव घी को, **संस्कृत्य**—शुद्ध कर, **पुंसा**—पुल्लिङ्ग, **नक्षत्रेण**—नक्षत्र से (में), **मन्थम्**—मन्थ (औषध फल आदि के मिश्रण) को **सन्नीय**—लाकर, पास रखकर, **जुहोति**—(घृत की) आहुति देवे। **यावन्त**—जितने, **देवा**—देव (प्राकृतिक दिव्य शक्तियां), **त्वयि**—तुझ में हैं, **जातवेद**—हे अग्नि ! **तिर्यञ्च**—तिरछे (प्रतिकूल) चलनेवाले, **घ्नन्ति**—नष्ट करते हैं, **पुरुषस्य**—मनुष्य के, **कामान्**—मनोरथों को, **तेभ्य**—उनके लिए, **अहम्**—मैं, **भागधेयम्**—अंश, भाग, **जुहोमि**—होमता हूं, प्रदान करता हूं, **ते**—वे, **मा**—मुझको, **तृप्ता**—तृप्त (प्रसन्न) हुए, **सर्वै**—सब, **कामैः**—मनोरथों से, **तर्पयन्तु**—तृप्त करें, पूर्ण करें, **स्वाहा**—यह सुन्दर त्याग व कथन है, **या**—जो, **तिरश्ची**—प्रतिकूल चलनेवाली, **निपद्यते**—हो जाती है, हो रही है, **अहम्**—मैं, **विधरणी**—विरुद्ध धारणा (विचार) वाली या धारण करनेवाली, (**अहम् विधरणी इति**—अहम्भाव को धारण करनेवाली, अपने को सब कुछ समझनेवाली), **ताम्**—उस, **त्वा**—तुझको, **घृतस्य**—घृत की, **धारया**—धारा से, **यजे**—यजन

अब 'मन्थ' में प्राण की भावना करे। प्राण ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है, इसलिये 'ज्येष्ठाय स्वाहा' - 'श्रेष्ठाय स्वाहा' कहकर, अग्नि में घी की आहुति देकर 'मन्थ' में घी की बूंदें चुआ दे। फिर 'प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहा' - 'वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहा' - 'चक्षुषे स्वाहा संपदे स्वाहा' - 'श्रोत्राय स्वाहा आयतनाय स्वाहा' - 'मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहा' - ''रेतसे स्वाहा'—इनका उच्चारण कर अग्नि में घी की आहुति देकर 'मन्थ' में घी की बूंदें चुआ दे ॥२॥

फिर 'अग्नये स्वाहा - सोमाय स्वाहा'; 'भूः स्वाहा' - 'भुवः स्वाहा' - 'स्वः स्वाहा'; 'ब्रह्मणे स्वाहा' - 'क्षत्राय स्वाहा'; 'भूताय

(पूजन) करता हूं; संराधनीम्—सम्यक् कार्य सिद्ध करनेवाली; अहम्—मैं (उसको करता हूं); स्वाहा—यह मेरा त्याग व शुभ कथन एवं निश्चय है ॥१॥

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सं स्रव-मवनयति प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सं स्रवमवनयति वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सं स्रवमवनयति चक्षुषे स्वाहा संपदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सं स्रवमवनयति श्रोत्राय स्वाहाऽऽयतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सं स्रवमवनयति मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सं स्रवमवनयति रेतसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सं स्रवमवनयति ॥२॥

'ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा' इति—इन मंत्रों से; अग्नौ—अग्नि में; हुत्वा—घृताहुति देकर; मन्थे—(समीप रखे) मन्थ (सर्वौषध-मिश्रण) में; संस्रवम्—(चमस के) चूते घी को; अवनयति—गिरा देता (टपका देता) है; (ऐसे ही अगले छः (६) मन्त्रों से उक्त विधि करे) ॥२॥

अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सं स्रवमवनयति सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सं स्रवमवनयति भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सं स्रवमवनयति भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सं स्रवमवनयति स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सं स्रवमवनयति भूर्भुवःस्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सं स्रवमवनयति ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सं स्रवमवनयति क्षत्राय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सं स्रव-मवनयति भूताय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सं स्रवमवनयति भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सं स्रवमवनयति विश्वाय स्वाहे-त्यग्नौ हुत्वा मन्थे सं स्रवमवनयति सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सं स्रवमवनयति प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सं स्रवमवनयति ॥३॥

स्वाहा' - 'भविष्यते स्वाहा'; 'विश्वाय स्वाहा' - 'सर्वाय स्वाहा' - 'प्रजापतये स्वाहा' कहकर अग्नि में घी की आहुति देकर 'मन्थ' में घी की बूंद चुआ दे ॥३॥

'मन्थ' में इस प्रकार 'प्राण' तथा 'विश्व-कल्याण' की भावना मानो भर कर उसे स्पर्श करे और कहे, हे 'मन्थ'! तू वायु के समान भ्रमणशील है, अग्नि के समान जाज्वल्यमान है, ब्रह्म के समान पूर्ण है, आकाश के समान निष्कम्प है, जगत् की सभा का मानो सभापति है। हे मन्थ! तू ही हिंकार करने वाला है, तू ही स्वयं हिंकार है; तू ही गाने वाला है, तू ही गाया जाता है; तू ही ध्वनि है, तू ही प्रतिध्वनि है; तू ही जल में आग है—अर्थात् बादल में बिजली है, तू विभु है, प्रभु है; अन्न है, ज्योति है; निधन है, संवर्ग है—विनाश है, उत्पत्ति है ॥४॥

इस ही प्रकार 'अग्नये स्वाहा' से लेकर 'प्रजापतये स्वाहा' तक १३ मन्त्रों से, अग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवम् अवनयति—अग्नि में हवन कर, मन्थ में घी की बूंद टपका दे ॥३॥

नोट—'ज्येष्ठ' आदि शब्दों के अर्थ पहले लिखे व स्पष्ट किये जा चुके हैं।

अथैनमभिमृशति भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिंकृतमसि हिंक्रियमाणमस्युद्गीथमस्युद्गीयमानमसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितमस्यार्द्रे सन्दीप्तमसि विभूरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति ॥४॥

अथ—इसके बाद, एनम्—इस (घृत मिश्रित मन्थ) को, अभिमृशति—स्पर्श करता है, भ्रमद्—भ्रमणशील (वायु), असि—तू है, ज्वलद् असि—जलता हुआ (अग्नि) है, पूर्णम् असि—पूर्ण है, प्रस्तब्धम् असि—शान्त (निष्कम्प) है, एकसभम् असि—एक सभावाला (सभापति मूर्धन्य) है, हिंकृतम् असि—हिंकृत (साम-गान) है, हिंक्रियमाणम् असि—हिंक्रियमाण (साम गेय) है, उद्गीथम् असि—उद्गीथ है, उद्गीयमानम् असि—तू ही उद्गीयमान है, श्रावितम् असि—सुनाया हुआ (ध्वनि) भी तू है, प्रत्याश्रावितम् असि—प्रतिध्वनि (उत्तर) भी तू है, आर्द्रे—गीले (बादल) में, सन्दीप्तम् असि—प्रदीप्त (विद्युत्) है, विभू असि—विभु है, प्रभू असि—प्रभु है, अन्नम् असि—तू अन्न है, ज्योतिः असि—प्रकाश है, निधनम् असि—समाप्ति तू है, संवर्ग—उत्पत्ति तू है, इति—इन मन्त्रों को स्पर्श करते हुए बोले या ध्यान करे ॥४॥

इस प्रकार 'मन्थ' में 'प्राण' की, 'विश्व-कल्याण' की तथा 'उच्च-से उच्च भावना' भर कर उसे हाथ में लेकर खड़ा हो जाये, और प्रार्थना करे—हे मन्थ ! हम तेरे महान् 'आम' अर्थात् 'अम' को मानते हैं। तू 'अ म' है, मापा नहीं जा सकता। तू राजा है, ईशान है, अधिपति है—मुझे भी राजा, ईशान और अधिपति बना ॥५॥

यह कह कर 'मन्थ' का चार ग्रासों में सेवन करे। पहला ग्रास इस मधुमान् मन्त्र से भक्षण करे—'तत्सवितुर्वरेण्यम्। मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। भूः स्वाहा।' दूसरा ग्रास इस मधुमान् मन्त्र से भक्षण करे—'भर्गो देवस्य धीमहि। मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः मधु द्यौरस्तु नः पिता। भुवः स्वाहा।' तीसरा ग्रास इस मधुमान् मन्त्र से भक्षण करे—'धियो यो नः प्रचोदयात्। मधुमान्नो वनस्पतिः मधुमाँ अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो

अथैनमुद्यच्छत्याम स्याम हि ते महि स हि राजे-
शानोऽधिपतिः स मा राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति ॥५॥

अथ—इसके बाद; एनम्—इस (मन्थ) को; उद्यच्छति—ऊपर उठाता है; आमंसि—हम पूर्णतया मानते (जानते) हैं कि; आमम्—अपरिमेयता, विशालता, विराट् रूप; हि—निश्चय से; ते—तेरी; महि—महान् है; सः हि—वह ही; राजा—राजा; ईशानः—प्रभु (समर्थ), ऐश्वर्य का स्वामी; अधिपतिः—रक्षक (पालक); सः—वह (तू); मा—मुझको; राजा—राजा; ईशानः—ऐश्वर्यशाली; अधिपतिम्—रक्षक स्वामी; करोतु—कर, बना; इति—इस मंत्र का जप करे ॥५॥

अथैनमाचामति तत्सवितुर्वरेण्यम्। मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। भूः स्वाहा। भर्गो देवस्य धीमहि। मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता। भुवः स्वाहा। धियो यो नः प्रचोदयात्। मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ ३ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः। स्वः स्वाहेति। सर्वां च सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमतीरहमेवेदं सर्वं भूयासं भूर्भुवःस्वः स्वाहेत्यन्तत आचम्य पाणी प्रक्षाल्य जघनेनाग्निं प्राक्शिराः संविशति प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो वंशं जपति ॥६॥

अथ—इस के बाद; एनम्—इस (मन्थ) को; आचामति—(चार भाग कर) भक्षण करता है; 'तत् सवितुः वरेण्यम्—उस जगद् उत्पादक, सर्वप्रेरक 'ओम्'

भवन्तु न । स्व स्वाहा ।' चौथा ग्रास सपूर्ण सावित्री, संपूर्ण मधुमान् मन्त्रो और तीनो व्याहृतियो को इकट्ठा पढ कर भक्षण कर जाय । यह सकल्प करे कि जो-जो भावनाए इस 'मन्थ' में डाली गई हैं, वे मानो मूर्त-रूप में इसमें मौजूद हैं, मैं यह सब-कुछ हो जाऊ । अन्त में 'भूर्भुव स्व स्वाहा' कहकर, आचमन करके, हाथ धोकर, अग्नि के पीछे, पूर्व की तरफ सिर करके सो जाय, प्रात काल उठकर आदित्य को सम्बोधन कर प्रार्थना करे—हे सूर्य ! तू दिशाओ में इकला कमल की न्याई खिल रहा है, मैं भी मनुष्यो में इकला कमल की न्याई

के वरण करने योग्य, मधु—मधुर (सुखदायी), वाता—वायु, ऋतायते—ऋत (सत्य-वेदप्रतिपादित नियम) का पालन करनेवाले के लिए, मधु—सुख, क्षरन्ति—बरसाते हैं, देते हैं, सिन्धव—समुद्र या नदिया, माध्वी—सुखदायी, मधुर, न—हमें, सन्तु—हो, ओषधी—ओषधिया, भू—सत्-स्वरूप प्रभु, स्वाहा—शुभ कथन, दान (पूर्ण त्याग), भर्ग—तेज को, देवस्य—भगवान् के, धीमहि—ध्यान करें, धारण करें, मधु—मधुर (सुखमय), नक्तम्—रात उत—और, तथा, उषस—उष काल (दिन), मधुमत्—सुखमय पार्थिवम् —पृथिवी की, रज—धूल, लोक, मधु—सुखदायी, द्यौ—द्यु-लोक, अस्तु—हो, न—हमारा, पिता—पालन-कर्ता, रक्षक, भुव—चित्-स्वरूप प्रभु, स्वाहा —स्वाहा, धिय—बुद्धियो को, कर्मों को और वाणी का, य—जो (सविता देव), न—हमारी, प्रचोदयात्—(कल्याण के लिए) प्रेरित करे, मधुमान्—मधु (सुख से) युक्त, न—हमें, वनस्पति—वन के वृक्ष, मधुमान्—सुख से युक्त, अस्तु—हो, सूर्य—सूर्य, माध्वी—सुखदायी, मधु (मधुर दुग्ध) वाली, गाव—गौएँ, भवन्तु—हो, न—हमारे लिए, स्व—आनन्द स्वरूप प्रभु, स्वाहा—स्वाहा, इति—ऐसे (इन तीन मन्त्रो को बोल कर तीन बार भक्षण करे), सर्वाम् च—(चौथी बार) पहले सारी, सावित्रीम्—सविता देवतावाली गायत्री का, अनु+आह—पाठ करे, बोले, सर्वा च—और सारे, मधुमती—मधुमती ('मधु वाता' आदि तीनो) मन्त्रो को, अहम् एव—मैं ही, इदम् सर्वम्—यह सब कुछ (मधुमय), भूयासम्—हो जाऊ, भू भुव स्व स्वाहा—भू भुव स्व स्वाहा, इति—स्वाहा-युक्त इन तीन व्याहृतियो को, अन्तत—अन्त में (बोल कर), आचम्य—(मन्थ का) भक्षण कर, पाणी—हाथों को, प्रक्षाल्य—धोकर, जघनेन—पीछे (पश्चिम) की ओर अग्निम्—अग्नि के, प्राक्-शिरा—पूर्व की ओर सिर वाला (सिर कर), संविशति—सो जाय, प्रात —प्रात काल में, आदित्यम्—सूर्य का, उपतिष्ठते—उपस्थान (उपासना-

खिल जाऊं ! फिर लौट कर, अग्नि के पीछे बैठ कर, जिस प्रकार गुरु-शिष्य परंपरा से यह विद्या आई है उस वंश का ध्यान करे, सोचे कि उनके प्रताप से यह विद्या मुझ तक पहुंची है ।।६।।

'मन्थ' के इस रहस्य को उद्दालक आरुणि ने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य को बतलाया, उसने मधुक पैङ्ग्य को, उसने चूल भागवित्ति को, उसने जानकि आयस्थूण को और उसने जाबाल सत्य-

---

ध्यान) करे (कि हे सूर्य); **दिशाम्**—दसों दिशाओं का; **एक-पुण्डरीकम्**—अद्वितीय शुभ्र कमल; **असि**—तू है; **अहम्**—मैं (भी); **मनुष्याणाम्**—मनुष्यों का (में); **एक-पुण्डरीकम्**—अद्वितीय शुभ्र कमल; **भूयासम्**—हो जाऊं; **इति**—ऐसे (उपस्थान कर); **यथा-इतम्**—जैसे आया था वैसे; **एत्य**—लौटकर जाकर; **जघनेन अग्निम्**—अग्नि के पीछे (पश्चिम) की ओर; **आसीनः**—बैठा हुआ; **वंशम्**—गुरु-शिष्य परम्परा का; **जपति**—जप करता है ।।६।।

तं हैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ।।७।।

तम् ह एतम्—उस इस 'मन्थ' (के रहस्य) को; **उद्दालकः**—उद्दालक ने; **आरुणिः**—अरुण के पुत्र; **वाजसनेयाय**—वाजसनेय; **याज्ञवल्क्याय**—याज्ञवल्क्य-नामी; **अन्तेवासिने**—शिष्य को; **उक्त्वा**—कह (उपदेश) कर; **उवाच**—कहा था; **अपि**—भी; **यः**—जो (कोई); **एनम्**—इस (मन्थ) को; **शुष्के**—सूखे; **स्थाणौ**—ठूंठ पर; **निषिञ्चेत्**—सींच दे, डाल दे; **जायेरन्**—(तो उस ठूंठ में) पैदा हो जाएं; **शाखाः**—शाखाएं; **प्ररोहेयुः**—उग आयें, जम आयें; **पलाशानि**—पत्ते; **इति**—यह (मन्थ-विज्ञान का फल बताया था) ।।७।।

एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्या-
यान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ
निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ।।८।।

एतम् उ ह एव—और इस ही (मन्थ-विज्ञान) को; **वाजसनेयः याज्ञवल्क्यः**—वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने; **मधुकाय**—मधुकनामी; **पैङ्ग्याय**—पैङ्ग्य; **अन्तेवासिने**—शिष्य को; **उक्त्वा**. . .**पलाशानि इति**—अर्थ पूर्ववत् ।।८।।

एतमु हैव मधुकः पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तयेऽन्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ।।९।।

एतम् उ ह एव—और इस ही (मन्थ-विज्ञान) को; **मधुकः**—मधुक नामी ने; **पैङ्ग्यः**—पैङ्ग्य; **चूलाय**—चूल नामक; **भागवित्तये**—भागवित्ति; **अन्तेवासिने**—शिष्य को; **उक्त्वा**. . .**पलाशानि इति**—अर्थ पूर्ववत् ।।९।।

काम को बतलाया, और प्रत्येक ने अपने शिष्य को 'मन्थ-रहस्य' बतलाते हुए कहा कि यदि कोई पुरुष इस 'मन्थ' को सूखी छड़ी पर भी छिड़क दे, तो उसमें भी शाखाएं उत्पन्न हो जाय और पत्ते फूट निकलें। 'मन्थ' के इस रहस्य को अपने पुत्र अथवा शिष्य के अतिरिक्त किसी को न बतलाये ॥७-१२॥

'मन्थ-कर्म' में गूलर की चार वस्तुएं होती हैं—गूलर का स्रुवा, गूलर का चमस अर्थात् पात्र, गूलर की समिधा और गूलर की दो

एतमु हैव चूलो भागवित्तिर्जानकय आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥१०॥

एतम् उ ह एव—और इस ही (मन्थ विज्ञान) को, चूल भागवित्ति—भागवित्ति चूल ने, जानकये—जनक के पुत्र, आयस्थूणाय—आयस्थूण नामक, अन्तेवासिने—शिष्य को, उक्त्वा पलाशानि इति—अर्थ पूर्ववत् ॥१०॥

एतमु हैव जानकिरायस्थूणः सत्यकामाय जाबालायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥११॥

एतम् उ ह एव—और इस ही (मन्थ विज्ञान) का, जानकि आयस्थूण—जनक के पुत्र आयस्थूण ने सत्यकामाय—सत्यकाम नामी जाबालाय—जबाला के पुत्र, अन्तेवासिने—शिष्य का, उक्त्वा पलाशानि इति—अर्थ पूर्ववत् ॥११॥

एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति तमेतं नापुत्राय वाऽनन्तेवासिने वा ब्रूयात् ॥१२॥

एतम् उ ह एव—और इस ही (मन्थ विज्ञान) को सत्यकाम जाबाल—जबाला के पुत्र सत्यकाम ने, अन्तेवासिभ्य—अनेक शिष्यों को, उक्त्वा पलाशानि इति—अर्थ पूर्ववत्, तम्—उस, एतम्—इस (मन्थ विज्ञान) का, न—नहीं, अपुत्राय वा—पुत्र से अतिरिक्त को, अनन्तेवासिने वा—या अपने पास रहनेवाले शिष्य से भिन्न को, ब्रूयात्—बतावे, उपदेश करे ॥१२॥

चतुरौदुम्बरो भवत्यौदुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्या उपमन्थन्यौ दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियङ्गवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान् पिष्टान्दधनि मधुनि घृत उपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति ॥१३॥

चतुर्+औदुम्बर—चार गूलर से बनी वस्तुओं वाला, भवति—(यह मन्थ विधि) होता है, औदुम्बर—गूलर-काष्ठ का, स्रुव—स्रुवा, औदुम्बर—गूलर का बना, चमस—पात्र, औदुम्बर—गूलर का, इध्म—ईंधन,

उपमन्थनियां। ग्राम के दस धान होते हैं—व्रीहि और यव (चावल और जो), तिल और माष, अणु और प्रियंगु (बाजरा और कंगनी), गेहूं, मसूर, खल्व (मटर) और खलकुल (कुलथी)। इनको पीस कर दधि, मधु तथा घृत में मिला कर घृत से होम करे ॥१३॥

षष्ठ अध्याय—(चौथा ब्राह्मण)

(गर्भाधान)

'मन्थ-कर्म करने वाला 'पुत्र-कर्म' करे, सन्तानोत्पत्ति करे, ताकि उच्च-कोटि की सन्तान हो। इस ब्राह्मण में आगे जो-कुछ लिखा है उसे कई लोग अश्लील समझते हैं। कइयों ने इस स्थल के अश्लील ही अर्थ किये हैं। परन्तु किसी स्थल का ठीक अर्थ तभी समझ में आ सकता है जब उसका आगे-पीछे के स्थलों के साथ समन्वय किया जा सके। इस ब्राह्मण में 'मन्थ-कर्म' का वर्णन है। 'मन्थ-कर्म' में औषधियों तथा फलों के रसों को मिलाकर उसमें उच्च विचारों की भावना दी जाती है। फिर उसे पीकर यह भावना जागृत की जाती है कि जो भावनाएं 'मन्थ' में डाली गई हैं, वे पीने वाले में आ जायें। 'मन्थ' पीने मात्र से तो ऊंची भावनाएं क्या आयेंगी, परन्तु उच्च विचारों को जागृत करने का यह एक भौतिक तरीका है। फिर 'मन्थ-कर्म' करने वाला 'पुत्र-कर्म' करे, अर्थात् उसी-जैसे ऊंचे विचारों वाली सन्तान उत्पन्न करने का प्रयत्न करे—यह इस चतुर्थ ब्राह्मण के प्रारम्भ में लिखा है। इस ब्राह्मण के अन्त में यह लिखा है कि इस प्रकार जिस माता के पुत्र हो, वह वीरवती है, उसने वीर पुत्र को जन्म दिया है, उस

समिधाएं; **औदुम्बर्यौ**—गूलर की बनी; **उपमन्थन्यौ**—मथानियां; (इसमें) **दश**—दस; **ग्राम्याणि**—गांव के (कृषि से उत्पन्न), **धान्यानि**—अनाज; **भवन्ति**—प्रयुक्त होते हैं; **व्रीहि-यवाः**—चावल और जो; **तिल-माषाः**—तिल और उड़द; **अणु-प्रियङ्गवः**—अणु-प्रियङ्गु (संवाई और कंगनी); **गोधूमाः च**—और गेहूं; **मसूराः च**—और मसूर; **खल्वाः च**—मटर; **खलकुलाः च**—कुलथी; **तान्**—उनको; **पिष्टान्**—पिसे हुए (पीस कर); **दधनि**—दही में; **मधुनि**—शहद में (मीठे में); **घृते**—घी में; **उपसिञ्चति**—भिगो दे (मिला दे); (और) **आज्यस्य**—घी का; **जुहोति**—हवन करता है (घृत की आहुति दे) ॥१३॥

पुत्र के कान में कहे—'वेद' तेरा नाम है। जो पुत्र हो वह 'अति-पिता' हो, 'अति-पितामह' हो, अर्थात् उच्च गुणों में पिता से आगे निकल जाय, पितामह से भी आगे निकल जाय। आगे-पीछे के इन स्थलों को देखकर क्या इस ब्राह्मण में कहीं अश्लीलता को स्थान रह जाता है? मैक्समूलर ने इस स्थल को अश्लील समझ कर इसका अंग्रेज़ी में अनुवाद न कर लैटिन में अनुवाद किया था। परन्तु यह अश्लील स्थल नहीं, इसमें गर्भाधान के उच्च-कोटि के संस्कार का वर्णन है। उसे एक यज्ञ कहा है। इस विषय को उठाते हुए ऋषि कहते हैं—

महाभूतों का रस पृथिवी है, पृथिवी का रस जल है, जलों का रस ओषधि, ओषधियों का रस पुष्प, पुष्पों का रस फल, फलों का रस पुरुष, पुरुष का रस वीर्य है ॥१॥

प्रजापति ने ईक्षण किया, सोचा, वीर्य कितना सामर्थ्य-शाली है, इसे यह पुरुष यों ही न बिगाड़े, इसलिये इसकी प्रतिष्ठा बना दूं। उसने स्त्री को रचा। उसे रचकर भू-लोक में लाकर मानो उसकी उपासना की, अर्थात् सोचा कि बहुत अच्छी रचना हुई, इसलिये भू-

---

एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः ॥१॥

एषाम् वै—निश्चय ही इन, भूतानाम्—पंच भूतों का, पृथिवी—पृथिवी, रसः—सार है, पृथिव्याः—पृथिवी के, आपः—जल, अपाम्—जलों के, ओषधयः—ओषधियां, ओषधीनाम्—ओषधियों का, पुष्पाणि—फूल, पुष्पाणाम्—फूलों के, फलानि—फल, फलानाम्—फलों का (सार), पुरुषः—पुरुष (का शरीर), पुरुषस्य—शरीर का, रेतः—वीर्य (सार भूत) है ॥१॥

स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स स्त्रियं ससृजे तां सृष्ट्वाऽध उपास्त तस्मात्स्त्रियमध उपासीत स एतं प्राञ्चं ग्रावाणमात्मन एव समुदपारयत्तेनैनामभ्यसृजत् ॥२॥

सः ह प्रजापतिः—और उस प्रजापति ने, ईक्षांचक्रे—देखा, विचार किया, हन्त—अरे, कि, अस्मै—इस (वीर्य) के लिए, प्रतिष्ठाम्—स्थिति का स्थान, कल्पयानि—बनाऊं, निश्चित करूं, इति—ऐसे, सः—उसने, स्त्रियम्—स्त्री को, ससृजे—बनाया, उत्पन्न किया, ताम्—उस (स्त्री) को, सृष्ट्वा—रच कर, अधः—नीचे, उपास्त—बैठा, उपासना की, तस्मात्—उस कारण

लोक में स्त्री की उपासना करे, अर्थात् प्रभु की कृति की प्रशंसा करे। प्रजापति ने मानो अपने पवित्र वज्र-सदृश बल को पार लगा दिया, अर्थात् अपना पूरा बल लगाकर उसने स्त्री की रचना की—अपने संपूर्ण सामर्थ्य से स्त्री को रचा ॥२॥

स्त्री मानो एक पवित्र यज्ञ है। उसका जनन-स्थान ही वेदी है, लोम बर्हि हैं, यज्ञ में बिछाने का मृग-चर्म तथा अधिषवण ये मध्य में समिद्ध दोनों मुष्क हैं। जो इस प्रकार स्त्री में यज्ञ की कल्पना कर उसे यज्ञ के समान पवित्र समझ कर उसके साथ बरतता है वह स्त्रियों के सुकृत को पा लेता है, जो इस रहस्य को न जान कर उनसे बरतता है उसका सुकृत स्त्रियां पा लेती हैं ॥३॥

से; **स्त्रियम्**—स्त्री को (की); **अधः**—नीचे; **उपासीत**—उपासना करे; (**अधः उपासीत**—रति-क्रिया करे); **सः**—उसने; **एतम्**—इस; **प्राञ्चम्**—पूर्ण, प्रगतिशील; **ग्रावाणम्**—कठोर, वज्रसदृश को; **आत्मनः**—अपना, अपने से; **एव**—ही; **समुदपारयत्**—पार लगा दिया; **तेन**—उससे; **एताम्**—इसको; **अभ्यसृजत्**—रचा ॥२॥

> **तस्या वेदिरुपस्थो लोमानि बर्हिश्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ स यावान् ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासं चरत्यासां स्त्रीणां सुकृतं वृङ्क्तेऽथ य इदमविद्वानधोपहासं चरत्यस्य स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते ॥३॥**

तस्याः—उस (स्त्री) की; **वेदिः**—(पुत्रेष्टि) यज्ञ का स्थल; **उपस्थः**—स्त्री-योनि है; **लोमानि**—रोम; **बर्हिः**—कुशा; **चर्म-अधिषवणे**—मृग-चर्म और अधिषवण; **समिद्धः**—प्रदीप्त; **मध्यतः**—मध्य भाग में; **तौ**—वे दोनों; **मुष्कौ**—अण्ड-कोष; **सः**—वह; **यावान्**—जितना; **ह वै**—निश्चय से; **वाजपेयेन**—वाजपेय (यज्ञ) से; **यजमानस्य**—यज्ञ-कर्ता का; **लोकः**—स्थिति, फल-प्राप्ति; **भवति**—होता है; **तावान्**—उतना ही; **अस्य**—इसका; **लोकः**—स्थान, फल; **भवति**—होता है; **यः**—जो; **एवम्**—इस प्रकार; **विद्वान्**—जाननेवाला; **अधोपहासम्**—रति-कर्म; **चरति**—करता है; **आसाम्**—इन; **स्त्रीणाम्**—स्त्रियों के; **सुकृतम्**—सुकर्म को, पुण्य-फल को; **वृङ्क्ते**—पा लेता है; **अथ**—और; **यः**—जो; **इदम्**—इसको; **अविद्वान्**—न जानता (समझता) हुआ; **अधोपहासम्**—मैथुन-कार्य; **चरति**—करता है; **अस्य**—इस (मूर्ख) के; **स्त्रियः**—स्त्रियां; **सुकृतम्**—पुण्य को; **वृञ्जते**—हर लेती हैं ॥३॥

गृहस्थी का यही आचार-धर्म है, स्त्री को यज्ञ के समान पवित्र समझे। इस रहस्य को जानते हुए अरुण के पुत्र उद्दालक ने कहा था कि गृहस्थी का यही आचार-धर्म है, मुद्गल के पुत्र नाक और कुमार-हारित भी इसी को गृहस्थी का आचार-धर्म कहते थे। अनेक मनुष्य जो अपने को व्यर्थ में ब्राह्मण कहते हैं—वे इन्द्रिय-हीन, सुकृत-हीन होते हैं—इस लोक से चले जाते हैं, परन्तु उन्हें अन्त तक स्त्री को यज्ञ-रूप समझ कर उसके साथ बरताव करना नहीं आता। कई संयम-हीन व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनका सोते या जागते वीर्य-स्खलन हो जाता है, अर्थात् जो स्त्री को यज्ञ के समान पवित्र न समझ कर उसे विषय का साधन समझते हैं और इसीलिये स्वप्न में बुरे विचारों के कारण उन्हें स्वप्न-दोष हो जाता है ॥४॥

जिसका वीर्य-नाश हो गया है, वह पश्चात्ताप करता हुआ अना-मिका और अंगुष्ठ से छाती को, जहां 'हृदय' है, और भंवों को, जहां

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्नाको मौद्-गल्य आहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्कुमारहारित आह बहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रिया विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति य इदमविद्वांसोऽधोपहासं चरन्तीति बहु वा इदं सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति ॥४॥

एतद् ह स्म वै—इस ही बात को, तद्+विद्वान्—उस (संतति-यज्ञ) को जाननेवाले, उद्दालक आरुणि—अरुण के पुत्र उद्दालक ने, आह (स्म)—कहा था, एतद् ह स्म वै—इस ही रहस्य को, तद्+विद्वान्—उसके जाननेवाले, नाक मौद्गल्य—मुद्गलवंशी नाक ने, आह (स्म)—कहा था, एतद् ह स्म वै—इस ही विज्ञान को, तद्+विद्वान्—उसके ज्ञाता, कुमारहारित—कुमारहारित ने, आह (स्म)—कहा था, बहव—बहुत से, मर्या—मनुष्य, ब्राह्मणायना—ब्राह्मणाभिमानी, निरिन्द्रिया—इन्द्रिय शक्ति से विहीन, विसु-कृत—पुण्य से वंचित, अस्मात्—इस, लोकात्—लोक से, प्रयन्ति—चले जाते हैं, ये—जो, इदम्—इसको, अविद्वास—न जानते हुए, अधोपहासम् चरन्ति—रति-कर्म करते हैं, इति—यह (कहते थे), बहु—बहुत (बार), वै—ही, तो, इदम—यह, सुप्तस्य वा—सोए हुए, जाग्रत वा—या जागते हुए (पुरुष) का, रेत—वीर्य, स्कन्दति—स्खलित हो जाता है ॥४॥

तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान्त्सीद्-योषधीरप्यसरद्यदपः । इदमहं तद्रेत आददे पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुन-

'मस्तिष्क' है, जल से स्पर्श करे—हृदय और मस्तिष्क के असंयत होने ही से तो संयम टूटा है—और मन में जपे—मेरा आज वीर्य-स्खलन हुआ है, आगे से ऐसा न होगा, मैं अपने वीर्य को फिर से अपने भीतर धारण करूं, 'पुनर्माम् ऐतु इन्द्रियम्', अर्थात् इन्द्रिय-बल मुझे फिर प्राप्त हो, मेरा तेज, मेरा सौभाग्य फिर मेरे पास लौट आये, अग्नि-धिष्ण्य देव फिर से मुझ स्थान-भ्रष्ट को यथा-स्थान कर दें ।५।।

स्नान करता हुआ जब जल में अपने प्रतिबिम्ब को देखे तब भी वीर्य-धारण की प्रार्थना-करता हुआ जपे—मुझे तेज, इन्द्रिय-बल, यश, धन और सुकृत प्राप्त हो । इस प्रकार वीर्य-रक्षा कर, अपने को बल-शाली बनाकर निर्मल, यशस्विनी स्त्री का उपमन्त्रण करे, उसे चाहे,

---

स्तेजः पुनर्भगः । पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्तामित्य-
नामिकाऽङ्गुष्ठाभ्यामादायान्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ वा निमृज्यात् ।।५।।

तद्—तो, उसको; अभिमृशेत्—सहलावे, छुए; अनु वा मन्त्रयेत (अनु-मंत्रयेत वा)—या चिन्तन करे (कि क्यों ऐसा हुआ ?) या अगले मंत्र का जप करे; यत्—जो; मे—मेरा; अद्य—आज; रेतः—वीर्य; पृथिवीम्—पृथिवी पर; अस्कान्त्सीत्—स्खलित हो कर गिरा है; यद्—जो; ओषधीः—ओषधियों को; अपि—भी; असरत्—चला, सरका है; यद्—जो; अपः—जलों को; इदम्—यह, इस; अहम्—मैं; तद्—उस; रेतः—वीर्य को; आददे—ग्रहण करता हूं, पुनः संचित करता हूं (फिर नहीं स्खलित होने दूंगा); पुनः—फिर; माम्—मुझको; ऐतु—प्राप्त हो, आवे; इन्द्रियम्—इन्द्रिय-सामर्थ्य; पुनः—फिर; तेजः—तेज; पुनः—फिर; भगः—सौभाग्य, ऐश्वर्य; पुनः—फिर; अग्निः—शरीर-अग्नि; धिष्ण्या—धारण करने वाली (बुद्धि या समझ); यथास्थानम्—पूर्ववत् अपने-अपने स्थान पर; कल्पन्ताम्—होवें; इति—ऐसे जप कर (चिन्तन कर); अनामिका+अङ्गुष्ठाभ्याम्—अनामिका (उंगली) और अंगूठे से; आदाय—ग्रहण कर; अन्तरेण—मध्य में; स्तनौ वा—स्तनों (हृदय-प्रदेश) के; भ्रुवौ वा—भंवों (मस्तिष्क) के; निमृज्यात्—प्रक्षालन करे, जल से मार्जन करे (हृदय और मस्तिष्क की शुद्धि करे) ।।५।।

अथ यद्युदक आत्मानं पश्येत्तदभिमन्त्रयेत मयि तेज इन्द्रियं
यशो द्रविणं सुकृतमिति श्रीर्ह वा एषा स्त्रीणां यन्मलो-
द्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभिक्रम्योपमन्त्रयेत ।।६।।

अथ—और; यदि—अगर; उदके—जल में; आत्मानम्—अपने स्वरूप को; पश्येत्—देखे; तत्—तो; अभिमन्त्रयेत—(अगले मन्त्र का) जप करे;

उससे विवाह करे। स्त्री की श्री, अर्थात् शोभा इसी में है कि वह धुले हुए वस्त्र के समान निर्मल हो (या ऋतु के दिनों के मलिन वस्त्र उतार दे) और इसी प्रकार का निर्मल व्यक्ति उससे सन्तति-यज्ञ की मंत्रणा करे ॥६॥

विवाह के अनन्तर पत्नी पति को सहयोग न दे, तो उसे सुन्दर-सुन्दर वस्तुएं लाकर दे जिससे वह सन्तुष्ट होकर सहयोग दे, फिर भी सहयोग न दे तो यष्टि से वा पाणि से उसकी खूब ताड़ना करे, और कहे कि अपने इन्द्रिय-बल से और अपने यश से तेरा यश खींच लूंगा, तुझे यश-हीन बना दूंगा, इस प्रकार पत्नी अयशस्विनी हो जाती है, अपनी अलग न चलाकर पति के साथ सहयोग देने लगती है ॥७॥

अगर पत्नी सहयोग दे, तो उसे कहे कि अपने इन्द्रिय-बल से

मयि—मुझ में, तेज—तेज, इन्द्रियम्—इन्द्रिय शक्ति (वीर्य), यश—यश, द्रविणम्—धन सपत्ति, सुकृतम्—पुण्य-कर्म, सदाचार (बने रहें), इति—इस (मंत्र का जप करे), श्री—लक्ष्मी, शोभा, कान्तिमती, ह वै—निश्चय ही, एषा—यह है, यत्—जो, मलोद्वासा—ऋतु स्नाता है, तस्माद्—उस कारण से, मलोद्वाससम्—ऋतु स्नाता को, यशस्विनीम्—(सदाचार में) यश (प्रसिद्धि) वाली, अभिक्रम्य—पास जाकर, उपमन्त्रयेत—(सन्तति-यज्ञ के लिए) मंत्रणा करे ॥६॥

सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात् सा चेदस्मै नैव दद्यात्काममेना यष्टया वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति ॥७॥

सा—वह, चेद्—यदि, अस्मै—इस (पति) को, न—नहीं, दद्यात्—(स्वीकृति) देवे, कामम्—चाहे, एनाम्—इसको, अवक्रीणीयात्—(भूषण आदि से) खरीदे (प्रलोभित कर अनुकूल करे), सा चेत्—वह अगर, अस्मै न एव दद्यात्—फिर भी स्वीकृति न दे (तो), कामम्—चाहे, एनाम्—इसको, यष्टया वा—दण्ड से, पाणिना वा—या हाथ से, उपहत्य—मार कर, अतिक्रामेद्—(रति-कर्म का विचार) छोड़ दे (और डर दिखाये कि), इन्द्रियेण—इन्द्रिय-बल से, ते—तेरे, यशसा—यश से, यश—कीर्ति को, आददे—मैं लेता हूं, छीन लेता हूं, इति—ऐसे (शाप दे), अयशा—अपयशवाली, एव—ही, भवति—वह हो जाती है ॥७॥

सा चेदस्मै दद्यादिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति यशस्विनावेव भवतः ॥८॥

और अपने यश से तुझे भी यशस्विनी बनाता हूं—इस प्रकार पति-पत्नी दोनों यशस्वी हो जाते हैं ॥८॥

अगर पति चाहे कि उसकी पत्नी उससे प्रसन्न रहे, तो पत्नी की इच्छा में ही अपनी इच्छा मिला दे, उसकी हां में हां मिला दे, उसके समीप बैठकर, उसे स्पर्श कर कहे—हे प्रेम के देवता ! तू मेरे अंग-अंग से उत्पन्न हो रहा है, तू मेरे हृदय से फूट रहा है, तू मेरे अंगों का मानो रस है, तू मेरी स्त्री को मुझ पर मदान्वित कर दे, इसे ऐसा कर दे जैसे विष से बुझे हुए वाण से विद्ध मृगी व्याध के वश में हो जाती है ॥९॥

अगर पति चाहे कि उसकी स्त्री सन्तानोत्पत्ति के कार्य में न लग कर उसके साथ ब्रह्मचर्य-पूर्वक जीवन व्यतीत करे, तो पत्नी के साथ

सा चेद् अस्मै दद्यात्—अगर वह अपनी स्वीकृति इसे दे दे; इन्द्रियेण ते यशसा यशः—अपने इन्द्रिय-बल और यश से तुझ में यश को; आदधामि—धारण करता हूं (तुझे यशस्विनी बनाता हूं); इति—ऐसे (कहे); (तब वे दोनों) यशस्विनौ—कीर्ति-यशवाले; एव—ही; भवतः—हो जाते हैं ॥८॥

स यामिच्छेत्कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदंगादंगात्संभवसि हृदयादधि-जायसे । स त्वमंगकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमाममूं मयीति ॥९॥

सः—वह मनुष्य; याम्—जिस (अपनी पत्नी) को; इच्छेत्—चाहे कि; कामयेत—(वह) चाहे (आकृष्ट हो, कामभाव को पूरा करे); मा—मुझ को; इति—ऐसे; तस्याम्—उसमें; अर्थम्—(अपने) अभिप्राय को; निष्ठाय—रख कर, निष्ठा से प्रगट कर; मुखेन—अपने मुख से; मुखम्—(पत्नी के) मुख को; संधाय—मिला कर; उपस्थम्—निकट को; अस्याः—इसके; अभिमृश्य—स्पर्श करके, अर्थात् अपनी स्त्री के निकट बैठ कर उसे स्पर्श करके; जपेत्—(अगले मंत्र का पुत्र-प्राप्ति के लिए) जप करे; अंगात् अंगात्—प्रत्येक अंग (के सार रूप वीर्य) से; संभवसि—उत्पन्न होता है; हृदयात्—हृदय (की भावना) से; अधिजायसे—जन्म लेता है; सः—वह; त्वम्—तू; अंगकषायः—अंग का रस; असि—है; दिग्धविद्धाम्—विष बुझे वाण से विंधी; इव—(हरिणी की) तरह; मादय—मस्त (पुत्र-आशा से अनुरक्त) कर दे; इमाम्—इसको; अमूम्—इसको; मयि—मुझ पर; इति—यह (मन्त्र जपे) ॥९॥

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं संधा-याभिप्राण्यापान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यरेता एव भवति ॥१०॥

ऐसा बर्ताव करे जिससे उसकी इच्छा पत्नी की इच्छा बन जाय, उसके मुख से निकली बात पत्नी की बात बन जाय। फिर दोनों प्राणापान की गति को साधें, अर्थात् प्राणायाम करें—(अभिप्राण्य अपान्यात्)—और एक दूसरे के प्रति इस भावना को जन्म दें कि हम अपनी शक्ति को एक-दूसरे की इन्द्रियों की शक्ति में सम्मिलित करते हैं—इस प्रकार वे दोनो अरेता हो जाते हैं, प्रजनन नहीं करते और ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हैं ॥१०॥

(कई लोगो का कहना है कि यहा पर परिवार-नियोजन अर्थात् सन्तानोत्पत्ति-निरोध (Family Planning) का उपाय बतलाया गया है। 'अभिप्राण्य अपान्यात्'—गहरा प्राण लेकर अपान वायु का प्रयोग करे। आयुर्वेद के अनुसार उपस्थेन्द्रिय में अपान वायु रहती है। वीर्य का सिंचन अपान वायु द्वारा होता है। अपान द्वारा वीर्य का सिंचन न होने दे—इस प्रकार स्त्री-सग करने पर भी गर्भ-धारण नही होता। इस प्रक्रिया को पाश्चात्य लेखक Cunnilingus कहते हैं जो अफ्रीका आदि कई देशो मे गर्भ-निरोध के लिये प्रचलित है। भारतीय-साहित्य में भी इसी प्रकार की वज्रोली आदि क्रियाओ के विषय में सुना जाता है। मैथुन होने पर भी वीर्यपात न होना—इन क्रियाओ का अभिप्राय है।)

अगर पति चाहे कि उसकी पत्नी सन्तानोत्पत्ति करे, तो उसके साथ अपनी इच्छा और वाणी को एक करके गर्भाधान करे—(अपान्य

अथ—और, याम् इच्छेत्—जिस अपनी पत्नी को चाहे, न—नही, गर्भम्—गर्भ को, दधीत—धारण करे, इति—ऐसे, तस्याम्—उसमें, अर्थम् निष्ठाय—अपने अभिप्राय को रख कर, मुखेन मुखम् सधाय—मुख से मुख मिला कर, अभिप्राण्य—(पहले) गहरा सास लेकर, अपान्यात्—श्वास को छोड दे, निकाल दे, इन्द्रियेण—इन्द्रिय-बल रूप, ते—तेरे (अन्दर गये), रेतसा—वीर्य से, रेतः—वीर्य को, आददे—लेता हू, खीचता हू, इति—ऐसा (बोलकर), अरेता—वीर्य से रहित, एव—ही, भवति—हो जाती है (वीर्याभाव मे सन्तान नही होती) ॥१०॥

अथ यामिच्छेद्दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं सधायापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ॥११॥

अभिप्राण्यात्)—दोनों के रेत एक होने से स्त्री गर्भवती हो जाती है ॥११॥

(दसवीं कण्डिका में जो कहा उससे उल्टा ११वीं कण्डिका में कहा। दसवीं में कहा—'अभिप्राण्य अपान्यात्', ग्यारहवीं कण्डिका में कहा—'अपान्य अभिप्राण्यात्'—अर्थात् अपान वायु के संचार द्वारा वीर्य-सिंचन कर प्राण को ले—इस प्रकार गर्भ-धारण हो जाता है, यह कुछ टीकाकारों का कथन है।)

अगर स्त्री का कोई जार हो, गुप्त-प्रेमी हो, उससे अगर पति द्वेष करे, तो कच्चे पात्र में अग्नि को रखे, शर-सदृश बर्हि को प्रतिलोम बिछा दे, और फिर उन्हें उठा-उठाकर उल्टी तरफ़ से घी में सिक्त करके अग्नि में हवन करे, और कहे—मेरी प्रदीप्त अग्नि में—यज्ञ-रूपा पत्नी में—तूने होम किया, इस कारण हे अमुक ! मैं तेरे प्राण और अपान को खींच लेता हूं, तूने मेरी प्रदीप्त अग्नि में होम किया, इस कारण हे अमुक ! मैं तेरे पुत्र और पशुओं को खींच लेता हूं, तूने मेरी प्रदीप्त-अग्नि में होम किया, इस कारण हे अमुक ! मैं तेरे इष्ट और सुकृत को खींच लेता हूं, तूने मेरी प्रदीप्त अग्नि में होम किया, इस कारण हे अमुक ! मैं तेरी आशा और प्रत्याशा को खींच

अथ याम् इच्छेत्—और जिसको चाहे कि; **दधीत इति**—यह (गर्भ) धारण करे; **तस्याम्...संधाय**—अर्थ पूर्ववत्; **अपान्य**—सांस निकाल कर; **अभिप्राण्यात्**—गहरा सांस लेवे; **इन्द्रियेण...रेतः**—पूर्ववत्; **आदधामि**—आधान करता हूं; **इति**—ऐसे; **गर्भिणी एव**—गर्भवती ही; **भवति**—हो जाती है ॥११॥

अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तं चेद्द्विष्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमँ शरबर्हिस्तीर्त्वा तस्मिन्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाऽक्ता जुहुयान्मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशूँस्त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददेऽसाविति स वा एष निरिन्द्रियो विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रैति यमेवंविद्ब्राह्मणः शपति तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति ॥१२॥

अथ—और यदि; **यस्य**—जिसकी; **जायायै**—स्त्री का; **जारः**—गुप्त-प्रेमी; **स्यात्**—हो; **तम्**—उसको; **चेत्**—अगर; **द्विष्यात्**—(पति) द्वेष करे

लेता हूं । इस रहस्य को जानने वाला ब्राह्मण जब शाप देता है, तो वह जार निरिन्द्रिय और सुकृत-हीन होकर इस लोक से चल देता है, इसलिये ऐसे श्रोत्रिय की स्त्री से कभी उपहास न करे क्योंकि ऐसा शत्रु भयकर शत्रु होता है ॥१२॥

जिसकी स्त्री को ऋतु-धर्म प्राप्त हो वह तीन दिन तक कासे के बर्तन में जल न पिये, और न तीन दिन तक कपडे धोये, उसे कोई नीच, धर्म-हीन पुरुष या नीच एव धर्म-हीन स्त्री स्पर्श न करे । तीन

(न चाहे) तो, **आमपात्रे**—कच्चे मट्टी के बर्तन मे **अग्निम्**—अग्नि का, **उपसमाधाय**—स्थापित – प्रदीप्त कर, **प्रतिलोमम्**—उल्टे रख म, **शरबर्हि**—सरकण्डे के पत्र रूप कुशा को, **स्तीर्त्वा**—फैला (बिछा) कर, **तस्मिन्**—उस (अग्नि) में, **एता**—इन, **शरभृष्टी**—सरकण्डे की (अधजली) सीलिया का **प्रतिलोमा**—उलटी ओर से, **सर्पिषा**—घी मे, **अक्ता**—चुपडी हुई सिक्त, **जुहुयात्**—हवन करे (आगे के मत्र बोलकर), **मम**—मेरी, **समिद्धे**—प्रदीप्त, **अग्नौ**—अग्नि मे, **अहौषी**—हवन किया है, **प्राण+अपानौ**—प्राण और अपान को, **ते**—तेरे, **आददे**—खीच लेता हू, **असौ**—यह (मे-अपना नाम ग्रहण करे), **इति**—यह मत्र बोल कर, **पुत्रपशून्**—पुत्र और पशुओ को, **इष्टा-सुकृते**—इष्ट (अभीष्ट या किये यज्ञ के फल) और पुण्य-कर्म के फल को, **आशा-पराकाशौ**—आशा और प्रतीक्षाओ (प्रत्याशाओ) ... , **इति**—इन (चार मन्त्रो से), **स वै एष**—वह यह व्यभिचारी **निरिन्द्रिय**—इन्द्रिय-बल स रहित, **विसुकृत**—पुण्य फल से वंचित **अस्मात्**—इस, **लोकात्**—लोक मे, **प्रैति**—चला जाता-मर जाता है, **यम्**—जिसका, **एवंविद्**—इस प्रकार (इस प्रक्रिया को) जाननेवाला, **ब्राह्मण**—ब्राह्मण, **शपति**—शाप देता है, **तस्माद्**—अत, **एवंवित्+श्रोत्रियस्य**—इस रहस्य (प्रक्रिया) का जाननेवाले वेदज्ञ ब्राह्मण की, **दारेण**—पत्नी से, **न**—नही, **उपहासम्**—अश्लील हसी मजाक, **इच्छेत्**—(करना) चाहे, **उत हि**—और क्योकि, **एवंवित्**—ऐसा ज्ञानी ब्राह्मण, **पर**—अत्यधिक पराया (शत्रु), **भवति**—हो जाता है ॥१२॥

अथ यस्य जायामार्तवं विन्देत्त्र्यहं कंसे न पिबेदहतवासा नैना वृषलो न वृषल्युपहन्यात्त्रिरात्रान्त आप्लुत्य व्रीहीनवघातयेत् ॥१३॥

अथ—और, **यस्य**—जिसकी, **जायाम्**—भार्या पत्नी को, **आर्तवम्**—ऋतु-काल, रज स्राव, **विन्देत्**—प्राप्त हो, होने लगे, **त्र्यहम्**—तीन दिन तक, **कंसे**—कासी के पात्र मे, **न**—नही, **पिबेत्**—पानी पीवे, **अहतवासा**—वस्त्र न

रात बीत जाने पर वह स्त्री स्नान करे और चरु बनाने के लिये व्रीहिं, अर्थात् धान को कूट कर तय्यार करे ॥१३॥

जो चाहे कि मेरा पुत्र शुक्ल-वर्ण हो, कम-से-कम एक वेद का ज्ञाता हो, पूरी आयु भोगे, तो दूध-चावल पकवा कर, घृत डाल कर पति-पत्नी दोनों खायें। ऐसा करने से वे दोनों ऐसा ही पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं ॥१४॥

जो चाहे कि मेरा पुत्र कपिल-वर्ण हो, पिंगलाक्ष हो, दो वेदों का ज्ञाता हो, पूरी आयु भोगे, तो चावल पका कर उसमें दही तथा घी डाल कर पति-पत्नी दोनों खायें। ऐसा करने से वे दोनों ऐसा ही पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं ॥१५॥

धोनेवाली रहे (स्नान न करे); न—नहीं; एनाम्—इस (रजस्वला) को; वृषलः—चाण्डाल (धर्म-लोपी नीच पुरुष); न—नहीं; वृषली—नीच (धर्म-भ्रष्ट) स्त्री; उपहन्यात्—स्पर्श करे; त्रिरात्र+अन्ते—तीन रात (दिन) के अन्त में (बीत जानेपर); आप्लुत्य—स्नान कर; व्रीहीन्—धानों को; अवघातयेत्—(पति) कुटवावे ॥१३॥

स य इच्छेत्पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१४॥

सः यः—वह जो; इच्छेत्—चाहे कि; पुत्रः—पुत्र (संतान); मे—मेरा; शुक्लः—गौर-वर्ण का (निर्मल चरित्रवाला); जायेत—उत्पन्न हो; वेदम्—एक वेद को; अनुब्रुवीत—अनुवचन करे, ज्ञाता हो; सर्वम्—सारी, पूर्ण; आयुः—आयु को; इयात्—प्राप्त हो; इति—ऐसे (चाहे); क्षीर-ओदनम्—दूध और चावल; पाचयित्वा—पकवाकर; सर्पिष्मन्तम्—घी वाले (घी डाल कर); अश्नीयाताम्—(पति-पत्नी) खावें; ईश्वरौ—समर्थ होते हैं; जनयितवै—(ऐसा पुत्र) उत्पन्न करने के लिए ॥१४॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे कपिलः पिङ्गलो जायेत द्वौ वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१५॥

अथ यः इच्छेत्—और जो चाहे; पुत्रः—पुत्र; मे—मेरा; कपिलः—कपिलवर्ण; पिङ्गलः—पिंगलाक्ष (भूरी आंखोंवाला); जायेत—उत्पन्न हो; द्वौ—दो; वेदौ—वेदों को; अनुब्रुवीत—व्याख्याता (ज्ञाता) हो; सर्वम् आयुः इयात्—पूर्ण आयु को प्राप्त करे; इति—ऐसा (चाहे); दधि+ओदनम्—दही और चावल; पाचयित्वा—पकाकर; सर्पिष्मन्तम्—घी से युक्त कर; अश्नीया-

जो चाहे कि मेरा पुत्र श्याम-वर्ण हो, लोहिताक्ष हो, तीन वेदों का ज्ञाता हो, पूरी आयु भोगे तो खाली पानी में चावल पका कर उसमें घी डाल कर पति-पत्नी दोनों खायें। ऐसा करने से वे दोनों ऐसा ही पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं ॥१६॥

जो चाहे कि मेरी कन्या पंडिता हो, पूरी आयु भोगे, तो तिल तथा चावल पका कर, घी डाल कर पति-पत्नी खायें। ऐसा करने से दोनों ऐसी कन्या उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं ॥१७॥

जो चाहे कि मेरा पुत्र पंडित हो, प्रख्यात हो, सभा-सोसाइटियों में जाने वाला हो, प्रिय वाणी बोलने वाला हो, सब वेदों का ज्ञाता

ताम्—(पति-पत्नी) भोजन करें, ईश्वरौ जनयितवै—(वे दोनों ऐसा पुत्र) उत्पन्न करने में समर्थ होंगे।१५॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादित्युदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१६॥

अथ यः इच्छेत् पुत्रः मे—और जो यह चाहे कि मेरा पुत्र, श्यामः—सावला, लोहिताक्ष—लाल-लाल आंखोंवाला, जायेत—उत्पन्न हो, त्रीन्—तीन, वेदान्—वेदों को (का), अनुब्रुवीत—व्याख्याता (ज्ञाता) हो, सर्वम् आयुः इयात्—पूरी आयु प्राप्त करे, इति—ऐसा (चाहे), उद+औदनम्—जल में चावल, पाचयित्वा—पका कर, सर्पिष्मन्तम्—घृत से युक्त कर; अश्नीयाताम्—(पति-पत्नी) भोजन करें, ईश्वरौ जनयितवै—(वे दोनों ऐसा पुत्र) उत्पन्न करने के लिए समर्थ होते हैं ॥१६॥

अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१७॥

अथ यः इच्छेत्—और जो चाहे कि, दुहिता—पुत्री, मे—मेरी, पण्डिता—पंडिता (विद्या-बुद्धि से सम्पन्न), जायेत—होवे, सर्वम् आयुः इयात्—पूरी आयु प्राप्त करे, इति—ऐसे, तिल+ओदनम्—तिल और चावल, पाचयित्वा—पकाकर, सर्पिष्मन्तम्—घी से युक्त कर, अश्नीयाताम्—(पति-पत्नी दोनों) खावें, ईश्वरौ जनयितवै—(वे ऐसी पुत्री) उत्पन्न करने के लिए समर्थ होते हैं॥१७॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा ॥१८॥

अथ यः इच्छेत्—और जो चाहे (कि); पुत्रः मे—मेरा पुत्र, पण्डितः—

हो, पूरी आयु भोगे, तो माष अर्थात् उड़द के साथ चावल पका कर पति-पत्नी दोनों खायें। ऐसा करने से वे दोनों ऐसा पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं जो शरीर में बैल के समान और ज्ञान में ऋषियों के समान होता है ॥१८॥

(इस स्थल में 'मांसौदन' की जगह 'माषौदन' पाठ ठीक है क्योंकि इस सारे प्रकरण में चावल-घी-दही-तिल आदि का वर्णन है। दही, घी, चावल, तिल आदि के सिलसिले में उड़द तो प्रकरण-संगत है, मांस सर्वथा असंगत है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद में 'मांस' का अर्थ ओषधि का कोमल गूदा होता है, जैसे अंग्रेजी में स्टोन का अर्थ फल की गुठली होता है। यहां पर चावल के साथ दो ओषधियों के गूदे (मांस) को मिला कर खाने के लिये कहा

पण्डित (विद्या-वृद्धि से सम्पन्न, चतुर); **विगीतः**—प्रशंसित, प्रख्यात, यशस्वी; **समितिंगमः**—सभा में जानेवाला (सभा-कार्य में कुशल); **शुश्रूषिताम्**—श्रवण करने योग्य, जिसको सब सुनना चाहें ऐसी; **वाचम्**—वाणी को; **भाषिता**—भाषण करनेवाला (अपूर्व-रमणीय बात का वक्ता); **जायेत**—उत्पन्न हो; **सर्वान्**—सारे (चारों); **वेदान् अनुब्रुवीत**—वेदों का व्याख्याता (ज्ञाता) हो; **सर्वम् आयुः इयात्**—सारी आयु को प्राप्त हो; **इति**—ऐसे (चाहे वह); **मांस+ओदनम्**—औषध के गूदे (कोमल भाग) और चावल को या (उचित पाठ-भेद में) **माष+ओदनम्**—उड़द और चावल को; **पाचयित्वा**—पकाकर; **सर्पिष्मन्तम्**—घी से युक्त कर; **अश्नीयाताम्**—(पति-पत्नी) खावें; **ईश्वरौ जनयितवै**—(वे ऐसा-पुत्र) उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं; **औक्षेण वा**—(वह गूदा) या तो 'उक्षा'-(जीवक) नामक ओषधि का हो; **आर्षभेण वा**—या 'ऋषभ'-नामक ओषधि का हो ॥१८॥

विशेष—(१) इस प्रकरण की पूर्व-पीठिका मन्थ-रहस्य में 'मांस' के न कहे जाने, (२) तीन मंत्रों में अभीष्ट तीन प्रकार के पुत्रों के कथन के बाद अभीष्ट दुहिता के निर्देश करने के अनन्तर चौथे प्रकार के पुत्र की परिगणना द्वारा क्रम-विरोध होने, (३) उपनिषद् की वाक्य-रचना शैली (जिसका पालन पहिली चार कंडिकाओं में हुआ है) के विपरीत 'ईश्वरौ जनयितवै' के आगे 'औक्षेण वार्षभेण वा' पाठ होने, (४) पहले पारिभाषिक 'त्रयी-विद्या' या 'त्रीन् वेदान्' में ही 'सर्वान् वेदान्' का अन्तर्भाव होने तथा (५) मांस-भक्षण के वैदिक (श्रौत-स्मार्त) एवं आर्य-मर्यादा के विरुद्ध होने तथा उपनिषदों में अन्यत्र मांस-भक्षण के प्रत्यक्ष निषिद्ध होने से यह पाठ प्रक्षिप्त है—यह कई विद्वानों का मत है।

गया है---एक है 'उक्षा', दूसरी है 'ऋषभ'। आयुर्वेद के ग्रन्थ 'भावप्रकाश-निघण्टु' (हरीतक्यादि वर्ग) में लिखा है ---

'जीवकर्षभकौ बल्यौ शीतौ शुक्रकफप्रदौ।

मधुरौ पित्तदाहास्त्रकार्श्यवातक्षयापहौ ॥'---(श्लोक १२५)

जिस का अभिप्राय यह निकलता है कि अगर 'मांसौदन' पाठ को ही ठीक माना जाय, जैसा कि हम नहीं मानते, तो भी इसका अर्थ आयुर्वेद की ओषधियों---'उक्षा' तथा 'ऋषभ'---से है, अन्यथा अगर इन शब्दों का बैल अर्थ किया जाय तब तो क्योंकि 'उक्षा' तथा 'ऋषभ' दोनों का अर्थ बैल है, फिर दो शब्द देने की क्या आवश्यकता थी। अगर ये दो पृथक्-पृथक् ओषधियां हों तभी दो नाम देने संगत हैं।)

अब प्रातःकाल ही थाली में रखे हुए पाक तथा ढक कर रखे हुए घी को अच्छी प्रकार हिला कर थोड़ा-थोड़ा लेकर होम करे और आहुति देता हुआ कहे, यह आहुति अग्नि के लिये है, यह आहुति पति-पत्नी की सन्तानोत्पत्ति के लिये जो अनुमति है उसके लिये है, यह आहुति उस सविता देव के लिये है जिससे सत्य रूप प्रसव होता है।

अथाभिप्रातरेव स्थालीपाकावृताज्यं चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघातं जुहोत्यग्नये स्वाहाऽनुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति प्राश्येतरस्याः प्रयच्छति प्रक्षाल्य पाणी उदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्युक्षत्युत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सहेति ॥१९॥

अथ---और, अभिप्रातः---प्रातःकाल होते, एव---ही, स्थालीपाक-आवृत+आज्यम्---स्थाली (पतीली) में रखे सिद्ध अन्न और आवृत (ढके) घी को, चेष्टित्वा---हिलाकर, मिलाकर, स्थालीपाकस्य---सिद्ध अन्न का, उपघातम्---थोड़ा थोड़ा कर, जुहोति---हवन करता है (अगले तीन मन्त्रों से), अग्नये---अग्नि के लिये, स्वाहा---यह त्याग (आहुति) है, अनुमतये---अनुमति (स्वीकृति) के लिए, स्वाहा---स्वाहा, देवाय---देव, सवित्रे---जगद्रचयिता प्रभु के लिये, सत्यप्रसवाय---सत्य को प्रेरित करनेवाले या प्रसव में बाधा को दूर करनेवाले, स्वाहा---स्वाहा, इति---ऐसे (मन्त्रों से), हुत्वा---आहुति देकर, उद्धृत्य---(स्थाली में से) उठाकर (निकाल कर), प्राश्नाति---खाता है, प्राश्य---खाकर, इतरस्याः---दूसरी (अपनी पत्नी) को, प्रयच्छति---(खाने के लिये) देता है, प्रक्षाल्य---धोकर, पाणी---हाथों को, उदपात्रम्---जल-पात्र

इस प्रकार हवन कर अवशिष्ट चरु को लेकर उसका भक्षण करे, खाकर कुछ पत्नी को दे। फिर हाथ धोकर, पात्र में जल भर कर पत्नी को तीन बार छींटे दे और कहे—हे विश्व की धन-स्वरूप पत्नी! पति के साथ मिल कर, अत्यन्त आगे बढ़ने वाली, अपने से भिन्न, अन्य सन्तान की इच्छा कर ॥१९॥

फिर गर्भाधान करे और पत्नी से कहे, मैं 'अम' हूं, तू 'सा' है, अर्थात् मैं 'प्राण' हूं, तू 'वाणी' है; तू 'सा' है, मैं 'अम' हूं, अर्थात् तू 'वाणी' है, मैं 'प्राण' हूं। मैं 'साम' हूं, तू 'ऋक्' है; मैं 'द्यौ' हूं, तू 'पृथिवी' है। हम दोनों मिल कर उद्योग करें, मिल कर वीर्य-स्थापन करें, और पुमान् पुत्र को प्राप्त करें ॥२०॥

अब अलग होकर कहे, पुत्रोत्पत्ति के लिये मानो द्यु और पृथिवी मिले थे, अब अलग होते हैं। पत्नी की इच्छा में ही अपनी इच्छा को

को; पूरयित्वा—भर कर; तेन—उस (जल) से; एनाम्—इस (पत्नी) को; त्रिः—तीन बार; अभ्युक्षति—छींटे देता है; उत्तिष्ठ—उठ, आगे बढ़; अतः—यहां से, इस (स्थिति) से; विश्वावसो—विश्व को आवास (आश्रय) देने वाली या जगत् की संपत्तिरूपिणी; अन्याम्—दूसरी (स्थिति) को; इच्छ—चाहना कर; प्रपूर्व्याम्—सर्वथा पूर्ण; सम्—अच्छी प्रकार; जायाम्—सन्तति को; पत्या—(मुझ) पति के; सह—साथ; इति—इस (मंत्र को बोलते हुए) ॥१९॥

अथैनामभिपद्यतेऽमोऽहमस्मि सा त्वँ सा त्वमस्यमोऽहं
सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि
सँरभावहै सह रेतो दधावहै पुँसे पुत्राय वित्तय इति ॥२०॥

अथ—तत्पश्चात्; एनाम्—इसको (की); अभिपद्यते—ओर (सोने के समय रात्रि में) जाता है, पास पहुंचता है; अमः—प्राण; अहम् अस्मि—मैं हूं; सा—वाणी; त्वम्—तू है; सा त्वम् असि—तू वाणी है; अमः अहम्—प्राण मैं हूं; साम—(गेय) सामगान; अहम् अस्मि—मैं हूं; ऋक्—छन्दोबद्ध ऋचा; त्वम्—तू है; द्यौः—द्युलोक; अहम्—मैं हूं; पृथिवी—पृथिवी; त्वम्—तू है (इन नित्य जोड़ों के समान हम भी युगल हैं); तौ—वे (हम दोनों); एहि—आ; संरभावहै—मेल (मैथुन-कर्म) करें; सह—साथ; रेतः—वीर्य को; दधावहै—(तुझ उसकी प्रतिष्ठा में) आधान करें; पुंसे—पौरुषयुक्त; पुत्राय—पुत्र रूप; वित्तये—प्राप्ति के लिए; इति—इस मंत्र को बोले ॥२०॥

अथास्या ऊरू विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिवी इति तस्यामर्थं निष्ठाय
मुखेन मुखँ संधाय त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा

स्थापित करे, उसके मुख से जो बात निकले वही अपने मुख से निकाले, उसका चित्त प्रसन्न रखे, तीन बार उस पर प्यार से अनुलोम हाथ फेरे और कहे, 'विष्णु' तेरी योनि को स्वस्थ बनाये, 'त्वष्टा' योनि में बन रहे शिशु के भिन्न-भिन्न रूपों का मानो तराश-तराश कर निर्माण करे, 'प्रजापति' गर्भ को सींचे, 'धाता' गर्भ को धारण करे। हे शोभन-केशवाली! तू गर्भ धारण कर, हे अत्यन्त स्तुति के योग्य! तू गर्भ धारण कर, कमल की माला को धारण करने वाले 'अश्वि'-वैद्य तेरे गर्भ को बढ़ायें ॥२१॥

सुवर्ण की भांति देदीप्यमान पुरुष तथा स्त्री मानो दो अरणी हैं। अरणियों के मन्थन से जैसे अग्नि प्रदीप्त हो उठती है, वैसे इनके मन्थन से सन्तान-रूपी अग्नि उत्पन्न होती है। 'अश्वि'-वैद्यों की सहा-

---

रूपाणि पिंशतु। आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते। गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके। गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥२१॥

अथ—तब, अस्या—इसकी, ऊरू—जंघाओं को, विहापयति—अलग-अलग करता है (और बोलता है), विजिहीथाम्—अलग होवें, द्यावा-पृथिवी—द्युलोक और पृथिवीलोक, इति—ऐसे, तस्याम् अर्थम्—अर्थ पूर्ववत्, त्रि—तीन बार, एनाम्—इसको (इन पर), अनुलोमाम्—रोमों के अनुसार (अनुकूल), अनुमार्ष्टि—हाथ फेरता है, विष्णु—पालक भगवान्, योनिम्—योनि को, कल्पयतु—(वीर्य धारण में) समर्थ करे, त्वष्टा—जगत् का निर्माता भगवान्, रूपाणि—रूपों को (अंग प्रत्यंग को), पिंशतु—रचे, उज्ज्वल करे, आसिञ्चतु—सींचे, प्रजापति—प्रजा का पालक, धाता—धारण करने वाला, गर्भम्—गर्भ का, दधातु—धारण करे, ते—तेरे, गर्भम्—गर्भ को, धेहि—धारण कर, सिनीवालि—हे सुकेशि!, गर्भम् धेहि—गर्भ को धारण कर, पृथुष्टुके—बहुधा स्तुत (प्रशंसित), गर्भम्—गर्भ को, ते—तेरे, अश्विनौ देवौ—अश्वि-देव, आधत्ताम्—आधान करें, पुष्करस्रजौ—कमल की माला धारण किये हुए ॥२१॥

हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ।
तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतये।
यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी।
वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति ॥२२॥

हिरण्मयी—हितकर और रमणीय, अरणी—अरणी (काष्ठ),

यता से दसवें महीने में उत्पन्न होने के लिये उस गर्भ का हम आवाहन करते हैं। जैसे पृथिवी के गर्भ में 'अग्नि' है, जैसे द्यु के गर्भ में 'इन्द्र' है, जैसे दिशाओं के गर्भ में 'वायु' है, इसी प्रकार मैं तेरा गर्भ स्थापित करता हूं ॥२२॥

प्रसूता को जल के छींटे दे और कहे, जैसे वायु सरोवर को चारों तरफ़ से चलायमान कर देती है, वैसे तेरा गर्भ चलायमान होकर जरायु के साथ बाहर आ जाय। इन्द्र अर्थात् जीवात्मा का यही संसार में आने का मार्ग है, दस मास तक इस मार्ग में जरायु का अर्गल बना रहता है, हे इन्द्र! तू गर्भ और पीछे निकलने वाली अवरा के साथ निकल आ ॥२३॥

याभ्याम्—जिन दो से; **निर्मन्थताम्**—मथा (रगड़ा) था; **अश्विनौ**—अश्विनी-कुमारों (देव-वैद्यों) ने; **तम्**—उस; **ते**—तेरे; **गर्भम्**—गर्भ को; **हवामहे**—चाहना (प्रार्थना) करते हैं; **दशमे**—दसवें; **मासि**—मास में; **सूतये**—प्रसव होने के लिए; **यथा**—जैसे; **अग्निगर्भा**—अग्नि को गर्भ में (अपने अन्दर) धारण करने वाली; **पृथिवी**—पृथिवी है; **यथा**—जैसे; **द्यौः**—द्युलोक; **इन्द्रेण**—इन्द्र से; **गर्भिणी**—गर्भवाला है (द्यु-लोक के अन्दर इन्द्र विद्यमान है); **वायुः**—वायु; **दिशाम्**—दिशाओं का; **यथा**—जैसे; **गर्भः**—गर्भ (मध्यवर्ती) है; **एवम्**—इस प्रकार; **गर्भम्**—गर्भ को; **दधामि**—आधान करता हूं; **ते**—तेरे; **असौ**—यह (मैं अमुकनामा); **इति**—यह (मन्त्र बोले) ॥२२॥

> **सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति, यथा वायुः पुष्करिणीं समिंगयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा। इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रयः। तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावरां सहेति ॥२३॥**

सोष्यन्तीम्—प्रसव होते समय इसको; **अद्भिः**—जलों से; **अभ्युक्षति**—सिंचित करता है (छींटे देता है); **यथा**—जैसे; **वायुः**—वायु; **पुष्करिणीम्**—कमल-सरोवर को; **समिंगयति**—हिला देता है, लहरें पैदा कर देता है; **सर्वतः**—सब ओर; **एवा**—ऐसे; **ते**—तेरा; **गर्भः**—गर्भ; **एजतु**—चलायमान हो; **सह**—साथ; **अव+एतु**—बाहर आ जाय; **जरायुणा**—जरायु (जेर) से (के साथ); **इन्द्रस्य**—इन्द्र (सन्तति रूप जीव-आत्मा) का; **व्रजः**—गोष्ठ (गो-बन्धन-स्थान); **कृतः**—(कर्मानुसार) बनाया गया था; **स+अर्गलः**—आगल (जरायु रूप अवरोध) से युक्त; **सपरिश्रयः**—(उदर-रूप) घेरे के सहित; **तम्**—उस (व्रज) को; **इन्द्र**—हे जीवात्मन्; **निर्जहि**—सर्वथा छोड़ दे, तोड़ दे; **गर्भेण**—गर्भ से;

शिशु के उत्पन्न होने पर अग्नि का आधान करे, शिशु को गोद में ले, कांसे के पात्र में घृत-मिश्रित दधि को लेकर—इस 'पृषदाज्य' का अग्नि में होम करे और कहे, मैं अपने घर में सहस्रों वर्षों तक अपने नाम द्वारा समृद्ध होता हुआ पुष्टि प्राप्त करूं, मेरे वश में प्रजा और पशु का कभी उच्छेद न हो। यह कह कर प्रथम आहुति दे। फिर कहे, हे पुत्र! मेरे भीतर जो प्राण हैं उन्हें मन द्वारा तुझ में समर्पित करता हूं। यह कह कर दूसरी आहुति दे। फिर कहे, जो-कुछ मैंने अधिक या न्यून कर्म किया है, उसे जानता हुआ 'स्विष्टकृत् अग्नि' स्विष्ट और सुहुत बनाये—स्विष्ट अर्थात् 'सु+इष्ट', सुन्दर यज्ञ और सुहुत अर्थात् 'सु+हुत' सुन्दर आहुति रूप बना दे ॥२४॥

सावराम्—अवरा (बन्धक नाल) के साथ, सह—साथ, इति—ऐसे (मन्त्र को बोले) ॥२३॥

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कँसे पृषदाज्यँ सन्नीय पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन्सहस्रं पुष्यासमेधमानः स्वे गृहे। अस्योपसद्यां मा च्छैत्सीत् प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा। मयि प्राणाँस्त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा। यत्कर्मणाऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान्स्विष्टँ सुहुतं करोतु मे स्वाहेति ॥२४॥

जाते—शिशु के उत्पन्न हो जाने पर, अग्निम्—अग्नि को, उपसमाधाय—स्थापित एवं प्रदीप्त कर, अङ्के—(मां की) गोद में, आधाय—रख कर, कंसे—कांसी के पात्र में, पृषद्+आज्यम्—दधि मिश्रित घृत को, सन्नीय—लाकर, पास रख कर, पृषद्+आज्यस्य—दधि मिश्रित घी की, उपघातम्—भाग कर, थोड़ा-थोड़ा कर, जुहोति—अग्नि में आहुति देता है, अस्मिन्—इस, सहस्रम्—हजारों का, पुष्यासम्—पुष्ट करूं, पालूं, एधमानः—बढ़ता हुआ, स्वे—अपने, गृहे—घर में, अस्य—इस (शिशु) की, उपसद्याम्—उपस्थिति में, मा—मत, छैत्सीत्—छिन्न भिन्न (नष्ट) हो, प्रजया च—प्रजा (संतति) से, पशुभिः च—और पशुओं से, स्वाहा—यह प्रार्थना है, मयि—मुझमें (विद्यमान), प्राणान्—प्राणों (जीवन-सामर्थ्य) को, त्वयि—तुझ में, मनसा—हृदय से, जुहोमि—डालता सौंपता हूं, स्वाहा—यह सत्य कथन है, यत्—जो कुछ, कर्मणा—कर्म (क्रिया विधि) से, अति+अरीरिचम्—(भूल से) अतिरिक्त (अधिक) किया है, यद् वा—और जो, न्यूनम्—कमी, इह—इस (विधान) में, अकरम्—की है, अग्निः—अग्रणी ज्ञान-स्वरूप भगवान, तत्—उस (न्यून वा अधिक कर्म) को, सु+इष्टकृत—ठीक

फिर शिशु के दायें कान के पास मुख करके वाक्-वाक्—इस प्रकार तीन वार उच्चारण करे, और दधि-मधु-घृत को मिला कर शुद्ध-सुवर्ण की शलाका से उसे चटाये, और कहे, मैं तुझ में 'भूः', तुझ में 'भुवः' और तुझ ही में 'स्वः' को धारण करता हूं, मैं 'भूः भुवः स्वः'—इन तीनों लोकों को तुझ में ही धारण करता हूं। 'भूस्ते दधामि' - 'भुवस्ते दधामि' - 'स्वस्ते दधामि' - 'भूर्भुवःस्वस्ते दधामि'—इन चार मन्त्रों से चार बार दधि-मधु-घृत को चटावे ॥२५॥

अब इसका नामकरण करे, और कहे, 'वेदोऽसि'—तू वेद-स्वरूप है, ज्ञान-स्वरूप है। यही इसका गुह्य नाम है, इसका चालू नाम पीछे रखा जाता है ॥२६॥

यज्ञ यजन करनेवाला, भला इष्ट (हित) करने वाला; **विद्वान्**—ज्ञाता; **सु+इष्टम्**—ठीक प्रकार यज्ञ किया हुआ; **सु+हुतम्**—ठीक प्रकार हवन किया हुआ; **करोतु**—करे; **नः**—हमारे; **स्वाहा**—यह शुभ कथन (प्रार्थना) है और सत्य शुभ वचन है; **इति**—ऐसे (मन्त्रों से आहुति दे) ॥२४॥

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वागिति त्रिरथ दधि मधु घृतं संनीयानन्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति। भूस्ते दधामि भुवस्ते दधामि स्वस्ते दधामि भूर्भुवःस्वः सर्वं त्वयि दधामीति ॥२५॥

अथ—तत्पश्चात्; **अस्य**—इस (शिशु) के; **दक्षिणम्**—दाहिने; **कर्णम्**—कान के; **अभिनिधाय**—(पास मुख) रखकर; **वाग्-वाग्**—तुझे उत्तम वाणी प्राप्त हो; **इति**—ऐसे; **त्रिः**—तीन बार (उच्चारण करे); **अथ**—तत्पश्चात्; **दधि**—दही; **मधु**—शहद; **घृतम्**—घी; **संनीय**—भली प्रकार मिलाकर; **अनन्तर्हितेन**—शुद्ध, मैल रहित; **जातरूपेण**—सुवर्ण (शलाका) से; **प्राशयति**—खिलावे (चटावे); **भूः**—प्राण व सत्ता; **ते**—तुझ में; **दधामि**—धारण कराता हूं; **भुवः**—अपान व ज्ञान; **ते दधामि**—तुझे धारण कराता हूं; **स्वः**—व्यान व सुख-आनन्द; **ते दधामि**—तुझ में धारण कराता हूं; **भूः भुवः स्वः**—प्राण-अपान-व्यान व सत्-चित्-आनन्द; **सर्वम्**—सब को; **त्वयि**—तुझ में; **दधामि**—धारण कराता हूं; **इति**—ऐसे (इन चार मंत्रों को बोल कर) ॥२५॥

अथास्य नाम करोति वेदोऽसीति तदस्य तद्गुह्यमेव नाम भवति ॥२६॥

अथ—तत्पश्चात्; **अस्य**—इस (शिशु) का; **नाम करोति**—नाम रखता है; **वेदः**—वेद (ज्ञान रूप); **असि**—तू है; **इति**—ऐसे; **तद्+अस्य**—उस इस (शिशु) का; **तद्**—वह ('वेद' नाम); **गुह्यम्**—गुप्त (अप्रकट); **एव**—ही; **नाम**—नाम, संज्ञा; **भवति**—होता है ॥२६॥

फिर इसे माता को देकर उसका स्तन-पान कराये और कहे, हे सरस्वति ! जो तेरा शशय—'श' अर्थात् सुख+उसका 'शय' अर्थात् स्थान—सुखकारी, जो मयोभू. अर्थात् आनन्दप्रद, जो रत्नो को, अनोखे बालको को धारण करने वाला, जो वसु वाला और दूध देने वाला तेरा स्तन है, जिस स्तन से तू सब वरने योग्य पुत्र-पुत्रियो को पालती है, उसे इस शिशु के लिये आगे कर ॥२७॥

फिर माता को सम्बोधन करे, तू इडा है—स्तुति-योग्य है, तू मित्र के समान स्नेहमयी है, तू वरुण के समान न्याय-प्रिया है, 'वीरे वीरमजीजनत्'—तूने वीर पुरुष की वीर सन्तान को जन्म दिया है, तू वीरवती हो, और हमें भी वीर पुत्रो वाला बना । इस पुत्र को लोग कहें 'अति-पिता बताभू , अति-पितामहो बताभू.'—यह पिता से आगे

अथैन मात्रे प्रदाय स्तन प्रयच्छति यस्ते स्तन· शशयो
यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्य सुदत्र । येन विश्वा
पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे करिति ॥२७॥

अथ—इसके बाद, एनम्—इस (शिशु) को, मात्रे—माता का, प्रदाय —देकर, स्तनम्—स्तन, प्रयच्छति—देता है, य·—जो, ते—तेरा, स्तन·—स्तन, शशय·—सुखकारी, य —जो, मयोभू —आनन्द प्रद, य·—जो, रत्नधा —रत्नो (रमणीय शिशुओ) का पालन करनेवाला, वसुविद्—वसु (आवास) देनेवाला, य—जो, सुदत्र —भली प्रकार दान करनेवाला, येन—जिस (स्तन) से, विश्वा—सम्पूर्ण, पुष्यसि—पुष्ट करती है, वार्याणि—वरण करने योग्य, सरस्वति—हे सरस्वति ! , तम्—उस (स्तन) को, धातवे—पिलाने के लिये, पालन करने के लिए, क·—कर, इति—इस मत्र को बोले ॥२७॥

अथास्य मातरमभिमन्त्रयते, इडाऽसि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत् ।
सा त्व वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतोऽकरदिति त वा एतमाहु-
रतिपिता बताभूरतिपितामहो बताभू परमा बत काष्ठा प्रापच्छ्रिया
यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायत इति ॥२८॥

अथ—तत्पश्चात्, अस्य—इस (शिशु) की, मातरम्—माता को, अभिमन्त्रयते—सबोधन कर कहता है, इडा—स्तुति के योग्य, इडा (पृथिवी या प्रकृति) के समान, है, मैत्रावरुणी—मित्र और वरुण देवा के स्नेह और न्याय गुणो से युक्त है, वीरे—(मुझ) वीर मे, वीरम्—वीर (पुत्र) को, अजीजनत्—जन्म दिया है, सा त्वम्—वह तू, वीरवती—वीर पुत्र वाली, भव—हो, या—जिस तूने, अस्मान्—हमको, वीरवत —वीर पुत्र वाला, अकरत्

निकल गया, पितामह से आगे निकल गया। इस रहस्य को जानने वाले ब्राह्मण के घर जो पुत्र उत्पन्न होता है वह श्री, यश और ब्रह्म-वर्चस की पराकाष्ठा को प्राप्त करता है ॥२८॥

षष्ठ अध्याय--(पांचवां ब्राह्मण)
(मातृ-सत्ताक-परिवार की वंश-परंपरा)

यह विद्या किस गुरु-शिष्य-परंपरा से आई इसका उल्लेख पहले बृहदारण्यक २य अध्याय ६ष्ठ ब्राह्मण तथा ४र्थ अध्याय ६ष्ठ ब्राह्मण में दिया जा चुका है। यहां एक और परंपरा दी गई है जो पहली दोनों से भिन्न है और पिता के नाम पर चलने के स्थान पर माता के नाम पर चली है। पिता के नाम पर तो वंश-परंपरा हर जगह चलती है, *माता के नाम पर चलना सिद्ध करता है कि* माता का स्थान उस संस्कृति में इतने ऊंचे दर्जे का था कि उसके नाम से वंश प्रसिद्ध हो सकता था। इस प्रकरण में एक माता का नहीं, पचासों माताओं से ऋषि-मुनियों की वंश-परंपरा का उल्लेख है। समाज-शास्त्री माता के नाम से चलने वाली इस वंश-परंपरा के आधार पर कहते हैं कि सामाजिक-विकास में एक ऐसा भी समय था जब परिवार में पिता के स्थान पर माता का स्थान मुख्य था। इस समय को वे 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) कहते हैं। वर्तमान-काल में भी केरल में मातृ-सत्ताक-परिवार की प्रथा चल रही है जिसका धीरे-धीरे लोप हो रहा है। हम नीचे टिप्पणी में मातृ-सत्ताक-परिवार की इस वंश-परंपरा को दे रहे हैं।

किया (बनाया) है; **इति**—ऐसे (कहे); **तम् वै एतम्**—(भविष्य में) उस इस बालक को; **आहुः**—कहें; **अति-पिता**—पिता से बढ़ कर; **बत**—निश्चय से; **अभूः**—तू हुआ है; **अति-पितामहः**—दादा-बाबा से बढ़कर; **बत अभूः**—तू हुआ है; **परमाम्**—परम; **बत**—प्रसन्नता की बात है; **काष्ठाम्**—दिशा या छोर को; (**परमाम् काष्ठाम्**—पराकाष्ठा को, असीमता को); **प्रापत्**—प्राप्त हुआ, पहुंचा; **श्रिया**—शोभा व लक्ष्मी से; **यशसा**—यश-कीर्ति से; **ब्रह्मवर्चसेन**—ब्रह्म (ज्ञान) तेज से; **यः**—जो; **एवंविदः**—इस प्रकार जाननेवाले; **ब्राह्मणस्य**—ब्राह्मण का; **पुत्रः**—पुत्र; **जायते**—उत्पन्न होता है; **इति**—ऐसे (सब लोग कहते हैं) ॥२८॥

अथ—और, वंश—यह गुरु शिष्य-परम्परा है —

	शिष्य		गुरु	
१	पौतिमाषी-पुत्र	ने	कात्यायनी-पुत्र	से
२	कात्यायनी पुत्र	,,	गौतमी-पुत्र	,,
३	गौतमी-पुत्र	,,	भारद्वाजी पुत्र	,,
४	भारद्वाजी पुत्र	,,	पाराशरी पुत्र	,,
५	पाराशरी-पुत्र	,,	औपस्वती-पुत्र	,,
६	औपस्वती-पुत्र	,,	पाराशरी-पुत्र	,,
७	पाराशरी-पुत्र	,,	कात्यायनी पुत्र	,,
८	कात्यायनी-पुत्र	,,	कौशिकी-पुत्र	,,
९	कौशिकी पुत्र	,,	आलम्बी-पुत्र एवं वैयाघ्रपदी-पुत्र	,
१०	वैयाघ्रपदी पुत्र	,,	काण्वी-पुत्र और कापी-पुत्र	,,
११	कापी-पुत्र	,,	आत्रेयी पुत्र	,,
१२	आत्रेयी-पुत्र	,	गौतमी-पुत्र	,,
१३	गौतमी-पुत्र	,	भारद्वाजी-पुत्र	,,
१४	भारद्वाजी-पुत्र	,,	पाराशरी पुत्र	,,
१५	पाराशरी-पुत्र	,,	वात्सी पुत्र	,,
१६	वात्सी-पुत्र	,,	पाराशरी पुत्र	,,
१७	पाराशरी-पुत्र	,,	वाकारुणी-पुत्र	,,
१८	वाकारुणी-पुत्र	,,	वार्कारुणी-पुत्र	,,
१९	वार्कारुणी-पुत्र	,,	आर्तभागी-पुत्र	,,
२०	आर्तभागी पुत्र	,,	शौङ्गी-पुत्र	,,
२१	शौङ्गी-पुत्र	,,	सांकृती पुत्र	,,
२२	सांकृती पुत्र	,,	आलम्बायनी-पुत्र	,,
२३	आलम्बायनी-पुत्र	,,	आलम्बी-पुत्र	,,
२४	आलम्बी पुत्र	,,	जायन्ती पुत्र	,,
२५	जायन्ती-पुत्र	,,	माण्डूकायनी-पुत्र	,,
२६	माण्डूकायनी-पुत्र	,,	माण्डूकी-पुत्र	,,
२७	माण्डूकी-पुत्र	,,	शाण्डिली-पुत्र	,,
२८	शाण्डिली-पुत्र	,,	राथीतरी-पुत्र	,,
२९	राथीतरी-पुत्र	,,	भालुकी-पुत्र	,,
३०	भालुकी-पुत्र	,,	(दो) क्रौञ्चिकी-पुत्रों	,,

शिष्य		गुरु	
३१. (दो) कौण्डिकी-पुत्रों ने		वैदभृती-पुत्र	से
३२. वैदभृती-पुत्र	,,	कार्शकेयी-पुत्र	,,
३३. कार्शकेयी-पुत्र	,,	प्राचीनयोगी-पुत्र	,,
३४. प्राचीनयोगी-पुत्र	,,	सांजीवी-पुत्र	,,
३५. सांजीवी-पुत्र	,,	आसुरि के वासी (शिष्य) प्राश्नी-पुत्र	,,
३६. प्राश्नी-पुत्र	,,	आसुरायण	,,
३७. आसुरायण	,,	आसुरि	,,
३८. आसुरि	,,	याज्ञवल्क्य	,,
३९. याज्ञवल्क्य	,,	उद्दालक	,,
४०. उद्दालक	,	अरुण	,,
४१. अरुण	,,	उपवेशि	,,
४२. उपवेशि	,,	कुश्रि	,,
४३. कुश्रि	,,	वाजश्रवस्	,,
४४. वाजश्रवस्	,,	जिह्वावान् वाध्योग	,,
४५. जिह्वावान् वाध्योग	,,	वार्षगण असित	,,
४६. वार्षगण असित	,,	हरित कश्यप	,,
४७. हरित कश्यप	,,	शिल्प कश्यप	,,
४८. शिल्प कश्यप	,,	नैध्रुवि कश्यप	,,
४९. नैध्रुवि कश्यप	,,	वाच् (क्)	,,
५०. वाच् (क्)	,,	अम्भिणी	,,
५१. अम्भिणी	,,	आदित्य	,,

आदित्यानि—'आदित्य' नामक ऋषि से प्राप्त; **इमानि**—ये; **शुक्लानि**—शुक्ल (शुद्ध); **यजूंषि**—यजुः (गद्यमय मंत्र); **वाजसनेयेन**—वाजसनेय; **याज्ञवल्क्येन**—याज्ञवल्क्य ऋषि द्वारा; **आख्यायन्ते**—उपदेश दिये जाते हैं (व्याख्या किये गये हैं) ॥३॥ **समानम्**—समान ही; **आ सांजीवीपुत्रात्**—सांजीवी-पुत्र तक (यह गुरु-शिष्य परम्परा समान है); आगे :

शिष्य		गुरु	
सांजीवी-पुत्र	ने	माण्डूकायनि	से
माण्डूकायनि	,,	माण्डव्य	,,
माण्डव्य	,,	कौत्स	,,
कौत्स	,,	माहित्थि	,,
माहित्थि	,,	वामकक्षायण	,,
वामकक्षायण	,,	शाण्डिल्य	,,
शाण्डिल्य	,,	वात्स्य	,,
वात्स्य	ने	कुश्रि	से
कुश्रि	,,	राजस्तम्बायन	,,
राजस्तम्बायन	,,	यज्ञवचस्	,,
यज्ञवचस्	,,	कावषेय तुर	,,
कावषेय तुर	,,	प्रजापति	,,

प्रजापतिः—प्रजापति ने; **ब्रह्मणः**—ब्रह्म (ब्रह्मा) से; **ब्रह्म**—ब्रह्म तो; **स्वयम्भु**—स्वयम् ज्ञानमय है (आदि गुरु है); **ब्रह्मणे**—उस ब्रह्म को; **नमः**—नमस्कार है ॥४॥

श्वेताश्वतर-उपनिषद्

प्रथम अध्याय

(ब्रह्माड का कारण—काल, स्वभाव, नियति आदि हैं क्या ?)

किसी समय ब्रह्म-वादी लोग एकत्रित होकर विचार करने लगे—सृष्टि का कारण क्या 'ब्रह्म' है, या कुछ और ? हम कहां से उत्पन्न हुए हैं ? किस से जीते हैं ? किसमें प्रतिष्ठित, अर्थात् स्थित हैं ? किसकी व्यवस्था में बंधे हुए हम सुख-दु:खों में बरतते हैं ? ॥१॥

वे विचार करने लगे, सृष्टि का कारण ब्रह्म नहीं, तो क्या है ? क्या 'काल' कारण है ? तभी क्या कोई वस्तु ग्रीष्म में होती है, कोई शरद् में, कोई वर्षा में। अगर काल कारण नहीं, तो क्या 'स्वभाव' कारण है ? अग्नि का स्वभाव ताप है शीतलता नहीं, जल का स्वभाव शीतलता है ताप नहीं। क्या इसी प्रकार सृष्टि स्वभाव से बनी ? अगर स्वभाव भी कारण नहीं, तो क्या 'नियति' कारण है ? हम कुछ चाहते हैं, होता कुछ और है। लोग कहते हैं भाग्य को कौन मेट सकता है ? अगर नियति नहीं, तो क्या 'यदृच्छा' कारण है ? नियति से उल्टी यदृच्छा है। कोई नियत नियम नहीं, यों ही सब-कुछ हो रहा है ? ये भी नहीं, तो क्या 'पंच-

---

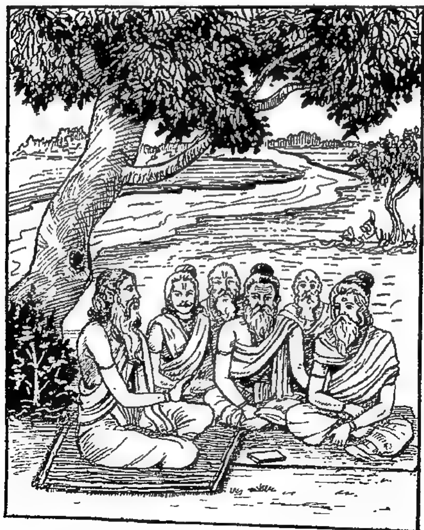
ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति।

ओम्—आदि गुरु, सर्वरक्षक भगवान् का स्मरण कर, ब्रह्मवादिन—ब्रह्म की चर्चा करनेवाले, वदन्ति—कहते हैं, परस्पर चर्चा करते हैं।

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥१॥

किम्—क्या, कारणम्—(जगत् का) कारण, ब्रह्म—ब्रह्म है, कुतः—कहां से, किससे, क्यों, स्म जाताः (जाता स्म)—हम पैदा हुए हैं, जीवाम—जियें (जीते हैं), केन—किस से, क्व च—और कहां (किसमें), संप्रतिष्ठा—आधार व आश्रय (स्थिति) वाले हैं ?, अधिष्ठिता केन—किसकी अध्यक्षता (देख-रेख) में, सुख+इतरेषु—सुख-दु:ख में या सुख से भिन्न दु:खों में, वर्तामहे—रहते हैं, ब्रह्मविदः—ब्रह्मज्ञानी, व्यवस्थाम्—नियन्त्रण को ॥१॥

महाभूत' कारण हैं? पंच-भूत नहीं, तो क्या 'योनि' कारण है, अर्थात् माता-पिता ही कारण हैं, पुत्र पिता से, वह अपने पिता से, यही परम्परा चली आ रही है? ये भी नहीं, तो क्या 'पुरुष', अर्थात् यह 'आत्मा' कारण है? ये सब अलग-अलग नहीं, तो क्या इन सबका 'संयोग' कारण है? उत्तर देते हैं, नहीं, इनमें से कोई भी कारण नहीं। ये सब कारण 'चिन्त्य' हैं, विचार-कोटि के हैं, सन्देहास्पद हैं। क्यों? 'अनात्मभावात्'! क्योंकि इनमें आत्म-भाव नहीं है, ये स्वयं



ब्रह्म-वादी लोग ब्रह्म की चर्चा कर रहे हैं

जड है। तो फिर क्या पुरुष—अर्थात् 'आत्मा'—'जीवात्मा'—सृष्टि का कारण है, उसमें तो 'आत्म-भाव' है ?

इसका भी उत्तर देते हैं, नहीं, वह भी कारण नहीं, क्योंकि अगर जीवात्मा सृष्टि का कारण हो, तो उसे सुख-दुःख कौन देगा। जीवात्मा को सुख-दुःख तो होता है। वह स्वयं अपने को सुख-दुःख देने के लिये सृष्टि की रचना क्यों करने लगा? इस प्रकार ये आठों सृष्टि के कारण नहीं ॥२॥

(ब्रह्मांड का कारण 'ब्रह्म' है—'ब्रह्म-चक्र' का वर्णन)

तब वे ध्यान-योग के पीछे चले, और देखा। यह देखा कि उस देव की आत्म-शक्ति इतनी महान् है कि अपने गुणों की महानता के कारण ही वह आत्म-शक्ति निगूढ़ हो गई है, इतनी महान् है कि दीखती नहीं। वही देव 'काल' से लेकर 'आत्मा' तक जिन ८ का ऊपर उल्लेख किया गया है, इन सब कारणों का अकेला अधिष्ठाता है ॥३॥

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥२॥

कालः—काल, स्वभावः—अपना रूप (गुण), नियतिः—भाग्य (कर्म-फल), यदृच्छा—स्वच्छन्दता, स्वयं हो जाना, भूतानि—पंच भूत, योनिः—माता पिता (मूल-कारण), पुरुषः—आत्मा (स्वयम्) या परमात्मा, इति—ये (कारण), चिन्त्यम्—विचारणीय है, संदेहास्पद है, संयोगः—संयोग, मेल, एषाम्—इनका, (संयोग एषाम्—ये सब मिलकर कारण हैं?), न तु—नहीं तो (ये कारण हो सकते हैं), अनात्म-भावात्—(इनमें) आत्म भाव (ज्ञान गति-बल) न होने से, आत्मा—जीवात्मा, अपि—भी, अनीशः—असमर्थ, अशक्त है, सुख-दुःखहेतोः—सुख-दुःख होने के कारण से ॥२॥

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥३॥

ते—उन (ब्रह्मवादियों) ने, ध्यान-योग+अनुगताः—ध्यान-योग (समाधि) में अनुगत (लीन) होकर, अपश्यन्—देखा, जाना, देव+आत्म-शक्तिम्—दिव्य आत्मा (परमात्मा) की शक्ति (सामर्थ्य) को, स्व-गुणैः—(उसके) अपने गुणों से, निगूढाम्—छिपी, आच्छादित, अव्यक्त, यः—जो (देव), कारणानि—कारणों का, निखिलानि—सारे, तानि—उनको,

उन्होंने 'ब्रह्म-चक्र' को देखा। गीता में कहा है, 'भ्रामयन् सर्व-भूतानि यन्त्रारूढानि मायया'—वह मानो सब को यन्त्र पर चढ़ा कर घुमा रहा है। वह यन्त्र 'ब्रह्म-चक्र' है। 'चक्र' का अर्थ है, 'पहिया'।

पहिये की परिधि को 'नेमि' कहते हैं, इस 'नेमि' पर ही पहिया घूमता है। चक्र की 'एक' ही नेमि होती है, 'ब्रह्म-चक्र' की नेमि 'प्रकृति' है, 'प्रकृति' पर ही 'ब्रह्म-चक्र' चल रहा है।

पहिये पर लोहे का वृत्त, अर्थात् लपेट चढ़ा होता है, 'ब्रह्म-चक्र' पर सत्त्व-रज-तम के तीन वृत्त—तीन लपेटें चढ़ी हैं, अतः वह 'त्रिवृत' है।

पहिया गोल होता है, अतः किसी एक लकड़ी से तो बनता नहीं, १६ कुछ-कुछ कुबड़ी लकड़ियों को एक-दूसरी के साथ गांठने से गोलाकार बनता है, ब्रह्म-चक्र में इन १६ को विकार कहा है। सांख्य-कारिका में लिखा है, 'मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृति-विकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः'। 'षोडशकस्तु विकारः'—'विकार १६ हैं', ये १६ 'ब्रह्म-चक्र' के 'अन्त' हैं, सिरे हैं, इनके आगे प्रकृति का विकार नहीं होता। पंच-महाभूत, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय और मन—ये १६ विकार 'ब्रह्म-चक्र' के १६ सिरे हैं, टुकड़े हैं, जिन के जोड़ से 'ब्रह्म-चक्र' बना है।

काल+आत्मयुक्तानि—(प्रथम कारण) काल और (अन्तिम कारण) आत्मा से युक्त (आठों कारणों को); **अधितिष्ठति**—अधिष्ठाता (नियंता) है; **एकः**—इकला ही, वह एक है ॥३॥

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥४॥

तम्—उस (ब्रह्म-चक्र) को; **एकनेमिम्**—एक नेमि (घेरा, परिधि) वाले; **त्रि-वृतम्**—तीन बार आच्छादित; **षोडश+अन्तम्**—सोलह अन्त (ओर-छोर) वाले; **शत+अर्ध+अरम्**—सौ के आधे (पचास) अरे वाले; **विंशति-प्रत्यराभिः**—बीस छोटे-छोटे अरों (खप्पचों) से युक्त; **अष्टकैः**—अष्टकों से युक्त; **षड्भिः**—छैः; **विश्वरूप+एक-पाशम्**—संसार के रूप रूपी एक ही पाश (बन्धन) वाला; **त्रि-मार्गभेदम्**—तीनों मार्गों को भेदने (पार करने) में समर्थ; **द्विनिमित्त+एकमोहम्**—दो निमित्त वाले (से बने) वस्तुतः मोह (अविद्या) रूपी एक निमित्त वाले (ब्रह्म-चक्र को समाधि में देखा) ॥४॥

विशेष—इस मंत्र का विशेष विवरण ऊपर भाष्य में देखें।

पहिये के ५० अरे होते हैं। अरे वे लकड़िया हैं, जो चक्र को दृढ बनाने के लिये चक्र और नाभि में लगी होती हैं। साख्य-कारिका ने बुद्धि के ५० प्रकार कहे हैं—'एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्ति-तुष्टिसिद्ध्याख्यः गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पचाशत्'—अर्थात्, गुणों के न्यूनाधिक होने से 'प्रत्यय' अर्थात् 'बुद्धि' के ५० भेद हैं। वे हैं, 'विपर्यय', 'अशक्ति', 'तुष्टि' और 'सिद्धि'—ये चार, तथा इनके अवान्तर-भेद। इनके अवान्तर-भेदों का वर्णन करते हुए साख्य-कारिका कहती है—'पच विपर्ययभेदा भवत्यशक्तिश्च करण-वैकल्यात् अष्टा-विंशतिभेदा, तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धि'—अर्थात्, 'विपर्यय' के ५, 'अशक्ति' के २८, 'तुष्टि' के ९, 'सिद्धि' के ८—इस प्रकार बुद्धि के ५० भेद हुए। ये ५० ही 'ब्रह्म-चक्र' के ५० अरे हैं।

'विपर्यय' के ५ भेद—'विपर्यय' के ५ भेद कौन-से हैं? 'विपर्यय', अर्थात् 'अज्ञान' या 'अविद्या' के भेद साख्य ने 'तम', 'मोह', 'महामोह', 'तामिस्र' और 'अन्धतामिस्र'—ये ५ कहे हैं। इनमें से 'तम' के ८, 'मोह' के ८, 'महामोह' के १०, 'तामिस्र' के १८ और 'अन्धतामिस्र' के १८ भेद कहे हैं।

आठ प्रकार का 'तम' क्या है? मन, बुद्धि, अहंकार तथा पंच-तन्मात्र—इन आठ को जो 'अनात्म' हैं, 'आत्मा' समझना आठ प्रकार का 'तम' है।

आठ प्रकार का 'मोह' क्या है? अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व—इन आठ सिद्धियों में रम जाना आठ प्रकार का 'मोह' है।

दस प्रकार का 'महामोह' क्या है? इस लोक में तथा परलोक में दस इन्द्रियों के दस विषयो के भोग की उत्कट कामना १० प्रकार का 'महामोह' है।

अठारह प्रकार का 'तामिस्र'-नामक अज्ञान क्या है? आठ सिद्धियो तथा दस इन्द्रियो के विषयो के भोग न प्राप्त होने पर एक-एक के लिये जो क्रोध उत्पन्न होता है वह १८ प्रकार का 'तामिस्र' है।

अठारह प्रकार का 'अन्ध-तामिस्र' क्या है? आठ सिद्धियो तथा दस इन्द्रियो के विषयो का आधा भोग मिले, और विघ्न-बाधाओ से

या मृत्यु से बीच में ही ये भोग नष्ट होते नज़र आने लगें, तब जो हाय-हाय मचाना है वह 'अन्ध-तामिस्र' है।

'अशक्ति' के २८ भेद—'अशक्ति' के २८ भेद कौन-से हैं ? दस इन्द्रियों में दस प्रकार की शक्ति न रहे, यह तो 'इन्द्रियों की अशक्ति' हुई। इन दस के अलावा १८ प्रकार की 'मन की अशक्ति' है। अभी हम ९ तुष्टियों का वर्णन करेंगे, ये तुष्टियां 'मन की शक्ति' की सूचक हैं, इनका न होना 'मन की अशक्ति' है। इन ९ तुष्टियों की कमी को दो-दो प्रकार से देखा जा सकता है जिससे तुष्टि की कमी के १८ भेद हो जाते हैं। १० प्रकार की इन्द्रियों की अशक्ति और १८ प्रकार की अतुष्टि मिल कर २८ 'अशक्तियां' हो जाती हैं। 'तुष्टि' के सम्बन्ध में दो-दो प्रकार यों होते हैं। कोई व्यक्ति धन के बिना सन्तुष्ट है, तो कोई धन मिलने पर उसे छोड़ सकता है। जो धन के बिना सन्तुष्ट है उसमें 'अभावात्मक-गुण' (Negative virtue) है, जो धन को छोड़ सकता है उसमें 'भावात्मक-गुण' (Positive virtue) है। इन दोनों प्रकार की तुष्टियों का न होना 'मन की अशक्ति' है जिसके १८ प्रकार कहे गये हैं।

'तुष्टि' के ९ भेद—'तुष्टि' के ९ भेद कौन-से हैं ? कोई व्यक्ति 'तत्त्व-ज्ञान' के कारण संतुष्ट है, कोई 'वैराग्य' के कारण, कोई 'रूढ़ि' के कारण, कोई 'भाग्य' के कारण, कोई 'अहिंसा', 'सत्य', 'अस्तेय', 'ब्रह्मचर्य' तथा 'अपरिग्रह' को जीवन का ध्येय बना लेने के कारण। ये ९ तुष्टियां हैं।

'सिद्धि' के ८ भेद—'सिद्धि' के आठ भेद कौन-से हैं ? 'जन्म-सिद्धि', 'शब्द-सिद्धि', 'शास्त्र-सिद्धि', 'आध्यात्मिक-ज्ञान सिद्धि', 'आधिभौतिक-ज्ञान सिद्धि', 'आधिदैविक-ज्ञान सिद्धि', 'सत्संग-सिद्धि' तथा 'गुरु-सिद्धि'—ये आठ सिद्धियां हैं।

इस प्रकार ५ 'विपर्यय', २८ 'अशक्तियां', ९ 'तुष्टि' तथा ८ 'सिद्धि' मिल कर 'ब्रह्म-चक्र' के ५० अरे कहे गये हैं।

पहिये के २० प्रत्यरे—छोटे अरे—होते हैं। 'ब्रह्म-चक्र' में दस इन्द्रियां और दस उनके विषय—ये बीस प्रत्यरे हैं।

पहिये में ६ अष्टक होते हैं। 'ब्रह्म-चक्र' में 'प्रकृति-अष्टक', 'धातु-अष्टक', 'सिद्धि-अष्टक', 'मद-अष्टक', 'अशुभ-अष्टक', 'धर्म-अष्टक'—ये छः अष्टक हैं। 'प्रकृति-अष्टक' में अहंकार, बुद्धि, मन तथा पंच-तन्मात्र आ जाते हैं। 'धातु-अष्टक' में त्वक्, चर्म, मांस, रुधिर, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य आ जाते हैं। 'सिद्धि-अष्टक' में अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व आ जाते हैं। 'मद-अष्टक' में तन-मद, धन-मद, जन-मद, बल-मद, ज्ञान-मद, बुद्धि-मद, कुल-मद, जाति-मद आ जाते हैं। 'अशुभ-अष्टक' में अशुभ सोचना, सुनना, देखना, बोलना, स्पर्श करना, कर्म करना, कराना, होने देना आ जाते हैं। 'धर्म-अष्टक' में नित्य-धर्म, निमित्त-धर्म, देश-धर्म, काल-धर्म, कुल-धर्म, जातीय-धर्म, आपद्-धर्म और अपवाद-धर्म आ जाते हैं। 'ब्रह्म-चक्र' में ये छः अष्टक हैं—आठ-आठ का छक्का है।

पहिया पाशों से बंधा होता है। 'ब्रह्म-चक्र' भी विश्व के रूप-रूपी पाश से बंधा हुआ है।

पहिया आगे, पीछे या इधर-उधर—इन तीन मार्गों का भेदन करता है। 'ब्रह्म-चक्र' भी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय-रूप तीनों मार्गों का भेदन करता है।

यह 'ब्रह्म-चक्र' शुभ तथा अशुभ इन दो निमित्तों से चल रहा है, परन्तु असल में इस चक्र के निरन्तर चलने का कारण केवल एक है, और वह कारण है—'मोह' ॥४॥

(पिंड की नदी के रूप में कल्पना)

संसार, अर्थात् 'ब्रह्मांड' का 'ब्रह्म-चक्र' के रूप में दर्शन कर अब शरीर, अर्थात् 'पिंड' की एक प्रचण्ड नदी से तुलना करते हैं। जैसे नदी का जल कई सोतों से फूटता है, वैसे शरीर-रूपी नदी की पांचों ज्ञानेन्द्रियां पांच सोते हैं, इनमें से ज्ञान-रूपी जल फूट कर निकल रहा है। जैसे नदी के सोतों की योनि, उनका कारण पहाड़ होता है,

---

पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥५॥

उसी के बड़े-छोटे होने से नदी उग्र तथा वक्र हो जाती है, वैसे पांचों इन्द्रियों के उत्पत्ति-स्थान पंच महाभूत हैं जिनके कारण यह नदी उग्र है, वेगवाली है, वक्र है, टेढ़े-मेढ़े मार्गों में बहती है। नदी में



जीवन का प्रवाह नदी के प्रवाह की तरह बह रहा है

पञ्चस्रोतः + अम्बुम्—पांच झरनों से बहनेवाले (ज्ञान-रूपी) जल वाली; पञ्चयोनि + उग्र-वक्राम्—पांच (स्रोतों के) उत्पत्ति-स्थान के कारण उग्र (भीषण) और वक्र (टेढ़ी-मेढ़ी); पञ्च-प्राण + ऊर्मिम्—पांच प्राण-रूपी लहरों वाली; पञ्च-बुद्धि + आदि-मूलाम्—पांच बुद्धियां ही जिसका आदि मूल (उत्पत्ति-स्थान) हैं; पञ्च + आवर्ताम्—पांच आवर्त्त (भंवर, घुम्मरघेरी) वाली; पञ्च-

तरंगें उठा करती हैं, शरीर-रूपी नदी में पांचों प्राण ही तरंगें हैं। जैसे नदी अपने मूल से प्रारम्भ होती है, वैसे इस शरीर-रूपी नदी का आदि-मूल पंच-बुद्धि है—किसी की बुद्धि 'रूप' में है, किसी की 'रस' में, किसी की 'स्पर्श' में, किसी की 'शब्द' में, किसी की 'गन्ध' में। इन्हीं विषयों में बद्ध-मूल होने के कारण यह नदी बहती चली जा रही है। जैसे नदी में आवर्त होते हैं, भंवर होते हैं, वैसे शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इस नदी के भवर हैं, जिनमें जीवात्मा डूबने लगता है। जैसे नदी में कभी-कभी प्रवाह उमड़ आता है, वैसे गर्भ, जन्म, जरा, व्याधि, मरण—ये पांच दुःखों के प्रवाह हैं। जैसे नदी को तैरने के पचासों भेद होते हैं, रहस्य होते हैं, वैसे इस शरीर-रूपी नदी को तैरने के भी पचासों भेद हैं, पचासों तरीके हैं। जैसे नदी के जोड़ होते हैं, वैसे शरीर-रूपी नदी के भी अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश—ये पांच जोड़ हैं ॥५॥

सब जीव उसी महान् 'ब्रह्म-चक्र' में जीते हैं, उसी में स्थित हैं, उसी 'ब्रह्म-चक्र' में इस 'हंस' को, जीवात्मा को, कोई घुमा रहा है। अपने को इस चक्र के प्रेरक से पृथक् जान कर जो उसकी प्रीति का पात्र बन जाता है, वह 'अमृतत्व' को प्राप्त हो जाता है। 'चक्र' को चलता देखकर जैसे उस पर बैठा 'हंस' अपने को ही उस 'चक्र' का

दुःख+ओघ-वेगाम्—पांच प्रकार के दुःखों के प्रवाह से वेगवती, पञ्चाशद्-भेदाम्—पचास भेदवाली; पञ्चपर्वाम्—पांच पर्व (जोड़-ग्रन्थि) वाली (काया-नदी) को, अधीमः—अध्ययन (विचार) करते हैं ॥५॥

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥६॥

सर्व+आजीवे—सब को जीवन देनेवाले (पालक), सर्वसंस्थे—सब को (अपने में) धारण करनेवाले, बृहन्ते—बड़े, तस्मिन्—उसमें; हंसः—जीवात्मा, भ्राम्यते—चक्कर काट रहा है, ब्रह्म-चक्रे—ब्रह्म-निर्मित सृष्टि-चक्र में, पृथक्—इस (चक्र) से अलग, आत्मानम्—अपने (आत्मा) को; प्रेरितारम्—(इस चक्र के) प्रेरक (ब्रह्म) को; च—और; मत्वा—मनन कर, जानकर, जुष्टः—तृप्त एवं शान्त हुआ, ततः—उसके बाद, तेन—उस (ज्ञान-मनन) से, अमृतत्वम्—अमरता को; एति—प्राप्त हो जाता है ॥६॥

चलाने वाला समझ बैठता है, वैसे इस 'ब्रह्म-चक्र' को चलता देख कर 'जीवात्मा' अपने को इसका चलाने वाला समझने लगता है। जो अपने को नहीं, परन्तु उसे सब का प्रेरक समझकर उसकी प्रीति में लग जाता है वह अमर हो जाता है ॥६॥

(ईश्वर, जीव, प्रकृति—इन तीन का वर्णन)

हम ने यह जो-कुछ गाया वह परम-ब्रह्म-चक्र का गीत गाया। इस ब्रह्म-चक्र में 'ईश्वर', 'जीव', 'प्रकृति' ये तीन अक्षर, अर्थात् अविनाशी तत्त्व सुप्रतिष्ठित हैं। ब्रह्मवित् लोग इन तीनों में अन्तर को, भेद को, जान कर, ब्रह्म में लीन होकर, उसी में तत्पर होकर, योनि से, अर्थात् जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं ॥७॥

प्रकृति को अभी 'अक्षर'—'अविनाशी'—कहा, परन्तु वह 'क्षर'—'विनाशी'—भी है। कारण-रूप में वह 'अक्षर' है, कार्य-रूप में, पृथिव्यादि-रूप में वह 'क्षर' है। उसका अक्षर-रूप 'अव्यक्त' है, क्षर-रूप 'व्यक्त' है, दीखता है। विश्व के इन क्षर-अक्षर, व्यक्त-अव्यक्त दोनों रूपों को 'ईश' पालता है। जीवात्मा 'अनीश' है, वह

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाऽक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥७॥

उद्गीतम्—ऊंचा (गम्भीर) गान (वर्णन) किया है; **एतत्**—यह; **परमम्**—श्रेष्ठ (इससे भी अधिक); **तु**—तो; **ब्रह्म**—ब्रह्म है; **तस्मिन्**—उस (ब्रह्म-चक्र) में; **त्रयम्**—तीनों (ब्रह्म, जीव, प्रकृति); **सुप्रतिष्ठ+अक्षरम् च**—और (उस ब्रह्म में) तीनों अक्षर (अनश्वर, अविनाशी) की भली प्रकार स्थिति है (उसमें स्थित हैं); **अत्र**—यहां, इनमें; **अन्तरम्**—भेद को; **ब्रह्मविदः**—ब्रह्मज्ञानी; **विदित्वा**—जान कर; **लीनाः**—लीन (मग्न) हुए; **ब्रह्मणि**—ब्रह्म में; **तत्पराः**—उसमें रम कर; **योनि-मुक्ताः**—(जन्म-मरण रूप) कारण से मुक्त (हो जाते हैं) ॥७॥

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥८॥

संयुक्तम्—मिले हुए; **एतत्**—इस; **क्षरम्**—विनाशी कार्य-प्रकृति को; **अक्षरम् च**—और अविनाशी कारण-प्रकृति को; **व्यक्त+अव्यक्तम्**—दृश्य और अदृश्य, प्रकट और अप्रकट; **भरते**—धारण करता है, पालता है; **विश्वम्**—संसार को; **ईशः**—समर्थ ईश्वर; **अनीशः**—असमर्थ; **च**—और; **आत्मा**—जीव; **बध्यते**—जन्म-मरण के बन्धन में पड़ता है; **भोक्तृभावात्**—पुण्य-

संसार के भोग में पड़ जाता है, और भोगों में पड़ जाने के कारण उन्हीं से बंध जाता है। जब जीवात्मा देव के दर्शन कर लेता है तब सब प्रकार के पाशों से, बन्धनों से मुक्त हो जाता है ॥८॥

दो 'अज' (अजन्मा) हैं—'ज्ञ' और 'अ ज्ञ'। 'ज्ञ' ईश है, 'अ ज्ञ' अनीश है। इन दो 'अजो' के अतिरिक्त एक तीसरी 'अजा' (अजन्मा) है। दो 'अज' (ईश्वर और जीव) और एक 'अजा' (प्रकृति) हैं—यह अजा भोक्ता (जीव) के भोग के लिए है। आत्मा अनन्त है, विश्व-रूप है, अकर्ता है। जब तीन को—ईश (ईश्वर), अनीश (जीव), प्रकृति (प्रकृति)—प्राप्त कर लेता है—दो 'अज' और एक 'अजा'—तब 'ब्रह्म' को प्राप्त करता है ॥९॥

'प्रधान', अर्थात् प्रकृति 'क्षर' है, खर जाने वाली है; 'अमृत', अर्थात् ईश्वर 'अक्षर' है, 'हर' है, खरने वाला नहीं है, हरने वाला है। क्षर-रूपा प्रकृति तथा जीवात्मा—इन दोनों पर स्वामित्व उसी एक देव का—ईश्वर का है। उसी देव के ध्यान से, उसके साथ

अपुण्य के फल सुख-दुःख का भोक्ता होने के कारण, ज्ञात्वा—जान कर, देवम्—देव परमात्मा को, मुच्यते—छूट जाता है, सर्वपाशैः—सब बन्धनों से ॥८॥

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥९॥

ज्ञ+अज्ञौ—ज्ञाता (ब्रह्म) और अज्ञानी (जीव), द्वौ—दोनों ही, अजौ—अजन्मा हैं; ईश+अनीशौ—समर्थ (ब्रह्म) और असमर्थ (जीव); अजा—जन्म से रहित (प्रकृति); हि—ही, एका—एक है, भोक्तृ-भोग्य अर्थ-युक्ता—भोक्ता (जीवात्मा) के भोग्य (भोगने योग्य सुख-दुःख) के प्रयोजन (सिद्धि) में लगी हुई (तत्पर); अनन्तः—अनन्त, च—और; आत्मा—ब्रह्म, विश्वरूपः—संसार का विधाता (संसार में व्याप्त), हि—ही, अकर्ता—बन्ध-कारण कर्म का न करनेवाला, त्रयम्—तीनों को, यदा—जब, विन्दते—पा लेता है, जान लेता है (तब), ब्रह्म—ब्रह्म, मे—मुझे, तत्—वह (प्राप्त हो जाता है); या ब्रह्मम् (आर्ष प्रयोग)—ब्रह्म को, एतत्—इस, यह (पा जाता है) ॥९॥

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥१०॥

क्षरम्—'क्षर' (विनाशी) यह नाम; प्रधानम्—प्रकृति (का है),

अपने को जोड़ देने से, अपने को मिटा कर उसी में लीन हो जाने से सदा के लिये यह आत्मा 'विश्व-माया' से निवृत्त हो जाता है, माया के बन्धनों से छूट जाता है ॥१०॥

उस देव को जानकर सब पाश छूट जाते हैं, पाशों के, अविद्यादि क्लेशों के छूट जाने से जन्म-मृत्यु छूट जाते हैं । पहले पाश छूटना, फिर देह छूटना—ये दो अवस्थाएं हुई । अभी तक देह के कारण संसार के सुख प्राप्त होते थे परन्तु अब देह छूटने के बाद तृतीय-अवस्था आती है जब देव के ध्यान से ही विश्व के ऐश्वर्य को, सुख आदि को प्राप्त कर लेता है, 'केवल' हो जाता है, अर्थात् अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, 'आप्त-काम' हो जाता है, कोई कामना उसे प्राप्त नहीं—ऐसा नहीं होता ॥११॥

वह नित्य 'देव' कहीं दूर नहीं, आत्मा में ही स्थित है, उसी को जानना चाहिये । उसे जानने के बाद, उससे परे, जानने योग्य कुछ

अमृत+अक्षरम्—अमर अविनाशी; हरः—हर्ता, संहर्ता; क्षर+आत्मानौ—प्रकृति और जीवात्मा दोनों को; ईशते—नियमित करता है; देवः—देव (ब्रह्म); एकः—एकाकी; तस्य—उस (देव ब्रह्म) के; अभिध्यानात्—ध्यान-चिन्तन करने से; योजनात्—योग (समाधि—चित्तवृत्ति-निरोध) करने से; तत्त्व-भावात्—उसमें लीन (तन्मय) हो जाने से; भूयः—फिर, तत्पश्चात्; अन्ते—अन्त में; विश्वमायानिवृत्तिः—संसार की माया (के बन्धनों) से मुक्ति हो जाती है (स्वतन्त्र हो जाता है) ॥१०॥

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥११॥

ज्ञात्वा—जान कर; देवम्—ब्रह्म को; सर्वपाश+अपहानिः—सब (कर्म) बन्धनों का नाश; क्षीणैः—क्षीण (नष्ट) हो जाने पर; क्लेशैः—(अविद्या आदि पांच) क्लेशों के; जन्म-मृत्यु-प्रहाणिः—जन्म-मरण (आवागमन) के चक्र का नाश (हो जाता है); तस्य—उस (ब्रह्म) के; अभिध्यानात्—ध्यान करने से; तृतीयम्—तीसरा (लाभ—फल-प्राप्ति) यह है; देहभेदे—शरीर छूटने पर; विश्व+ऐश्वर्यम्—सब ऐश्वर्य की प्राप्ति (होकर); केवलः—(जीवात्मा) केवल (निर्द्वन्द्व—प्रकृति से परे); आप्तकामः—पूर्ण-मनोरथ, सफल-मनोरथ (कामना से मुक्त) हो जाता है ॥११॥

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥१२॥

भी नहीं रहता। जीव 'भोक्ता' है, प्रकृति 'भोग्य' है, ईश्वर 'प्रेरक' है—'भोक्ता', 'भोग्य' और 'प्रेरक'—यह त्रिविध ब्रह्म है—यह कह दिया तो 'सर्वं प्रोक्तम्'—सब-कुछ कह दिया। 'ब्रह्म', अर्थात् महानता के ये ही तो तीन रूप हैं ॥१२॥

जैसे अग्नि जब अपने कारण में चली जाती है तब उसकी मूर्ति तो नहीं दीख पड़ती परन्तु उसका नाश नहीं होता, इन्धन के रूप में उसका कोई-न-कोई लिंग बना रहता है जिससे वह फिर-फिर ग्रहण की जा सकती है, इसी प्रकार 'प्रणव', अर्थात् ओंकार के द्वारा 'देह' में जीव तथा ईश्वर दोनों को ग्रहण किया जा सकता है ॥१३॥

अपने 'देह' को नीचे की ओर 'प्रणव' को ऊपर की अरणि बना कर, 'ध्यान' की रगड़ के अभ्यास से, बार-बार करने से, छिपी हुई आग की भांति जीव तथा ईश्वर की ज्योति को देखे ॥१४॥

एतत्—इस (ब्रह्म) को, ज्ञेयम्—जानना चाहिये (यह जानने योग्य है), नित्यम् एव—सदा ही, आत्म-संस्थम्—आत्मा (जीवात्मा) मे स्थित (व्याप्त), न—नही, अतः परम्—इसके बाद या इससे बढकर, वेदितव्यम्—जानने योग्य (शेष रहता) है, हि—ही, किंचित्—कुछ भी, भोक्ता—जीवात्मा, भोग्यम्—(भोग्य) प्रकृति का, प्रेरितारम्—प्रेरणा देनेवाले (सविता) ब्रह्म को, मत्वा—(दोनो के स्वरूप को) जान कर, सर्वम्—सब कुछ, प्रोक्तम्—(ऊपर) कहे (निर्दिष्ट), त्रिविधम्—तीन प्रकार के फल को पाकर, ब्रह्म मे तत्—उस ब्रह्म मे लीन हो जाता है ॥१२॥

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥१३॥

वह्नेः—अग्नि की, यथा—जैसे, योनिगतस्य—योनि (उत्पत्ति-स्थान काष्ठ) में उपस्थित, मूर्तिः—रूप, आकृति, न दृश्यते—नही दिखलाई देती, न+एव च—और न हो, लिङ्गनाशः—(उसकी उपस्थिति के) चिह्न का नाश (सभव है), सः—वह अग्नि, भूयः एव—फिर भी, इन्धन-योनि-गृह्यः—(जलते) इन्धन (काष्ठ रूपी) उत्पत्ति-कारण मे ग्रहण (ज्ञात) की जा सकती है, तद् वा—तो वैसे, उभयम्—दोनो (जीवात्मा और ब्रह्म), वै—हो, भी, प्रणवेन—'ओम्' पद (के जप) से, देहे—इस शरीर मे (जाने जा सकते हैं) ॥१३॥

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥१४॥

जैसे तिलों में तेल, दही में घृत, स्रोतों में जल, अरणियों में अग्नि रहती है, और तिलों को पीड़ने से, दही को बिलोने से, स्रोतों को खोदने से, अरणियों को रगड़ने से ये प्रकट होते हैं, वैसे जीवात्मा में परमात्मा निहित है और वहीं उसका ग्रहण होता है, परन्तु वह दीखता 'सत्य' और 'तप' को रगड़ से है ॥१५॥

दूध के कण-कण में जैसे घृत व्याप्त है, इसी प्रकार सर्वव्यापी आत्मा को जान कर 'आत्म-विद्या' और 'तप' से उसे जान लेना ही 'परम-ब्रह्मोपनिषत्' है, 'परम-ब्रह्मोपनिषत्' है ॥१६॥

स्व-देहम्—अपने शरीर को; **अरणिम्**—'अरणी' नामक ईंधन; **कृत्वा**—करके; **प्रणवम् च**—और ओंकार के जप को; **उत्तर+अरणिम्**—ऊपर की अरणी (के समान) करके; **ध्यान-निर्मथन+अभ्यासात्**—ध्यान रूपी रगड़ने के निरन्तर अभ्यास (पुनः पुनः आवृत्ति 'जप' से); **देवम्**—(आत्मा में स्थित) देव (ब्रह्म) को; **पश्येत्**—साक्षात् करे, जाने; **निगूढवत्**—जो छिपा-सा स्थित है ॥१४॥

तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥१५॥

तिलेषु—तिलों में; **तैलम्**—तेल; **दधिनि**—दही में; **इव**—तरह, **सर्पिः**—घी; आपः—जल; **स्रोतःसु**—(भूमिगत) झरनों में; **अरणीषु च**—और 'अरणी' नामक काष्ठों में; **अग्निः**—आग; **एवम्**—इस प्रकार; **आत्मा**—ब्रह्म; **आत्मनि**—जीवात्मा में; **गृह्यते**—ग्रहण किया जाता—जाना जाता है; **असौ**—यह; **सत्येन**—सत्य (सचाई, निष्ठा, श्रद्धा) से; **एनम्**—इस (ब्रह्म) को; **तपसा**—तप से; **यः**—जो; **अनुपश्यति**—देखता है (जानता है) ॥१५॥

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् । आत्मविद्या-
तपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परं तद्ब्रह्मोपनिषत्परमिति ॥१६॥

सर्वव्यापिनम्—सब (चर-अचर) में व्याप्त; **आत्मानम्**—ब्रह्म को; **क्षीरे**—दूध में; **सर्पिः इव**—घृत की तरह; **अर्पितम्**—उपस्थित (व्याप्त); **आत्मविद्यातपो-मूलम्**—आत्मज्ञान और तप ही जिसका मूल (आधार) है; **तद्**—उसको; **ब्रह्म+उपनिषत्**—ब्रह्म की उपासना (ज्ञान) ही; **परम्**—श्रेष्ठ है (अन्तिम स्थिति है); **तद् ब्रह्म+उपनिषत् परम्**—वह ही परम ब्रह्मोपनिषद् (ब्रह्म-ज्ञान) है; **इति**—ऐसे (ब्रह्मवादी चर्चा कर निश्चय पर पहुंचे) ॥१६॥

द्वितीय अध्याय
(योग द्वारा ब्रह्म-दर्शन)

पहले-पहल संसार के प्रसव करने वाले सविता ने संसार की बुद्धियों को मनन करने की जो प्रेरणा दी उस मनस्-तत्त्व का परिणाम यह हुआ कि अग्नि की ज्योति का चयन करके पृथिवी का भरण-पोषण-पालन हुआ। संसार की सभ्यता-संस्कृति का विकास विश्व की नियामक-शक्ति की प्रेरणा से अग्नि के आविष्कार से हुआ ॥१॥

जिस प्रकार सविता-देव का यह सृष्टि-रूप प्रसव-यज्ञ है, और उसमें वह सविता युक्त मन से शक्तिपूर्वक लगा हुआ है, इसी प्रकार हम भी स्वर्ग-रूपी यज्ञ की प्राप्ति के लिये मन-पूर्वक अपनी शक्ति से लग जांय ॥२॥

सम्पूर्ण-सृष्टि 'सुवः' की तरफ, सुख की तरफ जा रही है। लक्ष्य सुख ही है। इस सृष्टि में जो द्यु-लोक है, जो देव हैं, जो महान्

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥१॥

विशेष—आगे के पाँच मन्त्र यजुर्वेद के ११वें अध्याय के प्रथम पाँच मन्त्र हैं। 'योग' से सम्बन्ध रखने के कारण उनका ऋषि ने यहां उल्लेख किया है, इनके लिए यजुर्वेद का आर्य-भाष्य देखें।

युञ्जानः—लगाता हुआ, प्रथमम्—पहले, मनः—मन को, तत्त्वाय—तत्त्व-ज्ञान के लिए, या विस्तार (उन्नति) के लिए; सविता—जगद्-रचयिता, सर्व-प्रेरक, धियः—बुद्धियों को, अग्नेः—अग्नि (ज्ञानस्वरूप ब्रह्म) की, ज्योतिः—प्रकाश को, स्वरूप को, निचाय्य—चयन कर, पृथिव्याः—पृथिवी से, पृथिवी का, अधि+आभरत्—पालन किया, ग्रहण किया ॥१॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। सुवर्गेयाय शक्त्या ॥२॥

युक्तेन—युक्त, निरुद्ध, लगे हुए, मनसा—मन से, वयम्—हम; देवस्य—देव (ज्ञानमय), सवितुः—प्रेरक ब्रह्म की, सवे—प्रेरणा में, रचना में, सुवर्गेयाय (स्वर्ग्याय)—स्वर्ग (सुख) प्राप्ति के लिए; शक्त्या—अपनी पूर्ण सामर्थ्य से ॥२॥

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥३॥

युक्त्वाय—योग करके, लगाकर; मनसा—मन से; देवान्—देवों को;

ज्योति करने वाले नक्षत्र हैं—इन सबका 'धीः' और 'मनस्' के संयोग से सविता ही प्रसव करने वाला है ॥३॥

विप्र लोग, ज्ञानी लोग, अपने 'धीः' और 'मनस्' को, उस विप्र, महान् ज्ञानी, सर्वज्ञ भगवान् के 'धीः' और 'मनस्' के साथ जोड़ देते हैं, जिसने इकले ही हमारे कर्मों को जानते हुए 'होता' के रूप में यह सृष्टि-रूपी यज्ञ रचा। सविता-देव की यह कितनी महान् स्तुति है ॥४॥

(इस प्रकरण में 'धीः' और 'मनस्' में भेद किया गया है। मन के दो रूप हैं—एक संकल्प-विकल्पात्मक जिसे 'मनस्' कहते हैं, दूसरा संकल्प-विकल्प-रहित, निश्चयात्मक, जिसे 'धीः' कहते हैं। 'मन' तथा 'धीः' अर्थात् 'बुद्धि' पर इसी उपनिषद् के ४र्थ अध्याय पर हमारा नोट देखें।)

पूर्व्य-ब्रह्म को, अर्थात् सृष्टि के प्रसव से पूर्व जो ब्रह्म था, उसे मैं नमस्कार करता हूं, मेरे मार्ग में कीर्ति ऐसे फैले जैसे किसी शूर-

---

सुवः यतः (स्वः+यतः)—स्वर्ग (परम आनन्द मोक्ष) को प्राप्त करनेवाले; धिया—बुद्धि से (ज्ञानपूर्वक); दिवम्—द्यु-लोक (मोक्ष) को; बृहत्—बड़े, विशाल, ज्योतिः—प्रकाशस्वरूप ब्रह्म को; करिष्यतः—सिद्ध करते हुए; सविता—सर्व-स्रष्टा, सर्व प्रेरक; प्र सुवाति—प्रेरित करता है, उत्पन्न करता है; तान्—उनको ॥३॥

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥४॥

युञ्जते—युक्त (निरुद्ध) करते हैं; मनः—मन को; उत—तथा; युञ्जते—युक्त करते (लगाते) हैं; धियः—वाणी, कर्म और बुद्धियों को; विप्राः—ब्राह्मण (ज्ञानी); विप्रस्य—जगत् को पालनेवाले; बृहतः—महान् से भी महान्, विपश्चितः—ज्ञानी, समझदार; होत्रा—होता (ब्रह्म) ने, वि दधे—रची है, की है; वयुनाविद्—कर्मों को जाननेवाले; एकः—एक (अद्वितीय) ब्रह्म ने; इत्—ही; मही—महती या पृथिवी; देवस्य सवितुः—सविता देव की; परिष्टुतिः—पूर्ण स्तुति है (जगद्रचना उसके महत्त्व एवं सत्ता को व्यक्त करती है) ॥४॥

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥५॥

वीर या विद्वान् के मार्ग में कीर्ति फैल जाती है। तुम जो दिव्य-धामों में पहुंच चुके हो, हे सम्पूर्ण अमृत-पुत्रो, मेरी प्रार्थना को सुनो ॥५॥

जिस दिव्य-धाम में तुम हो, मेरा मन भी उस दिव्य-धाम में जा पहुंचे। ऐसा दिव्य-धाम जिसमें 'अग्नि' मथी जाती है, प्रचंड हो जाती है, 'वायु' जुड़ जाता है, प्रबल हो जाता है, और जिसमें 'सोम' का अतिरेक हो जाता है, अर्थात् सोम को जब निचोड़ा जाता है तो वह लबालब भर जाता है। सोम-याग में जैसे 'अग्नि', 'वायु' और 'सोम' की आवश्यकता है, वैसे समाधि के दिव्य-धाम-रूपी-याग में मथने पर 'परमात्म-ज्योति' प्रकट होती है, यही मानो 'अग्नि' है, 'प्राणायाम' के रूप में वायु प्रचंड हो जाती है, यही मानो 'वायु' है, और 'प्रसाद-भाव' लबालब भर जाता है, यही मानो 'सोम-रस' है ॥६॥

'सविता' ने सृष्टि का जो महान् प्रसव किया है उसे देखकर सृष्टि के पूर्व वर्तमान ब्रह्म के साथ प्रीति करे क्योंकि उसी ब्रह्म ने

युजे—युक्त (निरुद्ध) करता हूं, वाम्—तुम (दोनों मन और बुद्धि) को, ब्रह्म—ब्रह्म को (से), पूर्व्यम्—सृष्टि से भी पूर्व विद्यमान, परिपूर्ण, नमोभि—नमन (आत्म-समर्पण) से, नमस्कारों से, विश्लोक—विशिष्ट श्लोक (कीर्ति) वाला, एतु—प्राप्त हो (मिल जाये), पथि—मार्ग में, एव—ही, सूरे—ज्ञाता के, शृण्वन्तु—सुनें, विश्वे—सारे, अमृतस्य—अमर ब्रह्म के, पुत्रा—पुत्र रूप जीवो!, ये—जो, धामानि—लोकों को, उच्च स्थिति को, दिव्यानि—दिव्य, आतस्थु—आस्थावाले हो, प्राप्त हो ॥५॥

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राभियुज्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र सजायते मन ॥६॥

अग्नि—ज्ञान स्वरूप ब्रह्म, यत्र—जिस धाम (लोक, स्थिति) में अभिमथ्यते—मथा जाता, जाना जाता, प्रकट किया जाता है, वायु—प्राणस्वरूप ब्रह्म (से), यत्र—जिस स्थिति में, अभियुज्यते—मेल (योग) किया जाता है, सोम—शान्त रूप, जगत्स्रष्टा, यत्र—जहां, अतिरिच्यते—बढ़कर (प्राप्य) होता है, तत्र—उसमें, सजायते—सगत (युक्त) होता है, मन—(मेरा) मन (भी) ॥६॥

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्।
तत्र योनिं कृण्वसे न हि ते पूर्वमक्षिपत् ॥७॥

सविता के रूप में यह प्रसव किया है। अगर तू भी उसी के प्रसव में अपना स्थान बना ले—जैसे वह सृष्टि का प्रसव कर रहा है उस प्रसव के साथ-साथ तू अपना भी प्रसव होने दे, उसी पर अपने को छोड़ दे—तो तू प्रसव से पूर्व नहीं गिरेगा। जो भगवान् के रचे सृष्टि-क्रम के साथ अपने को नहीं जोड़ता, वह ऐसे ही गिर जाता है जैसे प्रसव से पूर्व बच्चा, उसका मानो गर्भपात हो जाता है ॥७॥

जैसे तैरते समय सिर, गर्दन, छाती उन्नत रखी जाती हैं, ऐसे ही शरीर के इन तीन भागों को उन्नत रखकर, इन्द्रियों को मन के अधीन और मन को हृदय में निविष्ट करके विद्वान् व्यक्ति 'ब्रह्म'-नाम रूपी नौका पर सवार होकर संसार-रूपी नदी के जितने पाप-रूपी भयावह स्रोत हैं सबको तर जाय ॥८॥

चेष्टाओं को वश में करके प्राण को भीतर रोके, उसका पीडन करे। जब प्राण भीतर न रुके, वह क्षीण होने लगे, तब नासिका से

सवित्रा—जगद्-रचयिता ब्रह्म से; **प्रसवेन**—सृष्टि-रचना से; **जुषेत**—सेवन करे, शान्त होवे; **ब्रह्म**—ब्रह्म को; **पूर्व्यम्**—जगद्-रचना से पूर्व भी वर्तमान; **तत्र**—उसमें; **योनिम्**—स्थान; **कृण्वसे**—करता है; **न हि**—नहीं; **ते**—तेरा; **पूर्वम्**—पहले; **अक्षिपत्**—गिरता है ॥७॥

> त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
> ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥८॥

त्रिः—तीनों को, तीन बार; **उन्नतम्**—ऊंचा, ऊपर को; **स्थाप्य**—रख कर; **समम्**—समान, सीधा; **शरीरम्**—शरीर को; **हृदि**—हृदय में; **इन्द्रियाणि**—इन्द्रियों को; **मनसा**—मन से (के साथ); **संनिवेश्य**—निविष्ट (स्थित) कर; **ब्रह्म+उडुपेन**—ब्रह्म (ओंकार) रूपी नौका से; **प्रतरेत**—पार कर जाये; **विद्वान्**—ज्ञानी; **स्रोतांसि**—जल-प्रवाहों को; **सर्वाणि**—सारे; **भयावहानि**—भयजनक ॥८॥

> प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
> दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥९॥

प्राणान्—प्राणों (श्वास) को; **प्रपीड्य**—बलपूर्वक रोक कर; **इह**—यहां (इस स्थिति में); **संयुक्तचेष्टः**—चेष्टाओं (शारीरिक गतियों) को रोक कर; **क्षीणे प्राणे**—प्राण (श्वास) के क्षीण होने पर; **नासिकया**—नाक से; **उच्छ्वसीत**—दीर्घ-सांस बाहर कर दे; **दुष्ट+अश्व-युक्तम्**—दुष्ट घोड़ों से युक्त;

उसे बाहर निकाल दे। दुष्ट घोड़ों वाले रथ में जैसे घोड़ों को वश में किया जाता है, वैसे अप्रमादी होकर प्राणायाम के साधन से मन-रूपी घोड़े को वश में करे ॥९॥



प्राणायाम शान्त तथा स्वच्छ स्थान पर करे

इव—समान, वाहम्—रथ को, (वाहम् इव—रथ के समान), एनम्—इस (चचल इन्द्रिय रूप अनियन्त्रित घोडो से युक्त); विद्वान्—ज्ञानी; मनः—मन को, धारयेत—धारण (स्थिर) करे, नियन्त्रित करे; अप्रमत्तः—प्रमाद न करता हुआ, सावधानता से ॥९॥

मन को वश में करने वाले प्राणायाम का यह प्रयोग ऐसे स्थान में करे जो सम हो, पवित्र हो, अग्नि, कंकड़-रेत से रहित हो, जो जल के कल-कल-रव तथा लतादि के आश्रय के कारण मनोनुकूल हो, जहां आंखों को कष्ट न हो, गुफ़ा हो—जहां वायु के झोंके न चलें ॥१०॥

जब योगी ब्रह्म का ध्यान करता है, तो उसे शुरू-शुरू में भिन्न-भिन्न रूप दिखलाई देते हैं। कुहरा-सा, धूआं-सा, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, बिजली, स्फटिक, चन्द्र—इनकी ज्योतियां दिखलाई देती हैं। योग में ब्रह्म-दर्शन से पहले-पहल ये रूप ब्रह्म को अभिव्यक्त करने के लिये होते हैं। ब्रह्म का इतना भारी प्रकाश है कि उसे सहने के लिये पहले ये प्रकाश दिखाई देते हैं ताकि योगी उस प्रकाश को झेल सके ॥११॥

योग का गुण, उसका फल कब प्रवृत्त होता है, कब मिलता है? जब पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश—ये पंचात्मक महाभूत उठ

समे शुचौ शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥१०॥

समे—इकसारे; **शुचौ**—पवित्र; **शर्करा-वह्नि-बालुका-विवर्जिते**—धूल, आग (गर्मी) और रेत से रहित; **शब्द-जलाशय+आदिभिः**—(मधुर) शब्द और जलाशय (नदी-तालाब) आदि के द्वारा; **मनो+अनुकूले**—मन के अनुकूल (मनोहर); **न तु**—नहीं तो; **चक्षु-पीडने**—नेत्र को पीडा देनेवाले; **गुहा-निवात+आश्रयणे**—गुफा में या आंधी से शून्य स्थान में; **प्रयोजयेत्**—(प्राणायाम-विधि का) प्रयोग (अनुष्ठान) करे ॥१०॥

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥११॥

नीहार-धूम+अर्क+अनिल+अनलानाम्—कुहासा, धुआं, सूर्य, वायु और अग्नि के; **खद्योत-विद्युत्-स्फटिक-शशीनाम्**—जुगनु, बिजली, स्फटिक (बिलौरी पत्थर) मणि और चन्द्रमा के; **एतानि**—ये; **रूपाणि**—रूप (आभा); **पुरःसराणि**—आगे चलनेवाले, पहिले ही दिखाई देने वाले; **ब्रह्मणि**—ब्रह्म में (ब्रह्म विषयक); **अभिव्यक्तिकराणि**—प्रगटता करनेवाले (आभास देनेवाले) होते हैं; **योगे**—चित्त-वृत्तियों के निरोध हो जाने की अवस्था में ॥११॥

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥१२॥

खड़े होते हैं, जब योगी इन्हें सिद्ध कर लेता है। पांच भूतों को वश करने के अनन्तर योगी का शरीर योग की अग्नि से देदीप्यमान हो जाता है, उसे रोग नहीं सताता, उसे जरा और मृत्यु नहीं सताती, वह रोग-हीन, जरा-हीन, मृत्यु-हीन हो जाता है ॥१२॥

योग में प्रवृत्ति का पहला फल यह होता है कि योगी का शरीर हलका हो जाता है, नीरोग हो जाता है, विषयों की लालसा मिट जाती है, कान्ति बढ़ जाती है, स्वर मधुर हो जाता है, शरीर से सुगन्ध निकलता है, मल-मूत्र अल्प हो जाता है ॥१३॥

जैसे मिट्टी से लत-पत स्वर्ण-पिंड खूब धोने पर तेजोमय होकर चमकने लगता है, इसी प्रकार देह को कीच समझ जाने वाला जब उसके भीतर प्रकाशमान आत्म-तत्त्व को देख लेता है, तब संसार की 'अनेकता' में से अपने को खींचकर, 'एक' हो जाता है, कृतार्थ और वीत-शोक हो जाता है ॥१४॥

पृथ्वी+अप्+तेजः+अनिल-खे—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश (के), समुत्थिते—भली प्रकार उभरने पर (सिद्ध हो जाने पर), पञ्चात्मके—पंच-सप्तक, योग-गुणे—चित्तवृत्ति-निरोध के गुण (फल-लाभ) के, प्रवृत्ते—आरम्भ होने पर, न—नहीं, तस्य—उस (योगी) का (को), रोग—रोग होता है, न जरा—न बुढ़ापा, न मृत्युः—और ना ही मृत्यु (होते हैं), प्राप्तस्य—प्राप्त हुए, योग+अग्निमयम्—योगरूप अग्नि से युक्त, शरीरम्—शरीर को ॥१२॥

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥१३॥

लघुत्वम्—(शरीर का) हलकापन, आरोग्यम्—नीरोगता, अलोलुपत्वम्—लालसा का अभाव, वर्णप्रसादम्—शरीर के रंग का निखरना, स्वर-सौष्ठवम् च—और स्वर में सुधार (मधुरता); गन्धः—गन्ध, शुभ—अच्छी, मूत्रपुरीषम्—मल-मूत्र, अल्पम्—थोड़ा होना (ये सब), योग-प्रवृ[त्तिम्] —योग के प्रारम्भ को, प्रथमाम्—पहिले, पूर्ववर्ती, वदन्ति—कहते हैं ॥[१३॥]

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधौ[तम्।]
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वी[तशोकः ॥१४॥]

यथा एव—जैसे ही; बिम्बम्—स्वर्ण-पिण्ड, मृद[या]—... लिप्तम्—लिपा हुआ, सना हुआ, तेजोमयम्—कान्ति युक्[त]

जैसे दीप से दूसरे पदार्थ देखे जाते हैं, ऐसे जब योगी आत्म-तत्त्व के प्रकाश से ब्रह्म-तत्त्व को सावधान होकर देख लेता है, तब सब तत्त्वों से अधिक शुद्ध, अज, ध्रुव, देव को जान कर सब बन्धनों से छूट जाता है ॥१५॥

वही देव सब दिशाओं-प्रदिशाओं में अनुव्याप्त है, वही सृष्टि के पूर्व प्रकट हुआ था, वही प्रत्येक पदार्थ के भीतर वर्तमान है। जो कुछ उत्पन्न हुआ, वह वही था, जो उत्पन्न होगा, वह भी वही होगा। जिधर देखो उधर उसी का मुख दिखलाई देता है—सब तरफ़ मानो अपने मुख को लेकर वह हमारे सामने आ खड़ा होता है—'जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है' ॥१६॥

है; तत्—वह (पिण्ड); सुधौतम्—भली प्रकार परिमार्जित (धोया हुआ); तद् उ—वैसे ही; आत्मतत्त्वम्—आत्मा के स्वरूप को; प्रसमीक्ष्य—देख कर; देही—देहधारी जीवात्मा; एकः—एक, केवलीभूत; कृतार्थः—कृतकृत्य, सफलमनोरथ; भवते—हो जाता है; वीतशोकः—शोक (दुःख-चिन्ता) से रहित ॥१४॥

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१५॥

यदा—जब; आत्मतत्त्वेन—आत्म-भाव से, अपने आत्मा द्वारा; तु—तो; ब्रह्मतत्त्वम्—ब्रह्म के स्वरूप को; दीपोपमेन—दीपक (प्रकाशक) के समान; इह—यहां (इस जीवन में); युक्तः—योग-साधना में लीन, मनोजयी; प्रपश्येत्—साक्षात् करता है; अजम्—अजन्मा; ध्रुवम्—नित्य; सर्वतत्त्वैः—सब तत्त्वों (पदार्थों—स्वरूपों) से; विशुद्धम्—अधिक शुद्ध, अलिप्त; ज्ञात्वा—जान कर; देवम्—देव (ब्रह्म) को; मुच्यते—छूट जाता है; सर्वपाशैः—सब बन्धनों से ॥१५॥

एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥१६॥

एषः ह—यह ही; देवः—देव (ब्रह्म); प्रदिशः—दिग्-दिगन्तरों में; अनु—अनुगत (व्याप्त) है; सर्वाः—सारी; पूर्वः—जगद्-रचना से पहले; ह—ही; जातः—विद्यमान (प्रकट) था; सः उ—वह ही; गर्भे—(जगत् के) मध्य में; अन्तः—अन्दर है; सः एव—वह ही; जातः—उत्पन्न हुआ (प्रकट—प्रसिद्ध हुआ); सः—वह; जनिष्यमाणः—(भविष्य में भी) उत्पन्न (प्रकट—प्रसिद्ध) होगा; प्रत्यङ् जनान् (जनान् प्रत्यङ्)—प्रति व्यक्ति के अन्तरतम में;

जो भगवान् अग्नि में है, जलों में है, सम्पूर्ण भुवन में सब जगह पहुंचा हुआ है, जो ओषधियों में है, वनस्पतियों में है—उस देव को नमस्कार हो, नमस्कार हो ॥१७॥

तृतीय अध्याय
(भगवान् की स्तुति)

संसार के माया-जाल को बिछाने वाला—वही एक है, अपनी शक्तियों से वही इस माया-जाल का स्वामी है, अपनी शक्तियों से सब लोकों का भी वही स्वामी है। संसार के उद्भव और संभव में, उत्पत्ति और स्थिति में वही एक कार्य कर रहा है। जो यह जान जाते हैं, वे अमृत हो जाते हैं ॥१॥

रुद्र-रूप भगवान् एक ही है। 'दूसरा भी है'—यह कहने वाले टिक नहीं सकते। वही अपनी शक्तियों से इन लोकों का स्वामी

तिष्ठति—स्थित है, सर्वतोमुख—नाना मुखावाला, सर्वभासी ॥१६॥ (यजु०, ३२-४)

यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥१७॥

यः—जो, देवः—ब्रह्म अग्नौ—अग्नि में, यः—जो, अप्सु—जलों में, यः—जो विश्वम्—सारे भुवनम्—उत्पन्न लोकों में आ विवेश—रमा हुआ है, यः ओषधीषु—जो ओषधियों में, यः वनस्पतिषु—जो वनस्पतिमात्र में (रम रहा है), तस्मै देवाय—उस ब्रह्म-देव को, नमः नमः—बार-बार नमस्कार है ॥१७॥

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे संभवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१॥

यः एकः—जो इकला, जालवान्—माया रूप जालवाला, माया-पति, ईशते—शासन (नियमन) कर रहा है, स्वामी है, ईशनीभिः—शासिका शक्तियों (सामर्थ्य) से, सर्वान् लोकान्—सारे लोकों को ईशते—नियम में चला रहा है, ईशनीभिः—अपने सामर्थ्य से यः एव—जो ही एकः—एकाकी, अद्वितीय, उद्भवे—सब लोकों की उत्पत्ति में संभवे च—और सम्भव (बने रहना, स्थिति, पालन) में (समर्थ है) ये—जो एतद्—इस (ब्रह्म) को, विदुः—जान लेते हैं, अमृताः—अमर, मुक्त, ते—वे, भवन्ति—हो जाते हैं ॥१॥

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥२॥

हैं। सृष्टि का सर्जन करने के बाद वही इसकी रक्षा करता है, और अन्तकाल में वही इसे समेट लेता है। इस सृष्टि के रूप में वह हर-एक व्यक्ति के सामने मानो प्रत्यक्ष खड़ा है ॥२॥

उसके नेत्र सब जगह हैं, वह सब-कुछ देख रहा है; उसका मुख सब जगह है, परमाणु-परमाणु में उसके दर्शन होते हैं; उसकी भुजाएं सब जगह हैं, जहां चाहो उसकी अंगुली पकड़ सकते हो; उसके पांव सब जगह हैं, कौन-सी जगह है जहां वह नहीं पहुंचा हुआ ? जैसे कोई लोहार किसी वस्तु की रचना करता हुआ हाथों से धौंकनी को धौंकता है, वैसे वह एक देव, द्यु और पृथिवी को मानो धौंकनी धौंक रहा है ॥३॥ (गीता में प्रतिपादित विराट्-पुरुष-दर्शन ऐसा ही है।)

जो देवों का प्रभव तथा उद्भव करने वाला है, जो विश्व का स्वामी है, रुद्र-रूप है, महर्षि है, जिसने सृष्टि-रचना से पूर्व

एकः—एक; हि—ही; रुद्रः—(कर्म-फलदाता) रुद्र (ब्रह्म); न—नहीं; द्वितीयाय—दूसरे (रुद्र) के लिए; तस्थुः—खड़े हुए, टिके, (ज्ञानियों ने) आस्था रक्खी; यः—जो; इमान् लोकान् ईशते ईशनीभिः—अपनी शक्तियों से इन लोकों का स्वामी है; प्रत्यङ् जनान् तिष्ठति—प्रत्येक व्यक्ति के अन्तरतम में स्थित है; संचुकोच—संकोच (संहार-प्रलय) करता है; अन्तकाले—अन्त समय में; संसृज्य—रच कर; विश्वा—सारे; भुवनानि—भुवनों (उत्पन्न जगत्) को; गोपाः—रक्षा करनेवाला (रुद्र) ब्रह्म ॥२॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥३॥

विश्वतः+चक्षुः—चारों ओर नेत्रवाला (सर्व-साक्षी); उत—तथा; विश्वतः-मुखः—चारों ओर मुखवाला (वेद-उपदेष्टा); विश्वतः-बाहुः—सब ओर भुजाओं वाला (सर्व-रक्षक); उत—तथा; विश्वतः-पात्—सब ओर पाँववाला (जानेवाला—अन्तर्यामी); सम्—भली प्रकार; बाहुभ्यां—(रक्षक) भुजाओं से; धमति—गति-शील है, धौंक रहा है (पाल रहा है); सम् (धमति)—संगत करता है; पतत्रैः—पंखों से, पांवों से; द्यावाभूमी—द्यु-लोक और पृथिवी लोक को; जनयन्—पैदा करता हुआ; देवः—देव (रुद्र-ब्रह्म); एकः—अद्वितीय (सहाय-निरपेक्ष, केवली) ॥३॥ (यजु०, अध्याय १७, मन्त्र १९)

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥४॥

'हिरण्यगर्भ' (Nebula) की रचना की, वह हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करे ॥४॥

पर्वतों पर जो गम्भीर शान्ति विराज रही है उसका संचार करने वाले रुद्र! तेरा जो शिव, अघोर तथा पाप-रहित रूप है, उस शान्तिमय रूप से हमारी तरफ आंख उठाकर देख, हमें भी उसी प्रकार की शान्ति का वर-दान प्रदान कर ॥५॥

हे रुद्र, तुम 'गिरिशन्त' हो, पर्वतों में स्तब्धता, शान्ति उत्पन्न करने वाले हो। जिस बाण को फेंकने के लिये तुम हाथ में लिये हुए हो उससे हे रुद्र, जैसे तुम वन-पर्वतों की रक्षा करते हो, गिरित्र हो, वैसे इस पुरुष की, और इस जगत् की भी रक्षा करो, इनका भी कल्याण करो ॥६॥

यः—जो, देवानाम्—देवों (विद्वान्, इन्द्रिय, दिव्य लोक आदि) का, प्रभवः च—रचयिता, उद्भवः च—उन्नति-कर्ता (पालक) है, विश्व+अधिपः—जगत् का स्वामी (रक्षक), रुद्रः—रुद्र, महर्षिः—महान् क्रान्तदर्शी (भविष्य-द्रष्टा), हिरण्यगर्भम्—हिरण्यगर्भ (सृष्टि के प्रथम प्रकृति-विकार) को, जनयामास—उत्पन्न किया, पूर्वम्—सब से पहिले, सः—वह (रुद्र), नः—हमें, बुद्धया—बुद्धि से, शुभया—शुभ (कल्याणकारिणी), संयुनक्तु—युक्त करे ॥४॥

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया नस्तनुवा शंतमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥५॥

या—जो, ते—तेरा, रुद्र—हे रुद्र!, शिवा—कल्याणमय, वरेण्य; तनूः—शरीर (रूप-भर्ग) है, अघोरा—सौम्य, प्रसन्न, अपापकाशिनी—पापों से रहित, धर्म-प्रकाशक, तया—उस, नः—हमको, तनुवा (तन्वा)—स्वरूप से; शंतमया—अत्यन्त शान्तिप्रद, गिरिशन्त—हे (दुर्गम) पर्वतों (स्थानों, अवस्थाओं) पर भी शान्ति का विस्तार करनेवाले, अभिचाकशीहि—(कृपा दृष्टि से) देख ॥५॥ (यजु०, १६-२)

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ॥
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥६॥

याम्—जिस, इषुम्—(कर्म-विपाक रूप) बाण को; गिरिशन्त—हे पर्वतों पर शान्ति का विस्तार करनेवाले!; हस्ते—हाथ में; बिभर्षि—धारण कर रहे हो; अस्तवे—फेंकने के लिए, शिवाम्—कल्याणकारी; गिरित्र—

'रुद्र'-रूप भगवान् के दर्शन करने के बाद 'ब्रह्म' के दर्शन होते हैं, वह अत्यन्त महान् है, हर स्थान में, हर भूत में वह छिपा हुआ है, अकेला सम्पूर्ण विश्व को घेरे हुए है, लपेटे हुए है, इसका स्वामी है, उसे जान कर योगी लोग अमृत हो जाते हैं ॥७॥

मैं उस महान् पुरुष को जानता हूं जो आदित्य की भांति चमक रहा है, अन्धकार से अत्यन्त दूर है। उसी को जान कर मृत्यु को लांघा जा सकता है, इस संसार से सदा के लिये प्रयाण करने के लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है ॥८॥

जिससे न कुछ परे है, न वरे है, जिससे न कुछ सूक्ष्मतर है, न महत्तर है, जैसे वृक्ष पृथिवी में जमा हुआ आकाश में सिर उठाये

पर्वतों के रक्षक; ताम्—उस (बाण) को; कुरु—(हितकर) करो; मा—मत; हिंसीः—घात (अहित) करो; पुरुषम्—आत्मा को; जगत्—सृष्टि को ॥६॥ (यजु०, १६–३)

ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ॥७॥

ततः परम्—उसके पश्चात्; ब्रह्म—ब्रह्म को; परम्—परम (श्रेष्ठ); बृहन्तम्—बड़े, महान्; यथानिकायम्—प्रति स्थान (शरीर) में; सर्वभूतेषु—सब (चर-अचर) भूतों में; गूढम्—छिपे हुए, अन्तर्लीन; विश्वस्य—जगत् के; एकम्—अद्वितीय; परिवेष्टितारम्—आवृत (आवासित) करनेवाले; ईशम्—समर्थ प्रभु को; तम्—उस; ज्ञात्वा—जान कर; अमृताः भवन्ति—अमर (मुक्त) हो जाते हैं ॥७॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥८॥

वेद—जानता हूं; अहम्—मैं; एतम्—इस; पुरुषम्—पर-ब्रह्म को; महान्तम्—महान्; आदित्यवर्णम्—आदित्यवत् दीप्यमान; तमसः—तमोगुण या अन्धकार से; परस्तात्—परे है, रहित है; तम् एव—उसको ही; विदित्वा—जान कर; अति मृत्युम् एति (मृत्युम् अति एति)—मरण को लांघ जाता है, मृत्यु-मुख से छूटता है; न—नहीं; अन्यः—दूसरा (इससे भिन्न); पन्थाः—मार्ग (साधन); विद्यते—है; अयनाय—छुटकारे के लिए (पार जाने के लिए) ॥८॥ (यजु०, ३१–१८)

यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥९॥

खडा होता है, इसी प्रकार जो इकला जम कर सम्पूर्ण द्यु-लोक में खड़ा है, उस पुरुष ने इन सब को पूर्ण किया हुआ है—इस सब में वह मानो भरा पड़ा है ॥९॥

उस पुरुष से भी जो परे है, वह रूप-रहित है, दु:ख-रहित है। उस ब्रह्म को जो जान जाते हैं, वे अमृत हो जाते हैं, और दूसरे लोग लौट-लौट कर दुःख को पाते हैं ॥१०॥

सब जगह उसका मुख है, सिर है, ग्रीवा है, सब प्राणियों की हृदय-रूपी गुफा में वह विराजमान है। वह भगवान् सर्वव्यापी है, इसलिये वह सब जगह पहुंचा हुआ है, शिव है ॥११॥

वह महान् पुरुष संसार का प्रभु है, सम्पूर्ण अस्तित्व का वह प्रवर्तक है। उसका ध्यान करने से जिस निर्मल आनन्द की प्राप्ति

यस्मात्—जिससे, परम्—परे, आगे, न—नहीं, अपरम्—वरे, नीचे-पीछे, अस्ति—है, किंचिद्—कुछ भी, यस्मात्—जिसमें, न—नहीं, अणीयः—छोटा (सूक्ष्म), न—नहीं, ज्याय—महान्, अस्ति—है, कश्चित्—कोई भी, वृक्ष इव—वृक्ष की तरह, स्तब्ध—अकड़ा, स्थिर, दिवि—द्युलोक में, तिष्ठति—स्थित है, तेन—उस, इदम्—यह (जगत्), पूर्णम्—भरा हुआ (व्याप्त), पुरुषेण—प्रकृति के अधिष्ठाता परमात्मा द्वारा, सर्वम्—सब ॥९॥

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् ।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दु:खमेवापि यन्ति ॥१०॥

ततः—उस (जगत्) से, यद्—जो, उत्तरतरम्—अधिक उत्कृष्ट या परे है, तद्—वह, अरूपम्—रूप-रहित, अनामयम्—(जरा-मरण) व्याधि से मुक्त, ये—जो, एतद्—इस (ब्रह्म) को, विदु—जान लेते है, अमृता—अमर (मुक्त), ते—वे (ज्ञानी), भवन्ति—हो जाते हैं, अथ—और, इतरे—दूसरे (अज्ञानी), दु:खम् एव—दु:ख को ही, अपि यन्ति—प्राप्त करते है ॥११॥

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगत: शिवः ॥११॥

सर्व+आनन-शिरः+ग्रीव—सर्वत्र मुख, सिर और ग्रीवा (गर्दन) वाला, सर्वभूतगुहाशय—सब प्राणियों की हृदय-गुहा में सोनेवाला (विद्यमान), सर्वव्यापी—सर्व-व्यापक, सः—वह, भगवान्—ऐश्वर्यशाली, तस्मात्—अतएव, सर्वगतः—सब को प्राप्त, सर्वत्र पहुंचा, शिव—कल्याणकारी प्रभु ॥११॥

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः ।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥१२॥

होती है उसका वही स्वामी है। वह कभी न क्षीण होने वाली ज्योति है ॥१२॥

वह पुरुष, अंगुष्ठ-मात्र, आत्मा के भीतर, सदा मनुष्यों के हृदय में सन्निविष्ट है। हृदय से, बुद्धि से और मन से उसे पाया जाता है। जो यह जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं (पहुंचा पकड़ कर ही तो किसी को पकड़ा जाता है। अंगुष्ठ-मात्र वह हृदय में है, तो ध्यान से उसके अंगूठे को पकड़ कर उसे पकड़ा जा सकता है।)॥१३॥

वह पुरुष सहस्र सिरों वाला, सहस्र आंखों वाला, सहस्र पांवों वाला है। वह हाथ से ब्रह्मांड को सब तरफ़ से छुये हुए है, फिर भी उसकी दसों उंगलियां दूर खड़ी हैं। घेरने से तो दसों उंगलियां भर जानी चाहियें, परन्तु यह ब्रह्मांड उसके लिए इतना तुच्छ है कि इसे घेर कर भी उसके दोनों हाथों की दसों उंगलियां मानो ख़ाली रह जाती हैं ॥१४॥

महान्—महान्; **प्रभुः**—समर्थ, स्वामी; **वै**—निश्चय ही; **पुरुषः**—परमात्मा; **सत्त्वस्य**—सद्-भाव, सत्ता, महत्तत्त्व, बुद्धि का; **एषः**—यह; **प्रवर्तकः**—प्रेरयिता है; **सुनिर्मलाम्**—अति निर्मल, विशुद्ध; **इमाम्**—इस (मोक्ष-आनन्दरूप); **प्राप्तिम्**—प्राप्य-लक्ष्य का; **ईशानः**—स्वामी; **ज्योतिः**—प्रकाश-स्वरूप; **अव्ययः**—अविनाशी ॥१२॥

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१३॥

अंगुष्ठमात्रः—अंगूठे के बराबर परिमाणवाला; **पुरुषः**—पर-ब्रह्म; **अन्तरात्मा**—जीवात्मा के अन्दर विद्यमान; **सदा**—सर्वदा; **जनानाम्**—उत्पन्न शरीरधारी) जीवों के; **हृदये**—हृदय में; **संनिविष्टः**—प्रविष्ट, उपस्थित, विद्यमान है; **हृदा**—हृदय (भक्ति) से; **मनीषा**—बुद्धि से; **मनसा**—मन (मनन-चिन्तन) से; **अभिक्लृप्तः**—साध्य, प्राप्य, ज्ञेय; **ये एतद् विदुः**—जो इसको जान लेते हैं; **अमृताः ते भवन्ति**—वे अमर (मुक्त) हो जाते हैं ॥१३॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१४॥

सहस्रशीर्षा—हज़ारों सिरवाला; **पुरुषः**—(प्रकृति का अधिष्ठाता) परमात्मा; **सहस्राक्षः**—हज़ारों आंखवाला; **सहस्रपात्**—हज़ारों पांववाला; **सः**—वह; **भूमिम्**—पृथिवी को; **विश्वतः**—चारों ओर से; **वृत्वा**—घेर कर;

जो हुआ है, जो होगा, सब पुरुष में ही है। वह अमृत का स्वामी है, और जो अमृत नहीं है, अन्न से बढता है, उसका भी वही स्वामी है ॥१५॥

सब ओर उसके हाथ-पैर है, सब ओर आख, सिर, मुख है; सब ओर कान है; संसार में सबको घेर कर वह खडा है—फिर कहो कौन उससे बचकर किधर से निकल जायगा, कौन कैसे उससे छिप जायगा ? ॥१६॥

सब इन्द्रियों के गुण उसमें भास रहे है, परन्तु सभी इन्द्रियों से वह रहित है। सबका वह प्रभु है, स्वामी है, इसीलिये सभी के लिये वह महान् शरण है, आश्रय-स्थान है, सहारा है ॥१७॥

अत्यतिष्ठत्—दूर (परे) खडा है, दश+अङ्गुलम्—दस अगुल भर ॥१४॥ (यजु०, ३१-१)

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥१५॥

पुरुषे—परमात्मा मे, एव—ही, इदम्—यह, सर्वम्—सब कुछ, यद्—जो, भूतम्—उत्पन्न हुआ है, यत् च—और जो, भव्यम्—उत्पन्न होनेवाला है, उत—तथा, अमृतत्वस्य—अमर-पद (मोक्ष) का, ईशान—स्वामी, प्रभु, यद्—जो, अन्नेन—अन्न से,, अतिरोहति—उत्पन्न होकर बढता है ॥१५॥ (यजु०, ३१-२)

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१६॥

सर्वतः पाणिपादम्—सब ओर हाथ-पाँववाला, तद्—वह (ब्रह्म), सर्वतः+अक्षि-शिर+मुखम्—सब ओर आख, सिर और मुखवाला, सर्वतः—सब ओर, श्रुतिमत्—कानोंवाला (श्रोता), लोके—ससार मे, सर्वम्—सब को, आवृत्य—घेर कर, तिष्ठति—ठहरता-रहता है ॥१६॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥१७॥

सर्व+इन्द्रिय-गुण+आभासम्—सब (पाचो) इन्द्रियो के गुणो (विषयो) का आभास (ज्ञान) करनेवाला, सर्व+इन्द्रियविवर्जितम्—सब इन्द्रिय (गोलको) से रहित, सर्वस्य—सब के, प्रभुम्—स्वामी, ईशानम्—नियन्ता, सर्वस्य—सब का, शरणम्—आश्रय-स्थान, बृहत्—महान् (वह ब्रह्म) है ॥१७॥

देह के नौ द्वार हैं—सात ऊपर, दो नीचे। 'देही', अर्थात् जिसने देह को ही अपना सब-कुछ बना रखा है, वह तो इस नौ द्वारों वाली नगरी में रमा रहता है। जो 'परमहंस' है, हंस की तरह देह के बन्धनों से छूटकर उड़ना चाहता है, वह इस बन्धन से बाहर प्रकाशमान होता है, इस शरीर-रूपी बन्धन से ऊपर उठ जाता है। आत्मा के इन दोनों रूपों के अतिरिक्त परमात्मा का एक रूप है, जो 'वशी'-रूप है, वह स्थावर तथा जंगम लोकों का वश करने वाला रूप है ॥१८॥

वह बिना पांवों के शीघ्र गति करता है, बिना हाथों के झट से पकड़ लेता है, बिना आंखों के देखता, बिना कानों के सुनता है। जानने योग्य जो-कुछ भी है, उसे तो वह जानता है, परन्तु उसे जानने वाला कोई नहीं, उसी को आदिम-महान्-पुरुष कहते हैं ॥१९॥

वह अणु-से-अणु है, महान्-से-महान् है; वह आत्मा जीव-मात्र की हृदय-रूपी गुफा में छिपा हुआ है। वह कर्म नहीं करता, 'अक्रतु'

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥१८॥

नव-द्वारे—नौ दरवाजेवाले; **पुरे**—(शरीर रूप) नगर में; **देही**—देहधारी; **हंसः**—जीवात्मा; **लेलायते**—प्रकाशित होता है, प्रदीप्त होता है; **बहिः**—बाहर; **वशी**—वश में रखनेवाला; **सर्वस्य**—सारे; **लोकस्य**—लोक का; **स्थावरस्य**—स्थिर (अचर–अप्राणी) का; **चरस्य च**—और जंगम (प्राणी) का ॥१८॥

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥१९॥

अपाणिपादः—हाथ-पाँव से रहित (भी); **जवनः**—गतिशील; **ग्रहीता**—ग्रहण करने (पकड़ने) वाला; **पश्यति**—देखता है; **अचक्षुः**—नेत्रों से रहित; **सः**—वह; **शृणोति**—सुनता है; **अकर्णः**—बिना कान के; **सः**—वह; **वेत्ति**—जानता है; **वेद्यम्**—ज्ञेय (जानने योग्य) को; **न च तस्य अस्ति**—और कोई नहीं है उसका; **वेत्ता**—जाननेवाला; **तम्**—उसको; **आहुः**—कहते (बताते) हैं; **अग्र्यम्**—आगे (प्रथम) विद्यमान, आदिम; **पुरुषम्**—प्रकृति का अधिष्ठाता परमात्मा; **महान्तम्**—महान् ॥१९॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥२०॥

है। उस परमेश्वर की महिमा को वीत-शोक भक्त-गण उस विधाता के प्रसाद से ही, उसकी कृपा से ही, प्राप्त करते हैं ॥२०॥

मैं इसे जानता हूं, यह अजर है, पुरातन है, सम्पूर्ण रूप में आत्मा-ही-आत्मा है, सब जगह पहुंचा हुआ है, विभु है। ब्रह्मवादी लोग सदा उसका बखान किया करते हैं, उसका कभी जन्म नहीं होता, वह नित्य है—ऐसा उसका वर्णन किया जाता है ॥२१॥

चतुर्थ अध्याय

(दो अज, दो पक्षी, दो पुरुष के रूप में भोक्ता-भोग्य का वर्णन)

जो भगवान् स्वयं 'एक' हैं, 'अवर्ण' हैं, 'निराकार' हैं, किन्तु अपनी शक्ति के द्वारा जिसने 'अनेक', 'वर्ण' वाले, 'साकार' संसार

अणो—अणु (सूक्ष्म) से, अणीयान्—सूक्ष्म, महत—बड़े से, महीयान्—बड़ा, महान्, आत्मा—परमात्मा, गुहायाम्—हृदय में, निहित—स्थापित, विद्यमान है, अस्य—इस, जन्तो—जन्मधारी जीवात्मा के, तम्—उसको, अक्रतुम्—अकर्त्ता, पश्यति—साक्षात् करता है, वीतशोक—दुःख से मुक्त, धातु—धारण करनेवाले परमात्मा की, प्रसादात्—कृपा से, महिमानम्—महान् महिमा को, ईशम्—नियामक ईश्वर की ॥२०॥

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥२१॥

वेद—जानता हूं, अहम्—मैं, एतम्—इसको, अजरम्—जरा (बुढ़ापे) से रहित, पुराणम्—सनातन, सर्व+आत्मानम्—सब के आत्मा में विद्यमान, सर्वात्मा, सर्वगतम्—सब में व्याप्त, विभुत्वात्—विभु होने के कारण, जन्म-निरोधम्—जन्म मरण चक्र से छुटकारे को, प्रवदन्ति—बताते हैं, यस्य—जिसके (वह जन्म मरण से मुक्त है), ब्रह्मवादिन—ब्रह्म की चर्चा करनेवाले वेदज्ञ, हि—ही, प्रवदन्ति—चर्चा करते, उपदेश करते हैं, नित्यम्—हमेशा, त्रि-काल में ॥२१॥

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥१॥

य—जो, एक—अद्वितीय, सहाय निरपेक्ष, अवर्ण—रंग रूप से रहित निराकार, अवर्णनीय, बहुधा—अनेक प्रकार से, शक्ति-योगात्—सामर्थ्य के

को रचा है, जिसने प्रत्येक पदार्थ में कोई-न-कोई प्रयोजन रख दिया है, जो विश्व का आदि में संचयन तथा अन्त में विचयन करता है—विश्व के इस विशाल-भवन को मानो पहले खड़ा कर देता है, और फिर ढा देता है—वह देव हमें शुभ-बुद्धि से युक्त करे ॥१॥

वही देव अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, वही जल है, वही प्रजापति है ॥२॥

हे देव! तू ही स्त्री है, तू ही पुरुष है, तू ही कुमार है, तू ही कुमारी है, तू ही वृद्ध होकर दंड से हमें ठग लेता है—हम तुझे इन भिन्न-भिन्न रूपों में अलग-अलग समझकर भरमा जाते हैं, पर अस्ल में सब तू-ही-तू है। तू जब सृष्टि के रूप में प्रकट होता है, तो स्वयं एक होता हुआ भी नाना-रूप हो जाता है ॥३॥

कारण; **वर्णान्**—वर्णों (रंग-रूप, आकृतियों) को; **अनेकान्**—अनेक, नाना-विध; **निहितार्थः**—सप्रयोजन, सोद्देश्य; **दधाति**—धारण करता है; **वि च एति (च वि एति)**—और व्यय (संहार) करता है; **च**—और; **अन्ते**—अन्त में, प्रलय-काल में; **विश्वम्**—सर्व-जगत् को; **आदौ**—सृष्टि के आदि में; **सः देवः**—वह ही देव (था); **सः**—वह (ब्रह्म); **नः**—हमको; **बुद्धया शुभया संयुनक्तु**—शुभ बुद्धि से युक्त करे ॥१॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥२॥

तद्—वह (ब्रह्म); **एव**—ही; **अग्निः**—अग्नि; **तद्**—वह; **आदित्यः**—आदित्य; **तद् वायुः**—वह ही वायु; **तद् उ**—वह ही; **चन्द्रमाः**—चन्द्रमा; **तद् एव**—वह ही; **शुक्रम्**—शुक्र; **तद्**—वह (परमात्मा); **ब्रह्म**—ब्रह्म; **तद्**—वह; **आपः**—अप्; **तत्**—वह; **प्रजापतिः**—प्रजापति (अग्नि आदि नामों से वाच्य है, ये उसी के बोधक—वाचक हैं) ॥२॥ (यजु०, ३२-१)

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥३॥

त्वम्—तू; **स्त्री**—स्त्री है; **त्वम्**—तू; **पुमान्**—पुरुष; **असि**—है; **त्वम्**—तू; **कुमारः**—कुमार; **उत वा कुमारी**—तथा, अथवा कुमारी है। **त्वम्**—तू ही; **जीर्णः**—वृद्ध हुआ; **दण्डेन**—दण्ड (के सहारे) से; **वञ्चसि**—गति करता है, चलता-फिरता है, ठगता है; **त्वम्**—तू; **जातः**—उत्पन्न हुआ; **भवसि**—होता है; **विश्वतोमुखः**—सब ओर मुख वाला (बहिर्मुख) ॥३॥

नीले-हरे रंग के पक्षी तू ही है, तू ही मेघ है, तू ही ऋतुएं है, तू समुद्र है। तू स्वयं अनादि है, तू विभु-रूप में वर्तमान है, तुझसे ही सम्पूर्ण लोक उत्पन्न हुए हैं ॥४॥

लाल, सफेद, काले रंग की एक 'अजा' है, जो अपने ही रंग-रूप वाली अनेक प्रजाओं का सर्जन कर रही है। एक 'अज' है, जो उस 'अजा' के साथ प्रीति करता है, उसके साथ सो जाता है, एक दूसरा 'अज' है, जो भुक्त-भोगा 'अजा' को छोड़ देता है। 'अज' का अर्थ 'अ+ज'—जो पैदा नहीं होता, अजन्मा, अनादि है। तीन 'अ+ज', अर्थात् अनादि हैं, एक भोग्य=सत्त्व, रज, तम-रूपी 'अजा' प्रकृति, दूसरा भोगने वाला='अज' जीवात्मा, तीसरा न भोगने वाला 'अज' परमात्मा। जीवात्मा प्रकृति में रम जाता है, परमात्मा नहीं रमता ॥५॥

नीलः पतंगो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥४॥

नीलः—नीला; पतंग—पक्षी या पतंगा; हरितः—हरे-रंग का, लोहिताक्षः—लाल आंखवाला पक्षी (तू ही है), तडिद्गर्भः—बिजली को अपने अन्दर रखनेवाला मेघ, ऋतवः—छै ऋतुएं, समुद्राः—समुद्र, अनादिमत् —आदि (प्रारम्भ) से रहित, त्वम्—तू, विभुत्वेन—विशाल, महान् व्यापक रूप (भाव) से, वर्तसे—विद्यमान है (तू विभु है), यतः—जिससे, जातानि—उत्पन्न हुए हैं, भुवनानि—चौदहों लोक, विश्वा—सारे ॥४॥

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥५॥

अजाम्—अजन्मा, नित्य, एकाम्—संख्या में एक, लोहित-शुक्ल-कृष्णाम् —लाल (रजोगुण), सफेद (सत्त्वगुण) और काले (तमोगुण) रूप से युक्त, बह्वीः—बहुत-सी, अनेक, प्रजा—प्रजाओं (कार्य-सृष्टि) को, सृजमानाम् —रचना करती हुई, सरूपाः—अपने समान रूप (सत्त्व-रजस्-तमस्) वाली, अजः—अजन्मा (जीव), हि—ही, एकः—एक, जुषमाण—सेवन (भोग) करता हुआ, अनुशेते—उसके साथ सोता (रमता) है, जहाति—छोड देता है, एनाम्—इसको, भुक्तभोगाम्—(जीव द्वारा) जिसका भोग भोगा जा रहा है, अजः—अजन्मा; अन्यः—दूसरा (परमात्मा) अथवा अज हि ·· अन्यः —एक अजन्मा (बद्ध जीव) इसका भोग भोगता हुआ इसमें रम जाता है, दूसरा अजन्मा (मुक्त-जीव) इसको भोग कर इसे छोड देता है ॥५॥

(इस मन्त्र का यह भी अर्थ हो सकता है कि 'अजा'—प्रकृति—तो भोग्य है, परन्तु 'अज'—आत्मा—दो प्रकार के हैं—एक ऐसे जीव हैं, जो भोग में ही रमे रहते हैं, उसे छोड़ते ही नहीं; दूसरे ऐसे जीव हैं, जो प्रकृति का भोग करके उसे छोड़ देते हैं, शान्त हो जाते हैं।)

सुन्दर पंखों वाले, सदा साथ रहने वाले, एक-दूसरे के मित्र दो पक्षी हैं, दोनों एक ही वृक्ष का आलिंगन कर रहे हैं। दोनों में से एक पक्षी पिप्पल के स्वादु फल को मजे में खाता है, दूसरा न खाता हुआ देखता मात्र है। परमात्मा-जीवात्मा दो पक्षी हैं, प्रकृति अथवा शरीर वृक्ष है, जीवात्मा कर्म-फल का भोग करता है, परमात्मा साक्षी-रूप रहता है ॥६॥

(इस मन्त्र का यह भी अर्थ हो सकता है कि संसार में जीव दो प्रकार के हैं—एक भोग में रमे हुए, दूसरे वे जिन्होंने भोगों से अपने को अलग कर लिया है। मुंडक ३।१ में भी यह भाव है।)

एक ही वृक्ष पर पुरुष फल भोगने में निमग्न हो जाता है, भोगता-भोगता असमर्थ हो जाता है, मोह में पड़कर शोक करने

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥६॥

द्वा—दो; **सुपर्णा**—सुन्दर पंखवाले, सुन्दर गति (ज्ञान) वाले (चित्स्व-रूप); **सयुजा**—(व्याप्य-व्यापक भाव से) साथ रहनेवाले (परस्पर सम्बद्ध); **सखाया**—समान ख्याति (सत्-चित् रूप गुण) वाले; **समानम्**—एक ही; **वृक्षम्**—विनाशी (कार्य-प्रकृति रूप) वृक्ष को; **परिषस्वजाते**—आलिंगन कर रहे हैं, उससे चिपट रहे हैं; **तयोः**—उन दोनों में से; **अन्यः**—एक (जीवात्मा) **पिप्पलम्**—पीपली फल (भोग) को; **स्वादु**—स्वाद वाले या स्वाद ले-लेकर (मग्न हो-हो कर); **अत्ति**—खाता (भोगता) है; **अनश्नन्**—न खाता हुआ, न रमता हुआ; **अन्यः**—दूसरा (ब्रह्म); **अभिचाकशीति**—देखता (साक्षी बना) रहता है ॥६॥ (ऋग्०, १-१६४-२०)

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥७॥

समाने वृक्षे—एक ही (प्रकृति-रूप) वृक्ष पर; **पुरुषः**—(भोक्ता) जीवात्मा; **अनीशया**—असामर्थ्य के कारण, प्रकृति-वश होने के कारण;

लगता है; उसी वृक्ष पर जब दूसरे को, ईश्वर को देखता है, और यह देखता है कि उसकी सेवा हो रही है, आराधना हो रही है, तो उसकी महिमा को देखकर वीत-शोक हो जाता है। वृक्ष यहां ब्रह्माण्ड में 'प्रकृति' तथा पिंड में 'शरीर' को कहा है। पुरुष फल-भोग में रमा हुआ अपने को असमर्थ कर लेता है, ईश्वर की शक्ति अखंड रहती है ॥७॥

(इस मन्त्र का यह भी अर्थ हो सकता है कि संसार में पुरुष दो प्रकार के हैं—एक वे जो संसार के भोगों में फंसकर अपनी शक्ति क्षीण कर लेते हैं, दूसरे वे जो भोगों में न फंसकर अपनी शक्ति बनाये रखते हैं। क्षीण-शक्ति जब शक्तिमान् को देखता है तो सजग हो जाता है।)

सब ऋचाएं परम-व्योम में वर्तमान अक्षर-ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं, उस ब्रह्म का जिसमें सब देव निवास करते हैं। ऋचाएं जिसका प्रतिपादन करती हैं उस ब्रह्म को जो नहीं जानता, वह ऋचाओं से क्या करेगा, जो उसे जानते हैं, वे ही शान्त होकर बैठ सकते हैं ॥८॥

शोचति—शोक करता (दुःखी होता) है, मुह्यमान—मोह (अपने स्वरूप के प्रति अज्ञान और प्रकृति के प्रति मोह ममता) करता हुआ, जुष्टम्—शान्त, प्रसन्न, सेवित, यदा—जब, पश्यति—देखता है, जान लेता है, अन्यम्—दूसरे (ब्रह्म) को, ईशम्—समर्थ (प्रकृति-जयी), अस्य—इस (ईश) की, महिमानम्—महिमा को, इति—तो, अत, वीतशोक—शोक मुक्त (हो जाता है) ॥७॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥८॥

ऋच—ऋचायें (वेद-वाक्य) अक्षरे—अविनाशी, परमे—परम, वि+ओमन्—आकाशवद् व्यापक एवं परम रक्षक 'ओम्'-ब्रह्म में (स्थित हैं—उसका वर्णन करती हैं), यस्मिन्—जिस (ब्रह्म) में, देवा—दिव्य भौतिक पदार्थ एवं ज्ञानी विद्वान् आत्मा, विश्वे—सारे, अधि निषेदुः—अध्यासीन, आधारवाले, आश्रित हैं, य—जो, तम्—उस (आधार-ब्रह्म) को, न वेद—नहीं जान पाता (सका), किम्—क्या, ऋचा—ऋचा (वेद-वाक्य के ज्ञान) से, करिष्यति—करेगा (फल पायेगा), ये—जिन्होंने, इद्—ही, तद्—,

छन्द, यज्ञ, क्रतु, व्रत, भूत, भव्य, वेद और हम---इस सम्पूर्ण विश्व को माया वाला मायावी सृजता है। इसके मुकाबिले में एक दूसरा है, जो इसी माया-जाल में फंसा पड़ा है ॥९॥

प्रकृति ही 'माया' है, महेश्वर ही 'मायावी' है, यह सम्पूर्ण-जगत् उस मायावी के अवयवों से, अंगों से व्याप्त है---उसका प्रत्येक अंग सब जगह मौजूद है ॥१०॥

(भगवान् के स्वरूप का वर्णन)

जो इकला संसार के प्रत्येक कारण का अधिष्ठाता है, जिसमें यह संपूर्ण विश्व 'संचित' हो जाता है और 'विचित' हो जाता है, सिमिट जाता है और बिखर जाता है, उस शक्तिमान्, वरद तथा

उसको; **विदुः**---जान लिया; **ते**---वे; **इमे**---ये (ज्ञानी) **समासते**---शान्ति पाते हैं, आश्वस्त होते हैं ॥८॥ (ऋग्०, १-१६४-२९)

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥९॥

छन्दांसि---छन्द (वेद); **यज्ञाः**---(नित्य-नैमित्तिक) यज्ञ; **क्रतवः**---अन्य कर्म; **व्रतानि**---व्रत; **भूतम्**---उत्पन्न; **भव्यम्**---आगे उत्पन्न होनेवाला; **यत् च**---और जिसको भी; **वेदाः**---वेद; **वदन्ति**---बताते (व्याख्या करते) हैं; **अस्मान्**---हमको; या (**अस्मात्**---इससे); **मायी**---माया-पति (महेश्वर); **सृजते**---रचता है; **विश्वम्**---संसार को; **एतत्**---इस; **तस्मिन् च**---और उस (विश्व) में; **अन्यः**---एक; **मायया**---माया (जाल-पाश) से; **संनिरुद्धः**---कैदी, बन्दी है ॥९॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥१०॥

मायाम् तु---माया तो; **प्रकृतिम्**---प्रकृति को; **विद्यात्**---जाने (माया प्रकृति का नाम है); **मायिनम्**---माया-पति; **तु**---तो; **महेश्वरम्**---परमात्मा को (जाने); **तस्य**---उसके; **अवयवभूतैः**---अंगभूत (प्रकृति-पाशों) से; **तु**---तो; **व्याप्तम्**---व्याप्त, आकीर्ण है; **सर्वम्**---सारा; **इदम्**---यह; **जगत्**---जंगम विश्व ॥१०॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥११॥

यः---जो; **योनिम्-योनिम्**---प्रत्येक योनि (उत्पत्ति-कारण, जन्म-जाति) का; **अधितिष्ठति**---अधिष्ठाता (नियामक) है; **एकः**---अद्वितीय; **यस्मिन्**

स्तुत्य देव का जब ठीक-ठीक निश्चय हो जाता है, उस पर जब ठीक-ठीक विश्वास जम जाता है, तब भक्त अत्यन्त शान्ति को प्राप्त होता है ।।११।।

जिससे देव 'उद्भूत' होते हैं, प्रकट होते हैं, और 'प्रभूत' होते हैं, प्रभावशाली होते हैं, जो रुद्र है, महर्षि हैं, विश्व का 'अधिप' हैं, सब ओर से पालन करने हारा है—वह देव हमें शुभ-बुद्धि से युक्त करे । वह देखो सृष्टि के प्रारंभ में जाज्वल्यमान हिरण्यगर्भ उत्पन्न हो रहा है, उसे जिसने उत्पन्न किया, वह देव हमें शुभ-बुद्धि से युक्त करे ।।१२।।

जो देवों का अधिपति है, जिसमें लोक अधिश्रित है, जो इस दोपाये और चौपाये का स्वामी है, उस सुख-स्वरूप देव की हम 'हवि' से पूजा करते हैं । जो-कुछ अपना कहा जा सकता है, उसे ब्रह्मार्पण कर देना 'हवि' है । अपना सब-कुछ उसके चरणों में अर्पित करते हैं ।।१३।।

—जिसमें, इदम्—यह, सम् च (एति) (सम् एति च)—और समेत (संगठित, संचित) होता है, वि च एति—और वीत (नष्ट-प्रलीन) हो जाता है, सर्वम्—सब कुछ जगत्, तम्—उस, ईशानम्—स्वामी, प्रभु, वरदम्—वर (कल्याण) देनेवाले, देवम्—भगवान् को, ईड्यम्—उपासनीय, निचाय्य—निश्चय (ज्ञान) करके, इमाम्—इस, शान्तिम्—शान्ति (दुःख के अभाव) को, अत्यन्तम्—अत्यधिक, एति—पा लेता है ।।११।।

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ।।१२।।

यः देवानाम् हिरण्यगर्भम्—अर्थ पूर्ववत् (पृ० १०००), पश्यत—देखो, जायमानम्—उत्पन्न होते हुए, सः संयुनक्तु—अर्थ पूर्ववत् ।।१२।।

यो देवानामधिपो यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।१३।।

यः—जो, देवानाम्—दिव्य पदार्थों और विद्वानों का, अधिपः—स्वामी, शासक एवं रक्षक है; यस्मिन्—जिसमें, लोकाः—लोक (भुवन), अधिश्रिताः—आश्रय पा रहे हैं; यः—जो, ईशे—नियामक है, अस्य—इस, द्विपदः—दो पाँव वाले प्राणियों का; चतुष्पदः—चार पाँव वाले प्राणियों का; कस्मै—

संसार के बीच जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म वस्तु है, उस सब का वह अनेक रूप से स्रष्टा है। वह इकला सम्पूर्ण विश्व को ढांपे हुए है, लपेटे हुए है। उस शिव को जान कर अत्यन्त शान्ति प्राप्त होती है ॥१४॥

वही समय पर भुवन का रक्षक है, विश्व का अधिपति है, सब भूतों में छिपा हुआ है। जिसकी आराधना में ब्रह्मर्षि और देवता लगे हुए हैं, उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु के पाशों को काटता है ॥१५॥

बर्तन में घी के ऊपर जो तरल घी रहता है, उसे 'मण्ड' कहते हैं। जो शिव-स्वरूप ब्रह्म घृत से परे 'मण्ड' की भांति अति सूक्ष्म है,

---

उस सुख-स्वरूप, सुखप्रद; देवाय—भगवान् के लिए,' हविषा—स्वत्व-त्याग द्वारा, भक्तिद्वारा; विधेम—(पूजा) करते हैं ॥१३॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥१४॥

सूक्ष्म+अतिसूक्ष्मम्—सूक्ष्म से भी अधिक सूक्ष्म; कलिलस्य—गहन संसार के; मध्ये—बीच में; विश्वस्य—सब जगत् के; स्रष्टारम्—रचयिता को; अनेक-रूपम्—नाना रूप वाले; विश्वस्य—जगत् के; एकम्—एकमेव; परिवेष्टितारम्—आवृत (घेरा) करनेवाले; ज्ञात्वा—जानकर; शिवम्—कल्याणकारी शिव (परमात्मा) को; शान्तिम्—शान्ति को; अत्यन्तम्—अत्यधिक; एति—पा लेता है ॥१४॥

स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।
यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥१५॥

सः एव—वह ही; काले—समय पर; भुवनस्य—लोक-सृष्टि का; गोप्ता—रक्षक, पालक; विश्व+अधिपः—सब का स्वामी; सर्व-भूतेषु—सब भूतों में; गूढः—छिपा हुआ, लीन, व्यापक; यस्मिन्—जिसमें; युक्ताः—(योग-साधना द्वारा) लगे हुए हैं; ब्रह्मर्षयः—ब्रह्मज्ञानी ऋषि; देवताः च—और देव-गण; तम्—उस को; एवम्—इस प्रकार; ज्ञात्वा—जान कर; मृत्यु-पाशान्—जन्म-मरण के बन्धनों को; छिनत्ति—काट देता है ॥१५॥

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१६॥

घृतात्—घी से; परम्—ऊपर (उत्कृष्ट); मण्डम् इव—तरल घी की तरह; अतिसूक्ष्मम्—बहुत सूक्ष्म; ज्ञात्वा—जान कर; शिवम्—शिव (पर-ब्रह्म) को; सर्वभूतेषु—सब भूतों में; गूढम्—छिपे हुए, व्याप्त; विश्वस्य एकम्

जो सब भूतों में छिपा हुआ है, जो सम्पूर्ण विश्व को इकला लपेटे हुए है, उस देव को जानकर मनुष्य सब पाशों से मुक्त हो जाता है ।।१६।।

यह देव महान् आत्मा है, 'विश्वकर्मा' है, विश्व का रचने वाला है, सदा मनुष्यों के हृदय में सन्निविष्ट है। वह हृदय से, बुद्धि से, मन से पाया जाता है। हृदय से उसको चाहना हो, बुद्धि से उसकी खोज हो, मन से उसका ध्यान हो, तभी वह हाथ आता है। जो यह जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं ।।१७।।

('बुद्धि' और 'मन' को यहां अलग-अलग कहा है। तैत्तिरीय उपनिषद् में जहां 'कोशों' का वर्णन है, वहां भी 'विज्ञानमय-कोश' और 'मनोमय-कोश'—ये दो 'कोश' कहे गये हैं। इन दोनों का निर्माण 'विज्ञान-तत्त्व' तथा 'मनस्-तत्त्व' से हुआ है। 'विज्ञान-तत्त्व' ही 'बुद्धि' है, मनस्-तत्त्व ही 'मन' है—ये दोनों उपनिषद् की परिभाषा में 'तत्त्व' (Substances) हैं। 'मनस्-तत्त्व' निम्न-तत्त्व है, 'बुद्धि-तत्त्व' अथवा 'विज्ञान-तत्त्व' उच्च-तत्त्व है। कठोपनिषद् में भी 'बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च'—इसमें 'बुद्धि' तथा 'मन' में भेद किया गया है। निम्न-स्तर (Lower plane) में जो 'मन' है, उच्च-स्तर (Higher plane) में वह 'विज्ञान' अर्थात् 'बुद्धि' है। श्वेताश्वतर के द्वितीय अध्याय के प्रारंभ में भी 'धी' और 'मन' में भेद किया गया है। 'अन्तःकरण-चतुष्टय' में 'मन'-'बुद्धि'-'चित्त'-'अहंकार'—ये चार अन्तःकरण माने गये हैं—इससे भी स्पष्ट है कि 'मन' तथा 'बुद्धि' में भेद है। 'मन' के विकास के बाद 'बुद्धि', बुद्धि के विकास के बाद 'चित्त'

परिवेष्टितारम्—जगत् के एकमेव आवरण करनेवाले; ज्ञात्वा—जान कर, देवम्—भगवान् को, मुच्यते—छूट जाता है, सर्वपाशैः—सब बन्धनों से ।।१६।।

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।१७।।

एषः देवः—यह ही देव (भगवान्); विश्वकर्मा—विश्व का रचयिता, नाना कर्म वाला, महात्मा—परमात्मा, सदा—सर्वदा; जनानाम्—उत्पन्न प्राणियों के; हृदये—हृदय-गुहा में, संनिविष्टः—विद्यमान है; हृदा . .भवन्ति—अर्थ पूर्ववत् ।।१७।।

और चित्त के विकास के बाद 'अहंकार' प्रकट होता है। 'मन' अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था है, उसी की 'अहंकार' अत्यन्त स्थूल अवस्था है, दूसरे दो अवान्तर रूप हैं।)

जब 'तम' का अभाव हो जाता है, अज्ञान हट जाता है, तब जो ज्ञान का प्रकाश उदित होता है, उसकी तुलना न दिन के प्रकाश से है, न रात्रि के प्रकाश से। परमात्मा का वह दिव्य-रूप न सत् है, न असत् है, वह उसका केवल शिव-रूप है, वह 'अक्षर', अर्थात् अविनाशी-रूप है, वह सविता का वरेण्य-रूप है, भगवान् के उसी रूप से पुरातन प्रज्ञा का, सनातन ज्ञान का अवतरण होता है ॥१८॥

उसे कोई ऊपर से, इधर-उधर से, बीच से नहीं पकड़ सकता। जिस का नाम 'महद्-यश' है, उसकी 'प्रतिमा' नहीं है, उसकी तुलना किसी वस्तु से नहीं की जा सकती ॥१९॥

यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ॥१८॥

यदा—जब; **अतमः**—तमोगुण एवं अविद्या का अभाव (होता है); **तत्**—तो, तब; **न**—नहीं; **दिवा**—दिन; **न रात्रिः**—न ही रात; **न**—नहीं; **सन्**—सत्तावाला, भावात्मक; **न**—नहीं; **च**—और; **असन्**—सत्ता से शून्य, अभावात्मक; **शिवः**—शिव; **एव**—ही; **केवलः**—केवल, एकाकी; **तद्**—वह; **अक्षरम्**—अविनाशी है; **तद्**—वह ही; **सवितुः**—जगत् के प्रेरक व स्रष्टा का; **वरेण्यम्**—वरण करने योग्य, ग्राह्य (भर्गः-तेज) है; **प्रज्ञा**—बुद्धि (वेद-रूप प्रकृष्ट ज्ञान); **च**—और; **तस्मात्**—उससे; **प्रसृता**—फैली है; **पुराणी**—पुरातन, सनातन ॥१८॥

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥१९॥

न—नहीं; **एनम्**—इस (शिव) को; **ऊर्ध्वम्**—ऊपर; **तिर्यञ्चम्**—इधर-उधर; **न मध्ये**—न बीच में; **परिजग्रभत्**—(कोई) पकड़ सका है, छू सका है; **न**—नहीं; **तस्य**—उसकी; **प्रतिमा**—उपमा, तुलना; **अस्ति**—है; **यस्य**—जिसका; **नाम**—संज्ञा, प्रसिद्धि; **महद्-यशः**—'महद्यश' (बड़े यशवाला) है ॥१९॥ (यजु०, अ० ३२, मंत्र २–३)

उसका कोई 'रूप' नहीं है जो आखों के सामने ठहरे, और न आखो से उसे कोई देख पाता है। वह हृदय में स्थित है, इसलिये जो 'हृदय से' और 'मन से'—उसे इस प्रकार जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं ॥२०॥

'तू अजन्मा है'—ऐसा कहता हुआ कोई धर्म-भीरु पुरुष ही भगवान् की शरण में आता है। हे रुद्र ! तेरा जो 'दक्षिण-मुख' है, 'वाम' नहीं 'दक्षिण', बायां नहीं दायां, अर्थात् तेरा जो क्रियाशील स्वरूप है, उससे मेरी नित्य पालना कर ॥२१॥

हे रुद्र ! हमारे नव-जात शिशुओं पर, बालको पर, युवाओं पर, गौओं पर, घोड़ो पर प्रहार मत कर, हमारे आभा से युक्त वीरो का वध मत कर, हम हवि लेकर सदा तेरा आह्वान करते हैं ॥२२॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२०॥

न—नहीं, संदृशे—देखने के लिए, तिष्ठति—ठहरता—सामने आता है, रूपम्—आकृति, वर्ण, स्वरूप, अस्य—इसका, न—नहीं, चक्षुषा—आँख से, पश्यति—देख सकता है, कश्चन—कोई भी, एनम्—इसको, हृदा—हृदय (भक्ति भाव) से, हृदिस्थम्—हृदय-गुहा में स्थित, मनसा—(निरुद्ध) मन से, ये—जो, एनम्—इसको, एवम्—इस प्रकार, विदुः—जानते हैं, अमृता ते भवन्ति—वे अमर (मुक्त) हो जाते हैं ॥२०॥

अजात इत्येवं कश्चिद् भीरुः प्रपद्यते ।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥२१॥

अजात—न उत्पन्न (अज-अजन्मा), इति एवम्—इस रूप में, कश्चिद्—कोई, भीरु—(पाप-कर्म फल से) डरनेवाला, धर्म-भीरु, प्रपद्यते—(तेरी शरण में) प्राप्त होता है, रुद्र—हे रुद्र, यत्—जो, ते—तेरा, दक्षिणम्—दक्षता (उत्साह, चतुराई उदारता) वाला, दायां, मुखम्—मुख (आशीर्वाद) है, तेन—उससे, माम्—मुझको, पाहि—सुरक्षित रख, नित्यम्—सदा ॥२१॥

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः ।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥२२॥

मा—मत, नः—हमारे, तोके—शिशु पर, तनये—पुत्र पर, मा—मत, नः—हमारी, आयुषि—(पूर्ण) आयु पर, मा—मत, नः—हमारी, गोषु—गौओं पर, मा नः—मत हमारे, अश्वेषु—अश्वों पर, रीरिषः—हिंसा (घात)

पंचम अध्याय

(ब्रह्म तथा जीव का वर्णन)

जीवात्मा तथा प्रकृति दोनों अक्षर हैं, अनन्त हैं, ब्रह्मपर हैं--'ब्रह्मपर', अर्थात् ब्रह्म में पर, अर्थात् लगे हुए हैं, ब्रह्म को--महानता को--हर समय ढूंढ रहे हैं, जहां उन्हें बृहत्ता, महानता दीखती है, उसी तरफ़ जीव तथा प्रकृति की गति है। दोनों में 'विद्या' तथा 'अविद्या' गहराई तक पहुंची हुई हैं। 'विद्या' तथा 'अविद्या' में से 'अविद्या' 'क्षर' है, 'खर जाने वाली' है, 'विद्या' 'अक्षर' है, 'न खरने वाली', अर्थात् 'अमृत' है। अविद्या तथा प्रकृति का मेल तो समझ पड़ता है, परन्तु 'क्षर'-अविद्या के साथ 'अक्षर'-जीवात्मा का क्या मेल ? क्यों जीवात्मा अविद्या में रमा रहता है ? क्यों नहीं निकल जाता ? 'विद्या' तथा 'अविद्या' पर जो निगरानी कर रहा है, वह 'जीवात्मा' से अन्य 'परमात्मा' है, जैसे वह अविद्या से अलग है, वैसे जीवात्मा भी अविद्या से अलग निकल सकता है ॥१॥

कर; **वीरान्**—वीर पुत्रों (पुरुषों) को; **मा नः**—नहीं हमारे; **रुद्र**—हे रुद्र; **भामिनः**—आभावाले, क्रुद्ध हुए, जोश में आये हुए (वीर-युवकों को); **वधीः**—घात (चोट) कर; **हविष्मन्तः**—यज्ञ-अनुष्ठान करते हुए, आत्म-समर्पण करते हुए; **सदम्**—सदा; **इत्**—ही; **त्वा**—तुझको; **हवामहे**—हम पुकारते हैं, स्तुति-प्रार्थना करते हैं ॥२२॥ (यजु०, १६—१५)

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥१॥

द्वे—दोनों, **अक्षरे**—अविनाशी, नित्य; **ब्रह्मपरे**—ब्रह्म में लीन; **तु**—तो; **अनन्ते**—अन्तहीन (भी) हैं; **विद्या-अविद्या**—ज्ञान और अज्ञान (श्रेय और प्रेय मार्ग); **निहिते**—विद्यमान है; **यत्र**—जिन (दोनों) में; **गूढे**—छिपे हुए, न जाने हुए; (इनमें) **क्षरम्**—विनाशी, अस्थायी; **तु**—तो; **अविद्या**—अज्ञान (प्रेयो रूप); **हि**—निश्चय ही; **अमृतम्**—अमर, अविनाशी, नित्य; **तु**—तो; **विद्या**—ज्ञान (श्रेयो रूप); **विद्या+अविद्ये**—इन विद्या (चित् आत्मा) और अविद्या (ज्ञान से रहित प्रकृति) को, ज्ञान-अज्ञान या श्रेयोरूप-प्रेयोरूप को; **ईशते**—नियम में रखता है, इनका 'ईश' (स्वामी) है; **यः तु**—जो तो; **सः**—वह; **अन्यः**—(इनसे भिन्न) अन्य (ब्रह्म) है ॥१॥

(इस उपनिषद्-वाक्य का यह अर्थ भी किया जा सकता है कि विद्या तथा अविद्या—ज्ञान तथा कर्म—आध्यात्मिक-दृष्टि तथा आधिभौतिक दृष्टि—Spiritualism and Materialism—ये दोनों उस अक्षर, अनन्त, परब्रह्म में गूढ़ निहित हैं, उसी से ये दोनों उत्पन्न होती हैं। इन दोनों में से अविद्या क्षर है, विद्या अक्षर है, अमृत है। विद्या तथा अविद्या का स्वामी वह ब्रह्म इन दोनों से अलग है।)

जो इकला संसार की एक-एक 'योनि', अर्थात् एक-एक कारण तथा सब 'योनियों', अर्थात् सब 'कारणों' का अधिष्ठाता है, जो सब रूपों, अर्थात् 'कार्यों' का अधिष्ठाता है—अर्थात्, जो संसार के सब कारण तथा कार्य का प्रवर्तक है—जो पूर्वकाल में उत्पन्न हुए कपिल ऋषि को, अर्थात् किसी भी प्राचीन-विचारक को वैसे ही ज्ञान से भर देता है जैसे आज के किसी विचारक को, उस जायमान-ब्रह्म को, अर्थात् ऐसे ब्रह्म को जो हर-समय अपने को किसी-न-किसी रूप में जायमान कर रहा है, प्रकट कर रहा है, ऐसे ब्रह्म को उपासक देखे ॥२॥

जैसे हरिण आदि के पकड़ने के लिये कोई जाल को फैला दे, उसमें जीव-जन्तु आ-आकर पकड़े जाते हैं, वैसे प्रत्येक जीव

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥२॥

यः—जो, योनिम्-योनिम्—प्रत्येक उत्पादक कारण को (का), अधितिष्ठति—अधिष्ठाता (नियन्ता) है, एक—इकला, अद्वितीय, विश्वानि—सारे, रूपाणि—रूपों (आकृतिधारियों) को, योनीः च—और योनियों (भिन्न-भिन्न जातियों) को, सर्वाः—सारी, ऋषिम्—क्रान्तदर्शी, प्रसूतम्—(भगवान् से) प्रेरित या पहले उत्पन्न, कपिलम्—सांख्य-दर्शन (चेतन-अचेतन भेद के निर्देशक) के रचयिता 'कपिल' मुनि को, यः—जो, तम्—उसको, अग्रे—पहले, ज्ञानैः—ज्ञान द्वारा, बिभर्ति—पुष्ट करता, धारण कराता है, जायमानम् च—और (इस प्रकार) प्रकट होते हुए (ब्रह्म) को, पश्येत्—साक्षात् करे ॥२॥

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥३॥

एक+एकम्—एक-एक (नानाविध), जालम्—(जाति-आयु भोग-

के कर्मानुसार अनेक प्रकार से, अर्थात् मानव-देह, पशु-देह आदि के रूप में योनियों के जाल को यह देव इस संसार-रूपी क्षेत्र में फैला देता है, और जब जीव कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियों के इन जालों में फंस जाते हैं तब उनके कर्म फलानुसार वह देव इसी संसार-क्षेत्र में उन्हें पकड़ कर उनका जाल में फंसे शिकार की तरह संहार कर देता है। हे यतियो! इसी प्रकार वह महात्मा जगदीश सृष्टि को बार-बार रचता है, और इस पर शासन करता है ॥३॥

जैसे सूर्य ऊपर, नीचे, तिरछे—सब दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ स्वयं भी प्रकाशमान है, इसी प्रकार वह देव, वरणीय भगवान् संसार की योनियों के स्वभावों का इकला अधिष्ठाता है। सूर्य अपने प्रकाश से अन्नादि को पकाता है, प्रत्येक अन्न का जो स्वभाव है उसी के अनुसार वह पकता है—आम अपने स्वभाव से पक कर आम बन जाता है, अनार नहीं, और अनार अपने स्वभाव से पक कर अनार बन जाता है, आम नहीं, इसी प्रकार भगवान् ही, जैसे सूर्य खेतियों को पकाता है, वैसे सब योनियों को अपने-अपने स्वभाव के अनुसार परिपक्व कर रहा है ॥४॥

रूपी) बन्धन को; बहुधा—(कर्म-अनुसार) अनेक रूपों में; विकुर्वन्—फैलाता हुआ (कर्म-फल देता हुआ); अस्मिन्—इस; क्षेत्रे—क्षेत्र (सृष्टि-रचना) में; संहरति—प्रलय में समेट लेता है; एषः देवः—यह देव (ब्रह्म); भूयः—फिर (प्रलयकाल के पश्चात्); सृष्ट्वा—रचकर; यतयः—हे संयमी आत्माओ!; तथा—वैसे, और; ईशः—स्वामी (ब्रह्म); सर्व+आधिपत्यम्—सब पर शासन (नियंत्रण); कुरुते—करता है; महात्मा—परमात्मा ॥३॥

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वनड्वान्।
एवं स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥४॥

सर्वाः दिशः—सब दिशाओं को; ऊर्ध्वम्—ऊपर की ओर; अधः च—और नीचे की ओर; तिर्यक्—इधर-उधर, दायें-बायें; प्रकाशयन्—प्रकाशमय करता हुआ; भ्राजते—(स्वयं भी) चमक रहा होता है; यद् उ—जो तो; अनड्वान्—सूर्य; एवम्—इस ही प्रकार; सः—वह; देवः—देव; भगवान्—ऐश्वर्यशाली; वरेण्यः—वरणीय; योनि-स्वभावान्—प्रत्येक योनि (कारण या जाति) और उनके स्वभावों का; अधितिष्ठति—अधिष्ठाता (नियन्ता) है; एकः—इकला ही ॥४॥

वह 'विश्वयोनिः' है—सबका कारण है, प्रत्येक वस्तु को अपने स्वभाव के अनुसार पका देता है, जो भी परिपाक के योग्य वस्तु है उसको वही परिणत करता है, अपने निष्कर्ष तक पहुंचाता है। वह इकला ही इस सम्पूर्ण विश्व का अधिष्ठाता है। संसार के 'द्रव्यों' का ही नहीं, सब 'गुणों' का भी वह इकला ही विनियोग करता है। प्रत्येक पदार्थ 'द्रव्य' (Quantity) है, यह द्रव्य जिस काम आता है वह इसका 'गुण' (Quality) है। संसार के सभी द्रव्यों तथा गुणों का वही अधिष्ठाता है ॥५॥

ब्रह्म-ज्ञान वेदों में तथा वेदों के रहस्य का प्रतिपादन करने वाली उपनिषदों में छिपा हुआ है। ब्रह्म-ज्ञान के उस उत्पत्ति-स्थान को ब्रह्म-ज्ञानी ही जानता है। पहले जो देव और ऋषि हुए हैं, वे उस ब्रह्म-ज्ञान को जानते थे, वे उसे जानकर 'तन्मय' हो गये, 'अमृत' हो गये ॥६॥

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः ॥५॥

यत् च—और जो, स्वभावम्—स्व-भाव (स्व-रूप) को अथवा निज स्वभाव से ही, पचति—पकाता है (तदनुसार फल देता है), विश्वयोनिः—सब का कारण, सब का आधार, पाच्यान्+च—और पकाने योग्य (पदार्थों) को, सर्वान्—सारे, परिणामयेत्—परिणाम (फल) देता है, यः—जो, सर्वम् एतद् विश्वम्—इस सारे जगत् को, अधितिष्ठति—नियम में रखता है, एकः—एक ही, गुणान्+च—और सत्त्व आदि प्रकृति के गुणों या शौर्य आदि गुणों को, सर्वान्—सारे, विनियोजयेत्—विनियोग (स्थापना) करता है, यः—जो ॥५॥

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वं देवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥६॥

तद्—वह (ब्रह्म-ज्ञान), वेद-गुह्य+उपनिषत्सु—वेदों में, गुह्य (गुरु के आदेश-उपदेश) में और उपनिषदों में, या वेद के गुह्य-रहस्य का उपदेश करनेवाली उपनिषदों में, गूढम्—छिपा है (उनमें वर्णित है), तद्—उस, ब्रह्मा—चारों वेदों का ज्ञाता, वेदते—ज्ञान कराता है, ब्रह्म-योनिम्—वेद के आदि उपदेश करनेवाले (का), ये—जो, जिन, पूर्वं देवाः—पहले देवों (विद्वानों) ने, ऋषयः च—और मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों ने, तद्—उस (ब्रह्म-योनि—आदि गुरु या ब्रह्म-ज्ञान) को, विदुः—जान लिया था, ते—वे, तन्मया—

अब जीवात्मा का वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं—गुण प्रकृति के हैं, परन्तु जीव उन गुणों का सम्बन्ध अपने साथ जोड़ लेता है; जीव फल के लिये कर्म करता है और जैसे कर्म करता है उसी का फल भोगता है; जीव सब तरह के रूप—देह—धारण कर लेता है; सत्त्व-रज-तम—इन तीन गुणों वाला और उत्तम-मध्यम-अधम—इन तीन मार्गों में आने वाला यह जीव है; यह जीव प्राणों का स्वामी होकर अपने कर्मों के अनुसार विचरण करता फिरता है ॥७॥

जैसे परमात्मा को उपनिषदों में 'अंगुष्ठमात्र' कहा है, वैसे जीवात्मा को भी हृदय-प्रदेश में विद्यमान होने से ऋषि ने 'अंगुष्ठ-मात्र' कह दिया है। जीवात्मा 'अंगुष्ठमात्र' है, परन्तु 'संकल्प' (मन) और 'अहंकार' (बुद्धि) से युक्त होने के कारण उसका सूर्य के तुल्य विशाल रूप है। 'अंगुष्ठमात्र' कहने का यह अभिप्राय नहीं कि वह अंगूठे के बराबर है, इसलिये फिर कहते हैं, वह 'आराग्रमात्र' है—सुई की नोक के बराबर है—अत्यन्त सूक्ष्म है, परन्तु फिर भी उस

उसमें लीन (रमे) हुए; अमृताः—अमर (मुक्त); वै—निश्चय ही; बभूवुः—हो गये ॥६॥

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥७॥

गुणान्वयः—(सत्त्व-रज-तम) गुणों से सम्बद्ध (आसक्त) हुआ; यः—जो (जीव), फलकर्मकर्ता—फल (सुख-दुःख रूप भोग) देनेवाले कर्मों का करनेवाला है; कृतस्य—किये हुए; तस्य—उस (कर्म) का; एव—ही; सः—वह (जीव); च—और; उपभोक्ता—भोग करनेवाला है; सः—वह; विश्वरूपः—(कर्मानुसार) अनेक रूपों (योनियों) वाला होता है; त्रिगुणः—तीन गुणों का अभिमानी, त्रि-वर्त्मा—तीन (उत्तम-मध्यम-अधम) मार्ग (वर्ताव) वाला; प्राण+अधिपः—प्राणों (शरीर) का स्वामी (पुरुष); संचरति—(भिन्न-भिन्न योनियों में) फिरता-भटकता है; स्वकर्मभिः—अपने कर्मों के कारण ॥७॥

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥८॥

अंगुष्ठमात्रः—अंगूठे के परिमाण वाला (हृदय-वासी); रवि-तुल्यरूपः—सूर्य के समान रूप वाला (जड़ शरीर में चेतना देनेवाला); संकल्प+अहंकार-समन्वितः—संकल्प (मन) और अहंकार (बुद्धि) से युक्त; यः—जो है;

'अपर' को—जीवात्मा को—बुद्धि के और आत्मा के गुणों से देखा जाता है ॥८॥

परन्तु 'आराग्रमात्र' कहने का यह अभिप्राय नहीं कि वह वास्तव में सुई की नोक के ही बराबर है, इसलिये ऋषि फिर कहते हैं कि अगर बाल के अगले हिस्से के सौ भाग किये जायं, फिर उन सौ में से एक के सौ हिस्से किये जांय, तो उतना भाग जीव का समझना चाहिये, परन्तु इतना सूक्ष्म-रूप होते हुए भी जीवात्मा अनन्त सामर्थ्य वाला कल्पित किया जाता है ॥९॥

जीवात्मा न स्त्री-लिंगी है, न पुल्लिंगी, न नपुंसक-लिंगी। ये लिंग शरीर के है, जिस-जिस शरीर को यह ग्रहण करता है उस-उस के लिंग के साथ युक्त हो जाता है ॥१०॥

बुद्धे—बुद्धि या ज्ञान के, गुणेन—गुण से, आत्म-गुणेन च—और अपने (चिद्-रूप) गुण से, एव—ही, आर+अग्रमात्र—सुई की नोक के समान सूक्ष्म, हि—ही, अपर—(शरीर) में जिसमें पर (उत्कृष्ट) कोई नहीं ऐसा आत्मा, अपि—भी, दृष्ट—देखा जा सकता है ॥८॥

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीव स विज्ञेय स चानन्त्याय कल्पते ॥९॥

बाल+अग्र-शतभागस्य—बाल के अग्रभाग के सौवें भाग का, शतधा—(जिसको फिर) सौ बार (टुकड़े), कल्पितस्य—किये हुए का, च—और, भाग—एक हिस्सा (बाल के अग्रभाग का १०००वें भाग के परिमाण वाला—अति सूक्ष्म), जीव—जीवात्मा, स—वह, विज्ञेय—जानना चाहिये, स च—और वह ही (सूक्ष्मातिसूक्ष्म), आनन्त्याय—अनन्त पद (मोक्ष) के लिए या अनन्त कर्म व शक्ति के लिए, कल्पते—समर्थ है ॥९॥

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसक।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते ॥१०॥

न एव स्त्री—न तो स्त्री (लिंगी) है, न पुमान्—न पुरुष (पुलिंगी), एष—यह (जीवात्मा), न च एव—और न ही, अयम्—यह, नपुंसक—नपुंसक है, यद्-यद्—जिस जिस, शरीरम्—भोग शरीर का, आदत्ते—ग्रहण करता है, तेन तेन—उस-उस से, स—वह, रक्ष्यते—रक्खा जाता है, रक्षा किया जाता है ॥१०॥

उत्पन्न होने के अनन्तर उसकी वृद्धि कैसे होती है ? अन्न तथा जल-सिंचन से उसका शरीर बढ़ता है, 'संकल्प'-'स्पर्श'-'दृष्टि' के मोह से उसके मन का प्रपंच बढ़ता है। यह देही—जीवात्मा—क्रम से कर्मानुसार रूपों को—देहों को—भिन्न-भिन्न स्थानों में प्राप्त होता है ॥११॥

('संकल्प'-'स्पर्श'-'दृष्टि' के मोह से मन का प्रपंच कैसे बढ़ता है ? 'संकल्प' का सम्बन्ध मन से है; 'स्पर्श' और 'दृष्टि' का सम्बन्ध मन की साधन त्वचा तथा आंख से है। त्वचा तथा आंख दोनों एक-दूसरे का काम करती हैं। आंख न हो तो छूकर काम होता है। अतः अस्ल में मन के प्रपंच का विकास 'संकल्प' तथा 'दृष्टि' से है। मन की आंख 'संकल्प' है, शरीर की आंख 'स्पर्श' तथा 'दृष्टि' है। यथार्थ-दृष्टि हो जाय, तब तो मुक्ति हो जाती है; दृष्टि में मोह आ पड़े, तभी संसार का चक्र चलता है। इसलिये ऋषि ने कहा कि शरीर का विकास तो अन्न तथा जल से होता है, परन्तु मन का प्रपंच तब चलता है जब यथार्थ-दृष्टि नहीं रहती, जब संकल्प, स्पर्श तथा दृष्टि का मोह मनुष्य को घेर लेता है। यथार्थ-दृष्टि उत्पन्न हो जाने से मनुष्य मन के बन्धन से छूट जाता है।)

देहधारी जीवात्मा अपने शुभ-अशुभ गुणों से स्थूल तथा सूक्ष्म अनेक रूपों को चुन लेता है। देह के साथ आत्मा का संयोग किस

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासांबुवृष्टया चात्मविवृद्धिजन्म।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते ॥११॥

संकल्पन-स्पर्शन-दृष्टि-मोहैः—संकल्प-विकल्प, स्पर्श, देखना और मोह (अज्ञान—मूढ़ता) से; **ग्रास+अम्बुवृष्ट्या**—ग्रास (अन्न) और जल-वर्षा से; **च**—और; **आत्म-विवृद्धि-जन्म**—(जीवात्मा के) आत्मा (शरीर तथा मन) की वृद्धि और उत्पत्ति (होती है); **कर्म+अनुगानि**—कर्मों के अनुसार; **अनुक्रमेण**—बारी-बारी से; **देही**—देहधारी (जीव-प्राणी); **स्थानेषु**—(भिन्न-भिन्न शरीररूपी) स्थानों (स्थितियों) में; **रूपाणि**—अनेक रूपों को; **अभिसंप्रपद्यते**—प्राप्त होता है ॥११॥

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥१२॥

कारण हुआ ? इसका उत्तर देते हुए ऋषि कहते हैं कि आत्मा में अपनी क्रिया के, अर्थात् कर्मों के जो गुण हैं, और क्रिया के अतिरिक्त अपने जो दूसरे गुण हैं, उनके कारण यह 'अपर', अर्थात् परमात्मा से भिन्न जो जीवात्मा है वह शरीर के साथ संयोग का हेतु बन जाता है ॥१२॥

इस परिवर्तनशील संसार के बीच जो अनादि है, अनन्त है, विश्व का स्रष्टा है, अनेक-रूप है, इकला विश्व का परिवेष्टन कर रहा है—विश्व को घेरे हुए है—उस देव को जानकर यह जीव सब पाशों से मुक्त हो जाता है ॥१३॥

वह शिव-रूप भगवान् 'भावना' से, अर्थात् श्रद्धा से ग्रहण किया जाता है; उसका कोई 'नीड' नहीं, आश्रय-स्थान नहीं, वही सबका आश्रय है; वह संसार का भाव भी कर देता है, अभाव भी कर देता

स्थूलानि—स्थूल (मोटे); सूक्ष्माणि—सूक्ष्म, बहूनि च—और बहुत से, एव—ही, रूपाणि—रूपों (आकृतियों–शरीरों) को, देही—जीव-प्राणी; स्वगुणैः—अपने गुणों (सुकृत–पापमय) से; वृणोति—वरण (स्वीकार) करता है; क्रिया-गुणैः—कर्मों के गुण (साधन) से, आत्म-गुणैः च—और आत्मा के (निज–औदार्य आदि या इच्छा-द्वेष आदि छै) गुणों के कारण, तेषाम्—उन (शरीरों) के; संयोग-हेतुः—संयोग (प्राप्ति–वरण) का कारण, अपरः—पर (सर्व-श्रेष्ठ परमात्मा) से भिन्न जीवात्मा, अपि—भी, दृष्टः—देखा जाता (समझा जाता) है ॥१२॥

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१३॥

अनादि + अनन्तम्—अनादि और अनन्त, कलिलस्य—अति गहन; मध्ये—बीच में; विश्वस्य—जगत् के; स्रष्टारम्—(उस जगत् के) रचयिता को, अनेकरूपम्—नाना रूपवाले, विश्वस्य—जगत् के; एकम्—अद्वितीय; परिवेष्टितारम्—आवरण करनेवाले; ज्ञात्वा—जानकर; देवम्—परमात्म-देव को; मुच्यते—छूट जाता है; सर्वपाशैः—सब बन्धनों से ॥१३॥

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥१४॥

भावग्राह्यम्—भाव (भावना, श्रद्धा, भक्ति) से ग्रहण (ज्ञान) करने योग्य; अनीड्य + आख्यम्—'नीड' आश्रय की अपेक्षा न रखनेवाले अतः 'अनीड्य' नाम

हैं; वह कलाओं से युक्त सृष्टि को रचने वाला है। उसे जो जान जाते हैं, वे उस देव की आराधना में अपने शरीर को आहुति के रूप में दे देते हैं ।।१४।।

षष्ठ अध्याय

(सृष्टि का संचालन 'कर्म' से और कर्म का संचालन 'भाव' से हो रहा है)

श्वेताश्वतर-उपनिषद् के प्रथम अध्याय में ब्रह्म-वादी लोग विचार करने के लिये एकत्रित हुए थे, और सोचने लगे थे कि सृष्टि का कारण क्या है ? उसी विचार-धारा को फिर से उठाकर ऋषि कहते हैं—कई विद्वान् भ्रम में पड़कर सृष्टि का कारण 'स्वभाव', और कई 'काल' को बतलाते हैं, परन्तु अस्ल में यह तो उस देव की महिमा है जिससे यह 'ब्रह्म-चक्र' घुमाया जा रहा है ।।१।।

जिससे यह ब्रह्मांड सदा आवृत रहता है, घिरा रहता है, जो सर्वज्ञ है, जो काल का भी काल है, जो गुणी है, जो सर्ववित् है, उसी

वाले; भाव+अभावकरम्—जगत् का भाव (रचना) और अभाव (संहार-प्रलय) करनेवाले; शिवम्—कल्याणकारी; कला-सर्गकरम्—कला (सौन्दर्य-विधान या याथातथ्य) से सृष्टि रचना करनेवाले या कलाओं (पूर्व-वर्णित प्राण-आदि १६ कलाओं के प्रपंच) की रचना करनेवाले; देवम्—देव (भगवान्) को; ये—जो; विदुः—जान लेते हैं; ते—वे; जहुः—त्याग देते हैं; तनुम्—शरीर (जन्म-मरण) को ।।१५।।

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ।।१।।

स्वभावम्—(सृष्टि का कारण) स्वभाव को; एके—कई-एक; कवयः—कवि (ज्ञानी); वदन्ति—कहते (बताते हैं); कालम्—समय को; तथा—और; अन्ये—दूसरे (विचारक कवि); परिमुह्यमानाः—मोह (अज्ञान-भ्रम) में पड़े हुए; देवस्य—परमात्म-देव की; एषः—यह; महिमा—महिमा ही; तु—तो; लोके—जगत् में (विराजमान—ईशान) है; येन—जिस (महिमा) से; इदम्—यह; भ्राम्यते—घुमाया जाता है; ब्रह्म-चक्रम्—ब्रह्म का (सृष्टि का) चक्र ।।१।।

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ।।२।।

के प्रभुत्व से 'कर्म' का विवर्त हो रहा है। बिना 'कर्म' के सृष्टि नहीं चल सकती, परन्तु 'कर्म' स्वयं जड़ है, अतः इसका संचालन वही कर रहा है। जो विद्वान् यह कहते हैं कि पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश—ये 'भूत' सृष्टि का संचालन कर रहे हैं, वे ऐसी बात कह देते हैं जो चिन्तनीय है, ठीक नहीं है ॥२॥

वह 'कर्म' का सचालन करके फिर स्वय उसमें से निवृत्त हो जाता है। हा, सृष्टि-संचालन के लिये 'तत्त्व' का 'तत्त्व' के साथ 'संयोग' (Combination of Elements or Principles) वह कर देता है। इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय में 'काल-स्वभाव-नियति-यदृच्छा-भूत-योनि-संयोग-आत्मा'—ये आठ कारण कहे गये थे। ये आठ कारण ही आठ 'तत्त्व' हैं। 'काल' से लेकर 'आत्मा के सूक्ष्म-गुणो' तक जो ये आठ तत्त्व हैं इनमें से एक, दो, तीन या आठो तत्त्वो के संयोग से वह देव 'कर्म' का संचालन करता है, ये स्वतन्त्र कुछ नहीं कर सकते ॥३॥

येन—जिसके द्वारा, आवृतम्—आच्छादित, घिरा, नित्यम्—हमेशा, इदम् हि सर्वम्—यह सब (कार्य-जगत्), ज्ञ—ज्ञाता कालकार—काल को प्रगट करनेवाला, गुणी—(दया ज्ञान आदि) गुणा से युक्त सर्वविद्—सब का जाननेवाला (सर्वज्ञ), य—जो, तेन—उसमे (के द्वारा), ईशितम्—अधिष्ठित (अध्यक्षता म), कर्म—जगद्-रचना रूप कार्य, विवर्तते—परिणत हो रहा है, ह—निश्चय से, पृथ्वी+अप्+तेज+अनिल-खानि—पृथ्वी, जल तेज, वायु और आकाश (का जगत्-कारण होना तो), चिन्त्यम्—विचारणीय (सदिग्ध-भ्रममात्र) है ॥२॥

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्।
एकेन द्वाभ्या त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः ॥३॥

तत्—उस कर्म—(जगद्रचना रूप) कर्म का, कृत्वा—करके विनिवर्त्य—स्वयम् पृथक् रहकर, भूय—फिर, तत्त्वस्य—एक कारण-तत्त्व का, तत्त्वेन—दूसरे कारण-तत्त्व स, समेत्य—संगत कर, योगम्—मेल एकेन—एक (तत्त्व) से, द्वाभ्याम्—दो (तत्त्वो) स, त्रिभि—तीन (तत्त्वो) स, अष्टभि वा—या (काल आदि) आठो (तत्त्वो) से, कालेन—काल से (उचित समय पर), च एव—और ही, आत्म-गुणै—अपने (ज्ञान-बल-क्रिया) गुणो से, च—और, सूक्ष्मै—सूक्ष्म (अदृश्य) ॥३॥

'कर्म' तो जड़ है, उसका आरम्भ कौन करता है ? वही देव सृष्टि के प्रारम्भ में सत्त्व, रज, तम—तीन गुणों से युक्त 'कर्म' को अपने मार्ग में प्रवृत्त कर देता है। परन्तु 'कर्म' भी कुछ नहीं कर सकता अगर उसमें 'भाव' न हो। 'कर्म' (Action) शरीर है, 'भाव' (Intention) उसकी आत्मा है। मनुष्य हाथ चलाता है, यह 'कर्म' है। यह 'कर्म' शुभ अथवा अशुभ तभी हो सकता है, अगर इसमें क्रोध अथवा प्रेम का 'भाव' हो। देव ने सत्त्व-रज-तम इन तीन गुणों से युक्त कर्मों को प्रवृत्त किया, परन्तु साथ ही कर्मों के साथ सब 'भावों' को भी विनियुक्त कर दिया। अगर 'भाव' का, मन की सकाम-भावना का अभाव हो जाय, वह हट जाय, तो कृत-कर्म का, किये हुए 'कर्म' का नाश हो जाता है। 'भाव' न रहे, तो कर्म होने पर भी मानो कर्म नहीं होता, क्योंकि 'कर्म' का 'कर्मपना' उसमें निहित 'भाव' पर ही आश्रित है। इस प्रकार जब 'भाव' के, अर्थात् कामना के नाश से कर्म का क्षय हो जाय, तो वह देव संसार के रचना करने वाले तत्त्वों से अलग हो जाता है ॥४॥

(हम बुरा काम करते हैं। क्यों ? एक व्यक्ति ने हमें गाली दी। उसे क्रोध आया था, उसकी गाली सुनकर हमारा क्रोध भी भभक उठा। हमने गाली का जवाब गाली में दिया। मामला बढ़ गया। डंडे चल पड़े, कत्ल हो गया। यह सब क्यों हुआ ? 'क्रोध' से हुआ। यह क्रोध ही तो 'भाव' है, 'कामना' है। 'भाव' न होता, तो 'कर्म' का जो लम्बा-चौड़ा सिलसिला चल पड़ा वह

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥४॥

आरभ्य—प्रारम्भ कर; कर्माणि—कर्मों (जगद्-रचना) को; गुण+अन्वितानि—गुणों (सत्त्व-रजस्-तमस्) से युक्त; भावान्—भावों (काम-क्रोध आदि) को; च—और; विनियोजयेत्—युक्त (एकत्र) करता है; यः—जो; तेषाम्—उन (भावों) के; अभावे—न रहने पर; कृतकर्मनाशः—कर्मों का नाश (संहार) करनेवाला; कर्मक्षये—कर्म (सृष्टि) के क्षय (प्रलय) होने पर; याति—(हो) जाता है; सः—वह; (रचयिता); तत्त्वतः—(आठों) तत्त्वों से या वस्तुतः; अन्यः—पृथक्, दूसरा ॥४॥

न चलता। असली चीज़ 'कर्म' नहीं, 'भाव' है—यह 'भाव' ही 'कर्म' में जान डालता है। 'कर्म' के बन्धन से छूटने का उपाय 'भाव' से छूट जाना, कामना' को छोड देना है। इसी को गीता में 'निष्काम-कर्म' कहा है। 'कर्म' जीव को तभी तक बाध सकता है जब तक उसमें 'भाव' या 'कामना' है। काम-क्रोध-लोभ-मोह—यही तो 'भाव' है। 'भावो' के वश में होकर जीव अन्धा हो जाता है, और जो-कुछ नही करना चाहिये कर डालता है। इसी से कर्म-चक्र चलता है। भावो से अलग हो जाने पर वह कर्म तो करता है, परन्तु क्योंकि उन कर्मों म 'भाव' नही होता, अत वे कर्म बन्धन का कारण नही बनते। इस विषय को हमने 'वैदिक-सस्कृति के मूल-तत्त्व' ग्रन्थ मे अधिक स्पष्ट किया है।)

('कर्म' तथा 'भाव' का भी वही स्वामी है)

इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय में कहा था कि क्या 'काल-स्वभाव-नियति-यदृच्छा-भूत-योनि-आत्मा' इनका 'सयोग' सृष्टि का कारण है ? ऋषि कहते हैं, इनके सयोग का कारण 'कर्म' ही हो सकता है, परन्तु वह देव 'कर्म' का भी कारण है, वह कारणो का कारण है, 'आदि' वही है, वह तीनो कालों से परे है। वह 'अकल' है, परन्तु अकल होता हुआ भी वह 'विश्वरूप' है, 'भवभूत' है, विश्व तथा भव के रूप में प्रकट हो रहा है। ऐसे स्तुति-योग्य देव की, जो चित्त में स्थित है, पहले उपासना करे ॥५॥

आदि स सयोगनिमित्तहेतु परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्ट।
स विश्वरूप भवभूतमीड्य देव स्वचित्तस्यमुपास्य पूर्वम् ॥५॥

आदि—(सब तत्त्वों से) पूर्व वर्तमान, स—वह, सयोगनिमित्तहेतु—(तत्त्वो मे) सयोग (मेल) रूप निमित्त (जगद रचना के कारण) का हेतु (मूल कारण), पर—परे, अतीत, त्रिकालात्—तीनो कालो से, अकल—कलाओ (अवयवो) से शून्य, अपि—भी, दृष्ट—देखा (जाना) जाता है, तम्—उस, विश्वरूपम्—नाना रूप वाले, भवभूतम्—भव (जगन्निर्माता) हुए, ईड्यम्—स्तुति के योग्य, देवम—भगवान् की, स्वचित्तस्यम्—अपने चित्त (हृदय म वर्तमान आत्मा) मे स्थित, उपास्य—उपासना करके, पूर्वम्—पहले ॥५॥

वह प्रकृति-रूपी 'वृक्ष' तथा 'काल' की नाना आकृतियों, उनके नाना भेदों से परे है, वह इनसे 'अन्य' है, उसी से यह विश्व का प्रपंच परिवर्तित हो रहा है, चल रहा है। वह धर्म को प्राप्त कराने वाला और पाप को काटने वाला है, भाग्य का वही स्वामी है, विश्व के धाम उस अमृत स्वरूप भगवान् को आत्मा में स्थित जान कर उसकी उपासना करे ॥६॥

वह ईश्वरों का परम-महेश्वर है, वह देवों का परम-देव है, वह पतियों का परम-पति है, वह परे से भी परे है, भुवन के स्वामी, स्तुति के योग्य उस देव को हम जानते हैं ॥७॥

उसे अपने लिये कुछ भी नहीं करना, वह जो-कुछ करता है उसके लिये उसे साधनों की आवश्यकता नहीं, उसके समान कोई

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपंचः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥६॥

सः—वह (ब्रह्म-देव); **वृक्ष-काल+आकृतिभिः**—वृक्ष (प्रकृति) और काल की आकृतियों (रूपों) से; **परः**—परे, पृथक्; **अन्यः**—दूसरा है; **यस्मात्**—जिस (निमित्त-कारण) से; **प्रपंचः**—(जगत् का) फैलाव; **परिवर्त्तते**—घूम रहा है; **अयम्**—यह; **धर्म+आवहम्**—धर्म (पुण्य) प्राप्त करानेवाले; **पापनुदम्**—पाप को परे हटानेवाले; **भग+ईशम्**—सकलैश्वर्यों के स्वामी को; **ज्ञात्वा**—जान कर; **आत्मस्थम्**—जीव-आत्मा में स्थित; **अमृतम्**—अमर; **विश्व-धाम**—जगदाधार या जगद्-रूपी घर वाला, जगत् में व्याप्त ॥६॥

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥७॥

तम्—उस; **ईश्वराणाम्**—ऐश्वर्य-शालियों के (से); **परमम्**—श्रेष्ठ, बढ़कर; **महेश्वरम्**—महेश्वर; **तम्**—उस; **देवतानाम्**—देवताओं के भी; **परमम्**—परम; **च**—और; **दैवतम्**—देव (देवों के देव); **पतिम्**—पति (रक्षक-स्वामी); **पतीनाम्**—पतियों (रक्षकों) के; **परमम्**—परे; **परस्तात्**—परे से; **विदाम**—जानें; **देवम्**—भगवान् को; **भुवन+ईशम्**—लोकों के नियन्ता, लोक-पति; **ईड्यम्**—स्तुति के योग्य ॥७॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥८॥

न—नहीं; **तस्य**—उस (देव) का; **कार्यम्**—करने योग्य निज काम; **करणम्**—कार्य का साधन; **च**—और; **विद्यते**—है; **न**—नहीं; **तत्समः**—

नहीं दीख पड़ता, उससे अधिक कोई नहीं दीख पड़ता। सुनते हैं, उसकी परम शक्ति है, विविध शक्ति हैं, उसमें 'ज्ञान'-'बल'-'क्रिया'—ये तीनों स्वाभाविक हैं, अर्थात् किसी अन्य कारण पर आश्रित नहीं ॥८॥

लोक में उसका कोई पति नहीं, अर्थात् उस पर कोई हुकूमत करने-वाला नहीं, उसका कोई लिंग नहीं, चिह्न नहीं। वह जगत् का कारण है, इन्द्रियों के अधिप का भी वह अधिप है, जीवात्मा का स्वामी है, उसका कोई उत्पादक नहीं, अधिपति नहीं ॥९॥

जैसे मकड़ी तन्तुओं से अपने को आच्छादित कर लेती है, इसी प्रकार जो देव इकला 'प्रधान',-अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न होने वाले तन्तु-रूप माया-जाल से अपने को स्वभाव से घेर लेता है, वह हमें ब्रह्म में लीनता प्रदान करे ॥१०॥

उसके बराबर; च—और; अभ्यधिकः—उससे बढ़ कर; च—और; दृश्यते—दिखाई देता है; परा—उत्कृष्ट, परम; अस्य—इसकी शक्तिः—सामर्थ्य, विविधा—नानाविध; एव—ही; श्रूयते—सुनी जाती है, स्वाभाविकी—स्वभाव-सिद्ध, ज्ञान-बल-क्रिया—ज्ञान, बल और कर्म, च—और ॥८॥

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥९॥

न—नहीं; तस्य—उसका, कश्चित्—कोई, पतिः—रक्षक, स्वामी, अस्ति—है, लोके—संसार में, न च—और न ही; ईशिता—नियन्ता, ईश्वर, न+एव—न ही, च—और, तस्य—उसका, लिङ्गम्—चिह्न, पहचान कराने-वाला; सः—वह; कारणम्—(जगत् का) कारण है, करण+अधिप+अधिपः—साधनों के स्वामियों का भी स्वामी, न च—और नहीं, अस्य—इसका, कश्चित्—कोई; जनिता—उत्पादक, पिता; न च—और न ही, अधिपः—अधिष्ठाता, शासक, स्वामी है ॥९॥

यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः
देव एकः स्वमावृणोत्। स नो दधातु ब्रह्माप्ययम् ॥१०॥

यः तु—जो तो, ऊर्णनाभः इव—मकड़ी के समान; तन्तुभिः—तन्तुओं (धागों) से; प्रधानजैः—प्रकृति से उत्पन्न; स्वभावतः—स्वभाव से, अनायास, देवः—देव ने; एकः—इकले; स्वम्—अपने को; आवृणोत्—ढका हुआ है; सः—वह; नः—हमें; दधातु—धारण करे (प्रदान करे); ब्रह्म+अप्ययम्—ब्रह्म में लय को (हमें अपने में लीन कर ले) ॥१०॥

वह देव एक है परन्तु अनेक भूतों में गूढ़ है, सर्व-व्यापी है, सब भूतों के अन्तरात्मा तक गया हुआ है। 'कर्म' का वह अध्यक्ष है, वह सब भूतों में है, परन्तु सब भूत उसमें हैं—वह सब भूतों का अधिवास है। वह साक्षी है, चेतन है, केवल है, निर्गुण है—सत्त्व, रज, तम, इन तीनों गुणों से अलग है ॥११॥

वह इकला अनेक निष्क्रिय तत्त्वों को वश में करने वाला है, वह एक बीज-रूप प्रकृति को अनेक बना देता है। जो धीर लोग आत्मा में स्थित उसे निकट से देखते हैं उन्हें निरन्तर सुख प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं ॥१२॥

जो नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन है, जो एक होता हुआ अनेक जीवों की कामनाओं को पूर्ण करता है—वही इस सृष्टि का

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥११॥

एकः—एक; देवः—देव (भगवान्); सर्वभूतेषु—सब प्राणियों में; गूढः—छिपा हुआ, व्याप्त है; सर्वव्यापी—सर्व-व्यापक; सर्वभूतान्तरात्मा—सब भूतों में अन्तर्यामी, सब प्राणियों के आत्मा में स्थित; कर्माध्यक्षः—कर्म का अधिष्ठाता, कर्म-फल का प्रदाता; सर्वभूताधिवासः—सब भूतों का आधार तथा सब भूतों में बसने वाला; साक्षी—सब का यथार्थ द्रष्टा; चेता—चेतन (ज्ञानी); केवलः—केवल (अद्वितीय); निर्गुणः च—और (सत्त्व–रजस्–तमस्) गुणों से रहित–पृथक् ॥११॥

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥

एकः—एक; वशी—वश में रखनेवाला, नियन्ता; निष्क्रियाणाम्—कर्म-शून्य, निश्चेष्ट; बहूनाम्—अनेक; एकम्—एक; बीजम्—(कारण-प्रकृति रूप) बीज को; बहुधा—अनेक रूप में; यः—जो; करोति—कर देता है; तम्—उसको; आत्मस्थम्—(अपने) आत्मा में विद्यमान; ये—जो; अनुपश्यन्ति—साक्षात् करते हैं; धीराः—बुद्धिमान् एवं धैर्यवान्; तेषाम्—उनका; सुखम्—सुख, आनन्द; शाश्वतम्—सदा रहने वाला, निरन्तर; न—नहीं; इतरेषाम्—दूसरों (अज्ञानियों) का ॥१२॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१३॥

नित्यः—नित्य; नित्यानाम्—नित्यों का; चेतनः—चेतन; चेतनानाम्—

कारण है, सांख्य और योग से वह प्राप्त होता है। यह जीव उस देव को जान कर सब पाशों से मुक्त हो जाता है ॥१३॥

वहां न सूर्य चमकता है, न चांद और तारे, न बिजलियां चमकती हैं, यह अग्नि तो कहां ? उसी की चमक से यह-सब चमकता है, उसी की ज्योति से यह-सब ज्योतिमान् हो रहा है ॥१४॥

भुवन-रूपी जलाशय के मध्य में देव-रूपी एक हंस है। वह हंस वही है, जो अग्नि होकर भी जल में जा बैठा है। आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि और अग्नि से जल—यही तो सृष्टि-उत्पत्ति का क्रम है। आग्नेय-तत्त्व से जब जलीय-तत्त्व उत्पन्न होता है, तब मानो अग्नि ही जल में जा बैठती है। जल में छिपे हुए अग्नि-रूप हंस को जान कर मृत्यु-रूप नदी को यह जीव पार कर सकता है, वहां जाने के लिये और कोई मार्ग नहीं है ॥१५॥

चेतनों का, एकः—एक (ब्रह्म); बहूनाम्—बहुत (जीवों) की; यः—जो; विदधाति—(पूर्ण) करता है, कामान्—कामनाओं (भोगों) को; तत्कारणम्—उस (जगत् के) कारणभूत, सांख्ययोग+अधिगम्यम्—सांख्य (प्रकृति-पुरुष-विवेक) और योग (चित्तवृत्ति-निरोध) से प्राप्त (ज्ञात) करने योग्य; ज्ञात्वा—जानकर, देवम्—देव (परमात्मा) को, मुच्यते सर्वपाशैः—सब बन्धनों से छूट जाता (मुक्त हो जाता) है ॥१३॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१४॥

न तत्र सूर्यः भाति—वहां सूर्य नहीं चमकता, न चन्द्रतारकम्—न चन्द्रमा और तारे, न इमाः विद्युतः—न ये बिजलियां; भान्ति—चमकती हैं; कुतः—कैसे, अयम् अग्निः—यह (तुच्छ) अग्नि, तम् एव भान्तम् अनुभाति सर्वम्—उसके चमकने पर ही ये सब चमकते हैं, तस्य भासा—उसकी चमक से, सर्वम् इदम् विभाति—यह सब चमक रहा है ॥१४॥

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१५॥

एक—एक, हंसः—सूर्य, आत्मा, हंस पक्षी; भुवनस्य—लोक के; अस्य—इस; मध्ये—बीच में; सः एव—वह ही; अग्निः—अग्नि, ज्ञानस्वरूप, सलिले—जल में; संनिविष्टः—बैठा है, विद्यमान है; तम् एव विदित्वा—उसको ही जान कर; अति मृत्युम् एति (मृत्युम् अति एति)—मृत्यु को पार करता है

वह विश्व को रचने वाला है, विश्व को जानने वाला है, उसका कोई रचयिता नहीं, वह 'आत्म-योनि' है, अपने-आप अपने को उत्पन्न करने वाला है—स्वयं-भू है, 'ज्ञ:' है, वह सब जानता है, काल का वह काल है, गुणों का आगार है, सर्ववित् है। वह 'प्रधान' अर्थात् प्रकृति तथा 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् जीवात्मा—इन दोनों का पति है, प्रकृति के तीनों गुणों का स्वामी है, जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय तथा जीव के बन्धन का वही कारण है ॥१६॥

वह 'तत्-मय' है, वही-वह है, वह 'अमृत' है; वह 'ईश-संस्थ' है, इस जगत् का स्वामित्व करने के लिये जो मर्यादा होनी चाहिये, वह उसमें पाई जाती है; वह 'ज्ञ:' है—प्रज्ञान-घन है, सब जगह पहुंच कर सब-कुछ जान रहा है, इस भुवन का रक्षक है। वह इस जगत् का नित्य स्वामी है। जगत् पर हुकूमत करने के लिये, उसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण है ही नहीं, अर्थात् संसार का वही एक अन्तिम कारण है ॥१७॥

(मुक्त होता है); **न अन्य: पन्था:**—नहीं दूसरा मार्ग; **विद्यते**—है; **अयनाय**—पहुंचने के लिए ॥१५॥

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद् यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥१६॥

स:—वह; **विश्वकृत्**—जगत् का रचयिता; **विश्वविद्**—सर्वज्ञ या सब को प्राप्त (सर्वव्यापक); **आत्मयोनि:**—जीव का आधार या स्वयंभू; **ज्ञ:**—जाननेवाला, ज्ञाता; **कालकार:**—काल का भी कर्ता; **गुणी**—गुणों से युक्त; **सर्वविद्**—सर्वज्ञ; **य:**—जो; **प्रधान-क्षेत्रज्ञपति:**—प्रधान (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) का स्वामी (अधिष्ठाता); **गुण+ईश:**—(तीनों) गुणों का नियन्ता; **संसार-मोक्ष-स्थिति-बन्ध-हेतु:**—संसार (जगद्रचना) और (जीवात्मा के) मोक्ष, स्थिति (पालन) और वन्ध (बन्धन) का कारण ॥१६॥

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥१७॥

स:—वह; **तन्मय:**—तत्-स्वरूप (किसी अन्य से अनिर्मित), आत्ममय; **हि**—ही; **अमृत:**—अमर; **ईशसंस्थ:**—ईश (शासक) की संस्था (मर्यादा) वाला; **ज्ञ:**—ज्ञानी; **सर्वग:**—सर्वत्र व्यापक; **भुवनस्य**—लोक का; **अस्य**—इस; **गोप्ता**—रक्षक; **य:**—जो; **ईशे**—नियमित रखता (नियंता) है; **अस्य जगत:**—

जो पहले-पहल ब्रह्मा का निर्माण करता है, उसके अनन्तर जो उसके पास वेदों का प्रकाश भेजता है, जो आत्मा में बुद्धि के प्रकाश का संचार करता है, मैं मुमुक्षु उस देव की शरण में जाता हूं ॥१८॥

जो निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निर्दोष, निर्लेप है, जो अमृत तक पहुंचाने वाला पुल है, जो इन्धन की अग्नि की भांति निर्धूम है, मैं मुमुक्षु उस देव की शरण में जाता हूं ॥१९॥

जब लोग चर्म से आकाश को लपेटने लगेंगे, तब उस देव को जाने बिना भी दुःख का अन्त होने लगेगा, अर्थात् जैसे चमड़े से आकाश नहीं लपेटा जा सकता, वैसे उसे जाने बिना दुःख भी नहीं छूट सकता ॥२०॥

इस जगत् का, नित्यम् एव—सदा ही, न—नहीं, अन्यः—दूसरा, हेतुः—कारण, विद्यते—है, ईशनाय—शासन के लिए ॥१७॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥१८॥

यः—जो, ब्रह्माणम्—चतुर्वेद-ज्ञाता को, विदधाति—रचता है, पूर्वम्—पहले (जगत् के आदि में), यः वै—जो ही, वेदान्—चारों वेदों को, च—और, प्रहिणोति—भेजता है, प्रकाशित करता है, तस्मै—उस (ब्रह्मा) के लिए, तम् ह देवम्—उस ही परम-देव की, आत्म-बुद्धि-प्रकाशम्—आत्मा में बुद्धि (ज्ञान) का प्रकाश करनेवाले, मुमुक्षुः—मोक्षार्थी, वै—निश्चय से, शरणम्—शरण, अहम्—मैं, प्रपद्ये—प्राप्त करता—जाता हूं ॥१८॥

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥१९॥

निष्कलम्—कला (अवयवों) से रहित, निष्क्रियम्—कर्म से रहित, शान्तम्—शान्त, निरवद्यम्—निर्दोष, निरञ्जनम्—निर्लेप, अमृतस्य—अमरता (मोक्ष) के, परम्—सर्वोत्कृष्ट, सेतुम्—(दुःख से) पार करानेवाले पुल, दग्ध+इन्धनम्—जले इन्धनवाली, दीप्तिमान्, इव—समान, अनलम्—अग्नि को ॥१९॥

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥२०॥

यदा—जब, चर्मवत्—मृग-चर्म की तरह, आकाशम्—आकाश को, वेष्टयिष्यन्ति—लपेटेंगे, मानवाः—मनुष्य, तदा—तब ही, देवम्—परमात्मा को, अविज्ञाय—न जान कर, बिना जाने भी, दुःखस्य—दुःख का, अन्तः—

तप के प्रभाव से और देव के प्रसाद से विद्वान् श्वेताश्वतर ऋषि ने ऋषियों के संघ द्वारा सेवित ब्रह्म का संन्यासियों को उपरि-वर्णित उपदेश दिया ॥२१॥

पुराकल्प में इस परम-गुह्य ब्रह्म का वर्णन वेदान्त-शास्त्र में पाया जाता है। अशान्त-चित्त, अपुत्र अथवा अशिष्य को इसका उपदेश नहीं करना चाहिये। शान्त-चित्त व्यक्ति को, पुत्र को अथवा शिष्य को ही इसका उपदेश करे ॥२२॥

जिन रहस्यों को इस उपनिषद् में कहा गया है, वे उसी महात्मा को प्रकाशित होते हैं जिसकी देव में—भगवान् में—परम-भक्ति होती है, और जिसकी जैसी भगवान् में भक्ति होती है वैसी ही भक्ति गुरु में भी होती है ॥२३॥

अन्त, समाप्ति; **भविष्यति**—होगी (जैसे आकाश का लपेटना असम्भव है, ऐसे भगवान् के बिना जाने दुःख का अन्त भी असम्भव है) ॥२०॥

तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ॥२१॥

तपःप्रभावात्—तप के प्रभाव से; **देवप्रसादात् च**—और भगवान् के अनुग्रह से; **ब्रह्म**—ब्रह्म (ज्ञान) को; **ह**—पहिले कभी; **श्वेताश्वतरः**—श्वेताश्वतर नामी ऋषि ने; **अथ**—तो; **विद्वान्**—(ब्रह्म-) ज्ञाता; **अत्याश्रमिभ्यः**—संन्यासियों को; **परमम् पवित्रम्**—परम पावन; **प्रोवाच**—उपदेश किया था; **सम्यग्**—भली प्रकार; **ऋषि-संघजुष्टम्**—ऋषि-मण्डली द्वारा सेवित (अनुसृत) ॥२१॥

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः ॥२२॥

वेदान्ते—वेदान्त-शास्त्र में; **परमम्**—परम; **गुह्यम्**—गुह्य (दुर्बोध); **पुराकल्पे**—प्राचीन काल में; **प्रचोदितम्**—वर्णन किया गया था; **न**—नहीं; **अप्रशान्ताय**—चित्त-शान्ति से शून्य; **दातव्यम्**—(उपदेश) देना चाहिये; **न**—नहीं; **अपुत्राय**—पुत्र से भिन्न को; **अशिष्याय वा**—या शिष्य से भिन्न को; **पुनः**—फिर ॥२२॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः प्रकाशन्ते महात्मन इति ॥२३॥

यस्य—जिसकी; **देवे**—परमात्म-देव पर (में); **परा भक्तिः**—परम भक्ति है; **यथा देवे**—जैसी देव में (भक्ति है); **तथा**—वैसी; **गुरौ**—गुरु में है; **तस्य**—उस (भक्त) को; **एते**—ये; **कथिताः**—वर्णित; **हि**—ही; **अर्थाः**—अर्थ (भाव, विचार); **प्रकाशन्ते**—प्रकाशित (ज्ञात) होते हैं; **महात्मनः**—महात्मा के; **प्रकाशन्ते महात्मनः इति**—ऐसे महात्मा को ज्ञात होते हैं (द्विरुक्ति उपनिषद् की समाप्ति-सूचक है) ॥२३॥